* ॐ *
* श्रियै नमः *
* श्रीमते रामानुजायनमः *

श्री भाष्य भूमिका

यस्य प्रसाद कलयावधिरः शृणोति ।
पंगुः प्रधावति जवेन च वक्ति मूकः ॥
अन्धः प्रपश्यति सुतं लभते च वन्ध्या ।
तंदेव मेवं वरदं शरणं गतोऽस्मि ॥१॥
श्रीमाधवाङ्घ्रि जलज द्वय नित्यसेवा-
प्रेमाविलाशय पराङ्कुशपादभक्तम् ।
कामादि दोषहर मात्मपदा श्रितानां
रामानुजं यतिपतिं प्रणमामि मूर्ध्ना ॥२॥

परम वैदिक श्री वैष्णव सम्प्रदाय निष्ठ महानुभावों को तथा अन्यान्य आस्तिक जनता को विदित ही है कि यह श्रीभाष्य नामक ग्रन्थ आदि शेषावतार भगवद्रामानुजाचार्य प्रणीत श्रीवेदव्यास निर्मित ब्रह्म सूत्रों का व्याख्यान है।

चतुः सम्प्रदाय वैष्णवों में से इस परम वैदिक सम्प्रदाय की आद्याचार्य महालक्ष्मी जी हैं। उन्हीं का नाम श्री है इस तात्पर्य से रामानुज स्वामी जी ने वेदान्त सूत्र के व्याख्यान का नाम श्रीभाष्य इस शब्द से प्रसिद्ध किया है अतः अन्याचार्यों के भाष्यों को श्रीभाष्य नहीं कह सकते हैं। श्रीरामानुजाचार्य प्रणीत होने से इसका नाम श्रीरामानुजभाष्य भी है। और साधारण नाम शारीरकमीमांसाभाष्य है।

यह सम्प्रदाय कृत त्रेतादि युग में समस्त जगत् व्याप्त था। परन्तु कलियुग में अवैदिक मत की क्रमशः वृद्धि होने से इसका ह्रास होने लगा कर भगवदाज्ञा से आदि शेष श्रीरामानुज रूप से अवतार्ण

हुये। और इस मत का अधिक रूप से प्रचार किये। अतः अनादि काल से प्रचलित श्री वैष्णवीय विशिष्टा द्वैत सिद्धान्त का नाम ही श्रीरामानुज सम्प्रदाय है। इस मत को अर्वाचीन कहने वाले मालूम होता है कि इस रहस्य को नहीं जानते हैं। और प्रायः जो विचार शील गुण ग्राही मनुष्य जब धर्मार्थ काम इस त्रिवर्ग से विरक्त होकर मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त होता है तो वह पुरुष समस्त आचार्यों के ब्रह्म सूत्र गीता इत्यादि ग्रन्थों क भाष्यों को अच्छी तरह से पठनपाठन करके जब इस ग्रन्थ रत्न को देखता है तब इस सम्प्रदाय की उपासना भक्ति से और इन ग्रन्थों के विज्ञान से अपने को कृतार्थ मानता है यह बात लोकमान्य तिलक के गीता की भूमिका तथा अन्यान्य पाश्चात्य विज्ञानशाली विद्वानों के उल्लेख में विशेष पाई जाती है।

और इस श्रीभाष्य की प्रशंसा में काशी के उत्तमोत्तम विद्वानों का इतिहास भी सुना जाता है कि एक समय बड़े २ धर्मज्ञ विद्वान रात्रि के समय गंगा जी के प्रवाह में नौका में बैठकर नाना शास्त्रों की चर्चा करते हुये विश्व विख्यात श्रीशिवकुमार शास्त्री जी से कहा है कि महाराज ? आप सब शास्त्रों के ज्ञाता हो निष्पक्ष भाव से कहो कि ब्रह्मसूत्र का यथार्थार्थ किस भाष्य में है। तो उक्त शास्त्री जी ने हाथ उठा करके गंगा के प्रवाह में कहा कि ब्रह्मसूत्रों का यथार्थ व्याख्यान तो श्रीरामानुज भाष्य ही है।

और श्री रामानुज स्वामी जी ब्रह्म सूत्रों का भाष्य निर्मित करके पश्चात् शारदामठ में (काश्मीर) गये। रामानुजचार्य का आगमन सुन करके स्वरस्वती स्वयं मूर्तिमती होकर अपने मन्दिर से आकर यतिराज रामानुज मुनि को देखकर (तस्य यथा कप्यास पुंडरीक मेव मक्षिणी) इस श्रुति का तात्पर्यार्थ पूछा तब रामानुज स्वामी ने श्रुतिका यथार्थ वर्णन किया इस विषय में श्लोक पाये जाते हैं:—

वाग्देवी स्वयमेवाशु श्रुत्वाचार्यस्य पावनम्
तन्मन्दरा द्विनिर्गत्य विलोक्य यतिभूपतिम ॥

कप्यास श्रुति तात्पर्यं वदेति व्याजहार सा।
तामुवाच ततो विद्वान्शारदांयतिपुङ्गवः ॥
कंजलं पिवतीत्यस्मात्कपि रित्युच्यते रविः
तेन संस्फुरितं पद्म कप्यास मिति गीयते॥
तत्तुल्ये लोचने विष्णो रित्यर्थोऽस्याः श्रुतेर्मतः।
तच्छ्रुत्वा शारदाहृष्टा श्रीभाष्यं तत्कृतं महत्।
शिरस्यारोप्य संभाव्य ततो बाहू प्रसार्य च॥
यतीन्द्र पाणिं संगृह्य नप्रक्षिप्त मिदं निजम्।
इत्यंगी कृत्य वाग्देवी श्रुत्यर्थं तेनभाषितम्॥
तस्या करोद्भाष्यकार इतिनामतदा मुदा
हयग्रीवं कारयित्वा तस्मैदत्वा महोजसे॥
भाष्यकारोऽपिवाग्देवीं विस्मितो वाक्यमब्रवीत्।
त्वं मह्यं शारदे कर्तुं दयां को हेतुरुच्यताम्॥
तेनैवमुक्ता वाग्देवी भाष्यकारं वचोऽब्रवीत्।
पुराऽत्र शंकराचार्यः प्राप्तः पृष्टोमयाहिसः॥
कप्यास श्रुतितात्पार्यमेवम.हयत्तोश्वर।
मर्कटासन संकाश मिति हास्यकरं वचः।
स्वाभाविकतयार्थस्य त्वयोक्तस्याधुना श्रुतेः॥

कं नाम जल को पीने वाला सूर्य का नाम कपि है उस सूर्य की किरण से विकसित हुए कमल का नाम कप्यास है उस कमल के तुल्य भगवान् विष्णु के नेत्र हैं। यही इस मन्त्र का अर्थ है। ऐसा तात्पर्यार्थ श्रवण करके शारदा अत्यन्त प्रसन्न हुई और श्रीरामानुजाचार्य कृत सकल शास्त्रों के महा सार गर्भित श्रीभाष्य को अपने मस्तक में आरोप करके और बाहु से रामानुज स्वामी का हस्त ग्रहण कर कहा आपने इस ग्रन्थ में कुछ भी प्रक्षिप्त नहीं मिलाया और यथार्थ रूप से श्रुत्यर्थ प्रकाशित किया, ऐसा अङ्गीकार करके श्रीभाष्यकार यह अचल नाम प्रसिद्ध

किया, और प्रसन्न होकर सकल विद्याप्रद हयग्रीव भगवान् की मूर्ति दीया। इसलिये अद्यावधि भाष्यकार के शिष्य प्रशिष्य हयग्रीव का आराधन करते आते हैं। भगवान् भाष्यकार विस्मित होकर कहे—हे शारदे! आपका मेरे ऊपर दया करने का क्या कारण है? तब शारदा प्रसन्न होकर बोली—"पहिले श्रीशङ्कराचार्य भी यहाँ आये थे, उनसे भी कप्यास श्रुति वाक्य तात्पर्य पूछा था,तो श्रीशङ्कराचार्य ने (मर्कटासन के सदृश) बन्दर के पश्चात् भाग के तुल्य भगवन्नेत्र हैं। ऐसा हँसी का वचन कहा और यही अर्थ छान्दोग्योपनिषद् के प्रथमाध्याय के षष्ठ खण्ड सप्तम मन्त्रमें उनके भाष्यमें मिलता है। इस प्रकार स्थाली पुलाक न्याय से निष्पक्षपाती पुरुष अद्वैतमत की व्याख्या तथा अन्य मतों की व्याख्या को स्वयं समझ सकता है।

अतः श्रीरामानुजाचार्य ने ही इस प्रकार से सकल वेद-शास्त्रों के मर्मस्पर्शी भावोंको भली भाँति प्रकाशित किया है,जो अन्य लोगों ने खींच खाँच करके श्रुति-स्मृति विरुद्ध अर्थ किया, इसलिये शङ्कराचार्य ने सरस्वती से क्षमा भी माँगी।

साकारं श्रुतिमुल्लंघ्य निराकार प्रवादतः।
यदघं मे कृतं देवि तद्दोषं क्षन्तुमर्हसि॥

(ब्रह्माण्ड गिरिकृत शङ्करविलासक विस्मय निरूपण से)

इत्यादि प्रकार श्रुति स्मृति सूत्रों का जो अन्तर ज्वर था, उसको रामानुजचार्य ने शमन किया। अतः सरस्वती ने साक्षात् आदि शेषावतार रामानुजाचार्य को नमस्कार किया। ऐसा सरस्वती और रामानुजाचार्य का सम्वाद पाया जाता है—

तस्मै रामानुजाचार्याय नमः परम योगिने।
यः श्रुति स्मृति सूत्राणा मन्तर्ज्वर मशीशमन्॥

इत्यादि इतिहासों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रह्मसूत्रों का अर्थ जिसको निष्पक्ष भाव से पढ़ना हो या देखना हो, उस व्यक्ति को रामानुजाचार्य कृत सात ग्रन्थों को अवश्य अध्ययन करना चाहिये।

[१] श्रीभाष्य, [२] गीता-भाष्य, [३] वेदार्थ-संग्रह, [४]वेदान्त-दीप, [५] वेदान्तसार, [६] गद्यत्रय, [७] भगवदाराधन ग्रन्थ, इति संक्षिप्त भूमिका ।

श्रीरामानुजाचार्य के अवतार का बीज—

अस्ति वैकुण्ठ नगरं सर्व लोकेषु विश्रुतम् ।
नित्य मुक्तैः सेव्यमानं विष्णोः प्रीति करं शुभम् ॥
तत्र मध्ये मणिमयं मंडपं चास्ति शोभनम् ।
सहस्रस्तम्भ संयुतं विष्णोः प्रीति करं शुभम् ॥
तन्मधे सुमहाबाहुः फणि राजो महाबलः ।
सहस्र फण संयुक्तस्तत्रास्ते विमल द्युतिः ॥
तस्योपरि महाबाहुः शङ्ख चक्र गदाधरः ।
इन्दीवरदल श्यामः पद्मपत्र निभेक्षणः ॥
एवं सर्वात्मनस्तस्य श्रीनिवासस्यशार्ङ्गिणः ।
श्रीहरेरुदभूत्काचिच्चिन्ता निर्हेतुका तदा ॥
केनोपायेन वैकुण्ठ मिमाञ्जन्तून्नयाम्यहम् ।
इति चिंतयमानेतु लोकनाथे हरौ तदा ।
शयाभूतः फणीशेषस्तमाह पुरुषोत्तमम् ।
काचिन्ता तव देवेश परिपूर्णस्य नित्यशः ॥

विष्णुरुवाच

भोगीश सुमहा वीर्य शृणुतद्वचनं मम ।
यदर्थं चिन्तयाम्यद्य संदृश्य दुःखितान् जनान् ॥
श्रियासहावतीर्णोऽस्मि जनरक्षण हेतुना ।
अवतारेषु मां सर्वे मन्यन्ते प्राकृता जनाः ॥
राजानं चाऽपिऽगोपालं प्राकृतं पुरुषं यथा ।
तदर्थं चिन्तयाम्यद्य फणिराज महामते ॥
भोगिराज महाप्राज्ञ समर्थो जनरक्षणे ।
अवतीर्यभवान्भूमौ जनान् रक्षितुर्महति ॥

श्रीशेषउवाच

तवाशक्यं महाबाहो कार्यं लोकेषु सर्वदा।
नास्तिविष्णो विशालाक्ष जन्तुरक्षण तत्पर॥
तथापि कृपया विष्णो मां नियोक्ष्यसिरक्षणे।
त्वद्दासभूतेन मया कर्तव्यमविचारतः॥
प्रदक्षिणीकृत्य तदाववन्दे चरणौ हरेः।
फणिराजः प्रसन्नात्मा भूम्यां चक्रे मनस्तदा॥
चैत्रार्द्र सम्भवं विष्णोर्दर्शनस्थापनोत्सुकम्।
तुण्डीरमण्डले शेष मूर्ति रामानुजं भजे॥

(इन श्लोकों का भाव स्वयं प्रतीत हो रहा है)

संवत १०७४

इस प्रकार से श्रीभूतपूरी में केशवयज्वा के घर मेष राशि के सूर्य में आर्द्रा नामक नक्षत्र में साक्षात् शेष भगवान् की मूर्ति रामानुज रूप से प्रकट हुई और शुक्ल पक्ष के चन्द्र की तरह प्रति दिन वृद्धि को प्राप्त हुई, तब श्रीरामानुज स्वामी के पिता श्रीकेशवाचार्यजी ने यज्ञोपवीतेत्यादि संस्कार करके श्रीकाञ्चीपुरी में यादवप्रकाश की सन्निधि में वेदाध्ययन को भेजा तो श्रीस्वामीजी ने अल्प काल में समस्त वेद शास्त्रों का अध्ययन किया। यह विषय प्रपन्नामृत ग्रन्थ में प्रसिद्ध है।

इस अलौकिक बुद्धि को देख कर यादवप्रकाश को बड़ा मात्सय हुआ और मरवा डालने का विचार भी किया, परन्तु भगवदनुग्रह से रक्षित रहे। यह विषय रामानुज जीवन-चरित्र में प्रसिद्ध है। पुनः किसी समय यादवप्रकाश अपने शिष्यों को छान्दोग्योपनिषद् पढ़ाते हुए [तस्य यथा कप्यास पुण्डरीक मेवमक्षिणी] इस मन्त्रका अर्थ करते थे कि कप्यास बन्दरके पश्चाद् भागके सदृश लालिमावाला पुंडरीक माने जो कमल उसकी तरह भगवान् का नेत्र हैं। इस अनर्थ को सुन के रामानुज स्वामी के नेत्रों से अश्रु-धारा प्रवाहित हुई और विलाप करने लगे, तब यादवप्रकाश बोले कि क्यों आपकी यह दशा हो रही है?

फिर रामानुज स्वामी बोले इस मन्त्र का यह अर्थ नहीं है। तब यादव प्रकाश ने कहा कि कौन सा अर्थ है।

तब रामानुजाचार्य जी ने कहा (कंजलं पिबतीति कपिः सूर्य स्तेनास्यते—इति कप्यास कपि शब्द का अर्थ यह है कि (क माने जल उसको पि माने पीने वाला, खींचने वाला जो सूर्य उस सूर्य की किरण से खिला हुआ जो पुण्डरीक माने कमल उस कमल के सदृश भगवान् के नेत्र हैं, इस अर्थ को सुन करके सब लोग हर्षित हुए। इस विषय में कतिपय श्लोक पाये जाते हैं।

वक्तुकामः श्रुतेरर्थं यादवं वाक्यम ब्रवीत् ।
कप्यासमिति वाक्यस्य वक्ष्याम्यर्थं शृणु द्विज॥

गम्भीरांभसि जातस्य प्रोद्यद्भानुकरैस्तदा ।
सम्फुलदलपद्मस्य सदृशे लोचने हरेः ॥

तस्याः श्रुतेरेवमर्थो वक्तव्यः शास्त्रवित्तमैः ।
षाड्गुण्य परिपूर्णस्य विष्णोरमिततेजसः ॥

मर्कटासन सादृश्यमुच्यते नेत्रयोस्त्वया ।
त्वयोदितमबद्धार्थं श्रुत्वाशोचामियादव ॥

इस प्रकार रामानुजाचार्य का प्रभाव देखकर यादव प्रकाश पीछे स्वप्न में भगवान् की आज्ञा से और अपनी माता की प्रेरणा से श्री रामानुज स्वामी के चरणाश्रित होकर परम धाम को शोभित किया।

इसके पश्चात् श्री रामानुज स्वामी जी सामान्य शास्त्रों का अध्ययन छोड़कर अखिल फलप्रद वरदराज भगवान् का कैङ्कर्य करने लगे।

फिर जनता के द्वारा रामानुजाचार्य जी का अद्वितीय प्रभाव श्रवण करके श्रीरङ्गक्षेत्र वासी श्री यामुनाचार्य जी की इच्छा हुई कि ऐसे प्रतापी महापुरुष का दर्शन अवश्य करना चाहिये।

तत्पश्चात् अपने शिष्य महापूर्णाचार्यजी को रामानुज स्वामीजी को लाने के लिये श्रीकांची भेजे। महापूर्ण स्वामी कांची में आकर देवराज भगवान् के दर्शनादि करके और कांची पूर्ण स्वामीजी से कुशल प्रश्नपूर्वक श्रीरामानुज स्वामी को श्रीयामुनाचार्यजी का सन्देश सुनाया, इस दिव्य सन्देश को सुनते ही रामानुज स्वामी महापूर्ण स्वामी के साथ श्रीरङ्गनगर को आये। इसके पश्चात् भगवान् श्रीरङ्गनाथजी ने विचार किया कि यदि यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य का समागम हो जाय, तो यह दोनों शरणागति धर्म के द्वारा समस्त चेतनों को मोक्ष देने के वास्ते मेरे से प्रतिज्ञा करवा लेंगे। तो हमारी लीला विभूति की लीला ही अल्प हो जायगी। इस विषय में कतिपय श्लोक पाये जाते हैं—

तदा रंगेश्वरः श्रीमान् मनस्येव मचिन्तयत्।
रामानुजो यामुनश्च मिलितौ यद्युभावपि॥
लीला विभूति रस्माकं तदानष्टा भवष्यति।
ततोऽर्चकमुखेनाह रंगेशो यामुनं प्रति॥
गच्छाद्यैव यत्ति श्रेष्ठ दत्तं ते परमं पदम्।
ते नैवमुक्तो हरिणारामानुजदिदृक्षया॥
रंगेश्वरं प्रणम्याह यामुनः शिरसा हरिम्।
रंगेशानन्तरं मुक्तिं गच्छामि दिवसाष्टकात्॥
इति विज्ञाप्य योगीशस्तत्संभाषणलोलुपः।
मठं समासदच्छीघ्र माकांक्षस्तस्य चागमम्॥
सुमहानपि योगीन्द्रः परतन्त्रस्ततोऽजसा।
अनवाप्य मनोभीष्टं स्वाचार्यांघ्रिमुपेयिवान्॥

तब रङ्गनाथ भगवान् ने अर्चक में आवेश होकर यामुनाचार्यजी को कहा—हे यति-श्रेष्ठ! आपको मैंने परम पद दिया आज ही परम-पद को चलो। इस तरह से जब भगवान् हरि ने यामुनचार्यजी को आज्ञा की, तब रामानुज स्वामी को दर्शनाकांक्षा से यामुन मुनि बोले कि हे भगवन्! आज से आठ दिन के पश्चात् मैं मुक्ति को

इस तरह से विज्ञापना करके योगीराज यामुन मुनि रामानुज स्वामीजी से सम्भाषण की इच्छा से मठ में आये; परन्तु परतन्त्र होने के कारण से रामानुजाचार्य के आने से पहिले मनोभीष्ट के विना पूर्ण हुए परमपद को पधार गये।

पुनः यामुनाचार्यजी के मृत-शरीर को समस्त रङ्गनगर का जन-समुदाय कावेरी के तट पर लाये। इसके बाद महापूर्ण स्वामी और रामानुज स्वामी कांचीपुरी से कावेरी के तट पर आये और वहाँ पर जनसमुदाय को देख कर आश्चर्ययुक्त हुए कि आज इतना श्रीवैष्णवादिक जनसमुदाय इकट्ठा क्यों हुआ? तब सुना कि श्रीयामुनाचार्य स्वामी परमपद को भूषित किये और सुनते ही मूर्च्छित होकर छिन्नमूल महावृक्ष के समान भूमि पर गिर पड़े और उस समय यामुन मुनि के वियोग–दुःख से मानो कि जैसे रामजी के वनवास के दुःख से वृक्ष भी म्लान हो गये और नदियाँ सूखने सी लगीं, ऐसी दशा रङ्गवासी जनता की हुई। तत्पश्चात् तत्वज्ञान से उस शोकाग्नि को शमन करके श्रीरामानुज स्वामीजी ने यामुनाचार्यजी के मृत-शरीर का दर्शन किया; परन्तु यामुन मुनि के हस्त में तीन ३ अंगुलियाँ संकुचित देखीं, तब यामुन मुनि के शिष्यों से प्रश्न किया कि महाराज की अंगुलियाँ सदा संकुचित रहती थी कि इसी समय संकुचित हुई? ऐसा रामानुज स्वामी का वचन सुन करके शिष्य लोगों ने कहा कि पहिले तो विस्तृत थी, अब हम तो नहीं जानते हैं; कि क्यों संकुचित हुई परन्तु आप ही जान सकते हो। तब रामानुजाचार्यजी ने कहा—मालूम होता है कि महाराज के तीन मनोरथ हैं, उनको मैं पूर्ण करूँगा, तब वह अंगुलियाँ विस्तृत हो गईं।

उन तीन मनोरथों के विषय में पूर्वाचार्यों के श्लोक श्रीरामानुज-जीवन-चरित्र में पाये जाते हैं।

वैष्णवानां वचः श्रुत्वा लक्ष्मणार्यः परार्थवित्।
अभिप्रायं यामुनस्य ज्ञात्वा बुद्धया महामतिः॥

मध्येद्विजानां सर्वेषां जगाद वचनं तदा ।

प्रथमांगुलि विमोचनम्

ततः प्रोवाच धर्मात्मा वाक्यं रामानुजः पुनः ।
संगृह्य निखिला नर्थांस्तत्त्वज्ञानपरं शुभम् ॥
श्रीभाष्यं च करिष्यामि जन रक्षणहेतुना ।
इत्युक्ति वति विप्रेन्द्रे वचनं वदतां वरे ॥
महात्मा यामुनाचार्यो जहा वेंकांगुलिं तदा ॥

द्वितीयांगुलि विमोचनम्

ततोऽन्यदर्थदं वाक्यं धीमान् रामानुजोऽवदत् ।
जीवेश्वरादींल्लोकेभ्यः कृपया यत्पराशरः ॥
संदर्शयन् तत्स्वभावान् तदुपाय गतीस्तथा ।
पुराण रत्नं संचक्रे मुनिवर्यः कृपानिधिः ॥
तस्यनाम्ना महाप्राज्ञ वैष्णवस्य च कस्यचित् ।
अभिधानं करिष्यामि निष्क्रियार्थं मुने रहम् ॥
अंगुलिं यामुनाचार्यो द्वितीयां सहसात्यजत् ।

तृतीयांगुलि विमोचनम्

अहं विष्णुमते स्थित्वा जनान ज्ञान मोहितान् ॥
पञ्चसंस्कार सम्पन्नान् द्राविडाम्नायपारगान् ।
प्रपत्तिधर्म निरतान् कृत्वा रक्षामि सर्वदा ॥
एवं रामानुजाचार्ये गदत्यात्म विदांवरे ।
इत्येवं लक्ष्मणाचार्ये पुनर्वदति निश्चले ।
कृतकृत्यो यामुनार्यः सोऽवशिष्टांगुलिं जहौ ॥
तत्रत्यपुरुषा दृष्ट्वा तच्चित्रं महदद्भुतम् ।
रामानुजं, महात्मानं मन्यन्ते पुरुषोत्तमम् ॥

इस प्रकार से श्रीरामानुज स्वामीजी ने तीन मनोरथ पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की पुनः यामुन मुनि की उत्तर क्रिया करके समस्त जनता अपने-अपने आश्रमों को गई। तदनन्तर रामानुज स्वामी भी

यामुनाचार्य के वियोग से रङ्गनाथ का दर्शन किये विना कांची को जाने लगे। तब वहाँ के श्रीवैष्णवों ने प्रार्थना की कि भगवद्दर्शन अवश्य करना चाहिये। तब रामानुज स्वामी ने कहा कि—

नमानसं रोचतेऽस्मिन्पुण्येऽपि सुमनोहरे।
लोकेशमपि रंगेशं यामुनाशाङ्कुरच्छिदम्॥
तं निर्दयं न पश्यामि मम दुखकरं द्विजाः।
इत्युक्त्वा तैरनु ज्ञातस्तत्क्षेत्रात्तत्क्षणं द्विजः॥
काञ्चीपुरीं प्रतिययौ धीमान् रामानुजस्तदा॥

इस पुण्य सुमनोहर नगर में मेरे मन को कोई पदार्थ अच्छा नहीं लगता है और लोकेश रङ्गनाथ के यामुन मुनि के आशारूप अङ्कुर का च्छेदन करने वाले निर्दयी का दर्शन भी न करूँगा। ऐसा कह कर और श्रीवैष्णवों से सन्मानित होकर श्रीकांचीपुरी को चले और फिर गृहस्थाश्रम में भी रहे, परन्तु वरदराज भगवान का कैङ्कर्य करते रहे।

पुनः श्रीयामुनाचार्यजी के आशीर्वाद से तथा भगवदनुग्रह से और कांचीपूर्ण इत्यादि महाभागवतों के सहवास से श्रीरामानुज स्वामी के मन में विचार हुआ कि जैसे त्रैवर्णिक पुरुष यज्ञोपवीतादि संस्कार के विना वेदाध्ययन तथा गायत्री जप नहीं कर सकता है और विना दर्शपौर्णमास-यज्ञ किये किसी भी यज्ञ करने का अधिकारी नहीं हो सकता, वैसे ही विना पञ्चसंस्कार (तापः पुण्ड्रस्तथानाम मन्त्रो यागश्च पञ्चम.) किये भगवत्सेवा-पूजा का तथा मोक्ष पाने का भी अधिकारी नहीं हो सकता है।

(प्रपन्नादन्येषां न च दिशति मुकुन्दोनि जपदम्) और शरणागत प्रपन्न को छोड़ कर भगवान् किसी को भी मोक्ष नहीं देते हैं। इसीलिये गीता में अर्जुन ने अपने को प्रपन्न तथा शिष्य शब्द से कहा है।

कार्पण्य दोषोऽपहतस्वभावः पृच्छामित्वां धर्म सम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधिमां त्वां प्रपन्नम्॥

इत्यादि नाना शास्त्रों के प्रमाण को देख कर रामानुज स्वामी कांची पूर्ण स्वामी से कहे कि आप भगवान् से ६ छः प्रश्न प्रति दिन पूछते हो, आज मेरा भी प्रश्न वरदराज भगवान् से निवेदन करके प्रातःकाल इस दास से कहियेगा। तब भगवत्-प्रिय कांचीपूर्ण स्वामी ने कहा कि कौनसा प्रश्न? फिर रामानुज स्वामी ने कहा। इस विषय में कतिपय श्लोक पाये जाते हैं—

उपायेषु चकः साधु रन्तिम स्मरणं तथा।
मोक्षः कदेति प्रष्टव्यः कर्माचार्यं समाश्रये।
चतुरर्थान् कर्तुकामो मनस्या लोचितं मया॥
विज्ञाप्य देवराजाय तेनोक्तं वचनं शुभम्।
मह्यं करुणया ब्रूहि कांचीपूर्ण कृपानिधे॥

१—मोक्ष-मार्ग के नाना उपाय हैं परन्तु कौनसा सुलभ है? और २—अन्तिम कर्त्तव्य कौनसा है? ३—प्रपन्न का मोक्ष कब होगा? और ४—मैं कौन से आचार्य का शिष्य बनूँ?५—पर तत्व कौनसा देवता है? तथा ६—सिद्धान्त कौनसा भगवत् सम्मत है? ऐसे छः प्रश्न करके अपने आश्रम पर गये। यद्यपि इस श्लोक में चार प्रश्न प्रतीत हो रहे हैं, तथापि उत्तर के श्लोक में छ उत्तर हैं। इस के बाद रात्रि के समय चांचीपूर्ण स्वामी सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ सर्वशक्ति भक्तवत्सल भगवान् वरदराज का पंखा करते थे। तब भगवान् ने स्वयं कहा—कि हे कांचीपूर्ण आज आपके मन में कुछ प्रश्न करने की चाहना सी मालूम हो रही है और मेरी भी श्रवण करने की इच्छा है। तब कांचीपूर्ण पूर्वोक्त रामानुज स्वामी के सन्देश सुनाये। फिर वरदप्रभु ने उत्तर दिया—

अहमेव परं तत्त्वं जगत्कारण कारणम्।
क्षेत्रज्ञेश्वरयोर्भेदः सिद्ध एव महामते॥
मोक्षोपायोन्यास एव जनानां मुक्तमिच्छताम्।
मद्भक्तानां जनानां च नान्तिमस्मृतिरिष्यते॥

देहावसाने भक्तानां ददामि परमं पदं
पूर्णाचार्यं महात्मानं स-ाश्रय गुणाश्रयम् ॥
इति रामानुज,र्याय मयोक्तं वदसत्वरम् !
कांचीपूर्णश्च तद्वाक्यं निशम्य हरिणोदितम् ।
रामानुजाय तत्सर्वं वरदोक्तं न्यवेदयत् ॥

समस्त जगत का कारण परतत्व नारायण मैं हूँ। और दूसरा उत्तर जीव तथा ईश्वर का भेद ही सिद्धान्त है। तीसरा उत्तर ोक्षो-पाय शरणागति है। चतुर्थ प्रश्नोत्तर अन्त काल में यदि मेरे भक्त मेरा स्मरण न भी कर सकें तो भी उनकी मुक्ति होती है। पंचम प्रश्नोत्तर देहावसाने में शरणागत भक्त को परम पद देता हूँ। षष्ठ प्रश्नोत्तर सर्व गुणशाली महात्मा महापूर्णाचार्य के समाश्रयण हो जाओ। यह षडर्थ रामानुजाचार्य के लिये कहो ऐसा 'वरदराज भगवान् ने कांची पूर्ण स्वामी से कहा। तब काचीपूर्ण स्वामी प्रातःकाल रामानुज स्वामी जी से कहे।

लक्ष्मणार्यस्तु तच्छ्रु त्वा कमलानन्दाच्छुभम् ।
चिन्तितस्यार्थ जातस्य मया तुल्य मिदं त्विति ॥

तत्पश्चात् श्रीस्वामी रामानुजाचार्य जी कांचीपूर्ण स्वामी के द्वारा वरद प्रभु की आज्ञा श्रवण करके श्री यामुनाचार्य जी के चरणाश्रित महापूर्णाचार्य के चरणाश्रित होने के लिये श्रीरंग नगर को पधारे। इसके बाद भगवदनुग्रह से ही महापूर्ण स्वामी भी श्रीरंग क्षेत्र से कांची आ रहे थे। तब यह दोनों महापुरुषों का समागम मधुरान्तक नामक ग्राम में हुआ। और महापूर्ण स्वामी का दर्शन करके श्रीरामानुज स्वामी ने साष्टांग प्रणाम किया और कहा कि हे स्वामिन् इस दास को अपना चरणाश्रित करें। तब महापूर्ण स्वामी कहे कि देवराज भगवान् की सन्निधि में आपकी शरणागति होनी चाहिये फिर रामानुजाचार्यजी बोले कि हे स्वामिन्! शरीर अनित्य है न मालूम पुनः क्या होगा। पहिले यामुनाचार्य स्वामी के दर्शन से भी वञ्चित हुआ। अतः शीघ्र भगवत समाश्रयण इस दास को करिये। इस विषय के श्लोक पाये जाते हैं।

पुराहं यामुनाचार्यं द्रष्टु कामस्त्वयासह ।
कांच्याः समागतो ह्यस्मि सप्राप परमं पदम् ॥
स्वपन्तं वापि भुञ्जानं गच्छन्तमपि वर्त्मनि ।
युवानमपि वालं वा स्ववशे कुरुते विधिः ॥
तस्मात्कार्यं शुभंधीमान् श्रेयस्कामी नरोत्तमः।
रामानुजस्य वचनं महापूर्णो निशम्य तत् ॥
इदं तथ्यं तदा मत्वा रामानुजमभाषत ।
चक्रांकनं करिष्यामि त्वरमाणस्य तेऽधुना ॥

इस प्रकार से रामानुज स्वामी के वचन श्रवण करके महापूर्ण स्वामी नें पञ्च संस्कार करने की आज्ञा दी। पुनः उसी मधुरान्तक ग्राम में श्रीरामचन्द्र भगवान् की सन्निधि में श्री वैष्णवत्वदीक्षा प्रदान की। क्योंकि भगवत सम्बन्ध विना ज्ञान वैराग्य विधवा स्त्री के अलङ्कार वत व्यर्थ है।

सन्निधौरामचन्द्रस्य कोदण्डशरधारिणः ।
तप्ताभ्यां शंखचक्राभ्यां विधिनाग्नौ कृपानिधिः ॥
लक्ष्मणार्यस्यभुजयोः सर्वलक्षणयुक्तयोः ।
कृत्वांकनं तदा तस्मै लक्ष्मणार्यायधीमते
आपन्नरक्षकं मंत्रं दास्य नामादिकं तथा ।
अर्चारूपं देवराजं प्रददौ शिष्य वत्सलः ॥

इस तरह से महापूर्ण स्वामी ने रामानुजाचार्य का पंच संस्कार किया। पुनः उस ग्राम से दोनों कांची आये। तब महापूर्ण स्वामी ने समस्त शास्त्रों का प्रदान किया और तदन्तर श्रीरंग नगर पधारे।

इस तरह से रामानुजाचार्य २० वर्ष पर्यन्त गृहस्थाश्रम में भी रहे। तदन्तर सन्यासाश्रम में प्रविष्ट हुये। सन्यासाश्रम में १०० शत वर्ष तक जीवित रहे इसीसे यतीन्द्र अथवा यतिराज यह आप का ही नाम है। जो चतुर्थाश्रम में शत चातुर्मास्य करता है वही यतिराज हो सकता है। इसलिये यह पद अन्याचार्यों पर संगत नहीं होता है। ऐसे १२० वर्ष तक आप इस भूलोक में रहे। तत्पश्चात् भक्तवत्सल

रंगनाथ की आज्ञा से श्रीयामुनाचार्य के पुत्रवररंगपूर्ण कांची आकर श्रीरामानुज स्वामी को श्रीरंगक्षेत्र में ले गये। तब श्रीरंगनाथ का दर्शन करके श्रीयामुन मुनि के मठ को शोभित किये ।

इसके बाद महापूर्ण स्वामी की आज्ञा से अष्टादश १८ बार जाकर गोष्ठीपूर्ण स्वामी के पास मन्त्रार्थ अध्ययन किया फिर गोष्ठीपूर्ण स्वामी की आज्ञा से मालाधर स्वामी की सन्निधि में सहस्र गीति का व्याख्यान अध्ययन किया। पुनः उनकी आज्ञा से वररंगपूर्ण स्वामी की सन्निधि में सकल वेदान्तादि गूढ़ार्थ रहस्यार्थ अध्यन किया। और शैलपूर्ण स्वामी के पास वालमीकि रामायण का अध्ययन किया इस प्रकार से रामानुज स्वामी के पंचाचार्य हैं। पंचाचार्य करने का भाव यह है,यदि पाँच पदार्थ एक गुरुके पास हो तो बहुत अच्छा है और वही पूर्ण आचार्य हो सकता है। यदि उस गुरु के पास यह पंचांग न हो तो दूसरे गुरु से अध्ययन तथा श्रवण करके अपनी वैष्णवता पूर्ण करनी चाहिये।

तदन्तर यतिराज ने विचार किया कि मैंने पहिले यामुनाचार्य स्वामी के तीन मनोरथ पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की थी। अब उनकी पूर्ति अवश्य करनी चाहिये।

और श्रीभाष्य लोक रक्षा के वास्ते निर्माण करना चाहिये । परन्तु व्यास जी के शिष्य बौधायन मुनि कृत वृत्ति के सहारे वेदान्त का-व्याख्यान करना ठीक होगा। तब अपने शिष्य कुरेश को साथ लेकर शारदापीठ में (काश्मीर) आये और समस्त विद्वानों को शास्त्र विचार से पराजय करके और सरस्वती को प्रसन्न करके बौधायन वृत्ति लेकर श्रीरंगजी को आये।

पुनः द्रमिडभाष्य के तथा बौधायन वृत्ति के सिद्धित्रय के सहारे से श्री कुरेश स्वामी को लेखक बनाकर नाना वादियों के सिद्धान्तों का निराकरण करते हुये। विशिष्टाद्वैत तत्व प्रधान ब्रह्मसूत्रों का व्याख्यान रूप श्री भाष्य की रचना की।

अतः प्रारम्भ में लिखा है कि "भगवद्बोधायन कृतां विस्तृणां ब्रह्म सूत्र वृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः स्तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते"

अर्थात् जैसे बोधायन मुनि ने व्याख्यान किया उसी रीति से व्याख्या करूँगा जैसे श्री शंकराचार्य स्वतन्त्र मनमाने लिखे वैसा न करूँगा भाव यह है कि श्री शंकराचार्य जी ने अपनी बौद्धिक कल्पना से एक उपोद्घात भाष्य बनाया और उसकी समाप्ति में लिखते हैं हैं (कि यथाचायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरकमीमासायां प्रदर्शयिष्यामः) उपोद्घात भाष्य में मंगलाचरण न होने से शाबर भाष्य वत कुभाष्य कि आशंका भी है।

इससे स्पष्ट है कि श्रीशंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रों से अद्वैत का निश्चय न करके अपनी कल्पना से अद्वैत का निश्चय किया। अतः अद्वैत मत ब्रह्म सूत्र तथा श्रुतिमूल नहीं है - अस्तु ?। इस श्रीभाष्य तथा सूत्रों में संक्षेप से तो प्रथम अर्थ पंचक है। प्रथमाध्याय में प्राप्य ईश्वर स्वरूप का निरूपण है। और दूसरे अध्याय के प्रथम पाद से द्वितीय पाद तक विरोधी स्वरूप का निरूपण है। तथा तृतीय चतुर्थ पाद में सपरिकर प्रापक जीव स्वरूप का निरूपण है। तृतीयाध्याय में संसार से वैराग्यपूर्वक सपरिकर मोक्षोपाय का निरूपण है। और चतुर्थाध्यायमें सपरिकर-फल का निरूपण है, यही अर्थ पंचक कहाता है।

इस ग्रन्थ में चार अध्याय के १६ पाद हैं, प्रथम के प्रथम पाद में जीवादिक के साक्षात् लिंग प्रतीत नहीं होते हैं और परमात्मा के साक्षात् प्रतीत होते हैं। अतः जीव का उपास्यत्व निषेध कर त्रिविध उपासना ईश्वर की बताई गई।

प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद में दोनों के बराबर प्रतीत होते हैं जीवादि का उपास्यत्व निषेध पूर्वक ईश्वर ही उपास्य है ॥ और जगत कर्ता है।

प्रथमाध्याय के तृतीय पाद में स्पष्ट जीवादिक के लिंग प्रतीत होते हैं और सामान्यतः ईश्वर के हैं। जड़ जीवादि का निरा करण

करके ईश्वर ही कारण और उपास्य है ॥ देवताओं का भी ब्रह्मोपासना में अधिकार है।

प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद में साक्षात् जीवादिक के लिंग प्रतीत होते हैं जीवादि की आशंका निराकरण करके ब्रह्म कारण स्थापन किया गया है अर्थात् समस्त शास्त्रों का यथार्थ संगति परमात्मा में ही होती है अतः इस अध्याय का नाम समन्वयाध्याय है ॥

द्वितीयाध्याय के प्रथम पाद में सांख्यादिक स्मृतियों से वेदान्त दर्शन की बाध शंका का निराकरण किया गया है। सूक्ष्म चित अचित के सहित एक ईश्वर के विज्ञान से सम्पूर्ण पदार्थों का विज्ञान होता है। अतः ब्रह्मज्ञान अवश्य करना चाहिये। यही परम पुरुपार्थ है ॥

द्वितीयाध्याय के द्वितीय पाद में प्रतिपक्षियों के कुतर्कों का खण्डन करते हुये अनुकूल तर्कों से वेदान्त वेद्यब्रह्म कारणवाद स्थापन किया गया है।

द्वितीयाध्याय के तृतीय पाद में आकाशादि पञ्चतत्वों को कार्यत्व निरूपण करके जीवात्मा के धर्मरूप ज्ञान का संकोच विकास निरूपण करते हुये जीवस्वरूप को नित्यत्व स्थापन किया गया है। और जाव अणु परिमाण है ज्ञाता है और मुक्तिमें ज्ञान विभु हो जाता है। स्वरूप अणु ही रहता है। सौभरि ऋषि के तुल्य अपनी शक्ति से नाना शरीरों में सुखानुभव करता है ॥

द्वितीयाध्याय के चतुर्थ पाद में जीव के उपकरण इन्द्रिय प्रणादि को कार्यत्व स्थापन किया गया है। इन्द्रियों का अधिष्ठाता भी परमात्मा है। अतः परमात्मा की कृपा से इन्द्रियों का विजय हो सकता है।

तृतीयाध्याय के प्रथम पाद में धूम मार्ग से स्वर्गादि लोकों में गये कर्मनिष्ठ जीवों की पंचाहुति के द्वारा गर्भ प्रवेश होकर पुनः जन्ममरण का प्रकार पंचाग्नि विद्या का विचार किया गया है।

तृतीयाध्याय के द्वितीय पाद में स्वप्न सुपुप्ति मरण मूर्च्छादि दुःखाकर तत्वमसि में त्वं शब्दवाच्य जीव की दशा का विचार करते

हुये तत् शब्द वाच्य श्रीमन्नारायण परब्रह्म पुरुषोत्तम को सदा समस्त सांसारिक कामादि हेय दोषों से रहित और समस्त कल्याण दिव्यगुणों का आकार है इस प्रकार से जीव और ईश्वर का तथा प्रकृति का स्वरूप से और तत्त्व से स्वभाव से सर्वदा सत्यभेद समर्थन करके—और जीव तथा प्रकृति के अन्तर्यामी रूप से सर्व व्यापकत्व शक्ति से इन दो तत्वों से विशिष्ट एक परमात्मा साकार-सगुण है और सूक्ष्म चिद्-अचिद्-विशिष्ट-ब्रह्मकारण है—इस प्रकार से ईश्वर को कारण मानने पर विकारादि दोष अचिद् नामक प्रकृति में रह जाते हैं। अज्ञत्वादि दोष चित् नामक जीव में रह जाते हैं। परमात्मा सदा शुद्ध सर्वज्ञादि गुणाकर ही है इसमें दृष्टान्त है कि जैसे जीवात्मा शरीरविशिष्ट रहता हुआ भी शरीर के बाल्यत्व, युवत्व, स्थविरत्व षड् भावविकार जीवस्वरूप को स्पर्श नहीं करते हैं और जीव के ज्ञानादि चैतन्यपन भी शरीर में नहीं आता है—और लिंग शरीर हो या स्थूल शरीर हो सदा शरीर विशिष्ट रहता है—इसी प्रकार से जीव प्रकृति तथा ईश्वर इनके स्वाभाविक धर्मों का परस्पर सांकर्य नहीं होता है। जैसे चित्रपट में नाना नीलपीत वर्ण भिन्न भिन्न तन्तु में रहते हैं और एक चित्रपट यह भी व्यवहार होता है; इस सूक्ष्म विचार से सम्पूर्ण पदार्थों का स्वरूप-स्वभाव का सर्वथा भेद होता हुआ भी विशिष्टाकार से अभेद है; इस प्रकार से विशिष्टा द्वैतसिद्धान्त ही लोक और वेदों में प्रसिद्ध है—परन्तु स्थूल बुद्धि वालों को अद्वैत मालूम हो रहा है। और सम्पूर्ण फलप्रद ईश्वर है।

तृतीयाध्याय के तृतीय पाद में भगवत्प्राप्ति के साधन अनेक उपासना हैं जैसे सद्विद्या, दहरविद्या, शांडिल्यविद्या, भूमविद्या, प्रजापति विद्या, पंचाग्निविद्या, उपकोशलविद्या, शम्बरविद्या, अक्षिविद्या, वैश्वानर-विद्या इत्यादि बहुतसी उपासनायें हैं इस विषय में यह कथन है कि उपासक का सम्पूर्ण विद्याओं की उपासना से मोक्ष होगा कि एक से पूर्वपक्षी का कहना है सब विद्याओं की उपासना से मोक्ष होगा यदि एक से होगा तो अन्य उपासना व्यर्थ हैं। परन्तु वेदव्यास जी का

मत है कि सम्पूर्ण उपासनाओं का प्रथम ज्ञान करके जिससे फिर उपासक की रुचि हो उसी एक उपासना से मोक्ष हो जाता है।

तृतीयाध्याय के चतुर्थ पाद में वर्णाश्रमानुकूल कर्मानुष्ठान करते हुये श्रीमन्नारायण की उपासना से ही मोक्षरूप फल होता है। इससे साबित है कि कर्म अंग है और उपासना (भक्तिरूपापन्न ज्ञान) अंगी है यह वेदव्यास का मत है और जैमिनि का मत है कि उपासना अंग है कर्म अंगी है कर्म से ही फल होता है। और वेदों कर्म का ही कथन है।

वेदव्यास का सिद्धान्त है कि यद्यपि कर्मानुष्ठान फलोंकासाधन है परन्तु कर्म स्वयं अचेतन है वह अपने से फल कैसे देगा, उन शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठान से प्रसन्न होकर ईश्वर फल देता है। अनेक उपासनाओं का फलैक्य होने से इस अध्याय का नाम उपसंहाराध्याय है। अनेक शाखाओं में निर्गुण सगुण वाक्य विरोध शमन को उपसंहार करते हैं॥

चतुर्थाध्याय के प्रथम पाद में—परमात्मा की उपासना के आरम्भ से ही पूर्व पापों का विनाश होता है। उत्तर पापों का संसर्ग नहीं होता है। और बुद्धिपूर्वक पाप करता नहीं है। प्रारब्ध का भोगने से विनाश हो जाता है। इसी तरह से पुण्य को भी समझना चाहिये किसी शाखा में ऐसा भी है कि जो श्रीमन्नारायण के उपासकों से वैर करता है उसको परमात्मा अपने भक्त का पाप देते हैं। और जो सहायक होता है उसको पुण्य देते हैं और शिष्य तथा पुत्रों को दाय गृह सम्पत्ति देते हैं—जो पुरुप विचार के साथ बुद्धि पूर्वक पाप करने में प्रवृत होता है और दूसरे का अनर्थ करता है। उसको कर्मों का भोग करना पड़ेगा उसको ईश्वर भोगाये विना माफी नहीं देते हैं।

चतुर्थाध्याय के द्वितीय पाद में शरीर से जीव की जब उत्क्रांति होती है उस समय सबसे पहिले वाणी का लय मन में होता है—इसके बाद सम्पूर्ण इन्द्रियों के सहित मन का लय प्राण में होता है प्राणवायु

के सहित जीव का संसर्ग परमात्मा में होता है—इस प्रकार से बुभुक्षु और मुमुक्षु की देह से उत्क्रमण समान ही है परन्तु जिसका मोक्ष होना हो उसकी भगवदनुग्रह से सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा गमन होता है।

४ अ० तृतीय पाद में सुषुम्ना के द्वारा ब्रह्म रन्ध्र से बाहर आकर उसको सूर्य की किरणें दिन के पास ले जाती हैं और दिवस का स्वामी शुक्ल पक्ष की सन्निधि में पहुँचाता है और शुक्ल पक्ष का अधिष्ठाता उत्तरायण की सन्निधि में ले जाता है। उत्तरायण का स्वामी वर्ष की सन्निधि में पहुँचाता है। और वर्ष का अधिष्ठाता देवलोक में ले जाता है देवलोक का अधिष्ठाता आदित्य लोक में पहुँचाता है। आदित्य लोक से चन्द्रलोक और चन्द्र लोक से विद्युत लोक और विद्युत लोक से वरुण लोक वरुण लोक से इन्द्र लोक और इन्द्र लोक से चतुर्मुख ब्रह्मलोक वहाँ पर ब्रह्माजी से सन्मानित होकर पंचतत्वों का भेदन करके विरजा नदी में स्नान करके लिंग शरीर का परित्याग होकर अमानव पुरुष के हस्त स्पर्श के बाद पार्षद देह की प्राप्ति होकर ब्रह्मालंकार से अलंकृत होता हुआ अनेक नित्य मुक्तों के साथ श्री मणि मण्डप में जाकर श्रीभू नीलादेवियों के सहित श्रीमन्नारायण को साष्टांग करके और भगवान् से सन्मानित तथा भगवत स्पर्श से आनन्दित होता हुआ सायुज्यादि मोक्ष का अनुभव करता हुआ नित्य कैङ्कर्य करता हुआ पुनरावृत्ति रहित सर्व काल श्रीवैकुण्ठ लोक में वास करता है यही ब्रह्म प्राप्ति का फल है।

चतुर्थाध्याय के चतुर्थ पाद में प्रकृति सम्बन्ध से मुक्त हुये जीव का नाम मुक्त और आत्मा इत्यादि शब्दों से प्रसिद्ध रहता है। जब शरीर से रहता है उस समय जाग्रत अवस्था के समान सुखानुभव करता है और जब बिना शरीर का रहता है तब सुषुप्ति अवस्था के समान सुखानुभव करता है। संकल्प से सम्पूर्ण पदार्थ प्राप्त होते हैं।

सशरीर अथवा अशरीर रहना मुक्त पुरुष की इच्छा के आधीन है। यह विषय छान्दोग्योपनिषद् के ८ अ० प्रसिद्ध है। और जगतकी

उत्पत्ति रक्षा प्रलय और लक्ष्मी तथा कौस्तुभ मणि को छोड़कर परमात्मा के साथ समस्त भोग तथा लीलाओं की समानता है। मोक्षरूप फल का विचार होने से इस अध्याय का नाम फलाध्याय है। यह संक्षेप से समस्त ग्रन्थ का सारांश बताया गया है। अथातो ब्रह्म जिज्ञासा से लेकर अनावृत्तिश्शब्दात् २ यहाँ तक इस ग्रन्थका नाम ब्रह्म मीमांसा है और इसी का नाम शारीरकमीमांसा भी है। और इसी का नाम उत्तर मीमांसा तथा वेदान्त दर्शन भी है।

इस प्रसिद्ध देह का नाम शरीर है और इस शरीर का सम्बन्धी जोव का नाम शारीर है और शारीर नामक जीव को आनन्द देने वाला ब्रह्म का नाम शारीरक है उसका जो मीमांमा माने विचार उसका नाम शारीरकमीमांसा है अथवा शरीर इस पद का काक्षीन्याय से जीव तथा प्रकृति दोनों का ग्रहण करने से शरीर सम्बन्धी शारीर परमात्मा हुआ उसको प्रतिपादन करने वाला शास्त्र का नाम शारीरक हुआ। इस शारीरक पद से प्रकृति जीव शरीर वाला ब्रह्म इन तीन तत्वों का प्रतिपादन हुआ जीव तथा प्रकृति के सहित एक ब्रह्म का कथन होने से इस शास्त्र में विशिष्टाद्वैत का ही प्रतिपादन है। अतः अन्य मतों में यह शब्द सार्थक नहीं होता है। इस विशिष्टाद्वैत मत ने किसी का भी खण्डन नहीं किया है किन्तु सबका संशोधन किया है। विशिष्ट पदार्थ के अन्दर अद्वैत तथा द्वैत द्वैताद्वैत तथा शुद्धाद्वैत समस्त सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है। जीव का अणु परिमाण है और ईश्वर विभु है। जो विभु होता है वह समस्त पदार्थों में व्यापक रहेगा। तो अन्तर्यामी रूप से ईश्वर जीव के भीतर है और व्यापकत्व होने से बाहर भी है सदा जीव के साथ अपृथक सिद्ध सम्बन्ध से रहता है। अद्वैत मत भी इस मत में समावेश हो जाता है इस प्रकार का अद्वैत शास्त्र संमत तथा ऋषि मुनियों का सम्मत है। मायावादी का अद्वैत शास्त्र विरुद्ध है।

द्वैत सिद्धान्त में जीव को अणु परिमाण तथा ईश्वर को विभु परिमाण होने से और जीव ईश का स्वरूप स्वभाव तथा तत्व से भेद

होने से द्वैत सिद्धान्त का समावेश भी विशिष्टाद्वैत में हो जाता है। और जो ईश्वर को जीव के भीतर न मान करके जीव के समीप रहकर शासन करता है और जिसने अल्प साधनानुष्ठान किया उस उपासक को मुक्ति में अल्प सुख होता है और जिसने अधिक किया उस उपासक को अधिकसुखानुभव होता है ऐसी विषमता इनको मुक्ति में भी नहीं छोड़ती है इत्यादि वेद विरुद्ध विषय अनादरणीय है।

अब भेदाभेद सिद्धान्त में भेदांश का समावेश भेद वाद में हो जायगा अभेदांश का समावेश अद्वैतवाद में हो जायगा। और अवशिष्टांश का तेज तिमिर न्याय से प्रत्यक्ष ही विरोध है। पृथक् खण्डन या मण्डन की आवश्यकता नहीं है।

अब शुद्धाद्वैत सिद्धान्त में तीन अंश हैं सदंश और चिदंश तथा आनन्दांश। सदंश से प्रकृति का ग्रहण चिदंश से जीव का ग्रहण और आनन्दांश से ब्रह्म का ग्रहण। इस प्रकार से तत्वत्रय का प्रतिपादन होने से इस मत का समावेश भी विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में हो जाता है।

यदि यह तीनों अंश ब्रह्म स्वयं है तो विकारादि दोष ब्रह्म में आ जायेंगे तो शुद्धाद्वैत से अशुद्धाद्वैत हो जायगा। फिर जैसे अद्वैत मत में अविद्या अज्ञानादि से आच्छादित अशुद्ध ब्रह्म का समर्थन हुआ वैसी ही शुद्धाद्वैत की दशा हुई।

अब जो सिद्धान्त संक्षेप से लिखे गये और जो नहीं लिखे गये अचिन्त्याद्वैत तथा शिवविशिष्टाद्वैत इत्यादि जो कुछ भी हैं उन सबका अनुकूलांश का समावेश विशिष्टा द्वैत में हो जायगा–प्रतिकूलांश वेद विरुद्ध युक्ति विरुद्ध होने से सर्वथा अनादरणीय है।

और समस्त वेद, पुराण इतिहासों में तत्वत्रय जीव ईश्वर तथा प्रकृति का प्रतिपादन होने से विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त परिपूर्ण है और यह सिद्धान्त चतुर्दश भुवनों में व्याप्त है। और आधुनिक आर्य समाज ने भी अद्वैतादिक समस्त मतों का निराकरण करके इस तत्वत्रय वादि

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त को किसी प्रकार से नहीं हटा सका और तत्वत्रय प्रतिपादक विशिष्टाद्वैत ही मानना पड़ा। अब जो लोग यह कहते हैं कि भारत में नाना मत हैं उनमें इसी से कलह होता है। परन्तु मालूम होता है कि उन महानुभावों ने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त नहीं जाना है। इस भारत में एक विशिष्टाद्वैत के भीतर सब मतों का समावेश है। जैसे एक चक्रवर्ती सम्राट के राज्य के भीतर समस्त छोटे २ राजाओं का समावेश है और वह एक राज्य कहा जाता है। तैसे सतस्त छोटे २ मतों का व्यापक विशिष्टाद्वैत के भीतर समावेश है इसी तरह से सम्पूर्ण भारत में एक ही मत है और इस भारत में जो श्रेष्ठ ज्ञान वाले पुरुप हैं। उनमें कोई तरह का कलह भी नहीं है। और जहाँ कलह है भी वे अपने भोजन वस्त्र की चिन्ता से परस्पर में द्वेप किया करते हैं।

इस विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की व्यापकता में विलक्षण श्लोक अधिकार संग्रह में पाया जाता है ॥

यद्येतं यत्ति सार्वभौमकथितं विद्याद्विधातमः
प्रत्पूपं प्रतितन्त्रमन्तिमयुगे कश्चिद्विपश्चित्तमः ।
तत्रैकत्रझडित्युपैति विलयं तत्तन्मत स्थापना
हे वाक् प्रथमान है तुक कथा कलोल कोलाहलः ॥

एवं यह सिद्धान्त युगान्तर में प्रचलित था परन्तु द्वापर में पराशर मुनि ने विष्णु पुराण से रक्षा की उसके बाद वेदव्यास मुनि ने महाभारत के द्वारा रक्षा की। फिर परांकुश स्वामी ने सहस्र गति के द्वारा रक्षा की। पुन. नाथ मुनि स्वामी ने न्याय तत्व नाम के ग्रन्थ से रक्षा की। उसके बाद यामुनाचार्य जी ने सिद्धित्रय आगम प्रामाण्य ग्रन्थों से सुरक्षित किया। उसके बाद श्रीरामानुजाचार्य जी ने श्रीभाष्य वेदान्त दीप इत्यादि ग्रन्थों से सुरक्षित किया। और चारों धामों की यात्रा की तथा चार दिशाओं को दिग्विजय किये। यह विषय प्रपन्नामृत में प्रसिद्ध है। इस प्रकार यामुन मुनि का प्रथम श्रीभाष्यादि रचने का मनोरथ पूर्ण किये।

श्रीभाष्य मित्थं कृपया लोकानुग्रह कारणात् ।
प्रथमं यामुनार्य स्य दुःखं महदपोहयत् ॥

श्रीरामानुज स्वामी के चरणाश्रित श्रीकुरेश सर्व शास्त्र विशारद थे वे उञ्छवृत्ति से रहते थे। किसी समय अधिक वृष्टि होने से उच्छवृत्ति नहीं कर सके फिर स्नानादि करके हरि का आराधन किया और फल तथा ठाकुरजी का चरणोदक लेकर गृह में बैठ रहे। पुनः रात्रि में भगवान् के भोग का समय हुआ और काहली का शब्द श्रवण करके कुरेश स्वामी की पत्नी ने रङ्गनाथ से प्रार्थना की, आपका भक्त तो क्षुधा से पीड़ित है और आप भोजन कर रहे हो। तब सर्वज्ञ भगवान् ने अपने उत्तम नाम के अधिकारी को स्वप्न में आज्ञा की कुरेश को हमारा प्रसाद ले जाओ फिर अर्चक लोग प्रसाद को बड़े संमान से कुरेश स्वामी के आश्रम पर ले गये। श्रीकुरेश साष्टांग प्रणाम कर प्रसाद लेकर अपनी भार्या से कहा कि आपने भगवान् से क्या प्रसाद की प्रार्थना की है वह बोली हाँ तब कुरेश स्वामी कहे कि आप ही प्रसाद पालो तब अपने पति की आज्ञा से पतिव्रता ने प्रसाद पाया। उसी प्रसाद से दशवें मास में दो पुत्र लवकुश के तुल्य उत्पन्न हुये। एकदा शौचादिक निवृति के बाद रामानुज स्वामी ने गोविन्दाचार्य को कुरेश स्वामी के पुत्रों के लाने को भेजा। फिर श्री कुरेश और गोविन्दाचार्य उन दोनों पुत्रों को रामानुज स्वामी के पास लाये।

इन दोनों पुत्रों को देखकर रामानुज स्वामी बड़े प्रसन्न हुये और गोविन्दाचार्य के द्वारा पञ्च संस्कार करवाया। बड़े लड़के का नाम पराशर और छोटे का नाम व्यास रखा। यह दोनों बड़े भक्त हुये। इस प्रकार यामुनाचार्य जी का जो पराशर और व्यास के नाम से सम्प्रदाय में किसी का नाम होना चाहिये वह दूसरा मनोरथ भी रामानुज स्वामी ने पूर्ण किया।

श्री पराशर नाम्ना च तयोर्तग्रस्य बालयोः ।
श्री पराशर भट्टार्य इति नामा करोत तदा ॥

वेदव्यासाऽभिधानेनं कृत्वा नामापरस्यच ।
द्वितीयं यामुनार्यस्यतद्दुखं प्रममार्ज सः ।

तृतीय मनोरथ यामुन मुनि का यह था कि—

श्रीरामानुज वैष्णवत्व दीक्षा लेकर शरणागति धर्म का प्रचार करते हुये द्रविड़ वेद का विस्तार करेगा। ऐसा यामुन मुनि का मनोरथ था सो सब रामानुज स्वामी ने करके दिखाया और फिर रामानुज स्वामी का शिष्य गोविन्द भट्टार्य था उनके पुत्र का नाम श्री परांकुशपूर्णार्य रखा इस प्रकार से रामानुज स्वामी ने तीनों मनोरथ पूर्ण किये।

श्री परांकुश पूर्णाय इति नाम विधाय च ।
तृतीयं यामुनार्यस्यतद्दुःखमुद वासयन् ॥

श्री यामुनार्यस्य जगद्धितार्थं मयूरयत्त्रीणि मनोरथानि ।
अवाप्त कामः सजगाम हर्षं रंगेशतो लक्ष्मणदेशि केन्द्रः॥

यद्यपि रामानुज स्वामी का अनन्त चरित्र है उनको विस्तार भय से न लिखकर परम पद जाने का अल्प चरित्र लिखता हूँ।

जब श्रीरामानुज स्वामी की १२० वर्ष की अवस्था हुई तब विचार किया कि मनुष्य की शत वर्ष की आयु होती है और मेरे विंशति वर्ष अधिक हो गये हैं। अब भगवान् से आज्ञा लेकर परम पद जाना चाहिये। ऐसा विचार करके रंगनाथ का दर्शन करने को गये तब श्रीरंगनाथ भगवान् कहे कि—

आज आपने क्या विचार किया। तब रामानुजाचार्य बोले— सौ वर्ष मनुष्य की आयु का निर्णय आपने किया है अब काल का अति क्रमण हो गया है तब रंगनाथ कहे कि काल का कर्ता तो मैं हूँ अभी कुछ दिनों तक इस भूमि में रहो फिर रामानुज स्वामी बोले कि शीघ्र मोक्ष प्रदान करिये मैं नहीं रहना चाहता हूँ। तब भगवान् प्रसन्न होकर कहे कि आपकी जो चाहना हो, बरदान माँग लो।

तब रामानुज स्वामी ने कहा कि जो परमपद आपने मुझे दिया,

वही परम पद मेरे सम्बन्ध सम्बन्धी शिष्यों को देना। इस वचन को श्रवण करके भगवान् ने कहा—"ओ३म् तथास्तु।"

दास्यामि कांक्षितंवत्सवरं वरय सुव्रत।
एवं ब्रुवति रङ्गेशे सन्तुष्टो यत्तिराट् ततः॥
लोको यः प्राप्यते स्वामिन् भवतः कृपयामया।
अस्मत्सम्बन्ध सम्बन्धि चरमावधयश्रये॥
सम्यग्गच्छन्तु तं लोकं जनास्ते तव शासनात्।
वाढ मित्यभिधायाशु यतीन्द्राय महात्मने॥

इस प्रकार प्रार्थना करके यतिराज मठ में आये। यह समाचार सब श्री वैष्णवों ने सुना और रामानुज स्वामी की सन्निधि में आकर कहा—आपके परम-पद जाने से संसार में अधर्म बढ़ेगा, तब श्रीवैष्णव किस प्रकार से कालक्षेप करेंगे! तब रामानुज स्वामी ने ७२ वाक्यों का उपदेश दिया और यह सकल शास्त्रों का सारांश है। अत्यन्त रहस्यार्थ होने से और विस्तार-भय से इन वाक्यों का अर्थ यहाँ नहीं लिखता हूँ।

इस प्रकार ७२ बहत्तर वाक्यों का अर्थ श्रवण करके बड़े-बड़े ज्ञानाधिक महात्मा कहे कि—भावी कलिकाल में होनेवाले श्रीवैष्णवों से इस गूढार्थ का पालन होना बड़ा कठिन है। कृपा करके सरल उपाय बताइये। तब रामानुज स्वामीजी महाराज ने पुनः ६ वाक्यों का उपदेश किया—

१—उपाय बुद्धया कर्माणि मा कुरुध्वं महात्मकाः।
कर्मणामेव कैङ्कर्ये प्राप्ये भगवतो मतिः॥
तदीयं नाम कैङ्कर्यं श्रुत्वा श्रीभाष्य मादरात्।
प्रवर्त्तयध्वं तल्लोके तत्र शक्तिर्नचेद्यदि॥
२—परांकुशादिमुनिभिर्दशभि र्देशिकोत्तमैः।
कृतंप्रबन्धमभ्यस्य शिष्येभ्यो वदता निशम्॥
३—तत्रापि भवतां शक्तिर्नस्याद्यदि हि वैष्णवाः।
दिव्यदेशेषु कैङ्कर्यं विष्णवे कुरुतानिशम्॥

४—तत्रापि भवतां बुद्धिर्यदि सम्यङ्न्न जायते।
कूटीर मपि कृत्वापि मठे मे यादवाचले।
मुक्ताहं कारिणः सर्वे वासं कुरुत वैष्णवाः।
५—नाप्येतद्भवतांवत्सरोचते यदि सुन्दरम्।
द्वयार्थस्यानुसन्धानं यावज्जीव मतंद्रिताः॥
कुर्वन्तः सम्यगेवार्या निर्भरा वसतादरात्।
६—यदि नोत्पद्यते बुद्धिर्भवतां तत्र सत्तमाः।
श्रूयतामवधानेन प्रवक्ष्ये चरमं हितम्॥
ज्ञान भक्त्यादि युक्तस्य वैष्णवस्य महात्मनः।
मुक्ताहं कारिणस्तस्य निदेशे वसतानिशम्॥
अयं हि चरमोपायो नान्योपायस्ततः परम्
अस्मिन्नर्थे महाश्लोकः श्रूयते लोकविश्रुतः॥
श्रीभाष्यं द्रविडागमं प्रवचनं श्रीशास्थलेष्वन्वहं।
कैङ्कर्यं यदुशैल नित्य वसतिः सार्थोद्वयोच्चारणम्॥
यद्वा भागवताभिमान वसतिः श्रेयः सतामित्यलं।
शिष्यान्प्राह यतीश्वरः परमगाद्विष्णोः पदं शाश्वतम्॥

१-कर्मानुष्ठान को भगवत कैङ्कर्य समझ कर करना चाहिये, और और भगवन्मंत्र का जप करना और फलेच्छा नहीं रखनी चाहिये। श्रीभाष्य को आदर से श्रवण-मनन करना और श्री भाष्य का लोक में प्रचार करने से ईश्वर कैङ्कर्य हो जाता है।

२—यदि इस में असमर्थ हो, तो पूर्वाचार्यों की गाथाओं का (द्रविड वेद) रात-दिन पठन-पाठन करना चाहिये।

३—यदि यह न हो तो दिव्य-देशों में भगवत-कैङ्कर्य करना चाहिये और भगवन्मूर्तियों की प्रतिष्ठा करनी चाहिये।

४—यदि यह भी न हो तो अर्थ के सहित निरन्तर द्वय मन्त्र का अनुसन्धान करना चाहिये। द्वयेनसततं स्फुरिताधरमित्यादि।

५—यदि इस में शक्ति न हो तो दिव्य देशों में कुटी बना कर भी निरन्तर वास करना चाहिये, यदि इसमें शक्ति न हो तो।

सबसे सुलभ उपाय यह है कि ज्ञान, भक्ति वैराग्य युक्त शरणागति धर्म के जानने वाला अहंकार, ममकार से मुक्त महात्मा के आश्रय सदा वास करना, इस प्रकार से समस्त श्रीवैष्णवों को नाना तरह के आचरण तथा उपदेश करते हुए ६० वर्ष तक अखण्ड श्रीरङ्गनगर में वास किये और ६० वर्ष के अन्दर श्रीभूतपुरी कांची मैल कोटा तथा चारों धामों की यात्रा में व्यतीत करके और सेतु से लेकर हिमालय तक तथा पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक ऐसा कौन मनुष्य था ? कि जो स्वामी रामानुज का सम्बन्धी न हुआ हो और चार लक्ष बत्तीस हजार वर्ष की कलियुग की सीमा तक श्रीभष्य, तथा वेदार्थ संग्रह इत्यादि नाना ग्रन्थों को तथा नाना दिव्य देशों को स्थापन करके परमधाम को शोभित किये।

श्रीरङ्गवासेन यतीश्वरस्यपष्टिः समानामगमत् सुखेन।
पष्टिस्तथान्या निगमाद्रि कांची श्रीभूतपूर्यादिषु वासतःकौ॥
आसेतु सीताचलमध्यभूमावापश्चिमप्रागुजलराशि मध्ये।
अशिष्यभूतोयति पुंगवस्य कश्चिज्जनः कापिन लक्ष्यते हि॥

सम्यङ्निवृत्ताखिल विष्णुमाया,
तमो यतीन्द्राश्रयणाब्ज बन्धुः।
सम्प्राप्त तत्वार्थ निधिर्हि मोक्षं,
सुखं प्रपेदेऽखिलजन्तु संघः॥

और श्रीरामानुजाचार्य के अङ्गों में समस्ताचार्य वास करते हैं।

मस्तकं श्रीशठरातिं नाथाख्यं मुखमण्डलम्।
नेत्रयुग्मं सरोजाक्षं कपोलं राघवं तथा॥१॥

वक्षस्थलं यामुनार्यं कण्ठं श्रीपूर्णं देशिकम्।
बाहु द्वयं गोष्ठीपूर्णं शैलपूर्णंस्तनद्वयम् २॥

कुक्षिंतु वर रंगार्यं पृष्ठं मालाधरं तथा ।
कटिकांची मुनिं विद्याद्गोविन्दार्यं नितम्बकम् ॥ ३ ॥
भट्टवेदान्तिनौ जंघे-उरु युग्मन्तु नम्बुलम् ।
कृष्णं जानुयुगञ्चैव लोकं श्रीपाद पंकजम् ॥ ४ ॥
रेखां श्रीशैलनाथाख्यं पादुकां वरयोगिनम् ।
पुण्ड्रं सेनापतिं प्रोक्तं सूत्रं कूरपतिं तथा ॥ ५ ॥
भागनेयं त्रिदण्डञ्च कापायश्चान्ध्रपूर्णकम् ।
मालाञ्चकुरुकेशार्यं छायां श्रीचापकिङ्करम् ॥ ६ ॥
एवं रामानुजार्यस्यावयवानखिलान् गुरून् ।
अवयविनं महात्मानं रामानुजं मुनिं भजे ॥ ७ ॥
गुरु मूर्त्यात्म योगीन्द्रं योध्यायेत्प्रत्यहं नरः ।
सर्वान्कामान वाप्नोति लभेचान्ते परमंपदम् ॥ ८ ॥

परिशिष्ट भाग

तत्पश्चात् श्रीरामानुजाचार्य के स्थापित किये हुये ७४ पीठस्थ आचार्य पुरुषों ने इस ग्रन्थ तथा मतका अधिक प्रचार किया। तदनन्तर श्रीलोकाचार्य स्वामी ने अनेक रहस्यार्थ ग्रन्थों से पुष्ट किया। तत्समकाल में श्रीवेदान्ताचार्यजी ने १६४ ग्रन्थों के द्वारा इस विशिष्टाद्वैत प्रतिपादक श्रीभाष्य की सुचारु रूप से रक्षा की।

श्रीवेदान्ताचार्य के समकाल में यवनों का सामराज्य था वे लोग धार्मिक स्थानों पर आक्रमण करते हुये श्री रंगनगर जा पहुँचे वहाँ उत्तम उत्तम रत्न आदि वस्तु लेकर भी पुनः कौतुभमणि मांगने लगे तो श्रीवैष्णवों ने विचार किया कि अपने जीते २ ही दे देना स्वरूपविरुद्ध और भगवदपचार है तब श्रीलोकाचार्य भगवान रंगनाथ की उत्सवमूर्ति लेकर पांड्य देश (वन) को चले गये तदन्तर यह समाचार यवनों ने सुना और क्रुधित होकर सब वैष्णवों को मार डाले पुनः पुस्तकालय में जाकर पुस्तकों का नाश करने लगे (अग्नि भी प्रज्वलित करने लगे, यह विषय यतीन्द्र प्रवणप्रभाव तथा गुरुपरम्परा प्रभाव में पाया

जाता है) तब श्रीवेदान्ताचार्यजी उस यवनी सेना के देखते हुये भी पुस्तकालय में जा पहुँचे उसी समय सुदर्शन भट्टाचार्यजी ने श्रीभाष्य तथा अपना पुत्र वेदान्ताचार्य को दिये। पुनः इन दोनों रत्नों को लेकर मरे हुये वैष्णों को अपने ऊपर डाल कर सात दिन तक छिपे रहे फिर भी यवनों ने बड़ी तलाशी की परन्तु भगवदनुग्रह से रक्षित रहे तत्पश्चात् यादवाद्रि चले गये। इसमें प्रमाणिक श्लोक मिलता है—

श्रीभाष्यं वेंकटेशश्च सुदर्शनसुतद्वयम् ।
समादायाञ्जसाधीमान् यादवाद्रिं तदाययौ
लोकाचार्य सहायेन रंगेशः पांड्यमण्डलम् ।
प्रतस्थे सहसाऽरण्य वर्त्मना दुर्गमनेनच ॥

इस प्रकार १४ वर्ष में लौट कर पुनः श्रीरंगनाथ रंगनगर में विराजमान हुये। और वेदान्ताचार्य भी विराजमान हुये तदन्तर हयग्रीव भगवान् का आराधन करके इस सिद्धान्त की तथा श्रीभाष्य की रक्षा के लिये १६४ ग्रन्थों की रचना किये। ऐसे २ कष्टों से पूर्वाचार्य इस ग्रन्थ की रक्षा किये।परन्तु वर्तमान काकिक श्रीवैष्णवों का ध्यान इस तरफ नहीं जाता है यही शोचनोय विषय है।

तदनन्तर श्रीवरवर मुनि स्वामी ने अष्ट गद्दी स्थापित करके सुरक्षित किया [१ श्रीवानाचल योगी, २ भट्टनाथ मुनि, ३ श्रीनिवासयति, ४ देवराज गुरू, ५ वाधूलवरदनारायण, ६ प्रतिवादिभयंकर, ७ रामानुज गुरु, ८ प्रणवार्तिहारी।] ये अष्ट गद्दियों के महापुरुष हैं। इस प्रकार से यह सम्प्रदाय दक्षिण देशमें अधिक रूपसे प्रचलित था परन्तु उत्तर देश में सामान्य रूप से प्रचलित रहा पुनः श्रीरंगाचार्यजी महाराज ने श्रीवृन्दावन में दिव्य देश स्थापित कर समस्त ग्रन्थों को द्रविड़ तैलंग अक्षरों से संस्कृत भाषा में अनुवाद किया। तब यह श्रीभाष्य काशी में भी छपा था परन्तु अब अत्यन्त दुर्लभ्य होने से आगे न छपने से करीब ७५ रु० कि० सूचोपत्रों में देखा जाता है। पुनः मूल मात्र मद्रास में प्रकाशित हुआ था, वह भी अब नहीं मिलता है। पुनः पं० श्रीधरणीधर शास्त्रीजी महाराज ने टीकाद्वय सहित

प्रकाशित किया है, यह पुस्तक उत्तर-दक्षिण भारत में इस मत का अधिक रूप से प्रचार कर रही है, परन्तु इसकी ६ जिल्द हैं, पठन-पाठन तथा प्रदेश की यात्रा में बड़ी ही असुविधा रहती है, पुनः मैंने कै एक प्रेसवालों से पत्र-व्यवहार किया और स्वयं बातचीत भी की और संप्रदाय के बड़े-बड़े धनिक महन्त तथा सेठों से भी बहुत कहा-सुना, परन्तु किसी ने भी इस कार्य में ध्यान न दिया। और मेरी इस पुस्तक में बड़ी अभिलाषा बढ़ती गई, पुनः मेरा संकल्प हुआ कि मैं वे० आ० परीक्षा उत्तीर्ण होकर प्रथम ही श्रीभाष्य का कैङ्कर्य करूँगा।

तदन्तर १९३५ में काशी-संस्कृत कालेज से विशिष्टाद्वैत भाग में प्रथम ही उत्तीर्ण हुआ, तदन्तर प्रेस वालों से मामूली तरह से बातचीत हुई। उन्होंने कहा थोड़े खर्च में ही आपकी पुस्तक छपेगी। पुनः पीछे हिसाब करने को कहा, तो दो-ढ़ाई हजारके करीब रु० बताये और इतना खर्चा न होनेसे मैं असमर्थ रहा, बड़ी चिन्ता होती रही पुनः पं० श्रीगोविन्दा चार्यजी के चरणाश्रित पं० लीलाधर शास्त्री ने कहा कि मैं संशोधन करने की सहायता दूंगा, आप कुछ उद्योग कीजिये। तब मैं कलकत्ते गया और वहाँ श्रीमान् सेठ हजारीमल सोमाणिजी तथा श्रीमान् सेठ किशनलाल बांगड़जी से प्रथम मुलाकात हुई और इन सज्जनों के पुरुस्कार व परोपकार की दृष्टि से अनेक विघ्नों से ठोकर खाता हुआ भी इस पुस्तक की छपाई कागज के वास्ते कुछ चन्दा भी हुआ। अब जिन जिन सज्जनों ने इस कार्य में अपनी श्रद्धा-शक्ति के अनुसार सहायता दी है, उनको धन्यवाद देते हुए उनकी नाम-स्मृति दी जाती है—

श्री १०८ जगद् गुरु महन्त श्रीगदाधर रामानुजाचार्यजी पुरी,
श्री मान् महन्त गोविन्दाचार्यजी उत्तर पार्श्वपुरी
श्रीमान् सेठ नारायणदासजी, गोविन्ददासजी बांगड़ कलकत्ता,
श्रीमान् सेठ किशनलालजी बांगड़, ,,
श्री मान् सेठ हजारीमलजी सोमाणी ,,
श्रीमान् सेठ कन्हैयालालजी गट्टानी ,,
श्री मान् बाबू सन्तोषकुमारजी मल्लिक ,,
श्री मान् सेठ जगन्नाथजी जीवनमलजी तापड़िया

श्रीमान् सेठ ठाकुरदासजी साह (बैंकर) अलमोड़ा

उक्त महानुभावों के मनोरथों को श्रीमन्नारायण सदा पूर्ण करेंगे और आगे श्रीवेदान्ताचार्य कृत १६४ ग्रन्थों के जीर्णोद्धार में तन, मन, धन से जरूर चेष्टा भी करेंगे।

श्री १०८ पूज्यपाद पं० धरणीधर शास्त्रीजी महाराज के तथा अन्यान्य समस्त गुरुजनोंके चरण-कमलों में कोटिशः साष्टांग करता हूँ, जिनकी निर्हेतुक कृपा से ही मैंने इस दिव्य सूक्ति का आस्वादन किया और भगवद्भागवताचार्य सेवा करनेका भी अवसर प्राप्त हुआ है।

यद्यपि इस ग्रन्थ-रत्न की भूमिका संस्कृत में ही होनी चाहिये थी, परन्तु बड़े-बड़े शिष्ट-सज्जनों की आज्ञा से सामान्य जनता के उपकार के लिये और जो संस्कृत नहीं जानते हैं, इस मत में पूर्ण-रीति से श्रद्धा-भक्ति रखने वाले हैं, उन महानुभावों को इस ग्रन्थ का तात्पर्य समझने के लिये हिन्दी में भूमिका लिखी है, अब जो मेरी अनवधानता से तथा हिन्दी प्रेसवालों के व संशोधक के भ्रम प्रमाद कर्णापाटवादि से गलती रह गई हैं, उनको पाठक-गण क्षमा करें और संशोधन करके तात्पर्य समझ लेवें। ये पुस्तकें मनोवृत्ति से अखिलाण्ड-कोटि ब्रह्माण्ड-नायक परत्व सौलभ्य नाना गुण गणालंकृत श्रीमन्नारायण के श्रीचरण-कमलों में समर्पित करके श्री१०८ श्री गोपालाचार्य स्वामीजी महाराज के तथा श्री पं० श्रीधराचार्य शास्त्रीजी महाराज के हस्त-कमलों में निवेदित तथा सुशोभित होती हुई समस्त जनता के हृदय-अन्धकार को विनिष्ट करती हुई, इस विशिष्टाद्वैत श्रीरामानुज सम्प्रदाय का अधिकार रूप से प्रचार करती जायेगी। शुभं भूयात्॥

भगवद्भागताचार्य चरण-रेणु कृपा का कांक्षी "वेदान्ताचार्य"—

(धरणीधराऽपर नामधेय) पर्वतीय—

पं० धनीराम शास्त्री,

ज्ञानगूदड़ी, वृन्दावन (मथुरा)



। ॐ ।

॥ श्रियै नमः ॥

॥ श्रीधराय नमः ॥



श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

श्रीभगवद्रामानुजविरचितं—

❀ शारीरकमीमांसा श्रीभाष्यम् ❀

अखिल*भुवनजन्मस्थेमभङ्गादिलीले
विनत*विविधभूतव्रातरक्षैकदीक्षे ।
श्रुतिशिरसि विदीप्ते ब्रह्मणि श्रीनिवासे
भवतु मम परस्मिञ्शेमुषी भक्तिरूपा ॥ १ ॥

---

*अत्र श्लोके शास्त्र प्रतिपाद्यैक देश भूतः परपक्ष प्रतिक्षेपश्चार्थतस्सूचितो भवति —'जन्म-स्थेम भङ्गादि' शब्देन युगपत्सर्गादिकमनभ्युपगच्छन्तो भाट्ट-प्राभाकरा व्यावर्त्तिताः । 'लील' शब्देन साक्षीमात्रेश्वरवादि हैरण्य गर्भ व्युदासः । 'विनतेत्यादि' पदेन जीवानां परस्परं ब्रह्मणा च भेदमनभ्युपयन्तो ब्रह्माज्ञान वादिनोऽपास्ताः । श्रुति शिरसीत्यनेन वेद बाह्य चार्वाक बौद्धार्हत निरासः । तेनैव पदेनानुमानिकेश्वरवादिनो निरस्ताः । ब्रह्मणीत्यनेनाब्रह्मात्मक प्रधान परमाणु कारणवादि सांख्य वैशेषिकादि व्युदासः । 'श्रीनिवास' शब्देन पाशुपतादि व्युदासः । अनेनैवेश्वरोत्तीर्ण ब्रह्म वादिनो भेदाभेदवादिनश्च निरस्ताः । 'शेमुषी' शब्देन ज्ञान-कर्म समुच्चयोपाय वादि व्युदासः । 'भक्ति रूपेति वाक्यार्थ-ज्ञानमात्रोपायवादि व्युदासः । ननु प्रयोजक व्यापारो हि लीला, अतो भंगस्य लीलात्वे युक्तेऽपि कथं प्रयोज्य व्यापार भूतयो र्जन्म स्थित्यो र्लीलात्वम् ; उच्यते-बहु स्यां प्रजायेयेति हि श्रुतिः, अतः प्रयोजक व्यापार वत् प्रयोज्य व्यापारस्य च लीलात्व कथनेनोपादानत्वं फलितम्, लीला शब्देन निमित्तत्वं च ॥ भङ्गादी-त्यन्तेन प्रथमाध्यायार्थः संक्षिप्तः । अवाप्त समस्त कामस्य व्यापारानुपपत्तिं परि-

पाराशर्यवचस्सुधामुपनिषद्दुग्धाब्धिमध्योद्धृतां
संसाराग्निविदीपनव्यपगतप्राणात्मसञ्जीवनीम् ।
पूर्वाचार्यसुरक्षितां बहुमतिव्याघातदूरस्थिता-
मानीतां तु निजाक्षरैस्सुमनसो भौमाः पिबन्त्वन्वहम् ॥३॥

(प्रथमाध्याये-प्रथमपादे-जिज्ञासाधिकरणम्)

भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्यास्संचिक्षिपुः, तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते -

ओं ॥ अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥

अत्रायमथशब्द *आनन्तर्ये भवति। अतश्शब्दो वृत्तस्य हेतुभावे। अधीतसाङ्गसशिरस्कवेदस्याधिगताल्पास्थिरफलकेवलकर्मज्ञानतया संजातमोक्षाभिलाषस्यानन्तस्थिरफलब्रह्मजिज्ञासा ह्यनन्तरभाविनी ॥

ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा । ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी,

हरता लीला शब्देन विरोध परिहार पर द्वितीयाध्यायार्थः सूचितः ॥ विनत-रक्षाशब्दाभ्यां तृतीय चतुर्थाध्यायार्थौं संक्षिप्तौ । एवमर्धं श्लोकेन प्रमेय शरीरं संक्षिप्य पुनरर्धेन प्रमाण स्वरूपं संक्षिप्यते श्रुति शिरसीत्यादिना ।

* प्रह्वी भूता न्यासोपासनात्मकाशेष विद्या विशेष निष्ठा विवक्षिताः । भूत सम्बन्धी व्रातो—भूत व्रातः । संश्रित संबन्धिनोऽपि तत एव कारणात् भगवतो रक्ष्याः । यथा—आस्फोटयन्ति पितरः प्रनृत्यन्ति पितामहाः । वैष्णवो नः कुले जातः स नस्संतारयिष्यति ॥ १ ॥ पशु मंनुष्यः पक्षी वा ये च वैष्णव संश्रयाः । तेनैव ते प्रयास्यन्ति तद्विष्णोः परमं पदमिति च । इष्टप्रापण पर्यन्ता-निष्टनिवारण लक्षणा रक्षा । तस्यामेक दीक्षः प्रधानदीक्ष इत्यर्थः । अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणामित्यादि ।

* अथानन्तर्यं इति सप्तम्याश्शक्ति निरूपकत्व रूप वाचकत्वार्थकतया तस्य 'भू' धात्वर्थे धर्मेऽभेदेनान्वयात् तस्याख्यातार्थाश्रयत्वे तस्य च प्रथमान्तार्थे, अथ शब्दे स्वरूप सम्बन्धेनान्वयात्; एतत्सूत्र घटकी भूतातः शब्दशिरस्काभिन्नः, अथ शब्द आनन्तर्य वाचकत्वाभिन्न धर्मवानिति बोधः ।

१"कर्तृकर्मणोः कृति" इति विशेषविधानात्। यद्यपि सम्बन्धसामान्यपरिग्रहेऽपि जिज्ञासायाः कर्मापेक्षत्वेन कर्मार्थत्वसिद्धिः, तथाऽप्याक्षेपतः प्राप्तादभिधानिकस्यैव ग्राह्यत्वात् कर्मणि षष्ठी गृह्यते। न च २ "प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते" इति कर्मणि षष्ठ्याऽस्समासनिषेधश्शङ्कनीयः," ३ "कृद्योगा च षष्ठी समस्यते" इति प्रतिप्रसवसम्भवात् ब्रह्मशब्देन च स्वभावतो*निरस्तनिखिलदोषोऽनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणगणः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते। सर्वत्र बृहत्त्वगुणयोगेन हि ब्रह्मशब्दः। बृहत्त्वं च स्वरूपेण गुणैश्च यत्रानवधिकातिशयं सोऽस्य मुख्योऽर्थः; स च सर्वेश्वर एव। अतो ब्रह्मशब्दस्तत्रैव मुख्यवृत्तः। तस्मादन्यत्र तद्गुणलेशयोगादौपचारिकः, अनेकार्थकल्पनायोगात्, भगवच्छब्दवत्। तापत्रयातुरैरमृतत्वाय स एव जिज्ञास्यः। अतस्सर्वेश्वर एव जिज्ञासाकर्मभूतं ब्रह्म॥

ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा। इच्छाया इष्यमाणप्रधानत्वादिष्यमाणं ज्ञानमिह विधीयते॥

मीमांसापूर्वभागज्ञातस्य कर्मणोऽल्पास्थिरफलत्वादुपरितनभागावसेयस्य ब्रह्मज्ञानस्यानन्ताक्षयफलत्वाच्च पूर्ववृत्तात्कर्मज्ञानादनन्तरं तत एव हेतोर्ब्रह्म ज्ञातव्यमित्युक्तं भवति। तदाह वृत्तिकारः—४ "वृत्तात्कर्माधिगमादनन्तरं ब्रह्मविविदिषा" इति। वक्ष्यन्ति च कर्मब्रह्ममीमांसयोरैकशास्त्र्यं—५ "संहितमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेनेति शास्त्रैकत्वसिद्धिः"! इति अतः प्रतिपिपादयिषितार्थभेदेन षट्कभेदवदध्यायभेदवच्च पूर्वोत्तरमीमांसयोर्भेदः। मीमांसा-

*निरस्त कतिपय दोषत्वं, निरस्त निखिल दोषत्वं च केषांचिद् बद्धानां मुक्तानां नित्यानामप्यस्तीति, तद्व्यावृत्त्यर्थं स्वभावतो निरस्त निखिल दोष इत्युक्तम्; नित्य सिद्धानामपि भगवन्नित्य संकल्पाधीनं हि नित्य निर्दोषत्वम्। स्वभावत इत्युत्तरत्रानुषङ्गः; तेन गुणानामप्यविद्या कल्पितत्व पक्ष व्यावृत्तिः।

! मोक्ष रूपैक प्रयोजनक प्रतिपत्ति विषयार्थकत्वमैक शास्त्र्यम्। मोक्षस्य साक्षात्कर्म फलत्वाभावेऽपि परम्परया तत्फलत्वमस्त्येव।

१ अष्टा० २ अ० ३ पा० ६५ सू०। २ अष्टा० २ अ० २ पा० १० सू० वा०।
३ अष्टा० २ अ० २ पा० ८ सू० वा०। ४ बोधायनवृत्तिः। ५ बोधायनवृत्तिः।

शास्त्रम्—१"अथातो धर्मजिज्ञासा" इत्यारभ्य २"अनावृत्तिश्शब्दाद्-नावृत्तिश्शब्दात्" इत्येवमन्तं सङ्गतिविशेषेण १ विशिष्टक्रमम्। तथाहि-प्रथमं तावत् ३"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यध्ययनेनैव स्वाध्यायशब्द-वाच्यवेदाख्याक्षरराशेर्ग्रहणं विधीयते ॥

तच्चाध्ययनं किंरूपं कथं च कर्तव्यमित्यपेक्षायाम् ४"अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयेत्"इत्यनेन,

५"श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वा उपाकृत्य यथाविधि।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥"

इत्यादिव्रतनियमविशेषोपदेशैश्चापेक्षितानि विधीयन्ते ॥

एवं सत्सन्तानप्रसूतसदाचारनिष्ठात्मगुणोपेतवेदविदाचार्यो-पनीतस्य व्रतनियमविशेषयुक्तस्याऽऽचार्योच्चारणानूच्चारणरूपमक्षर-राशिग्रहणफलमध्ययनमित्यवगम्यते ॥

अध्ययनं च स्वाध्यायसंस्कारः, ६" स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति स्वाध्यायस्य कर्मत्वावगमात्। संस्कारो हि नाम कार्यान्तरयो-ग्यताकरणम्। संस्कार्यत्वं च स्वाध्यायस्य युक्तम्, धर्मार्थकाममोक्ष-रूपपुरुषार्थचतुष्टयतत्साधनावबोधित्वात्, जपादिना स्वरूपेणापि तत्साधनत्वाच्च ॥

एवमध्ययनविधिर्मन्त्रवत् नियमवदक्षरराशिग्रहणमात्रे पर्य-वस्यति। अध्ययनगृहीतस्य स्वाध्यायस्य स्वभावत एव प्रयोजनवद्-

१ अत्रामी संगति विशेषा अभिप्रेताः पाठ क्रमः; चेतनानां त्रिवर्गे प्रथम प्रावण्य संभव रूपोऽर्थस्वभावः; औपनिषदेष्वङ्गाङ्गि भाव प्रति पादक वाक्येषु यज्ञादि कर्मणां पदार्थत्वेन संबन्धः; कासुचिद् विद्यासु यज्ञ तदुपकरणादीनां दृष्टि विशेषणत्वोक्तिः; कर्म ब्रह्म विषयो र्दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक भावः, विद्या कर्म-णोरुत्पाद्योत्पादक भावात् तच्छेष भूत विचारयोस्तु तत्क्रम भावत्वोपपत्तिः, व्याख्यान भूत मीमांसायां चोत्तर भागस्य पूर्व भागोक्त न्यायसापेक्षत्वञ्चेति ॥

१ कर्ममी० १ अ० १ पा० १ सू०। २ शारीरकम० ४ अ० ४ पा० २२ सू०। ३ यजुरारण्यके २ प्र० १५ अनु०। ४ शतपथब्राह्मणम्। ५ मनुस्मृ० ४ अ० ९५ श्लोक। ६ यजुरारण्यके० २ प्र० १५ अनु०।

र्थावबोधित्वदर्शनात् । गृहीतात्स्वाध्यायादवगम्यमानात् प्रयोजनवतोऽर्थानापाततो दृष्ट्वा तत्स्वरूपप्रकारविशेषनिर्णयफलवेदवाक्यविचाररूपमीमांसाश्रवणेऽधीतवेदः पुरुषस्स्वयमेव प्रवर्तते । तत्र कर्मविधिस्वरूपे निरूपिते कर्मणामल्पास्थिरफलत्वं दृष्ट्वाऽध्ययनगृहीतस्वाध्यैकदेशोपनिषद्वाक्येषु चामृतत्वरूपानन्तस्थिरफलापातप्रतीतेस्तन्निर्णयफलवेदान्तवाक्यविचाररूपशारीरकमीमांसायामधिकरोति । तथा च वेदान्तवाक्यानि केवलकर्मफलस्य क्षयित्वं ब्रह्मज्ञानस्य चाक्षयफलत्वं दर्शयन्ति—१ " तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते " २ "अन्तवदेवास्य तद्भवति" ३ "न ह्यध्रुवैः प्राप्यते " ४ " प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः " ५ "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् नास्त्यकृतः कृतेन तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिश्श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं ॥ तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच (क) तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् " ६ "ब्रह्मविदाप्नोति परम् " ७ " न पुनर्मृत्यवे तदेकं पश्यति " ८ " न पश्यो मृत्युं पश्यति " ९ " स स्वराड्भवति " १० "तमेवं विद्वानमृत इह भवति " ११ " पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति "—इत्यादीनि ॥

ननु च साङ्गवेदाध्ययनादेव कर्मणां स्वर्गादिफलत्वम्, स्वर्गादीनां च क्षयित्वं, ब्रह्मोपासनस्यामृतत्वफलत्वं च ज्ञायत एव। अनन्तरं मुमुक्षुर्ब्रह्मजिज्ञासायामेव प्रवर्तताम्; किमर्था धर्मविचारापेक्षा ? । एवं तर्हि शारीरकमीमांसायामपि न प्रवर्तताम्, साङ्गाध्ययनादेव कृत्स्नस्य ज्ञातत्वात्। सत्यम्; आपातप्रतीतिर्विद्यत एव, तथापि न्यायानुगृहीतस्य वाक्यस्यार्थनिश्चायकत्वादापातप्रतीतो-

१ छान्दोग्ये० ८ प्रपाठके० १ खण्डे० ६ वा० । २ बृहदारण्यके० ५ अध्याये० ८ ब्राह्मणे० १० वा० । ३ कठे० २ वल्ल्यां० १० वा० । ४ मुण्डकोपनिषदि० १ मुण्डके० २ ख० ७ वा० । ५ मुण्ड-उ० १ मुण्ड० २ ख० १२-१३ वा० । ६ तैत्तिरीये आनन्द० २ अ० १ अनु० १ वा० । ७ । ८ छा-उ० ७ प्र० २६ ख० वा० । ९ छा-उ० ७ प्र० २५ ख० २ वा० । १० पुरुषसूक्ते० २० वा० । ११ श्वेताश्वतरे० १ अ० ६ वा० । (क) प्रब्रूयादित्यर्थः ॥

ऽप्यर्थस्संशयविपर्ययौ नातिवर्तते; अतस्तन्निर्णयाय वेदान्तवाक्यविचारः कर्तव्यः—इति चेत्; तथैव धर्मविचारोऽपि कर्तव्य इति पश्यतु भवान् ॥

(लघुपूर्वपक्षः)

ननु च—ब्रह्मजिज्ञासा यदेव नियमेनापेक्षते, तदेव पूर्ववृत्तं वक्तव्यम्। न धर्मविचारापेक्षा ब्रह्मजिज्ञासायाः, अधीतवेदान्तस्यानधिगतकर्मणोऽपि वेदान्तवाक्यार्थविचारोपपत्तेः। कर्माङ्गाश्रयाण्युद्गीथाद्युपासनान्यत्रैव चिन्त्यन्ते; *तदनधिगतकर्मणो न शक्यं कर्तुम्—इति चेत्; अनभिज्ञो भवान् शारीरकशास्त्रविज्ञानस्य। अस्मिन् शास्त्रे अनाद्यविद्याकृतविविधभेददर्शननिमित्तजन्मजरामरणादिसांसारिकदुःखसागरनिमग्नस्याखिलदुःखमूलमिथ्याज्ञाननिबर्हणायाऽऽत्मैकत्वविज्ञानं प्रतिपिपादयिषितम्। अस्य हि भेदावलम्बि कर्मज्ञानं क्वोपयुज्यते? प्रत्युत विरुद्धमेव। उद्गीथादिविचारस्तु कर्मशेषभूत एव ज्ञानरूपत्वाविशेषादिहैव क्रियते। स तु न साक्षात्सङ्गतः। अतो यत्प्रधानं शास्त्रं, तदपेक्षितमेव पूर्ववृत्तं किमपि वक्तव्यम् ॥

बाढम्; तदपेक्षितं च कर्मविज्ञानमेव, कर्मसमुच्चितात् ज्ञानादपवर्गश्रुतेः। वक्ष्यति च—१ "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" इति।

*: एकस्यसाम्नः पञ्च भागाः सन्ति, ते प्रस्तावोद्गीथ प्रतिहारो प ञ्च निधनाख्याः। एते भागा भक्ति शब्दाभिधेयाः, तासु पञ्च सुभक्तिषु प्रस्तावो-हिङ्कारपूर्वङ्गीयते। उद्गीथः प्रणवपूर्वङ्गीयते, तत्र पञ्च विध सामोपासनं कचि द्विधीयते, लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीतेति ॥ कचित्सा मावयवेषु पञ्चस्वेकैकावय वोपासनं विधीयते। तत्रोद्गीथा वयवभूत प्रणवोपासनं विधीयते। ओमित्येतदक्षर मु उद्गीथ मुपासीतेति। माङ्गाश्रयाणि कर्माङ्गभूतोद्गीथादि विषयाणि। अनधिगत कर्मण उद्गीथाद्युपासन चिन्तनं न शक्यं कर्तुमिति ॥

१ शारीरकमी० ३ अ० ४ पा० २६ सू०।

अपेक्षिते च कर्मण्यज्ञाते केन समुच्चयः केन नेति विभागो न शक्यते ज्ञातुम्। अतस्तदेव पूर्ववृत्तम्॥

नैतद्युक्तं, सकलविशेषप्रत्यनीकचिन्मात्रब्रह्मविज्ञानादेवाविद्यानिवृत्तेः; अविद्यानिवृत्तिरेव हि मोक्षः। वर्णाश्रमविशेषसाध्यसाधनेतिकर्तव्यताद्यनन्तविकल्पास्पदं कर्म सकलभेददर्शननिवृत्तिरूपाज्ञाननिवृत्तेः कथमिव साधनं भवेत्?। श्रुतयश्च कर्मणामनित्यफलत्वेन मोक्षविरोधित्वं, ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं च दर्शयन्ति—१ "अन्तवदेवास्य तद्भवति" २ "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते। एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" ३ "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" ४ "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" ५ "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति"—इत्याद्याः॥

यदपि चेदमुक्तं—यज्ञादिकर्मापेक्षा विद्येति। तद्वस्तुविरोधात् श्रुत्यक्षरपर्यालोचनया चान्तःकरणनैर्मल्यद्वारेण विविदिषोत्पत्तावुपपद्यते; न फलोत्पत्तौ, "विविदिषन्ति" इति श्रवणात्। विविदिषायां जातायां ज्ञानोत्पत्तौ शमादीनामेवान्तरङ्गोपायतां श्रुतिरेवाऽऽह—६ "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुस्समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्"—इति॥

तदेवं जन्मान्तरशतानुष्ठितानभिसंहितफलविशेषकर्ममृदितकषायस्य विविदिषोत्पत्तौ सत्यां ७ "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" ८ "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ९ "निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" १० "अयमात्मा ब्रह्म" ११ "तत्त्वमसि" इत्यादिवाक्य-

---

१ बृ-उ० ५ अ० ८ ब्रा० १० वा०। २ छा-उ० ८ प्र० १ ख० ६ वा०। ३ तै-उ० आन० २ अ० १ अनु० १ वा०। ४ मुण्ड-उ० ३ मुण्ड० २ ख० ९ वा०। ५ श्वे-उ० ३ अ० ८ वा०। ६ बृ-उ० ६ अ० ४ ब्रा० २३ वा०। ७ छा-उ० ६ प्र० २ ख० १ वा०। ८ तै-उ० आन० २ अ० १ अनु० १ वा०। ९ श्वे-उ० ६ अ० १९ वा०। १० बृ-उ० ६ अ० ४ ब्रा० ५ वा०। ११ छा-उ० ६ प्र० ८ ख० ७ वा०।

जन्यज्ञानादविद्या निवर्तते। वाक्यार्थज्ञानोपयोगीनि च श्रवणमनननिदिध्यासनानि। श्रवणं नाम वेदान्तवाक्यानि आत्मैकत्वविद्या प्रतिपादकानीति तत्त्वदर्शिनआचार्यान्न्याययुक्तार्थग्रहणम्। एवमाचार्योपदिष्टस्यार्थस्य स्वात्मन्येवमेव युक्तमिति हेतुतः प्रतिष्ठापनं मननम्। एतद्विरोध्यनादिभेदवासनानिरसनायास्यैवार्थस्यानवरतभावना निदिध्यासनम्। श्रवणादिभिर्निरस्तसमस्तभेदवासनस्य वाक्यार्थज्ञानमविद्यां निवर्तयतीत्येवंरूपस्य श्रवणस्यावश्यापेक्षितमेव पूर्ववृत्तं १ वक्तव्यम्। तच्च नित्यानित्यवस्तुविवेकः, शमदमादिसाधनसम्पत्, इहामुत्रफलभोगविरागः, मुमुक्षुत्वं चेत्येतत्साधनचतुष्टयम्। अनेन विना जिज्ञासानुपपत्तेः, अर्थस्वभावादेवेदमेव पूर्ववृत्तमिति ज्ञायते॥

एतदुक्तं भवति—ब्रह्मस्वरूपाच्छादिकाविद्यामूलमपारमार्थिकं भेददर्शनमेव बन्धमूलम्। बन्धश्चापारमार्थिकः। स च समूलोऽपारमार्थिकत्वादेव ज्ञानेनैव निवर्त्यते। निवर्तकं च ज्ञानं तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यम्। तस्यैतस्य वाक्यजन्यस्य ज्ञानस्य स्वरूपोत्पत्तौ कार्ये वा कर्मणो नोपयोगः। विविदिषायामेव तु कर्मणामुपयोगः। स च पापमूलरजस्तमोनिबर्हणद्वारेण सत्त्वविवृद्ध्या भवतीतीममुपयोगमभिप्रेत्य "ब्राह्मणा विविदिषन्ति" इत्युक्तमिति॥

अतः कर्मज्ञानस्यानुपयोगात् उक्तमेव साधनचतुष्टयं पूर्ववृत्तमिति वक्तव्यम्॥

(लघुसिद्धान्तः)

अत्रोच्यते यदुक्तमविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः सा च ब्रह्मविज्ञानादेव भवति॥ इति। तदभ्युपगम्यते। अविद्यानिवृत्तये वेदान्तवाक्यैर्विधित्सितं ज्ञानं किंरूपमिति विवेचनीयम्—किं वाक्याद्वाक्यार्थज्ञानमात्रम्, उत तन्मूलमुपासनात्मकं ज्ञानम्?—इति। न तावद्वाक्यजन्यं ज्ञानं, तस्य विधानमन्तरेणापि वाक्यादेव सिद्धेः; वाक्यमात्रे-

१ किमपि॥ इत्यधिकं क्वचित्पुस्तके दृश्यते॥

णाविद्यानिवृत्त्यनुपलब्धेश्च ×। न च वाच्यं–भेदवासनायामनिरस्तायां वाक्यमविद्यानिवर्तकं ज्ञानं न जनयति, जातेऽपि सर्वस्य सहसैव भेदज्ञानानिवृत्तिर्न दोषाय; चन्द्रैकत्वे ज्ञातेऽपि द्विचन्द्रज्ञानानिवृत्तिवत्। अनिवृत्तमपि छिन्नमूलत्वेन न बन्धाय भवति॥—इति, सत्यां सामग्र्यां ज्ञानानुत्पत्त्यनुपपत्तेः; सत्यामपि विपरीतवासनायामाप्तोपदेशलिङ्गादिभिर्बाधकज्ञानोत्पत्तिदर्शनात् +। सत्यपि वाक्यार्थज्ञाने अनादिवासनया मात्रया भेदज्ञानमनुवर्तत इति भवता न शक्यते वक्तुम्; भेदज्ञानसामग्र्या अपि वासनाया मिथ्यारूपत्वेन ज्ञानोत्पत्त्यैव निवृत्तत्वात् ज्ञानोत्पत्तावपि मिथ्यारूपायास्तस्या अनिवृत्तौ निवर्तकान्तराभावात् कदाचिदपि नास्या वासनाया निवृत्तिः। वासनाकार्यं भेदज्ञानं छिन्नमूलमथ चानुवर्तत इति बालिशभाषितम् ÷। द्विचन्द्रज्ञानादौ तु बाधकसन्निधावपि मिथ्याज्ञानहेतोः परमार्थतिमिरादिदोषस्य ज्ञानबाध्यत्वाभावेनाविनष्टत्वात् मिथ्याज्ञानानिवृत्तिरविरुद्धा। प्रबलप्रमाणबाधितत्वेन भयादिकार्यं तु निवर्तते। अपि च भेदवासनानिरसनद्वारेण ज्ञानोत्पत्तिमभ्युपगच्छतां कदाचिदपि ज्ञानोत्पत्तिर्न सेत्स्यति; भेदवासनाया अनादिकालोपचितत्वेनापरिमित-

× बहु शास्त्र विरोध–प्रत्यक्षविरोधरूपमिदं दूषण द्वयं वदता भगवताचापस्तम्बेनाऽपि वाक्यार्थ ज्ञानमात्रस्य मोक्ष साधनत्वं निरस्तम्। यथा— बुद्धे क्षेम प्रापणं तच्छास्त्रै र्विप्रतिषिद्धम्, बुद्धे चेत्क्षेमप्रापणमिहैव न दुःखमुपलभेत, एतेन परं व्याख्यातमिति।

+ यथा क्वचिद्देशे सर्प इति वाक्यात् चिरं भ्रमितः पुरुषो न तत्र सर्प इति आप्तोपदेशाज्जानाति। यथा च वनं न दग्धमिति श्रुत्वा चिरं भ्रान्तस्य पश्चात् तत्र गत्वाङ्गारादि लिङ्ग दर्शनेन दग्धमिति ज्ञानं जायते, यथा चिरं सर्पत्वेन वासिते वस्तुनि समीप गमनानन्तरमिन्द्रिय व्यापारेण रज्जु ज्ञानं सहैव जायते, तद्वदित्यभिप्रायेणाप्तोदेश लिङ्गादिभिर्बाधक ज्ञानोत्पत्ति दर्शनादित्युक्तम्।

÷ मृग तृष्णाम्भसि स्नातः शश शृङ्गधनुर्धरः।
एष वन्ध्या सुतो याति ख–पुष्प कृत शेखरः॥

त्वात्, तद्विरोधिभावनायाश्चाल्पत्वादनया तन्निरसनानुपपत्तेः। अतो वाक्यार्थज्ञानादन्यदेव ध्यानोपासनादिशब्दवाच्यं ज्ञानं वेदान्तवाक्यैर्विधित्सितम्। तथा च श्रुतयः—१ "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" २ "अनुविद्य विजानाति" ३ "ओमित्येवाऽऽत्मानं ध्यायथ" ४ "निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" ५ "आत्मानमेव लोकमुपासीत" ६ "आत्मा वा अरे ‡ द्रष्टव्यश्श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" ७ "सोऽन्वेष्टव्यस्स विजिज्ञासितव्यः"—इत्येव माद्याः॥

अत्र "निदिध्यासितव्यः" इत्यादिनैकार्थ्यात् "अनुविद्य विजानाति" "विज्ञाय प्रज्ञाङ्कुर्वीत" इत्येवमादिभिर्वाक्यार्थज्ञानस्य ध्यानोपकारकत्वात् "अनुविद्य" "विज्ञाय" इत्यनूद्य "प्रज्ञाङ्कुर्वीत" "विजानाति" इति ध्यानं विधीयते। 'श्रोतव्यः" इति चानुवादः—स्वाध्यायस्यार्थपरत्वेनाधीतवेदः पुरुषः प्रयोजनवदर्थावबोधित्वदर्शनात्तन्निर्णयाय स्वयमेव श्रवणे प्रवर्तते—इति श्रवणस्य प्राप्तत्वात्। श्रवणप्रतिष्ठार्थत्वान्मननस्य "मन्तव्यः" इति चानुवादः। तस्माद्ध्यानमेव विधीयते। वक्ष्यति च ८"आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" इति। तदिदमपवर्गोपायतया विधित्सितं वेदनमुपासनमित्यवगम्यते, विद्युपास्योर्व्यतिकरेणोपक्रमोपसंहारदर्शनात्—९ "मनो ब्रह्मेत्युपासीत" इत्यत्र—"भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद," १० "न स वेद अकृत्स्नो ह्येषः—आत्मेत्येवोपासीत", ११—"यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः" इत्यत्र—१२ "अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से" इति॥

‡ अत्र पाठ क्रमादर्थ क्रमो बलीयानिति न्यायेन श्रवण-मनन-निदिध्यासनान्तरं द्रष्टव्य इति योजनीयम्, अन्यथा श्रवणादि विधिनामानर्थक्यात्।

१ बृ-उ० ६ अ० ४ ब्रा० २१ वा० । २ छा-उ० ८ प्र० १२ ख० ६ वा०।
३ मुण्ड-उ० २ मुण्ड० २ मु० ६ वा०। ४ कठ-उ० १ अ० ३ वल्ली० १५वा०
५ बृ-उ० ३ अ० ४ ब्रा० १५ वा०। ६ बृ-उ० ६ अ० ५ ब्रा० ६ वा०।
७ छा-उ० ८ प्र० ७ ख० १ वा०। ८ शारीर० ४ अ० १ पा० १ सू०।
९ छा-उ० ३ प्र० १८ ख० १ वा०। १० बृ-उ० ३ अ० ४ ब्रा० ७ वा०।
११ छा-उ० ४ प्र० १ ख० ४ वा०। १२ छा-उ० ४ प्र० २ ख० २ वा०।

ध्यानं च तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपम् १ "ध्रुवा स्मृतिः । स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः"—इतिध्रुवायास्स्मृतेरपवर्गोपायत्वश्रवणात् । सा च स्मृतिर्दर्शनसमानाकारा—

२ "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥"

इत्यनेनैकार्थ्यात् । एवं च सति ३ "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यनेन निदिध्यासनस्य दर्शनसमानाकारता विधीयते । भवति च स्मृतेर्भावनाप्रकर्षाद्दर्शनरूपता । वाक्यकारेणैतत्सर्वं प्रपञ्चितम्—४ "वेदनमुपासनं स्यात्तद्विषये श्रवणात्"—इति । सर्वासूपनिषत्सु मोक्षसाधनतया विहितं वेदनमुपासनमित्युक्तम् । ५ "सकृत्प्रत्ययं कुर्याच्छब्दार्थस्यकृतत्वात्प्रयाजादिवत्" इति पूर्वं पक्षं कृत्वा—६ "सिद्धं तूपासनशब्दात्" इति वेदनमसकृदावृत्तं मोक्षसाधनमिति निर्णीतम् । ७ "उपासनं स्याद्ध्रुवानुस्मृतिर्दर्शनान्निर्वचनाच्च" इति तस्यैव वेदनस्योपासनरूपस्यासकृदावृत्तस्यध्रुवानुस्मृतित्वमुपवर्णितम् ॥

सेयं स्मृतिर्दर्शनरूपा प्रतिपादिता । दर्शनरूपता च प्रत्यक्षतापत्तिः । एवं प्रत्यक्षतापन्नामपवर्गसाधनभूतां स्मृतिं विशिनष्टि—८ "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" इति । अनेन केवलश्रवणमनननिदिध्यासनानामात्मप्राप्त्यनुपायत्वमुक्त्वा यमेवैष आत्मा वृणुते तेनैव लभ्य इत्युक्तम् । प्रियतम एव हि वरणीयो भवति । यस्यायं निरतिशयप्रियस्स एवास्य प्रियतमो भवति । यथायं प्रियतम आत्मानं प्राप्नोति, तथा स्वयमेव भगवान् प्रयतत इति भगवतैवोक्तम्—

---

१ छा-उ० ७ प्र० २६ ख० २ वा० । २ मुण्ड-उ० २ मु० २ ख० ८वा ।
३ बृ-उ० ६ अ० ५ ब्रा० ६ वा० । ४ ५, ६, ७, बोधायनवृत्तिः ।
८ मुण्ड-उ० ३ मु० २ ख० ३ वा० ।

१"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥"

इति,

२"प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥"—

इति च ॥

अतस्साक्षात्काररूपा स्मृतिस्स्मर्यमाणात्यर्थप्रियत्वेन स्वयमप्यत्यर्थप्रिया यस्य, स एव परेणाऽऽत्मना वरणीयो भवतीति तेनैव लभ्यते पर आत्मेत्युक्तं भवति । एवंरूपा ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयते, उपासनपर्यायत्वाद्भक्तिशब्दस्य अतएव श्रुतिस्मृतिभिरेवमभिधीयते—३"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" ४"तमेवं विद्वानमृत इह भवति । नान्यः पन्था अयनाय विद्यते",

५"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ! ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ! ॥"

६"पुरुषस्स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ॥" इति ॥

एवंरूपाया ध्रुवानुस्मृतेस्साधनानि यज्ञादीनि कर्माणीति—७"यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्"—इत्यभिधास्यते । यद्यपि विविदिषन्तीति यज्ञादयो विविदिषोत्पत्तौ विनियुज्यन्ते, तथाऽपि तस्यैव वेदनस्य ध्यानरूपस्याहरहरनुष्ठीयमानस्याभ्यासाधेयातिशयस्याऽऽप्रयाणादनुवर्तमानस्य ब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वात्तदुत्पत्तये सर्वाण्याश्रमकर्माणि यावज्जीवमनुष्ठेयानि । वक्ष्यति च—८"आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम्"

१ गीता १० अ० १० श्लोक । २ गीता ७ अ० १७ श्लोक । ३ श्वे-उ० ३ अ० ८ वा० । ४ पुरुषसूक्तम् १७ वा० । ५ गीता ११ अ० ५३, ५४ श्लोक । ६ गीता ८ अ० २२ श्लोक । ७ शारीरक मी० ३ अ० ४ पा० २६ सू० । ८ शा० ४ अ० १ पा० १२ सू० ।

१"अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्" "२सहकारित्वेन च"—इत्यादिषु । वाक्यकारश्च ध्रुवानुस्मृतेर्विवेकादिभ्य एव निष्पत्तिमाह—३"तल्लब्धिर्विवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्यस्संभवान्निर्वचनाच्च"—इति । विवेकादीनां स्वरूपं चाऽऽह—४"जात्याश्रयनिमित्तादुष्टादन्नात्कायशुद्धिर्विवेकः"—इति । अत्र निर्वचनम्—५"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिस्सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः"—इति ६"विमोकः कामानभिष्वङ्गः" इति । ७"शान्त उपासीत" इति निर्वचनम् । ८"आरम्भणसंशीलनं पुनःपुनरभ्यासः" इति । निर्वचनं च स्मार्तमुदाहृतं भाष्यकारेण—९ "सदा तद्भावभावितः"—इति । १०"पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानं शक्तितः क्रिया" इति । निर्वचनं—११"क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः"१२"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन"—इति च ।१३"सत्यार्जवदयादानाहिंसानभिध्याः कल्याणानि" इति । निर्वचनं - १४"सत्येन लभ्यः" १५"तेषामेवैषः—विरजो ब्रह्मलोकः"-इत्यादि । "१६देशकालवैगुण्याच्छोकवस्त्वाद्यनुस्मृतेश्च तज्जं दैन्यमभास्वरत्वं मनसोऽवसादः"इति । तद्विपर्ययोऽनवसादः । निर्वचनं—१७"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"—इति । १८"तद्विपर्ययजा तुष्टिरुद्धर्षः" इति ।तद्विपर्ययोऽनुद्धर्षः । अतिसन्तोषश्च विरोधीत्यर्थः । निर्वचनमपि—१९"शान्तो दान्तः"—इति । एवंनियमयुक्तस्याऽऽश्रमविहितकर्मानुष्ठानेनैव विद्यानिष्पत्तिरित्युक्तं भवति ॥ तथा च श्रुत्यन्तरम्—

*२०"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥"—इति ॥

---

१ शा० ४ अ० १पा० १६ सू० । २ शा० ३ अ० ४ पा० ३३ सू० ३ बोधायनवृत्तिः । ४ वृत्तिः । ५ छा-उ० ७ प्र० २६ ख० २ वा० । ६ वृत्तिः । ७ छा-उ० ३ प्र० १४ ख० १ वा० । ८ वृत्तिः । ९ गीता ८ अ० ६ श्लो० १० वृत्तिः । ११ मु०-उ० ३ मु० १ ख० ४ वा० । १२बृ उ० ६ अ० ४ ब्रा० २२ वा० । १३वृत्तिः। १४ मु -उ० ३ मु० १ ख ५ वा० । १५ प्रश्न-उ १प्रश्ने १५ १६ वा । १६ वृत्तिः । १७ मु-उ०३ मु० २ ख० ४ वा० । १८ वृत्तिः । १९ बृ उ० ६ अ० ४ ब्रा० २३ वा० २० ईशा-उ० ११ वा० ।

* २० विद्यां - ब्रह्मोपासन रूपाम् अविद्या- तदङ्गभूत कर्मात्मिकां च एतदुभयं सह वेद अङ्गाङ्गिभावेन सहानुष्ठेयं वेदेत्यर्थः ।

अत्राविद्याशब्दाभिहितंवर्णाश्रमविहितं कर्म। अविद्यया—कर्मणा। मृत्युं ज्ञानोत्पत्तिविरोधि प्राचीनं कर्म। तीर्त्वा—अपोह्य। विद्यया ज्ञानेन। अमृतं ब्रह्म। अश्नुते प्राप्नोतीत्यर्थः। मृत्युतरणोपायतया प्रतीता अविद्या विद्येतरद्विहितं कर्मैव, यथोक्तम् -

१ " इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः।
ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तर्तुं मृत्युमविद्यया ॥" इति ॥

ज्ञानविरोधि च कर्म पुण्यपापरूपम्। ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिविरोधित्वेनानिष्टफलतयोभयोरपि पापशब्दाभिधेयत्वम्। अस्य च ज्ञानविरोधित्वं ज्ञानोत्पत्तिहेतुभूतशुद्धसत्त्वविरोधिरजस्तमोविवृद्धिद्वारेण पापस्य च ज्ञानोदयविरोधित्वम्—२ "एष एवासाधु ॐ कर्मकारयति तं यमधो निनीषति"—इति श्रुत्याऽवगम्यते। रजस्तमसोर्यथार्थज्ञानावरणत्वं, सत्त्वस्य च यथार्थज्ञान हेतुत्वं भगवतैव प्रतिपादितं—३ "सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम्" इत्यादिना। अतश्च ज्ञानोत्पत्तये पापं कर्म निरसनीयम्। तन्निरसनं च अनभिसंहितफलेनानुष्ठितेन धर्मेण। तथा च श्रुतिः—४ "धर्मेण पापमपनुदति"—इति। तदेवं ब्रह्मप्राप्ति साधनं ज्ञानं सर्वाश्रमकर्मापेक्षम्। अतोऽपेक्षितकर्मस्वरूपज्ञानं, केवल कर्मणामल्पास्थिरफलत्वज्ञानं च कर्ममीमांसावसेयमिति, सैवापेक्षिता ब्रह्मजिज्ञासायाः पूर्ववृत्ता वक्तव्या ॥

ॐ यद्यप्युन्नयनाधोनयने स्वर्ग नरक प्रापण रूपे, तथाप्यसाधु कर्मणां ज्ञान विरोधित्वं सिद्ध्यति, तथाहि—उन्निनीषाऽधोनिनीषयो र्निर्हेतुकत्वे परमात्मनो वैषम्य नैर्घृण्य प्रसंगात्, नेयच्य चेतन गोचरं यद्वृत्त द्वयं गति द्वय निनीषा निमित्ताद्धि प्रभूतपुण्यपाप कर्तृविषयं विज्ञायते, तत्र गति द्वय पर्यासोत्तरोत्तर साध्वसाधु कर्म कारयितृत्वमीश्वरस्य न भूतावेशाद्धि वज्जीव वु द्ध्यनपेक्षितं भवति, तथा सति ज्ञान चिकीर्षाद्यभावाद्वायूदकाद्यु ह्यीन तृणादेरिव संसारिणां शास्त्र वश्यत्वाभावेन कर्मफल भोगानुपपत्तेः

१ विष्णुपुराणे ६ अंश ६ अध्याये १२ श्लोक। २ कौषीतक्यां ३ अ० ८ वा०। ३ गीता १४ अ० १७ श्लोक। ४ तैत्ति० ६ प्रश्न नारायणे ५० अनु०

अपि च नित्यानित्यवस्तुविवेकादयश्च, मीमांसाश्रवणमन्तरेण न संपत्स्यन्ते, फलकरणेतिकर्तव्यताधिकारिविशेषनिश्चयादृते, कर्मस्वरूपतत्फलतत्स्थिरत्वास्थिरत्वात्मनित्यत्वादीनां दुरवबोधत्वात्, एषां साधनत्वं च विनियोगावसेयम्। विनियोगश्च + श्रुतिलिङ्गादिभ्यः। स च तार्तीयः। उद्गीथाद्युपासनानि कर्मसमृद्ध्यर्थान्यपि ब्रह्मदृष्टिरूपाणि, ब्रह्मज्ञानापेक्षाणीति, इहैव चिन्तनीयानि। तान्यपि कर्माण्यनभिसंहितफलानि ब्रह्मविद्योत्पादकानीति तत्साद्गुण्यापादनान्येतानि सुतरामिहैव सङ्गतानि। तेषां च कर्मस्वरूपाधिगमापेक्षा ÷ सर्वसम्मता ॥

❀ महापूर्वपक्षः ❀

यदप्याहुः—अशेषविशेषप्रत्यनीकचिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थः, तदतिरेकिनानाविधज्ञातृज्ञेयतत्कृतज्ञानभेदादिसर्वं तस्मिन्नेव—

+ इदं प्रदर्शनार्थमुक्तं कर्मविचारोक्त कृत्स्न न्याय सापेक्षत्वाद् ब्रह्म विचारस्य। एतानि हि कर्म मीमांसाध्यायानां प्रमेयाणि—प्रथमेऽध्याये प्रमाण लक्षणं वृत्तम्। द्वितीयेऽध्याये शाख्र भेदः, कर्मभेदोवाभेदहेतुश्च शब्दान्तराभ्यास संख्या गुण प्रक्रिया नामधेयानि। तृतीयेऽङ्गनिरूपणम्—अङ्गत्व ज्ञापकानि श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानि। चतुर्थे—क्रत्वर्थ पुरुषार्थ भेद निरूपणेन पुरुषार्थैः क्रत्वर्थानां प्रयुक्तिर्निरूपिता। पञ्चमे क्रमः—क्रम प्रमाणानि श्रुत्यर्थपाठप्रवृत्तिमुख्यकाण्डानि। षष्ठेधिकारिनिरूपणम्। सप्तमे सामान्यातिदेशो निरूपितः। अष्टमे विशेषातिदेशः। नवमे ऊहः। दशमे बाधः। एकादश द्वादशयोस्तन्त्र प्रसङ्गौ।

÷ यत्त्वधीत वेदान्तस्य कर्माधिगमापेक्षा नास्तीत्युक्तं तदसङ्गतम्, वेदान्तेष्वप्युपाय पर मुक्ति पर वाक्य मात्राध्यायिनः पुरुषस्य ब्रह्मविचारेऽपि तृतीय चतुर्थाध्याय मात्र श्रवण प्रसङ्गात्। तृतीय चतुर्थयोः प्रथम द्वितीयोक्त न्याय सापेक्षत्वमस्तीति चेत्तर्हि, कृत्स्नस्य ब्रह्मविचारस्य कर्मविचार न्याय सापेक्षत्वात्तस्यैव पूर्वं वृत्तत्वम्। "यश्च ययोः समोदोषः परिहारस्तयो स्समः" इति न्यायात् ॥

परिकल्पितं मिथ्याभूतं—१ "सदेव * सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" २ "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" ३ "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ४ "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" ५ "यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्" ६ "न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः" ७ "आनन्दो ब्रह्म" ८ "इदं सर्वं यदयमात्मा" ९ "नेह नानाऽस्ति किञ्चन। मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" १० "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं विजानीयात्" ११ "वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" १२ "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" १३ "न स्थानतोपि परस्योभयलिंगं सर्वत्र हि" १४ "मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्"

१५ "प्रत्यस्तमित भेदं यत्सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानंब्रह्म संज्ञितम्॥"
१६ "ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः।
तमेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम्॥"

* मायावादि मते षड्विध तात्पर्य लिंगेन तथा स्वगोष्ठीनिष्ठ स्वानुभव सहायेन च सर्व वेदान्तानां निर्धर्मके ब्रह्मणि तात्पर्यम्। अतः सदेवेति विजातीय भेदो व्यावर्त्यते। एकमेवेति सजातीयभेदः। अद्वितीयमिति स्वगत भावाभावरूपभेदः। एवं समस्ताद्वैत सिद्धान्ते यावानर्थः, तत् सर्वं स्थाली पुलाक न्यायेनास्मिन्महा पूर्वपक्षे द्रष्टव्यम्।

१ छा-उ० ६ प्र० २ ख० १ वा० । २ मु-उ० १ मु० १ ख० ६ वा० । ३ तै-उ० आन० १ अनु० १ वा० । ४ श्वे उ० ६ अ० १९ वा ७ । ५ के-उ० २ ख० ३ वा० । ६ बृ-उ० ५ अ० ४ ब्रा० २ वा० । ७ तै-उ० भृगु ३ अनु० । ८ बृ-उ० ४ अ० ४ ब्रा० ६ वा० । ९ बृ उ० ६ अ० ४ ब्रा० १९ वा० । १० बृ उ० ४ अ० ४ ब्रा० १४ वा० । ११ छा० ६ प्र० १ ख० ४ वा० । १२ तै उ० आन० ७ अनु २ वा० । १३ शारी० ३ अ० २ पाद ११ सू० । १४ शा० ३ अ० २ पाद ३ सू० । १५ वि० पु० ६ अंश ७ अ० ५३ श्लो० । १६ वि० पु० १, २, ६ ।

१ "परमार्थस्त्वमेवैको नान्योस्ति जगतः पते! ॥"

२ "यदेतद्दृश्यते मूर्तमेतज्ज्ञानात्मनस्तव ।
भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिनः॥
ज्ञानस्वरूपमखिलं जगदेतदबुद्धयः ।
अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसंप्लवे ॥
ये तु ज्ञानविदश्शुद्धचेतसस्तेऽखिलं जगत् ।
ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति त्वद्रूपं परमेश्वर ! ॥"

३ "तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयं हि यत् ।
विज्ञानं परमार्थो हि द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः ॥"

४ "यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि मत्तः पार्थिवसत्तम! ।
तदैषोऽहमयं चान्यो वक्तुमेवमपीष्यते ॥"

५ "वेणुरन्ध्रविभेदेन भेदष्षड्जादिसंज्ञितः ।
अभेदव्यापिनो वायोस्तथाऽसौ परमात्मनः ॥"

६ "सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम् ।
इतीरितस्तेन स राजवर्यस्तत्याज भेदं परमार्थदृष्टिः ॥"

७ "विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति ॥"

८ "अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः ॥"

९ "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ! ॥"

१० "न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥"

इत्यादिभिर्वस्तुस्वरूपोपदेशपरैश्शास्त्रैः— निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्मैव सत्यमन्यत्सर्वं मिथ्या—इत्यभिधानात् ॥

---

१ वि० पु० १.४. ३८। २ वि० पु० १. ४. ३९. ४०.४१। ३ वि० पु० २.१४.३१। ४ वि० पु० २.१३. ९०। ५ वि० पु० २.१४.३२। ६ वि० पु० २.१६.२३। ७ वि० पु० ६. ७.९६। ८ गी० १०.२० श्लो०। ९ गी०१३, ३। १० गी० १०. ३९।

मिथ्यात्वं + नाम प्रतीयमानत्वपूर्वकयथावस्थितवस्तुज्ञान-निवर्त्यत्वम्, यथा रज्ज्वाद्यधिष्ठानसर्पादेः। दोषवशाद्धि तत्र तत्कल्पनम्। एवं चिन्मात्रवपुषि परे ब्रह्मणि दोषपरिकल्पितमिदं देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरादिभेदं सर्वं जगद्यथावस्थितब्रह्मस्वरूपावबोध-बाध्यं मिथ्यारूपम्। दोषश्च स्वरूपतिरोधानविविधविचित्रविक्षेपकरी सदसदनिर्वचनीयाऽनाद्यविद्या। १ "अनृतेन हि प्रत्यूढाः" २ "तेषां सत्यानां सतामनृतमपिधानम्" ३ "नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्" ४ "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मा-

+ निवर्त्यत्वमित्युक्ते मुद्गरादि निवर्त्य घटादावति व्याप्तिः, तत्परिहाराय ज्ञान शब्दः। तावतापि शक्तिमदीश्वरादि सङ्कल्प रूप ज्ञान निवर्त्यै वस्तुन्यति व्याप्तिः, सापि यथावस्थित वस्तु ज्ञान मात्र निवर्त्यत्वस्य विवक्षित-त्वात् परिहृता भवति। प्रबल भ्रान्ति ज्ञाननिवर्त्ये सत्य रजतादिष्वति व्याप्ति परिहाराय यथावस्थित शब्दः। यथावस्थित ज्ञाननिवर्त्यत्वमित्युक्ते सामानाधि-करण्य धीर्जायेत तदा भ्रान्ति ज्ञान निवर्त्ये व्यभिचारस्तदवस्थः, तत्र ज्ञान स्वरूपं हि यथावस्थितम्, विषयस्यैव ह्ययथार्थत्वम्, अतो यथावस्थित ज्ञानमिति सामानाधिकरण्य शंका व्यावृत्यर्थं यथावस्थित वस्तु ज्ञान निवर्त्यत्वमित्युक्तम्। ज्ञान प्रागभावे व्यभिचार इति तद्व्युदासार्थं प्रतीयमानत्व पूर्वक पदम्। ज्ञान प्रागभावोऽपि कदाचित् प्रतीयमानत्व पूर्वको निवर्त्यत इति चेन्न, नियमस्य विवक्षितत्वात्। यथा सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धः, इत्यत्र सिद्ध एवेत्यवधारणस्य विवक्षितत्वान्नित्यत्वसिद्धिः, यथा—'अब्भक्षो वायुभक्षः' इत्यादावप एव भक्षयतीत्यव धारणा सिद्धिस्तद्वत्। भूदलन ज्ञान निवर्त्यस्य रज्जुसर्पस्य यथा-वस्थित वस्तु ज्ञान निवर्त्यत्वाभावादव्याप्तिरितिचेन्न, तस्यापि यथावस्थित वस्तु ज्ञानेन निवर्तयितुं योग्यत्वात्, अतएव हि निवर्त्यत्व मित्युक्तं न तु निव-र्त्तत्वमिति॥

१ छा-उ० ८ प्र० ३ ख० २ वा०। २ छा० उ० ८ प्र० ३ ख० १वा०। ३ यजु० २ अष्ट० ८ प्र० ६ अनु०। ४ श्वे-उ० ४ अ० १० वा०।

यिनं तु महेश्वरम्" १ "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" २ "मम माया दुरत्यया" ३ "अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते" —इत्यादिभिः निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्मैवानाद्यविद्यया सदसदनिर्वाच्यया तिरोहितस्वरूपं स्वगतनानात्वं पश्यतीत्यवगम्यते। यथोक्तम्—

४ "ज्ञानस्वरूपो भगवान्यतोऽसावशेषमूर्तिर्न तु वस्तुभूतः।
ततो हि शैलाब्धिधरादिभेदान् जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि॥
यदा तु शुद्धं निजरूपि सर्वकर्मक्षये ज्ञानमपास्तदोषम्।
तदा हि सङ्कल्पतरोः फलानि भवन्ति नो वस्तुषु वस्तुभेदाः॥"

५ "तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चित्क्वचित्कदाचिद्द्विज वस्तुजातम्
विज्ञानमेकं निजकर्मभेदविभिन्नचित्तैर्बहुधाऽभ्युपेतम्॥
ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोकमशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम्।
एकं सदैकं परमः परेशस्स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति॥

६ सद्भाव एवं भवतो मयोक्तो ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत्।
एतत्तु यत्संव्यवहारभूतं तत्रापि चोक्तं भुवनाश्रितं ते॥"—इति

अस्याश्चाविद्याया निर्विशेषचिन्मात्रब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेन निवृत्तिं वदन्ति—"न पुनर्मृत्यवे तदेकं पश्यति" "न पश्यो मृत्युं पश्यति" "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति" ७ "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" ८ "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" ९ "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्थाः"—इत्याद्याश्श्रुतयः। अत्र मृत्युशब्देनाविद्याऽभिधीयते। यथा सनत्सुजातवचनम्—१० "प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि सदाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि"—इति। ११ "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" १२ "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादिशोधकवाक्यावसेयनिर्वि-

---

१ बृ उ० ४ अ० ५ ब्रा० १९वा.। २ गी ७.१४। ३ मा०-उ० २ ख० २१ वा०। ४ वि० पु० २, १२, ३९, ४०। ५ वि० पु० २. १२.४३. ४४। ६ वि-पु० २.१२. ४५ श्लो०। ७ मु २ मु० २ ख० ८ वा०। ८ मु-३ मु० २ ख० ९ वा०। ९ श्वे-३ अ० ८ वा०। १० भारत० उद्योगपर्व० ४१ अ० ४ श्लो०। ११ तै-आनं० १ अनु० १ वा०। १२ बृ-५ अ० ९ ब्रा० २८ वा०।

शेषस्वरूपब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं च १ "अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते-ऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" २ "अकृत्स्नो ह्येषः" ३ "आत्मेत्येवोपासीत" ४ "तत्त्वमसि" ५ "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहमस्मि" इत्यादिवाक्यसिद्धम्। वक्ष्यति चैतदेव—६ "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" इति। तथा च वाक्यकारः—७ "आत्मेत्येव तु गृह्णीयात् सर्वस्य तन्निष्पत्तेः" इति॥ अनेन च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेन मिथ्यारूपस्य सकारणस्य बन्धस्य निवृत्तिर्युक्ता॥

ननु च—सकलभेदनिवृत्तिः प्रत्यक्षविरुद्धा कथमिव शास्त्रजन्यविज्ञानेन क्रियते?। कथं वा 'रज्जुरेषा न सर्पः' इति ज्ञानेन प्रत्यक्षविरुद्धा सर्पनिवृत्तिः क्रियते?। तत्र द्वयोः प्रत्यक्षयोर्विरोधः; इह तु प्रत्यक्षमूलस्य शास्त्रस्य प्रत्यक्षस्य च—इति चेत्; तुल्ययोर्विरोधे वा कथं बाध्यबाधकभावः?। पूर्वोत्तरयोर्दुष्टकारणजन्यत्वतदभावाभ्याम्—इति चेत्; शास्त्रप्रत्यक्षयोरपि समानमेतत्॥

एतदुक्तं भवति—बाध्यबाधकभावे तुल्यत्वसापेक्षत्वनिरपेक्षत्वादि न कारणम्, ज्वालाभेदानुमानेन प्रत्यक्षोपमर्द्दायोगात्। तत्र हि ज्वालैक्यं प्रत्यक्षेणावगम्यते। एवं च सति द्वयोःप्रमाणयोर्विरोधे यत्संभाव्यमानान्यथासिद्धि, तद्बाध्यम्; अनन्यथासिद्धमनवकाशमितरद्बाधकम्—इति सर्वत्र बाध्यबाधकभावनिर्णयः—इति॥

तस्मादनादिनिधनाविच्छिन्नसम्प्रदायासम्भाव्यमानदोषगन्धानवकाशशास्त्रजन्यनिर्विशेषनित्यशुद्धमुक्तबुद्धस्वप्रकाशचिन्मात्रब्रह्मात्मभावावबोधेन सम्भाव्यमानदोषसावकाशप्रत्यक्षादिसिद्धविविधविकल्परूपबन्धनिवृत्तिर्युक्तैव। सम्भाव्यते च विविधविकल्पभेदप्रपञ्चग्राहिप्रत्यक्षस्यानादिभेदवासनादिरूपाविद्याख्यो दोषः। ननु—

१ बृ-३ अ० ४ ब्रा० १० वा०। २ बृ-३ अ० ४ ब्रा० ७ वा०। ३ बृ-३ अ० ४ ब्रा० ७ वा०। ४ छा० ६ प्र० ८ ख० ७ वा०। ५। ६ शारी० ४ अ० १ पा० ३ सू०। ७ वाक्यम्।

अनादिनिधनाविच्छिन्नसम्प्रदायतया निर्दोषस्यापि शास्त्रस्य—"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"—इत्येवमादेर्भेदावलम्बिनो बाध्यत्वं प्रसज्येत । सत्यम्; पूर्वापरापच्छेदे ‡पूर्वशास्त्रवन्मोक्षशास्त्रस्य निरवकाशत्वात्तेन बाध्यत एव । वेदान्तवाक्येष्वपि सगुणब्रह्मोपासनपराणां शास्त्राणामयमेव न्यायः, निर्गुणत्वात्परस्य ब्रह्मणः । ननु च—२"यस्सर्वज्ञस्सर्ववित्" ३"पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" ४"सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः" इत्यादिब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपराणां शास्त्राणां कथं बाध्यत्वम्? निर्गुणवाक्यसामर्थ्यात्—इति ब्रूमः ॥ एतदुक्तं ‡भवति-५"अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्"६"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ७"निर्गुणम्" ८"निरञ्जनम्"—इत्यादिवाक्यानि—निरस्तसमस्तविशेषकूटस्थनित्यचैतन्यम् ब्रह्म—इति प्रतिपादयन्ति; इतराणि च सगुणम् । उभयविधवाक्यानां विरोधे तेनैवापच्छेदन्यायेन निर्गुणवाक्यानां गुणापेक्षत्वेन परत्वाद्बलीयस्त्वमिति न किंचिदपहीनम् ॥

‡ अपच्छेदे पूर्वापर शास्त्रयोः पौर्वापर्यं परमित्युत्पत्ति क्रमात्, न पाठ क्रमात् । "पञ्चर्त्विजः समन्वारब्धाः प्रसर्पन्ति—अध्वर्युं प्रस्तोताऽन्वारभते, प्रस्तोतारं प्रतिहर्त्ता, प्रतिहर्त्तारमुद्गाता, उद्गातारं ब्रह्मा, ब्रह्माणं यजमानः" इति विहितस्यान्वारम्भणस्य विच्छेदे प्रायश्चित्तमुच्यते । बहिष्पवमानं प्रसर्पतां यद्युद्गाताऽपच्छिद्येत, अदक्षिणः सयज्ञः संस्थाप्यस्तेन पुनर्यजेत तत्र तद्दद्याद् यत्पूर्वस्मिन्दास्यन्स्यात्, अथ प्रतिहर्त्ताऽपच्छिद्येत सर्वं वेदसं दद्यादिति"—तदिदं शास्त्रद्वयं विषयः । अत्रोद्गातृ प्रतिहर्त्रोः प्रयोग भेदेनापच्छेदे स्वं स्वं प्रायश्चित्तशास्त्रं प्रवर्तते, एकस्मिन्प्रयोगे यौगपद्येनापच्छेदे सति, उद्गातुः प्रायश्चित्तं प्रवर्तते, तस्य वर्गप्रधानत्वात्, प्रधानापच्छेदस्यैव समाधेयत्वात्, विकल्पेनानुष्ठानं वा । एकस्मिन्नेव पौर्वापर्येणापच्छेदे पूर्वस्य प्रायश्चित्त शास्त्रस्य दौर्बल्यं परस्य प्राबल्यं च कर्ममीमांसायामुक्तम्—पौर्वापर्ये पूर्वं दौर्बल्यं प्रकृति वत् ।" इति । ‡'संक्षिप्तस्य च विस्तारः संक्षेपो विस्तृतस्य च । एतदुक्तं भवतिना समाधिर्व्याकुलस्य च' इति; 'एतदुक्तं भवति शब्दार्थः ।

२ मु० २ ख० ७ वा । ३ श्वे० ६ अ० ८ वा० । ४ छा० ८ प्र० १ ख० ५ वा । ५ बृ० ५ अ० ८ ब्रा ८ ब्रा० । ६ तै० आनु० १ वा । ७ आत्मोपनिषत् । ८ श्वे० ६ अ० १९ वा० ।

ननु च—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यत्र सत्यज्ञानादयो गुणाः प्रतीयन्ते ॥

नेत्युच्यते, सामानाधिकरण्येनैकार्थत्वप्रतीतेः। अनेकगुणविशिष्टाभिधानेऽप्येकार्थत्वमविरुद्धम्—इति चेत्; अनभिधानज्ञो देवानां प्रियः। एकार्थत्वं नाम सर्वपदानामर्थैक्यम्; विशिष्टपदार्थाभिधाने विशेषणभेदेन पदानामर्थभेदोऽवर्जनीयः; ततश्चैकार्थत्वं न सिध्यति। एवं तर्हि सर्वपदानां पर्यायता स्यात्, अविशिष्टार्थाभिधायित्वात्। एकार्थाभिधायित्वेऽप्यपर्यायत्वमवहितमनाश्शृणु; एकत्वतात्पर्यनिश्चयादेकस्यैवार्थस्य तत्तत्पदार्थविरोधिप्रत्यनीकत्वपरत्वेन सर्वपदानामर्थवत्त्वमेकार्थत्वमपर्यायता च ॥

एतदुक्तं भवति—लक्षणतः प्रतिपत्तव्यं ब्रह्म सकलेतरपदार्थविरोधिरूपम्। तद्विरोधिरूपं सर्वमनेन पदत्रयेण फलतो व्युदस्यते। तत्र सत्यपदं विकारास्पदत्वेनासत्याद्वस्तुनो व्यावृत्तब्रह्मपरम्। ज्ञानपदं चान्याधीनप्रकाशजडरूपाद्वस्तुनो व्यावृत्तपरम्। अनन्तपदं च देशतः कालतो वस्तुतश्च परिच्छिन्नव्यावृत्तपरम्। न च व्यावृत्तिर्भाव रूपोऽभावरूपो वा धर्मः। अपि तु सकलेतरविरोधिब्रह्मैव। यथा शौक्ल्यादेः कार्ष्ण्यादिव्यावृत्तिस्तत्पदार्थस्वरूपमेव, न धर्मान्तरम्। एवमेकस्यैव वस्तुनस्सकलेतरविरोध्याकारतामवगमयदर्थवत्तरमेकार्थमपर्यायं च पदत्रयम् ॥

तस्मादेकमेवब्रह्म। स्वयंज्योतिर्निर्धूतनिखिलविशेषमित्युक्तं भवति। एवं वाक्यार्थप्रतिपादने सत्येव—१"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"—इत्यादिभिरैकार्थ्यम्। २"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" ३"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"। ४"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्"—इत्यादिभिर्जगत्कारणतयोपलक्षितस्य ब्रह्मणः स्वरूपमिदमुच्यते—५"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—इति। तत्र सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन कारणवाक्येषु सर्वेषु सजातीयविजातीयव्यावृत्तमद्वितीयं ब्रह्मावगतम्। जगत्कारणतयोपलक्षितस्य ब्रह्मणोऽद्वितीयस्य प्रतिपि-

१ छा० ६ प्र० २ ख० १ वा०। २ तै० भृगु० १ अनु०। ३ छा० ६ प्र० २ख० १ वा०। ४ ऐतरेयोपनिषत्० १ अ० १ ख० १ वा०। ५ तै० आनन्द० १ अनु० १ वा०।

पादयिषितं स्वरूपं तदविरोधेन वक्तव्यम्। अद्वितीयत्वश्रुतिर्गुणतोऽपि सद्वितीयतां न सहते,। अन्यथा- १"निरञ्जनम्" २ "निर्गुणम्" इत्यादिभिश्च विरोधः। अतश्चैतल्लक्षणवाक्यमखण्डैकरसमेव प्रतिपादयति। ननु च सत्यज्ञानादिपदानां स्वार्थप्रहाणेन स्वार्थविरोधिव्यावृत्तवस्तुस्वरूपोपस्थापनपरत्वे लक्षणा स्यात्। नैष दोषः, अभिधानवृत्तेरपि तात्पर्यवृत्तेर्बलीयस्त्वात्। सामानाधिकरण्यस्य ह्यैक्य एव तात्पर्यमिति सर्वसम्मतम्। ननु च—सर्वपदानां लक्षणा न दृष्टचरी। ततः किम्? वाक्यतात्पर्याविरोधे सत्येकस्यापि न दृष्टा; समभिव्याहृतपदसमुदायस्यैतत्तात्पर्यमिति निश्चिते सति द्वयोस्त्रयाणां सर्वेषां वा तदविरोधाय एकस्येव लक्षणा न दोषाय। तथा च शास्त्रस्थैरभ्युपगम्यते। कार्यवाक्यार्थवादिभिर्लौकिकवाक्येषु सर्वेषां पदानां लक्षणा समाश्रीयते। अपूर्वकार्य एव लिङादेर्मुख्यवृत्तत्वात् लिङादिभिः क्रियाकार्यं लक्षणया प्रतिपाद्यते। कार्यान्वितस्वार्थाभिधायिनां चेतरेषां पदानामपूर्वकार्यान्वित एव मुख्यार्थ इति क्रियाकार्यान्वितप्रतिपादनं लाक्षणिकमेव अतो वाक्यतात्पर्याविरोधाय सर्वपदानां लक्षणाऽपि न दोषः। अत इदमेवार्थजातं प्रतिपादयन्तो वेदान्ताः प्रमाणम्॥

प्रत्यक्षादिविरोधे च शास्त्रस्य बलीयस्त्वमुक्तम्। सति च विरोध बलीयस्त्वं वक्तव्यम्। विरोध एव न दृश्यते, निर्विशेषसन्मात्रब्रह्मग्राहित्वात्प्रत्यक्षस्य। ननु च—'घटोऽस्ति' 'पटोऽस्ति' इति नानाकारवस्तुविषयं प्रत्यक्षं कथमिव सन्मात्रग्राहीत्युच्यते। विलक्षणग्रहणाभावे सति सर्वेषां ज्ञानानामेकविषयत्वेन धारावाहिकविज्ञानवदेकव्यवहारहेतुतैव स्यात्। सत्यम्; तथैवात्र विविच्यते। कथं? घटोऽस्तीत्यत्रास्तित्वं तद्भेदश्च व्यवह्रियते; न च द्वयोरपि व्यवहारयोः प्रत्यक्षमूलत्वं संभवति, तयोर्भिन्नकालज्ञानफलत्वात्, प्रत्यक्षज्ञानस्य चैकक्षणवर्तित्वात्। तत्र स्वरूपं वा भेदो वा प्रत्यक्षस्य विषय इति विवेचनीयम्। भेदग्रहणस्य स्वरूपग्रहणतत्प्रतियोगिस्मरणसव्यपेक्षत्वादेव स्वरूपविषयत्वमवश्याश्रयणीयमिति न भेदः प्रत्यक्षेण गृह्यते। अतो भ्रान्तिमूल एव भेदव्यवहारः॥

१ श्वे० ६ अ० १९ वा०। २ आत्मोपनिषत्।

किंच भेदो नाम कश्चित्पदार्थो न्यायविद्भिर्निरूपयितुं न शक्यते। भेदस्तावन्न वस्तुस्वरूपम्, वस्तुस्वरूपे गृहीते स्वरूपव्यवहारवत्सर्वस्माद्भेदव्यवहारप्रसक्तेः। न च वाच्यं - स्वरूपे गृहीतेऽपि भिन्न इति व्यवहारस्य प्रतियोगिस्मरणसव्यपेक्षत्वात्, तत्स्मरणाभावेन तदानीमेव न भेदव्यवहारः—इति। स्वरूपमात्रभेदवादिनो हि प्रतियोग्यपेक्षा च नोत्प्रेक्षितुं क्षमा, स्वरूपभेदयोस्स्वरूपत्वाविशेषात्। यथा स्वरूपव्यवहारो न प्रतियोग्यपेक्षः, भेदव्यवहारोऽपि तथैव स्यात्। 'हस्तः कर' इतिवत् 'घटो भिन्न' इति पर्यायत्वं च स्यात्। नापि धर्मः; धर्मत्वे सति तस्य स्वरूपाद्भेदोऽवश्याश्रयणीयः, अन्यथा स्वरूपमेव स्यात्। भेदे च तस्यापि भेदस्तद्धर्मस्तस्यापीत्यनवस्था। किंच जात्यादिविशिष्टवस्तुग्रहणे सति भेदग्रहणम्, भेदग्रहणे सति जात्यादिविशिष्टवस्तुग्रहणमित्यन्योन्याश्रयणम्। अतो भेदस्य दुर्निरूपत्वात्सन्मात्रस्यैव प्रकाशकं प्रत्यक्षम् ॥

किंच 'घटोऽस्ति' 'पटोऽस्ति' 'घटोऽनुभूयते' 'पटोऽनुभूयते' इति सर्वे पदार्थास्सत्तानुभूतिघटिता एव दृश्यन्ते। अत्र सर्वासु प्रतिपत्तिषु सन्मात्रमनुवर्तमानं दृश्यत इति तदेव परमार्थः। विशेषास्तु व्यावर्तमानतया अपरमार्थाः, रज्जुसर्पादिवत्। यथा रज्जुरधिष्ठानतयाऽनुवर्तमाना परमार्था सती; व्यावर्तमानास्सर्पभूदलनाम्बुधारादयोऽपरमार्थाः। ननु च—रज्जुसर्पादौ 'रज्जुरियं न सर्पः' इत्यादिरज्ज्वाद्यधिष्ठानयाथार्थ्यज्ञानेन बाधितत्वात्सर्पादेरपारमार्थ्यम्, न व्यावर्तमानत्वात्। रज्ज्वादेरपि पारमार्थ्यं नानुवर्तमानतया, किन्त्वबाधितत्वात्। अत्र तु घटादीनामबाधितानां कथमपारमार्थ्यम्? उच्यते, घटादौ दृष्टा व्यावृत्तिस्सा किंरूपेति विवेचनीयम्। किं घटोऽस्तीत्यत्र पटाद्यभावः? सिद्धं तर्हि घटोऽस्तीत्यनेन पटादीनां बाधितत्वम्। अतो बाधफलभूता विषयनिवृत्तिर्व्यावृत्तिः। सा व्यावर्तमानानामपारमार्थ्यं साधयति। रज्जुवत् सन्मात्रमबाधितमनुवर्तते। तस्मात्सन्मात्रातिरेकि सर्वमपरमार्थः। प्रयोगश्च भवति—सत्परमार्थः, अनुवर्तमानत्वात्, रज्जुसर्पादौ रज्ज्वादिवत्। घटादयोऽपरमार्थाः, व्यावर्तमानत्वात्, रज्ज्वाद्यधिष्ठानसर्पादिवत्—इति। एवं सत्यनुवर्तमानाऽनुभूतिरेव परमार्था; सैव सती ॥

ननु च—सन्मात्रमनुभूतेर्विषयतया ततो भिन्नम्। नैवम्; भेदो हि प्रत्यक्षाविषयत्वाद्दुर्निरूपत्वाच्च पुरस्तादेव निरस्तः। अत एव सतोऽनुभूतिविषयभावोऽपि न प्रमाणपदवीमनुसरति। तस्मात्सदनुभूतिरेव ॥

सा च स्वतस्सिद्धा, अनुभूतित्वात्। अन्यतस्सिद्धौ घटादिवदननुभूतित्वप्रसङ्गः। किञ्च अनुभवापेक्षा चानुभूतेर्न शक्या कल्पयितुम्, सत्तयैव प्रकाशमानत्वात्। न ह्यनुभूतिर्वर्तमाना घटादिवदप्रकाशा दृश्यते, येन परायत्तप्रकाशाऽभ्युपगम्येत ॥

अथैवं मनुषे उत्पन्नायामप्यनुभूतौ विषयमात्रमवभासते 'घटोऽनुभूयते' इति। न हि कश्चित् 'घटोऽयम्' इति जानन् तदानीमेवाविषयभूतामनिदंभावामनुभूतिमप्यनुभवति। तस्माद्घटादिप्रकाशनिष्पत्तौ चक्षुरादिकरणसन्निकर्षवदनुभूतेस्सद्भाव एव हेतुः। तदनन्तरमर्थगतकादाचित्कप्रकाशातिशयलिङ्गेनानुभूतिरनुमीयते। एवं तर्ह्यनुभूतेरजडाया अर्थवजडत्वमापद्यत इति चेत्; किमिदमजडत्वं नाम? न तावत्स्वसत्तायाः प्रकाशाव्यभिचारः, सुखादिष्वपि तत्सम्भवात्; नहि कदाचिदपि सुखादयस्सन्तो नोपलभ्यन्ते; अतोऽनुभूतिस्स्वयमेव नानुभूयते, अर्थान्तरं स्पृशतोऽङ्गुल्यग्रस्य स्वात्मस्पर्शवदशक्यत्वादिति ॥

तदिदमनाकलितानुभवविभवस्य स्वमतिविजृम्भितम्, अनुभूतिव्यतिरेकिणो विषयधर्मस्य प्रकाशस्य रूपादिवदनुपलब्धेः; उभयाभ्युपेतानुभूत्यवाशेषव्यवहारोपपत्तौ प्रकाशाख्यधर्मकल्पनानुपपत्तेश्च। अतो नानुभूतिरनुमीयते। नापि ज्ञानान्तरसिद्धा। अपि तु सर्वं साधयन्त्यनुभूतिस्स्वयमेव सिध्यति। प्रयोगश्च—*अनुभूतिरनन्या-

* अनुभूतिरित्यादिनानुमान द्वयमविभागेनोक्तम्। अनुभूतिरनन्याधीन स्वधर्मा; स्वसम्बन्धादर्थान्तरे तद्धर्म हेतुत्वात्। अनुभूतिरनन्याधीन स्वव्यवहारा, स्वसम्बन्धादर्थान्तरे तद् व्यवहार हेतुत्वात्—इत्येवं विभागः। अतएव हि परत्र व्यवहार विशेष हेतोः स्वस्मिन्नपि तद् व्यवहार हेतुत्वमित्युत्तरत्र वक्ष्यते।

धीनस्वधर्मव्यवहारा, स्वसम्बन्धादर्थान्तरे तद्धर्मव्यवहारहेतुत्वात् ; यस्स्वसम्बन्धादर्थान्तरे यद्धर्मव्यवहारहेतुस्स तयोस्स्वस्मिन्ननन्याधीनो दृष्टः, यथा रूपादिश्चाक्षुषत्वादौ । रूपादिर्हि पृथिव्यादौ स्वसम्बन्धाच्चाक्षुषत्वादि जनयन् स्वस्मिन्न रूपादिसम्बन्धाधीनश्चाक्षुषत्वादौ । अतोऽनुभूतिरात्मनः प्रकाशमानत्वे प्रकाशत इति व्यवहारे च स्वयमेव हेतुः ॥

सेयं स्वयंप्रकाशाऽनुभूतिर्नित्या च, प्रागभावाद्यभावात् । तदभावश्च स्वतस्सिद्धत्वादेव । न ह्यनुभूतेस्स्वतस्सिद्धायाः प्रागभावस्स्वतोऽन्यतो वाऽवगन्तुं शक्यते । अनुभूतिस्स्वाभावमवगमयन्ती, सती तावन्नावगमयति । तस्यास्सत्त्वे विरोधादेव तदभावो नास्तीति कथं सा स्वाभावमवगमयति ? एवमसत्यपि नावगमयति ; अनुभूतिस्स्वयमसती स्वाभावे कथं प्रमाणं भवेत् ? । नाप्यन्यतोऽवगन्तुं शक्यते, अनुभूतेरनन्यगोचरत्वात् । अस्याः प्रागभावं साधयत् प्रमाणम् 'अनुभूतिरियम्' इति विषयीकृत्य तदभावं साधयेत् ; स्वतस्सिद्धत्वेन इयमिति विषयीकारानर्हत्वात् , न तत्प्रागभावोऽन्यतश्शक्यावगमः । अतोऽस्याः प्रागभावाभावादुत्पत्तिर्न शक्यते वक्तुमित्युत्पत्तिप्रतिसम्बद्धाश्चान्येऽपि भावविकारास्तस्या न सन्ति ॥

अनुत्पन्नेयमनुभूतिरात्मनि नानात्वमपि न सहते, व्यापकविरुद्धोपलब्धेः÷ । न ह्यनुत्पन्नं नानाभूतं दृष्टम् । भेदादीनामनुभाव्यत्वेन च रूपादेरिवानुभूतिधर्मत्वं न सम्भवति । अतोऽनुभूतेरनुभव-

---

÷ नानात्व व्यापकोत्पत्ति विरुद्धानुत्पत्त्युपलब्धेः । व्याप्तिं दर्शयति—न ह्यनुत्पन्नं नानाभूतं दृष्टमिति । अस्य ग्रन्थस्य यदनुत्पन्नं तदनानाभूतं दृष्टमित्यर्थो वक्तुं न युज्यते, ब्रह्मव्यतिरेकेणानुत्पन्नस्यानाना भूतस्य कस्यचिन्मायावेदान्तिभिरनभ्युपगमात् , यदनानाभूतं, तदनुत्पन्नमियुक्ते व्यापकजन्मनिवृत्त्या व्याप्यनानात्वनिवृत्तिरुक्ता न स्यात् । तस्मादयमर्थः यन्नानाभूतं तदनुत्पन्नं न दृष्टम् , अपि तूत्पत्तिमदेव दृष्टमिति जन्मनो नानात्वव्यापकत्वं दर्शितम् , अनेनोत्पत्तिनिवृत्त्या नानात्वनिवृत्तिरित्यर्थ सिद्धम् । यथा—न ह्यनग्निधूमवद् दृष्टमित्युक्ते, अग्निमदेव धूमवदित्युक्तं स्यात् , तद्वदिहापि ।

स्वरूपत्वादेवान्योऽपि कश्चिदनुभाव्यो नास्याः धर्मः; यतो निर्धूतानिखिलभेदा संवित्। अत एव नास्यास्स्वरूपातिरिक्त आश्रयो ज्ञाता नाम कश्चिदस्तीति स्वप्रकाशरूपा सैवाऽऽत्मा, अजडत्वाच्च। अनात्मत्वव्याप्तं जडत्वं संविदि व्यावर्तमानमनात्मत्वमपि हि संविदो व्यावर्तयति॥

ननु च—अहं जानामीति ज्ञातृता प्रतीतिसिद्धा। नैवम्; सा भ्रान्तिसिद्धा, रजततेव शुक्तिशकलस्य, अनुभूतेस्स्वात्मनि कर्तृत्वायोगात्। अतो मनुष्योऽहमित्यत्यन्तबहिर्भूतमनुष्यत्वादिविशिष्टपिण्डात्माभिमानवज्ज्ञातृत्वमप्यध्यस्तम्। ज्ञातृत्वं हि ज्ञानक्रियाकर्तृत्वम्। तच्च विक्रियात्मकं जडं विकारिद्रव्याहंकारग्रन्थिस्थमविक्रिये साक्षिणि चिन्मात्रात्मनि कथमिव संभवति। दृश्यधीनसिद्धित्वादेव रूपादेरिव कर्तृत्वादेर्नात्मधर्मत्वम्। सुषुप्तिमूर्च्छादावहंप्रत्ययापायेऽप्यात्मानुभवदर्शनेन नाऽऽत्मनोऽहंप्रत्ययगोचरत्वम्। कर्तृत्वेऽहंप्रत्ययगोचरत्वे चाऽऽत्मनोऽभ्युपगम्यमाने देहस्येव जडत्वपराक्त्वानात्मत्वादिप्रसङ्गो दुष्परिहरः। अहंप्रत्ययगोचरात् कर्तृतया प्रसिद्धाद्देहात्तत्क्रियाफलस्वर्गादेर्भोक्तुरात्मनोऽन्यत्वं प्रामाणिकानां प्रसिद्धमेव। तथाऽहमर्थाज्ज्ञातुरपि विलक्षणस्साक्षी प्रत्यगात्मेति प्रतिपत्तव्यम्। एवमविक्रियानुभवस्वरूपस्यैवाभिव्यञ्जको जडोऽप्यहंकारस्स्वाश्रयतया तमभिव्यनक्ति। आत्मस्थतयाऽभिव्यङ्ग्याभिव्यञ्जनमभिव्यञ्जकानां स्वभावः। दर्पणजलखण्डादिर्हि १ मुखचन्द्रबिम्बगोत्वादिकमात्मस्थतयाऽभिव्यनक्ति। तत्कृतोऽयं 'जानाम्यहम्' इति भ्रमः। स्वप्रकाशाय अनुभूतेः कथमिव तदभिव्यङ्ग्यजडरूपाहङ्कारेणाभिव्यङ्ग्यत्वमिति मावोचः, रविकरनिकराभिव्यङ्ग्यकरतलस्य तदभिव्यञ्जकत्वदर्शनात्; जालकरन्ध्रनिष्क्रान्तद्युमणिकिरणानां यदभिव्यङ्ग्येनापि करतलेन स्फुटतरप्रकाशो हि दृष्टचरः; यतोऽहं जानामीति ज्ञाताऽयमहमर्थश्चिन्मात्रात्मनो न पारमार्थिको धर्मः; अत एव सुषुप्तिमुक्त्योर्नान्वेति। तत्र ह्यहमर्थोल्लेखविगमेन स्वाभाविकानुभवमात्ररूपेणाऽऽत्माऽवभासते। अत एव सुप्तोत्थितः कदाचिन्मामप्यहं न

१ मुखचन्द्रेति० पा०।

ज्ञातृत्वानिति परामृशति। तस्मात्परमार्थतो निरस्तसमस्तभेदविकल्प-निर्विशेषचिन्मात्रैकरसकूटस्थनित्यसंविदेव भ्रान्त्या ज्ञातृज्ञेयज्ञानरूप-विविधविचित्रभेदा विवर्तत इति तन्मूलभूताविद्यानिबर्हणाय नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते—इति॥

(महासिद्धान्तः)

तदिदमौपनिषद × परमपुरुषवरणीयताहेतुगुणविशेषविर-हिणामनादिपापवासनादूषिताशेषशेमुषीकाणामनधिगतपदवाक्यस्वरू-पतदर्थयाथात्म्यप्रत्यक्षादिसकलप्रमाणवृत्ततदितिकर्तव्यतारूपसमीची-नन्यायमार्गाणां विकल्पासहविविधकुतर्ककल्ककल्पितमिति, न्याया-नुगृहीतप्रत्यक्षादिसकलप्रमाणवृत्तयाथात्म्यविद्भिरनादरणीयम्॥

× अथ कर्मविचारपूर्वभूत्तत्त्वविरोधिवस्तुसामर्थ्यं निरासार्थं परोक्तानामुपायोपेयनिवर्त्यानां प्रमाणतर्काभासमूलत्वं प्रतिजानीते—तदिदमिति। औपनिषदपरमपुरुषशब्देन 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं विद्धि" इति श्रुतिं स्मारयति एतेनास्मदभिमतप्रमाणप्रमेयविशेषसम्बन्धः श्रुत्यैव व्यक्त इति सूचयति, परम शब्देनेश्वरातिरिक्त व्यावृत्तिः। वरणीयता हेतु गुण विशेषविरहिणामित्यनेन " यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः " इत्यभिमतोपायविशेष कथनं फलितम्, अनेन पदेन बहुशास्त्रज्ञ बहुग्रन्थकाराणां भ्रमानुपपत्तिशङ्का च परिहृता भवति, सम्यक् शास्त्रार्थज्ञानोत्पत्तौ भगवद्भक्तेरपि सामग्र्यन्तरभावेन केवलशास्त्रपरिश्रमस्य विफलहेतुत्वात्। यथा—"यस्य देवे परा भक्तिः" इत्यादिका श्रुतिः। स्मृतिश्च—"विद्याराजन् न ते विद्या ममविद्या न हीयते। विद्याहीनस्तमोध्वस्तो नाभिजानासि केशवम्॥ धृतराष्ट्रः—गावद्गणे ते का विद्या या ते विद्या जनार्दने। यया त्वमभिजानासि त्रियुगं मधुसूदनम्॥ सञ्जयः—मायां न सेवे भद्रं ते न वृथा धर्मं मा चरे। शुद्धभावंगतो भक्त्या शास्त्राद्वेद्मि जनार्दनम्।" इति। अत्र भक्त्या शुद्धभावं गतः शास्त्राज्जनार्दनं वेद्मीत्यनेन यथावच्छास्त्रार्थज्ञानोदयस्य भक्तिसापेक्षत्वं सिद्धम्। 'जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः। सात्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थचिन्तकः॥ पश्यत्येनं जायमानं ब्रह्मा रुद्रोऽथवा पुनः। रजसा तमसा चास्य मानसं सम-भिप्लुतम्। इति वचनाच्च तत्त्वार्थज्ञानस्य भक्तिप्रीतभगवत्कटाक्षसापेक्षत्वं ज्ञायते॥

तथाहि—निर्विशेषवस्तुवादिभिर्निर्विशेषे वस्तुनीदं प्रमाणमिति न शक्यते वक्तुम्, सविशेषवस्तुविषयत्वात्सर्वप्रमाणानाम् । यस्तु स्वानुभवसिद्ध इति स्वगोष्ठीनिष्ठस्समयः, सोऽप्यात्मसाक्षिकसविशेषानुभवादेव निरस्तः, 'इदमहमदर्शम्' इति केनचिद्विशेषेण विशिष्टविषयत्वात्सर्वेषामनुभवानाम् । सविशेषोऽप्यनुभूयमानोऽनुभवः केन चिद्युक्त्याभासेन निर्विशेष इति निष्कृष्यमाणस्सत्तातिरेकिभिस्स्वासाधरणैस्स्वभावविशेषैर्निष्कृष्टव्य इति । निष्कर्षहेतुभूतैस्सत्तातिरेकिभिस्स्वासाधारणैस्स्वभावविशेषैस्सविशेष एवावतिष्ठते । अतःकैश्चिद्विशेषैः विशिष्टस्यैव वस्तुनोऽन्ये विशेषा निरस्यन्त इति, न क्वचिन्निर्विशेषवस्तुसिद्धिः । धियो हि धीत्वं स्वप्रकाशता च ज्ञातुर्विषयप्रकाशनस्वभावतयोपलब्धेः । स्वापमदमूर्च्छासु च सविशेष एवानुभव इति स्वावसरे निपुणतरमुपपादयिष्यामः । स्वाभ्युपगताश्च नित्यत्वादयो ह्यनेके विशेषास्सन्त्येव । ते च न वस्तुमात्रमिति शक्योपपादनाः, वस्तुमात्राभ्युपगमे सत्यपि विधाभेदविवाददर्शनात् स्वाभिमततद्विधाभेदैश्च स्वमतोपपादनात् । अतः प्रामाणिकविशेषैर्विशिष्टमेव वस्त्विति वक्तव्यम् ॥

शब्दस्य तु विशेषेण सविशेष एव वस्तुन्यभिधानसामर्थ्यम्, पदवाक्यरूपेण प्रवृत्तेः । प्रकृतिप्रत्यययोगेन हि पदत्वम् । प्रकृतिप्रत्यययोरर्थभेदेन पदस्यैव विशिष्टार्थप्रतिपादनमवर्जनीयम् । पदभेदश्चार्थभेदनिबन्धनः । पदसंघातरूपस्य वाक्यस्यानेकपदार्थसंसर्गविशेषाभिधायित्वेन निर्विशेषवस्तुप्रतिपादनासामर्थ्यात्, न निर्विशेषवस्तुनि शब्दः प्रमाणम् ।

प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकसविकल्पकभेदभिन्नस्य न निर्विशेषवस्तुनि प्रमाणभावः । सविकल्पकं जात्याद्यनेकपदार्थविशिष्टविषयत्वादेव सविशेषविषयम् । निर्विकल्पकमपि सविशेषविषयमेव, सविकल्पके स्वस्मिन्ननुभूतपदार्थविशिष्टप्रतिसंधानहेतुत्वात् । निर्विकल्पकं नामकेनचिद्विशेषेणवियुक्तस्यग्रहणम् , न सर्वविशेषरहितस्य, तथा भूतस्य कदाचिदपि ग्रहणादर्शनादनुपपत्तेश्च । केनचिद्विशेषेणेदमित्थमिति हि सर्वा प्रतीतिरुपजायते, त्रिकोणसास्नादिसंस्थानविशेषेण विना कस्यचिदपि पदार्थस्य ग्रहणायोगात् । अतो निर्विकल्पकमेकजातीयद्रव्येषु प्रथमपिण्डग्रहणम् । द्वितीयादिपिण्डग्रहणं

सविकल्पकमित्युच्यते। तत्र प्रथमपिण्डग्रहणे गोत्वादेरनुवृत्ताकारता न प्रतीयते। द्वितीयादिपिण्डग्रहणेष्वेवानुवृत्तिप्रतीतिः। प्रथमप्रतीत्य नुसंहितवस्तुसंस्थानरूपगोत्वादेरनुवृत्तिधर्मविशिष्टत्वं द्वितीयादि-पिण्डग्रहणावसेयमिति,द्वितीयादि ग्रहणस्य सविकल्पकत्वम्। सास्नादिवस्तुसंस्थान रूपगोत्वादेरनुवृत्तिर्न प्रथमपिण्डग्रहणे गृह्यत इति, प्रथमपिण्डग्रहणस्य निर्विकल्पकत्वम्,न पुनस्संस्थानरूपजात्यादेरग्रहणात्। संस्थानरूपजात्यादेरप्यैन्द्रियकत्वाविशेषात् , संस्थानेन विना संस्थानिनः प्रतीत्यनुपपत्तेश्च प्रथमपिण्डग्रहणेऽपि ससंस्थानमेव वस्त्वित्थमिति गृह्यते।

अतो द्वितीयादिपिण्डग्रहणेषु गोत्वादेरनुवृत्तिधर्मविशिष्टता संस्थानिवत्संस्थानवच्च सर्वदैव गृह्यत इति तेषु सविकल्पकत्वमेव। अतः प्रत्यक्षस्य कदाचिदपि न निर्विशेषविषयत्वम्॥

अतएव सर्वत्र भिन्नाभिन्नत्वमपि निरस्तम् । इदमित्थमिति प्रतीताविदमित्थंभावयोरैक्यं कथमिव प्रत्येतुं शक्यते। तत्रेत्थंभाव स्सास्नादिसंस्थानविशेषः; तद्विशेष्यं द्रव्यमिदमंश इत्यनयोरैक्यं प्रतीतिपराहतमेव। तथाहि—* प्रथममेव वस्तु प्रतीयमानं सकलेतरव्यावृत्तमेव प्रतीयते। व्यावृत्तिश्च गोत्वादिसंस्थानविशेषविशिष्टतयेत्थमिति प्रतीतेः। सर्वत्र विशेषणविशेष्यभावप्रतिपत्तौ तयोरत्यन्तभेदः प्रतीत्यैव सुव्यक्तः। तत्र दण्डकुण्डलादयः पृथक्संस्थान-संस्थिताः स्वनिष्ठाश्च कदाचित्क्वचिद्द्रव्यान्तरविशेषणतयाऽवतिष्ठन्ते। गोत्वादयस्तु द्रव्यसंस्थानतयैव 'पदार्थभूतास्सन्तो द्रव्यविशेषणतया अवस्थिताः। उभयत्र विशेषणविशेष्यभावस्समानः। तत एव तयोर्भेदप्रतिपत्तिश्च । इयांस्तु विशेषः— पृथक्स्थितिप्रतिपत्ति-योग्या दण्डादयः , गोत्वादयस्तु नियमेन तदनर्हाः—इति

* अत्र जातिव्यक्त्योर्भेदाभेदे चत्वारो हेतवः परोक्ताः प्रथमपिण्ड ग्रहणे, अभेदेन ग्रहणम् , एकशब्दानुविद्धप्रत्ययो मत्वर्थीयप्रत्ययनिरपेक्ष समानाधि करण पद प्रयोगः, सहोपलम्भनियमश्चेति। अत्र सहोपलम्भ नियम समानाधिकरणप्रत्ययौ भेदाभेदसाधकौ,अन्यौ द्वावभेदसाधकौ। इदं हेतुचतुष्टयमाशंक्याह तथाहीति । अत्र महासिद्धान्ते समस्तटिप्पणीयविषयाःशत दूषण्यां दशमवादादारभ्य त्रिंशद्वादपर्यन्तंविशदमनुसन्धेयाः।

अतो वस्तुविरोधः प्रतीतिपराहत इति प्रतीतिप्रकारनिह्नवादेवोच्यते। प्रतीतिप्रकारो हि, इदमित्थमित्येव सर्वसम्मतः। तदेतत्सूत्रकारेण १"नैकस्मिन्नसम्भवात्" इति सुव्यक्तमुपपादितम्॥

अतः प्रत्यक्षस्य सविशेषविषयत्वेन प्रत्यक्षादिदृष्टसम्बन्धविशिष्टविषयत्वादनुमानमपि सविशेषविषयमेव। प्रमाणसङ्ख्याविवादेऽपि सर्वाभ्युपगतप्रमाणानामयमेव विषय इति न केनापि प्रमाणेन निर्विशेषवस्तुसिद्धिः। वस्तुगतस्वभावविशेषैस्तदेव वस्तु निर्विशेषमिति वदन् जननीवन्ध्यात्वप्रतिज्ञायामिव स्ववाग्विरोधमपि न जानाति।

यत्तु—प्रत्यक्षं सन्मात्रग्राहित्वेन न भेदविषयम्, भेदश्च विकल्पासहत्वाद्दुर्निरूपः—इत्युक्तम्, तदपि जात्यादिविशिष्टस्यैव वस्तुनः प्रत्यक्षविषयत्वाज्जात्यादेरेव प्रतियोग्यपेक्षया वस्तुनस्स्वस्य च भेदव्यवहारहेतुत्वाच्च दूरोत्सारितम्। सम्वेदनवद्रूपादिवच्च परत्र व्यवहारविशेषहेतोस्स्वस्मिन्नपि तद्व्यवहारहेतुत्वं युष्माभिरभ्युपेतं भेदस्यापि सम्भवत्येव। अत एव च नानवस्थाऽन्योन्याश्रयणं च। एकक्षणवर्तित्वेऽपि प्रत्यक्षज्ञानस्य तस्मिन्नेव क्षणे वस्तुभेदरूपतत्संस्थानरूपगोत्वादेर्गृहीतत्वात् क्षणान्तरग्राह्यं न किञ्चिदिह तिष्ठति॥

अपि च सन्मात्रग्राहित्वे 'घटोऽस्ति' 'पटोऽस्ति' इति विशिष्टविषया प्रतीतिर्विरुध्यते। यदि च सन्मात्रातिरेकिवस्तुसंस्थानरूपजात्यादिलक्षणो भेदः प्रत्यक्षेण न गृहीतः, किमित्यश्वार्थी २ महिषदर्शने निवर्तते। सर्वासु प्रतिपत्तिषु सन्मात्रमेव विषयश्चेत्; तत्तत्प्रतिपत्तिविषयसहचारिणस्सर्वे शब्दा एकैकप्रतिपत्तिषु किमिति न स्मर्यन्ते किञ्च, अश्वे हस्तिनि च सम्वेदनयोरेकविषयत्वेन उपरितनस्य गृहीतग्राहित्वाद्विशेषाभावाच्च स्मृतिवैलक्षण्यं न स्यात्। प्रतिसम्वेदनं विशेषाभ्युपगमे प्रत्यक्षस्य विशिष्टार्थविषयत्वमेवाभ्युपगतं भवति। सर्वेषां संवेदनानामेकविषयतायामेकेनैव संवेदनेनाशेषग्रहणादन्धबधि-

१ शारीरकमी० २ अ० पा० ३१ सू०।
२ महिषदर्शनेनेति पा०।

राद्यभावश्च प्रसज्येत । न च चक्षुषा सन्मात्रं गृह्यते, तस्य रूपरूपिरूपैकार्थसमवेतपदार्थग्राहित्वात् । नापि त्वचा, स्पर्शवद्वस्तुविषयत्वात् श्रोत्रादीन्यपि न सन्मात्रविषयाणि ; किन्तु शब्दरसगन्धलक्षणविशेषविषयाण्येव । अतस्सन्मात्रस्य ग्राहकं न किञ्चिदिह दृश्यते । निर्विशेषसन्मात्रस्य च प्रत्यक्षेणैव ग्रहणे तद्विषयागमस्य प्राप्तविषयत्वेनानुवादकत्वमेव स्यात् । सन्मात्रब्रह्मणः प्रमेयभावश्च । ततो जडत्वनाशित्वादयस्त्वयैवोक्ताः । अतो वस्तुसंस्थानरूपजात्यादिलक्षणभेदविशिष्टविषयमेव प्रत्यक्षम् ; संस्थानातिरेकिणोऽनेकेष्वेकाकारबुद्धिबोध्यस्यादर्शनात्, तावतैव गोत्वादिजातिव्यवहारोपपत्तेः । अतिरेकवादेऽपि संस्थानस्य सम्प्रतिपन्नत्वाच्च संस्थानमेव जातिः संस्थानं नाम स्वासाधारणं रूपमिति यथावस्तु संस्थानमनुसन्धेयम् ; जातिग्रहणेनैव भिन्न इति व्यवहारसम्भवात्, पदार्थान्तरादर्शनात्, अर्थान्तरवादिनाऽप्यभ्युपगतत्वाच्च गोत्वादिरेव भेदः । ननु च—जात्यादिरेव भेदश्चेत्तस्मिन् गृहीते तद्व्यवहारवद्भेदव्यहारस्स्यात् । सत्यम्, भेदश्च व्यवह्रियत एव, गोत्वादिव्यवहारात् । गोत्वादिरेव हि सकलेतरव्यावृत्तिः, गोत्वादौ गृहीते सकलेतरसजातीयबुद्धिव्यवहारयोर्निवृत्तेः ।भेदग्रहणेनैव ह्यभेदनिवृत्तिः । 'अयमस्माद्भिन्नः' इति तु व्यवहारे प्रतियोगिनिर्देशस्य तदपेक्षत्वात् प्रतियोग्यपेक्षया भिन्न इति व्यवहार इत्युक्तम् ॥

यत्पुनर्घटादीनां विशेषाणां व्यावर्तमानत्वेनापारमार्थ्यमुक्तम्, तदनालोचितबाध्यबाधकभावव्यावृत्त्यनुवृत्तिविशेषस्य भ्रान्तिपरिकल्पितम् ॥

द्वयोर्ज्ञानयोर्विरोधे हि बाध्यबाधकभावः । बाधितस्यैव व्यावृत्तिः । अत्र घटपटादिषु देशकालभेदेन विरोध एव नास्ति । यस्मिन् देशे यस्मिन् काले यस्य सद्भावः प्रतिपन्नः, तस्मिन् देशे तस्मिन् काले तस्याभावः प्रतिपन्नश्चेत् ; तत्र विरोधात् बलवतो बाधकत्वं बाधितस्य च निवृत्तिः ; देशान्तरकालान्तरसम्बन्धितयाऽनुभूतस्यान्य देशकालयोरभाव [1]प्रतीतौ न विरोध इति कथमत्र बाध्यबाधक-

१ प्रतिपत्तौ०

भावः । अन्यत्र निवृत्तस्यान्यत्र निवृत्तिर्वा कथमुच्यते । रज्जुसर्पादिषु तु तद्देशकालसंबन्धितयैवाभावप्रतीतिः, विरोधो बाधकत्वं व्यावृत्तिश्चेति । देशकालान्तरदृष्टस्य—देशकालान्तरव्यावर्तमानत्वं मिथ्यात्वव्याप्तं न दृष्टमिति न व्यावर्तमानत्वमात्रमपार माथ्र्यहेतुः ॥

यत्तु—अनुवर्तमानत्वात्सत्परमार्थः—इति, तत्सिद्धमेवेति न साधनमर्हति । अतो न सन्मात्रमेव वस्तु ॥

अनुभूतिसद्विषययोश्च विषयविषयिभावेन भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादबाधितत्वाच्चानुभूतिरेव सतीत्येतदपि निरस्तम् ॥

यत्त्वनुभूतेस्स्वयंप्रकाशत्वमुक्तम् ; तद्विषयप्रकाशनवेलायां ज्ञातुरात्मनस्तथैव; न तु सर्वेषां सर्वदा तथैवेति नियमोऽस्ति, परानुभवस्य हानोपादानादिलिङ्गकानुमानज्ञानविषयत्वात् , स्वानुभवस्याप्यतीतस्य 'अज्ञासिषम्' इतिज्ञानविषयत्वदर्शनाच्च । अतोऽनुभूतिश्चेत् स्वतस्सिद्धेति वक्तुं न शक्यते ॥

अनुभूतेरनुभाव्यत्वे, अननुभूतित्वमित्यपि दुरुक्तम् ; स्वगतातीतानुभवानां परगतानुभवानां चानुभाव्यत्वेनाननुभूतित्वप्रसङ्गात् । परानुभवानुमानानभ्युपगमे च शब्दार्थसम्बन्धग्रहणाभावेन समस्तशब्दव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः । आचार्यस्यज्ञानवत्त्वमनुमाय तदुपसत्तिश्च क्रियते; सा च नोपपद्यते । नचान्यविषयत्वेऽननुभूतित्वम् ; अनुभूतित्वं नाम वर्तमानदशायां स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रति प्रकाशमानत्वम्, स्वसत्तयैव स्वविषयसाधनत्वं वा । ते चानुभवान्तरानुभाव्यत्वेऽपि स्वानुभवसिद्धे नापगच्छत इति नानुभूतित्वमपगच्छति । घटादेस्त्वननुभूतित्वमेतत्स्वभावविरहात् ; नानुभाव्यत्वात् । तथाऽनुभूतेरननुभाव्यत्वेऽपि, अननुभूतित्वप्रसङ्गो दुर्वारः; गगनकुसुमादेरननुभाव्यस्याननुभूतित्वात् ॥

गगनकुसुमादेरननुभूतित्वमसत्त्वप्रयुक्तम् , नाननुभाव्यत्वप्रयुक्तम् —इतिचेत् ; एवं तर्हि घटादेरप्यज्ञानाविरोधित्वमेवाननुभूति-

त्वनिबन्धनम्, नानुभाव्यत्वमित्यास्थीयताम्। अनुभूतेरनुभाव्यत्वे, अज्ञानाविरोधित्वमपि तस्याः घटादेरिव प्रसज्यत इति चेत्; अननुभाव्यत्वेऽपि गगनकुसुमादेरिवाज्ञानाविरोधित्वमपि प्रसज्यत एव। अतोऽनुभाव्यत्वेऽननुभूतित्वमित्युपहास्यम्॥

यत्तु—संविदस्स्वतस्सिद्धायाः प्रागभावाद्यभावादुत्पत्तिर्निरस्यते, तदन्धस्य जात्यन्धेन यष्टिः प्रदीयते। प्रागभावस्य ग्राहकाभावादभावो न शक्यते वक्तुम्; अनुभूत्यैव ग्रहणात्। कथमनुभूतिस्सती तदानीमेव स्वाभावं विरुद्धमवगमयतीति चेत्; न ह्यनुभूतिस्स्वसमकालवर्तिनमेव विषयीकरोतीत्यस्ति नियमः; अतीतानागतयोरविषयत्वप्रसङ्गात्॥

अथ मन्यसे—अनुभूतिप्रागभावादेस्सिद्ध्यतस्तत्समकालभावनियमोऽस्तीति; किं त्वया क्वचिदेवं दृष्टम्?, येन नियमं ब्रवीषि। हन्त तर्हि तत एव दर्शनात् प्रागभावादिस्सिद्ध इति न? तदपह्नवः[1]। तत्प्रागभावं च तत्समकालवर्तिनमनुन्मत्तः को ब्रवीति। इन्द्रियजन्मनः प्रत्यक्षस्य ह्येष स्वभावनियमः, यत्स्वसमकालवर्तिनः पदार्थस्य ग्राहकत्वम्; न सर्वेषां ज्ञानानां प्रमाणानां च; स्मरणानुमानागमयोगिप्रत्यक्षादिषु कालान्तरवर्तिनोऽपि ग्रहणदर्शनात्। अत एव च प्रमाणस्य प्रमेयाविनाभावः—न हि प्रमाणस्य स्वसमकालवर्तिनाऽविनाभावोऽर्थसम्बन्धः; अपि तु यद्देशकालादिसम्बन्धितया योऽर्थोऽवभासते, तस्य तथाविधाकारमिथ्यात्वप्रत्यनीकता। अत इदमपि निरस्तम्—स्मृतिर्न बाह्यविषया नष्टेऽप्यर्थे स्मृतिदर्शनात्—इति॥

अथोच्येत—न तावत्संवित्प्रागभावः प्रत्यक्षावसेयः, अवर्तमानत्वात्। न च प्रमाणान्तरावसेयः, लिङ्गाद्यभावात्। न हि संवित्प्रागभावव्याप्तमिह लिङ्गमुपलभ्यते[2]। न चाऽऽगमस्तद्विषयो दृष्टचरः। अतस्तत्प्रागभावः प्रमाणाभावादेव न सेत्स्यति—इति; यद्येवं स्वत-

१ तदभाव निह्नव इति पा॰। २नानुपपत्तिरपि कस्यचिद्दृश्यते॰ इति॰ कुण्डलितं दृश्यते।

स्सिद्धत्वविभवं परित्यज्य १ प्रमाणाभावेऽवरुद्धश्चेत्, योग्यानुपलब्ध्यैवाभावस्समर्थित ❀ इत्युपशाम्यतु भवान् ॥

किंच—प्रत्यक्षज्ञानं स्वविषयं घटादिकं स्वसत्ताकाले सन्तं साधयत्तस्य न सर्वदा सत्तामवगमयद्दृश्यत इति घटादेः पूर्वोत्तरकालसत्ता न प्रतीयते। तदप्रतीतिश्च संवेदनस्य कालपरिच्छिन्नतया प्रतीतेः। घटादिविषयमेव संवेदनं स्वयं कालानवच्छिन्नं प्रतीतं चेत्, संवेदनविषयो घटादिरपि कालानवच्छिन्नः प्रतीयेतेति नित्यस्स्यात्। नित्यं चेत्संवेदनं स्वतस्सिद्धं नित्यमित्येव प्रतीयेत। न च तथा प्रतीयते ॥

एवमनुमानादिसंविदोऽपि कालानवच्छिन्नाः प्रतीताश्चेत्, स्वविषयानपि कालानवच्छिन्नान् प्रकाशयन्तीति ते च सर्वे कालानवच्छिन्ना नित्यास्स्युः, २ संविदनुरूपत्वाद्विषयाणाम्। न च निर्विषया काचित्संविदस्ति, अनुपलब्धेः। विषयप्रकाशनतयैवोपलब्धेरेव हि संविदस्स्वयंप्रकाशता समर्थिता, संविदो विषयप्रकाशनतास्वभावविरहे सति स्वयंप्रकाशत्वासिद्धेः, अनुभूतेरनुभवान्तराननुभाव्यत्वाच्च संविदस्तुच्छतैवस्यात्। न च स्वापमदमूर्च्छादिषु सर्वविषयशून्या केवलैव संवित्परिस्फुरतीति वाच्यम्, योग्यानुपलब्धिपराहतत्वात् तास्वपि दशास्वनुभूतिरनुभूता चेत्, तस्याः प्रबोधसमयेऽनुसंधानं स्यात्, न च तदस्ति ॥

नन्वभूतस्य पदार्थस्य स्मरणनियमो न दृष्टचरः। अतस्स्मरणाभावः कथमनुभवाभावं साधयेत्? उच्यते, निखिल संस्कारतिरस्कृतिकरदेहविगमादिप्रबलहेतुविरहेऽप्यस्मरणनियमोऽनुभवाभावमेव

❀ परेणाभाव प्रमाणस्याङ्गीकृतत्वाद्योग्यानुपलब्ध्यैवेत्युक्तम्। स्वपक्ष पर्यालोचनायामपि ज्ञानस्ययोग्यानुपलब्धिर्नाम भावरूपावस्थान्तरोपलब्धिः, पिण्डत्वाद्यु पलब्धिरेवहिघटस्य योग्यानुपलब्धिः।

---

१ प्रमाणाभावे इति पा०। २ संविदनुरूपस्वरूपत्वादिति पाठः।

साश्रयति; न केवलमस्मरणनियमादनुभवाभावः, सुप्तोत्थितस्य 'इयन्तं कालं न किंचिदहमज्ञासिषम्' इति प्रत्यवमर्शेनैव सिद्धेः। न च सत्यप्यनुभवे तदस्मरणनियमो विषयावच्छेदविरहादहंकारविगमा-द्वेति शक्यते वक्तुम्, अर्थान्तराननुभवस्यार्थान्तराभावस्य ÷ चानु-भूतार्थान्तरास्मरणहेतुत्वाभावात्। तास्वपि दशास्वहमर्थोऽनुवर्तत इति च वक्ष्यते॥

ननु स्वापादिदशास्वपि सविशेषोऽनुभवोऽस्तीति पूर्वमुक्तम्। सत्यमुक्तम्; स त्वात्मानुभवः। स च सविशेष एवेति स्थापयिष्यते। इह तु सकलविषयविरहिणी निराश्रया च संविन्निषिध्यते। केवलैव संविदात्मानुभव १ इति चेत्; सा च साश्रयेति ह्युपपादयिष्यते। अतोऽनुभूतिस्सती स्वयं स्वप्रागभावं न साधयतीति प्रागभावासिद्धिर्न शक्यते वक्तुम्। अनुभूतेरनुभाव्यत्वसम्भवोपपादनेनान्यतोऽप्यसि-द्धिर्निरस्ता। तस्मान्न प्रागभावाद्यसिद्धया संविदोऽनुत्पत्तिरुपपत्तिमती।

यदप्यस्या अनुत्पत्त्या विकारान्तरनिरसनम्; तदप्यनुपपन्नम्, प्रागभावे व्यभिचारात्। तस्य हि जन्माभावेऽपि विनाशो दृश्यते। भावेष्विति विशेषणे तर्ककुशलताऽऽविष्कृता भवति। तथाच भवद-भिमताऽविद्याऽनुत्पन्नैव विविधविकारास्पदं २ तत्त्वज्ञानोदयाद-न्तवती चेति तस्यामनैकान्त्यम्। तद्विकारास्सर्वे मिथ्याभूता इति चेत्; किं भवतः परमार्थभूतोऽप्यस्ति विकारः? येनैतद्विशेषणमर्थव-द्भवति। न ह्यसावभ्युपगम्यते॥

÷ घटाननुभवः, पटविनाशश्चानुभूत कुड्याद्यस्मरणकारणं न दृष्टमित्यर्थः। ननु—कुड्यादेः स्मरणं प्रति घटादेरकारणत्वात्तदभावो नास्याः स्मरण हेतुः, इह तु स्मरण कारणस्याभावोऽस्मरण हेतुरेव। नैवं कुड्यादिस्मरणं प्रति घटा-देरिव—ज्ञातृ ज्ञेययोरपि स्मरणं प्रति, अकारणत्वमकामेनापि स्वीकार्यमित्यभि-प्रायेण ह्यर्थान्तरशब्दः प्रयुक्तः॥

१ इति चेन्न; इति० पा०। २ तत्त्वज्ञानादिति० पा०।

यदपि—अनुभूतिरजत्वात्स्वस्मिन्विभागं न सहते इति। तदपि नोपपद्यते, अजस्यैवाऽऽत्मनो देहेन्द्रियादिभ्यो विभक्तत्वादनादित्वेन चाभ्युपगताया अविद्याया आत्मनो व्यतिरेकस्यावश्याश्रयणीयत्वात्। १ स विभागो मिथ्यारूपइति चेत्; जन्मप्रतिबद्धः परमार्थविभागः किं क्वचिद्दृष्टस्त्वया?। अविद्याया आत्मनः परमार्थतो विभागाभावे २ वस्तुतो ह्यविद्यं च स्यादात्मा। अबाधितप्रतिपत्तिसिद्धदृश्यभेदसमर्थनेन दर्शनभेदोऽपि समर्थित एव. छेद्यभेदाच्छेदनभेदवत्॥

यदपि—३ नास्या दृशेर्दृशिस्वरूपाया * दृश्यः कश्चिदपि धर्मोऽस्ति; दृश्यत्वादेव तेषां न दृशिधर्मत्वम् इति च। तदपि स्वाभ्युपगतैः प्रमाणसिद्धैर्नित्यत्वस्वयंप्रकाशत्वादिधर्मैरुभयमनैकान्तिकम्। न च ते संवेदनमात्रम्, स्वरूपभेदात्। स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रति कस्यचिद्विषयस्य प्रकाशनं हि संवेदनम्। स्वयंप्रकाशता तु स्वसत्तयैव स्वाश्रयाय प्रकाशमानता। प्रकाशश्च चिदचिदशेषपदार्थसाधारणं व्यवहारानुगुण्यम्॥

सर्वकालवर्तमानत्वं हि नित्यत्वम्। एकत्वमेकसंख्यावच्छेद इति। तेषां जडत्वाद्यभावरूपतायामपि तथाभूतैरपि चैतन्यधर्मभूतैस्तैरनैकान्त्यमपरिहार्यम्। संविदि तु स्वरूपातिरेकेण जडत्वादिप्रत्यनीकत्वमित्यभावरूपो भावरूपो वा धर्मो नाभ्युपेतश्चेत्; तत्तन्निषेधोक्त्या किमपि नोक्तं भवेत्॥

अपिच संवित्सिध्यति वा न वा?। सिध्यति चेत्; सधर्मता स्यात्। न चेत्; तुच्छता, गगनकुसुमादिवत्। सिद्धिरेव संविदिति

---

* अनुभूतिर्न दृश्यधर्मवती, दृशित्वात्, यद् दृश्य धर्मवत्तन्न दृशिः, यथाघट इत्यनुमान शरीरम्, अत्र दृश्यधर्मवत्त्वस्य, अदृशित्व व्याप्तिरनुभूतौ भग्ना, तस्यादृशित्व नित्यत्वादि धर्मवत्त्वादितिभावः॥

---

१ स० चेति। पा०। २ वस्तुतोऽविद्यं वेति० पा०। ३ नास्या दृशिस्वरूपाया० इति० पा०।

चेत्; कस्य कं प्रतीति वक्तव्यम्; यदि न कस्य चित्कंचित्प्रति; सा तर्हि न सिद्धिः। सिद्धिर्हि पुत्रत्वमिव कस्यचित्कंचित्प्रति भवति। आत्मन इति चेत्; कोऽयमात्मा ?; ननु संविदेवेत्युक्तम्। सत्यमुक्तम्; १ दुरुक्तं तु तत्। तथाहि; कस्यचित्पुरुषस्य किंचिदर्थजातं प्रति सिद्धिरूपतया तत्संबन्धिनी सा संवित्स्वयं कथमिवाऽऽत्मभावमनुभवेत् ?॥

एतदुक्तं भवति – अनुभूतिरिति स्वाश्रयं प्रति स्वसद्भावेनैव कस्यचिद्वस्तुनो व्यवहारानुगुण्यापादनस्वभावो ज्ञानावगतिसंविदाद्यपरनामा सकर्मकोऽनुभवितुरात्मनो धर्मविशेषो 'घटमहं जानामीममर्थमवगच्छामि पटमहं संवेद्मि' इति सर्वेषामात्मसाक्षिकः २ प्रसिद्धः। एतत्स्वभावतया हि तस्यास्स्वयंप्रकाशता भवताऽप्युपपादिता। अस्य सकर्मकस्य कर्तृधर्मविशेषस्य कर्मत्ववत्कर्तृत्वमपि दुर्घटमिति ॥

तथाहि; अस्य कर्तुस्स्थिरत्वं कर्तृधर्मस्य संवेदनाख्यस्य सुखदुःखादेरिवोत्पत्तिस्थितिनिरोधाश्च प्रत्यक्षमीक्ष्यन्ते। कर्तृस्थैर्यं तावत् 'स एवायमर्थः पूर्वं मयाऽनुभूतः' इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षसिद्धम्। 'अहं जानामि, अहमज्ञासिषं ज्ञातुरेव ममेदानीं ज्ञानं नष्टम्' इति च संविदुत्पत्त्यादयः प्रत्यक्षसिद्धा इति कुतस्तदैक्यम्। एवं क्षणभङ्गिन्यास्संविद आत्मत्वाभ्युपगमे पूर्वेद्युर्दृष्टमपरेद्युः 'इदमहमदर्शम्' इति प्रत्यभिज्ञा च न घटते; अन्येनानुभूतस्य न ह्यन्येन प्रत्यभिज्ञानसंभवः ॥

किञ्च अनुभूतेरात्मत्वाभ्युपगमे तस्याः नित्यत्वेऽपि ३ प्रतिसन्धानासम्भवस्तदवस्थः। प्रतिसन्धानं हि पूर्वापरकालस्थायिनमनुभवितारमुपस्थापयति; नानुभूतिमात्रम्। अहमेवेदं पूर्वमप्यन्वभूवमिति। भवताऽप्यनुभूते र्न ह्यनुभवितृत्वमिष्टम्। अनुभूतिरनुभूतिमात्रमेव। संविन्नाम काचिन्निराश्रया निर्विषया वाऽत्यन्तानुपलब्धेर्न संभवती-

१ दुरुक्तं तदिति० पा०। २ प्रत्यक्ष० इति० पा०। ३ प्रतिसन्धानाभाव० इति० पा०।

त्युक्तम्। १ उभयाभ्युपेता संविदेवाऽऽत्मेत्युपलब्धिपराहतम्। अनुभूतिमात्रमेव परमार्थ इति २ निष्कर्षकहेत्वाभासाश्च निराकृताः॥

ननु च—'अहं जानामि' इत्यस्मत्प्रत्यये योऽनिदमंशः प्रकाशैकरसश्चित्पदार्थस्स आत्मा। तस्मिन् तद्बलनिर्भासिततया युष्मदर्थलक्षणोऽहं जानामीति सिध्यन्नहमर्थश्चिन्मात्रातिरेकी युष्मदर्थ एव। नैतदेवम्, 'अहंजानामि' इति धर्मधर्मितया प्रत्यक्षप्रतीतिविरोधादेव॥

किञ्च—

अहमर्थो न चेदात्मा प्रत्यक्त्वं नाऽऽत्मनो भवेत्।
अहंबुद्ध्या परागर्थात् प्रत्यगर्थो हि भिद्यते॥
निरस्ताखिलदुःखोऽहमनन्तानन्दभाक् स्वराट्।
भवेयमिति मोक्षार्थी श्रवणादौ प्रवर्तते॥
अहमर्थविनाशश्चेन्मोक्ष इत्यध्यवस्यति।
अपसर्पेदसौ मोक्षकथाप्रस्तावगन्धतः॥
मयि नष्टेऽपि मत्तोऽन्या काचिज्ज्ञप्तिरवस्थिता।
इति तत्प्राप्तये यत्नः कस्यापि न भविष्यति॥
स्वसम्बन्धितया ह्यस्यास्सत्ता विज्ञप्तितादि च।
स्वसम्बन्धवियोगे तु ज्ञप्तिरेव न सिद्ध्यति॥
छेत्तुश्छेद्यस्य चाभावे छेदनादेरसिद्धिवत्।
अतोऽहमर्थो ज्ञातैव प्रत्यगात्मेति निश्चितम्॥
३ 'विज्ञातारमरे' ४ 'केन जानीयादे'ति च श्रुतिः।
५ 'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ' इति च स्मृतिः॥
६ 'नाऽऽत्मा श्रुते' रित्यारभ्य सूत्रकारोऽपि वक्ष्यति।
७ 'ज्ञोऽतएवे' त्यतो नाऽऽत्मा ज्ञप्तिमात्रमिति स्थितम्॥

अहं प्रत्ययसिद्धो ह्यस्मदर्थः; युष्मत्प्रत्ययविषयो युष्मदर्थः। तत्राहं जानामीति सिद्धो ज्ञाता युष्मदर्थइति वचनं जननी मे वन्ध्ये-

१ उभयाभ्युपगतेति॰ पा॰। २ निष्कर्षे॰ इति॰ पा॰। ३ बृ॰ ४ अ॰ ४ ब्रा॰ १४ वा॰। ४। ५ गी॰ १३ अ॰ १ श्लो॰। ६ शारी॰ २ अ॰ ३ पा॰ १८ सू॰। ७ शारी॰ २ अ॰ ३ पा॰ १९ सू॰।

त्विचद्व्याहतार्थं च। नचासौ ज्ञाताऽहमर्थोऽन्याधीनप्रकाशः, स्वयंप्रकाशत्वात्। चैतन्यस्वभावता हि स्वयंप्रकाशता। यः प्रकाशस्वभावः; सोऽनन्याधीनप्रकाशः, दीपवत्। नहि दीपादेस्स्वप्रभावलनिर्भासितत्वेनाप्रकाशत्वमन्याधीनप्रकाशत्वं च। किं तर्हि? १ दीपस्स्वयंप्रकाशस्वभावस्स्वयमेव प्रकाशते; अन्यानपि प्रकाशयति २ स्वप्रभया॥

एतदुक्तं भवति—यथैकमेव तेजोद्रव्यं प्रभाप्रभावद्रूपेणावतिष्ठते। यद्यपि प्रभा प्रभावद्द्रव्यगुणभूता। तथाऽपि तेजोद्रव्यमेव, न शौक्ल्यादिवद्गुणः। स्वाश्रयादन्यत्रापि वर्तमानत्वाद्रूपवत्त्वाच्च शौक्ल्यादिवैधर्म्यात्, प्रकाशवत्त्वाच्च तेजोद्रव्यमेव; नार्थान्तरम्। प्रकाशवत्त्वं च स्वस्वरूपस्यान्येषां च प्रकाशकत्वात्। अस्यास्तु गुणत्वव्यवहारो नित्यतदाश्रयत्वतच्छेषत्वनिबन्धनः॥

न चाऽऽश्रयावयवा एव विशीर्णाः प्रचरन्तः प्रभेत्युच्यन्ते, मणिद्युमणिप्रभृतीनां विनाशप्रसङ्गात्॥

दीपेऽप्यवयवनिप्रतिपत्तिः कदाचिदपि न स्यात्। नहि विशरणस्वभावावयवा दीपाश्चतुरङ्गुलमात्रं नियमेन पिण्डीभूता ऊर्ध्वमुद्गम्य ततः पश्चाद्युगपदेव तिर्यगूर्ध्वमधश्चैकरूपा विशीर्णाः प्रचरन्तीति शक्यं वक्तुम्॥

अतस्सप्रभाका एव दीपाः प्रतिक्षणमुत्पन्ना विनश्यन्तीति पुष्कलकारणक्रमोपनिपातात्तद्विनाशे विनाशाच्चावगम्यते। प्रभायास्स्वाश्रयसमीपे प्रकाशाधिक्यमौष्ण्याधिक्यमित्याद्युपलब्धिव्यवस्थाप्यम अग्न्यादीनामौष्ण्यादिवत्। एवमात्मा चिद्रूप एव ३ चैतन्यगुण इति। चिद्रूपता हि स्वयंप्रकाशता॥

तथाहि श्रुतयः—४ "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः

१ दीप, प्रकाशेति० पा०। २ स्वप्रभयेति० पा०। ३ चैतन्यगुणक) इति० पा०। ४ बृ० ६ अ० ५ ब्रा० १३ वा०।

प्रज्ञानघन एव" १ "विज्ञानघन एव" २ "अत्रायं पुरुषस्स्वयंज्योतिर्भवति" ३ "न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते" ४ "अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा" ५ "कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" ६ "एषहि ७ द्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" ८ "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" ९ "जानात्येवायं पुरुषः" १० "न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्" ११ "स उत्तमः पुरुषः" १२ "नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्" १३ "एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाष्षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तंगच्छन्ति" १४ "तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः"—इत्याद्याः। वक्ष्यति च १५ 'ज्ञोऽतएव" इति॥

अतस्स्वयंप्रकाशोऽयमात्मा ज्ञातैव, न प्रकाशमात्रम्। प्रकाशत्वादेव कस्यचिदेव भवेत्प्रकाशः, दीपादिप्रकाशवत्। तस्मान्नाऽऽत्मा भवितुमर्हति संवित्। संविदनुभूतिज्ञानादिशब्दास्संबन्धिशब्दा इति च शब्दार्थविदः। नहि लोकवेदयोर्जानातीत्यादेरकर्मकस्याकर्तृकस्य च प्रयोगो दृष्टचरः॥

यच्चोक्तमजडत्वात्संविदेवाऽऽत्मेति; तत्रेदं प्रष्टव्यम्, अजडत्वमिति किमभिप्रेतम्?; स्वसत्ताप्रयुक्तप्रकाशत्वमिति चेत्; तथा सति दीपादिष्वनैकान्त्यम्। संविदतिरिक्तप्रकाशधर्मानभ्युपगमेनासिद्धिर्विरोधश्च। अव्यभिचरितप्रकाशसत्ताकत्वमपि सुखादिषु व्यभिचारान्निरस्तम्॥

---

१ बृ० ४ अ० ४ ब्रा० १२ वा०। २ बृ० ६ अ० ३ ब्रा० ६ वा०। ३ नहि० इति० पा०। ४ बृ० ६ अ० ३ ब्रा० ३० वा०। ५ छा० ८ प्र० १२ ख० ४ वा०। ६ बृ० ६ अ० ३ ब्रा० ७ वा०। ८ प्रश्न० उ० ४ प्रश्न० ९ वा०। ७ द्रष्टा स्प्रष्टा० इति० पा०। ९ बृ० ४ अ० ४ ब्रा० १४ वा०। १०। ११ छा० ७ प्र० २६ ख० २ वा०। १२ ६ छा० ८ प्र० १२ ख० ३ वा०। १३ प्रश्न० उ० ६ प्रश्न० ५ वा०। १४ तै० आन० ४ अनु १ वा०। १५ शारी० २ अ० ३ पा० १९ सू०।

यद्युच्येत — सुखादिरव्यभिचरितप्रकाशोऽप्यन्यस्मै प्रकाशमानतया घटादिवज्जडत्वेनानाऽऽत्मा — इति। ज्ञानं वा किं स्वस्मै प्रकाशते ? तदपि ह्यन्यस्यैवाहमर्थस्य ज्ञातुरवभासते. अहं सुखीतिवज्जानाम्यहमिति। अतस्स्वस्मै प्रकाशमानत्वरूपमजडत्वं संविदसिद्धम् तस्मात्स्वात्मानं प्रति स्वसत्तयैव सिध्यन्नजडोऽहमर्थ एवाऽऽत्मा। ज्ञानस्यापि प्रकाशता तत्संबन्धायत्ता। तत्कृतमेव हि ज्ञानस्य सुखादेरिव स्वाश्रयचेतनं प्रति प्रकटत्वमितरं प्रत्यप्रकटत्वं च। अतो न ज्ञप्तिमात्रमात्मा, अपि तु ज्ञातैवाहमर्थः॥

अथ यदुक्तम्—अनुभूतिः परमार्थतो निर्विषया निराश्रया च सती भ्रान्त्या ज्ञातृतयाऽवभासते, रजततयेव शुक्तिः, निरधिष्ठानभ्रमानुपपत्तेः इति। तदयुक्तम्; तथा सत्यनुभवसामानाधिकरण्येनानुभविताऽहमर्थः प्रतीयेत, 'अनुभूतिरहम्' इति पुरोवस्थितभास्वरद्रव्याकारतया रजतादिरिव। अत्र तु पृथगवभासमानैवेयमनुभूतिरर्थान्तरमहमर्थं विशिनष्टि, दण्ड इव देवदत्तम्। तथाहि 'अनुभवाम्यहम्' इति प्रतीतिः। तदेवमस्मदर्थमनुभूतिविशिष्टं प्रकाशयन्ननुभवाम्यहमिति प्रत्ययो दण्डमात्रे 'दण्डी देवदत्तः' इति प्रत्ययवद्विशेषणभूतानुभूतिमात्रावलम्बनः कथमिव प्रतिज्ञायेत ?॥

यदप्युक्तम् — स्थूलोऽहमित्यादिदेहात्माभिमानवत एव ज्ञातृत्वप्रतिभासनात् ज्ञातृत्वमपि मिथ्या — इति। तदयुक्तम्; आत्मतया अभिमताया अनुभूतेरपि मिथ्यात्वं स्यात्, तद्वत एव प्रतीतेः। सकलेतरोपमर्दितत्त्वज्ञानाबाधितत्वेनानुभूतेर्न मिथ्यात्वमितिचेत्; हन्तैवं सति तद्बाधादेव ज्ञातृत्वमपि न मिथ्या॥

यदप्युक्तम् — अविक्रियस्याऽऽत्मनो ज्ञानक्रियाकर्तृत्वरूपं ज्ञातृत्वं न संभवति। अतो ज्ञातृत्वं विक्रियात्मकं जडं विकारास्पदाव्यक्तपरिणामाहङ्कारग्रन्थिस्थमिति न ज्ञातृत्वमात्मनः; अपित्वन्तः करणरूपस्याहङ्कारस्य। कर्तृत्वादिर्हि रूपादिवद्दृश्यधर्मः; कर्तृत्वेऽहंप्रत्ययगोचरत्वे चाऽऽत्मनोऽभ्युपगम्यमाने देहस्येवानात्मत्वपराक्त्वजडत्वादिप्रसङ्गश्चेति। नैतदुपपद्यते देहस्येवाचेतनत्वप्रकृतिपरिणामत्व-

द्रश्यत्वपराक्त्वपरार्थत्वादियोगादन्तःकरणरूपस्याहङ्कारस्य, चेतना-साधारणस्वभावत्वाच्च ज्ञातृत्वस्य ॥

एतदुक्तं भवति—यथा देहादिर्द्दश्यत्वपराक्त्वादिहेतुभिस्त-त्प्रत्यनीकद्रष्टृत्वप्रत्यक्त्वादेर्विविच्यते, एवमन्तःकरणरूपाहङ्कारोऽपि तद्द्रव्यत्वादेव तैरेव हेतुभिस्तस्माद्विविच्यते—इति ॥

अतो विरोधादेव न ज्ञातृत्वमहङ्कारस्य, द्रशित्ववत्। यथा द्रशित्वं तत्कर्मणोऽहङ्कारस्य नाभ्युपगम्यते, तथा ज्ञातृत्वमपि न तत्कर्मणोऽभ्युपगन्तव्यम् ॥

न च ज्ञातृत्वं विक्रियात्मकम्; ज्ञातृत्वं हि ज्ञानगुणाश्रयत्वम्। ज्ञानं चास्य नित्यस्य स्वाभाविकधर्मत्वेन नित्यम्। नित्यत्वं चाऽऽत्मनो १ "नाऽऽत्मा श्रुतेः" इत्यादिषु वक्ष्यति। २ "ज्ञोऽत एव" इत्यत्र ज्ञ इति व्यपदेशेन ज्ञानाश्रयत्वं च स्वाभाविकमिति वक्ष्यति। अस्य ज्ञानस्वरूपस्यैव मणिप्रभृतीनां प्रभाश्रयत्वमिव ज्ञानाश्रयत्वमप्यविरु-द्धमित्युक्तम्। स्वयमपरिच्छिन्नमेव ज्ञानं सङ्कोचविकासार्हमित्युपपा-दयिष्यामः॥

अतः क्षेत्रज्ञावस्थायां कर्मणा संकुचितस्वरूपं तत्तत्कर्मानुगुण-तरतमभावेन वर्तते। तच्चेन्द्रियद्वारेण व्यवस्थितम्। तमिमामिन्द्रि-य द्वारा ज्ञानप्रसरमपेक्ष्योदयास्त मयव्यपदेशः प्रवर्तते। ज्ञानप्रसरे तु कर्तृत्वमस्त्येव। तच्च न स्वाभाविकम्; अपि तु कर्मकृतमित्यविक्रिय-स्वरूप एवाऽऽत्मा। एवंरूपविक्रियात्मकं ज्ञातृत्वं ज्ञानस्वरूपस्याऽऽत्मन एवेति न कदाचिदपि जडस्याहङ्कारस्य ज्ञातृत्वसम्भवः ॥

३ जडस्वरूपस्याप्यहङ्कारस्य चित्संनिधानेन तच्छायापत्त्या तत्सम्भव इति चेत्; केयं चिच्छायापत्तिः? किमहङ्कारच्छायापत्ति-स्संविदः? उत संविच्छायापत्तिरहङ्कारस्य? ॥

---

१. २ शारी० २ अ० ३ पा० १८-१९ सू०। ३ जडस्वरूपस्याहङ्कार-स्येति० पा०।

न तावत्संविदः, १ संविदो ज्ञातृत्वानभ्युपगमात् । नाप्यहङ्कारस्य, उक्तरीत्या २ तस्य जडस्य ज्ञातृत्वायोगात्, द्वयोरप्यचाक्षुषत्वाच्च, न ह्यचाक्षुषाणां छाया दृष्टा ॥

अथ — अग्निसंपर्कादयःपिण्डौष्ण्यवच्चित्संपर्काज्ज्ञातृत्वोपलब्धिः-३ इति चेत्, नैतत्, संविदि ४ वस्तुतो ज्ञातृत्वानभ्युपगमादेव न तत्संपर्कादहङ्कारे ज्ञातृत्वं तदुपलब्धिर्वा अहंकारस्य त्वचेतनस्य ज्ञातृत्वासम्भवादेव सुतरां न तत्संपर्कात्संविदि ज्ञातृत्वं तदुपलब्धिर्वा ॥

यदप्युक्तम्—उभय वस्तुतो ज्ञातृत्वमस्ति । अहङ्कारस्त्वनुभूतेरभिव्यञ्जकस्त्वात्मस्थामेवानुभूतिमभिव्यनक्ति, आदर्शादिवत्, इति । तदयुक्तम्, आत्मनस्स्वयंज्योतिषो जडस्वरूपाहङ्काराभिव्यङ्ग्यत्वायोगात् ॥ तदुक्तं—

५ "शान्ताङ्गार इवाऽऽदित्यमहङ्कारो जडात्मकः ।
स्वयंज्योतिषमात्मानं व्यनक्तीति न युक्तिमत् ॥" इति

स्वयं प्रकाशानुभवाधीनसिद्धयो हि सर्वे पदार्थाः । तत्र तदायत्तप्रकाशोऽचिदहङ्कारोऽनुदितानस्तमितस्वरूपप्रकाशमशेषार्थसिद्धिहेतुभूतमनुभवमभिव्यनक्तीत्यात्मविदः परिहसन्ति ॥

किंच अहङ्कारानुभवयोस्स्वभावविरोधादनुभूतेरननुभूतित्वप्रसङ्गाच्च न व्यङ्क्तृव्यङ्ग्यभावः । यथोक्तं—

६ "व्यङ्क्तृव्यङ्ग्यत्वमन्योन्यं न च स्यात्प्रातिकूल्यतः ।
व्यङ्ग्यत्वेऽननुभूतित्वमात्मनि स्याद्यथा घटः ॥" इति ॥

न च रविकरनिकराणां स्वाभिव्यङ्ग्यकरतलाभिव्यङ्ग्यत्ववत्संविदभिव्यङ्ग्याहङ्काराभिव्यङ्ग्यत्वं संविदस्साधीयः, तत्रापि रविकरनिकराणां करतलाभिव्यङ्ग्यत्वाभावात्, करतलप्रतिहतगतयो

१ संविदि इति पा० । २ तस्य ज्ञातृत्वेति पा० । ३ इति चेत् संविदि इति पा० ४ वास्तवेति पा० । ५ । ६ आत्मसिद्धौ ।

हि रश्मयो बहुलास्स्वयमेव स्फुटतरमुपलभ्यन्त इति तद्बाहुल्यमात्र-हेतुत्वात्करतलस्य नाभिव्यञ्जकत्वम् ॥

किंचास्य १ संवित्स्वरूपस्याऽऽत्मनो २ऽहंकारनिर्वर्त्याभिव्यक्तिः किंरूपा? न तावदुत्पत्तिः, स्वतस्सिद्धतयाऽनन्योत्पाद्यत्वाभ्युपगमात्। नापि तत्प्रकाशनम्, तस्यानुभवान्तराननुभाव्यत्वात्। तत एव च न तदनुभवसाधनानुग्रहः ॥

स हि द्विधा; ज्ञेयस्येन्द्रियसंबन्धहेतुत्वेन वा, यथा जाति-निजमुखादिग्रहणे व्यक्तिदर्पणादीनां नयनादीन्द्रियसंबन्धहेतुत्वेन; बोद्धृगतकल्मषापनयनेन वा, यथा परतत्त्वावबोधनसाधनस्य शास्त्रस्य शमदमादिना । यथोक्तम्—३ "करणानामभूमित्वान्न तत्संबन्ध-हेतुता"—इति ॥

किंच अनुभूतेरनुभाव्यत्वाभ्युपगमेऽप्यहमर्थेन न तदनुभव-साधनानुग्रहस्सुवचः; स ह्यनुभाव्यानुभवोत्पत्ति ४ प्रतिबन्धनिर-सनेन भवेत् । यथा रूपादिग्रहणोत्पत्तिनिरोधिसंतमसनिरसनेन चक्षुषो दीपादिना ।

न चेह तथाविधं निरसनीयं सम्भाव्यते। न तावत्संविदा-त्मगतं तज्ज्ञानोत्पत्तिनिरोधि किंचिदप्यहंकारापनेयमस्ति। अस्ति ह्यज्ञानमिति चेत्; न, अज्ञानस्याहंकारापनोद्यत्वानभ्युपगमात् । ज्ञानमेव ह्यज्ञानस्य निवर्तकम् ॥

न च संविदाश्रयत्वमज्ञानस्य सम्भवति; ज्ञानसमानाश्रयत्वा-त्तत्समानविषयत्वाच्च ज्ञातृभावविषयभावविरहिते ज्ञानमात्रे साक्षिणि नाज्ञानं भवितुमर्हति; यथा ज्ञानाश्रयत्वप्रसक्तिशून्यत्वेन घटादेर्ना-ज्ञानाश्रयत्वम्। तथा ज्ञानमात्रेऽपि ज्ञानाश्रयत्वाभावेन नाज्ञानाश्रयत्वं स्यात्। संविदोऽज्ञानाश्रयत्वाभ्युपगमेऽपि आत्मतयाऽभ्युपगतायाः

१ संविद्रूपस्येति० पा० । २ अहङ्कारादीति० पा० । ३ आत्मसिद्धौ० । ४ प्रतिबन्धकेति० पा० ।

स्तस्या ज्ञानविषयत्वाभावेन ज्ञानेन न तद्गताज्ञाननिवृत्तिः। ज्ञानं हि स्वविषय एवाज्ञानं निवर्तयति, यथा रज्ज्वादौ। अतो न केनापि कदाचित्संविदाश्रयमज्ञानमुच्छिद्येत। अस्य च सदसदनिर्वचनीयस्याज्ञानस्य स्वरूपमेव दुर्निरूपमित्युपरिष्टाद्वक्ष्यते। ज्ञानप्रागभावरूपस्य चाज्ञानस्य ज्ञानोत्पत्तिविरोधित्वाभावेन न तन्निरसनेन तज्ज्ञानसाधनानुग्रहः। अतो न केनापि १ प्रकारेणाहङ्कारेणानुभूतेरभिव्यक्तिः॥

न च स्वाश्रयतयाऽभिव्यङ्ग्याभिव्यञ्जनमभिव्यञ्जकानां स्वभावः; प्रदीपादिष्वदर्शनात्, यथावस्थितपदार्थप्रतीत्यनुगुणस्वाभाव्याच्च ज्ञानतत्साधनयोरनुग्राहकस्य च। तच्च स्वतः प्रामाण्यन्यायसिद्धम्॥

न च दर्पणादिर्मुखादेरभिव्यञ्जकः, अपि तु चाक्षुषतेजः प्रतिफलनरूपदोषहेतुः। तद्दोषकृतश्च तत्रान्यथावभासः। अभिव्यञ्जकस्त्वालोकादिरेव॥

न चेह तथाहङ्कारेण संविदि स्वप्रकाशायां तादृशदोषापादनं संभवति। व्यक्तेस्तु जातिराकार इति तदाश्रयतया प्रतीतिः; न तु व्यक्तिव्यङ्ग्यत्वात्। अतोऽन्तःकरणभूताहङ्कारस्थतया संविदुपलब्धेर्वस्तुतो दोषतो वा न किंचिदिह कारणमिति नाहङ्कारस्य ज्ञातृत्वं तथोपलब्धिर्वा। तस्मात्स्वत एव ज्ञातृतया सिद्ध्यन्नहमर्थ एव प्रत्यगात्मा। न ज्ञप्तिमात्रम्। अहंभावविगमे तु ज्ञप्तेरपि न प्रत्यक्त्वसिद्धिरित्युक्तम्॥

तमोगुणाभिभवात्पराग्र्थानुभवाभावाच्चाहमर्थस्य विविक्तस्फुटप्रतिभासाभावेऽप्या २ प्रबोधादहमित्येकाकारेणाऽऽत्मनस्स्फुरणात्सुषुप्तावपि नाहंभावविगमः। भवदभिमताया अनुभूतेरपि तथैव प्रथेति वक्तव्यम्॥

न हि सुप्तोत्थितः कश्चिदहंभावियुक्तार्थान्तरप्रत्यनीकाकारा ज्ञप्तिरहमज्ञानसाक्षितया ३ ऽवतिष्ठत इत्येवंविधां स्वापसमकाला-

१ प्रकारेणानुभूतेरिति० पा०। २ प्रतिबोधेति० पा०। ३ अवतिष्ठ इत्येवं-मिति० पा०।

मनुभूतिं परामृशति एवं हि सुप्तोत्थितस्य परामर्शस्सुखमहमस्वाप्समिति ॥

१ अनेन प्रत्यवमर्शेन तदानीमप्यहमर्थस्यैवाऽऽत्मनस्सुखित्वं ज्ञातृत्वं च ज्ञायते ॥

न च वाच्यं, यथेदानीं सुखं भवति; तथा तदानीमस्वाप्समित्येषा प्रतिपत्तिरिति; अतद्रूपत्वात्प्रतिपत्तेः॰ । न चाहमर्थस्याऽऽत्मनोऽस्थिरत्वेन तदानीमहमर्थस्य सुखित्वानुसंधानानुपपत्तिः; यतस्सुषुप्तिदशायाः प्रागनुभूतं वस्तु सुप्तोत्थितो 'मयेदं कृतं मयेदमनुभूतमहमेतश्चोचम्' इति परामृशति । 'एतावन्तं कालं न किंचिदहमज्ञासिषम्' इति च परामृशतीति चेत्; ततः किम्? न किंचिदिति कृत्स्नप्रतिषेध इति चेत्; न, 'नाहमवेदिषम्' इति वेदितुरहमर्थस्यैवानुवृत्तेः; वेद्यविषयो हि स प्रतिषेधः । न किंचिदिति निषेधस्य कृत्स्नविषयत्वे भवदभिमतानुभूतिरपि प्रतिषिद्धा स्यात् । सुषुप्तिसमये त्वनुसंधीयमानमहमर्थमात्मानं ज्ञातारमहमिति परामृश्य न किंचिदवेदिषमिति वेदने तस्य प्रतिषिध्यमाने तस्मिन् काले निषिध्यमानाया वित्तेस्सिद्धिमनुवर्तमानस्य ज्ञातुरहमर्थस्य चासिद्धिमनेन 'न किंचिदहमवेदिषम्' इति परामर्शेन साधयंस्तमिममर्थं देवानामेव साधयतु ॥

'मामप्यहं न ज्ञातवान्' इति अहमर्थस्यापि तदानीमननुसंधानं २ प्रतीयत इति चेत्; स्वानुभवस्ववचनयोर्विरोधमपि न जानन्ति भवन्तः । 'अहं मां न ज्ञातवान्' इति ह्यनुभववचने ।

॰ एवमर्थः—किं प्रतिपत्तिस्वारस्यात्, उतानुपपत्त्याऽभ्युपगम्यते इति विकल्प्य, अतद्रूपत्वात् प्रतिपत्तेरिति प्रतिपत्तिस्वारस्यं परिहृतं यथा 'मन्दमगच्छं मधुरमगायमिति परामर्शे वचनस्य । नहि तत्र यथेदानीं मान्द्यं माधुर्यं च भवतितथा-अगच्छमगायमित्यर्थउपपद्यते, अपि तु गतिगानसमकालत्वमेव मान्द्यमाधुर्ययोरुपपन्नं तद्वत् प्रत्यक्त्व सुखित्वे, अपि स्वापसमकालीने-इत्यर्थः ॥

१ अनेनैवेति । पा० । २ प्रतिषिध्यत इति । पा० ।

मामिति किं निषिध्यत इति चेत्; साधु पृष्टं भवता। तदुच्यते, अहमर्थस्य ज्ञातुरनुवृत्तेः न स्वरूपं निषिध्यते; अपि तु प्रबोधसमयेऽनुसंधीयमानस्याहमर्थस्य वर्णाश्रमादिविशिष्टता। अहं मां न ज्ञातवानित्युक्तं विषयो विवेचनीयः। जागरितावस्थानुसंहितजात्यादिविशिष्टोऽस्मदर्थो मामित्यंशस्य विषयः। स्वाप्ययावस्थाप्रसिद्धानिशदस्वानुभवैकतानश्चाहमर्थोऽहमित्यंशस्य विषयः। अत्र सुप्तोऽहमीदृशोऽहमिति च मामपि न ज्ञातवानहमित्येव खल्वनुभवप्रकारः॥

किंच, सुषुप्तावात्माऽज्ञानसाक्षित्वेनाऽस्त इति हि भवदीया प्रक्रिया। साक्षित्वं च साक्षाज्ज्ञातृत्वमेव। न ह्यजानतस्साक्षित्वम्। ज्ञातैव हि लोकवेदयोस्साक्षीति व्यपदिश्यते; न ज्ञानमात्रम्। स्मरति च भगवान् पाणिनिः १ "साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्" इति २ साक्षाज्ज्ञातर्येव साक्षिशब्दम्। स चायं साक्षी जानामीति प्रतीयमानोऽस्मदर्थ एवेति कुतस्तदानीमहमर्थो न प्रतीयेत। आत्मने स्वयमवभासमानोऽहमित्येवावभासत इति स्वापाद्यवस्थास्वप्यात्मा प्रकाशमानोऽहमित्येवावभासत इति सिद्धम्॥

यत्तु—मोक्षदशायामहमर्थो नानुवर्तते—इति;तदपेशलम्। तथा सत्यात्मनाश एवापवर्गः प्रकारान्तरेण प्रतिज्ञातः स्यात्। न चाहमर्थो धर्ममात्रम्; येन तद्विगमेऽप्यविद्यानिवृत्ताविव स्वरूपमवतिष्ठेत। प्रत्युत स्वरूपमेवाहमर्थ आत्मनः। ज्ञानं तु तस्य धर्मः, 'अहं जानामि, ज्ञानं मे जातम्' इति चाहमर्थधर्मतया ज्ञानप्रतीतेरेव॥

अपि च यः परमार्थतो भ्रान्त्या वाऽऽध्यात्मिकादिदुःखैर्दुःखितया ३ स्वात्मानमनुसंधत्ते 'अहं दुःखी' इति। सर्वमेतद्दुःखजातमपुनर्भवमपोह्य 'कथमहमनाकुलस्स्वस्थो भवेयम्' इत्युत्पन्नमोक्षरागस्स एव तत्साधने प्रवर्तते। स साधनानुष्ठानेन यद्यहमेव न भविष्यामीत्यवगच्छेत्; अपसर्पेदेवासौ मोक्षकथाप्रस्तावात्। ततश्चा-

१ अष्टा० ५ अ० २ पा० ९१ सू०। २ साक्षाद्द्रष्टर्यैवेति० पा०। ३ आत्मानमिति० पा०।

धिकारिविरहादेव सर्वं मोक्षशास्त्रमप्रमाणं स्यात् । अहमुपलक्षितं १ प्रकाशमात्रमपवर्गेऽवतिष्ठत इति चेत्; किमनेन ? मयि नष्टेऽपि किमपि २ प्रकाशमात्रमपवर्गेऽवतिष्ठत इति मत्वा नहि कश्चित् बुद्धिपूर्वकारी प्रयतते। अतोऽहमर्थस्यैव ज्ञातृतया सिद्ध्यतः प्रत्यगात्मत्वम्। स च प्रत्यगात्मा मुक्तावप्यहमित्येव प्रकाशते. स्वस्मै प्रकाशमानत्वात्, योयः स्वस्मै प्रकाशते स सर्वोऽहमित्येव प्रकाशते, यथा तथावभासमानत्वेनोभयवादिसम्मतस्संसार्यात्मा । यः पुनरहमिति न चकास्ति; नासौ स्वस्मै प्रकाशते, यथा घटादिः। स्वस्मैप्रकाशते चायं मुक्तात्मा; ३ तस्मादहमित्येव प्रकाशते ॥

न चाहमिति प्रकाशमानत्वेन तस्याज्ञत्वसंसारित्वादिप्रसङ्गः। मोक्षविरोधात्, अज्ञत्वाद्यहेतुत्वाच्चाहंप्रत्ययस्य। अज्ञानं नाम स्वरूपाज्ञानमन्यथा ज्ञानं विपरीतज्ञानं वा। अहमित्येवाऽऽत्मनस्स्वरूपमिति स्वरूपज्ञानरूपोऽहंप्रत्ययो नाज्ञत्वमापादयति; कुतस्संसारित्वम्। अपि तु तद्विरोधित्वान्नाशयत्येव ॥

ब्रह्मात्मभावापरोक्ष्यनिर्धूतनिरवशेषाविद्यानामपि वामदेवादीनामहमित्येवात्मानुभवदर्शनाच्च । श्रूयते हि—४ "तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च" इति. ५ "अहमेकः प्रथममासं वर्तामि च भविष्यामि च" इत्यादि। सकलेतराज्ञानविरोधिनस्सच्छब्दप्रत्ययमात्रभाजः परस्य ब्रह्मणो व्यवहारोऽप्येवमेव—६ "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः" ७ बहु स्यां प्रजायेय" ८ "स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति"; तथा"यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" ९ "अहमात्मा गुडा-

१ प्रकाशमात्रमपवर्गेऽप्यवतिष्ठत इति पा० । २प्रकाशमात्रमवतिष्ठत इति पाठः। ३ स तस्मादिति पा० । ४ बृ० ३ अ० ४ ब्रा० १० वा० । ५ अथर्वशिरोपनिषदि १ खण्डे । ६ छा० ६ प्र० ३ ख० २ वा० । ७ तै० आन० ६ अनु० २ वा० । ८ ऐतरेय १ अनु० १ ख० १ वा० । ९ गीता १५ अ० १८ श्लोक । १० गीता १० अ० २० श्लोक ।

केश" १ "न त्वेवाहं जातु नासम्" २ "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा" ३ "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तस्सर्वं प्रवर्तते" ४ "तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्" ५ "अहं बीजप्रदः पिता" ६ "वेदाहं समतीतानि" – इत्यादिषु ॥

यद्यहमित्येवात्मनः स्वरूपम्, कथं ७ तर्ह्यहङ्कारस्य क्षेत्रान्तर्भावो भगवतोपदिश्यते ? ८ "महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च" इति। उच्यते, स्वरूपोपदेशेषु सर्वेष्वहमित्येवोपदेशात्तथैवात्मस्वरूपप्रतिपत्तेश्चाहमित्येव प्रत्यगात्मनस्स्वरूपम्। अव्यक्तपरिणामभेदस्याहंकारस्य क्षेत्रान्तर्भावो भगवतैवोपदिश्यते। स त्वनात्मनि देहेऽहंभावकरणहेतुत्वेन अहंकार इत्युच्यते। अस्य त्वहंकारशब्दस्य अभूततद्भावेऽर्थेच्विप्रत्ययमुत्पाद्य व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या। अयमेव त्वहंकार उत्कृष्टजनावमानहेतुर्गर्वापरनामा शास्त्रेषु बहुशो हेयतया प्रतिपाद्यते। तस्माद्बाधकापेताऽहंबुद्धिस्साक्षादात्मगोचरैव। शरीरगोचरा त्वहंबुद्धिरविद्यैव। यथोक्तं भगवता पराशरेण— ९ "श्रूयतां चाप्यविद्यायाः स्वरूपं कुलनन्दन!। अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या" - इति। यदि ज्ञप्तिमात्रमेवाऽऽत्मा, तदाऽनात्मन्यात्माभिमाने शरीरे ज्ञप्तिमात्रप्रतिभासस्स्यात्, न ज्ञातृत्वप्रतिभासः। तस्माज्ज्ञाताऽहमर्थ एवाऽऽत्मा तदुक्तम् —

१० "अतः प्रत्यक्षसिद्धत्वादुक्तन्यायागमान्वयात्।
अविद्यायोगतश्चाऽऽत्मा ज्ञाताऽहमिति भासते ॥" इति ॥

तथाच—

११ "देहेन्द्रियमनः प्राणधीभ्योन्योऽनन्यसाधनः।
नित्यो व्यापी प्रतिक्षेत्रमात्मा भिन्नस्स्वतस्सुखी ॥" इति ॥

---

१ गीता २ अ० १२ श्लोक। २ गीता ७ अ० ६ श्लोक। ३ गीता १० अ० ८ श्लोक। ४ गीता १२ अ० ७ श्लोक। ५ गीता० १४ अ० ४ श्लोक। ६ गीता ७ अ० २६ श्लोक। ७ तर्हितस्याहङ्कारस्येति पा०। ८ गीता १३ अ० ५ श्लोक। ९ वि० पु० ६ अं० ७अ०१०,११ श्लोक। १०तच्छ्रूयतामविद्याया इति पा०। १० ११ आत्म सिद्धौ।

अनन्यसाधनस्वप्रकाशः । व्यापी-अतिसूक्ष्मतया सर्वाचेतनान्तः प्रवेशनस्वभावः ॥

यदुक्तम्—दोषमूलत्वेनान्यथासिद्धिसंभावनया । सकलभेदावलम्बिप्रत्यक्षस्य शास्त्रबाध्यत्वम्—इति ॥

कोऽयं दोष इति वक्तव्यम्, यन्मूलतया प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धिः। अनादिभेदवासनैव हि दोष इति चेत्; भेदवासनायास्तिमिरादिवद्यथावस्थितवस्तुविपरीतज्ञानहेतुत्वं १ किमन्यत्र ज्ञातपूर्वम्? अनेनैव शास्त्रविरोधेन ज्ञास्यत इति चेत्; न, अन्योन्याश्रयणात्, शास्त्रस्य निरस्तनिखिलविशेषवस्तुबोधित्वनिश्चये सति भेदवासनाया दोषत्वनिश्चयः, भेदवासनाया दोषत्वनिश्चये सति शास्त्रस्य निरस्तनिखिलविशेषवस्तुबोधित्वनिश्चय इति । किञ्च, यदि भेदवासनामूलत्वेन प्रत्यक्षस्य विपरीतार्थत्वम्; शास्त्रमपि तन्मूलत्वेन तथैव स्यात् ॥

अथोच्येत—दोषमूलत्वेऽपि शास्त्रस्य प्रत्यक्षावगतसकलभेदनिरसनज्ञानहेतुत्वेन परत्वात्तत्प्रत्यक्षस्य बाधकम्—इति । तन्न; दोषमूलत्वे ज्ञाते सति परत्वमकिंचित्करम् । रज्जुसर्पज्ञाननिमित्तभये सति भ्रान्तोऽयमिति परिज्ञातेन केनचित् 'नायं सर्पो मा भैषीः' इत्युक्तेऽपि भयानिवृत्तिदर्शनात् । शास्त्रस्य च दोषमूलत्वं श्रवणवेलायामेव ज्ञातम् । श्रवणावगतनिखिलभेदोपमर्दिब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाभ्यासरूपत्वान्मननादेः ॥

अपि च इदं शास्त्रम्, एतच्चासंभाव्यमानदोषम्; प्रत्यक्षं तु संभाव्यमानदोषमिति केनावगतं त्वया? न तावत्स्वतस्सिद्धा निर्धूतनिखिलविशेषाऽनुभूतिरिममर्थमवगमयति, तस्यास्सर्वविषयविरक्तत्वात्, शास्त्रपक्षपातविरहाच्च । नाप्यैन्द्रियिकं प्रत्यक्षम्, दोषमूलत्वेन विपरीतार्थत्वात् । तन्मूलत्वादेव नान्यान्यपि प्रमाणानि । अतस्स्वपक्षसाधनप्रमाणानभ्युपगमान्न स्वाभिमतार्थ सिद्धिः ॥

---

१ किमप्यन्येनेति पाठः

ननु व्यावहारिकप्रमाणप्रमेयव्यवहारोऽस्माकमप्यस्त्येव, कोऽयं व्यावहारिको नाम? आपातप्रतीतिसिद्धो युक्तिभिर्निरूपितो न तथाऽवस्थित इति चेत्, किं तेन प्रयोजनम्? प्रमाणतया प्रतिपन्नेऽपि यौक्तिकबाधादेव प्रमाणकार्याभावात्। अथोच्येत—शास्त्रप्रत्यक्षयोः १ द्वयोरप्यविद्यामूलत्वेऽपि प्रत्यक्षविषयस्य शास्त्रेण बाधो दृश्यते; शास्त्रविषयस्य सद्वितीयब्रह्मणः पश्चात्तनबाधादर्शनेन निर्विशेषानुभूतिमात्रं ब्रह्मैव परमार्थः—इति। तदयुक्तम्, अबाधितस्यापि दोषमूलस्यापारमार्थ्यनिश्चयात्।

एतदुक्तं भवति—यथा सकलेतरकाचादिदोषरहित पुरुषान्तरागोचरगिरिगुहासु वसतस्तैमिरिकजनस्याज्ञातस्वतिमिरस्य सर्वस्य तिमिरदोषाविशेषेण द्विचन्द्रज्ञानमविशिष्टं जायते। न तत्र बाधकप्रत्ययोऽस्तीति न तन्मिथ्या न भवतीति तद्विषयभूतं द्विचन्द्रत्वमपि मिथ्यैव। दोषोह्ययथार्थज्ञानहेतुः। तथा ब्रह्मज्ञानमविद्यामूलत्वेन बाधकज्ञानरहितमपि स्वविषयेण ब्रह्मणा सह मिथ्यैव—इति। भवन्ति चात्र प्रयोगाः, विवादाध्यासितं ब्रह्म मिथ्या, अविद्यावत उत्पन्नज्ञानविषयत्वात्, प्रपञ्चवत्। ब्रह्म मिथ्या, ज्ञानविषयत्वात्, प्रपञ्चवत्। ब्रह्म मिथ्या, असत्यहेतुजन्यज्ञानविषयत्वात्, प्रपञ्चवदेव।

न च वाच्यं स्वाप्नस्य हस्त्यादिविज्ञानस्यासत्यस्य परमार्थशुभाशुभप्रतिपत्तिहेतुभाववदविद्यामूलत्वेनासत्यस्यापि शास्त्रस्य २ परमार्थभूतब्रह्मविषयप्रतिपत्तिहेतुभावो न ३ विरुद्धः—इति, स्वाप्नज्ञानस्यासत्यत्वाभावात्। तत्र हि विषयाणामेव मिथ्यात्वम्; तेषामेव हि बाधो दृश्यते; न ज्ञानस्य, न हि मया स्वप्नवेलायामनुभूतं ज्ञानमपि न विद्यत इति कस्यचिदपि प्रत्ययो जायते। दर्शनं तु विद्यते, अर्था न सन्तीति हि बाधकप्रत्ययः। मायाविनो मन्त्रौषधादिप्रभवं मायामयं ज्ञानं सत्यमेव प्रीतेर्भयस्य च हेतुः; तत्रापि ज्ञानस्याबाधितत्वात्। विषयेन्द्रियादिदोषजन्यं रज्ज्वादौ सर्पादिविज्ञानं सत्यमेव, भयादिहेतुः। सत्यैवादष्टेऽपि स्वात्मनि सर्पसन्निधानादष्टबुद्धिः, सत्यैव शंकाविषबुद्धिर्मरणहेतुभूता। वस्तुभूत एव जलादौ मुखादिप्रतिभासो वस्तुभूतमुखगतविशेषनिश्चयहेतुः। एषां संवेदनानामुत्प-

१ द्वयोरविद्यामूलत्वेऽपीति पाठः। २ परमार्थब्रह्म पाठः। ३ विरुध्यते पाठः।

त्तिमत्त्वादर्थक्रियाकारित्वाच्च सत्यत्वमवसीयते। हस्त्यादीनाम्, [1] अभावेऽपि कथं तद्बुद्धयस्सत्या भवन्तीति चेत्, नैतत्, बुद्धीनां सालम्बनत्वमात्रनियमात्॥

अर्थस्य प्रतिभासमानत्वमेव ह्यालम्बनत्वेऽपेक्षितम्; प्रतिभासमानता चास्त्येव दोषवशात्। स तु बाधितोऽसत्य इत्यवसीयते। अबाधिता हि बुद्धिस्सत्यैवेत्युक्तम्॥

रेखया वर्णप्रतिपत्तावपि नासत्यात्सत्यबुद्धिः, रेखायास्सत्यत्वात्। ननु—वर्णात्मना प्रतिपन्ना रेखा वर्णबुद्धिहेतुः। वर्णात्मता त्वसत्या। नैवम्, वर्णात्मताया असत्याया उपायत्वायोगात्। असतो निरुपाख्यस्य ह्युपायत्वं न दृष्टमनुपपन्नंच। अथ तस्यां वर्णबुद्धेरुपायत्वम्; एवं तर्ह्यसत्यात्सत्यबुद्धिर्न स्याद्बुद्धेस्सत्यत्वादेव। उपायोपेययोरेकत्वप्रसङ्गश्च, उभयोर्वर्णबुद्धित्वाविशेषात्। रेखाया अविद्यमानवर्णात्मनोपायत्वे चैकस्यामेव रेखायामविद्यमानसर्ववर्णात्मकत्वस्य सुलभत्वादेकरेखादर्शनात्सर्ववर्णप्रतिपत्तिस्स्यात्। अथ पिण्डविशेषे देवदत्तादिशब्दसंकेतवच्चक्षुर्ग्राह्यरेखाविशेषे श्रोत्रग्राह्यवर्णविशेषसंकेतवशाद्रेखाविशेषो वर्णविशेषबुद्धिहेतुरिति। हन्त तर्हि सत्यादेव सत्यप्रतिपत्तिः, रेखायास्संकेतस्य च सत्यत्वात्, रेखागवयादपि सत्यगवयबुद्धिस्सादृश्यनिबन्धना, सादृश्यं च सत्यमेव॥

न चैकरूपस्य शब्दस्य नादविशेषेणार्थभेदबुद्धिहेतुत्वेऽप्यसत्यात्सत्यप्रतिपत्तिः, नानानादाभिव्यक्तस्यैकस्यैव शब्दस्य तत्तन्नादाभिव्यङ्ग्यस्वरूपेणार्थविशेषैस्सह संबन्धग्रहणवशादर्थभेदबुद्ध्युत्पत्तिहेतुत्वात्। शब्दस्यैकरूपत्वमपि न साधीयः, गकारादेर्बोधकस्यैव श्रोत्रग्राह्यत्वेन शब्दत्वात्। अतोऽसत्याच्छास्त्रात्सत्यब्रह्मविषयप्रतिपत्तिर्दुरुपपादा॥

ननु न शास्त्रस्य गगनकुसुमवदसत्यत्वम्; प्रागद्वैतज्ञानात्सद्बुद्धिबोध्यत्वात्। उत्पन्ने तत्त्वज्ञाने ह्यसत्यत्वं शास्त्रस्य। न तदा

१ अभावे कथं॰ पा॰।

शास्त्रं निरस्तनिखिलभेदचिन्मात्रब्रह्मज्ञानोपायः । यदोपायस्तदा अस्त्येव शास्त्रम्, अस्तीतिबुद्धेः। नैवम् ,असति शास्त्रे, अस्ति शास्त्रमिति बुद्धेर्मिथ्यात्वात्। ततः किम् ? इदं ततः ; मिथ्याभूतशास्त्रजन्यज्ञानस्य मिथ्यात्वेन तद्विषयस्यापि ब्रह्मणो मिथ्यात्वम् ; यथा धूमबुद्ध्या गृहीतबाष्पजन्याग्निज्ञानस्य मिथ्यात्वेन तद्विषयस्याग्नेरपि मिथ्यात्वम्। पश्चात्तनबाधादर्शनञ्चासिद्धम् ; शून्यमेव तत्त्वमितिवाक्येन तस्यापि बाधदर्शनात्। तत्तु भ्रान्तिमूलमिति चेत्,एतदपि भ्रान्तिमूलमिति त्वयैवोक्तम्। पाश्चात्यबाधादर्शनं तु तस्यैवेत्यलमप्रतिष्ठितकुतर्कपरिहृतेन ॥

यदुक्तम्—वेदान्तवाक्यानि निर्विशेषज्ञानैकरसवस्तुमात्रप्रतिपादनपराणि, "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्येवमादीनि—इति तदयुक्तम्, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपादनमुखेन सच्छब्दवाच्यस्य परस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वम्, जगन्निमित्तत्वम्, सर्वज्ञता, सर्वशक्तियोगः, सत्यसङ्कल्पत्वम्, सर्वान्तरत्वम्, १ सर्वाधारत्वम्, सर्वनियमनमित्याद्यनेककल्याणगुणविशिष्टताम्, कृत्स्नस्य जगतस्तदात्मकतां च प्रतिपाद्य, एवंभूतब्रह्मात्मकस्त्वमसीति श्वेतकेतुं प्रत्युपदेशाय प्रवृत्तत्वात्प्रकरणस्य। प्रपञ्चितश्चायमर्थो वेदार्थसंग्रहे। अत्राप्यारम्भणाधिकरणे निपुणतरमुपपादयिष्यते ॥

(परविद्यायास्सविशेषत्व व्यवस्थापनम्)

२ "अथ परा यया तदक्षरम्" इत्यत्रापि प्राकृतान् हेयगुणान् प्रतिषिध्य नित्यत्वविभुत्वसूक्ष्मत्वसर्वगतत्वाव्ययत्वभूतयोनित्वसार्वज्ञ्यादिकल्याणगुणयोगः परस्य ब्रह्मणः प्रतिपादितः ॥

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यत्रापि सामानाधिकरण्यस्यानेकविशेषणविशिष्टैकार्थाभिधानव्युत्पत्त्या न निर्विशेषवस्तुसिद्धिः। प्रवृत्तिनिमित्तभेदेनैकार्थ ३ वृत्तित्वं सामानाधिकरण्यम्। तत्र सत्यज्ञानादिपदमुख्यार्थैर्गुणैस्तत्तद्गुणविरोध्याकारप्रत्यनीकाकारैर्वैकस्मिन्नेवार्थे पदानां प्रवृत्तौ निमित्तभेदोऽवश्याश्रयणीयः। इयांस्तु विशेषः

१ सर्वाधारता पाठः। २ मुण्ड १ मु० १ ख० ५ वा०। ३ वृत्तित्वंहि।

एकस्मिन् पक्षे पदानां मुख्यार्थता; अपरस्मिंश्च तेषां लक्षणा। न चाज्ञानादीनां प्रत्यनीकता वस्तुस्वरूपमेव; एकेनैव पदेन स्वरूपं प्रतिपन्नमिति पदान्तरप्रयोगवैयर्थ्यात्। तथा सति सामानाधिकरण्यासिद्धिश्च, एकस्मिन् वस्तुनि वर्तमानानां पदानां निमित्तभेदानाश्रयणात्। न च, एकस्यैवार्थस्य विशेषणभेदेन विशिष्टताभेदादनेकार्थत्वं पदानां सामानाधिकरण्यविरोधि; एकस्यैव वस्तुनोऽनेकविशेषणविशिष्टताप्रतिपादनपरत्वात्सामानाधिकरण्यस्य, १"भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिस्सामानाधिकरण्यम्" इति हि शाब्दिकाः॥

यदुक्तम्, एकमेवाद्वितीयमित्यत्राद्वितीयपदं गुणतोपि सद्वितीयतां न सहते; अतस्सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन कारणवाक्यानामद्वितीयवस्तुप्रतिपादनपरत्वमभ्युपगमनीयम्; कारणतयोपलक्षितस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणो लक्षणमिदमुच्यते "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति। अतो लिलक्षयिषितं ब्रह्म निर्गुणमेव; अन्यथा २"निर्गुणम्"३ निरञ्जनम् इत्यादिभिर्विरोधश्च—इति तदनुपपन्नं जगदुपादानस्य ब्रह्मणस्स्वव्यतिरिक्ताधिष्ठात्रन्तरनिवारणेन विचित्र शक्तियोगप्रतिपादनपरत्वादद्वितीयपदस्य। तथैव विचित्रशक्तियोगमेवावगमयति—४ "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" इत्यादि। अविशेषेणाद्वितीयमित्युक्ते निमित्तान्तर मात्रनिषेधः कथं ज्ञायतइति चेत्, सिसृक्षोर्ब्रह्मण उपादानकारणत्वं "सदेव सोम्येदमग्रआसीदेकमेव" इति प्रतिपादितम्। कार्योत्पत्तिस्वाभाव्येन बुद्धिस्थं निमित्तान्तरमिति तदेवाद्वितीयपदेन निषिध्यत इत्यवगम्यते। सर्वनिषेधे हि स्वाभ्युपगतास्सिषाधयिषिता नित्यत्वादयश्च निषिद्धास्स्युः। सर्वशाखाप्रत्ययन्यायश्चात्र * भवतो विपरीतफलः, सर्वशाखासु कारणान्वयिनां सर्वज्ञत्वादीनां गुणाना-

* अत्र निर्गुणवादे, अत्रभवत इत्युपालम्भो वा। सर्वशाखाप्रत्ययन्यायो ऽनुक्तगुणस्वीकार फलः, ननूक्तगुणत्यागफल इति त्वत्पक्ष विपरीतफल इत्यर्थः।

१ कैयटे वृद्धयाह्निके। २ मन्त्रिकोपनिषत्। ३ श्वे० ६ अ० १९ वा०। ४ छा० ६ प्र० २ ख० ३ वा०

मत्रोपसंहारहेतुत्वात् । अतः कारणवाक्यस्वभावादपि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यनेन सविशेषमेव प्रतिपाद्यत इति विज्ञायते ॥

(निर्गुण सगुण वाक्ययोर्विषयविभागेनाविरोधः)

न च निर्गुणवाक्यविरोधः, ÷ प्राकृतहेयगुणविषयत्वात्तेषां "निर्गुणं" 'निरञ्जनं" "निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" इत्यादीनाम् । ज्ञानमात्रस्वरूपवादिन्योऽपि श्रुतयो ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपतामभिदधति; न तावता निर्विशेषज्ञानमात्रमेव तत्त्वम्, ज्ञातुरेव ज्ञानस्वरूपत्वात् । ज्ञानस्वरूपस्यैव तस्य ज्ञानाश्रयत्वं मणिद्युमणिदीपादिवद्युक्तमेवेत्युक्तम् । ज्ञातृत्वमेव हि सर्वाश्रुतयो वदन्ति १ "यस्सर्वज्ञस्सर्ववित्" "तदैक्षत" २ सेयं देवतैक्षत" ३ "स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति" ४ "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" ५ "ज्ञाज्ञौद्वावजावीशनीशौ" ६ "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् । पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्" ७ "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" ८ "एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः"— इत्याद्याश्श्रुतयो ज्ञातृत्वप्रमुखान् कल्याणगुणान् ज्ञानस्वरूपस्यैव ब्रह्मणस्स्वाभाविकान्वदन्ति, समस्तहेयरहिततां च । निर्गुणवाक्यानां सगुणवाक्यानां च विषयमपहतपाप्मेत्याद्यपिपासइत्यन्तेन हेयगुणान् प्रतिषिद्ध्य "सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः" इति ब्रह्मणः कल्याणगुणान्विदधतीयं

÷ यद्ब्रह्मणो गुणशरीरविकारजन्म कर्मादि गोचरविधिप्रतिषेधवाचः । अन्योऽन्यभिन्नविषया न विरोधगन्धमर्हन्ति तत्रविधयः प्रतिषेधवाच्याः ॥

१ मुण्ड०१ मु० १ ख० ६ वा० । २ छा० ६ प्र० ३ ख० २ वा० । ३ ऐतरे१ ख० १ वा० ।४ कठ०२ अ०२ वल्ली १३ वा० । ५ श्वे०१ अ०६वा० ६ श्वे० ६ अ० ७ वा० । ७ श्वे० ६ अ० ८ वा० । ८ छा० ८ प्र० १ ख० ५ वा० ।

श्रुतिरेव विविनक्तीति सगुणनिर्गुणवाक्ययोर्विरोधाभावादन्यतरस्य मिथ्याविषयताश्रयणमपि नाशङ्कनीयम् ॥

(आनन्दवल्ल्यास्सगुणविषयत्वम्)

१ "भीषाऽस्माद्वातः पवते" इत्यादिना ब्रह्मगुणानारभ्य २ "ते ये शतम्" इत्यनुक्रमेण क्षेत्रज्ञानन्दातिशयमुक्त्वा ३ "यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" इति ब्रह्मणः कल्याणगुणानन्त्यमत्यादरेण वदतीयं श्रुतिः ॥

४ "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति ब्रह्मवेदनफलमवगमयद्वाक्यं परस्य विपश्चितो ब्रह्मणो गुणानन्त्यं ब्रवीति। विपश्चिता ब्रह्मणा सह सर्वान् कामान् समश्नुते। काम्यन्त इति कामाः कल्याणगुणाः। ब्रह्मणा सह तद्गुणान् सर्वानश्नुते। इत्यर्थः। दहरविद्यायां ५ "तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" इतिवद्गुणप्राधान्यं वक्तुं सह शब्दः। फलोपासनयोः प्रकारैक्यम् ६ "यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" इति श्रुत्यैव सिद्धम् ॥

(ज्ञेयत्वज्ञातृत्वनिषेधनिरासः)

७ "यस्यामतं तस्य मतम्, अविज्ञातं विजानताम्" इति ब्रह्मणो ज्ञानाविषयत्वमुक्तं चेत्; ८ "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" ९ "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इति ज्ञानान्मोक्षोपदेशो न स्यात्। १० "असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुः" इति ब्रह्मविषयज्ञानासद्भावसद्भावाभ्यामात्मनाशमात्मसत्तां च वदति। अतो ब्रह्मविषयवेदनमेवा११पवर्गोपायं सर्वाश्श्रुतयो विदधति। ज्ञानं चोपासनात्मकम्। उपास्यंच ब्रह्म सगुणमित्युक्तम्।

---

१ २ तै० आन० ८ अनु० १ वा०। ३ तै० आन० ९ अनु० १ वा०। ४ तै० आन० १ अनु० २ वा०। ५ छा० ८ प्र० १ ख० १ वा०। ६ छा० ३ प्र० १४ ख० १ वा०। ७ केनोप० २ ख० ३ वा०। ८ तै०-आन० १ अनु० १ वा०। ९ मुण्ड ३ मु० २ ख० ९ वा०। १० तै० आन० ६ अनु० १ वा०। ११ अपवर्गाय सर्वा इति पाठः।

१ "यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह" इति ब्रह्मणोऽनन्तस्या २ परिच्छिन्नगुणस्य वाङ्मनसयोरेतावदिति परिच्छेदायोग्यत्वश्रवणेन ब्रह्म तावदिति ब्रह्मपरिच्छेदज्ञानवतां ब्रह्माविज्ञातममतमित्युक्तम्, अपरिच्छिन्नत्वाद्ब्रह्मणः । अन्यथा "यस्यामतं तस्य मतम्" "विज्ञातमविजानताम्" इति मतत्वविज्ञातत्ववचनं तत्रैव विरुध्यते ॥

यत्तु—३ "न दृष्टेर्द्रष्टारं—न मतेर्मन्तारम्" इति श्रुतिर्दृष्टेर्मतेर्व्यतिरिक्तं द्रष्टारं मन्तारं च प्रतिषेधति—इति; तदागन्तुकचैतन्यगुणयोगितया ज्ञातुरज्ञानस्वरूपतां कुतर्कसिद्धां मत्वा न तथाऽऽत्मानं पश्येः, न मन्वीथाः ; अपि तु द्रष्टारं मन्तारमप्यात्मानं दृष्टिमतिरूपमेव पश्येरित्यभिदधातीति परिहृतम् । अथवा दृष्टेर्द्रष्टारं मतेर्मन्तारं जीवात्मानं प्रतिषिध्य सर्वभूतान्तरात्मानं परमात्मानमेवोपास्स्वेति वाक्यार्थः; अन्यथा ४ "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" इत्यादिज्ञातृत्वश्रुतिविरोधश्च ॥

(आनन्दत्वानन्दित्वयोरविरोधः, भेद तन्निषेध श्रुतीनामविरोधत्वसमर्थनम्)

५ "आनन्दो ब्रह्म" इति आनन्दमात्रमेव ब्रह्मस्वरूपं प्रतीयत इति यदुक्तम्;तज्ज्ञानाश्रयस्य ब्रह्मणो ज्ञानं स्वरूपमिति वदतीति परिहृतम्। ज्ञानमेव ह्यनुकूलमानन्द इत्युच्यते । ६ "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यानन्दरूपमेव ज्ञानं ब्रह्मेत्यर्थः। अत एव भवतामेकरसता । अस्य ज्ञानस्वरूपस्यैव ज्ञातृत्वमपि श्रुतिशतसमधिगतमित्युक्तम् । तद्वदेव ७ " स एको ब्रह्मण आनन्दः " ७ " आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् " इति व्यतिरेकनिर्देशाच्च नाऽनन्दमात्रं ब्रह्म; अपि त्वानन्दि । ज्ञातृत्वमेव ह्यानन्दित्वम् ॥

१ तै-आन० ६ अनु० १ वा० । २ अपरिमितगुणस्य पा० ३ बृ० ५ अ० ४ ब्रा० २ वा० । ४ बृ० ४ अ० ४ ब्रा० १४ वा० । ५ तै-भृ० ६ अनु०१वा० । ६ बृ० ५ अ० ९ ब्रा० २८ वा० । ७ तै०आन.८ अनु४ वा० । ८ तै-आन० ६ अनु० १ वा० ।

यदिदमुक्तम्—यत्र[1] हि द्वैतमिव भवति" [2] "नेह नानाऽस्ति किञ्चन। मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" [3] "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" इति भेदनिषेधो बहुधा दृश्यत इति; तत्कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मकार्यतया तदन्तर्यामिकतया च तदात्मकत्वेनैक्यात् , तत्प्रत्यनीकनानात्वं प्रतिषिद्ध्यते । न पुनः "बहुस्यां प्रजायेय" इति बहुभवनसङ्कल्पपूर्वकं ब्रह्मणो नानात्वं श्रुतिसिद्धं प्रतिषिध्यत इति परिहृतम्। नानात्वनिषेधादियमपरमार्थविषयेति चेत् ; न,प्रत्यक्षादिसकलप्रमाणानवगतं नानात्वं दुरारोहं ब्रह्मणः प्रतिपाद्य तदेव बाध्यत इत्युपहास्यमिदम् ॥

[4] "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति" इति ब्रह्मणि नानात्वं पश्यतो भयप्राप्तिरिति यदुक्तम्; तदसत् [5] "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" इति तन्नानात्वानुसन्धानस्य शान्तिहेतुत्वोपदेशात्। तथा हि सर्वस्य जगतस्तदुत्पत्तिस्थितिलयकर्मतया तदात्मकत्वानुसंधानेनात्र शान्तिर्विधीयते। अतो यथावस्थितदेवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरादिभेदभिन्नं जगत् ब्रह्मात्मकमित्यनुसंधानस्य शान्तिहेतुतया अभयप्राप्तिहेतुत्वेन न भयहेतुत्व प्रसङ्गः। एवं तर्हि "अथ तस्य भयं भवति" इति किमुच्यते; इदमुच्यते, [6] "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति इत्यभयप्राप्तिहेतुत्वेन ब्रह्मणि या प्रतिष्ठाऽभिहिता; तस्या विच्छेदे भयं भवतीति। यथोक्तं महर्षिभिः—

[7] "यन्मुहूर्तं क्षणं वाऽपि वासुदेवो न चिन्त्यते।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिस्सा च विक्रिया ॥"

इत्यादि। ब्रह्मणि प्रतिष्ठाया अनन्तरमवकाशो विच्छेद एव ॥

---

१ बृ० ४ अ० ३ ब्रा० १४ वा०। २ बृ० ६ अ० ४ ब्रा० १६ वा०। ३ बृ० ४ अ० ४ ब्रा० १४ वा० ६ तै०आन० ७ अनु० २ वा०। ५ छा० ३ प्र० १४ ख० १ वा०। ६ तै०आन० ७ अनु० २ वा०। ७ गारुड पु० पूर्वख०२२२-२२।

यदुक्तम् १ "न स्थानतोऽपि" इति सर्वविशेष रहितं २ ब्रह्मेति च वक्ष्यतीति; तन्न, सविशेषं ब्रह्मेत्येव हि तत्र वक्ष्यति। ३ "माया-मात्रं तु" इति च स्वाप्नानामप्यर्थानां जागरितावस्थानुभूतपदार्थवैधर्म्येण मायामात्रत्वमुच्यत ४ इति जागरितावस्थानुभूतानामिव पारमार्थिकत्वमेव वक्ष्यति ॥

(पुराणघट्टः, सविशेषपर स्मृति पुराणवचनानि)

स्मृतिपुराणयोरपि निर्विशेषज्ञानमात्रमेव परमार्थोऽन्यदपारमार्थिकमिति प्रतीयत इति यदभिहितम्। तदसत्—

५ "योमामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।"
६ "मत् स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
न च मत् स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममाऽत्मा भूतभावनः ॥"
७ "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलस्तथा ॥
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥"
८ "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥"
९ 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥"
१० स सर्वभूतप्रकृतिं विकारान् गुणादिदोषांश्च मुनेव्यतीतः।
अतीतसर्वावरणोऽखिलात्मा तेनास्तृतं यद्भुवनान्तराले॥
समस्त कल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशाद्धृत ११भूतसर्गः।
इच्छागृहीताभिमतोरुदेहस्संसाधिताशेषजगद्धितोऽसौ ॥

---

१ शारी० ३ अ० ३ पा० ११ सू०। २ ब्रह्मेति वक्ष्यति पा०। ३ शारी० ३ अ० २ पा० ३ सू०। ४ इति पारमार्थिकत्व पा०। ५ गी० १० अ० ३ श्लोक। ६ गीता ९ अ० ४-५ श्लोक। ७ गीता ७ अ० ६-७ श्लोक। ८ गीता १० अ० ४२ श्लोक। ९ गी० १५ अ० १७,१८ श्लोक। १० वि०पु० ६ अं० ५ अ० ८३, ८४, ८५, ८६, ८७। ११ भूतवर्गं इति च पा०।

तेजोबलैश्वर्यमहावबोधसुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः ।
परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयस्सन्ति परावरेशे ॥
स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपोऽव्यक्तस्वरूपः प्रकटस्वरूपः ।
सर्वेश्वरस्सर्वदृक्सर्ववेत्ता समस्तशक्तिः परमेश्वराख्यः ॥
संज्ञायते येन तदस्तदोषं शुद्धं परं निर्मल मेकरूपम् ।
संदृश्यते वाऽप्यधिगम्यते वा तज्ज्ञानमज्ञानमतोऽन्यदुक्तम् ।
१ " शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते ।
मैत्रेय भगवच्छब्दस्सर्वकारणकारणे ॥
संभर्तेति तथा भर्ता भकारोऽर्थद्वयान्वितः ।
नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने ॥
ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसश्श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥
वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि ।
स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः ॥"
२ "ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥"
३ "एवमेष महाशब्दो मैत्रेय भगवानिति ।
परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः ॥
तत्र पूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषासमन्वितः ।
शब्दोऽयं नोपचारेण ह्यन्यत्र ह्युपचारतः ॥"
४ "समस्ताश्शक्तयश्चैता नृप यत्र प्रतिष्ठिताः ।
तद्विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्धरेर्महत् ॥
समस्तशक्ति रूपाणि तत्करोति जनेश्वर ।
देवतिर्यङ्मनुष्याख्याचेष्टावन्ति स्वलीलया ॥
जगतामुपकाराय न सा कर्मनिमित्तजा ।
चेष्टा तस्याप्रमेयस्य व्यापिन्यव्याहतात्मिका ॥"

---

१ वि० पु० ६ अं० ५ अ० ७२, ७३, ७४, ७५ श्लोक । २ वि०पु० ६अं० ५ अ० ७६ श्लोक । ३ वि० पु० ६ अं० ५ अ० ७६,७७ श्लोक ।
४ वि० पु० ६ अं० ७ अ० ७०, ७१, ७२ श्लोक ।

१ "एवंप्रकारममलं नित्यं व्यापकमक्षयम् ।
समस्तहेयरहितं विष्ण्वाख्यं परमं पदम् ॥"
२ "परः पराणां परमः परमात्माऽऽत्मसंस्थितः ।
रूपवर्णादिनिर्देशविशेषणविवर्जितः ॥
अपक्षयविनाशाभ्यां परिणामर्द्धिजन्मभिः ।
वर्जितश्शक्यते वक्तुं यस्सदाऽस्तीति केवलम् ॥
सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः ।
ततस्स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥
३ तद्ब्रह्म परमं नित्यमज ४ मक्षरमव्ययम् ।
एकस्वरूपं च सदा हेयाभावाच्च निर्मलम् ॥
तदेव सर्वमेवैतद्व्यक्ताव्यक्तस्वरूपवत् ।
तथा पुरुषरूपेण कालरूपेण च स्थितम् ॥"
५ "प्रकृतिर्या मयाऽऽख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी ।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि ॥
परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः ।
विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते ॥
६ "द्वे रूपे ब्रह्मणस्तस्य मूर्तं चामूर्तमेव च ।
क्षराक्षरस्वरूपे ते सर्वभूतेषु च स्थिते ॥
अक्षरं तत्परं ब्रह्म क्षरं सर्वमिदं जगत् ।
एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा ।
परस्य ब्रह्मणश्शक्तिस्तथेदमखिलं जगत् ॥"
७ " विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा ।
अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥
यया क्षेत्रज्ञशक्तिस्सा वेष्टिता नृप सर्वगा ।

---

१ विष्णु०पु० १ अं० २२ अ० ५३ श्लोक । २ वि० पु० १ अं० २ अ० १०, ११, १२ श्लोक । ३विष्णु० पु० १ अं० २अ० १३,१४ श्लो० ४ अक्षय पा० । ५ वि० पु० ६ अं० ४ अ० ३९, ४० श्लोक । ६ वि० पु० १ अं० २२ अ० ५५, ५६ ५७ श्लोक । ७ वि० पु० ६ अं० ७ अ० ६१, ६२, ६३ श्लोक ।

संसारतापानखिलानवाप्नोत्यतिसन्ततान् ॥
तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता ।
सर्वभूतेषु भूपाल तारतम्येन वर्तते ॥"
१ "प्रधानं च पुमांश्चैव सर्वभूतात्मभूतया ।
विष्णुशक्त्या महाबुद्धे वृतौ संश्रयधर्मिणौ ॥
२ तयोस्सैव पृथग्भावकारणं संश्रयस्य च ।
यथा सक्तं जले वातो बिभर्ति कणिकाशतम् ।
शक्तिस्साऽपि तथा विष्णोः प्रधानपुरुषात्मनः ॥"
३ "तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम् ।
आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवत् ॥"

इत्यादिना परं ब्रह्म स्वभावत एव निरस्तनिखिलदोषगन्धं समस्तकल्याणगुणात्मकं जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारान्तः प्रवेशनियमनादिलीलं प्रतिपाद्य कृत्स्नस्य चिदचिद्वस्तुनस्सर्वावस्थावस्थितस्य, पारमार्थिकस्यैव परस्य ब्रह्मणश्शरीरतया रूपत्वम्, शरीररूपतन्वंशशक्तिविभूत्यादिशब्दैस्तत्तच्छब्दसामानाधिकरण्येन चाभिधाय-तद्विभूतिभूतस्य चिद्वस्तुन स्वरूपेणावस्थितिमचिन्मिश्रतया क्षेत्रज्ञरूपेण स्थितिं चोक्त्वा, क्षेत्रज्ञावस्थायां पुण्यपापात्मककर्मरूपाविद्यावेष्टितत्वेन स्वाभाविकज्ञानरूपत्याननुसन्धानं ४ मच्छिद्र पार्थाकारतयाऽनुसन्धानं च प्रतिपादितमिति परं ब्रह्म सविशेषम्; तद्विभूतिभूतं जगदपि पारमार्थिकमेवेति ज्ञायते ॥

(परोक्तस्मृतिपुराणवचनानांसमीचीनार्थ कथनम्)

"प्रत्यस्तमितभेदम्" इत्यत्र देवमनुष्यादिप्रकृतिपरिणामविशेष संसृष्टस्याप्यात्मनस्स्वरूपं तद्गतभेदरहितत्वेन तद्भेदवाचिदेवादि-

१ विष्णु० पु० २ अं० ७ अ० २९श्लोक । २ वि० पु० २ अं० ७ अ० ३० ३१ श्लोक । ३ वि०पु० १ अं० २२ अ० ६० श्लोक । ४ अचिद्र पतदर्था पाठः ।

शब्दागोचरं ज्ञानसत्तैकलक्षणं स्वसंवेद्यं योगयुङ्मनसो न गोचर-इत्युच्यतइति। अनेन न प्रपञ्चापलापः। कथमिदमवगम्यत इति चेत्; तदुच्यते अस्मिन् प्रकरणे संसारैकभेषजतया योगमभिधाय योगावयवान् प्रत्याहारपर्यन्तांश्चोक्त्वा, धारणासिद्ध्यर्थं शुभाश्रयं वक्तुं परस्य ब्रह्मणो विष्णोश्शक्तिशब्दाभिधेयं रूपद्वयं मूर्तामूर्त-विभागेन प्रतिपाद्य, तृतीयशक्तिरूपकर्माख्याविद्यावेष्टितम् अचिद्वि-शिष्टं क्षेत्रज्ञं मूर्ताख्यविभागं भावनात्रयान्वयादशुभमित्युक्त्वा, द्वितीयस्य कर्माख्याविद्याविरहिणोऽचिद्वियुक्तस्यज्ञानैकाकारस्यामू-र्ताख्यविभागस्य निष्पन्नयोगिध्येयतया योगयुङ्मनसोनालम्बनतया स्वतश्शुद्धिविरहाच्च शुभाश्रयत्वं प्रतिषिध्य, परशक्तिरूपमिदममूर्तम-परशक्तिरूपं क्षेत्रज्ञाख्यमूर्तं च परशक्तिरूपस्याऽत्मनः क्षेत्रज्ञतापत्ति-हेतुभूततृतीयशक्त्याख्यकर्मरूपाविद्या चेत्येतच्छक्तित्रयाश्रयो भगवद-साधारण "मादित्यवर्णमि" त्यादिवेदान्तसिद्धं मूर्तरूपं शुभा-श्रयइत्युक्तम्। अत्र परिशुद्धात्मस्वरूपस्य शुभाश्रयतानर्हतां वक्तुं "प्रत्यस्तमितभेदं यत्" इत्युच्यते। तथाहि—

> १ "न तद्योगयुजा शक्यं नृप चिन्तयितुं यतः।
> द्वितीयं विष्णुसंज्ञस्य योगिध्येयं परं पदम्॥
> समस्ताश्शक्तयश्चैता नृप यत्र प्रतिष्ठिताः।
> तद्विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्धरेर्महत्॥"

इति च वदति। तथा चतुर्मुखसनकसनन्दनादीनां जगदन्त-र्वर्तिनामविद्यावेष्टितत्वेन शुभाश्रयतानर्हतामुक्त्वा, बद्धानामेव पश्च-योगेन उद्भूतबोधानां स्वस्वरूपापन्नानां च स्वतश्शुद्धिविरहाद्भगवता शौनकेन शुभाश्रयता निषिद्धा—

> २ "आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिताः।
> प्राणिनः ३ कर्मजनितसंसारवशवर्तिनः॥

१ विष्णु० पु० ६ अं० ७ अ० ६९, ६६, ७० श्लो०। २ भविष्यत्पुराणा-न्तर्गतश्रीविष्णुधर्मे० १०४, अ० २३, श्लो०। ३ कर्मजनिताः इत्यपि० पा०।

१ यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः ।
अविद्यान्तर्गतास्सर्वे ते हि संसारगोचराः ॥
पश्चादुद्भूतबोधाश्च ध्याने नैवोपकारकाः ।
नैसर्गिको न वै बोधस्तेषामप्यन्यतो यतः ।
तस्मात्तदमलं ब्रह्म निसर्गादेव बोधवत् ॥ "—

इत्यादिना परस्य ब्रह्मणो विष्णोस्स्वरूपं स्वासाधारणमेव शुभाश्रय इत्युक्तम् । अतोऽत्र न भेदापलापः प्रतीयते ॥

" ज्ञानस्वरूपम् " इत्यत्रापि ज्ञानव्यतिरिक्तस्यार्थजातस्य कृत्स्नस्य न मिथ्यात्वं प्रतिपाद्यते, ज्ञानस्वरूपस्याऽत्मनो देवमनुष्याद्यर्थाकारेणावभासो भ्रान्तिरित्येतावन्मात्रवचनात् । न हि शुक्तिकाया रजततयाऽवभासो भ्रान्तिरित्युक्ते जगति कृत्स्नं रजतजातम्मिथ्या भवति । जगद्ब्रह्मणोस्सामानाधिकरण्येनैक्यप्रतीतेः, ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपस्यार्थाकारता भ्रान्तिरित्युक्ते सत्यर्थजातस्य कृत्स्नस्य मिथ्यात्वमुक्तं स्यादिति चेत्; तदसत्; अस्मिन् शास्त्रे परस्य ब्रह्मणो विष्णोर्निरस्ताज्ञानादिनिखिलदोषगन्धस्य समस्तकल्याणगुणात्मकस्य महाविभूतेः प्रतिपन्नतया तस्य भ्रान्तिदर्शनासम्भवात् । सामानाधिकरण्येनैक्यप्रतिपादनं च बाधासहमविरुद्धं चेत्यनन्तरमेवोपपादयिष्यते । अतोऽयमपि श्लोको नार्थस्वरूपस्य बाधकः ॥

(उपबृंहणविधि निरूपणम्)

तथाहि—२ "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्म " इति जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्मेत्यवसिते सति

१ भविष्यत्पुराणान्तर्गत श्रीविष्णुधर्मे १०४ अ० २४, २५, २६ श्लो० ।
२ तै० उ० भृगुवल्ल्याम्० १ अनु० ।

१ "इतिहासपुराणाभ्यां * वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति ॥"

इति शास्त्रेणार्थस्य इतिहासपुराणाभ्यामुपबृंहणं कार्यमिति विज्ञायते। उपबृंहणं नाम विदितसकलवेदतदर्थानां स्वयोगमहिमसाक्षात्कृत वेदतत्त्वार्थानां वाक्यैस्स्वावगतवेदवाक्यार्थव्यक्तीकरणम्। सकल २ शाखागतस्य वाक्यार्थस्याल्पभागश्रवणाद्दुरवगमत्वेन तेन विना निश्चयायोगादुपबृंहणं हि कार्यमेव ॥

(विष्णुपुराण प्राशस्त्यम्)

तत्र पुलस्त्यवसिष्ठवरप्रदानलब्धपरदेवतापारमार्थ्यज्ञानवतो भगवतः पराशरात्स्वावगतवेदार्थोपबृंहणमिच्छन्मैत्रेयः परिपप्रच्छ—

३ "सोऽहमिच्छामि धर्मज्ञ श्रोतुं त्वत्तो यथा जगत्।
बभूव भूयश्च यथा महाभाग भविष्यति ॥
यन्मयं च जगद्ब्रह्मन् यतश्चैतच्चराचरम्।
लीनमासीद्यथा यत्र लयमेष्यति यत्रच ॥" इत्यादिना ॥

अत्र ब्रह्मस्वरूपविशेषतद्विभूतिभेदप्रकारतदाराधन स्वरूपफलविशेषाश्च पृष्टाः। ब्रह्मस्वरूपविशेषप्रश्नेषु यतश्चैतच्चराचरमिति निमि-

* इतिहासेत्यादि श्लोके वेदशब्दो वेदान्तपरः, वेदोपबृंहणभूतेषु धर्मशास्त्रेतिहास पुराणेषु धर्म शास्त्राणि पूर्वभागोपबृंहणानि. इतिहासपुराणान्युपरितनभागोपबृंहणपराणीति हि विभागः। तत्र धर्मशास्त्रेषु ब्रह्मप्रतिपादनं— कर्मणां तदाराधनरूपत्व ज्ञापनार्थम्। इतिहास पुराणेषु कर्म प्रतिपादनं कर्मणां ब्रह्मोपासनाङ्गत्व ज्ञापनार्थम्। इतिहासस्य पुराणेभ्योऽभ्यर्हितत्वं विशेषः, अल्पाच्तरमिति पुराण शब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते, अभ्यर्हितं पूर्वं प्रयोक्तव्यमिति पूर्वनिपातितस्येतिहासस्याभ्यर्हितत्व प्रतीतेः ॥

१ भार—आदिप) १-२७३। २ शाखानुगतस्य॰) पा॰)। ३ विष्णु) पु॰ १ अं) १ अ॰ ४, ५ श्लो॰।

त्तोपादानयोः पृष्टत्वाद्यन्मयमित्यनेन सृष्टिस्थितिलयकर्मभूतं जगत्कि-मात्मकमिति पृष्टम्। तस्य चोत्तरं जगच्च स इति। इदं च तादा-त्म्यमन्तर्यामिरूपेणाऽऽत्मतया व्याप्तिकृतम्। न तु व्याप्यव्यापकयो-र्वस्त्वैक्यकृतम्। यन्मयमिति प्रश्नस्योत्तरत्वाज्जगच्च स इति सामानाधिकरण्यस्य यन्मयमिति मयडत्र न विकारार्थः, पृथक् प्रश्नवैयर्थ्यात्। नापि प्राणमयादिवत्स्वार्थिकः, जगच्च स इत्युत्तरा-नुपपत्तेः। तदा हि विष्णुरेवेत्युत्तरमभविष्यत्। अतः प्राचुर्यार्थ एव। १ "तत्प्रकृतवचने मयट्" इति मयट्। कृत्स्नं च जगत्तच्छरीरतया तत्प्रचुरमेव। तस्माद्यन्मयमित्यस्य प्रतिवचनं जगच्च स इति सामा-नाधिकरण्यं जगद्ब्रह्मणोश्शरीरात्मभावनिबन्धनमिति निश्चीयते। अन्यथा निर्विशेषवस्तुप्रतिपादनपरे शास्त्रेऽभ्युपगम्यमाने सर्वाण्ये-तानि प्रश्नप्रतिवचनानि न संगच्छन्ते। तद्विवरणरूपं कृत्स्नं च शास्त्रं न संगच्छते। तथाहि सति प्रपञ्चभ्रमस्य किमधिष्ठानमित्येवं रूपस्यैकस्य प्रश्नस्य निर्विशेषज्ञानमात्रमित्येवंरूपमेकमेवोत्तरं स्यात्। जगद्ब्रह्मणोरेकद्रव्यत्वपरे च सामानाधिकरण्ये सत्यसङ्कल्पत्वादि-कल्याणगुणैकतानता निखिलहेयप्रत्यनीकता च बाध्येत। सर्वाशु-भास्पदं च ब्रह्म भवेत्। आत्मशरीरभाव एवेदं सामानाधिकरण्यं मुख्यवृत्तमिति स्थाप्यते॥ अतो—

२ "विष्णोस्सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम्।
स्थितिसंयमकर्ताऽसौ जगतोऽस्य जगच्च सः॥"

इति संग्रहेणोक्तमर्थं "परः पराणाम्" इत्यारभ्य विस्तरेण वक्तुं परब्रह्मभूतं भगवन्तं विष्णुं स्वेनैव स्वरूपेणावस्थितम् "अवि-काराय" इति श्लोकेन प्रथमं प्रणम्य तमेव हिरण्यगर्भहरावतारशङ्कर-रूपत्रिमूर्तिप्रधानकालक्षेत्रज्ञसमष्टिव्यष्टिरूपेणावस्थितं च नमस्करोति। तत्र "ज्ञानस्वरूपम्" इत्ययं श्लोकः क्षेत्रज्ञव्यष्ट्यात्मनाऽवस्थितस्य परमात्मनस्स्वभावमाह। तस्मान्नात्र निर्विशेषवस्तुप्रतीतिः॥

१ अष्टा० ५ अ० ४ पा० २१ सू०। २ वि० पु० १ अं० १ अ० ३५ श्लो०।

यदि निर्विशेषज्ञानरूपब्रह्माधिष्ठानभ्रमप्रतिपादनपरं शास्त्रम्; तर्हि—

१"निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः।
कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते ॥"

इति चोद्यम्,

२"शक्तयस्सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः ॥
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता ॥"

इति परिहारश्च न घटते। तथाहि सति—निर्गुणस्य ब्रह्मणः कथं सर्गादिकर्तृत्वम्? न ब्रह्मणः पारमार्थिकस्सर्गः; अपि तु भ्रान्तिपरिकल्पितः—इति चोद्यपरिहारौ स्याताम्। उत्पत्त्यादिकार्यं सत्त्वादिगुणयुक्तापरिपूर्णकर्मवश्येषु दृष्टमिति सत्त्वादिगुणरहितस्य परिपूर्णस्याकर्मवश्यस्य कर्मसम्बन्धानर्हस्य कथं सर्गादिकर्तृत्वमभ्युपगम्यत इति चोद्यम्। दृष्टसकलविसजातीयस्य ब्रह्मणो यथोदितस्वभावस्यैव जलादिविसजातीयस्याग्न्यादेरौष्ण्यादिशक्तियोगवत्सर्वशक्तियोगो न विरुध्यत इति परिहारः ॥

"परमार्थस्त्वमेवैकः" इत्याद्यपि न कृत्स्नस्यापारमार्थ्यं वदति। अपि तु कृत्स्नस्य तदात्मकतया तद्व्यतिरेकेणावस्थितस्यापारमार्थ्यम्। तदेवोपपादयति—३"तवैष महिमा येन व्याप्तमेतच्चराचरम्" इति। येन त्वयेदं चराचरं व्याप्तम्; अतस्त्वदात्मकमेवेदं सर्वमिति त्वदन्यः कोऽपि नास्ति। अतस्सर्वात्मतया त्वमेवैकः परमार्थः। अत इदमुच्यते—तवैष महिमा, या सर्वव्याप्तिः - इति। अन्यथा तवैषा भ्रान्तिरिति वक्तव्यम्। जगतः पते त्वमित्यादीनां पदानां लक्षणा च स्यात्। लीलया महीमुद्धरतो भगवतो महावराहस्य स्तुतिप्रकरणविरोधश्च ॥

१. २. वि० पु० १ अं० ३ अ० १; २ श्लो०। ३ वि० पु० १ अं० ४ अ० ३८ श्लो०।

यतः कृत्स्नं जगत् ज्ञानात्मना त्वयाऽऽत्मतया व्याप्तत्वेन तव मूर्तम् । तस्मात्त्वदात्मकत्वानुभवसाधनयोगविरहिण एतत्केवलदेवमनुष्यादिरूपमिति भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्तीत्याह "यदेतद्दृश्यते" इति ॥

न केवलं वस्तुतस्त्वदात्मकं जगद्देवमनुष्याद्यात्मकमिति दर्शनमेव भ्रमः; ज्ञानाकाराणामात्मनां देवमनुष्याद्यर्थाकारत्वदर्शनमपि भ्रमइत्याह "ज्ञानस्वरूपमखिलम्" इति ॥

ये पुनर्बुद्धिमन्तो ज्ञानस्वरूपात्मविदस्सर्वस्य भगवदात्मकत्वानुभवसाधनयोगयोग्यपरिशुद्धमनसश्च । तं देवमनुष्यादिप्रकृतिपरिणामविशेषशरीररूपमिदमखिलंजगच्छरीरातिरिक्तज्ञानस्वरूपात्मकं त्वच्छरीरं च पश्यन्तीत्याह "ये तु ज्ञानविदः" इति । अन्यथा श्लोकानां पौनरुक्त्यम्, पदानां लक्षणा, अर्थविरोधः, प्रकरणविरोधः, शास्त्रतात्पर्यविरोधश्च ॥

(प्रकार्यद्वैत प्रकाराद्वैत विवेकः)

"तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयम्" इत्यत्र सर्वेष्वात्मसु ज्ञानैकाकारतया समानेषु सत्सु देवमनुष्यादिप्रकृतिपरिणामविशेषरूपपिण्डसंसर्गकृतमात्मसु देवाद्याकारेण द्वैतदर्शनमतथ्यमित्युच्यते । पिण्डगतमात्मगतमपि द्वैतंन प्रतिषिध्यते । देवमनुष्यादिविविधविचित्रपिण्डेषु वर्तमानं सर्वमात्मवस्तु सममित्यर्थः । यथोक्तं भगवता १"शुनि चैव श्वपाके च पण्डितास्समदर्शिनः" २"निर्दोषं हि समं ब्रह्म" इत्यादिषु; "तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽपि" इति देहातिरिक्ते वस्तुनि स्वपरविभागस्योक्तत्वात् ॥

"यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि" इत्यत्रापि नात्मैक्यं प्रतीयते; यदि मत्तः परः कोऽप्यन्य इत्येकस्मिन्नर्थे परशब्दान्यशब्दयोः प्रयोगायोगात् तत्र परशब्दस्स्वव्यतिरिक्तात्मवचनः । अन्यशब्दस्तस्यापि

---

१ गी० ५ अ० १८ श्लो० । २ गी० ५ अ० १९ श्लो०

ज्ञानैकाकारत्वादन्याकारत्वप्रतिषेधार्थः । एतदुक्तं भवति—यदि मद्व्यतिरिक्तः कोऽप्यात्मा मदाकारभूतज्ञानाकारादन्याकारोऽस्ति, तदाऽहमेवमाकारः; अयंचान्यादृशाकार इति शक्यते व्यपदेष्टुम्। नचैवमस्ति; सर्वेषां ज्ञानैकाकारत्वेन समानत्वादेवेति॥

"वेणुरन्ध्रविभेदेन" इत्यत्राप्याकारवैषम्यमात्मनां न स्वरूपकृतम्। अपितु देवादिपिण्डप्रवेशकृतमित्युपदिश्यते; नात्मैक्यम्। दृष्टान्ते चानेकरन्ध्रवर्तिनां वाय्वंशानां न स्वरूपैक्यम्; अपित्वाकारसाम्यमेव। तेषां वायुत्वेनैकाकाराणां रन्ध्रभेदनिष्क्रमणकृतो हि षड्जादिसंज्ञाभेदः। एवमात्मनां देवादिसंज्ञाभेदः। यथा तैजसाप्यपार्थिवद्रव्यांशभूतानां पदार्थानां तत्तद्द्रव्यत्वेनैक्यमेव;नस्वरूपैक्यम्। तथा वायवीयानामंशानामपि स्वरूपभेदोऽवर्जनीयः॥

"सोऽहं स च त्वम्" इति सर्वात्मनां पूर्वोक्तं ज्ञानाकारत्वं तच्छब्देन परामृश्य तत्सामानाधिकरण्येनाहं त्वमित्यादीनामर्थानां ज्ञानमेवाऽकार इत्युपसंहरन् देवाद्याकारभेदेनाऽऽत्मसु भेदमोहं परित्यजेत्याह। अन्यथा देहातिरिक्तात्मोपदेश्यस्वरूपे अहं त्वं सर्वमेतदात्मस्वरूपमिति भेदनिर्देशो न घटते। अहं त्वमादिशब्दानामुपलक्ष्येण सर्वमेतदात्मस्वरूपमित्यनेन सामानाधिकरण्यादुपलक्षणत्वमपि न संगच्छते। सोऽपि यथोपदेशमकरोदित्याह "तत्याज भेदं परमार्थदृष्टिः" इति। कुतश्चैष निर्णय इति चेत् देहात्मविवेकविषयत्वादुपदेशस्य। तच्च [1] "पिण्डः पृथग्यतः पुंसश्शिरः पाण्यादिलक्षणः" इतिप्रक्रमात्॥

"विभेदजनके ज्ञाने" इति च नात्मस्वरूपैक्यपरम्। नापि जीवपरयोः आत्मस्वरूपैक्यमुक्तरीत्या निषिद्धम्। जीवपरयोरपि स्वरूपैक्यं देहात्मनोरिव न संभवति। तथाच श्रुतिः [2]"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" [3]"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके

१ वि० पु० २ अं० १३ अ० ८९ श्लो० । २ मु० ३ मु० १ ख० १ वा० ।
३ कठ० ३ वल्ल्यां० १ वा० ।

गुहां प्रविष्टौ परमे परार्ध्ये। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥" १ "अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा" इत्याद्याः। अस्मिन्नपि शास्त्रे २ "स सर्वभूतप्रकृतिं विकारान् गुणादिदोषांश्च मुने व्यतीतः। अतीतसर्वावरणोऽखिलात्मा तेनाऽऽस्तृतं यद्भुवनान्तराले" ३ "समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ" ४. "परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयस्सन्ति परावरेशे" ५ "अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीया शक्तिरिष्यते। यया क्षेत्रज्ञशक्तिस्सा वेष्टिता नृप सर्वगा" इति भेदव्यपदेशात्, ६ "उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते" ७ "भेदव्यपदेशाच्चान्यः" ८ "अधिकं तु भेदनिर्देशात्" इत्यादिसूत्रेषु च ९ "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽऽत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति" १० "प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः" ११ "प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढः" इत्यादिभिरुभयोरन्योन्यप्रत्यनीकाकारेण स्वरूपनिर्णयात्।

(मुक्तौ जीवब्रह्मणोः स्वरूपैक्यनिरासः)

नापि साधनानुष्ठानेन निर्मुक्ताविद्यस्य परेण स्वरूपैक्यसंभवः अविद्याश्रयत्वयोग्यस्य तदनर्हत्वासंभवात्। यथोक्तम्—

१२ "परमात्मात्मनोर्योगः परमार्थ इतीष्यते।
मिथ्यैतदन्यद्द्रव्यं हि नैति तद्द्रव्यतां यतः ॥" इति ॥

मुक्तस्य तु तद्धर्मतापत्तिरेवेति भगवद्गीतासूक्तम्—

१३ "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥" इति ॥

---

१ यजुरारण्यके० ३ प्रश्ने० २० पं०। २ ३ वि० पु० ६ अं० ५ अ० ८३, ८४ श्लो०। ४ वि० पु० ६ अं० ५ अ० ८५ श्लो०। ५ वि० पु० ६ अं० ७ अ० ६१; ६२ श्लो०। ६ शारी० १ अ० २ पा० २१ सू०। ७ शारी० १ अ० १ पा० २२ सू०। ८ शारी० २ अ० १ पा० २२ सू०। ९ बृ० ५ अ० ७ ब्रा० २२ आत्मशब्दघटितपाठो माध्यन्दिनशाखास्थः०। १० बृ० ६ अ० ३ ब्रा० २१ वा०। ११ बृ० ६ अ० ३ ब्रा० ३५ वा०। १२ वि० पु० २ अं० १४ अ० २७ श्लो०। १३ गी० १४ अ० २ श्लो०।

इहापि

१ "आत्मभावं नयत्येनं तद्ब्रह्म ध्यायिनं मुने ।
विकार्यमात्मनश्शक्त्या लोहमाकर्षको यथा ॥" इति ॥

आत्मभावम्—आत्मनस्स्वभावम् । नह्याकर्षकस्वरूपापत्तिराकृष्यमाणस्य । वक्ष्यति च २ "जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च" ३ "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" ४ "मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च" इति । वृत्तिरपि ५ "जगद्व्यापारवर्जं समानो ज्योतिषा" इति । द्रमिडभाष्यकारश्च ६ "देवतासायुज्यादशरीरस्यापि देवतावत्सर्वार्थसिद्धिस्स्यात्" इत्याह । श्रुतयश्च ७ "य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" ८ "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" ९ "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह । ब्रह्मणा विपश्चिता" १० "एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य । इमान् लोकान् कामान्नीकामरूप्यनुसंचरन्" ।११ "स तत्र पर्येति" १२ "रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" १३ "यथा नद्यः स्यन्दमानास्समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" १४ "तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्याद्याः ॥

एवंविद्यासु सर्वासु सगुणमेव ब्रह्मोपास्यम् । फलं चैकरूपमेव । अतो विद्याविकल्पइति सूत्रकारेणैव—१५" आनन्दादयः प्रधानस्य "

१ वि० पु० ६ अं० ७ अ० ३० श्लो० । २ शारी० ४ अ० ४ पा० १७ सू० । ३ शारी० ४ अ० ४ पा० २१ सू० । ४ शारी० १ अ० ३ पा० २ सू० । ५ बोधायनवृत्तिः० । ६ द्रमिडभाष्यकारवाक्यम्० । ७ छा० ८ प्र० १ ख० ६ । ८ ५ तै० आन० १ अनु० १,२ । ९ तै० भृगु० १० अनु० ५ । १० छा० ८ प्र० १२ ख० ३ । ११ तै० आ० ७ अनु०, १ । १२ मु० ३ मु० २ ख० ८ । १३ मु० ३ मु० १ ख० ३ । १४ शारी० ३ अ० ३ पा० ११ सू० । १५ शारी० ३ अ० ३ पा० ७५ सू० ।

१ "विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्" इत्यादिसूत्रम्। वाक्यकारेण च सगुणस्यैवोपास्यत्वं विद्याविकल्पश्चोक्तः—२ "युक्तं तद्गुणकोपासनात्" इति। भाष्यकृता व्याख्यातं च ३ "यद्यपि सच्चित्तः" इत्यादिना। ४ "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इत्यत्रापि—५ "नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" ६ "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" ७ "परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यादिभिरैकार्थ्यात् प्राकृतनामरूपाभ्यां विनिर्मुक्तस्य निरस्ततत्कृतभेदस्य ज्ञानैकाकारतया ब्रह्मप्रकारतोच्यते। प्रकारैक्ये च तत्त्वव्यवहारो मुख्य एव; यथा सेयं गौरिति॥

अत्रापि—

८ "विज्ञानं प्रापकं प्राप्ये परे ब्रह्मणि पार्थिव।
प्रापणीयस्तथैवाऽऽत्मा प्रक्षीणाशेषभावनः॥" इति॥

परब्रह्मध्यानादात्मा परब्रह्मवत् प्रक्षीणाशेषभावनः—कर्मभावनाब्रह्मभावनोभयभावनेति भावनात्रयरहितः। प्रापणीय इत्यभिधाय—

९ "क्षेत्रज्ञः करणी ज्ञानं करणं तस्य वै द्विज।
निष्पाद्य मुक्तिकार्यं हि कृतकृत्यं निवर्तयेत्॥"

इति करणस्य परब्रह्मध्यानरूपस्य प्रक्षीणाशेषभावनात्मस्वरूपप्राप्तया कृतकृत्यत्वेन निवृत्तिवचनाद्यावत्सिद्ध्यनुष्ठेयमित्युक्त्वा—

१० "तद्भावभावमापन्नस्तदाऽसौ परमात्मना।
भवत्यभेदी भेदश्च तस्याज्ञानकृतो भवेत्॥"

---

१ शारी० ३ अ० ३ पा०, ७५ सू०। २ वाक्यम्०। ३ द्रमिडभाष्यकारीयम्०। ४ मु० ३ मु० २ ख० ९। ५ मु० ३ मु० २ ख० ८। ६ मु० ३ मु० १ ख० ३। ७ छा० ८ प्र० १२ ख० २। ८, ९, १० वि० पु० ६ अं० ७ अ० ९३; ९४, ९५।

इति मुक्तस्य स्वरूपमाह। तद्भावः ब्रह्मणो भावः स्वभावः। न तु स्वरूपैक्यम्, तद्भावभावमापन्नइति द्वितीयभावशब्दानन्वयात् पूर्वोक्तार्थविरोधाच्च। यद्ब्रह्मणः प्रक्षीणाशेषभावनत्वं तदापत्तिस्तद्भावभावापत्तिः। यदैवमापन्नस्तदाऽसौ परमात्मना अभेदी भवति—भेदरहितो भवति। ज्ञानैकाकारतया १ परमात्मनैकप्रकारस्यास्य तस्माद्भेदो देवादिरूपः। तदन्वयोऽस्य कर्मरूपाज्ञानमूलः। न स्वरूपकृतः स तु देवादिभेदः परब्रह्मध्यानेन मूलभूताज्ञानरूपे कर्मणि विनष्टे हेत्वभावान्निवर्तत इत्यभेदी भवति। यथोक्तम्—

२ " ३ एकस्वरूपभेदस्तु बाह्यकर्मवृतिप्रजः।
देवादिभेदेऽपध्वस्ते नास्त्येवावरणो हि सः॥ " इति॥

एतदेव विवृणोति " विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते। आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति " इति। विभेदः—विविधो भेदः—देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मकः। यथोक्तं शौनकेनापि - ४ "चतुर्विधोऽपि भेदोऽयं मिथ्याज्ञाननिबन्धनः " इति। आत्मनि ज्ञानरूपे देवादिरूपविविधभेदहेतुभूतकर्माख्याज्ञाने परब्रह्मध्यानेनात्यन्तिकनाशं गते सति हेत्वभावादसन्तं परस्मात् ब्रह्मण आत्मनो देवादिरूपभेदं कः करिष्यतीत्यर्थः। " अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या " इति ह्यत्रैवोक्तम्॥

" क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि " इत्यादिनाऽन्तर्यामिरूपेण सर्वस्याऽऽत्मतयैक्याभिधानम्। अन्यथा—" क्षरस्सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते। उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" इत्यादिभिर्विरोधः। अन्तर्यामिरूपेण सर्वेषामात्मत्वं तत्रैव भगवताऽभिहितम् – ५ "ईश्वरस्सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति", ६ "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः"

१ परमात्मनैकस्वभावस्य० पा०। २ वि० पु० २ अं० १४ अ० ३३ श्लो०। ३ एकत्वं रूपेति० पा०। ४ विष्णुधर्मे० १०० अ० २१। ५ गी० १८ अ० ६१ श्लोक। ६ गी १५, १५ श्लोक।

इति च। "अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः" इति च तदेवोच्यते। भूतशब्दो ह्यात्मपर्यन्तदेहवचनः। यतस्सर्वेषामयमात्मा तत एव सर्वेषां तच्छरीरतया पृथगवस्थानं प्रतिषिध्यते "न तदस्ति विना यत्स्यात्" इति; भगवद्विभूत्युपसंहाराध्यायमिति तथैवाभ्युपगन्तव्यम्। तत इदमुच्यते—

१ "यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम्"॥
२ "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥" इति॥

अतश्शास्त्रेषु न निर्विशेषवस्तुप्रतिपादनमस्ति। नाप्यर्थजातस्य भ्रान्तत्वप्रतिपादनम्। नापि चिदचिदीश्वराणां स्वरूपभेदनिषेधः॥

(सप्तविधानुपपत्त्यारम्भः)

यदप्युच्यते—निर्विशेषे स्वयंप्रकाशे वस्तुनि दोषपरिकल्पित ३ मीशेशितव्याद्यनन्तविकल्पं सर्वं जगत्। दोषश्च स्वरूपतिरोधानविविधविचित्रविक्षेपकरी सदसदनिर्वचनीयाऽनाद्यविद्या। सा चावश्याभ्युपगमनीया; ४ "अनृतेन हि प्रत्यूढाः" इत्यादिभिः श्रुतिभिः, ब्रह्मणस्तत्त्वमस्यादिवाक्यसामानाधिकरण्यावगतजीवैक्यानुपपत्त्या च। सा तु न सती, भ्रान्तिबाधयोरयोगात्। नाप्यसती, ख्यातिबाधयोश्चायोगात्। अतः कोटिद्वयविनिर्मुक्तेयमविद्येति तत्त्वविदः—इति। तदयुक्तम्॥

(आश्रयानुपपत्तिः)

सा हि किमाश्रित्य भ्रमं जनयति? न तावज्जीवमाश्रित्य; अविद्यापरिकल्पितत्वाज्जीवभावस्य। नापि ब्रह्माश्रित्य; तस्य स्वयंप्रकाशज्ञानस्वरूपत्वेनाविद्याविरोधित्वात्। सा हि ज्ञानबाध्याऽभिमता॥

५ "ज्ञानरूपं परं ब्रह्म तन्निवर्त्यं मृषात्मकम्।
अज्ञानं चेत्तिरस्कुर्यात्कः ६ प्रभुस्तन्निवर्तने॥

१, २ गी० १० अ० ४१; ४२ श्लोक। ३ ईश्वरेशितव्येति० पा०। ४ छा० ८ प्र० ३ ख० २। ५ इमे श्लोका नाथमुनिसूक्तयः०। ६ प्रभुस्तन्निवर्तकः० इति० पा०।

ज्ञानं ब्रह्मेति चेत् ज्ञानमज्ञानस्य निवर्तकम् ।
ब्रह्मवत्तत्प्रकाशत्वात्तदपि ह्यनिवर्तकम् ॥
ज्ञानं ब्रह्मेति विज्ञानमस्ति चेत्स्यात्प्रमेयता ।
ब्रह्मणोऽननुभूतित्वं त्वदुक्त्यैव प्रसज्यते ॥"

ज्ञानस्वरूपं ब्रह्मेति ज्ञानं तस्या अविद्याया बाधकम्, न स्वरूपभूतं ज्ञानमिति चेन्न, उभयोरपि ब्रह्मस्वरूपप्रकाशत्वे सत्यन्यतरस्याविद्याविरोधित्वमन्यतरस्य नेति विशेषानवगमात् ॥

एतदुक्तं भवति—ज्ञानस्वरूपं ब्रह्मेत्यनेन ज्ञानेन ब्रह्मणि यत्स्वभावोऽवगम्यते; स ब्रह्मणस्स्वयंप्रकाशत्वेन स्वयमेव प्रकाशत इत्यविद्याविरोधित्वे न कश्चिद्विशेषस्स्वरूपतद्विषयज्ञानयोः— इति । किं च—अनुभवस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽनुभवान्तराननुभाव्यत्वेन भवता न तद्विषयं ज्ञानमस्ति । अतो ज्ञानमज्ञानविरोधि चेत्स्वयमेव विरोधि भवतीति नास्या ब्रह्माश्रयत्वसंभवः । शुक्त्यादयस्तु स्वयाथात्म्यप्रकाशे स्वयमसमर्थास्स्वाज्ञानाविरोधिनस्तन्निवर्तने च ज्ञानान्तरमपेक्षन्ते । ब्रह्म तु स्वानुभवसिद्धस्वयाथात्म्यमिति स्वाज्ञानविरोध्येव । तत एव निवर्तकान्तरं च नापेक्षते । अथोच्येत—ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वज्ञानमज्ञानविरोधि—इति । न; इदं ब्रह्मव्यतिरिक्तमिथ्यात्वज्ञानं किं ब्रह्मयाथात्म्याज्ञानविरोधि ? उत प्रपञ्चसत्यत्वरूपाज्ञानविरोधीति विवेचनीयम् । न तावत् ब्रह्मयाथात्म्याज्ञानविरोधि, अतद्विषयत्वात् । ज्ञानाज्ञानयोरेकविषयत्वेन हि विरोधः । प्रपञ्चमिथ्यात्वज्ञानं तत्सत्यत्वरूपाज्ञानेन विरुध्यते । तेन प्रपञ्चसत्यत्वरूपाज्ञानमेव बाधितमिति ब्रह्मस्वरूपाज्ञानं तिष्ठत्येव । ब्रह्मस्वरूपाज्ञानं नाम तस्य सद्वितीयत्वमेव । तच्च तद्व्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वज्ञानेन निवृत्तम् । स्वरूपं तु स्वानुभवसिद्धमिति चेन्न; ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं स्वरूपं स्वानुभवसिद्धमिति तद्विरोधि सद्वितीयत्वरूपाज्ञानं तद्बाधश्च न स्याताम् । अद्वितीयत्वं धर्म इति चेन्न; अनुभवस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽनुभाव्यधर्मविरहस्य भवतैव प्रतिपादितत्वात् ।। अतो १ ज्ञानस्वरूपस्य ब्रह्मणो विरोधादेव नाज्ञानाश्रयत्वम् ॥

१ ज्ञानरूपस्य इति पा० ।

(तिरोधानानुपपत्तिः)

किंच -अविद्यया प्रकाशैकस्वरूपं ब्रह्म तिरोहितमिति वदता स्वरूपनाश एवोक्तस्स्यात्। प्रकाश तिरोधानं नाम प्रकाशोत्पत्तिप्रतिबन्धो विद्यमानस्य विनाशो वा । प्रकाशस्यानुत्पाद्यत्वाभ्युपगमेन प्रकाश तिरोधानं प्रकाशनाश एव ॥

(स्वरूपानुपपत्तिः

अपि च निर्विषया निराश्रया स्वप्रकाशेयमनुभूतिस्स्वाश्रयदोषवशादनन्ताश्रयमनन्तविषयमात्मानमनुभवतीत्यत्र किमयं स्वाश्रयदोषः परमार्थभूतः ? उतापरमार्थभूत इति विवेचनीयम्। न तावत्परमार्थः, अनभ्युपगमात्; नाप्यपरमार्थः, तथा सति हि द्रष्टृत्वेन वा दृश्यत्वेन वा दृशित्वेन वाभ्युपगमनीयः। न तावद्दृशिः, दृशिस्वरूपभेदानभ्युपगमात्; भ्रमाधिष्ठानभूतायास्तु साक्षाद्दृशेर्माध्यमिक [1]पक्षप्रसङ्गेनापारमार्थ्यानभ्युपगमाच्च। द्रष्टृदृश्ययोस्तदवच्छिन्नाया दृशेश्च काल्पनिकत्वेन मूलदोषान्तरापेक्षयाऽनवस्था स्यात्। अथैतत्परिजिहीर्षया परमार्थसत्यनुभूतिरेव ब्रह्मरूपा दोष इति चेत्; ब्रह्मैव चेद्दोषः; प्रपञ्चदर्शनस्यैव तन्मूलं स्यात्। किं प्रपञ्चतुल्याविद्यान्तरपरिकल्पनेन ? ब्रह्मणो दोषत्वे सति तस्य नित्यत्वेनानिर्मोक्षश्च स्यात्। अतो यावद्ब्रह्मव्यतिरिक्तपारमार्थिकदोषानभ्युपगमः; न तावद्भ्रान्तिरुपपादिता भवति।

(अनिर्वचनीयत्वानुपपत्तिः)

अनिर्वचनीयत्वं च किमभिप्रेतम् । सदसद्विलक्षणत्वमिति चेत्, तथाविधस्य वस्तुनः प्रमाणशून्यत्वेन अनिर्वचनीयतैव स्यात्। एतदुक्तं भवति—सर्वं हि वस्तुजातं प्रतीतिव्यवस्थाप्यम् । सर्वा च प्रतीतिस्सदसदाकारा। सदसदाकारायास्तु प्रतीतेस्सदसद्विलक्षणं

---

[1] पक्षसम्भवेनेति० पा० ।

विषय इत्युभ्यपगम्यमाने सर्वं सर्वप्रतीतेर्विषयस्स्यात्—इति ॥

(प्रमाणानुपपत्तिः)

अथ स्यात्—वस्तुस्वरूपतिरोधानकरमान्तरबाह्यरूपविविधाध्यासोपादानं सदसदनिर्वचनीयमविद्याज्ञानादिपदवाच्यं वस्तुयाथात्म्य ज्ञाननिवर्त्यं ज्ञानप्रागभावातिरेकेण भावरूपमेव किंचिद्वस्तु प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रतीयते। तदुपहितब्रह्मोपादानभ्यविकारे स्वप्रकाशचिन्मात्रवपुषि तेनैव तिरोहितस्वरूपे प्रत्यगात्मन्यहङ्कारज्ञानज्ञेयविभागरूपोऽध्यासः। तस्यैवावस्थाविशेषेणाध्यासरूपे जगति ज्ञानबाध्यसर्परजतादिवस्तुतत्तज्ज्ञानरूपाध्यासोऽपि जायते। कृत्स्नस्य मिथ्यारूपस्य तदुपादानत्वं च मिथ्याभूतस्यार्थस्य मिथ्याभूतमेव कारणं भवितुमर्हतीति हेतुबलादवगम्यते। कारणाज्ञानविषयं प्रत्यक्षं तावत् "अहमज्ञो मामन्यं च न जानामि" इत्यपरोक्षावभासः। अयं तु न ज्ञानप्रागभावविषयः स हि षष्ठप्रमाणगोचरः। अयन्तु अहं सुखीतिवदपरोक्षः। अभावस्य प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमेऽप्ययमनुभवो नात्मज्ञानाभावविषयः; अनुभववेलायामपि ज्ञानस्य विद्यमानत्वात्, अविद्यमानत्वे ज्ञानाभावप्रतीत्यनुपपत्तेश्च ॥

एतदुक्तं भवति—अहमज्ञ इत्यस्मिन्ननुभवे अहमित्यात्मनोऽभावधर्मितया ज्ञानस्य च प्रतियोगितयाऽवगतिरस्ति वा, न वा? अस्ति चेद्विरोधादेव न ज्ञानानुभवसम्भवः। नो चेद्धर्मिप्रतियोगिज्ञानसव्यपेक्षो ज्ञानाभावानुभवस्सुतरां न संभवति। ज्ञानाभावस्यानुभवत्वे अभावाख्यप्रमाणविषयत्वे चेयमनुपपत्तिस्समाना। अस्याज्ञानस्य भावरूपत्वे धर्मिप्रतियोगिज्ञानसद्भावेऽपि विरोधाभावादयमनुभवो भावरूपाज्ञानविषय एवाभ्युपगन्तव्यः—इति। ननु च—भावरूपमप्यज्ञानं वस्तुयाथात्म्यावभासरूपेण साक्षिचैतन्येन विरुध्यते। नैवम्—साक्षिचैतन्यं न वस्तुयाथात्म्यविषयम्, अपि तु अज्ञानविषयम्; अन्यथा मिथ्यार्थावभासानुपपत्तेः न ह्यज्ञानविषयेण ज्ञानेनाज्ञानं निवर्त्यत इति न विरोधः। ननु चेदं भावरूपमप्यज्ञानं विषयविशेषव्यावृत्तमेव साक्षिचैतन्यस्य विषयो भवति। स विषयः प्रमाणानधीन–

सिद्धिरिति कथमिव साक्षिचैतन्येनास्मदर्थव्यावृतमज्ञानं विषयीक्रियते नैष दोषः, सर्व मेव वस्तुजातं ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषयभूतम्। तत्र जडत्वेन ज्ञाततया सिध्यत एव प्रमाणव्यवधानापेक्षा। अजडस्य तु प्रत्यग्वस्तुनस्स्वयं सिध्यतो न प्रमाणव्यवधानापेक्षेति १सदैवाज्ञानस्य व्यावर्तकत्वेनावभासो युज्यते। तस्मान्न्यायोपबृंहितेन प्रत्यक्षेण भावरूपमेवाज्ञानं प्रतीयते। तदिदं भावरूपमेवाज्ञानं भावरूपमज्ञानमनुमानेनापि सिध्यति– + विवादाध्यासितं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्; अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्; अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावत् इति।

+ एवं प्रत्यक्षेणन्यायानुगृहीतेनाज्ञानस्य भावरूपत्वं नजानामीत्यनेनास्माश्रयत्वं च सिद्धम्। शास्त्रेष्वज्ञानशब्दवाच्यतया पराभिमत कर्मव्यावृत्तिः प्रत्यक्षतया सिद्धा। अस्य शास्त्रेष्वज्ञानादि शब्द वाच्यत्वं ज्ञान विरोधित्वात्, 'अहमज्ञः'—इति प्रतिपन्नतया च सिद्धम्। अथ स्वविषयावरणत्व स्वनिवर्त्यत्वाभ्यां सहोपपादिताकार विशिष्ट चाज्ञानमनुमानेनापि साध्यते विवादाध्यासितमित्यादिना। ज्ञानमित्युक्ते—ब्रह्मस्वरूपस्य वस्त्वन्तर पूर्वकत्वासंभवात्—तद्व्यावृत्त्यर्थं प्रमाण ज्ञानमित्युक्तम्। तथापि, धारावाहिक ज्ञाने, उत्तरोत्तर विज्ञानानां सिषाधयिषित वस्त्वन्तर पूर्वकत्वाभावात्, तद्व्यावृत्त्यर्थं विवादाध्यासितमित्युक्तम्। तज्ज्ञानं किमित्यपेक्षायां व्यक्त्यर्थं प्रमाण ज्ञानमित्युक्तम्। अयं धर्मीदर्शितः। अथ साध्यधर्ममाह—स्वप्रागभावेत्यादिना। वस्त्वन्तरपूर्वकमित्युक्ते घटादि स्वविषय पूर्वकत्वेन सिद्ध साधनं स्यादिति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—स्वदेशगतेत्युक्तिः। स्वाश्रयगतेत्युक्ते दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यम्, नहितमोदीपगतम्, अतःस्वदेशगतेत्युक्तिः। धर्माधर्म व्यावृत्त्यर्थमाहस्वनिवर्त्येति। ननु कथं स्वनिवर्त्य शब्देन धर्माधर्म व्यावृत्तिः? ज्ञानोत्पत्ति हेतु भूतमदृष्टं ज्ञानोत्पत्त्या हि नश्यति. नैवम्, सर्वेषां धर्माधर्माणां ज्ञान नाशकत्वाभावात्, ज्ञानोत्पादक व्यतिरिक्त धर्मादीनां पूर्वं स्वदेशे विद्यमानत्वाच्च। यद्वा, स्वनिवर्त्य पदेन संस्कार व्यावृत्तिः, नहि संस्कारो ज्ञानेन निवर्त्यः। भयादिव्यावृत्त्यर्थमाह—स्वविषयावरणेति। प्रागभावस्यैवं विधत्वात् तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—स्वप्रागभाव

१ सदैवाज्ञानव्यावर्तकत्वेनेति पा०।

(तमसोद्रव्यत्व समर्थनम्)

आलोकाभावमात्रं वा रूपदर्शनाभावमात्रं वा तमो न १ द्रव्यान्तरम्, तत्कथं भावरूपाज्ञानसाधने निदर्शनतयोपन्यस्यत इति चेत्; उच्यते बहुलत्वविरलत्वाद्यवस्थायोगेन रूपवत्तया चोपलब्धेर्द्रव्यान्तरमेव तम इति निरवद्यम् ÷ इति ॥

(अविद्या प्रत्यक्षनिरासः)

अत्रोच्यते—"अहमज्ञो मामन्यं च न जानामि" इत्यत्रापपत्तिसहितेन केवलेन च प्रत्यक्षेण न भावरूपमज्ञानं प्रतीयते। यस्तु ज्ञानप्रागभावविषयत्वे विरोध उक्तः; स हि भावरूपाज्ञानेऽपि तुल्यः। विषयत्वेनाश्रयत्वेन चाज्ञानस्य व्यावर्तकया प्रत्यगर्थः प्रतिपन्नो वा, अप्रतिपन्नो वा ?। प्रतिपन्नश्चेत्; तत्स्वरूपज्ञाननिवर्त्यं तदज्ञानं तस्मिन् प्रतिपन्ने कथमिव तिष्ठति। अप्रतिपन्नश्चेद्व्यावर्तकाश्रयविषयज्ञानशून्यमज्ञानं कथमनुभूयेत ॥

व्यतिरिक्तेति। हेतुमाह—अप्रकाशितेति। साक्षाद्वा परम्परया वाऽबाध्यव्यवहारानुगुण्य हेतुत्वं प्रकाशकत्वमिह विवक्षितम्। साक्षाद्वा परम्परया वेत्युक्ते हि दीप प्रभायां ज्ञाने च हेत्वनुगम सिद्धिः। इदं रजतमिति ज्ञानेऽति व्याप्ति परिहाराया बाध्य व्यवहारानुगुण्य हेतुत्वमित्युक्तम्। प्रकाशकत्वादित्युक्ते—धारावाहिक ज्ञाने उत्तरोत्तर ज्ञानानां प्रकाशकत्वेऽपि सिषाधयिषित धर्माभावाद्धेतोरनैकान्त्यंस्यादिति तद्व्यावृत्यर्थमाह—अप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्वादिति ॥

÷ भावरूपाज्ञान साधने तेजो भावरूपस्य तमसो दृष्टान्तोपादानमनुपपन्नमिति, तत्र तमो द्रव्यमेवेति यथा—तमोनामद्रव्यं बहुलं विरलं मेचक चलं प्रतीतं केनापिकश्चिदपि न बाधश्च ददृशे। अतः कल्प्योहेतुः प्रमितिरपि शाब्दी विजयते, निरालोकं चक्षुः पश्यति हि तद्दर्शनवशात्॥ तमोद्रव्यमित्येवभाष्यकारमतं, सिद्धान्ते तस्या दूषितत्वात्।

---

१ द्रव्यमिति पा०।

अथ—विशदस्वरूपावभासोऽज्ञानविरोधी; अविशदस्वरूपं तु प्रतीयत इत्याश्रयविषयज्ञाने सत्यपि नाज्ञानानुभवविरोधः—इति। हन्त तर्हि ज्ञानप्रागभावोऽपि विशदस्वरूपविषयः। आश्रयप्रतियोगि-ज्ञानं तु अविशदस्वरूपविषयमिति न कश्चिद्विशेषोऽन्यत्राभिनिवेशात्। भावरूपस्याज्ञानस्यापि ह्यज्ञानमिति सिध्यतः प्रागभावसिद्धाविव सापेक्षत्वमस्त्येव। तथा हि अज्ञानमिति ज्ञानाभावस्तदन्यस्तद्विरोधी वा?। त्रयाणामपि तत्स्वरूपज्ञानापेक्षाऽवश्याश्रयणीया। यद्यपि तम-स्स्वरूप प्रतिपत्तौ प्रकाशापेक्षा न विद्यते; तथाऽपि प्रकाशविरोधीत्य-नेनाकारेण प्रतिपत्तौ प्रकाशप्रतिपत्त्यपेक्षाऽस्त्येव। भवदभिमताज्ञानं न कदाचित्स्वरूपेण सिध्यति अपित्वज्ञानमित्येव। तथा सति ज्ञाना-भाववत्तदपेक्षत्वं समानम्। ज्ञानप्रागभावस्तु भवताऽप्यभ्युपगम्यते। प्रतीयते चेत्युभयाभ्युपेतो ज्ञानप्रागभाव एव "अहमज्ञो मामन्यं च न जानामि" इत्यनुभूयत इत्यभ्युपगन्तव्यम्॥

नित्यमुक्तस्वप्रकाशचैतन्यैकस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानानुभवश्च न संभवति, स्वानुभवस्वरूपत्वात्। स्वानुभवस्वरूपमपि तिरोहितस्वरूपमज्ञानमनुभवतीति चेत्; किमिदं तिरोहित-स्वरूपत्वम्। अप्रकाशितस्वरूपत्वमिति चेत्, स्वानुभवस्वरूपस्य कथ-मप्रकाशितस्वरूपत्वम्। स्वानुभवस्वरूपस्याप्यन्यतोऽप्रकाशित[१] स्वरू-पत्वमापद्यतइति चेत्; एवं तर्हि प्रकाशाख्यधर्मानभ्युपगमेन प्रकाश-स्यैव स्वरूपत्वादन्यतस्स्वरूपनाश एव स्यादिति पूर्वमेवोक्तम्॥

किंच—ब्रह्मस्वरूपतिरोधानहेतुभूतमेतदज्ञानं स्वयमनुभूतं सत् ब्रह्म तिरस्करोति। ब्रह्म तिरस्कृत्य स्वयं तदनुभवविषयो भवतीत्य-न्योन्याश्रयणम्॥

अनुभूतमेव तिरस्करोतीति चेत्, यद्यतिरोहितस्वरूपमेव ब्रह्माज्ञानमनुभवति; तदा तिरोधानकल्पना निष्प्रयोजना स्यात्;

१ स्वरूपत्वमुपपद्यत इति पा०

अज्ञानस्वरूपकल्पना च। ब्रह्मणोऽज्ञानदर्शनवत् अज्ञानकार्यतयाऽभिमतप्रपञ्चदर्शनस्यापि सम्भवात्। किंच—ब्रह्मणोऽज्ञानानुभवः किं स्वतोऽन्यतो वा? स्वतश्चेदज्ञानानुभवस्य स्वरूपप्रयुक्तत्वेनानिर्मोक्षस्स्यात्। अनुभूतिस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानानुभवस्वरूपत्वेन मिथ्यारजतबाधकज्ञानेन रजतानुभवस्यापि निवृत्तिवन्निवर्तकज्ञानेनाज्ञानानुभूतिरूपब्रह्मस्वरूपनिवृत्तिर्वा। अन्यतश्चेत्, किं तदन्यत्? अज्ञानान्तरमिति चेत्; अनवस्था स्यात्। ब्रह्म तिरस्कृत्यैव स्वयमनुभवविषयो भवतीति चेत्; तथा सतीदमज्ञानं काचादिवत् स्वसत्तया ब्रह्म तिरस्करोतीति ज्ञानबाध्यत्वमज्ञानस्य न स्यात्॥

अथेदमज्ञानं स्वयमनादि, ब्रह्मणस्स्वसाक्षित्वं ब्रह्मस्वरूपतिरस्कृतिं च युगपदेव करोति। अतो नानवस्थाद्यो दोषा इति नैतत्; स्वानुभवस्वरूपस्यब्रह्मणस्स्वरूपतिरस्कृतिमन्तरेणसाक्षित्वापादनायोगात्। हेत्वन्तरेण तिरस्कृतमिति चेत्, तर्ह्यस्यानादित्यमपास्तम्। अनवस्था च पूर्वोक्ता। अतिरस्कृतस्वरूपस्यैव साक्षित्वापादने ब्रह्मणस्स्वानुभवैकतानता च न स्यात्॥

अपि च—अविद्यया ब्रह्मणि तिरोहिते तद्ब्रह्म न किंचिदपि प्रकाशते? उत किंचित्प्रकाशते? पूर्वस्मिन् कल्पे प्रकाशमात्रस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽप्रकाशे तुच्छतापत्तिरसकृदुक्ता। उत्तरस्मिन् कल्पे सच्चिदानंदैकरसे ब्रह्मणि कोऽयमंशस्तिरस्क्रियते; को वा प्रकाशते? निरंशे निर्विशेषे प्रकाशमात्रे वस्तुन्याकारद्वयासम्भवेन तिरस्कारः प्रकाशश्च युगपन्न संगच्छेते। अथ सच्चिदानन्दैकरसं ब्रह्म अविद्यया तिरोहितस्वरूपमविशदमिवलक्ष्यत इति प्रकाशमात्रस्वरूपस्य विशदताऽविशदता वा किंरूपा। एतदुक्तं भवति—यस्यांशस्सविशेषः प्रकाशविषयः;

१ प्रकाशमाने कतिपयविशेषेति पा०। २ संभवतीति पा०

तस्य सकलावभासो विशदावभासः । कतिपयविशेषरहितावभासश्चाविशदावभासः । तत्र य आकारोऽप्रतिपन्नस्तस्मिन्नंशे प्रकाशाभावादेव प्रकाशावैशद्यं न विद्यते । यश्चांशः प्रतिपन्नस्तस्मिन्नंशे तद्विषयप्रकाशो विशद एव । अतस्सर्वत्र प्रकाशांशे अवैशद्यं न संभवति । विषयेऽपि स्वरूपे प्रतीयमाने तद्गत कतिपय विशेषाप्रतीतिरेवावैशद्यम् । तस्मादविषये निर्विशेषे प्रकाशमात्रे ब्रह्मणि स्वरूपे [1] प्रकाशमाने तद्गतकतिपयविशेषाप्रतीतिरूपावैशद्यं नामाज्ञानकार्यं न[2]संभवति ॥

अपिच—इदमविद्याकार्यमवैशद्यं तत्त्वज्ञानोदयान्निवर्तते न वा ? अनिवृत्तावपवर्गाभावः । निवृत्तौ च वस्तु किं रूपमिति विवेचनीयम् । विशदस्वरूपमिति चेत्; तद्विशदस्वरूपं प्रागस्ति; न वा ? अस्ति चेदविद्याकार्यमवैशद्यं तन्निवृत्तिश्च न स्याताम् । नो चेन्मोक्षस्य कार्यतया अनित्यता स्यात् ॥

अस्याज्ञानस्याश्रयानिरूपणादेवासंभवः पूर्वमेवोक्तः । अपि च—अपरमार्थदोषमूलभ्रमवादिना निरधिष्ठानभ्रमासंभवोऽपि दुरुपपादः; भ्रमहेतुभूतदोषदोषाश्रयत्ववदधिष्ठानापारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तेः । ततश्च सर्वशून्यत्वमेव स्यात् ॥

(अविद्यानुमाननिरासः)

यदुक्तमनुमानेनापि भावरूपमज्ञानं सिध्यतीति; तदयुक्तम् । अनुमानासंभवात् । ननूक्तमनुमानम् । सत्यमुक्तम् । दुरुक्तं तु तत्; अज्ञानेऽप्यनभिमताज्ञानान्तरसाधनेन विरुद्धत्वाद्धेतोः । तत्राज्ञानान्तरासाधने हेतोरनैकान्त्यम् । + साधने च तदज्ञानमज्ञान-

---

+ अस्य प्रमाणज्ञानस्य, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात् स्वविषयावरणाज्ञानान्तर साधकत्वे सति तदज्ञानं ब्रह्मस्वरूपाच्छादकं सिषाधयिषितमज्ञानमाप्नोति, तेनानुक्तत्वात्–तदज्ञानं ब्रह्मणा न साक्षात्क्रियते, अपरमार्थस्याप्रतीयमानस्य कार्यकरत्वायोगादज्ञानकल्पनानिष्फला स्यात् । तिरोधान रूपकार्यार्थंहि तत्कल्पना । यद्यसाक्षात्कृतमेव कार्यकरं तदा सत्तया कार्यकरमिति काचादिवत्तस्य स्यात् ज्ञाननिवर्त्यं न स्यात् । एवमज्ञानस्य ज्ञाननिवर्त्यत्व-निष्फलत्वे, कारणतयाऽनभिमताज्ञानान्तरसाधकत्वं तदसाधने चानैकान्त्यमुक्तम् ॥

---

१ प्रकाशमाने कतिपयविशेषेति-पा० । २ संभवतीति पा०

साक्षित्वं निवारयति। ततश्चाज्ञानकल्पना निष्फला स्यात्, दृष्टान्तश्च साधनविकलः; दीपप्रभाया अप्रकाशितार्थप्रकाशत्वाभावात्। सर्वत्र ज्ञानस्यैव हि प्रकाशकत्वम्। सत्यपि दीपे ज्ञानेन विना विषयप्रकाशाभावात्। इन्द्रियाणामपि ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वमेव न प्रकाशकत्वम्। प्रदीपप्रभायास्तु चक्षुरिन्द्रियस्य ज्ञानमुत्पादयतो विरोधितमोनिरसनद्वारेणोपकारकत्वमात्रमेव। प्रकाशक ज्ञानोत्पत्तौ व्याप्रियमाण चक्षुरिन्द्रियोपकारकहेतुत्वमपेक्ष्य दीपस्य प्रकाशकत्वव्यवहारः। नास्माभिर्ज्ञानतुल्यप्रकाशक त्वाभ्युपगमेन दीपप्रभा निदर्शिता। अपि तु ज्ञानस्यैव स्वविषयावरण निरसनपूर्वकप्रकाशकत्वमङ्गीकृत्येति चेन्न, न हि विरोधिनिरसनमात्रं प्रकाशकत्वम्; अपि त्वर्थपरिच्छेदः। व्यवहारयोग्यतापादनमिति यावत्। तत्तु ज्ञानस्यैव। यद्यु पकारकाणामप्यप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वमङ्गीकृतम् तर्हीन्द्रियाणामुपकारकतमत्वेनाप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वमङ्गीकरणीयम्। तथा सति तेषां स्वनिवर्त्यवस्त्वन्तरपूर्वकत्वाभावाद्धेतोरनैकान्त्यमित्यलमनेन॥

प्रतिप्रयोगाश्च—विवादाध्यासितमज्ञानं न ज्ञानमात्रब्रह्माश्रयम्; अज्ञानत्वात्; शुक्तिकाद्यज्ञानवत्। ज्ञात्राश्रयं हि तत्। विवादाध्यासितमज्ञानं न [1]ज्ञानमात्रब्रह्मावरणम्; अज्ञानत्वात्, शुक्तिकाद्यज्ञानवत्। विषयावरणं हि तत्। विवादाध्यासितमज्ञानं न ज्ञाननिवर्त्यम्; ज्ञानविषयानावरणत्वात्; यत्, ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानं तत् ज्ञानविषयावरणम्। यथा शुक्तिकाद्यज्ञानम्। ब्रह्म नाज्ञानास्पदम्; ज्ञातृत्वविरहात्; घटादिवत्। ब्रह्म नाज्ञानावरणम्; ज्ञानाविषयत्वात्। यदज्ञानावरणं तज्ज्ञानविषयभूतम्; यथा शुक्तिकादि। ब्रह्म न ज्ञाननिवर्त्याज्ञानम्; ज्ञानाविषयत्वात्। यत् ज्ञाननिवर्त्याज्ञानम्; तज्ज्ञानविषयभूतम्; यथा शुक्तिकादि। विवादाध्यासितं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावातिरिक्ताज्ञानपूर्वकं न भवति; प्रमाणज्ञानत्वात्; भवदभिमताज्ञानसाधनप्रमाणज्ञानवत्॥

ज्ञानं न वस्तुनो विनाशकम्; शक्तिविशेषोपबृंहणविरहे सति ज्ञानत्वात्। यद्वस्तुनो विनाशकं तच्छक्तिविशेषोपबृंहितं ज्ञानमज्ञानं

१ ज्ञानावरणम्० पा०

च दृष्टम् ; यथेश्वरयोगिप्रभृतिज्ञानम् ; यथा च मुद्गरादि । भावरूपमज्ञानं न ज्ञानविनाश्यम् ; भावरूपत्वात्, घटादिवदिति । अथोच्येत—बाधकज्ञानेन पूर्वज्ञानोत्पन्नानां भयादीनां विनाशो दृश्यते – इति । नैवम्— न हि ज्ञानेन तेषां विनाशः; क्षणिकत्वेन तेषां स्वयमेव विनाशात् ; कारणनिवृत्त्या च पश्चादनुत्पत्तेः । क्षणिकत्वं च तेषां ज्ञानवदुत्पत्तिकारणसंनिधान एवोपलब्धेः, अन्यथाऽनुपलब्धेश्चावगम्यते । अक्षणिकत्वे च भयादीनां भयादिहेतुभूतज्ञानसंततावविशेषेण सर्वेषां ज्ञानानां भयाद्युत्पत्तिहेतुत्वेनानेकभयोपलब्धिप्रसङ्गाच्च ॥

स्वप्रागभावव्यतिरिक्तवस्त्वन्तरपूर्वकमिति व्यर्थविशेषणोपादानेन प्रयोगकुशलता चाऽविष्कृता । अतोऽनुमानेनापि न भावरूपाज्ञानसिद्धिः । श्रुतितदर्थापत्तिभ्यामज्ञानासिद्धिरनन्तरमेव वक्ष्यते । मिथ्यार्थस्य हि मिथ्यैवोपादानं भवितुमर्हतीत्येतदपि १ "न विलक्षणत्वात्" इत्यधिकरणन्यायेन परिह्रियते । अतोऽनिर्वचनीयाज्ञानविषया न काचिदपि प्रतीतिरस्ति । प्रतीतिभ्रान्तिबाधैरपि न तथाऽभ्युपगमनीयम् । प्रतीयमानमेव हि प्रतीति भ्रान्ति बाधविषयः । आभिः प्रतीतिभिः प्रतीत्यन्तरेण चानुपलब्धमासां विषय इति न युज्यते कल्पयितुम् ॥

शुक्त्यादिषु रजतादिप्रतीतेः, प्रतीतिकालेऽपि तन्नास्तीति बाधेन चान्यस्यान्यथाभानायोगाच्च सदसदनिर्वचनीयमपूर्वमेवेदं रजतं दोषवशात् प्रतीयतइति कल्पनीयमिति चेन्न; तत्कल्पनायामप्यन्यस्यान्यथाभानस्यावर्जनीयत्वात् ; अन्यथाभानाभ्युपगमादेव ख्यातिप्रवृत्तिबाधभ्रमत्वानामुपपत्तेरत्यन्तापरिदृष्टाकारणकवस्तुकल्पनायोगात् कल्प्यमानं हीदमनिर्वचनीयम्, न तावदनिर्वचनीयमिति प्रतीयते; अपितु परमार्थरजतमित्येव । अनिर्वचनीयमित्येव प्रतीतं चेत् ; भ्रान्तिबाधयोः प्रवृत्तेरप्यसंभवः । अतोऽन्यस्यान्यथाभानविरहे प्रतीतिप्रवृत्तिबाधभ्रमत्वानामनुपपत्तेस्तस्यापरिहार्यत्वाच्च, शुक्त्यादिरेव रजताद्याकारेणावभासत इति भवताभ्युपगन्तव्यम् ॥

१ शारी० २ अ० १ पा० ४ सू०

ख्यात्यन्तरवादिनां * च सुदूरमपि गत्वाऽन्यथावभासोऽवश्या-श्रयणीयः—असत्ख्यातिपक्षे सदात्मना; आत्मख्याति १ पक्षेऽर्थात्मना; अख्यातिपक्षेऽपि अन्यविशेषणमन्यविशेषणत्वेन; ज्ञानद्वयमेकत्वेन च; विपर्यासद्भावपक्षेऽपि विद्यमानत्वेन ॥

किंच—अनिर्वचनीयमपूर्वरजतमत्र जातमिति वदता तस्य जन्मकारणं वक्तव्यम्; न तावत्तत्प्रतीतिः, तस्यास्तद्विषयत्वेन तदुत्पत्तेः प्रागात्मलाभायोगात्। निर्विषया जाता तदुत्पाद्य तदेव विषयीकरोतीति महतामिदमुपपादनम्। अथेन्द्रियादिगतो दोषः, तन्न; तस्य पुरुषाश्रयत्वेनार्थगतकार्यस्योत्पादकत्वायोगात्। नापीन्द्रियाणि, तेषां ज्ञानकारणत्वात्। नापि दुष्टानीन्द्रियाणि, तेषामपि स्वकार्यभूते ज्ञान एव हि विशेषकरत्वम्। अनादिमिथ्याज्ञानोपादानत्वं तु पूर्वमेव निरस्तम् ॥

किंच—अपूर्वमनिर्वचनीयमिदं वस्तुजातं रजतादिबुद्धिशब्दाभ्यां कथमिव विषयीक्रियते, न घटादिबुद्धिशब्दाभ्याम्। रजतादिसादृश्यादिति चेत्; तर्हि तत्सदृशमित्येव प्रतीतिशब्दौ स्याताम्। रजतादिजातियोगादिति चेत्; सा किं परमार्थभूता; अपरमार्थभूता वा; न तावत्परमार्थभूता, तस्या अपरमार्थान्वयायोगात्। नाप्यपरमार्थभूता, परमार्थान्वयायोगात्। अपरमार्थे परमार्थबुद्धिशब्दयोर्निर्वाहकत्वायोगाच्चेत्यलमपरिणतकुतर्कनिरसनेन ॥

(सत्ख्यातिसमर्थनम्)

अथवा –

२ यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम्।
श्रुतिस्मृतिभ्यस्सर्वस्य सर्वात्मत्वप्रतीतितः ॥

---

* आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।
तथाऽनिर्वचनख्यातिरित्येतत्ख्यातिपञ्चकम् ॥ १ ॥
योगाचारा माध्यमिकास्तथा मीमांसका अपि।
नैयायिका मायिनश्च प्रायः ख्यातीः क्रमाज्जगुः ॥ २ ॥

१ पक्षे चाथा पा०। २ 'यथार्थं सर्वविज्ञानम्' इत्यारभ्य 'व्यवहारव्यवस्थितिः' इत्येतत्पर्यन्तं भाष्यकारीयाः श्लोकाः।

१ "बहुस्या" मितिसंकल्पपूर्वसृष्ट्याद्युपक्रमे ।
२ "तासां त्रिवृतमेकैका" मितिश्रुत्यैव चोदितम् ॥
त्रिवृत्करणमेवं हि प्रत्यक्षेणोपलभ्यते ।
यदग्नेरोहितं रूपं तेजसस्तदपामपि ॥
शुक्लं कृष्णं पृथिव्याश्चेत्यग्नावेव त्रिरूपता ।
श्रुत्यैव दर्शिता तस्मात्सर्वे सर्वत्र संगताः ॥
पुराणे चैवमेवोक्तं वैष्णवे सृष्ट्युपक्रमे ॥
३ "नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना ।
नाशक्नुवन् प्रजास्स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः ॥
समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः ।
महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्ड" मित्यादिना ततः ॥
सूत्रकारोऽपि भूतानां त्रिरूपत्वं तथाऽवदत् ।
४ "त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वा" ५ दिति तेनाभिधाभिदा ॥
सोमाभावे च पूतीकग्रहण ६ श्रुतिचोदितम् ।
सोमावयवसद्भावादितिन्यायविदो विदुः ॥
व्रीह्यभावे च नीवारग्रहणं व्रीहिभावतः ।
तदेव सदृशं तस्य ७ यत्तद्द्रव्यैकदेशभाक् ॥
शुक्त्यादौ रजतादेश्च भावः श्रुत्यैव बोधितः ।
रूप्यशुक्त्यादि ८ निर्देशभेदो भूयस्त्वहेतुकः ॥
रूप्यादिसदृशश्चायं शुक्त्यादिरुपलभ्यते ।
अतस्तस्यात्र सद्भावः प्रतीतेरपि निश्चितः ॥
कदाचिच्चक्षुरादेस्तु दोषाच्छुक्त्यंशवर्जितः ।
रजतांशो गृहीतोऽतो रजतार्थी प्रवर्तते ॥

१ छा० उप० ६ प्र० २ ख० ३ वा० । २ छा० उप० ६ प्र० ३ ख० ३ वा० । ३ वि० पु० १ अं० २ अ० ५२, ५३, ५४ । ४ शारी० ३ अ० १ पा० २ सू० । ५ दित्येतेना० पा० । ६ श्रुतिदर्शितम्० पा० । ७ यद्यद्द्रव्येति० पा० । ८ निर्देश्यो० पा० ।

दोषहानौ तु शुक्त्यंशे गृहीते तन्निवर्तते ।
अतो यथार्थं रूप्यादिविज्ञानं शुक्तिकादिषु ॥
बाध्यबाधकभावोऽपि भूयस्त्वेनोपपद्यते ।
शुक्तिभूयस्त्ववैकल्यसाकल्यग्रहरूपतः ॥
नातो मिथ्यार्थसत्यार्थविषयत्वनिबन्धनः ।
एवं सर्वस्य सर्वत्वे व्यवहारव्यवस्थितिः ॥

स्वप्ने च प्राणिनां पुण्यपापानुगुणं भगवतैव तत्तत्पुरुषमात्रानुभाव्याः तत्तत्कालावसानाः तथाभूताश्चार्थास्सृज्यन्ते । तथा हि श्रुतिः स्वप्नविषया १ "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति । अथ रथान् रथयोगान्पथस्सृजते । न तत्राऽनन्दा मुदः प्रमुदो भवन्ति । अथानन्दान्मुदः प्रमुदस्सृजते । न तत्र ७ वेशान्ताः पुष्करिण्यस्स्रवन्त्यो भवन्ति । अथ वेशान्तान्पुष्करिण्यस्स्रवन्त्यस्सृजते । स हि कर्ता " इति । यद्यपि सकलेतरपुरुषानुभाव्यतया तदानीं न भवन्ति । तथाऽपि तत्तत्पुरुषमात्रानुभाव्यतया तथाविधानर्थानीश्वरस्सृजति । स हि कर्ता । तस्य सत्यसङ्कल्पस्याऽऽश्चर्यशक्तेस्तथाविधं कर्तृत्वं सम्भवतीत्यर्थः । २ " य एषु सुप्तेषु जागर्ति कामंकामं पुरुषो निर्मिमाणः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाश्श्रितास्सर्वे तदु नात्येति कश्चन " इति च । सूत्रकारोऽपि ३ " सन्ध्ये सृष्टिराह हि " ४ " निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च " इति सूत्रद्वयेन स्वाप्नेष्वर्थेषु जीवस्य स्रष्टृत्वमाशङ्क्य ५ " मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् " इत्यादिना—न जीवस्य सङ्कल्पमात्रेण स्रष्टृत्वमुपपद्यते । जीवस्य स्वाभाविकसत्यसङ्कल्पत्वादेः कृत्स्नस्य संसारदशायामनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्, ईश्वरस्यैव तत्तत्पुरुषमात्रानुभाव्यतया आश्चर्यभूता सृष्टिरियम् । " तस्मिँल्लोकाश्श्रितास्सर्वे तदु नात्येति कश्चन " इति परमात्मैव तत्र स्रष्टेत्यवगम्यते—इति परिहृतं । अपवरकादिषु शयानस्य स्वप्नदृशः स्वदेहेनैव देशा-

१ बृ० उप० ६ अ० ३ ब्रा० १० । ७ वेशान्ताः० पा० । २ कठ० २ अ० ५ वल्ली० ८ । ३, ४, ५ शारी० ३ अ० २ पा० १-२-३ सू० ।

न्तरगमनराज्याभिषेकशिरश्छेदादयश्च पुण्यपापफलभूताश्शयानदेहसरूपसंस्थानदेहान्तरसृष्ट्योपपद्यन्ते ॥

पीतशङ्खादौ तु नयनवर्तिपित्तद्रव्यसंभिन्ना नायनरश्मयश्शङ्खादिभिस्संयुज्यन्ते । तत्र पित्तगतपीतिमाभिभूतशङ्खगतशुक्लिमा न गृह्यते । अतस्सुवर्णानुलिप्तशङ्खवत् पीतश्शङ्ख इति प्रतीयते । पित्तद्रव्यं तद्गतपीतिमा चातिसौक्ष्म्यात्पार्श्वस्थैर्न गृह्यते । पित्तोपहतेन तु स्वनयननिष्क्रान्ततयाऽतिसामीप्यात् सूक्ष्ममपि गृह्यते । तद्ग्रहणजनितसंस्कारसचिवनायनरश्मिभिर्दूरस्थमपि गृह्यते ॥

जपाकुसुमसमीपवर्तिस्फटिकमणिरपि तत्प्रभाभिभूततया रक्त इति गृह्यते । जपाकुसुमप्रभा विततापि स्वच्छद्रव्य १ संयुक्ततया स्फुटतरमुपलभ्यत इत्युपलब्धिव्यवस्थाप्यमिदम् । मरीचिकाजलज्ञानेऽपि तेजः पृथिव्योरप्यम्बुनो विद्यमानत्वादिन्द्रियदोषेण तेजः पृथिव्योरग्रहणाददृष्टवशाच्चाम्बुनो ग्रहणाद्यथार्थत्वम् । अलातचक्रेऽप्यलातस्य द्रुततरगमनेन सर्वदेशसंयोगादन्तरालाग्रहणात्तथा प्रतीतिरुपपद्यते । चक्रप्रतीतावप्यन्तरालाग्रहणपूर्वकतत्तद्देशसंयुक्ततत्तद्वस्तुग्रहणमेव । क्वचिदन्तरालाभावादन्तरालाग्रहणम्, क्वचिच्छैघ्र्यादग्रहणमिति विशेषः । अतस्तदपि यथार्थम् । दर्पणादिषु निजमुखादिप्रतीतिरपि यथार्था । दर्पणादिप्रतिहतगतयो हि नायनरश्मयो दर्पणादिदेशग्रहणपूर्वकं निजमुखादि गृह्णन्ति । तत्रापि अतिशैघ्र्यादन्तरालाग्रहणात्तथा प्रतीतिः ॥

दिङ्मोहेऽपि दिगन्तरस्यास्यां दिशि विद्यमानत्वाददृष्टवशेनैतद्दिगंशवियुक्तो दिगन्तरांशो गृह्यते । अतो दिगन्तरप्रतीतिर्यथार्थैव । द्विचन्द्रज्ञानादावपि अङ्गुल्यवष्टम्भतिमिरादिभिर्नायनतेजोगतिभेदेन सामग्रीभेदात्सामग्रीद्वयमन्योन्यनिरपेक्षं चन्द्रग्रहणद्वयहेतुर्भवति ।

१ संयुक्त० पा० ।

तत्रैका सामग्री स्वदेशविशिष्टं चन्द्रं गृह्णाति । द्वितीया तु किञ्चिद्वक्रगतिश्चन्द्रसमीपदेशग्रहणपूर्वकं चन्द्रं स्वदेशवियुक्तं गृह्णाति । अतस्सामग्रीद्वयेन युगपद्देशद्वयविशिष्टचन्द्रग्रहणे ग्रहणभेदेन ग्राह्याकारभेदादेकत्वग्रहणाभावाच्च द्वौ चन्द्राविति भवति प्रतीतिविशेषः । देशान्तरस्य तद्विशेषणत्वं देशान्तरस्य च, अगृहीतस्वदेशचन्द्रस्य च निरन्तरग्रहणेन भवति । तत्र सामग्रीद्वित्वं पारमार्थिकम् । तेन देशद्वयविशिष्टचन्द्रग्रहणद्वयं च पारमार्थिकम् । ग्रहणद्वित्वेन चन्द्रस्यैव ग्राह्याकारद्वित्वं च पारमार्थिकम् । तत्र विशेषणद्वयविशिष्टचन्द्रग्रहणद्वयस्यैक एव चन्द्रो ग्राह्य इति ग्रहणे प्रत्यभिज्ञानवत् केवलचक्षुषस्सामर्थ्याभावाक्षुषज्ञानं तथैवावतिष्ठते । द्वयोश्चक्षुषोरेकसामग्र्यन्तर्भावेपि तिमिरादिदोषभिन्नं चाक्षुषं तेजस्सामग्रीद्वयं भवतीति कार्यकल्प्यम् । अपगते तु दोषे स्वदेशविशिष्टस्य चन्द्रस्यैकग्रहणवेद्यत्वादेकश्चन्द्र इति भवति प्रत्ययः । दोषकृतं तु सामग्रीद्वित्वं तत्कृतं ग्रहणद्वित्वं तत्कृतं ग्राह्याकारद्वित्वं चेति निरवद्यम् ॥

अतस्सर्वं विज्ञानजातं यथार्थमिति सिद्धम् । ख्यात्यन्तराणां दूषणानि तैस्तैर्वादिभिरेव प्रपञ्चितानीति न तत्र यत्नः क्रियते । अथवा किमनेन बहुनोपपादानप्रकारेण । प्रत्यक्षानुमानागमाख्यं प्रमाणजातमागमगम्यं च निरस्तनिखिलदोषगन्धमनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणं सर्वज्ञं सत्यसङ्कल्पं परं ब्रह्माभ्युपगच्छतां किं न सेत्स्यति । किं नोपपद्यते । भगवता हि परेण ब्रह्मणा क्षेत्रज्ञपुण्यपापानुगुणं तद्भोग्यत्वायाखिलं जगत्सृजता सुखदुःखोपेक्षाफलानुभवानुभाव्याः पदार्थास्सर्वसाधारणानुभवविषयाः, केचन तत्तत्पुरुषमात्रानुभवविषयास्तत्तत्कालावसानास्तथातथाऽनुभाव्यास्सृज्यन्ते । तत्र बाध्यबाधकभावस्सर्वानुभवविषयतया तद्रहिततया चोपपद्यत इति सर्वं समञ्जसम् ॥

(अविद्यापरत्वेन परोक्तश्रुतिनिर्वाहः)

यत्पुनस्सदसदनिर्वचनीयमज्ञान श्रुतिसिद्धमिति ; तदसत्

१ "अनृतेन हि प्रत्यूढाः" इत्यादिष्वनृतशब्दस्यानिर्वचनीयानभिधायित्वात्। ऋतेतरविषयो ह्यनृतशब्दः। ऋतमिति कर्मवाचि। २ "ऋतं पिबन्तौ" इतिवचनात्। ऋतं—कर्मफलाभिसंधिरहितं परमपुरुषाराधनवेषं तत्प्राप्तिफलम्। ३ अत्र तद्व्यतिरिक्तं सांसारिकफलं कर्मानृतं ब्रह्मप्राप्तिविरोधि ४ "एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढाः" इति वचनात्॥

५ "नासदासीन्नो सदासीत्" इत्यत्रापि सदसच्छब्दौ चिदचिद्व्यष्टिविषयौ। उत्पत्तिवेलायां सत्त्यच्छब्दाभिहितयोश्चिदचिद्व्यष्टिभूतयोर्वस्तुनोरप्ययकाले अचित्समष्टिभूते तमश्शब्दाभिधेये वस्तुनि प्रलयप्रतिपादनपरत्वादस्य वाक्यस्य। नात्र कस्य चित्सदसदनिर्वचनीयतोच्यते; सदसतोः कालविशेषे असद्भावमात्रवचनात्। अत्र तमश्शब्दाभिहितस्याचित्समष्टित्वं श्रुत्यन्तरादवगम्यते—६ "अव्यक्तमक्षरे लीयते। अक्षरं तमसि लीयते" इति। सत्यम् तमश्शब्देनाचित्समष्टिरूपायाः प्रकृतेस्सूक्ष्मावस्थोच्यते। तस्यास्तु ७ "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" इति मायाशब्देनाभिधानादनिर्वचनीयत्वमिति चेत्; नैतदेवम्—मायाशब्दस्यानिर्वचनीयवाचित्वं न दृष्टमिति। मायाशब्दस्य मिथ्यापर्यायत्वेनानिर्वचनीयवाचित्वमिति चेत्; तदपि नास्ति; न हि सर्वत्र मायाशब्दो मिथ्याविषयः; आसुरराक्षसास्त्रादिषु सत्येष्वेव मायाशब्दप्रयोगात्। यथोक्तम्—

८ "तेन मायासहस्रं तच्छम्बरस्याऽऽशुगामिना।
बालस्य रक्षता देह ९ मैकैकश्येन सूदितम्॥" इति॥

अतो मायाशब्दो विचित्रार्थसर्गकराभिधायी। प्रकृतेश्च मायाशब्दाभिधानं विचित्रार्थसर्गकरत्वादेव। १० "अस्मान्मायी सृजते

१ छा० ८ प्र० ३ ख० २। २ कठ० १ अ० ३ वल्ली० १ वा०। ३ अतस्त० पा०। ४ छा० ८ प्र० ३ ख० १। ५ यजु० २ अष्टक० ८ प्र० ९ अनु०। ६ सुबाल० २ ख०। ७ श्वेताश्वतर० ४ अ० १०। ८ विष्णु० पु० १ अं० १९ अ० २० श्लो०। ९ मेकैकश निपु० पा०। १० श्वेताश्वतर० ४ अ० ९।

विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ''—इति मायाशब्दवाच्यायाः प्रकृतेर्विचित्रार्थसर्गकरत्वं दर्शयति। परमपुरुषस्य च तद्वत्तामात्रेण मायित्वमुच्यते; नाज्ञत्वेन। जीवस्यैव हि मायया निरोधश्श्रूयते। " तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः " इति, १ अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते " इति च। २ " इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते " इत्यत्रापि विचित्राश्शक्तयोऽभिधीयन्ते। अत एव हि ३ "भूरि त्वष्टेव राजति " इत्युच्यते। न हि मिथ्याभिभूतः कश्चिद्विराजते। ४ 'मम माया दुरत्यया' इत्यत्रापि गुणमयीति वचनात्सैव त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरुच्यत इति न श्रुतिभिस्सदसदनिर्वचनीयाज्ञानप्रतिपादनम्॥

नाप्यैक्योपदेशानुपपत्त्या; नहि ५ " तत्त्वमसि " इति जीव-परयोरैक्योपदेशे सति सर्वज्ञे सत्यसङ्कल्पे सकलजगत्सर्गस्थितिविना-शहेतुभूते तच्छब्दावगते प्रकृते ब्रह्मणि विरुद्धाज्ञानपरिकल्पनाहेतुभूता काचिदप्यनुपपत्तिर्दृश्यते। ऐक्योपदेशस्तु 'त्वं' शब्देनापि जीवशरीर-कस्य ब्रह्मण एवाभिधानादुपपन्नतरः। ६ " अनेन जीवेनाऽत्मना-ऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि " इति सर्वस्य वस्तुनः परमात्म-पर्यन्तस्यैव हि नामरूपभाक्त्वमुक्तम्। अतो न ब्रह्माज्ञानपरिकल्पनम्॥

(स्मृतिपुराणानामविद्यापरत्वनिरासः)

इतिहासपुराणयोरपि न ब्रह्माज्ञानवादः क्वचिदपि दृश्यते। ननु ७ " ज्योतींषि विष्णुः " इति ब्रह्मैकमेव तत्त्वमिति प्रतिज्ञाय ८ " ज्ञानस्वरूपो भगवान्यतोऽसौ " इति शैलाब्धिधरादिभेदभिन्नस्य जगतो ज्ञानैकस्वरूपब्रह्माज्ञानविजृम्भितत्वमभिधाय ९ " यदा तु शुद्धं निजरूपि " इति ज्ञानस्वरूपस्यैव ब्रह्मणः स्वस्वरूपावस्थितिवेलायां वस्तुभेदाभावदर्शनेनाज्ञानविजृम्भितत्वमेव स्थिरीकृत्य १० "वस्त्वस्ति

१ माण्डूक्योपनिषत्० २ ख० २१। २ बृहदारण्यक० ४ अ० ६ ब्रा० १९। ३। ४ गीता० ७ अ० १४ श्लो०। ५ छा० ६ प्र० ८ ख० ७ वा०। ६ छा० ६ प्र० ३ ख० २ वा०। ७, ८, ९, १० वि० पु० अं० २ अ० १२।

किं " १ " मही घटत्वम् " इति श्लोकद्वयेन जगदुपलब्धिप्रकारेणापि वस्तुभेदानामसत्यत्वमुपपाद्य २ " तस्मान्न विज्ञानमृते " इति प्रतिज्ञातं ब्रह्मव्यतिरिक्तस्यासत्यत्वमुपसंहृत्य ३ " विज्ञानमेकम् " इति ज्ञानस्वरूपे ब्रह्मणि भेददर्शननिमित्ताज्ञानमूलं निजकर्मैवेति स्फुटीकृत्य ४ " ज्ञानं विशुद्धम् " इति ज्ञानस्वरूपस्य ब्रह्मणः स्वरूपं विशोध्य ५ " सद्भाव * एवं भवतो मयोक्तः " इति ज्ञानस्वरूपस्य ब्रह्मण एव सत्यत्वं नान्यस्य; अन्यस्य त्वसत्यत्वमेव; तस्य भुवनादेस्सत्यत्वं व्यावहारिकमिति तत्त्वं तत्रोपदिष्टमिति ह्युपदेशो दृश्यते ॥

नैतदेवम् ; अत्र भुवनकोशस्य विस्तीर्णं स्वरूपमुक्त्वा, पूर्वमनुक्तं रूपान्तरं संक्षेपतः ६ " श्रूयताम् " इत्यारभ्याभिधीयते । चिदचिन्मिश्रे जगति चिदंशो वाङ्मनसागोचरस्वसंवेद्यस्वरूपभेदो ज्ञानैकाकारतया अस्पृष्टप्राकृतभेदोऽविनाशित्वेनास्तिशब्दवाच्यः । अचिदंशस्तु चिदंशकर्मनिमित्तपरिणामभेदो विनाशीति नास्तिशब्दाभिधेयः । उभयं तु परब्रह्मभूतवासुदेवशरीरतया तदात्मकमित्येतद्रूपं संक्षेपेणात्राभिहितम् ॥

तथाहि—

७ " यदम्बु वैष्णवः कायस्ततो विप्र वसुन्धरा ।
पद्माकारा समुद्भूता पर्वताब्ध्यादिसंयुता ॥ "

इत्यम्बुनो विष्णोश्शरीरत्वेनाम्बुपरिणामभूतं ब्रह्माण्डमपि विष्णोः कायः, तस्य च विष्णुरात्मेति सकलश्रुतिगततादात्म्योप-

१, २, ३, ४, ५ वि० पु० अं० २ अ० १२ श्लो० ३७, ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५ ।

* 'एषः' इतिपा० 'एषो भवतः' इतिपाठे त्वार्षत्वात् सुपोलोपाभावः, इति विष्णुचित्तीये ।

६ वि० पु० अं० २ अ० १२ श्लो० ३६ । ७ वि० पु० अं० २ अ० १२ श्लो० ३७ ।

देशोपबृंहणरूपस्य सामानाधिकरण्यस्य "ज्योतींषि विष्णुः" इत्यारभ्य वक्ष्यमाणस्य शरीरात्मभावएव निबन्धनमित्याहुः। अस्मिन् शास्त्रे पूर्वमप्येतदसकृदुक्तम् –१ "तानि सर्वाणि तद्वपुः" २ "तत्सर्वं वै हरेस्तनुः" ३ "स एव सर्वभूतात्मा विश्वरूपो यतोऽव्ययः" इति। तदिदं शरीरात्मभावायत्तं तादात्म्यं सामानाधिकरण्येन व्यपदिश्यते "ज्योतींषि विष्णुः" इति। अत्रास्त्यात्मकं नास्त्यात्मकं च जगदन्तर्गतं वस्तु विष्णोः कायतया विष्ण्वात्मकमित्युक्तम्। इदमस्त्यात्मकम्, इदं नास्त्यात्मकम्, अस्यच नास्त्यात्मकत्वे हेतुरयमित्याह—"ज्ञानस्वरूपो भगवान्यतोऽसौ" इति। अशेषक्षेत्रज्ञात्मनाऽवस्थितस्य भगवतो ज्ञानमेव स्वाभाविकं रूपम्। न देवमनुष्यादिवस्तुरूपम्। यत एवम्, तत एवाचिद्रूपदेवमनुष्यशैलाब्धिधरादयश्च तद्विज्ञानविजृम्भिताः; तस्य ज्ञानैकाकारस्य सतो देवाद्याकारेण स्वात्मवैविध्यानुसंधानमूलाः देवाद्याकारानुसंधानमूलकर्ममूला इत्यर्थः। यतश्चाचिद्वस्तु क्षेत्रज्ञकर्मानुगुणपरिणामास्पदं, ततस्तन्नास्तिशब्दाभिधेयम्, इतरदस्तिशब्दाभिधेयमित्यर्थादुक्तं भवति। तदेव विवृणोति "– यदा तु शुद्धं निजरूपि" इति। यदैतत् ज्ञानैकाकारमात्मवस्तु देवाद्याकारेण स्वात्मनि वैविध्यानुसंधानमूलसर्वकर्मक्षयान्निर्दोषं परिशुद्धं निजरूपि भवति, तदा देवाद्याकारैरैकीकृत्यात्मकल्पनामूलकर्मफलभूतास्तद्भोगार्था वस्तुषु वस्तुभेदा न भवन्ति। ये देवादिषु वस्तुष्वात्मतयाभिमतेषु भोग्यभूता देवमनुष्यशैलाब्धिधरादिवस्तुभेदाः; ते तन्मूलभूतकर्मसु विनष्टेषु न भवन्तीत्यचिद्वस्तुनः कादाचित्कावस्थाविशेषयोगितया नास्तिशब्दाभिधेयत्वम्, इतरस्य सर्वदा निजसिद्धज्ञानैकाकारत्वेन अस्तिशब्दाभिधेयत्वमित्यर्थः। प्रतिक्षणमन्यथाभूततया कादाचित्कावस्थायोगिनोऽचिद्वस्तुनो नास्तिशब्दाभिधेयत्वमेवेत्याह—"वस्त्वस्ति किम्" इति। अस्तिशब्दाभि-

---

१, २ वि० पु० अं० १ अ० २२ श्लो० ८६, ३८। ३ वि० पु० अ० १ अ० २ श्लो० ६१।

धेयो ह्यादिमध्यपर्यन्तहीनस्सततैकरूपः पदार्थः, तस्य कदाचिदपि नास्तिबुद्ध्यनर्हत्वात्; अचिद्वस्तु किंचित् क्वचिदपि तथा भूतं न दृष्टचरम् । ततः किमित्यत्राह—१"यच्चान्यथात्वम्" इति यद्वस्तु प्रतिक्षणमन्यथात्वं याति; तदुत्तरोत्तरावस्थाप्राप्तया पूर्वपूर्वावस्थां जहातीति तस्य पूर्वावस्थस्योत्तरावस्थायां न प्रतिसंधानमस्ति । अतस्सर्वदा तस्य नास्तिशब्दाभिधेयत्वमेव । तथा ह्युपलभ्यत इत्याह—"मही घटत्वम्" इति । स्वकर्मणा देवमनुष्यादिभावेन स्तिमितात्मनिश्चयैस्स्वभोग्यभूतमचिद्वस्तु प्रतिक्षणमन्यथाभूतमालक्ष्यते—अनुभूयत इत्यर्थः । एवं सति किमप्यचिद्वस्त्वस्तिशब्दार्हगादिमध्यपर्यन्तहीनं सततैकरूपमालक्षितमस्ति किम्? न ह्यस्तीत्यभिप्रायः । यस्मादेवम्, तस्मात् ज्ञानस्वरूपात्मव्यतिरिक्तमचिद्वस्तु कदाचित्क्वचित् केवलास्तिशब्दवाच्यं न भवतीत्याह—"तस्मान्न विज्ञानमृते" इति । आत्मा तु सर्वत्र ज्ञानैकाकारतया देवादिभेदप्रत्यनीकस्वरूपोऽपि देवादिशरीरप्रवेशहेतुभूतस्वकृतविविधकर्ममूलदेवादिभेदभिन्नात्मबुद्धिभिस्तेनतेन रूपेण बहुधाऽनुसंहितइति तद्भेदानुसंधानं नात्मस्वरूपप्रयुक्तमित्याह—'विज्ञानमेकम्' इति ॥

आत्मस्वरूपं तु कर्मरहितम्, तत एव मलरूपप्रकृतिस्पर्शरहितम् । ततश्च तत्प्रयुक्तशोकमोहलोभाद्यशेषहेयगुणासङ्गि, उपचयापचयानर्हतयैकम्, तत एव सदैकरूपम् । तच्च वासुदेवशरीरमिति तदात्मकम्, अतदात्मकस्य कस्यचिदप्यभावादित्याह—"ज्ञानं विशुद्धम्" इति । चिदंशस्सदैकरूपतया सर्वदाऽस्तिशब्दवाच्यः । अचिदंशस्तु क्षणपरिणामित्वेन सर्वदा नाशगर्भइति सर्वदा नास्तिशब्दाभिधेयः । एवंरूपचिदचिदात्मकं जगद्वासुदेवशरीरं तदात्मकमिति जगद्याथात्म्यं सम्यगुक्तमित्याह—"सद्भाव एवम्" इति । अत्र 'सत्यम्, असत्यम्' इति "यदस्ति यन्नास्ति" इति प्रक्रान्तस्योपसंहारः । एत ज्ञानैकाकारतया समम्, अशब्दगोचरस्वरूपभेदमेवाचिन्मिश्रं भुवनाश्रितं देवमनुष्यादिरूपेण सम्यग्व्यवहारार्हभेदं यद्वर्तते; तत्र हेतुः

१ वि० पु० २, १२, ४१।

कर्मैवेत्युक्तमित्याह—१"एतत्तु यत्" इति। तदेव विवृणोति-२"यज्ञः पशुः" * इति जगद्याथात्म्यज्ञानप्रयोजनं मोक्षोपाययतनमित्याह-३"यच्चैतत्" इति॥

अत्र निर्विशेषे परे ब्रह्मणि तदाश्रये सदसदनिर्वचनीये चाज्ञाने, जगतस्तत्कल्पितत्वे४ चाऽनुगुणं किञ्चिदपि पदं न दृश्यते। अस्तिनास्तिशब्दाभिधेयं चिदचिदात्मकं कृत्स्नं जगत् परमस्य परेशस्य परस्य ब्रह्मणो विष्णोः कायत्वेन तदात्मकम्। ज्ञानैकाकारस्याऽऽत्मनो देवादिविविधाकारानुभवेऽचित्परिणामे च हेतुर्वस्तुयाथात्म्यज्ञानविरोधि क्षेत्रज्ञानां कर्मैवेति प्रतिपादनात् अस्तिनास्तिसत्यासत्यशब्दानां च सदसदनिर्वचनीयवस्त्वभिधानासामर्थ्याच्च नास्त्यसत्यशब्दावस्तिसत्यशब्दविरोधिनौ। अतश्च ताभ्यामसत्त्वं हि प्रतीयते; नानिर्वचनीयत्वम्। अत्र चाचिद्वस्तुनि नास्त्यसत्यशब्दौ न तुच्छत्वमिथ्यात्वपरौ प्रयुक्तौ; अपि तु विनाशित्वपरौ। "वस्त्वस्ति किम्" "मही घटत्वम्" इत्यत्रापि विनाशित्वमेव ह्युपपादितम्; न निष्प्रमाणकत्वं, ज्ञानबाध्यत्वं वा; एकेनाकारेणैकस्मिन् कालेऽनुभूतस्य कालान्तरे परिणामविशेषेणान्यथोपलब्ध्या नास्तित्वोपपादनात्। तुच्छत्वं हि प्रमाणसंबन्धानर्हत्वम्। बाधोऽपि यद्देशकालादिसम्बन्धितया यदस्तीत्युपलब्धम्; तस्य तद्देशकालादिसम्बन्धितया नास्तीत्युपलब्धिः; न तु कालान्तरे, अनुभूतस्य कालान्तरे परिणामादिना नास्तीत्युपलब्धिः; कालभेदेन विरोधाभावात्। अतो न मिथ्यात्वम्॥

एतदुक्तं भवति—ज्ञानस्वरूपमात्मवस्तु आदिमध्यपर्यन्तहीनं सततैकस्वरूपमिति स्वत एव सदाऽस्तिशब्दवाच्यम्। अचेतनं तु क्षेत्रज्ञभोग्यभूतं तत्कर्मानुगुणपरिणामि विनाशीति सर्वदा नास्त्यर्थगर्भमिति नास्त्यसत्य शब्दाभिधेयम्—इति॥ यथोक्तम्—

१ वि. पु० २, १२, ४५.। २ वि. पु० २, १२ ४७.। ३ वि. पु० २, १२, ४६।
४ त्वे चानुगु० पा.

* यथा 'पशुना यजेत' इत्यत्र पशु प्राधान्येन 'यज्ञः' पशु शब्देनव्यवह्रियते, तथा चिदचिन्मिश्रे जगति ब्रह्मप्राधान्याद्ब्रह्म ति व्यवहारः।

१"यत्तु कालान्तरेणापि नान्यसंज्ञामुपैति वै।
परिणामादिसंभूतां तद्वस्तु नृप तच्च किम्॥"
२"अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते।
तत्तु ३नास्ति न संदेहो नाशिद्रव्योपपादितम्॥ इति॥

देशकालकर्मविशेषापेक्षया अस्तित्वनास्तित्वयोगिनि वस्तुनि केवलास्तिबुद्धिबोध्यत्वमपरमार्थ इत्युक्तम्। आत्मन एव केवलास्तिबुद्धिबोध्यत्वमिति स परमार्थ इत्युक्तम्। श्रोतुश्च मैत्रेयस्य—

४"विष्ण्वाधारं यथा चैतत्त्रैलोक्यं समवस्थितम्।
परमार्थश्च मे प्रोक्तो यथाज्ञानं प्रधानतः॥"

५इत्यनुभाषणाच्च, "ज्योतींषि विष्णुः" इत्यादिसामानाधिकरण्यस्याऽऽत्मशरीरभाव एव निबन्धनम्। चिदचिद्वस्तुनोश्चास्तिनास्तिशब्दप्रयोगनिबन्धनं ज्ञानस्याकर्मनिमित्तस्वाभाविकरूपत्वेन प्राधान्यम्; अचिद्वस्तुनश्च तत्कर्मनिमित्तपरिणामित्वेनाप्राधान्यमिति प्रतीयते॥

(निवर्तकानुपपत्तिः)

यदुक्तं—निर्विशेषब्रह्मविज्ञानादेवाविद्यानिवृत्तिं वदन्ति श्रुतयः—इति। तदसत्, ६"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्। आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेवं विद्वानमृत इह भवति। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" ७"सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि" ८"न तस्येशे कश्चन तस्य नाम महद्यशः" ९"य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति" इत्याद्यनेकवाक्य-

१ वि० पु० अं० २ अ० १३. श्लो० १००। २ वि० पु० अं० २ अ० १४ श्लो० २४। ३ नाशि० पा०। ४ वि० पु० अं २ अ० २ श्लो० २। ५ इत्याद्यनु पा०। ६ तैत्तिरीयारण्यके० ब्रह्ममेधे० पुरुषसूक्तम्० ३. १२. १३ महानारायणोपनिषदि च ४ अ०। २. ३. ४ तैत्तिरीयारण्यके० ६. प्रश्ने० नारायणानुवाके० १. अनु० ८ ६ १०।

विरोधात्। ब्रह्मणस्सविशेषत्वादेव सर्वाण्यपि वाक्यानि सविशेषज्ञानादेव मोक्षं वदन्ति । शोधकवाक्यान्यपि सविशेषमेव ब्रह्म प्रतिपादयन्तीत्युक्तम् ॥

(तत्त्वमस्यादि वाक्यार्थविचारः)

÷ तत्त्वमस्यादिवाक्येषु सामानाधिकरण्यं न निर्विशेषवस्त्वैक्यपरम्, तत्त्वंपदयोस्सविशेषब्रह्माभिधायित्वात् । तत्पदं हि सर्वज्ञं सत्यसङ्कल्पं जगत्कारणं १ ब्रह्म परामृशति—"तदैक्षत बहु स्याम्" इत्यादिषु तस्यैव प्रकृतत्वात्। तत्समानाधिकरणं त्वंपदं च अचिद्विशिष्टजीवशरीरकं ब्रह्म प्रतिपादयति, प्रकारद्वयावस्थितैकवस्तुपरत्वात्सामानाधिकरण्यस्य । प्रकारद्वयपरित्यागे प्रवृत्तिनिमित्तभेदासंभवेन सामानाधिकरण्यमेव परित्यक्तं स्यात्; द्वयोः पदयोर्लक्षणा च। 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यत्रापि न लक्षणा, भूतवर्तमानकालसंबन्धितयैक्यप्रतीत्यविरोधात्। देशभेदविरोधश्च कालभेदेन परिहृतः। "तदैक्षत बहु स्याम्" इत्युपक्रमविरोधश्च। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानं च न घटते। ज्ञानस्वरूपस्य निरस्तनिखिलदोषस्य सर्वज्ञस्य समस्तकल्याणगुणात्मकस्याज्ञानं तत्कार्यानन्तापुरुषार्थाश्रयत्वं च न भवति। बाधा-

÷ इह खलु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'अयमात्मा ब्रह्म', तत्त्वमसि, इत्यादि समानाधिकरणपदघटित वाक्यार्थौ विचार्यते ॥ तत्पद प्रयोज्य विशेष्यताविशिष्टाभेदसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारताप्रयोजकत्वं तेन समं समानाधिकरणत्वम्; नीलमुत्पलमित्यादौ, उत्पल पद प्रयोज्य विशेष्यताविशिष्ट प्रकारताप्रयोजकत्वात् नीलपदस्योत्पल पदेन सामानाधिकरण्योपपत्तिः । प्रकारतायां विशेष्यतावैशिष्ट्यं च स्वानवच्छेदकधर्मावच्छिन्नत्व स्वनिरूपितोभय सम्बन्धेन । घटोघट इत्यादौ सामानाधिकरण्यवारणाय प्रथमसम्बन्धनिवेशः । एवं रीत्या वेदान्त वादावल्यांसर्वमवधेयम् ।

५ प्रतिपादयति० पा०

र्थत्वे च सामानाधिकरण्यस्य त्वंतत्पदयोरधिष्ठानलक्षणा निवृत्तिलक्षणा चेति लक्षणादयस्त एव दोषाः ॥

इयांस्तु विशेषः—नेदं रजतमितिवदप्रतिपन्नस्यैव बाधस्यागत्या परिकल्पनम्; तत्पदेनाधिष्ठानातिरेकिधर्मानुपस्थापनेन बाधानुपपत्तिश्च। अधिष्ठानं तु प्राक्तिरोहितमतिरोहितस्वरूपं तत्पदेनोपस्थाप्यत १इति चेन्न, प्रागधिष्ठानाप्रकाशे तदाश्रयभ्रमबाधयोरसंभवात्। भ्रमाश्रयमधिष्ठानमतिरोहितमिति चेत्; तदेवाधिष्ठानस्वरूपं भ्रमविरोधीति तदप्रकाशे सुतरां न तदाश्रयभ्रमबाधौ। अतोऽधिष्ठानातिरेकिपारमार्थिकधर्मतत्तिरोधानानभ्युपगमे भ्रान्तिबाधौ दुरुपपादौ। अधिष्ठाने हि पुरुषमात्राकारे प्रतीयमाने तदतिरेकिणि पारमार्थिके राजत्वे तिरोहिते सत्येव व्याधत्वभ्रमः। राजत्वोपदेशेन च तन्निवृत्तिर्भवति; नाधिष्ठानमात्रोपदेशेन; तस्य प्रकाशमानत्वेनानुपदेश्यत्वात्; भ्रमानुपमर्दित्वाच्च ॥

जीवशरीरकजगत्कारणब्रह्मपरत्वे मुख्यवृत्तं पदद्वयम्। प्रकारद्वयविशिष्टैकवस्तुप्रतिपादनेन सामानाधिकरण्यं च सिद्धम्। निरस्तनिखिलदोषस्य समस्तकल्याणगुणात्मकस्य ब्रह्मणो जीवान्तर्यामित्वमप्यैश्वर्यमपरं प्रतिपादितं भवति। उपक्रमानुकूलता च।। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपत्तिश्च; सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरस्यैव ब्रह्मणस्स्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरत्वेन कार्यत्वात् २"तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्" ३"पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" ४"अपहतपाप्मा..... सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः" इत्यादिश्रुत्यन्तराविरोधश्च ॥

"तत्त्वमसि" इत्यत्रोद्देश्योपादेयविभागः कथमिति चेत्;

---

१ इतिचेन्न अधिष्ठानाप्रकाशे० पा० । २, ३, श्वे० ६. ७, ८, अ० वा० । ४ छा० ८ प्र० १ ख० ६ वा०।

नात्र किञ्चिदुद्दिश्य किमपि विधीयते; १"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्यनेनैव प्राप्तत्वात् । अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत् । इदं सर्वमिति सजीवं जगन्निर्दिश्य ऐतदात्म्यमिति तस्यैष आत्मेति तत्र प्रतिपादितम् । तत्र च हेतुरुक्तः— २"सन्मूलास्सोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सदायतनास्सत्प्रतिष्ठाः" इति; ३ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानितिशान्तः" इतिवत् ।।

तथा श्रुत्यन्तराणि च ब्रह्मणस्तद्व्यतिरिक्तस्य चिदचिद्वस्तुनश्च शरीरात्मभावमेव तादात्म्यं वदन्ति—४ 'अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा" ५"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" ६"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" ७"यःपृथिवीमन्तरे संचरन्" इत्यारभ्य ८"यस्य मृत्युश्शरीरम् । यं मृत्युर्न वेद । एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" ९"तत्सृष्ट्वा । तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य । सच्च त्यच्चाभवत्" इत्यादीनि । अत्रापि—१०"अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि इति ब्रह्मात्मकजीवानुप्रवेशेनैव सर्वेषां वस्तुत्वं शब्दवाच्यत्वं च प्रतिपादितम् । तदनुप्रविश्य । सच्च त्यच्चाभवत्" इत्यनेनैकार्थ्याज्जीवस्यापि ब्रह्मात्मकत्वं ब्रह्मानुप्रवेशादेवेत्यवगम्यते । अतश्चिदचिदात्मकस्य सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मतादात्म्यमात्मशरीरभावादेवेत्यवगम्यते । तस्मात् ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य तच्छरीरत्वेनैव वस्तुत्वात्तस्य प्रतिपादकोऽपि शब्दस्तत्पर्यन्तमेव स्वार्थमभिदधाति । अतस्सर्वशब्दानां लोकव्युत्पत्त्यवगततत्तत्पदार्थविशिष्टब्रह्माभिधायित्वं सिद्धमिति "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इति प्रतिज्ञातार्थस्य "तत्त्वमसि" इति सामानाधिकरण्येन विशेष उपसंहारः ॥

१, २ छा० ६ प्र० ८ ख० ७, ४ वा० । ३ छा० ३ प्र० १४ ख० १ वा० । ४ आरण्यके० ३ प्रश्ने० ११ अनु० २० पं० । ५ बृ० ५ अ० ७ ब्रा० ३ । ६ बृ० ५ अ० ७ ब्रा० २२ विज्ञानस्थाने माध्यन्दिनपाठः । ७ सुबालोपनिषदि० ७ ख० । ८ तै० आन० ६ अनु० २ । १० छा० ६ प्र० ३ ख० २ ।

अतो निर्विशेषवस्त्वैक्यवादिनो भेदाभेदवादिनः केवलभेदवादिनश्च वैयधिकरण्येन सामानाधिकरण्येन च ब्रह्मात्मभावोपदेशास्सर्वे परित्यक्तास्स्युः। एकस्मिन्वस्तुनि कस्य तादात्म्यमुपदिश्यते? तस्यैवेति चेत्; १ तत्त्ववाक्येनैवावगतमिति न तादात्म्योपदेशावसेयमस्ति किञ्चित्। कल्पितभेदनिरसनमिति चेत्; तत्तु न सामानाधिकरण्यतादात्म्योपदेशावसेयमित्युक्तम्। सामानाधिकरण्यं तु ब्रह्मणि प्रकारद्वयप्रतिपादनेन विरोधमेवाऽवहेत्। भेदाभेदवादे तु ब्रह्मण्येवोपाधिसंसर्गात्तत्प्रयुक्ता जीवगता दोषा ब्रह्मण्येव प्रादुःष्युरिति निरस्तनिखिलदोषकल्याणगुणात्मकब्रह्मात्मभावोपदेशा हि विरोधादेव परित्यक्तास्स्युः। स्वाभाविकभेदाभेदवादेऽपि ब्रह्मणस्स्वत एव जीवभावाभ्युपगमात् गुणवद्दोषाश्च स्वाभाविका भवेयुरिति निर्दोषब्रह्मतादात्म्योपदेशो विरुद्ध एव। केवलभेदवादिनां चात्यन्तभिन्नयोः केनापि प्रकारेणैक्यासंभवादेव ब्रह्मात्मभावोपदेशा न संभवन्तीति सर्ववेदान्तपरित्यागस्स्यात्॥

(अपर्यवसानवृत्तिनिरूपणम्)

निखिलोपनिषत्प्रसिद्धं कृत्स्नस्य ब्रह्मशरीरभावमातिष्ठमानैः कृत्स्नस्य ब्रह्मात्मभावोपदेशास्सर्वे सम्यगुपपादिता भवन्ति। जातिगुणयोरिव द्रव्याणामपि शरीरभावेन २ विशेषणत्वेन 'गौरश्वो मनुष्यो देवो जातः पुरुषः कर्मभिः' इति सामानाधिकरण्यं लोकवेदयोर्मुख्यमेव दृष्टचरम्। जातिगुणयोरपि द्रव्यप्रकारत्वमेव 'खण्डो गौः' 'शुक्लः पटः' इति सामानाधिकरण्यनिबन्धनम्। मनुष्यत्वादिविशिष्टपिण्डानामप्यात्मनः प्रकारतयैव पदार्थत्वात् 'मनुष्यः पुरुषष्षण्डो योषिदात्मा जातः' इति सामानाधिकरण्यं सर्वत्रानुगतमिति प्रकारत्वमेव सामानाधिकरण्यनिबन्धनम्, न परस्परव्यावृत्ता जात्यादयः। स्वनिष्ठानामेव हि द्रव्याणां कदाचित् क्वचिद्द्रव्यविशेषणत्वे मत्वर्थीयप्रत्ययो दृष्टः, 'दण्डी कुण्डली' इति; न पृथक् प्रतिपत्तिस्थित्यनर्हाणां द्रव्याणाम्; तेषां विशेषणत्वं सामानाधिकरण्यावसेयमेव॥

१ तत्त्ववाक्येनाव० पा०। २ विशेषणत्वे० पा०।

यदि 'गौरश्वो मनुष्यो देवः पुरुषो योषित् षण्ड आत्मा कर्मभिर्जातः' इत्यत्र 'खण्डो मुण्डो गौः' 'शुक्लः पटः' 'कृष्णः पटः' इति जाति गुणवदात्मप्रकारत्वं मनुष्यादिशरीराणामिष्यते; तर्हि जातिव्यक्त्योरिव प्रकारप्रकारिणोश्शरीरात्मनोरपि नियमेन सह प्रतिपत्तिस्स्यात्; न चैवं दृश्यते। नहि नियमेन गोत्वादिवदात्माश्रयतयैवाऽऽत्मना सह मनुष्यादिशरीरं पश्यन्ति। अतो 'मनुष्य आत्मा' इति सामानाधिकरण्यं लाक्षणिकमेव। नैतदेवम्; मनुष्यादिशरीराणामप्यात्मैकाश्रयत्वम्, तदेकप्रयोजनत्वम्, तत्प्रकारत्वं च जात्यादितुल्यम्। आत्मैकाश्रयत्वमात्मविश्लेषे शरीरविनाशादवगम्यते। आत्मैकप्रयोजनत्वं च तत्कर्मफलभोगार्थतयैव सद्भावात्। तत्प्रकारत्वमपि 'देवो मनुष्यः' इत्यात्मविशेषणतयैव प्रतीतेः। एतदेव हि गवादिशब्दानां व्यक्तिपर्यन्तत्वे हेतुः। एतत्स्वभावविरहादेव दण्डकुण्डलादीनां विशेषणत्वे 'दण्डी, कुण्डली' इति मत्वर्थीयप्रत्ययः। देवमनुष्यादिपिण्डानामात्मैकाश्रयत्वतदेकप्रयोजनत्वतत्प्रकारत्वस्वभावात् 'देवो मनुष्य आत्मा' इति लोकवेदयोस्सामानाधिकरण्येन व्यवहारः जातिव्यक्त्योर्नियमेन सह प्रतीतिरुभयोश्चाक्षुषत्वात्। आत्मनस्त्वचाक्षुषत्वाच्चक्षुषा शरीरग्रहणवेलायामात्मा न गृह्यते। पृथग्ग्रहणयोग्यस्य प्रकारतैकस्वरूपत्वं दुर्घटमिति मा वोचः; जात्यादिवत्तदेकाश्रयत्वतदेकप्रयोजनत्वतद्विशेषणत्वैश्शरीरस्यापि तत्प्रकारतैकस्वभावत्वावगमात्। सहोपलम्भनियमस्त्वेकसामग्रीवेद्यत्वनिबन्धन इत्युक्तम्। यथा चक्षुषा पृथिव्यादेर्गन्धरसादिसम्बन्धित्वं स्वाभाविकमपि न गृह्यते; एवं चक्षुषा गृह्यमाणं शरीरमात्मप्रकारतैकस्वभावमपि न तथा गृह्यते; आत्मग्रहणे चक्षुषस्सामर्थ्याभावात् नैतावता शरीरस्य तत्प्रकारत्वस्वभावविरहः। तत्प्रकारतैकस्वभावत्वमेव सामानाधिकरण्यनिबन्धनम्। आत्मप्रकारतया प्रतिपादनसमर्थस्तु शब्दस्सहैव प्रकारतया प्रतिपादयति॥

ननु च शाब्देऽपि व्यवहारे शरीरशब्देन शरीरमात्रं गृह्यत इति नात्मपर्यन्तता शरीरशब्दस्य। नैवम्; आत्मप्रकारभूतस्यैव शरीरस्य पदार्थविवेकप्रदर्शनाय निरूपणाधिष्कर्षकशब्दोऽयम्; यथा 'गोत्वं शुक्लत्वमाकृतिर्गुणः' इत्यादिशब्दाः॥

अतो गवादिशब्दवद्देवमनुष्यादिशब्दा आत्मपर्यन्ताः। एवं देवमनुष्यादिपिण्डविशिष्टानां जीवानां परमात्मशरीरतया तत्प्रकारत्वात् जीवात्मवाचिनश्शब्दाः परमात्मपर्यन्ताः। अतः परस्य ब्रह्मणः प्रकारतयैव चिदचिद्वस्तुनः पदार्थत्वमिति तत्सामानाधिकरण्येन प्रयोगः। अयमर्थो वेदार्थसंग्रहे समर्थितः।

(मतान्तरेषु सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः)

इदमेव शरीरात्मभावलक्षणं तादात्म्यम् १ "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" इति वक्ष्यति; २ "आत्मेत्येव तु गृह्णीयात्" इति च वाक्यकारः॥

(संग्रहेणसिद्धान्तोपन्यासः)

अत्रेदं तत्त्वम्—अचिद्वस्तुनः, चिद्वस्तुनः परस्य च ब्रह्मणो भोग्यत्वेन भोक्तृत्वेन चेशितृत्वेन च स्वरूपविवेकमाहुः काश्चन श्रुतयः– ३ "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः" ४ "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" ५ "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः"; अमृताक्षरं हर इति भोक्ता निर्दिश्यते. प्रधानमात्मनो भोग्यत्वेन हरतीति हरः। ६ "स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" ७ "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" ८ "पतिं विश्वस्याऽऽत्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतम्" ९ "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" १० "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" ११ "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा" १२ "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्-

---

१ शारी० ४ अ० १ पा० ३ सू०। २ वृत्ति०। ३, ४ श्वे० ४ अ० ९-१०। ५ श्वे० १ अ० १०। ६ श्वे० ६ अ० ९। ७ श्वे० ६ अ० १६। ८ तै० नारायणो० ११ अनु० ३ वा०। ९ श्वे० १ अ० ९। १० कठ० ५ वल्ली० १३। ११ श्वे० १ अ० १२। १२ मु० ३ मु० १ ख० १।

न्यो अभिचाकशीति " १ " पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति " २ " अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः " ३ " समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः" इत्याद्याः ॥ स्मृतावपि—

४ " अहङ्कारइतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ "

५ " सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥"

६ " मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिस्सूयते सचराचरम्।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्धि परिवर्तते ॥"

७ " प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।"

८ " मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवस्सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥" इति ॥

जगद्योनिभूतं महत् ब्रह्म मदीयं प्रकृत्याख्यं भूतसूक्ष्ममचिद्वस्तु यत्; तस्मिंश्चेतनाख्यं गर्भं यस्संयोजयामि, ततो मत्कृताच्चिदचित्संसर्गाद्देवादिस्थावरान्तानामचिन्मिश्राणां सर्वभूतानां सम्भवो भवतीत्यर्थः ॥

---

१ श्वे० १ अ० ६। २ तै० ६ प्र० नारायणे०। १० अनु० ५। ३ श्वे० ४ अ० ७। ४ गी० ७ अ० ४, ५ श्लो०। ५ गी० ९ अ० ७, ८ श्लो०। ६ गी० अ० ९ १० श्लो०। ७ गी० १३ अ० १९ श्लो०। ८ गी० १४ अ० ३ श्लो०।

एवं भोक्तृभोग्यरूपेणावस्थितयोस्सर्वावस्थावस्थितयोश्चिदचितोः परमपुरुषशरीरतया तन्नियाम्यत्वेन तदपृथक्स्थितिं परमपुरुषस्य चात्मत्वमाहुः काश्चन श्रुतयः—१ " यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति " इत्यारभ्य २ " य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः " इति। तथा—३ " यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन्यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद " इत्यारभ्य ४ " योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन्यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद यो मृत्युमन्तरे सञ्चरन्यस्य मृत्युश्शरीरं यं मृत्युर्न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः "; अत्र मृत्युशब्देन तमश्शब्दवाच्यं सूक्ष्मावस्थमचिद्वस्त्वभिधीयते; अस्यामेवोपनिषदि—५ " अव्यक्तमक्षरे ६ लीयते । अक्षरं तमसि ७ लीयते " इति वचनात्। ८ "अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा " इति च ॥

एवं सर्वावस्थावस्थितचिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारः परमपुरुष एव कार्यावस्थकारणावस्थजगद्रूपेणावस्थित इतीममर्थं ज्ञापयितुं काश्चन श्रुतयः कार्यावस्थं कारणावस्थं च जगत् स एवेत्याहुः—९ " सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत " इत्यारभ्य १० " सन्मूलास्सोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सदायतनास्सत्प्रतिष्ठाः । ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो " इति । तथा ११ " सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत " इत्यारभ्य १२ " सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् " इत्याद्याः ॥

---

१ बृ० ५ अ० ७ ब्रा० ३ । २ बृ० ५ अ० ७ ब्रा० विज्ञानस्थाने माध्यन्दिनपाठ० २२ । ३, ४ सुबाल० ७ ख० । ५ सुबाल० २ ख० । ६, ७ विलीयते पा० । ८ यजुरारण्यके० ३ प्रश्ने० चित्ति० ११ अनु० २१ पं० । ९ छा० ६ प्र० २ ख० १ । १० छा० ६ प्र० ८ ख० ६ । ११ । १२ तै० आन० ६ अनु० २–३ ।

अत्रापि श्रुत्यन्तरसिद्धश्चिदचितोः परमपुरुषस्य च स्वरूपविवेकस्स्मारितः —१ "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति,—"तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्चत्यच्चाभवत्"…"विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्" इति च। "अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य" इति जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वं, "तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्" "विज्ञानं चाविज्ञानं च" इत्यनेनैकार्थ्यात् आत्मशरीरभावनिबन्धनमिति विज्ञायते। एवंभूतमेव नामरूपव्याकरणं २ "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्। तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इत्यत्राप्युक्तम्। अतः कार्यावस्थः कारणावस्थश्च स्थूलसूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरः परमपुरुष एवेति कारणात्कार्यस्यानन्यत्वेन कारणविज्ञानेन कार्यस्य ज्ञाततयैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं समीहितमुपपन्नतरम्। "अहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति, "तिस्रो देवता" इति सर्वमचिद्वस्तु निर्दिश्य तत्र स्वात्मकजीवानुप्रवेशेन नामरूपव्याकरणवचनात् सर्वे वाचकाश्शब्दाः ३ अचिद्विशिष्टजीवविशिष्टपरमात्मन एव वाचका इति कारणावस्थपरमात्मवाचिना शब्देन कार्यवाचिनश्शब्दस्य सामानाधिकरण्यं मुख्यवृत्तम्। अतः स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारं ब्रह्मैव कार्यं कारणं चेति ब्रह्मोपादानं जगत्। सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरकं ब्रह्मैव कारणमिति ॥

ब्रह्मोपादानत्वेऽपि संघातस्योपादानत्वेन चिदचितोर्ब्रह्मणश्च स्वभावासङ्करोऽप्युपपन्नतरः। यथा शुक्लकृष्णरक्ततन्तुसंघातोपादानत्वेऽपि चित्रपटस्य तत्तत्तन्तुप्रदेश एव शौक्ल्यादिसंबन्ध इति कार्यावस्थायामपि न सर्वत्र वर्णसङ्करः; तथा चिदचिदीश्वरसंघातोपादानत्वेऽपि जगतः कार्यावस्थायामपि भोक्तृत्वभोग्यत्वनियन्तृ-

१ छा० ६ प्र० ३ ख० २। २ बृ० ३ अ० ४ ब्रा० ७। ३ अचिज्जीवविशिष्ट० पा०।

त्वाद्यसङ्करः। तन्तूनां पृथक्स्थितियोग्यानामेव पुरुषेच्छया कदाचित्संहतानां कारणत्वं कार्यत्वं च। इह तु चिदचितोस्सर्वावस्थयोः परमपुरुषशरीरत्वेन तत्प्रकारतयैव पदार्थत्वात्तत्प्रकारः परमपुरुषस्सर्वदा सर्वशब्दवाच्य इति विशेषः। स्वभावभेदस्तदसङ्करश्च तत्र चात्र च तुल्यः। एवं च सति परस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशेऽपि स्वरूपान्यथाभावाभावादविकृतत्वमुपपन्नतरम्। स्थूलावस्थस्य नामरूपविभागविभक्तस्य चिदचिद्वस्तुन आत्मतयाऽवस्थानात्कार्यत्वमप्युपपन्नतरम्। अवस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता॥

निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणासम्बन्धादुपपद्यन्ते। १ "अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः" इति हेयगुणान् प्रतिषिध्य "सत्यकामस्सङ्कल्पः" इति कल्याणगुणान्विदधती इयं श्रुतिरेवान्यत्र सामान्येनावगतं गुणनिषेधं हेयगुणविषयं व्यवस्थापयति॥

ज्ञानस्वरूपं ब्रह्मेतिवादश्च सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणगुणाकरस्य ब्रह्मणस्स्वरूपं ज्ञानैकनिरूपणीयं २ स्वयंप्रकाशतया ज्ञानस्वरूपं चेत्यभ्युपगमादुपपन्नतरः। ३ "यस्सर्वज्ञस्सर्ववित्" ४ "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" ५ "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" इत्यादिकाः ज्ञातृत्वमावेदयन्ति; ६ "सत्यं ज्ञानम्" इत्यादिकाश्च ज्ञानैकनिरूपणीयतया स्वप्रकाशतया च ज्ञानस्वरूपताम्॥

७ "सोऽकामयत बहु स्याम्" ८ "तदैक्षत बहु स्याम्" ९ "तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इति ब्रह्मैव स्वसङ्कल्पाद्विचित्र-

१ छा० ८ प्र० १ ख० ५। २ स्वप्रकाश० पा०। ३ मु० १ ख० १. ९। ४ श्वे० ६ अ० ८। ५ बृ० ६ अ० ५ ब्रा० १५। ६ तै० आन० १ अनु० १। ७ तै० आ० ६ अन० २। ८ छा० ६ प्र० २ ख० ३। ९ बृ० ३ अ० ४ ब्रा० ७।

स्थिरत्रसरूपतया नानाप्रकारमवस्थितमिति तत्प्रत्यनीकाब्रह्मात्मकवस्तुनानात्वमतत्त्वमिति तत्प्रतिषिध्यते – १ " मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति " २ " नेह नानाऽस्ति किञ्चन " ३ " यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं विजानीयात् " इत्यादिना। न पुनः " बहु स्यां प्रजायेय " इत्यादिश्रुतिसिद्धं स्वसङ्कल्पकृतं ब्रह्मणो नानानामरूपभाक्त्वेन नानाप्रकारत्वमपि निषिध्यते। " यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् " ४ इत्यादिनिषेधवाक्यादौ च तत्स्थापितम् – ५ " सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनस्सर्वं वेद " ६ " तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः " इत्यादिना ॥

एवं चिदचिदीश्वराणां स्वभावभेदं स्वरूपभेदं च वदन्तानां कार्यकारणभावं कार्यकारणयोरनन्यत्वं च वदन्तीनां सर्वासां श्रुतीनामविरोधः, चिदचितोः परमात्मनश्च सर्वदा शरीरात्मभावं शरीरभूतयोः कारणदशायां नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मदशापत्तिं कार्यदशायां च तदर्हस्थूलदशापत्तिं वदन्तीभिश्श्रुतिभिरेव ज्ञायत इति ब्रह्माज्ञानवादस्यौपाधिकब्रह्मभेदवादस्यान्यस्याप्यपन्यायमूलस्य सकलश्रुतिविरुद्धस्य न कथञ्चिदप्यवकाशो दृश्यते। चिदचिदीश्वराणां पृथक्स्वभावतया तत्तच्छ्रुतिसिद्धानां शरीरात्मभावेन प्रकारप्रकारितया श्रुतिभिरेव प्रतिपन्नानां श्रुत्यन्तरेण कार्यकारणभावप्रतिपादनं कार्यकारणयोरैक्यप्रतिपादनं च ह्यविरुद्धम्। यथा – आग्नेयादीन् षड्यागानुत्पत्तिवाक्यैः पृथगुत्पन्नान् ७ समुदायानुवादिवाक्यद्वयेन समुदायद्वयत्वमापन्नान् ८ " × दर्श*पूर्णमासाभ्याम् " इत्यधिकारवाक्यं कामिनः कर्तव्यतया विदधाति; तथा चिदचिदीश्वरान्विविक्त-

१, २ कठ० ४ वल्ली० १०–११। ३ बृ० ४ अ० ४ ब्रा० १४। ४ इतिनि० पा०। ५ बृ० ४ अ० ४ ब्रा० ६। ६ सुबाल० २ ख० बृ० ४ ४–१० ६–४–११। ७ समुदायानुवादवाक्य० पा०। ८ कात्यायनश्रौतसू० ४–२–४७।

× आग्नेयः, ऐन्द्रंदधि, ऐन्द्रंपयश्च (सान्नाय्यौ)।
* आग्नेयः, अग्नि सोमीयः, उपांशुश्च।

स्वरूपस्वभावात् १ “ क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ” २ “ पतिं विश्वस्याऽऽत्मेश्वरम ” ३ “ आत्मा नारायणः परः ” इत्यादिवाक्यैः पृथक् प्रतिपाद्य ४ “यस्य पृथिवी शरीरम ” ५ “ यस्याऽऽत्मा शरीरम् ” ६ “ यस्याव्यक्तं शरीरम। यस्याक्षरं शरीरम्। एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ” इत्यादिभिर्वाक्यैश्चिदचितोस्सर्वावस्थावस्थितयोः परमात्मशरीरतां परमात्मनस्तदात्मतां च प्रतिपाद्य शरीरीभूतपरमात्माभिधायिभिस्सद्ब्रह्मात्मादिशब्दैः कारणावस्थः कार्यावस्थश्च परमात्मैक एवेति पृथक्प्रतिपन्नं वस्तुत्रितयं ७ “ सदेव सोम्येदमग्र आसीत् ” ८ “ ऐतदात्म्यमिदं सर्वम ” ९ “ सर्वं खल्विदं ब्रह्म ” इत्यादिवाक्यं प्रतिपादयति। चिदचिद्वस्तुशरीरिणः परमात्मनः परमात्मशब्देनाभिधाने हि नास्ति विरोधः; यथा मनुष्यपिण्डशरीरकस्याऽऽत्मविशेषस्य ‘ अयमात्मा सुखी ’ इत्यात्मशब्देनाभिधान इत्यलमतिविस्तरेण ॥

(निवृत्त्यनुपपत्तिः)

यत्पुनरिदमुक्तम्—ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेनैवाविद्यानिवृत्तिर्युक्ता—इति, तदयुक्तम् *, बन्धस्य पारमार्थिकत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावात्. पुण्यापुण्यरूपकर्मनिमित्तदेवादिशरीरप्रवेशतत्प्रयुक्तसुखदुःखानुभवरूपस्य बन्धस्य मिथ्यात्वं कथमिव शक्यते वक्तुम्। एवंरूपबन्धनिवृत्तिर्भक्तिरूपापन्नोपासनप्रीतपरमपुरुषप्रसादलभ्येति पूर्वमवोचम्। भवदभिमतस्यैक्यज्ञानस्य यथावस्थितवस्तुविपरीतविषयस्य मिथ्यारूपत्वेन बन्धविवृद्धिरेव फलं भवति—१० “ मिथ्यैतदन्यद्द्रव्यं हि

---

* तत्त्वमस्यादि वाक्यानां शतशः श्रवणेऽपि च।
अहं पूर्वमहं पूर्वं विवादो ब्रह्म वादिनाम् ॥

१ श्वे० १ अ० १०। २, ३ तै० नारायणे० ११ अनु० ३-४ वा०। ४ बृ० ५ अ० ७ ब्रा० ३। ५ बृ० ५ अ० ८ ब्रा—विज्ञानस्थाने माध्यन्दिनपाठ० २२। ६ सुबाल० ७ ख०। ७ छा० ६ प्र० २ ख० १। ८ छा० ६ प्र० ८ ख० ७। ९ छा० ३ प्र० १४ ख० १। १० वि० पु० २ अं० १४ अ० २७ श्लो०।

नैति तद्द्रव्यतां यतः" इतिशास्त्रात्। १ "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" २ "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा" इति जीवात्मचिसजातीयस्य तदन्तर्यामिणो ब्रह्मणो ज्ञानं परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनमित्युपदेशाच्च ॥

अपिच ३ भवदभिमतस्यापि निवर्तकज्ञानस्य मिथ्यारूपत्वात्तस्य निवर्तकान्तरं मृग्यम्। निवर्तकज्ञानमिदं स्वविरोधि सर्वं भेदजातं ४ निवर्त्य क्षणिकत्वात्स्वयमेव ५ नश्यतीतिचेन्न; तत्स्वरूपतदुत्पत्तिविनाशानां काल्पनिकत्वेन विनाशतत्कल्पनाकल्पकरूपाविद्याया निवर्तकान्तरमन्वेषणीयम्। तद्विनाशो ब्रह्मस्वरूपमेवेति चेत्; तथा सति निवर्तकज्ञानोत्पत्तिरेव न स्यात्, तद्विनाशे तिष्ठति तदुत्पत्त्यसम्भवात् ॥

अपिच चिन्मात्रब्रह्मव्यतिरिक्तकृत्स्ननिषेधविषयज्ञानस्य कोऽय ज्ञाता? अध्यासरूप इति चेत्, न; तस्य निषेध्यतया निवर्तकज्ञानकर्मत्वात् तत्कर्तृत्वानुपपत्तेः। ब्रह्म ६ स्वरूपमिति चेत्; ब्रह्मणो निवर्तकज्ञानं प्रति ज्ञातृत्वं किं स्वरूपम्; उताध्यस्तम्। अध्यस्तं चेत्, अयमध्यासस्तन्मूलाविद्यान्तरं च निवर्तकज्ञानाविषयतया तिष्ठत्येव। निवर्तकज्ञानान्तराभ्युपगमे तस्यापि त्रिरूपत्वात् ज्ञात्रपेक्षयाऽनवस्था स्यात्। ब्रह्मस्वरूपस्यैव ज्ञातृत्वेऽस्मदीय एव पक्षः परिगृहीतस्स्यात्। निवर्तकज्ञानस्वरूपं स्वस्य ज्ञाता च ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वेन स्वनिवर्त्यान्तर्गतमिति वचनं 'भूतलव्यतिरिक्तं कृत्स्नं देवदत्तेन च्छिन्नम्' इत्यस्यामेव च्छेदनक्रियायामस्य च्छेत्तुरस्याश्छेदनक्रियायाश्च च्छेद्यानुप्रवेशवचनवदुपहास्यम्। अध्यस्तो ज्ञाता स्वनाशहेतुभूतनिवर्तकज्ञाने स्वयं कर्ता च न भवति, स्वनाशस्यापुरुषार्थत्वात्। तन्नाशस्य ब्रह्मस्वरूपत्वाभ्युपगमे भेददर्शनतन्मूलाविद्यादीनां कल्पनमेव न स्यात्। इत्यलमनेन दिग्धहतमुद्गराभिघातेन ॥

१ गी० १५ अ० १७ श्लो०। २ श्वे० १ अ० ६। ३ भवदभिमतस्य निवर्तकज्ञानस्यापि० पा०। ४ विनिवर्त्य० पा०। ५ विनश्यती० पा०। ६ स्वरूपमेवेति० पा०।

तस्मादनादिकर्मप्रवाहरूपाज्ञानमूलत्वाद्बन्धस्य तन्निवर्हण-मुक्तलक्षणज्ञानादेव। तदुत्पत्तिश्चाहरहरनुष्ठीयमानपरमपुरुषाराधन-वेषात्मयाथात्म्यबुद्धिविशेषसंस्कृतवर्णाश्रमोचितकर्मलभ्या । तत्र केवलकर्मणामल्पास्थिरफलत्वम्, अनभिसंहितफलपरमपुरुषाराधन-वेषाणां कर्मणाम्, उपासनात्मकज्ञानोत्पत्तिद्वारेण ब्रह्मयाथात्म्यानु-भवरूपानन्तस्थिरफलत्वं च कर्मस्वरूपज्ञानादृते न ज्ञायते। केवला-कारपरित्यागपूर्वकयथोक्तस्वरूपकर्मोपादानं च न सम्भवतीति कर्म-विचारानन्तरं तत एव हेतोः ब्रह्मविचारः कर्तव्य इति 'अथातः' इत्युक्तम् ॥

(अथ सूत्रकाराभिमतसूत्रार्थयोजनारम्भः)

तत्र पूर्वपक्षवादी मन्यते—वृद्धव्यवहारादन्यत्र शब्दस्य बोध-कत्वशक्त्यवधारणासम्भवात्, व्यवहारस्य च कार्यबुद्धिपरत्वेन कार्यार्थएव शब्दस्य प्रामाण्यमिति कार्यरूपएव वेदार्थः। अतो न वेदान्ताः परिनिष्पन्ने परे ब्रह्मणि प्रमाणभावमनुभवितुमर्हन्ति। न च पुत्रजन्मादिसिद्धवस्तुविषयवाक्येषु हर्षहेतूनां कालत्रयवर्तिनामर्था-नामानन्त्यात् १ सुलग्नसुखप्रसवादिहर्षहेत्वर्थान्तरोपनिपातसम्भाव-नया च प्रियार्थप्रतिपत्तिनिमित्तमुखविकासादिलिङ्गेनार्थविशेषबुद्धि-हेतुत्वनिश्चयः; नापि व्युत्पन्नेतरपदविभक्त्यर्थस्य * पदान्तरार्थ २ निश्चयेन प्रकृत्यर्थनिश्चयेन वा शब्दस्य सिद्धवस्तुन्यभिधानशक्ति-निश्चयः; ज्ञातकार्याभिधायिपदसमुदायस्य तदंशविशेषनिश्चयरूप-

१ सुलग्नजन्मसुखप्रसवादि० पा०। २ निश्चयेन वा० पा०।

* व्युत्पन्नेतरपदस्य पदान्तरार्थ निश्चयोदाहरणमिदं कः कूजतीति प्रश्नस्य पिकः कूजतीति केनचिदुक्ते व्युत्पन्न कूजति शब्देन व्युत्पित्सुना पिकशब्दार्थो ज्ञायते, व्युत्पन्नेतर पद विभक्त्यर्थस्य प्रकृत्यर्थ निश्चयोदाहरण-मिदम्, काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचतीत्युक्ते व्युत्पन्नविभक्ति पचति शब्दाथन व्युत्पित्सुना काष्ठादि प्रकृत्यर्थो ज्ञायत इति ॥

त्वात्तस्य। न च सर्पाद्भीतस्य 'नायं सर्पो रज्जुरेषा' इति शब्दश्रवणसमनन्तरं भयनिवृत्तिदर्शनेन सर्पाभावबुद्धिहेतुत्वनिश्चयः; अत्रापि निश्चेष्टं निर्विशेषमचेतनमिदं वस्त्वित्याद्यर्थबोधेषु बहुषु भयनिवृत्तिहेतुषु सत्सु विशेषनिश्चयायोगात्। कार्यबुद्धिप्रवृत्तिव्याप्तिबलेन शब्दस्य प्रवर्तकार्थावबोधि १ त्वमुपगतमिति सर्वपदानां कार्यपरत्वेन सर्वैः पदैः कार्यस्यैव विशिष्टस्य प्रतिपादनान्नान्यान्वितस्वार्थमात्रे पदशक्तिनिश्चयः। इष्टसाधनताबुद्धिस्तु कार्यबुद्धिद्वारेण प्रवृत्तिहेतुः; न स्वरूपेण, अतीतानागतवर्तमानेष्टोपायबुद्धिषु प्रवृत्त्यनुपलब्धेः। 'इष्टोपायो हि मत्प्रयत्नादृते न सिध्यति; अतो मत्कृतिसाध्यः, इतिबुद्धिर्यावन्न जायते; तावन्न प्रवर्तते। अतः कार्यबुद्धिरेव प्रवृत्तिहेतुरिति प्रवर्तकस्यैव शब्दवाच्यतया कार्यस्यैव वेदवेद्यत्वात्परिनिष्पन्नरूपब्रह्मप्राप्तिलक्षणानन्तस्थिरफलाप्रतिपत्तेः २ "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनस्सुकृतं भवति" इत्यादिभिः कर्मणामेव स्थिरफलत्वप्रतिपादनाच्च कर्मफलाल्पास्थिरत्वब्रह्मज्ञानफलानन्तस्थिरत्वज्ञानहेतुको ब्रह्मविचारारम्भो न युक्तः—इति॥

(अधिकरण सिद्धान्ते सिद्धवस्तुनि शब्दव्युत्पत्तिनिरूपणम्)

अत्राभिधीयते—निखिललोकविदितशब्दार्थसम्बन्धावधारणप्रकारमपनुद्य सर्व ३ शब्दानामलौकिकैकार्थावबोधित्वावधारणं प्रामाणिका न बहुमन्वते। एवं किल बालाश्शब्दार्थसंबन्धमवधारयन्ति—मातापितृप्रभृतिभिरम्बाताततमातुलादीन् शशिपशुनरमृगपक्षिसर्पादींश्च 'एनमवेहि इमं चावधारय' इत्यभिप्रायेण ४ अङ्गुल्या निर्दिश्यनिर्दिश्य तैस्तैश्शब्दैस्तेषुतेष्वर्थेषु बहुशश्शिक्षिताश्शनैश्शनैस्तैस्तैरेव शब्दैस्तेषुतेष्वर्थेषु स्वात्मनां बुद्ध्युत्पत्तिं दृष्ट्वा शब्दार्थयोस्संबन्धान्तरादर्शनात्संकेतयितृपुरुषाज्ञानाच्च तेष्वर्थेषु तेषां शब्दानां प्रयोगो बोधकत्वनिबन्धन इति निश्चिन्वन्ति। पुनश्च व्युत्पन्नेतर-

१ त्वमवगत० पा०। २ आपस्तम्बश्रौतसू० २ प्रश्न० १ खं० १ सू०। ३ शब्दानामलौकिकार्था० पा०। ४ अंगुल्यादिभिर्निर्दिश्य०तै० पा०।

शब्देषु 'अस्य शब्दस्यायमर्थः' इति पूर्ववृद्धैश्शिक्षितास्सर्वशब्दानामर्थमवगम्य परप्रत्यायनाय तत्तदर्थावबोधि वाक्यजातं प्रयुञ्जते। प्रकारान्तरेणापि शब्दार्थसम्बन्धावधारणं सुशकम् केनचित्पुरुषेण हस्तचेष्टादिना 'पिता ते सुखमास्ते' इति देवदत्ताय ज्ञापयेति प्रेषितः कश्चित् तज्ज्ञापने प्रवृत्तः 'पिता ते सुखमास्ते' इति शब्दं प्रयुंक्ते। पार्श्वस्थोऽन्यो व्युत्पित्सुर्मूकवच्चेष्टाविशेषज्ञस्तज्ज्ञापने प्रवृत्तमिमं ज्ञात्वाऽनुगतस्तज्ज्ञापनाय प्रयुक्तमिमं शब्दं श्रुत्वा 'अयं शब्दस्तदर्थबुद्धिहेतुः' इति निश्चिनोति—इति कार्यार्थ एव व्युत्पत्तिरिति निर्बन्धो निर्निबन्धनः। अतो वेदान्ताः परिनिष्पन्नं परं ब्रह्म, तदुपासनं चापरिमितफलं बोधयन्तीति तन्निर्णयफलो ब्रह्मविचारः कर्तव्यः॥

कार्यार्थत्वेऽपि वेदस्य ब्रह्मविचारः कर्तव्य एव। कथम्; १ "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यश्श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" २ "सोऽन्वेष्टव्यस्स विजिज्ञासितव्यः" ३ "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" ४ "दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्" ५ "तत्रापि दह्रं गगनं विशोकस्तस्मिन्यदन्तस्तदुपासितव्यम्" इत्यादिभिः प्रतिपन्नोपासनविषयकार्याधिकृतफलत्वेन ६ "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादिभिर्ब्रह्मप्राप्तिश्श्रूयत इति ब्रह्मस्वरूपतद्विशेषणानां दुःखासंभिन्नदेशविशेषरूपस्वर्गादिवत्, रात्रीसत्रप्रतिष्ठादिवत्, अपगोरणशतयातनासाध्यसाधनभाववच्च, कार्योपयोगितयैव सिद्धेः॥

(अपूर्वखण्डनम्)

'गामानय' इत्यादिष्वपि वाक्येषु न कार्यार्थे व्युत्पत्तिः; भवदभिमतकार्यस्य दुर्निरूपत्वात्। कृतिभावभावि कृत्युद्देश्यं हि

---

१ बृ० ४ अ० ४ब्रा० ५; ६ अ० ५ब्रा० ६। २ छा० ८ प्र० ७ ख० १। ३ बृ० ६ अ० ४ ब्रा० २१। ४ छा० ८ प्र० १ ख० १। ५ तै—नारायणे० १० अनु० २३। ६ तै—आन० १ अ० १।

भवतः कार्यम् । कृत्युद्देश्यत्वं च कृतिकर्मत्वम् । कृतिकर्मत्वञ्च कृत्या प्राप्तुमिष्टतमत्वम् । इष्टतमं च सुखं वर्तमानदुःखस्य तन्निवृत्तिर्वा । तत्रेष्टसुखादिना पुरुषेण स्वप्रयत्नादृते यदि तदसिद्धिः प्रतीता, ततः प्रयत्नेच्छुः प्रवर्तते पुरुषइति न क्वचिदपीच्छाविषयस्य कृत्यधीनसिद्धित्वमन्तरेण कृत्युद्देश्यत्वं नाम किञ्चिदप्युपलभ्यते । इच्छाविषयस्य प्रेरकत्वं च प्रयत्नाधीनसिद्धित्वमेव, ततएव प्रवृत्तेः । न च पुरुषानुकूलत्वं कृत्युद्देश्यत्वम्, यतस्सुखमेव पुरुषानुकूलम् । न च दुःखनिवृत्तेः पुरुषानुकूलत्वम्; 'पुरुषानुकूलं सुखं तत्प्रतिकूलं दुःखम्' इति हि सुखदुःखयोस्स्वरूपविवेकः । दुःखस्य प्रतिकूलतया तन्निवृत्तिरिष्टा भवति; नानुकूलतया । अनुकूलप्रतिकूलान्वयविरहे स्वरूपेणावस्थितिर्हि दुःखनिवृत्तिः । अतस्सुखव्यतिरिक्तस्य क्रियादेरनुकूलत्वं न सम्भवति । न सुखार्थतया तस्याप्यनुकूलत्वम्, दुःखात्मकत्वात्तस्य । सुखार्थतयाऽपि तदुपादानेच्छामात्रमेव भवति । न च कृतिं प्रति शेषित्वं कृत्युद्देश्यत्वम्, भवत्पक्षे शेषित्वस्यानिरूपणात् ॥

(शेषलक्षणम्)

न च परोद्देशप्रवृत्तकृतिव्याप्त्यर्हत्वं शेषत्वमिति तत्प्रतिसम्बन्धी शेषीत्यवगम्यते, तथा सति कृतेरशेषत्वेन तां प्रति तत्साध्यस्य शेषित्वाभावात् । न च परोद्देशप्रवृत्त्यर्हतायाश्शेषत्वेन परश्शेषी, उद्देश्यत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वात्, प्रधानस्यापि भृत्योद्देशप्रवृत्त्यर्हत्वदर्शनाच्च । प्रधानस्तु भृत्यपोषणेऽपि स्वोद्देशेन प्रवर्तत इति चेन्न, भृत्योऽपि हि प्रधानपोषणे स्वोद्देशेनैव प्रवर्तते । कार्यस्वरूपस्यैवानिरूपणात् 'कार्यप्रतिसम्बन्धी शेषः, तत्प्रतिसम्बन्धी शेषी' इत्यप्यसङ्गतम् ॥

नापि कृतिप्रयोजनत्वं कृत्युद्देश्यत्वम्; पुरुषस्य कृत्यारम्भप्रयोजनमेव हि कृतिप्रयोजनम् । स चेच्छाविषयः । तस्मादिष्टत्वातिरेकिकृत्युद्देश्यत्वानिरूपणात् कृतिसाध्यताकृतिप्रधानस्वरूपं कार्यं दुर्निरूपमेव ॥

नियोगस्यापि साक्षाद्पिविषयभूतसुखदुःखनिवृत्तिभ्यामन्यत्वात्तत्साधनतयैवेष्टत्वं कृतिसाध्यत्वं च। अत एव हि तस्य क्रियातिरिक्तता; अन्यथा क्रियैव कार्यं स्यात्; स्वर्गकामपदसमभिव्याहारानुगुण्येन लिङादिवाच्यं कार्यं स्वर्गसाधनमेवेति क्षणभङ्गिकर्मातिरेकि स्थिरं स्वर्गसाधनमपूर्वमेव कार्यमिति स्वर्गसाधनतोद्देशेनैव ह्यपूर्वव्युत्पत्तिः। अतः प्रथममनन्यार्थतया प्रतिपन्नस्य कार्यस्यानन्यार्थत्वनिर्वहणायापूर्वमेव पश्चात्स्वर्गसाधनं भवतीत्युपहास्यम्, स्वर्गकामपदान्वितकार्याभिधायिपदेन प्रथममप्यनन्यार्थतानभिधानात्; सुखदुःखनिवृत्तितत्साधनेभ्योऽन्यस्यानन्यर्थस्या कृतिसाध्यताप्रतीत्यनुपपत्तेश्च। अपिच—किमिदं नियोगस्य प्रयोजनत्वम्, सुखवन्नियोगस्याप्यनुकूलत्वमेवेति चेत्, किं नियोगस्सुखम्, सुखमेव ह्यनुकूलम्। सुखविशेषवन्नियोगापरपर्यायं विलक्षणं सुखान्तरमिति चेत्; किं तत्र प्रमाणमिति वक्तव्यम्। स्वानुभवश्चेत्, न; विषयविशेषानुभवसुखवन्नियोगानुभवसुखमिदमिति भवताऽपि नानुभूयते। शास्त्रेण नियोगस्य पुरुषार्थतया प्रतिपादनात्। पश्चात्तु भोक्ष्यत इति चेत्; किं तन्नियोगस्य पुरुषार्थत्ववाचि शास्त्रम्। न तावल्लौकिकं वाक्यम्; तस्य दुःखात्मकक्रियाविषयत्वात्, तेन सुखादिसाधनतयैव कृतिसाध्यतामात्रप्रतिपादनात्। नापि वैदिकम्; तेनापि स्वर्गादिसाधनतयैव कार्यस्य प्रतिपादनात्। नापि नित्यनैमित्तिकशास्त्रम्; तस्यापि तदभिधायित्वं स्वर्गकामवाक्यस्यापूर्वव्युत्पत्तिपूर्वकमित्युक्तरीत्या तेनापि सुखादिसाधनकार्याभिधानमवर्जनीयम्। नियतैहिकफलस्य कर्मणोऽनुष्ठितस्य फलत्वेन तदानीमनुभूयमानारोग्यतादिव्यतिरेकेण नियोगरूपसुखानुभवानुपलब्धेश्च नियोगस्सुखमित्यत्र न किंचन प्रमाणमुपलभामहे। अर्थवादादिष्वपि स्वर्गादिसुखप्रकारकीर्तनवन्नियोगरूपसुखप्रकारकीर्तनं भवतापि न दृष्टचरम्॥

अतो विधिवाक्येष्वपि धात्वर्थस्य कर्तृव्यापारसाध्यतामात्रं शब्दानुशासनसिद्धमेव लिङादेर्वाच्यमित्यध्यवसेयम्। धात्वर्थस्य च यागादेरग्न्यादिदेवतान्तर्यामिपरमपुरुषसमाराधनरूपता, समारा-

श्रितात्परमपुरुषात्फलसिद्धश्चेति १ "फलमत उपपत्तेः" इत्यत्र प्रतिपादयिष्यते । अतो वेदान्ताः परिनिष्पन्नं ब्रह्म बोधयन्तीति ब्रह्मोपासनफलानन्त्यं स्थिरत्वं च सिद्धम् । चातुर्मास्यादिकर्मस्वपि केवलस्य कर्मणः क्षयिफलत्वोपदेशादक्षयफलश्रवणं २ "वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्" इत्यादिवदापेक्षिकं मन्तव्यम् ॥

अतः केवलानां कर्मणामल्पास्थिरफलत्वात् , ब्रह्मज्ञानस्य चानन्तस्थिरफलत्वात्तन्निर्णयफलो ब्रह्मविचारारम्भो युक्त इति स्थितम् ॥

इति श्रीभाष्ये जिज्ञासाधिकरणम् ॥ १ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये—जन्माद्यधिकरणम् ॥२॥)

'किं पुनस्तद्ब्रह्म, यज्जिज्ञास्यमुच्यते' इत्यत्राह—

जन्माद्यस्य यतः । १ । १ । २ ॥

जन्मादीति-सृष्टिस्थितिप्रलयम् । ३ तद्गुणसंविज्ञानो * बहुव्रीहिः । अस्य अचिन्त्यविविधविचित्ररचनस्य नियतदेशकालफलभोगब्रह्मादि-

१ शारी० सू० ३-२-३७ । २ बृ० उप० ४ अ० ३ ब्रा० ३ वा० । ३ संविज्ञानबहुव्रीहिः० पा० ।

* बहुव्रीहिर्हि द्विविधः, तद्गुणसंविज्ञानः, अतद्गुणसंविज्ञानश्चेति । तत्र प्रथमस्योदाहरणं "सर्वादीनि सर्वनामानि" लम्बकर्णमानय इत्यादि; द्वितीयस्योदाहरणम् , चित्रगुमानय, इति ॥ तच्छब्दार्थो विशेष्यं, गुणशब्दार्थश्च-विशेषणम् । तद्गुणौ विशेष्यविशेषणे, सम्यक् एकधर्मावच्छिन्नान्वयि, ज्ञापयतीति व्युत्पत्त्या ; विशेष्यनिष्ठविषयतानिरूपितविषयतावच्छेदकावच्छिन्नविषयतानिरूपितविशेषणनिष्ठविषयताप्रयोजकत्वं , तद्गुणसंविज्ञानत्वम् । तदन्यत्वं च-अतद्गुणसंविज्ञानत्वम् ॥

स्तम्बपर्यन्तक्षेत्रज्ञमिश्रस्य जगतः । यतः—यस्मात्सर्वेश्वरान्निखिलहेय-प्रत्यनीकस्वरूपात्सत्यसंकल्पात् ज्ञानानन्दाद्यनन्तकल्याणगुणात् सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः परमकारुणिकात् परस्मात्पुंसः सृष्टिस्थितिप्रलयाः वर्तन्ते; तत् ब्रह्मेति सूत्रार्थः ॥

(पूर्वपक्षः)

१ "भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्म" इत्यारभ्य २ "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्म" इति श्रूयते । तत्र संशयः—किमस्माद्वाक्यात् ब्रह्म लक्षणतः प्रतिपत्तुं शक्यते, न वा—इति । किं प्राप्तम् ? न शक्यमिति । न तावज्जन्मादयो विशेषणत्वेन ब्रह्म लक्षयन्ति, अनेकविशेषणव्यावृत्तत्वेन ब्रह्मणोऽनेकत्वप्रसक्तेः । विशेषणत्वं हि व्यावर्तकत्वम् ॥

ननु 'देवदत्तश्श्यामो युवा लोहिताक्षस्समपरिमाणः इत्यत्र वशेषणबहुत्वेऽप्येक एव देवदत्तः प्रतीयते । एवमत्राप्येकमेव ब्रह्म भवति। नैवम्—तत्र प्रमाणान्तरेणैक्यप्रतीतेरेकस्मिन्नेव विशेषणानामुपसंहारः । अन्यथा तत्रापि व्यावर्तकत्वेनानेकत्वमपरिहार्यम् । अत्र त्वनेनैव विशेषणेन लिलक्षयिषितत्वात् ब्रह्मणः प्रमाणान्तरेणैक्यमनवगतमिति व्यावर्तकभेदेन ब्रह्मबहुत्वमवर्जनीयम् ॥

ब्रह्मशब्दैक्याद्ब्रह्मैक्यं प्रतीयत इति चेत् ; न, अज्ञातगोव्यक्तेः—जिज्ञासोः पुरुषस्य खण्डो मुण्डः पूर्णशृङ्गो गौः इत्युक्ते गोपदैक्येऽपि खंडत्वादिव्यावर्तकभेदेन गोव्यक्तिबहुत्वप्रतीतेः ब्रह्मव्यक्तयोऽपि बहवस्स्युः । अत एव लिलक्षयिषिते वस्तुनि एषां विशेषणानां संभूय लक्षणत्वमप्यनुपपन्नम् ॥

नाप्युपलक्षणत्वेन लक्षयन्ति, आकारान्तराप्रतिपत्तेः । उपलक्षणानामेकेनाकारेण प्रतिपन्नस्य केनचिदाकारान्तरेण प्रतिपत्तिहेतुत्वं हि दृष्टं 'यत्रायं सारसः, स देवदत्तकेदारः, इत्यादिषु ॥

१, २तै० भृ० १ अनु० ।

ननु च १ '१ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ' इति प्रतिपन्नाकारस्य जगज्जन्मादीन्युपलक्षणानि भवन्ति। न, इतरेतरप्रतिपन्नाकारापेक्षत्वेन उभयोर्लक्षणवाक्ययोरन्योन्याश्रयणात्। अतो न लक्षणतो ब्रह्म प्रतिपत्तुं शक्यत इति ॥

(सिद्धान्तः)

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—जगत्सृष्टिस्थितिप्रलयैरुपलक्षणभूतैर्ब्रह्म प्रतिपत्तुं शक्यते। न च उपलक्षणोपलक्ष्याकारव्यतिरिक्ताकारान्तराप्रतिपत्तेर्ब्रह्माप्रतिपत्तिः उपलक्ष्यं ह्यनवधिकातिशयबृहत्, बृंहणं च; बृहतेर्धातोस्तदर्थत्वात् तदुपलक्षणभूताश्च जगज्जन्मस्थितिलयाः। 'यतो, येन, यत्' इति २ प्रसिद्धवन्निर्देशेन यथाप्रसिद्धि जन्मादिकारणमनूद्यते। प्रसिद्धिश्च ✽ " सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं" "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" इत्येकस्यैव सच्छब्दवाच्यस्य निमित्तोपादानरूपकारणत्वेन तदपि 'सदेवेदमग्र एकमेवासीत्' इत्युपादानतां प्रतिपाद्य ' अद्वितीयम् ' इत्यधिष्ठात्रन्तरं प्रतिषिध्य ३"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" इत्येकस्यैव प्रतिपादनात्। तस्मात् यन्मूला जगज्जन्मस्थितिलयाः तद्ब्रह्मेति जन्मस्थितिलयाः स्वनिमित्तोपादानभूतं वस्तु ब्रह्मेति लक्षयन्ति। जगन्निमित्तोपादानताक्षिप्तसर्वज्ञत्वसत्यसङ्कल्पत्वविचित्रशक्तित्वाद्याकारबृहत्त्वेन प्रतिपन्नं ब्रह्मेति च जन्मादीनां तथा प्रतिपन्नस्य लक्षणत्वेन नाकारान्तराप्रतिपत्तिरूपानुपपत्तिः ॥

जगज्जन्मादीनां विशेषणतया लक्षणत्वेऽपि न कश्चिद्दोषः। लक्षणभूतान्यपि विशेषणानि स्वविरोधिव्यावृत्तं वस्तु लक्षयन्ति। अज्ञातस्वरूपे वस्तुन्येकस्मिन् लिलक्षयिषितेऽपि परस्पराविरोध्यनेकविशेषणलक्षणत्वं न भेदमापादयति। अत्र तु कालभेदेन जन्मादीनां न विरोधः ॥

---

१ तै० आनन्द० १,१। २ प्रसिद्धवज्जन्मादिकारणनिर्देशेन० पा०। ✽ ३ छा० उप० ६ २, १, ३।

१"*यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिकारणवाक्येन प्रतिपन्नस्य जगज्जन्मादिकारणस्य ब्रह्मणस्सकलेतरव्यावृत्तं स्वरूपमभिधीयते—२"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति। तत्र सत्यपदं-निरुपाधिकसत्तायोगि ब्रह्माऽऽह। तेन विकारास्पदमचेतनं तत्संसृष्टश्चेतनश्च व्यावृत्तः। नामान्तरभजनार्हावस्थान्तरयोगेन तयोर्निरुपाधिकसत्तायोगरहितत्वात्। ज्ञानपदं-नित्यासङ्कुचितज्ञानैकाकारमाह। तेन कदाचित् सङ्कुचितज्ञानत्वेन मुक्ता व्यावृत्ताः। अनन्तपदं-देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितं स्वरूपमाह। सगुणत्वात्स्वरूपस्य स्वरूपेण गुणैश्चानन्त्यम्। तेन पूर्वपदद्वयव्यावृत्तकोटिद्वयविलक्षणास्सातिशयस्वरूपस्वगुणाः नित्याः व्यावृत्ताः। विशेषणानां व्यावर्तकत्वात्। ततः ३"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यनेन वाक्येन जगज्जन्मादिनाऽवगतस्वरूपं ब्रह्म सकलेतरवस्तुविसजातीयमिति लक्ष्यत इति नान्योन्याश्रयणम्। अतस्सकलजगज्जन्मादिकारणं निरवद्यं सर्वज्ञं ४ सत्यसङ्कल्पं सर्वशक्ति ब्रह्म लक्षणतः प्रतिपत्तुं शक्यत इति सिद्धम्॥

ये तु निर्विशेषवस्तु जिज्ञास्यमिति वदन्ति। तन्मते "ब्रह्मजिज्ञासा" "जन्माद्यस्य यतः" इत्यसङ्गतं स्यात्; निरतिशयबृहत् बृंहणं च ब्रह्मेति निर्वचनात्; तच्च ब्रह्म जगज्जन्मादिकारणमितिवचनाच्च। एवमुत्तरेष्वपि सूत्रगणेषु सूत्रोदाहृतश्रुतिगणेषु च ईक्षणाद्यन्वयदर्शनात् सूत्राणि सूत्रोदाहृतश्रुतयश्च न तत्र प्रमाणम्। तर्कश्च साध्यधर्माव्यभिचारिसाधनधर्मान्वितवस्तुविषयत्वान्न निर्विशेषवस्तुनि प्रमाणम्। जगज्जन्मादि ५भ्रमो यतस्तद्ब्रह्मेति स्वोत्प्रेक्षा ६ पक्षेऽपि न निर्विशेषवस्तुसिद्धिः, भ्रममूलमज्ञानम्, अज्ञानसाक्षि ब्रह्मेत्यभ्युपगमात्। साक्षित्वं हि-प्रकाशैकरसतयैवोच्यते। प्रकाशत्वं

१ तै-भृ० १, १। २ तै- आनन्द० १, १। ३ *"यतो वा इमानि" इत्यादि० पा०। ४ सर्वशक्ति सत्य सङ्कल्पं० पा०। ५ भ्रमा यतः० पा० ६ पक्षे० च०।

तु जडाद्व्यावर्तकं, स्वस्य परस्य च व्यवहारयोग्यतापादनस्वभावेन भवति। तथा सति सविशेषत्वम्। तदभावे प्रकाशतैव न स्यात्। तुच्छतैव स्यात्॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाश्रीभाष्ये जन्माद्यधिकरणम् ॥२॥

(श्रीशारीरकमीमांसाश्रीभाष्ये शास्त्रयोनित्वाधिकरणम्)

जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्म वेदान्तवेद्यमित्युक्तम्। तदयुक्तम्। तद्धि न वाक्यप्रतिपाद्यम्। अनुमानेन सिद्धेरित्याशङ्क्याह—

शास्त्रयोनित्वात्। १। १। ३॥

शास्त्रं यस्य योनिः कारणं प्रमाणम्, तच्छास्त्रयोनि; तस्य भावश्शास्त्रयोनित्वम्। तस्मात् ब्रह्मज्ञानकारणत्वात् शास्त्रस्य, तद्योनित्वं ब्रह्मणः। अत्यन्तातीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयतया ब्रह्मणश्शास्त्रैकप्रमाणकत्वात् उक्तस्वरूपं ब्रह्म १ "यतो वा इमानि भूतानि" इत्यादिवाक्यं बोधयत्येवेत्यर्थः॥

(पूर्वः पक्षः)

ननु—शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो न सम्भवति, प्रमाणान्तरवेद्यत्वाद्ब्रह्मणः। अप्राप्ते तु शास्त्रमर्थवत्॥

किन्तर्हि तत्र प्रमाणम्। न तावत् प्रत्यक्षम्। तद्धि द्विविधम्। इन्द्रियसम्भवं योगसम्भवं चेति। इन्द्रियसंभवञ्च बाह्यसम्भवम्, आन्तरसम्भवञ्चेति द्विधा। बाह्येन्द्रियाणि विद्यमानसन्निकर्षयोग्यस्य विषयबोधजननानीति न सर्वार्थसाक्षात्कारतन्निर्माणसमर्थपुरुषविशेषविषयबोधजननानि। नाप्यान्तरम्, आन्तरसुखदुःखादिव्यतिरिक्तबहिर्विषयेषु तस्य बाह्येन्द्रियानपेक्षप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नापि

---

१ तै० भृ० १।

योगजन्यम्; भावनाप्रकर्षपर्यन्तजन्मनस्तस्य विशदावभासत्वेऽपि पूर्वानुभूतविषयस्मृतिमात्रत्वान्न प्रामाण्यमिति कुतः प्रत्यक्षता; तदतिरिक्तविषयत्वे कारणाभावात्। तथा सति तस्य भ्रमरूपता। नाप्यनुमानं विशेषतो दृष्टं सामान्यतो दृष्टं वा; अतीन्द्रिये वस्तुनि सम्बन्धावधारणविरहान्न विशेषतो दृष्टम्। समस्तवस्तुसाक्षात्कार-तन्निर्माणसमर्थपुरुषविशेषनियतं सामान्यतो दृष्टमपि न लिङ्गमुपलभ्यते॥

ननु च — जगतः कार्यत्वं तदुपादानोपकरणसम्प्रदानप्रयोजनाभिज्ञकर्तृकत्वव्याप्तम्। अचेतनारब्धत्वं जगतश्चैकचेतनाधीनत्वेन व्याप्तम्। सर्वं हि घटादिकार्यं तदुपादानोपकरणसम्प्रदानप्रयोजनाभिज्ञकर्तृकं दृष्टम्। अचेतनारब्धमरोगं स्वशरीरमेकचेतनाधीनं च। सावयवत्वेन जगतः १ कार्यत्वम्॥

उच्यते — किमिदमेकचेतनाधीनत्वम्? न तावत्तदायत्तोत्पत्तिस्थितित्वम्; दृष्टान्तो हि साध्यविकलस्स्यात्, न ह्यरोगं स्वशरीरमेकचेतनायत्तोत्पत्तिस्थिति. तच्छरीरस्य भोक्तॄणां भार्यादिसर्वचेतनानामदृष्टजन्यत्वात्तदुत्पत्तिस्थित्योः। किंच — शरीरावयविनस्स्वावयवसमवेततारूपा स्थितिरवयवसंश्लेषविशेषव्यतिरेकेण न चेतनमपेक्षते। प्राणनलक्षणा तु स्थितिः पक्षत्वाभिमते क्षितिजलधिमहीधरादौ न संभवतीति पक्षसपक्षानुगतामेकरूपां स्थितिं नोपलभामहे। तदायत्तप्रवृत्तित्वं तदधीनत्वमिति चेत् — अनेकचेतनसाध्येषु गुरुतररथशिलामहीरुहादिषु व्यभिचारः। चेतनमात्राधीनत्वे सिद्धसाध्यता॥

किंच — उभयवादिसिद्धानां जीवानामेव लाघवेन कर्तृत्वाभ्युपगमो युक्तः। न च जीवानामुपादानाद्यनभिज्ञतया कर्तृत्वासंभवः; सर्वेषामेव चेतनानां पृथिव्याद्युपादानयागाद्युपकरणसाक्षात्कारसामर्थ्यात्। यथेदानीं पृथिव्यादयो यागादयश्च प्रत्यक्षमीक्ष्यन्ते।

१ कार्यत्वमिति० पा०।

उपकरणभूतयागादिशक्तिरूपापूर्वादिशब्दवाच्यादृष्टसाक्षात्काराभावे-ऽपि चेतनानां न कर्तृत्वानुपपत्तिः, तत्साक्षात्कारानपेक्षणात्कार्यारम्भस्य। शक्तिमत्साक्षात्कार एव हि कार्यारम्भोपयोगी। शक्तेस्तु ज्ञानमात्रमेवोपयुज्यते; न साक्षात्कारः। नहि कुलालादयः कार्योपकरणभूतदण्डचक्रादिवत्तच्छक्तिमपि साक्षात्कृत्य घटमणिकादिकार्यमारभन्ते। इह तु चेतनानामागमावगतयागादिशक्तिविशेषाणां कार्यारम्भो नानुपपन्नः॥

किञ्च—यच्छक्यक्रियं शक्योपादानादिविज्ञानञ्च, तदेव तदभिज्ञकर्तृकं दृष्टम्। मही-मही १ धरमहार्णवादि त्वशक्यक्रियमशक्योपादानादिविज्ञानं चेति न चेतनकर्तृकम्। अतो घटमणिकादिसजातीयशक्यक्रियशक्योपादानादिविज्ञानवस्तुगतमेव कार्यत्वं बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वसाधने प्रभवति। किञ्च—घटादिकार्यमनीश्वरेणाल्पज्ञानशक्तिना सशरीरेण परिग्रहवताऽनाप्तकामेन निर्मितं दृष्टमिति तथाविधमेव चेतनं कर्तारं साधयन्नयं कार्यत्वहेतुस्सिषाधयिषितपुरुषसार्वज्ञ्यसर्वैश्वर्यादिविपरीतसाधनाद्विरुद्धस्स्यात्। न चैतावता सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गः। लिङ्गिनि प्रमाणान्तरगोचरे लिङ्गबलोपस्थापिता २ विपरीतविशेषास्तत्प्रमाणप्रतिहतगतयो निवर्तन्ते। इह तु सकलेतरप्रमाणाविषये लिङ्गिनि निखिलनिर्माणचतुरे, अन्वयव्यतिरेकावगताविनाभावनियमा धर्मास्सर्व एवाविशेषेण प्रसज्यन्ते। निवर्तकप्रमाणाभावात्तथैवावतिष्ठन्ते। अत आगमादृते कथमीश्वरस्सेत्स्यति॥

(अथ साक्षात्पूर्वं पक्षिणं प्रस्तौति)

अत्राहुः—सावयवत्वादेव जगतः कार्यत्वं न प्रत्याख्यातुं शक्यते। भवन्ति च प्रयोगाः—विवादाध्यासितं भू-भूधरादि कार्यं, सावयवत्वात्, घटादिवत्। तथा विवादाध्यासितमवनि-जलधि-महीधरादि कार्यं, महत्त्वे सति क्रियावत्त्वात्, ३ घटवत्। तनुभुव-

१ धरार्णवादि० पा०। २ विपरीता विशेषा० पा०। ३ घटादिवत्० पा०।

नादि कार्यं महत्त्वे सति मूर्तत्वात्, १ घटवत्—इति। सावयवेषु द्रव्येषु 'इदमेव क्रियते नेतरत्' इति कार्यत्वस्य नियामकं सावयवत्वातिरेकि रूपान्तरं नोपलभामहे। कार्यत्वप्रतिनियतं शक्यक्रियत्वं शक्योपादानादिविज्ञानत्वं चोपलभ्यतइति चेत्—न; कार्यत्वेनानुमतेऽपि विषये ज्ञानशक्ती २ कार्यानुमेये—इत्यन्यत्रापि सावयवत्वादिना कार्यत्वं ज्ञातमिति ते च प्रतिपन्ने एवेति न कश्चिद्विशेषः। तथाहि—घटमणिकादिषु कृतेषु कार्यदर्शनानुमितकर्तृगततन्निर्माणशक्तिज्ञानः पुरुषोऽदृष्टपूर्वं विचित्रसन्निवेशं नरेन्द्रभवनमालोक्यावयवसन्निवेशविशेषेण तस्य कार्यत्वं निश्चित्य तदानीमेव कर्तुस्तज्ज्ञानशक्तिवैचित्र्यमनुमिनोति। अतस्तनुभुवनादेः कार्यत्वे सिद्धे सर्वसाक्षात्कारतन्निर्माणादिनिपुणः कश्चित्पुरुषविशेषस्सिद्ध्यत्येव॥

किञ्च—सर्वचेतनानां धर्माधर्मनिमित्तेऽपि सुखदुःखोपभोगे चेतनानधिष्ठितयोस्तयोरचेतनयोः फलहेतुत्वानुपपत्तेः सर्वकर्मानुगुणसर्वफलप्रदानचतुरः कश्चिदास्थेयः; वर्धकिनाऽनधिष्ठितस्य वास्यादेरचेतनस्य देशकालाद्यनेकपरिकरसन्निधानेऽपि यूपादिनिर्माणसाधनत्वादर्शनात्। बीजाङ्कुरादेः पक्षान्तर्भावेन तैर्व्यभिचारापादनं श्रोत्रियवेतालानामनभिज्ञताविजृम्भितम्। तत एव सुखादिभिर्व्यभिचारवचनमपि तथैव। न च लाघवेनोभयवादिसंप्रतिपन्नक्षेत्रज्ञानामेव ईदृशाधिष्ठातृत्वकल्पनं युक्तम्, तेषां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टदर्शनाशक्तिनिश्चयात्, दर्शनानुगुण्येवहि सर्वत्रकल्पना। नचक्षेत्रज्ञवदीश्वरस्या शक्तिनिश्चयोऽस्ति। अतः प्रमाणान्तरतो न तत्सिद्ध्यनुपपत्तिः समर्थकर्तृपूर्वकत्वनियतकार्यत्वहेतुना सिध्यन् स्वाभाविकसर्वार्थसाक्षात्कारतन्नियमनशक्तिसंपन्न ३ एव सिध्यति॥

(अथ कार्यत्व हेतोर्विरुद्धत्वं व्युदस्यति)

यत्त्वनैश्वर्याद्यापादनेन धर्मविशेषविपरीतसाधनत्वमुन्नीतम्; तदनुमानवृत्तानभिज्ञत्वनिबन्धनम्, सपक्षे सह दृष्टानां सर्वेषां कार्यस्याहेतुभूतानां च धर्माणां लिङ्गिन्यप्राप्तेः॥

१ घटादिवत्०पा०। २ कार्यानुमेये। अन्यत्रापि०पा०। ३ एव हि सिध्यति०पा०

एतदुक्तं भवति—केनचित् किञ्चित् क्रियमाणं स्वोत्पत्तये कर्तुः स्वनिर्माणसामर्थ्यं स्वोपादानोपकरणज्ञानं चापेक्षते; न त्वन्यासामर्थ्यमन्याज्ञानं च, हेतुत्वाभावात्। स्वनिर्माणसामर्थ्यस्वोपादानोपकरणज्ञानाभ्यामेव स्वोत्पत्तावुपपन्नायां संबन्धितया दर्शनमात्रेणाकिंचित्करस्यार्थान्तराज्ञानादेर्हेतुत्वकल्पनायोगात्—इति। किञ्च—क्रियमाणवस्तुव्यतिरिक्तार्थाज्ञानादिकं किं सर्वविषयं क्रियोपयोगि; उत कतिपयविषयम्। न तावत्सर्वविषयम्; नहि कुलालादिः क्रियमाणव्यतिरिक्तं किमपि न जानाति। नापि कतिपयविषयम्, सर्वेषु कर्तृषु तत्तदज्ञानाशक्त्यनियमेन सर्वेषामज्ञानादीनां व्यभिचारात्। अतः कार्यत्वस्यासाधकानामनीश्वरत्वादीनां लिङ्गित्वप्राप्तिरिति न विपरीतसाधनत्वम् ॥

कुलालादीनां दण्डचक्राद्यधिष्ठानं शरीरद्वारेणैव दृष्टमिति जगदुपादानोपकरणाधिष्ठानमीश्वरस्याशरीरस्यानुपपन्नमिति चेत्—न; संकल्पमात्रेणैव परशरीरगतभूतवेतालगरलाद्यपगमविनाशदर्शनात्। कथमशरीरस्य परप्रवर्तनरूपस्संकल्प इति चेत्—न शरीरापेक्षस्संकल्पः, शरीरस्य संकल्पहेतुत्वाभावात्। मन एव हि संकल्पहेतुः। तदभ्युपगतमीश्वरेऽपि, कार्यत्वेनैव ज्ञानशक्तिवन्मनसोऽपि प्राप्तत्वात्। मानसस्सङ्कल्पस्सशरीरस्यैव, सशरीरस्यैव समनस्कत्वादिति चेत्—न, मनसो नित्यत्वेन देहापगमेऽपि मनसस्सद्भावेनानैकान्त्यात्। अतो विचित्रावयवसन्निवेशविशेषतनुभुवनादिकार्यनिर्माणे पुण्यपाप[1]परवशः परिमितशक्तिज्ञानः क्षेत्रज्ञो न प्रभवतीति निखिलभुवननिर्माणचतुरोऽचिन्त्यापरिमितज्ञानशक्त्यैश्वर्योऽशरीरस्संकल्पमात्रसाधनपरिनिष्पन्नानन्तविस्तारविचित्ररचनप्रपञ्चः पुरुषविशेष ईश्वरोऽनुमानेनैव सिद्ध्यति। अतः प्रमाणान्तरावसेयत्वाद्ब्रह्मणः नैतद्वाक्यं ब्रह्म प्रतिपादयति ॥

किंच—अत्यन्तभिन्नयोरेव मृद्द्रव्यकुलालयोर्निमित्तोपादानत्वदर्शनेन आकाशादेर्निरवयव[2]द्रव्यस्य कार्यत्वानुपपत्त्या च नैकमेव

१. परवशपरिमितशक्तिज्ञानः पा. । २. द्रव्यत्वात्कार्यत्वानुपप. पा.

ब्रह्म कृत्स्नस्य जगतो निमित्तमुपादानं च प्रतिपादयितुं शक्नोति—इति ॥

—*(सिद्धान्त)*—

एवं प्राप्ते ब्रूमः—यथोक्तलक्षणं ब्रह्म जन्मादिवाक्यं बोधयत्येव। कुतः ? शास्त्रैकप्रमाणकत्वाद्ब्रह्मणः। यदुक्तं —सावयवत्वादिना कार्यं सर्वं जगत्। कार्यं च तदुचितकर्तृविशेषपूर्वकं दृष्टमिति निखिलजगन्निर्माणतदुपादानोपकरणवेदनचतुरः कश्चिदनुमेयः—इति। तदयुक्तम्, महीमहार्णवादीनां कार्यत्वेऽप्येकदैवैकेन निर्मिता इत्यत्र प्रमाणाभावात्। न चैकस्य घटस्येव सर्वेषामेकं कार्यत्वम्, येनैकदैवैकः कर्ता स्यात्। पृथग्भूतेषु कार्येषु कालभेदकर्तृभेददर्शनेन कर्तृकालैक्यनियमादर्शनात्। न च क्षेत्रज्ञानां विचित्रजगन्निर्माणाशक्त्या कार्यत्वबलेन तदतिरिक्तकल्पनायाम् अनेककल्पनानुपपत्तेश्चैकः कर्ता भवितुमर्हतीति क्षेत्रज्ञानामेवोपचितपुण्यविशेषाणां शक्तिवैचित्र्यदर्शनेन तेषामेवातिशयितादृष्टसंभावनया च तत्तद्विलक्षणकार्यहेतुत्वसंभवात्; तदतिरिक्तात्यन्तादृष्टपुरुषकल्पनानुपपत्तेः। न च १युगपत्सर्वोत्पत्तिस्सर्वोच्छित्तिश्च प्रमाणपदवीमधिरोहतः, अदर्शनात्, क्रमेणैवोत्पत्तिविनाशदर्शनाच्च। कार्यत्वेन सर्वोत्पत्तिविनाशयोः कल्प्यमानयोर्दर्शनानुगुण्येन कल्पनायां विरोधाभावाच्च। अतो बुद्धिमदेककर्तृकत्वे साध्ये कार्यत्वस्यानैकान्त्यम्; पक्षस्याप्रसिद्धविशेषणत्वम्; साध्यविकलता च दृष्टान्तस्य; सर्वनिर्माणचतुरस्य एकस्याप्रसिद्धेः। बुद्धिमत्कर्तृकत्वमात्रे साध्ये सिद्धसाधनता ॥

सार्वज्ञ्यसर्वशक्तियुक्तस्य कस्यचिदेकस्य साधकमिदं कार्यत्वं किं युगपदुत्पद्यमानसर्ववस्तुगतम्? उत क्रमेणोत्पद्यमानसर्ववस्तुगतम्? युगपदुत्पद्यमानसर्ववस्तुगतत्वे कार्यत्वस्यासिद्धता। क्रमेणोत्पद्यमानसर्ववस्तुगतत्वे अनेककर्तृकत्वसाधनाद्विरुद्धता। अत्राप्येक-

१. युगपत्सर्वोच्छित्तिस्सर्वोत्पत्तिश्च. पा.

कर्तृकत्वसाधने प्रत्यक्षानुमानविरोधश्शास्त्रविरोधश्च; 'कुम्भकारो जायते रथकारो जायते' इत्यादिश्रवणात् ॥

अपिच—सर्वेषां कार्याणां शरीरादीनां च सत्त्वादिगुणकार्यरूपसुखाद्यन्वयदर्शनेन सत्वादिमूलत्वमवश्याश्रयणीयम् । कार्यवैचित्र्यहेतुभूताः कारणगता विशेषास्सत्त्वादयः । तेषां कार्याणां तन्मूलत्वापादनं तद्युक्तपुरुषान्तःकरणविकारद्वारेण । पुरुषस्य च तद्योगः कर्ममूल इति कार्यविशेषारम्भायैव, ज्ञानशक्तिवत्कर्तुः कर्मसम्बन्धः कार्यहेतुत्वेनैवावश्याश्रयणीयः; ज्ञानशक्तिवैचित्र्यस्य च कर्ममूलत्वात् । इच्छायाः कार्यारम्भहेतुत्वेऽपि विषयविशेषविशेषितायास्तस्यास्सत्त्वादिमूलकत्वेन १कर्मसम्बन्धोऽवर्जनीयः । अतः क्षेत्रज्ञा एव कर्तारः; न तद्विलक्षणः कश्चिदनुमानात्सिध्यति ॥

२भवन्ति च प्रयोगाः—तनुभुवनादि क्षेत्रज्ञकर्तृकम्, कार्यत्वात्, ३घटवत् । ईश्वरः कर्ता न भवति, प्रयोजनशून्यत्वात्, मुक्तात्मवत् । ईश्वरः कर्ता न भवति, अशरीरत्वात्तद्वदेव । न च क्षेत्रज्ञानां स्वशरीराधिष्ठाने व्यभिचारः, तत्राप्यनादेस्सूक्ष्मशरीरस्य सद्भावात् । विमतिविषयः कालो न लोकशून्यः, कालत्वाद्वर्तमानकालवत्—इति ॥

(अनुमानं मुखान्तरेण दूषयति)

अपिच—किमीश्वरस्सशरीरोऽशरीरो वा कार्यं करोति । न तावदशरीरः अशरीरस्य कर्तृत्वानुपलब्धेः । मानसान्यपि कार्याणि सशरीरस्यैव भवन्ति. मनसो नित्यत्वेऽप्यशरीरेषु मुक्तेषु तत्कार्यादर्शनात् । नापि सशरीरः, विकल्पासहत्वात् । तच्छरीरं किं नित्यम् ? उतानित्यम् ? । न तावन्नित्यम्, सावयवस्य तस्य नित्यत्वे जगतोऽपि नित्यत्वाविरोधादीश्वरासिद्धेः । नाप्यनित्यम्, तद्व्यतिरिक्तस्य

१ कर्मसंबन्धोऽवश्याश्रयणीयः पा ॥ २ भवन्तिचात्र० पा० ॥
३ घटादिवत्० पा० ॥

तच्छरीरहेतोस्तदानीमभावात् । स्वयमेव हेतुरिति चेत्—न, अशरीरस्य तदयोगात् । अन्येन शरीरेण सशरीर इति चेत्– न, अनवस्थानात् ॥

स किं सव्यापारो निर्व्यापारो वा ? । अशरीरत्वादेव न सव्यापारः । नापि निर्व्यापारः कार्यं करोति मुक्तात्मवत् । कार्यं जगदिच्छामात्रव्यापारकर्तृकमित्युच्यमाने पक्षस्याप्रसिद्धविशेषणत्वम्, दृष्टान्तस्य च साध्यहीनता । अतो दर्शनानुगुण्येन १ईश्वरानुमानं दर्शनानुगुण्यपराहतमिति शास्त्रैकप्रमाणकः परब्रह्मभूतस्सर्वेश्वरः पुरुषोत्तमः ॥

शास्त्रन्तु सकलेतरप्रमाणपरिदृष्टसमस्तवस्तुविसजातीयं सार्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पत्वादिमिश्रानवधिकातिशयापरिमितोदारगुणसागरं निखिलहेयप्रत्यनीकस्वरूपं प्रतिपादयतीति न प्रमाणान्तरावसितवस्तुसाधर्म्यप्रयुक्तदोषगन्धप्रसङ्गः । यत्तु २ निमित्तोपादानयोरैक्यमाकाशादेर्निरवयवद्रव्यस्य कार्यत्वं चानुपलब्धम् अशक्यप्रतिपादनमित्युक्तम्, ४तदप्यविरुद्धमिति ५"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" ६"न वियदश्रुतेः" इत्यत्र प्रतिपादयिष्यते । अतः प्रमाणान्तरागोचरत्वेन शास्त्रैकविषयत्वात् ७"यतो वा इमानि भूतानि" ८इति वाक्यमुक्तलक्षणं ब्रह्म प्रतिपादयतीति सिद्धम् ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् ॥३॥

---

१. ईश्वरसाधनं. पा ॥ २. निमित्तोपादानैक्यं. पा ॥
३. त्वमनु. पा ॥ ४. तदविरुद्ध. पा ॥
५. शारी. १-अ.४-पा.२३ ॥ ६. शारी.२-अ.३-पा. १ ॥
७. तै.भृगु.१-अनु ॥ ८. इत्यादिवाक्यं. पा ॥

–:(श्रीशारीरिकमीमांसाभाष्ये समन्वयाधिकरणम् ॥४॥):–



यद्यपि प्रमाणान्तरागोचरं ब्रह्म । तथापि प्रवृत्तिनिवृत्तिपरत्वाभावेन सिद्धरूपं ब्रह्म न शास्त्रं प्रतिपादयतीत्याशङ्क्याह—

तत्तु समन्वयात् । १ । १ । ४ ॥

प्रसक्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थस्तु शब्दः । तत् शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणस्सम्भवत्येव । कुतः ? समन्वयात्–परमपुरुषार्थतयाऽन्वयस्समन्वयः; परम[1]पुरुषार्थभूतस्यैव ब्रह्मणोऽभिधेयतयाऽन्वयात् ॥

[2]एवमिव समन्वितो ह्यौपनिषदः पदसमुदायः— [3]"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" [4]"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" [5]"ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत्" [6]"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" [7]"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः" [8]"एको ह वै नारायण आसीत्" [9]"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [10]"आनन्दो ब्रह्म" इत्येवमादिः ॥

न च व्युत्पत्तिसिद्धपरिनिष्पन्नवस्तुप्रतिपादनसमर्थानां पदसमुदायानामखिलजगदुत्पत्तिस्थितिविनाशहेतुभूताशेषदोषप्रत्यनीकापरिमितोदारगुणसागरानवधिकातिशयानन्दस्वरूपे ब्रह्मणि समन्वितानां प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपप्रयोजनविरहादन्यपरत्वम् . स्वविषयावबोधपर्यवसायित्वात्सर्वप्रमाणानाम् । नच प्रयोजनानुगुणा प्रमाणप्रवृत्तिः ।

---

१ पुरुषार्थस्यै० पा ॥
२ एवमेव० पा ॥
३ तै० भृ० १ अनु ॥
४ छा० ६ प्र० २ ख० १; ३ ॥
५ बृ० ३ अ० २ ब्रा० ११ ॥
६ ऐतरेय० १ अ० १ ख० १ ॥
७ तै० आन० १ अनु ॥
८ महोपनिषद्० १ अ० १ वा ॥
९ तै आन० १ अनु ॥
१० तै भृ० ६ अन ॥

प्रयोजनं हि प्रमाणानुगुणम् । न च प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयविरहिणः प्रयोजनशून्यत्वम्, पुरुषार्थान्वयप्रतीतेः । तथा स्वरूपपरेष्वपि 'पुत्रस्ते जातः, नायं सर्पः' इत्यादिषु हर्षभयनिवृत्तिरूपप्रयोजनवत्त्वं दृष्टम् ॥

(एवं सूत्राक्षर योजनार्थं संक्षेपेणार्थउक्तः, अथ तात्पर्यं वक्तुं पूर्वपक्षं विस्तारेणावतारयति)

अत्राह—न वेदान्तवाक्यानि ब्रह्म प्रतिपादयन्ति प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयविरहिणः शास्त्रस्यानर्थक्यात् । यद्यपि प्रत्यक्षादीनि वस्तुयाथात्म्यावबोधे पर्यवस्यन्ति; तथाऽपि शास्त्रं प्रयोजनपर्यवसाय्येव । न हि लोकवेदयोः प्रयोजनरहितस्य कस्यचिदपि वाक्यस्य प्रयोग उपलब्धचरः। न च किञ्चित् प्रयोजनमनुद्दिश्य वाक्यप्रयोगः श्रवणं वा सम्भवति। तच्च प्रयोजनं प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्येष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारात्मकमुपलब्धम्—'अर्थार्थी राजकुलं गच्छेत्' 'मन्दाग्निर्नाम्बु पिबेत्' १'स्वर्गकामो यजेत' 'न कलञ्जं भक्षयेत्' २इत्येवमादिषु यत्पुनस्सिद्धवस्तुपरेष्वपि 'पुत्रस्ते जातः, नायं सर्पो रज्जुरेषा' इत्यादिषु हर्षभयनिवृत्तिरूपपुरुषार्थान्वयो दृष्ट इत्युक्तम्। तत्र किं पुत्रजन्माद्यर्थात्पुरुषार्थावाप्तिः ? । उत तज्ज्ञानादिति विवेचनीयम्। ३सतोऽप्यज्ञातस्यार्थस्यापुरुषार्थत्वेन तज्ज्ञानादिति चेत्—तर्ह्यसत्यप्यर्थे ज्ञानादेव पुरुषार्थस्सिध्यतीत्यर्थपरत्वाभावेन प्रयोजनपर्यवसायिनोऽपि शास्त्रस्य नार्थसद्भावे प्रामाण्यम्। तस्मात्सर्वत्र प्रवृत्तिनिवृत्तिपरत्वेन ज्ञानपरत्वेन वा प्रयोजनपर्यवसानमिति कस्यापि वाक्यस्य परिनिष्पन्ने वस्तुनि तात्पर्यासम्भवान्न वेदान्ताः परिनिष्पन्नं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति ॥

अत्र कश्चिदाह—*वेदान्तवाक्यान्यपि कार्यपरतयैव ब्रह्माणि

*जरन्मायावादिपक्षौ द्वौ विद्येते—तत्रैको निष्प्रपञ्चीकरण नियोग वादः, अन्योध्यान नियोगवादः । एतन्मतद्वयं, ध्यान नियोगवादि मुखेन शाङ्करादिमतं च दूषितवन्तमधिकरण पूर्वं पक्षिणं प्रति सिद्धान्तं वक्ष्यन्, इदानीं निष्प्र पञ्ची करण नियोग वादं प्रस्तौतिअत्र कश्चिदाहेति ॥

१ यजुषि, २ । कां ०५ । प्रश्न. ४—यनु ॥ २ इत्यादिषु० पा ॥
३ सतोऽप्यर्थस्याज्ञातस्य० पा ।

प्रमाणभावमनुभवन्ति–कथं निष्प्रपञ्चमद्वितीयं ज्ञानैकरसं ब्रह्म अनया विद्यया सप्रपञ्चतया प्रतीयमानं निष्प्रपञ्चं कुर्यादिति ब्रह्मणः प्रपञ्च-प्रविलयद्वारेण विधिविषयत्वम्–इति । कोऽसौ द्रष्टृदृश्यरूपप्रपञ्च[1]प्रविलयद्वारेण साध्यज्ञानैकरसब्रह्मविषयो विधिः ? । [2]"न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः । न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः" [3]इत्यादिः । द्रष्टृदृश्यरूपभेद-शून्यं दृशिमात्रं ब्रह्म कुर्यादित्यर्थः । स्वतस्सिद्धस्यापि ब्रह्मणो निष्प्रपञ्चतारूपेण [4]कार्यत्वमविरुद्धम्–इति ॥

(अधिकरणपूर्वपक्षी मीमांसकस्तद्दूषयति)

तदयुक्तम्– नियोगवाक्यार्थवादिना हि नियोगः, नियोज्यविशेषणम् , विषयः, करणम् , इतिकर्तव्यता, प्रयोक्ता च वक्तव्याः* । तत्र हि नियोज्यविशेषणमनुपादेयम् । तच्च निमित्तं फल मिति द्विधा । अत्रकिं नियोज्य विशेषणम् तच्च किं निमित्तं फलं वेति विवेचनीयम् । ब्रह्मस्वरूपयाथात्म्यानुभवश्चेन्नियोज्यविशेषणम् ; तर्हि न तन्निमित्तम् , जीवनादिवत्तस्यासिद्धत्वात् । निमित्तत्वे च तस्य नित्यत्वेनापवर्गोत्तरकालमपि जीवननिमित्ताग्निहोत्रादिवत् नित्यतद्विषयानुष्ठानप्रसङ्गः । नापि फलं, नैयोगिकफलत्वेन स्वर्गादिवदनित्यत्वप्रसङ्गात् ॥

* नियोगः अदृष्टम् । नियोज्य विशेषणं द्विविधम् निमित्तं फलञ्चेति । तत्र निमित्तम् " यावज्जीवमग्नि होत्रं जुहोति; " फलम् स्वर्गम् । विषयः यागादिः । करणम् प्रयत्नत्वं, कर्मत्वं, कृतित्वं वा । इति कर्तव्यता यथा करणीयंस्यात । प्रयोक्ता यजमानः ।

१ प्रपञ्चविलय० पा ॥ २ बृ० ५ अ० ब्रा० २ वा ॥
३इत्येवमादिः पा ॥ ४ साध्यत्वमवि० पा ॥

कथमत्र नियोगविषयः ? । ब्रह्मैवेति चेत्-न, तस्य १नित्यत्वेनाभव्यरूपत्वात्, + अभावार्थत्वाच्च । निष्प्रपञ्चं २ब्रह्म साध्यमिति चेत्-साध्यत्वेऽपि फलत्वमेव । अभावार्थत्वान्न विधिविषयत्वम् । साध्यत्वञ्च कस्य ? किं ब्रह्मणः ?, उत प्रपञ्चनिवृत्तेः न तावद्ब्रह्मणः सिद्धत्वात्, अनित्यत्वप्रसक्तेश्च । अथ प्रपञ्चनिवृत्तेः । न तर्हि ब्रह्मणस्साध्यत्वम् । प्रपञ्चनिवृत्तिरेव विधिविषय इति चेत्—न, तस्याः फलत्वेन विधिविषयत्वायोगात् । प्रपञ्चनिवृत्तिरेव हि मोक्षः । स च फलम् । अस्य च नियोगविषयत्वे नियोगात्प्रपञ्चनिवृत्तिः, प्रपञ्चनिवृत्त्या नियोगः इतीतरेतराश्रयत्वम् ॥

अपि च—किं निवर्तनीयः प्रपञ्चो मिथ्यारूपः सत्यो वा । मिथ्यारूपत्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वादेव नियोगेन न किंचित्प्रयोजनम् । नियोगस्तु निवर्तकज्ञानमुत्पाद्य यद्द्वारेण प्रपञ्चस्य निवर्तक इति चेत्-तत् *स्ववाक्यादेव ज्ञातमिति नियोगेन न प्रयोजनम् । वाक्यार्थज्ञानादेव ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य मिथ्याभूतस्य प्रपञ्चस्य बाधितत्वात् सपरिकरस्य नियोगस्यासिद्धिश्च । प्रपञ्चस्य निवर्त्यत्वे प्रपञ्चनिवर्तको नियोगः किं ब्रह्मस्वरूपमेव, उत तद्व्यतिरिक्तः यदि ब्रह्मस्वरूपमेव ३निवर्तकस्य नित्यतया निवर्त्यप्रपञ्चसद्भाव एव न सम्भवति । नित्यत्वेन नियोगस्य विषयानुष्ठानसाध्यत्वं च न घटते । अथ ब्रह्मस्वरूपव्यतिरिक्तः । तस्य कृत्स्नप्रपञ्चनिवृत्तिरूपविषयानुष्ठानसाध्यत्वेन प्रयोक्ता च नष्ट इत्याश्रयाभावादसिद्धिः । प्रपञ्चनिवृत्तिरूपविषयानु-

---

+ अभव्य रूपत्वात् असाध्यत्वात् । अभावार्थत्वाच्च भावार्थाः कर्म शब्दाः, क्रियारूपत्वाभावादित्यर्थः ।

* स्ववाक्यात् प्रपञ्चमिथ्यात्व ब्रह्मनिर्विशेषत्वरूपाद् वाक्यादित्यर्थः ।

---

१ निवर्तकं० पा० ॥　　　　२ नित्यत्वेनाभाव्यरूप० पा० ॥

३ ब्रह्मैव० पा० ॥

ध्यानेनैव ब्रह्मस्वरूपव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य निवृत्तत्वात् । न नियोगनिष्पाद्यं मोक्षाख्यं फलम् । किंच-प्रपञ्चनिवृत्तेर्योगकरणस्य इति कर्तव्यताऽभावात्, अनुपकृतस्य च करणत्वायोगान्न करणत्वम् । कथम् इतिकर्तव्यताऽभाव इति चेत्-इत्थम्-अस्येतिकर्तव्यता भावरूपा ? अभावरूपा ? वा । भावरूपा च करणशरीरनिष्पत्तितदनुग्रहकार्यभेदभिन्ना । उभयविधा च न सम्भवति । नहि मुद्गराभिघातादिवत् कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्य निवर्तकः कोऽपि दृश्यत इति दृष्टार्था न सम्भवति नापि निष्पन्नस्य कारणस्य कार्योत्पत्तावनुग्रहस्सम्भवति, अनुग्राहकांशसद्भावेन कृत्स्नप्रपञ्चनिवृत्तिरूपकरणस्वरूपासिद्धेः । ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वज्ञानं प्रपञ्चनिवृत्तिरूपकरणशरीरं निष्पादयतीति चेत्-तेनैव प्रपञ्च निवृत्तिरूपो मोक्षस्सिद्ध इति न करणादिनिष्पाद्यम् अवशिष्यत इति पूर्वमेवोक्तम् । अभावरूपत्वे [1]चाभावादेव न करणशरीरं निष्पादयति । नाप्यनुग्राहकः । अतो निष्प्रपञ्चब्रह्मविषयो विधिर्न सम्भवति ॥

(अथ ध्याननियोगवादिपक्षमुपक्षिपति)

अन्योऽप्याह—यद्यपि वेदान्तवाक्यानां न परिनिष्पन्नब्रह्मस्वरूपपरता प्रामाण्यम् । तथाऽपि ब्रह्मस्वरूपं सिध्यत्येव । कुतः ? ध्यानविधिसामर्थ्यात् । एवमेव हि समामनन्ति–[2]"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः निदिध्यासितव्यः" [3]"य आत्मा अपहतपाप्मा सोऽन्वेष्टव्यस्स विजिज्ञासितव्यः" [4]"आत्मेत्येवोपासीत" "आत्मानमेव लोकमुपासीत" इति । अत्र ध्यानविषयो हि नियोगस्वविषयभूतध्यानं ध्येयैकनिरूपणीयम्- इति ध्येयमाक्षिपत्ति । स च ध्येयस्ववाक्यनिर्दिष्ट आत्मा । स किंरूप इत्यपेक्षायां तत्स्वरूपविशेषसर्पणद्वारेण [5]"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [6]"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्ये-

---

१. अभावत्वादेव. पा० ॥ २. बृ० ४अ. ४ ब्रा ५ ॥
३. छा. ८ प्र. ७. ख. १ ॥ ४. बृ. ३. अ. ४ ब्रा. ७ १५ ॥
५. तै० आन. १ अनु ॥ ६. छा. ६. प्र. २ ख. १ ॥

यमादीनां वाक्यानां ध्यानविधिशेषतया प्रामाण्यम्—इति। विधिवि-षयभूतध्यानशरीरानुप्रविष्टब्रह्मस्वरूपेऽपि तात्पर्यमस्त्येव। अतः "एकमेवाद्वितीयम्" १"तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" २"नेह नानाऽस्ति किञ्चन" इत्यादिभिर्ब्रह्मस्वरूपमेकमेव सत्यं तद्व्य-तिरिक्तं सर्वं मिथ्येत्यवगम्यते। प्रत्यक्षादिभिर्भेदावलम्बि च कर्मशा-स्त्रेण भेदः प्रतीयते। भेदाभेदयोः परस्परविरोधे सत्यनाद्यविद्यामू-लत्वेनापि भेदप्रतीत्युपपत्तेरभेद एव परमार्थ इति निश्चीयते। तत्र ब्रह्मध्याननियोगेन तत्साक्षात्कारफलेन निरस्तसमस्ताविद्याकृतवि-विधभेदाद्वितीयज्ञानैकरसब्रह्मरूपमोक्षः प्राप्यते॥

न च वाक्याद्वाक्यार्थज्ञानमात्रेण ब्रह्मभावसिद्धिः, अनुप-लब्धेः, विविधभेददर्शनानुवृत्तेश्च। तथा च सति श्रवणादिविधान-मनर्थकं स्यात्॥

(अथसाक्षान्मायावादिना स्वमतं पश्चाद्विवक्षता प्रथमं ध्याननियोगवादिपक्षस्यप्रतिक्षेपमाशङ्कते)

अथोच्येत—'रज्जुरेषा न सर्पः' इत्युपदेशेन सर्पभयनिवृत्ति-दर्शनात् रज्जुसर्पवत् बन्धस्य च मिथ्यारूपत्वेन ज्ञानबाध्यतया तस्य वाक्यजन्यज्ञानेनैव निवृत्तिर्युक्ता; न नियोगेन। नियोगसाध्यत्वे मोक्षस्यानित्यत्वं स्यात्, स्वर्गादिवत् मोक्षस्य नित्यत्वं हि सर्ववादि-सम्प्रतिपन्नम्। किञ्च धर्माधर्मयोः फलहेतुत्वं स्वफलानुभवानुगुणश-रीरोत्पादनद्वारेणेति ब्रह्मादिस्थावरान्तचतुर्विधशरीरसम्बन्धरूपसं-सारफलत्वमवर्जनीयम्। तस्मान्न धर्मसाध्यो मोक्षः। तथा च श्रुतिः ३"न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति। अशरीरत्वरूपे मोक्षे धर्माधर्मसा-

---

१ छा० ६ प्र० ८ ख० ७। २ कठ० ४ वल्ली० ११।
३ छा० ८ प्र० १२ ख० १।

ध्यप्रियाप्रियविरहश्रवणात्, न धर्मसाध्यमशरीरत्वमिति विज्ञायते। न च नियोगविशेषसाध्यफलविशेषवत् ध्याननियोगसाध्यमशरीरत्वम्, अशरीरत्वस्य स्वरूपत्वेनासाध्यत्वात्। यथाऽऽहुः श्रुतयः—१"अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति" २"अप्राणो ह्यमनाश्शुभ्रः" ३"असङ्गो ह्ययं पुरुषः" इत्याद्याः। अतोऽशरीरत्वरूपो मोक्षो नित्य इति न धर्मसाध्यः। तथा च श्रुतिः— "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताद्भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद" इति ॥

अपिच—उत्पत्तिप्राप्तिविकृतिसंस्कृतिरूपेण चतुर्विधं हि साध्यत्वं मोक्षस्य न सम्भवति। न तावदुत्पाद्यः, मोक्षस्य ब्रह्मस्वरूपत्वेन नित्यत्वात्। नापि प्राप्यः, आत्मस्वरूपत्वेन ब्रह्मणो नित्यप्राप्तत्वात्। नापि विकार्यः, दध्यादिवदनित्यत्वप्रसङ्गादेव। नापि संस्कार्यः; संस्कारो हि ४दोषापनयनेन वा गुणाधानेन वा साधयति। न तावद्दोषापनयनेन, नित्यशुद्धत्वाद्ब्रह्मणः। नाप्यतिशयाधानेन, अनाधेयातिशयरूपत्वात्। नित्यनिर्विकारत्वेन स्वाश्रयायाः पराश्रयायाश्च क्रियाया अविषयतया न निर्घर्षणेनाऽऽदर्शादिवदपि संस्कार्यत्वम्। न च देहस्थया स्नानादिक्रियया आत्मा संस्क्रियते ; किं त्वविद्यागृहीतस्तत्सङ्गतोऽहङ्कर्ता। तत्फलानुभवोऽपि तस्यैव। न चाहङ्कर्ताऽऽत्मा, तत्साक्षित्वात्। तथा च मन्त्रवर्णः—५"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" इति ; ६"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" ७"एको देवस्सर्वभूतेषु गूढस्सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षस्सर्वभूताधिवासस्साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च"

१ * २ कठ० २ वल्ली० २२० १४ ॥ ३ मुण्ड० २ मु० १ ख० २ ॥
१ उ० बृ० अ० ३ ब्रा० ४ प० ॥ ४ दोषापनयनेन गुणाधानेन वा० ॥
५ मुण्ड ३ मु १ ख. १ ॥ ६ कठ. ३ वल्ली ४ ॥ ७ श्वेत. ६ अ ११ ।

८*"सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्" इति च। अविद्यागृहीतादहङ्कर्तुरात्मस्वरूपमनाधेयातिशयं नित्यशुद्धं निर्विकारं निष्कृष्यते। तस्मादात्मस्वरूपत्वेन न साध्यो मोक्षः॥

यद्येवं किं वाक्यार्थज्ञानेन क्रियत इति चेत्—मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमिति ब्रूमः। तथा च श्रुतयः—६"त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि" इति, ७"श्रुतं ह्येवमेव भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवश्शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु" ८"तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः" इत्याद्याः। तस्मान्नित्यस्यैव मोक्षस्य प्रतिबन्धनिवृत्तिर्वाक्यार्थज्ञानेन क्रियते। निवृत्तिस्तु साध्याऽपि

---

* शुक्रम् अविद्या रहितम्, वासना रहितं वा। शुद्धम्-अपाप विद्धम् कर्म फल रहितं च। पर्यगात् गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः, अमन्यतेत्यर्थः।

"अमन्यतेत्यर्थ इति"—आत्मानमिति शेषः। यद्यपि "सपर्यगात्, स आत्मा, यस्तु सर्वाणि भूतानि" इत्यादौ प्रकृत आत्मा पर्यगात् परितस्समन्तादगात् सर्वगत इत्यर्थः। शुक्रमित्याद्यशब्दाः पुल्लिङ्गत्वेन परिणेयाः सदुत्युपक्रमानुसारात्। अकायः लिङ्ग शरीर रहितः। अव्रणः अक्षतः। अस्नाविरः सिरा रहितः। अव्रणास्नाविराभ्यां स्थूल देह राहित्यमुक्तम्। शुक्रमिति बाह्याशुद्धि विरह उक्तः। शुद्ध इत्यान्तर रागाद्यभावः॥ अपाप विद्धः धर्माधर्मादि रहित इति शङ्करादिभि र्व्याख्यातम्।

---

१ मुण्ड. ३ मु. १ ख. १।　　२ कठ. ३ वल्ली. ४।
३ श्वे. ६ अ. ११।　　४ ईशा. ८।
५ पस्थाविरं. पा।　　६ प्रश्न. ६ प्रश्न ८॥
७ छा. ७ प्र. १ ख ३॥　　८ छा. ७ प्र. २६ ख. २॥

प्रध्वंसाभावरूपा न विनश्यति । १ "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" २ "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" इत्यादिवचनं मोक्षस्य वेदनानन्तरभावितां प्रतिपादयन्नियोगव्यवधानं प्रतिरुणद्धि । नच विदिक्रिया*३कर्मत्वेन वा ध्यानक्रियाकर्मत्वेन वा कार्यानुप्रवेशः, ४ उभयविधकर्मत्वप्रतिषेधात् । ५"अन्यदेव तद्विदितादथो + ६अविदितादधि" ७"येनेदं सर्वं विजानाति तत्केन विजानीयात्" इति । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" इति च ॥

नचैतावता शास्त्रस्य निर्विषयत्वम्, अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य । न हीदन्तया ब्रह्म विषयीकरोति शास्त्रम् ' अपि तु अविषयं प्रत्यगात्मस्वरूपं प्रतिपादयदविद्याकल्पितज्ञानज्ञातृज्ञेय८विभागं निवर्तयति । तथा च शास्त्रं—९"न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः" इत्येवमादि। नच ज्ञानादेव बन्धनिवृत्तिरिति श्रवणादिविध्यानर्थक्यम्, स्वभावप्रवृत्तसकलेतरविकल्पविमुखीकरणद्वारेण वाक्यार्थावगतिहेतुत्वात्तेषाम् । न च ज्ञानमात्रात् बन्धनिवृत्तिर्न दृष्टेति वाच्यम्, बन्धस्य मिथ्यारूपत्वेन ज्ञानोत्तरकालं स्थित्यनुपपत्तेः । अत एव न शरीरपातादूर्ध्वमेव बन्धनिवृत्तिरिति वक्तुं युक्तम् । नहि मिथ्यारूपसर्पभयनिवृत्तिः रज्जुयाथात्म्यज्ञानातिरेकेण सर्पविनाशमपेक्षते। यदि शरीरसम्बन्धः पारमार्थिकः तदा हि तद्विनाशापेक्षा । स तु ब्रह्मव्यतिरिक्ततया न पारमार्थिकः । यस्य तु बन्धो न निवृत्तः, तस्य ज्ञानमेव न १ जातमित्यवगम्यते, ज्ञानकार्यादर्शनात् । तस्मात् शरीरस्थितिर्भवतु वा मा वा , वाक्यार्थज्ञानसमनन्तरं मुक्त एवासौ । अतो न ध्याननियोगसाध्यो मोक्ष इति न

* वेदनं ज्ञानम्, उपासनम्—ज्ञान विशेषः । अत्र वेदन शब्दो निष्प्रपञ्ची करण ज्ञान विशेषे विश्राम्यति, विवक्षा वशात्. अतो निष्प्रपञ्ची करण नियोग वादस्यापि दूषणं फलितम् । विद्युपासि कर्मत्वाभावे श्रुतिमाह 'अन्यदेव' इति ।

+ विदितात्—ज्ञेयात्, अविदितात् -ज्ञातुरित्यर्थः ।अन्यदेवेति विदि कर्मत्व निषेधः, तदेवेति ध्यान कर्मत्व निषेधः ।

१. मुण्ड० ३-मु० २-ख० ९ ।
२. श्वे० ०-अ० ८ ।
३. कर्मत्वेन ध्यानक्रियाकर्मत्वेन वा० पा ।
४. मभयकर्मत्वप्रति० पा ।
५. केन० १ ख०३ ।
६. अविदितादधि पा ।
७. बृ० ४-अ० ४ब्रा. १४ । भेदंपा
८. बृ.१-अ.४.ब्रा. २ ।१०ज्ञातपा ।

ध्यानविधिशेषतया ब्रह्मणस्सिद्धिः। अपि तु १"सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म" २ "तत्त्वमसि"३ "अयमात्मा ब्रह्म" इति तत्परेणैव पदसमुदायेन सिध्यतीति ॥

तदयुक्तं, वाक्यार्थज्ञानमात्राद्बन्धनिवृत्त्यनुपपत्तेः। यद्यपि मिथ्यारूपो बन्धो ज्ञानबाध्यः। तथाऽपि बन्धस्यापरोक्षत्वात् न परोक्षरूपेणवाक्यार्थज्ञानेन स बाध्यते, रज्ज्वादावपरोक्षसर्पप्रतीतौ वर्तमानायां 'नायं सर्पो रज्जुरेषा' इत्याप्तोपदेशजनितपरोक्षसर्पविपरीतज्ञानमात्रेण भयानिवृत्तिदर्शनात्। आप्तोपदेशस्य तु भयनिवृत्तिहेतुत्वं वस्तुयाथात्म्यापरोक्षनिमित्तप्रवृत्तिहेतुत्वेन। तथा हि–रज्जुसर्पदर्शनभयात् परावृत्तः पुरुषो 'नायं सर्पो रज्जुरेषा' इत्याप्तोपदेशेन तद्वस्तुयाथात्म्यदर्शने प्रवृत्तस्तदेव प्रत्यक्षेण दृष्ट्वा भयान्निवर्तते। न च शब्दएव प्रत्यक्षज्ञानं जनयतीति वक्तुं युक्तम्, तस्यानिन्द्रियत्वात्। ज्ञानसामग्रीष्विन्द्रियाण्येव ह्यपरोक्षसाधनानि। न चास्यानभिसंहितफलकर्मानुष्ठानमृदितकषायस्य श्रवणमननिदिध्यासनविमुखीकृतबाह्यविषयस्य पुरुषस्य वाक्यमेवापरोक्षज्ञानं जनयति, निवृत्तप्रतिबन्धे तत्परेऽपि पुरुषे ज्ञानसामग्रीविशेषाणामिन्द्रियादीनां ४ स्वविषयनियमातिक्रमादर्शनेन तदयोगात् ॥

न च ध्यानस्य वाक्यर्थज्ञानोपायता, इतरेतराश्रयत्वात् वाक्यार्थज्ञाने जाते तद्विषयध्यानम्, ध्याने निवृत्ते वाक्यार्थज्ञानम्–इति न च ध्यानवाक्यार्थज्ञानयोर्भिन्नविषयत्वम्, तथा सति ध्यानस्य वाक्यार्थज्ञानोपायता न स्यात्। न ह्यन्यध्यानमन्योन्मुख्यमुत्पादयति। ज्ञातार्थस्मृतिसन्तीतरूपस्य ध्यानस्य वाक्यार्थज्ञानपूर्वकत्वमवर्जनीयम्

१. तै० आन० १-अनु। ३. माण्डूक्य० १-ख० २।
२ छा० ६-प्र० ८ ख० ७। ४. स्व स्व श्च विषय०, पा।

ध्येयब्रह्मविषयज्ञानस्य हेत्वन्तरासंभवात् ×न च ध्यानमूलं ज्ञानं वाक्यान्तरजन्यम् . निवर्तकज्ञानं तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यमिति युक्तम्। ध्यानमूलमिदं वाक्यान्तरजन्यं ज्ञानं तत्त्वमस्यादिवाक्यजज्ञानेनैक विषयम्, भिन्नविषयं वा एक विषयत्वेतदेवेनरेतराश्रयत्वम्। भिन्नविषयत्वे ध्यानेन तदौन्मुख्यापादनासंभवः। किञ्च ध्यानस्य ध्येयध्यात्राद्यनेकप्रपञ्चापेक्षत्वान्निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मैकत्वविषयवाक्यार्थज्ञानोत्पत्तौ दृष्टद्वारेण नोपयोग इति वाक्यार्थज्ञानमात्रादविद्यानिवृत्तिं वदतः श्रवण मननदिध्यासनविधीनामानर्थक्यमेव॥

यतो वाक्यादापरोक्ष्यज्ञानासम्भवाद्वाक्यार्थज्ञानेनाविद्या न निवर्तते, तत एव जीवनमुक्तिरपिदूरोत्सारिता। का चेयं जीवन्मुक्तिः? । स शरीरस्यैव मोक्ष इति चेत्—'माता मे वन्ध्या' इतिवदसङ्गतार्थं वचः, यतस्सशरीरत्वंबन्धः, अशरीरत्वमेव मोक्ष इतित्वयैव श्रुतिभिरुपपादितम्। अथ सशरीरत्वप्रतिभासे वर्तमानेयस्यायंप्रतिभासो मिथ्येति प्रत्ययः, तस्य सशरीरत्वनिवृत्तिरिति। न, मिथ्येति प्रत्ययेनसशरीरत्वं निवृत्तं चेत - कथं सशरीरस्य मुक्तिः ? । अर्जावतोऽपि मुक्तिस्सशरीरत्वमिथ्याप्रतिभासनिवृत्तिरेवेति कोऽयं जीवन्मुक्तिरिति विशेषः। अथ सशरीरत्वप्रतिभासो बाधितोऽपि यस्य द्विचन्द्रज्ञानवदनुवर्तते, स जीवन्मुक्त इति चेत् न, ब्रह्मव्यतिरिक्तसकलवस्तुविषयत्वाद्बाधकज्ञानस्य। कारणभूताविद्याकर्मादिदोषस्सशरीरत्वप्रतिभासेन सह तेनैव बाधित इति बाधितानुवृत्तिर्न शक्यते वक्तुम्। १द्विचन्द्रादौ तु तत्प्रतिभासहेतुभूतदोषस्य बाधकज्ञानभूतचन्द्रैकत्वज्ञानाविषयत्वेनाबाधितत्वात् द्विचन्द्रप्रतिभासानुवृत्तियुक्ता। किञ्च २"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इति सद्विद्यानिष्ठस्य शरीरपातमात्रमपेक्षते मोक्ष इतिवदन्तीयं श्रुतिः जीवन्मुक्तिं

× हेत्वन्तरासम्भवात्—ब्रह्मणः प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वादिति भावः।

१ द्विचन्द्र ज्ञानादौ, पा॥ २. छा। ६ प्र १४ खं. २॥

वारयति ।·सैषा जीवन्मुक्तिरापस्तम्बेनापि निरस्ता—[1]"वेदानिमं * लोकममुं च परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत् । बुद्धे क्षेमप्रापणं तच्छास्त्रै-र्विप्रतिषिद्धम् । बुद्धे चेत् क्षेमप्रापणमिहैव न दुःखमुपलभेत । एतेन परं व्याख्यातम् [2]" इति । अनेन ज्ञानमात्रान्मोक्षश्च निरस्तः।अतस्सकलभेद-निवृत्तिरूपा मुक्तिर्जीवतो न संभवात ॥

तस्माद्ध्याननियोगेन ब्रह्मापरोक्षज्ञानफलेनैव बन्धनिवृत्तिः । न च नियोगसाध्यत्वे मोक्षस्यानित्यत्वप्रसक्तिः, प्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रस्यैव साध्यत्वात् । किंच—न नियोगेन साक्षात् बन्धनिवृत्तिः क्रियते; किन्तु निष्प्रपञ्चज्ञानैकरसब्रह्मापरोक्ष्यज्ञानेन । नियोगस्तु तदापरोक्ष्यज्ञानं-जनयति ॥

कथं नियोगस्य ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वमिति चेत्—कथं वा भव-तोऽनभिसंहितफलानां कर्मणां वेदनोत्पत्तिहेतुत्वम् ? । मनोनैर्मल्यद्वारे-णेति चेत्— ममापि तथैव । मम तु निर्मले मनसि शास्त्रेण ज्ञानमु-त्पाद्यते । तव तु नियोगेन मनसि निर्मले ज्ञानसामग्री वक्तव्येति चेत्-ध्याननियोगनिर्मलं मन एव साधनमिति ब्रूमः । केनावगम्यते इति चेत्— भवतो वा कर्मभिर्मनो निर्मलं भवति, निर्मले मनसि श्रवणम-नननिदिध्यासनैस्सकलेतरविषयविमुखस्यैव शास्त्रं निवर्तकज्ञानमुत्पा

*वेद शब्देन त्रिवर्ग साधन कर्माण्युच्यन्ते, तत्फलमुच्यते इमं लोकममुं चेति । बुद्धे—वाक्यार्थ ज्ञाने जाते सति क्षेम प्रापणम् मोक्षः । तच्छास्त्रै र्विप्रतिषिद्धम्—शास्त्रैरिति बहु वचनस्यायमभावः वाक्यार्थ ज्ञानोत्तरभाव्यु-पासन विधि परैः 'एवं वर्तयन् यावदायुषम्' इत्याप्रयाणादनु वृत्ति परैर्मोक्षस्य शरीर पात मात्र सापेक्षत्व परैस्तयोर्ध्वमायन्न मृतत्वमेति" इति नाडी विशेष निष्क्रमण परैरर्चिरादि मार्गेण देश विशेष प्राप्ति परैश्चानेकैः शास्त्रैं विरोध इति "विप्रतिषिद्धमिति" विशेषेण प्रतिषिद्धम् ।

1. अपस्तम्बधर्मे.　　　　2 प्र ९-पटल

दयतीति केनावगम्यते ? । १" विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाना. शकेन " २ " श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" ३" ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति " इत्यादिभिश्शास्त्रैरिति चेत्...ममापि ॐ" श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" ४ "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" ५" न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा " ६"मनसा तु विशुद्धेन" ७ "हृदा मनीषा मन साभिक्लृप्तः" ८ इत्यादिभिश्शास्त्रैर्ध्याननियोगेन मनो निर्मलं भवति निर्मलं च मनो ब्रह्मापरोक्षज्ञानं जनयतीत्यवगम्यते— इति ९निरवद्यम् ॥

१०"नेदं यदिदमुपासते"इत्युपास्यत्वं प्रतिषिद्धमिति चेत् नैवम्, नात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं प्रतिषिध्यते; अपि तु ब्रह्मणो जगद्वैरूप्यं प्रति पाद्यते । यदिदं जगदुपासते प्राणिनः, नेदं ब्रह्म; तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि; यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते" इति वाक्यार्थः । अन्यथा 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' इति विरुध्यते। ध्यानविधिवैयर्थ्यं च स्यात् । अतो ब्रह्मसाक्षात्कारफलेन ध्याननियोगेनैवापरमार्थभूतस्य कृत्स्नस्य द्रष्टृदृश्यादिप्रपञ्चरूपबन्धस्य निवृत्तिः ॥

(अथायमेवध्याननियोगवादी भास्करमतं दूषयितुं तदभिमतं भेदाभेदविरोधमनुवदति) ।

यदपि कैश्चिदुक्तम्...भेदाभेदयोर्विरोधो न विद्यते– इति,तद युक्तम्' नहि शीतोष्णतमःप्रकाशादिवद्भेदाभेदावेकस्मिन्वस्तुनि संङ्गच्छेते। अथोच्येत–सर्वं हि वस्तुजातं प्रतीतिव्यवस्थाप्यम् । सर्वंच भिन्ना

१. बृ.६.अ.४.ब्रा.२२॥ २.बृ.६.अ.५.ब्रा.६॥ ३. मुण्ड. ३. मु.२.ख.९ ॥ ४. तै.आ. १.अनु॥ ५. मुंड.३.मु.१.ख.८॥ ६॥ ७.कठ.६. वल्ली.९ ॥

८. इत्यादिशास्त्रैः पा ॥

९. इतिशब्दो नानन्तरवाक्यशेषः, इति श्रुतप्रकाशिकापर्यालोचनया भाष्ये'निरवद्यम्' इति पाठऽधिक इति प्रतिभाति।

१० केन १ ख ५ ॥

भिन्नं प्रतीयते। कारणात्मना जात्यात्मना चाभिन्नम्। कार्यात्मना व्यक्त्यात्मना च भिन्नम्। छायातपादिषु विरोधस्सहानवस्थानलक्षणो भिन्नाधारत्वरूपश्च। कार्यकारणयोर्जातिव्यक्त्योश्च तदुभयमपि नोपलभ्यते। प्रत्युत एकमेव वस्तु द्विरूपं प्रतीयते; यथा 'मृदयंघटः' 'खण्डो गौः' 'मुण्डो गौः' इति। न चैकरूपं किंचिदपि वस्तु १लोकेदृष्टचरम्। न च तृणादेर्ज्वलनादिवदभेदो भेदोपमर्दी दृश्यत इति। न वस्तुविरोधः; मृत्सुवर्णगवाश्वाद्यात्मनाऽवस्थितस्यैव घटमुकुटखण्डवडवाद्यात्मना चावस्थानात्। न चाभिन्नस्य भिन्नस्य च वस्तुनोऽभेदो भेदश्च एक एवाकार इतीश्वराज्ञा। प्रतीतत्वादैकरूप्यं चेत्-प्रतीतत्वादेव भिन्नाभिन्नत्वमिति द्वैरूप्यमप्यभ्युपगम्यताम। न हि विस्फारिताक्षः पुरुषो घटशरावखण्डमुण्डादिषु वस्तुषूपलभ्यमानेषु 'इयं मृत्, अयं घटः, इदं गोत्वम्, इयं व्यक्तिः' इति विवेक्तुं शक्नोति। अपि तु 'मृदयं घटः, खण्डोगौः' इत्येव प्रत्येति। अनुवृत्तिबुद्धिबोध्यं कारणमाकृतिश्च, व्यावृत्तिबुद्धिबोध्यं कार्यं व्यक्तिश्चेति विविनक्तीति चेत्—नैवम्, विविक्ताकारानुपलब्धेः। न हि २सुसूक्ष्ममपि निरीक्षमाणैः 'इदमनुवर्तमानम्, इदं च व्यावर्तमानम्' इति पुरोऽवस्थिते वस्तुन्याकारभेद उपलभ्यते। यथा संप्रतिपन्नैक्ये कार्ये विशेषे चैकत्वबुद्धिरुपजायते; तथैव सकारणे ससामान्ये चैकत्वबुद्धिरविशिष्टोपजायते। एवमेव देशतः कालतश्चाकारतश्चात्यन्तविलक्षणेष्वपि वस्तुषु तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञा जायते। अतो ग्रात्मकमेव वस्तुप्रतीयते इति कार्यकारणयोर्जातिव्यक्त्योश्चात्यन्तभेदोपपादनं प्रतीतिपराहतम्। अथोच्येत...'मृदयं घटः खण्डो गौः' इतिवत् 'देवोऽहं मनुष्योऽहम' इति सामानाधिकरण्येनैक्यप्रतीतेरात्मशरीरयोरपि भिन्नाभिन्नत्वं स्यात्; अत इदं भेदाभेदोपपादनं निजसदननिहितहुतवहज्वालायत इति. तदिदमनाकलित भेदाभेदसाधन-

१. लौकिकं दृ. पा ॥ २. सूक्ष्म. पा ॥

सामानाधिकरण्यतदर्थयाथात्म्यावबोधविलसितम् । तथा हि— अबाधित एव प्रत्ययः सर्वत्रार्थं व्यवस्थापयति । देहाद्यात्माभिमानस्तु आत्मयाथात्म्यगोचरैस्सर्वैः प्रमाणैर्बाध्यमानो रज्जुसर्पादिबुद्धिवन्नात्मशरीरयोरभेदं साधयति । 'खण्डो गौः' मुण्डो गौः' इति सामानाधिकरण्यस्य न केनचित्कचिद्बाधो दृश्यते । तस्माभ्रातिप्रसङ्गः । अत एव जीवोऽपि ब्रह्मणो नात्यन्तभिन्नः । अपि तु ब्रह्मांशत्वेन भिन्नाभिन्नः । तत्राभेद एव स्वाभाविकः, भेदस्त्वौपाधिकः कथमवगम्यत इति चेत् ?- १"तत्त्वमसि" २ "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" ३"अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादिभिश्श्रुतिभिः ४ "ब्रह्मेमे द्यावापृथिवी" इति प्रकृत्य "ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मेमे कितवा उत । स्त्रीपुंसौ ब्रह्मणो जातौ स्त्रियो ब्रह्मोत वा पुमान्" इत्याथर्वणिकानां संहितोपनिषदि ब्रह्मसूक्ते अभेदश्रवणाच्च । ५ "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" ६"ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ" ७ "क्रियागुणैरात्मगुणैश्च *तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः" ८ "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशःसंसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः" ९"स कारणं करणाधिपाधिपः" १० "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" ११ "य आत्मनि तिष्ठन्" १२ "प्राज्ञेनाऽत्मना

* क्रिया गुणाः—संसार हेतु गुणाः, आत्म गुणाः मोक्ष हेतु गुणाः, तैस्संयोग हेतुरित्यर्थः ।

१ छां ६ । प्र ८ । ख ७॥ २ बृ ५ । अ ७ । ब्रा २३॥
३ बृ ६ । अ ४ ब्रा ५॥ ४॥
५ श्वे ६ । अ १३॥ ६ श्वे १ । अ ९॥
७ श्वे ५ । अ १२॥ ८ श्वे ६ । अ १६॥
९ श्वे ६ अ । ९॥ १० श्वे ४ । अ ६॥
११ बृ ५ । अ ७ ब्रा २२ । माध्यन्दिनपाठः ॥ १२ बृ ६ अ । ३ ब्रा । ११, २१

संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद'..."प्राज्ञेनाऽत्मनाऽन्वारूढः उत्सर्जन्याति" १ "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति इत्यादिभिर्भेद श्रवणाच्च, जीवपरयोर्भेदाभेदाववश्याश्रयणीयौ. तत्र २ "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति इत्यादिभिर्मोक्षदशायां जीवस्य ब्रह्मस्वरूपापत्तिव्यपदेशात्। ३ "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् इति तदानीं भेदेनेश्वरदर्शननिषेधाच्चाभेदस्स्वाभाविक इत्यवगम्यते । ननु च ४" सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता इति सहश्रुत्या तदानीमपि भेदः प्रतीयते। वक्ष्यति च ५ 'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ६ भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च इति। नैतदेवम् ७" नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इत्यादिश्रुतिशतैरात्मभेदप्रतिषेधात्। "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता इति सर्वैः कामैस्सह ब्रह्माश्नुते-सर्वगुणान्वितं ब्रह्माश्नुत इत्युक्तं भवति। अन्यथा ब्रह्मणा सहेत्यप्राधान्यं ब्रह्मणः प्रसज्येत। "जगद्व्यापारवर्जम् इत्यत्र मुक्तस्य भेदेनावस्थाने सत्यैश्वर्यस्य न्यूनताप्रसङ्गो वक्ष्यते, अन्यथा ८ "संपद्याविर्भावस्स्वेनशब्दात् इत्यादिभिर्विरोधात्। तस्मादभेद एव स्वाभाविकः। भेदस्तु जीवानां परस्मात् ब्रह्मणः, परस्परं च बुद्धीन्द्रियदेहोपाधिकृतः। यद्यपि ब्रह्म निरवयवं सर्वगतं च; तथाऽप्याकाश इव घटादिना बुद्ध्याद्युपाधिना ब्रह्मण्यपि भेदस्संभवत्येव। न च भिन्ने ब्रह्मणि बुद्ध्याद्युपाधिसंयोगः, बुद्ध्याद्युपाधिसंयोगाद्ब्रह्मणि भेद इतीतरेतराश्रयत्वम्; उपाधेस्तत्संयोगस्य च कर्मकृतत्वात् तत्प्रवाहस्य चानादित्वात्। एतदुक्तं भवति—पूर्वकर्मसंबद्धाज्जीवात् स्वसंबद्ध एवोपाधिरुत्पद्यते तद्युक्तात्कर्म। एवं बीजाङ्कुरन्यायेन कर्मोपाधिसंबन्धस्यानादित्वान्न दोषः—इति। अतो जीवानां परस्परं ब्रह्मणा

१ श्व। ३ ख। ८॥ २ मुण्ड। ३ मु। २ ख। ९॥
३ बृ। ४ ब्र। ४ बा १४॥ ४ तै। आ १। अनु॥
५ प्रतीयते—इति पा॥ ६ शारी। ४ अ पा १७
७ बृ। ५ अ। ७ ब्रा। २३॥ ८ शारी ४ ४। ४। १

चाभेदवत् भेदोऽपि स्वाभाविकः, उपाधीनामुपाध्यन्तराभावात्, तदभ्युप १ गमेऽनवस्थानाच्च । अतो जीवकर्मानुरूपं ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नस्वभावा एवोपाधयउत्पद्यन्ते-इति ॥

(अथ भेदाभेदपक्षं ध्याननियोगवादी दूषयति)

अत्रोच्यते — अद्वितीयसच्चिदानन्दब्रह्मध्यानविपर्यविधिपरं वेदान्तवाक्यजातमिति वेदान्तवाक्यैरभेदः प्रतीयते । भेदावलम्बिभिः कर्मशास्त्रैः प्रत्यक्षादिभिश्च भेदः प्रतीयते । भेदाभेदयोः परस्परविरोधात् अनाद्यविद्यामूलतयाऽपि भेदप्रतीत्युपपत्तेरभेद एव परमार्थ इत्युक्तम् । तत्र यदुक्तं—भेदाभेदयोरुभयोरपि प्रतीतिसिद्धत्वान्न विरोधः--इति । तदयुक्तम्, कस्माच्चित्कस्यचिद्विलक्षणत्वं हि तस्मात्तस्य भेदः । तद्विपरीतत्वं चाभेदः । तयोस्तथाभावातथाभावरूपयोरेकत्र सम्भवमनुन्मत्तः को ब्रवीति ?। कारणात्मना जात्यात्मना चाभेदः, कार्यात्मना व्यक्त्यात्मना च भेदः--इत्याकारभेदादविरोध इति चेत्—न; विकल्पासहत्वात् । आकारभेदादविरोधं वदतः किमेकस्मिन्नाकारे भेदः, आकारान्तरे चाभेदः—इत्यभिप्रायः ?; उताकारद्वययोगिवस्तुगतावुभावपीति ?। पूर्वस्मिन् कल्पे - व्यक्तिगतो भेदः, जातिगतश्चाभेद इति नैकस्य द्व्यात्मकता । जातिर्व्यक्तिरिति चैकमेव वस्त्विति चेत्—तर्ह्याकारभेदादविरोधः परित्यक्तः स्यात् । एकस्मिंश्च विलक्षणत्वतद्विपर्ययौ विरुद्धावित्युक्तम् । द्वितीये तु कल्पे अन्योन्यविलक्षणमाकारद्वयमप्रतिपन्नं च तदाश्रयभूतं वस्त्विति । तृतीयाभ्युपगमेऽपि त्रयाणामन्योन्यवैलक्षण्यमेवोपपादितं स्यात्; न पुनरभेदः । आकारद्वयनिरूप्यमाणाविरोधं तदाश्रयभूते वस्तुनि भिन्नाभिन्नत्वमिति चेत् --स्वस्माद्विलक्षणं स्वाश्रयमाकारद्वयं स्वस्मिन्विरुद्धधर्मद्वयसमावेशनिर्वाहकं कथं भवेत् ?। अविलक्षणं तु कथंतराम् ?। आकारद्वयतद्वतोश्च द्व्यात्मकत्वाभ्युपगमे निर्वाहकान्तरापेक्षयाऽनवस्था स्यात् । न च सम्प्रतिपन्नैक्यव्यक्तिप्रतीतिवत् ससामान्येऽपि वस्तुन्येकरूपा प्रतीतिरुपजायते । यतः 'इदमित्थम्'

१ गमे चानवस्थानात् पा ॥

इति सर्वत्र प्रकार प्रकारित्वैव सर्वा प्रतीतिः । नत्र प्रकारांशो जातिः प्रकार्यंशो व्यक्तिरिति नैकाकारा प्रतीतिः । अत एव जीवस्यापि ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नत्वं न सम्भवति । तस्मादभेदस्यानन्यथासिद्ध-शास्त्रमूलत्वादनाद्यविद्यामूल एव भेदप्रत्ययः । नन्वेवं ब्रह्मण एवाज्ञत्वं १तन्मूलाश्च जन्मजरामरणादयो दोषाः प्रादुःष्युः । ततश्च २"यस्स-र्वज्ञस्सर्ववित्" ३"एष आत्माऽपहतपाप्मा" इत्यादीनि शास्त्राणि बाध्येरन् । नैवम्—अज्ञानादिदोषाणामपरमार्थत्वात् । भवतस्तूपाधि-ब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरमनभ्युपगच्छतो ब्रह्मण्येवोपाधिसंसर्ग-स्तत्कृताश्च ४जीवत्वाज्ञत्वादयो दोषाः परमार्थत एव भवेयुः न हि ब्रह्मणि निरवयवे अच्छेद्ये सम्बद्ध्यमाना उपाधयस्तच्छित्वा भित्वा वा सम्बद्ध्यन्ते । अपि तु ब्रह्मस्वरूपे संयुज्य तस्मिन्नेव स्वकार्याणि कुर्वन्ति । यदि ५मन्वीत – उपाध्युपहितं ब्रह्म जीवः । स चाणुपरिमाणः । अणुत्वं चावच्छेदकस्य मनसोऽणुत्वात् । स चावच्छेदोऽनादिः एवमुपाध्युपहितांशे सम्बध्यमाना दोषाः अनु-पहिते परे ब्रह्मणि न सम्बध्यन्ते—इति । अयं प्रष्टव्यः-किमुपाधिना छिन्नो ब्रह्मखण्डोऽणुरूपो जीवः ? उताच्छिन्न एवाणुरूपोपाधिसंयुक्तो ब्रह्मप्रदेशविशेषः ? । उतोपाधिसंयुक्तं ब्रह्मस्वरूपम् ? । अथोपाधि-संयुक्तं चेतनान्तरं ? । अथोपाधिरेव ? इति । अच्छेद्यत्वाद्ब्रह्मणः प्रथमः कल्पोन कल्पते । आदिमत्त्वं च जीवस्य स्यात् । एकस्य सतो द्वैधीकरणं हि च्छेदनम् । द्वितीये तु कल्पे ब्रह्मण एव प्रदेशविशेषे उपाधिसम्बन्धादौपाधिकास्सर्वे दोषास्तस्यैव स्युः । उपाधौ गच्छ-त्युपाधिना स्वसंयुक्तब्रह्मप्रदेशाकर्षणायोगादनुक्षणमुपाधिसंयुक्तब्रह्म-प्रदेशभेदात् क्षणेक्षणे बन्धमोक्षौ च स्याताम् । आकर्षणे चाच्छि-न्नत्वात् कृत्स्नस्य ब्रह्मणः आकर्षणं स्यात् । निरंशस्य व्यापिनः आक-र्षणं न सम्भवतीति चेत्—तर्हि उपाधिरेव गच्छतीति पूर्वोक्त एव दोषः स्यात् । अच्छिन्नब्रह्मप्रदेशेषु सर्वोपाधिसंसर्गे सर्वेषां च

---

१ तन्मूला जन्ममरणा पा० ॥ २ मुण्ड । १ मु । १ ख
३ छा । ८ प्र० १ ख० ५ ४ जीवत्वादयो पा० ।
५ मन्वीथा पा० ।

जीवानां ब्रह्मण एव १ प्रदेशत्वेनैकत्वेन प्रतिसन्धानं न स्यात्। प्रदेशभेदादप्रतिसन्धाने चैकस्यापि स्वोपाधौ २ गच्छति प्रतिसन्धानं न स्यात्। तृतीये तु कल्पे ब्रह्मस्वरूपस्यैवोपाधिसम्बन्धेन जीवत्वापातात् तदतिरिक्तानुपहितब्रह्मासिद्धिः स्यात्। सर्वेषु च देहेष्वेक एव जीवः स्यात्। तुरीये तु कल्पे ब्रह्मणोऽन्य एव जीव इति जीवभेदस्यौपाधिकत्वं परित्यक्तं स्यात्। चरमे चार्वाकपक्ष एव परिगृहीतः स्यात्। तस्मादभेदशास्त्रबलेन कृत्स्नस्य भेदस्याविद्यामूलत्वमेवाभ्युपगन्तव्यम्। अतः प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनपरतयैव शास्त्रस्य प्रामाण्येऽपि ध्यानविधिशेषतया वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मस्वरूपे प्रामाण्य ३ मुपपन्नम्--इति॥

(ध्याननियोगवादिपक्षं दूषयति)

तदप्ययुक्तम्--ध्यानविधिशेषत्वेऽपि वेदान्तवाक्यानामर्थसत्यत्वे प्रामाण्यायोगात्। एतदुक्तं भवति--ब्रह्मस्वरूपगोचराणि वाक्यानि किं ध्यानविधिनैकवाक्यतामापन्नानि ब्रह्मस्वरूपे प्रामाण्यं प्रतिपद्यन्ते; उत स्वतन्त्राण्येव ?। एकवाक्यत्वे ध्यानविधिपरत्वेन ब्रह्मस्वरूपे तात्पर्यं न सम्भवति। भिन्नवाक्यत्वे प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनविरहादनवबोधकत्वमेव। न च वाच्यम्--ध्यानं नाम स्मृतिसन्ततिरूपम्, तच्च स्मर्तव्यैकनिरूपणीयमिति ध्यानविधेस्स्मर्तव्यविशेषाकाङ्क्षायाम् ४"इदं सर्वं यदयमात्मा" ५"ब्रह्म सर्वानुभूः" ६"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादीनि स्वरूपतद्विशेषादीनि समर्पयन्ति। तेनैकवाक्यतामापन्नान्यर्थसद्भावे प्रमाणम्--इति; ध्यानविधेस्स्मर्तव्यविशेषापेक्षत्वेऽपि ७"नाम ब्रह्म" इत्यादिदृष्टिविधिवदसत्येनाप्यर्थविशेषेण ध्याननिर्वृत्त्युपपत्तेः ध्येयसत्यत्वानपेक्षणात्।

१ प्रदेशत्वेनैकत्वप्रतिसं। २ गच्छति सति।
३ उपपन्नतरम्। ४ बृ० ४ अ० ४ ब्रा० ६।
५ बृ० ४ अ० ५ ब्रा० १६। ६ तै० आनं० १ अनु०।
७ छां० ७ प्र० १ ख० ५। *मनो ब्रह्म० पा० छा०। ३ प्र० ३ ख० २।

अतो वेदान्तवाक्यानां प्रवृत्तिनिवृत्तप्रयोजनविधुरत्वाद्धयानविधि-शेषत्वेऽपि ध्येयविशेषस्वरूपसमर्पणमात्रपर्यवसानात्, स्वातन्त्र्येऽपि बालानुराद्युपच्छन्दनवाक्यवत् ज्ञानमात्रेणैव पुरुषार्थपर्यन्ततासिद्धेश्च परिनिष्पन्नवस्तुसत्यतागोचरत्वाभावात् ब्रह्मणश्शास्त्रप्रमाणकत्वं न सम्भवतीति प्राप्तम्।

(सिद्धान्तः)

तत्र प्रतिपाद्यते—तत्तु समन्वयात् इति। समन्वयः— सम्यगन्वयः पुरुषार्थतयाऽन्वय इत्यर्थः। परम पुरुषार्थभूतस्यानवधिकातिशयानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽभिधेयतयाऽन्वयात् तत् शास्त्रप्रमाणकत्वं सिध्यत्येवेत्यर्थः। निरस्तनिखिलदोषनिरतिशयानन्दस्वरूपतया परमप्राप्यं ब्रह्म बोधयन्वेदान्तवाक्यगणः प्रवृत्तिनिवृत्तिपरताविरहान्न प्रयोजनपर्यवसायीति ब्रुवाणो राजकुलवासिनः पुरुषस्य कौलेयककुलाननुप्रवेशेन प्रयोजनशून्यतां ब्रूते। एतदुक्तं भवति-अनादिकर्मरूपाविद्यावेष्टनतिरोहितपरावरतत्त्वयाथात्म्यस्वरूपावबोधानां देवासुरगन्धर्वसिद्धविद्याधरकिन्नरकिम्पुरुष१यक्षराक्षसपिशाचमनुजपशुशकुनिसरीसृपवृक्षगुल्मलतादूर्वादीनां स्त्रीपुन्नपुंसकभेदभिन्नानां क्षेत्रज्ञानां व्यवस्थितधारकपोषकभोग्यविशेषाणां मुक्तानां स्वस्य चाविशेषेणानुभवसम्भवे स्वरूपगुणविभवचेष्टितैरनवधिकातिशयानन्दजननपरंब्रह्मास्तीति बोधयदेव वाक्यं प्रयोजनपर्यवसायि। प्रवृत्तिनिवृत्तिनिष्ठं तु यावत्पुरुषार्थान्वयबोधं न प्रयोजनपर्यवसायि। एवं भूतं परं ब्रह्म कथं प्राप्यत इत्यपेक्षायां २"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" ३"आत्मानमेव लोकमुपासीत" इति वेदनादिशब्दैरुपासनं ब्रह्मप्राप्त्युपायतया विधीयते। यथा ४स्ववेश्मनि 'निधिरस्ति' इति वाक्येन निधिसद्भावं ज्ञात्वा तृप्तस्सन् पश्चात्तदुपादाने च प्रयतते।

१यक्षरक्षःपि। २ तै० आनं १ अनु

३ बृ० ३ ब्रा० ४ ब्रा० १२। ४ तव वेश्मनि।

यथाच-कश्चिद्राजकुमारो बालक्रीडासक्तो नरेन्द्रभवनान्निष्क्रान्तो मार्गाद्भ्रष्टो नष्ट इति राज्ञा विज्ञातस्स्वयं चाज्ञातपितृकः केनचिद्द्विजवर्येण वर्धितोऽधिगतवेदशास्त्रष्षोडशवर्षस्सर्वकल्याणगुणाकरस्तिष्ठन् 'पिता ते सर्वलोकाधिपतिः गाम्भीर्यौदार्यवात्सल्यसौशील्यशौर्यवीर्यपराक्रमादिगुणसम्पन्नस्त्वामेव नष्टं पुत्रं दिदृक्षुः पुरवरे तिष्ठति' इति केनचिदभियुक्ततमेन प्रयुक्तं वाक्यं शृणोति चेत्—तदानीमेव 'अहं तावत् जीवतः पुत्रः, मत्पिता च सर्वसम्पत्समृद्धः' इति निरतिशयहर्षसमन्वितो भवति । राजा च स्वपुत्रं जीवन्तमरोगमति मनोहरदर्शनं विदितसकलवेद्यं श्रुत्वाऽवाप्तसमस्त [1] पुरुषार्थो भवति । पश्चात्तदुपादाने च प्रयतते । पश्चात्तावुभौ सङ्गच्छेते च– इति ॥

यत्पुनः—परिनिष्पन्नवस्तुगोचरस्य वाक्यस्य तज्ज्ञानमात्रेणापि पुरुषार्थपर्यवसानात् बालातुराद्युपच्छन्दनवाक्यवन्नार्थसद्भावे प्रामाण्यम—इति । तदसत्–अर्थसद्भावाभावे निश्चिते ज्ञातोऽप्यर्थः पुरुषार्थाय न भवति । [2]बालातुरादीनामप्यर्थसद्भावभ्रान्त्या हर्षाद्युत्पत्तिः । तेषामेव तस्मिन्नेव ज्ञाने विद्यमाने यद्यर्थाभावनिश्चयो जायेत; ततस्तदानीमेव हर्षादयो निवर्तेरन् । औपनिषदेष्वपि वाक्येषु ब्रह्मास्तित्वतात्पर्याभावनिश्चये ब्रह्मज्ञाने सत्यपि पुरुषार्थपर्यवसानं न स्यात् । अतः [3]"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिवाक्यं निखिलजगदेककारणं निरस्तनिखिलदोषगन्धं सार्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पत्वाद्यनन्तकल्याणगुणाकरमनवधिकातिशयानन्दं ब्रह्मास्तीति बोधयतीति सिद्धम् ॥ ४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये समन्वयाधिकरणम् ॥ ४॥

१ पुरुषार्थो भवति पश्चात्तावुभौ सङ्गच्छेते च पा० । २ बालादीनामर्थं ।
३ तै भृगु० १ अनु १ । ४ हर्षाद्युपपत्ति पा० ।

(शारीरकमीमांसाभाष्ये ईक्षत्यधिकरणम् ॥५॥)

ईक्षतेर्नाशब्दम् ।१।१।५॥

१"यतो वा इमानि" इत्यादिजगत्कारणवादिवाक्यप्रतिपाद्यं सर्वज्ञं सर्वशक्ति समस्तहेयप्रत्यनीककल्याणगुणैकतानं ब्रह्म जिज्ञास्यमित्युक्तम्। इदानीं जगत्कारणवादिवाक्यानामानुमानिकप्रधानादिप्रतिपादनानर्हतोच्यते—ईक्षतेर्नाशब्दम्—इत्यादिना॥

इदमाम्नायते छान्दोग्ये—२"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" इत्यादि ३ तत्र सन्देहः—किं सच्छब्दवाच्यं जगत्कारणं परोक्तमानुमानिकं प्रधानम्?, उतोक्तलक्षणं ब्रह्म--इति॥

किं प्राप्तम्? प्रधानमिति। कुत? *"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेव" इतीदंशब्दवाच्यस्य चेतनभोग्यभूतस्य सत्त्वरजस्तमोमयस्य वियदादिनानारूपविकारावस्थस्य वस्तुनः कारणावस्थां वदति। कारणभूतद्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता। अतो यद्द्रव्यं यत्स्वभावं च कार्यावस्थम्; तत्स्वभावं तदेव द्रव्यं कारणावस्थम्। सत्त्वादिमयं च कार्यमिति गुणसाम्यावस्थं प्रधानमेव हि कारणम्। तदेवोपसंहृतसकलविशेषं सन्मात्रमिति *"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्यभिधीयते। तत एव च कार्यकारणयोरनन्यत्वम्। तथा सत्येवैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपत्तिः। अन्यथा ४"यथा सोम्येकेन मृत्पिण्डेन" इत्यादि मृत्पिण्डतत्कार्यदृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैरूप्यं चेति जगत्कारणवादिवाक्येन महर्षिणा कपिलेनोक्तं प्रधानमेव प्रतिपाद्यते। प्रतिज्ञादृष्टान्तरूपेणानुमानवेषमेव चेदं वाक्यमिति सच्छब्दवाच्यमानुमानिकमेव—

---

१ तै०,भृगु १ अनु० १।
२* छा० ६ प्र० २ ख० १।
३ तत्र सन्दिह्यते पा०।
४ छा० ६ प्र० १ ख० ४।

इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते--ईक्षतेर्नाशब्दम्--इति। यस्मिन् शब्द एव प्रमाणं न भवति, तदशब्दम् आनुमानिकं प्रधानमित्यर्थः। न तज्जगत्कारणवादिवाक्यप्रतिपाद्यम्; कुतः? ईक्षतेः-सच्छब्दवाच्य-सम्बन्धिव्यापारविशेषाभिधायिन ईक्षतेर्धातोश्श्रवणात्। १"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इति ईक्षणक्रियायोगश्चाचेतने प्रधाने न सम्भवति। अत ईदृशेक्षणक्षमश्चेतनविशेषस्सर्वज्ञस्सर्वशक्तिः पुरुषोत्तमस्सच्छब्दाभिधेयः। तथा च सर्वेष्वेव सृष्टिप्रकरणेष्वीक्षापूर्विकैव सृष्टिः प्रतीयते--२"स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमाल्लोकानसृजत" ३"स ईक्षाञ्चक्रे --स प्राणानसृजत" इत्यादिषु। ननु च कार्यानुगुणेनैव कारणेन भवितव्यम्। सत्यम्; सर्वकार्यानुगुण एव सर्वज्ञस्सर्वशक्तिस्सत्यसङ्कल्पः पुरुषोत्तमस्सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरकः। यथाऽऽह--४"पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" ५"यस्सर्वज्ञस्सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः" ६"यस्याव्यक्तं शरीरं यस्याक्षरं शरीरं यस्य मृत्युश्शरीरम् एष सर्वभूतान्तरात्मा" इति। तदेतत्--७"न विलक्षणत्वात्" इत्यादिषु प्रतिपादयिष्यते। अत्र सृष्टिवाक्यानि न प्रधानप्रतिपादनयोग्यानीत्युच्यते। वस्तुविरोधस्तु तत्रैव परिहरिष्यते। यत्तूक्तं--प्रतिज्ञादृष्टान्तयोगादनुमानरूपमेवेदं वाक्यम्---इति, तदसत्; हेत्वनुपादानात्। ८"येनाश्रुतं श्रुतम्" इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञाने प्रतिपिपादयिषिते सर्वात्मना तदसम्भवं मन्वानस्य तत्सम्भवमात्रप्रदर्शनाय हि दृष्टान्तोपादानम्। ईक्षत्यादिश्रवणादेव ह्यनुमानगन्धाभावोऽवगतः॥ ५॥

अथ स्यात्—न चेतनगतं मुख्यमीक्षणमिहोच्यते, अपि तु प्रधानगतं गौणमीक्षणम्, ९"तत्तेज ऐक्षत—ता आप ऐक्षन्त" इति गौणे-

---

१ छा० ६ प्र० २ ख० ३। २ ऐ० १ ख० १-२।
३ प्रश्न ६ प्रश्न ३-४। ४ श्वे० ६ प्र० ८।
५ मु० १ मु० १ ख० ९। ६ सु० ७ ख० तुरीयातीतावधूतोप च० १।
७ शारी० २ अ० १ पा० ४ सू०। ८ छां० ६ प्र० १ ख० ६।
९ छां० ६ प्र० २ ख० ३-४।

क्षणसाहचर्यात् भवति चाचेतनेष्वपि चेतनधर्मोपचारः। यथा—'वृष्टिप्रतीक्षाश्शालयः' १"चर्षेण बीजं प्रतिसञ्जहर्ष" इति। अतो गौणमीक्षणमितीमामाशङ्कामनुभाष्य परिहरति—

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ।१।१।६॥

यदुक्तं—गौणेक्षणसाहचर्यात् सतोऽपीक्षणव्यपदेशस्सर्गानियतपूर्वावस्थाभिप्रायो गौणः इति। २"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा" इति सच्छब्दप्रतिपादितस्य आत्मशब्देन व्यपदेशात्। एतदुक्तं भवति ३"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्। स आत्मा" इति चेतनाचेतनप्रपञ्चोद्देशेन सत आत्मत्वोपदेशोऽयं नाचेतने प्रधाने सङ्गच्छते--इति। अतस्तेजोऽबन्नानामपि परमात्मैवात्मेति तेजः प्रभृतयोऽपि शब्दाः परमात्मन एव वाचकाः। तथाहि-- ४"हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति परमात्मानुप्रवेशादेव तेजः प्रभृतीनां वस्तुत्वं तत्तन्नामभाक्त्वञ्चेति ५'तत्तेज ऐक्षत" "ता आप ऐक्षन्त" इत्यपि मुख्य एवेक्षणव्यपदेशः। अतस्साहचर्यादपि "तदैक्षत' इत्यत्र ६गौणत्वाशङ्का दूरोत्सारितेति सूत्राभिप्रायः॥ ६॥

इतश्च न प्रधानं सच्छब्दप्रतिपाद्यम्--

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।१।१।७॥

मुमुक्षोश्श्वेतकेतोः "तत्त्वमसि" इति सदात्मकत्वानुसन्धानमुपदिश्य, तन्निष्ठस्य ७"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इति शरीरपातमात्रान्तरायो ब्रह्मसम्पत्तिलक्षणो मोक्ष

१ रामायणे सुन्दर० २६ सर्ग० ६ श्लो०।
२ ए० छां० ६ प्र० ८ ख० ७।
३ छां० ६ प्र० ८ ख० ७।
४ छां० ६ प्र० ३ ख० २।
५ छां० ६ प्र० २ ख० ३-४।
६ गौणत्वादिशङ्का पा० ।
७ छां० ६ प्र० १४ ख० २।

इत्युपदिशति। यदि च प्रधानमचेतनं कारणमुपा-दिश्येत; तदा तदात्मकत्वानुसन्धानस्य मोक्षसाधनत्वोपदेशो नोपपद्यते। १"यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" इति तन्निष्ठस्याचेतनसम्पत्तिरेव स्यात्। नच मातापितृसहस्रेभ्योऽपि २ वत्सलतरं शास्त्रमेवंविधतापत्रयाभिहतिहेतुभूतामचित्सम्पत्तिमुपदिशति। प्रधानकरणवादिनोऽपि हि प्रधाननिष्ठस्य मोक्षं नाभ्युपगच्छन्ति ॥७॥

इतश्च न प्रधानम्—

हेयत्वावचनाच्च १ । १ । ८ ॥

यदि प्रधानमेव कारणं सच्छब्दा ३ भिहितं भवेत्—तदा मुमुक्षोश्श्वेतकेतोस्तदात्मकत्वं मोक्षविरोधित्वाद्धेयत्वेनैवोपदेश्यं स्यात्। न च तत्क्रियते, प्रत्युतोपादेयत्वेनैव ४"तत्वमसि" ५"तस्य तावदेव चिरम्" इत्युपदिश्यते ॥ ८ ॥

इतश्च न प्रधानम्—

प्रतिज्ञाविरोधात् १ । १ । ९ ॥

प्रधानकरणत्वे प्रतिज्ञाविरोधश्च भवति। वाक्योपक्रमे एक-विज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातम्,तच्च कार्यकारणयोरनन्यत्वेन कारणभूतसद्विज्ञानात्तत्कार्यभूतचेतनाचेतनप्रपञ्चस्य ज्ञाततयैवोपपादनीयम् तत्तु प्रधान कारणत्वे चेतनवर्गस्य प्रधानकार्यत्वाभावात् प्रधानविज्ञानेन चेतनवर्गविज्ञानासिद्धेर्विरुध्यते ॥ ९ ॥

---

१ छां० ६ प्र० १४ ख० १ ।
२ वत्सलतरं हि शास्त्रं पा० ।
३ भिहितं तदा पा० ।
४ छां० ६ प्र० ८ ख० ७ ।
५ छां० ६ प्र० १४ ख० २ ॥

इतश्च न प्रधानम्—

स्वाप्ययात् १ । १ । १० ॥

तदेव सच्छब्दवाच्यं प्रकृत्याह १ " स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषस्स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति" इति सुषुप्तं जीवं सता सम्पन्नं, स्वमपीतः—स्वस्मिन् प्रलीनः इति व्यपदिशति । प्रलयश्च-स्वकारणे लयः । न चाचेतनं प्रधानं चेतनस्य जीवस्य कारणं २ भवितुमर्हति । स्वमपीतो भवति—आत्मानमेव जीवोऽपीतो भवतीत्यर्थः । चिद्वस्तुशरीरकं तदात्मभूतं ब्रह्मैव ३ जीवशब्देनाभिधीयत इति नामरूप व्याकरणश्रुत्योक्तम् । तज्जीवशब्दाभिधेयं ब्रह्म सुषुप्तिकालेऽपि प्रलयकाल इव नामरूपपरिष्वङ्गाभावात् केवलसच्छब्दाभिधेयमिति ४ "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति" इत्युच्यते । तथा समानप्रकरणे नामरूपपरिष्वङ्गाभावेन प्राज्ञेनैव परिष्वङ्गात् ५"प्राज्ञेनाऽऽत्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नाऽन्तरम्" इत्युच्यते । आमोक्षाज्जीवस्य नामरूपपरिष्वङ्गादेव हि स्वव्यतिरिक्तविषयज्ञानोदयः । सुषुप्तिकाले हि नामरूपे विहाय सता सम्परिष्वक्तः पुनरपि ६जागरदशायां नामरूपे परिष्वज्य तत्तन्नामरूपो भवतीति श्रुत्यन्तरे स्पष्टमभिधीयते-७"यदा ८ सुप्तस्स्वप्नं न ९कञ्चन पश्यति१०अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति" ११"तस्माद्वा १२ आत्मनः प्राणा १३ यथायथं विप्रतिष्ठन्ते";१४ तथा

---

१ छां० ६ प्र० ८ ख० १ — २ भवति पा०
३ जीवशब्देनाप्यभिधी पा० — ४ छां० ६ प्र० ८ ख० १
५ बृ०।६ अ० ५ ब्रा०२१ — ६ जागरण पा०
७ कौषीतकी ४ अ० १९ — ८ सुषुप्तः पा.
९ कथञ्चन पा. — १० कौषी ४ अ० १९
११एतस्मादात्मनः,एतस्माद्वा आत्मनःपा. १२ यथायतनं पा०
१३ यथा पा० — १४ छां० ६ प्र०१ ख० ६

१ "त इह व्याघ्रो वा २ सिंहो वा वृको वा वराहो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तथा भवन्ति"—इति च। तथा सुषुप्तं जीवं * "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः" इति च वदति॥

तस्मात् सच्छब्दवाच्यः "परं ब्रह्म सर्वज्ञः परमेश्वरः पुरुषोत्तम एव। तदाह वृत्तिकारः-*"सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" इति, सम्पत्त्यसम्पत्तिभ्यामेलदध्यवसीयते--* "प्राज्ञेऽनात्मना सम्परिष्वक्तः" इति चाह इति॥ १०॥

इतश्च न प्रधानम्--

गति सामान्यात् १ । १।११

३ "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाल्लोकानसृजत" ४ "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः। आकाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी" ५ "तस्यह वा एतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदः" इत्यादि सृष्टिवाक्यानां या गतिः—प्रवृत्तिः; तत्सामान्यात्—तत्समानार्थत्वादस्य, तेषु च सर्वेषु सेश्वरः कारणमवगम्यते। तस्मादत्रापि सर्वेश्वर एव कारणमिति निश्चीयते॥११॥

इतश्च न प्रधानम्—

श्रुतत्वाच्च १ । ९ । ९२ ॥

श्रुतमेव ह्यस्यामुपनिषदि अस्य सच्छब्दवाच्यस्य आत्मत्वेन नामरूपयोर्व्याकर्तृत्वं, सर्वज्ञत्वं, सर्वशक्तित्वं, सर्वाधारत्वम्, अप-

१ सिंहोवावृकोवायद्यद्भवन्ति तथाभ. पा. २ तै० आनं०१ अनु०
३ ऐत० १ अ० १ ख० ४ तै० आनं० १ अनु०
५ सुबा० २

हतपाप्मत्वादिकं, सत्यकामत्वं, सत्यसङ्कल्पत्वञ्च—१ "अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" २ "सन्मूलास्सोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सदायतनास्सत्प्रतिष्ठाः" ३ "एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा" ४ "यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितम्। ५ तस्मिन् कामास्समाहिताः" ६ "एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः" इति ॥

तथाच श्रुत्यन्तराणि ७ "न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्। स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" ८ "सर्वाणिरूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते" ९ "अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा" १० "विश्वात्मानं परायणम्" १० "पतिं विश्वस्याऽत्मेश्वरम्" १० "यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपिवा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" ११ "एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इत्यादीनि। तस्माज्जगत्कारण १२ वादिवाक्यं न प्रधानादिप्रतिपादनयोग्यम्। अतस्सर्वज्ञस्सर्वशक्तिस्सर्वेश्वरेश्वरो निरस्त १३ निखिलदोषगन्धोऽनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणगणौघमहार्णवः पुरुषोत्तमो नारायण एव निखिलजगदेककारणं जिज्ञास्यं ब्रह्मेति स्थितम् ॥

अत एव निर्विशेषचिन्मात्रब्रह्मवादोऽपि सूत्रकारेण आभिश्श्रुतिभिः निरस्तो वेदितव्यः पारमार्थिकमुख्येक्षणादिगुणयोगि जिज्ञा–

---

१ छां० ६ प्र० ३ ख० २   २,३, छां० ६ प्र० ८ ख० ६–७
४ छां० ८ प्र० १ ख० ३–५   ५ अस्मिन् पा०   ६ छा० ८-१–५
७ श्वे० ६ अ० ९॥   ८ तै–आरण्य ब्रह्ममेध-पुरुषसू-३, १२, १३ ॥
९ तै-आरण्य, चित्त-३, प्रश्न-११, अनु २१, पा ॥   १० तै–ना–११ अनु ॥
११ सुबा, खं. ७॥
१२ वादीनि वाक्यानि न प्रधानप्रतिपादन योग्यानि, पा ॥   १३ समस्त, पा ॥

स्यं ब्रह्मेति स्थापनात्। निर्विशेषवादे हि साक्षित्वमप्यपारमार्थिकं वेदान्तवेद्यं ब्रह्म जिज्ञास्यतया प्रतिज्ञातम्। तच्च चेतनमिति—ईक्षतेर्नाशब्दम्—इत्यादिभिस्सूत्रैः प्रतिपाद्यते। चेतनत्वं नाम चैतन्यगुणयोगः। अत ईक्षणगुणविरहिणः प्रधानतुल्यत्वमेव। किञ्च—निर्विशेषप्रकाशमात्रब्रह्मवादे तस्य प्रकाशत्वमपि दुरुपपादम्। प्रकाशो हि नाम स्वस्य परस्य च व्यवहारयोग्यतामापादयन्वस्तुविशेषः। निर्विशेषस्य वस्तुनस्तदुभयरूपत्वाभावात् घटादिवदचित्त्वमेव। तदुभयरूपत्वाभावेऽपि तत्क्षमत्वमस्तीति चेत्—न, तत्क्षमत्वं हि तत्सामर्थ्यमेव। सामर्थ्यगुणयोगे हि निर्विशेषवादः परित्यक्तस्स्यात्। अथ श्रुतिप्रामाण्यादयमेको विशेषोऽभ्युपगम्यत इति चेत्—हन्त तर्हि तत एव सर्वज्ञता, सर्वशक्तित्वं, सर्वेश्वरेश्वरत्वं, सर्वकल्याणगुणाकरत्वं, सकलहेयप्रत्यनीकत्वेत्यादयस्सर्वेऽभ्युपगन्तव्याः। शक्तिमत्त्वं च कार्यविशेषानुगुणत्वम्; तच्च कार्यविशेषैकनिरूपणीयम्; कार्यविशेषस्य निष्प्रमाणकत्वे तदेकनिरूपणीयं शक्तिमत्त्वमपि निष्प्रमाणकं स्यात्। किञ्च निर्विशेषवस्तुवादिनो वस्तुत्वमपि निष्प्रमाणम्। प्रत्यक्षानुमानागमस्वानुभवाः सविशेषगोचरा इति पूर्वमेवोक्तम्। तस्माद्विचित्रचेतनाचेतनात्मकजगद्रूपेण १ "बहु स्याम्" इतीक्षणक्षमः पुरुषोत्तम एव जिज्ञास्य इति सिद्धम्॥ १२॥

इति श्री शारीरकमीमांसाभाष्ये ईक्षत्यधिकरणम्॥५॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आनन्दमयाधिकरणम्॥ ६॥)

एवं जिज्ञासितस्य ब्रह्मणश्चेतनभोग्यभूतजडरूपसत्त्वरजस्तमोमयप्रधानाद्व्यावृत्तिरुक्ता इदानीं कर्मवश्यात् त्रिगुणात्मकप्रकृतिसंसर्गनिमित्तनानाविधानन्तदुःखसागरनिमज्जनेनाशुद्धाच्छुद्धाच्च प्रत्यगात्मनोऽन्यां निखिलहेयप्रत्यनीकनिरतिशयानन्दं ब्रह्मेति प्रतिपाद्यते--

---

१ छा ६-२-३॥ २ प्रत्यनीकं निरतिशया पा॥

आनन्दमयोऽभ्यासात् ।१।१।१३॥

तैत्तिरीया अधीयते—१ "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" इति प्रकृत्य २ "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् । अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः" इति । तत्र सन्देहः—किमयमानन्दमयः बन्धमोक्षभागिनः प्रत्यगात्मनो जीवशब्दाभिलपनीयादन्यः परमात्मा; उत स एव—इति ॥

किं युक्तम् ? प्रत्यगात्मेति । कुतः ? ३ "तस्यैष एव शारीर आत्मा" इत्यानन्दमयस्य शारीरत्वश्रवणात्; शारीरो हि शरीरसम्बन्धी जीवात्मा ॥

ननु च जगत्कारणतया प्रतिपादितस्य ब्रह्मणः सुखप्रतिपत्त्यर्थमन्नमयादीननुक्रम्य तदेव जगत्कारणमानन्दमय इत्युपदिशति; जगत्कारणं च ४ "तदैक्षत" इतीक्षणश्रवणात्सर्वज्ञस्सर्वेश्वर इत्युक्तम् ॥

सत्यमुक्तम्; स तु जीवान्नातिरिच्यते—५ "अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य" ६ "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इति कारणतया निर्दिष्टस्य जीवसामानाधिकरण्यनिर्देशात् । सामानाधिकरण्यं ह्येकत्वप्रतिपादनपरम्; यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादौ । ईक्षापूर्विका च सृष्टिश्चेतनस्य जीवस्योपपद्यत एव । अतः ७ "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति जीवस्याचित्संसर्गवियुक्तं स्वरूपं प्राप्यतयोपदिश्यते । अचिद्वियुक्तस्वरूपस्य लक्षणमिदमुच्यते ८ "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति । तद्रूपप्राप्तिरेव हि मोक्षः । ९ "न ह वै सशरीरस्य सतः

१ तै. आन. १ अनु
२ तै. आन. ५-२
३ तै. आन. ५ अनु
४ छा. ६. २. ३
५ छा. ६. ३. २
६ छा. ६. ८. ७
७. ८. तै. आन. १
९ छा. ८. १२. १

प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरंयावसन्तंनप्रियाप्रिये स्पृशतः" इति। अतो जीवस्याविद्यावियुक्तं स्वरूपं प्राप्यतया प्रक्रान्तमानन्दमय इत्युपदिश्यते। तथाहि—शाखाचन्द्रन्यायेनाऽत्मस्वरूपं दर्शयितुम् १ "अन्नमयः पुरुषः" इति शरीरं प्रथमं निर्दिश्य तदन्तरभूतं तस्य धारकं पञ्चवृत्तिप्राणम्, तस्याप्यन्तरभूतं मनः, तदन्तरभूतां च बुद्धिं, २ "प्राणमयो" ३ "मनोमयो" ४ विज्ञानमयः" इति तत्रतत्र बुद्ध्यवतरणक्रमेण निर्दिश्य सर्वान्तरभूतं जीवात्मानम् ५ "अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः" इत्युपदिश्यान्तरात्मपरम्परां समापयति। अतो जीवात्मस्वरूपमेव ६ "७ ब्रह्मविदाप्नोति" इति प्रक्रान्तं ब्रह्म; तदेवाऽनन्दमय इत्युपदिष्टमिति निश्चीयते॥

ननुच—८ "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इत्यानन्दमयादन्यद्ब्रह्मेति प्रतीयते। नैवं—ब्रह्मैव स्वस्वभावविशेषेण पुरुषविधत्वकल्पितं शिरःपक्षपुच्छरूपेण व्यपदिश्यते। यथाऽन्नमयो देहोऽवयवी स्वस्मादनतिरिक्तैः स्वावयवैरेव ६ "तस्येदमेव शिरः" इत्यादिना शिरःपक्षपुच्छवत्तया निदर्शितः; तथा आनन्दमयं ब्रह्मापि स्वस्मादनतिरिक्तैः प्रियादिभिर्निदर्शितम्। तत्रावयवत्वेन रूपितानां प्रियमोदप्रमोदानन्दानामाश्रयतया अखण्डरूपमानन्दमयं ८ "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इत्युच्यते। यदि चानन्दमयादन्यद्ब्रह्माभविष्यत्—'तस्माद्वा एतस्मादानन्दमयादन्योऽन्तर आत्मा ब्रह्म' इत्यपि निरदेक्ष्यत। नचैवं निर्दिश्यते। एतदुक्तं भवति—६ "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति

---

१ नायं वाक्यानुपूर्वीनिर्देशः, किन्तु अर्थ-कथनमात्रमिति वा, 'अन्नरसमयः पुरुषः' इति वा पाठः स्वीकर्तव्यः, तत्र एतादृशवाक्यानुपलब्धेरिति॥

२ तै. आन. २ अनु

३ तै. आन. ३

४ तै. आ. ४

५ तै. आन. ५. २

६ तै. आन १

७ ब्रह्मविदाप्नोति परम् इति. पा

८ तै. आन. ५

९ तै. आन. १ अनु

प्रकान्तं ब्रह्म १ "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इतिलक्षणतस्सकलेतर-व्यावृत्ताकारं प्रतिपाद्य तदेव २ "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः" इत्यात्मशब्देन निर्दिश्य तस्य सर्वान्तरत्वेनाऽऽत्मत्वं व्यञ्जयद्वाक्य-मन्नमयादिषु तत्तदन्तरतया आत्मत्वेन निर्दिष्टान् प्राणमयादीनति-क्रम्य ३ "अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः" इत्यात्मशब्देन निर्देश-मानन्दमये समापयति। अत आत्मशब्देन प्रकान्तं ब्रह्माऽऽनन्दमय इति निश्चीयते—इति। ननु च—४ "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इत्यु-क्त्वा ५ "असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुः" इति ब्रह्मज्ञानाज्ञानाभ्यामात्मनस्स-द्भावासद्भावौ दर्शयति; नानन्दमयज्ञानाज्ञानाभ्याम्। न चानन्दमयस्य प्रियमोदादिरूपेण सर्वलोकविदितस्य सद्भावासद्भावज्ञानाशङ्का युक्ता। अतो नानन्दमयमधिकृत्यायं श्लोक उदाहृतः। तस्मादानन्दमयादन्य-द्ब्रह्म।। नैवम्—६ "इदं पुच्छं प्रतिष्ठा" ७ "पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा" ८ "अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा" ९ "महः पुच्छं प्रतिष्ठा" १० इत्युक्त्वा तत्रतत्रोदाहृताः ११ "अन्नाद्वै प्रजाः प्रजा-यन्ते" इत्यादि श्लोका यथा न पुच्छामात्रप्रतिपादनपराः; अपि त्वन्नमयादिपुरुषप्रतिपादनपराः; एवमत्राप्यानन्दमयस्यायम् १२ "असन्नेव" इति श्लोकः; नानन्दमयव्यतिरिक्तस्य पुच्छस्य। आनन्दमयस्यैव ब्रह्मत्वेऽपि प्रियमोदादिरूपेण १३ रूपितस्यापरि-च्छिन्नानन्दस्य सद्भावासद्भाव १४ ज्ञानाशङ्का युक्तैव। पुच्छब्रह्मणो-ऽप्यपरिच्छिन्नानन्दतयैव ह्यप्रसिद्धता। शिरःप्रभृत्यवयवित्वाभावा-

---

१, २ तै. आन. १
३ तै. आन. ५. २
४ तै. आन. ५. ३
५ तै. आन. ६. १
६ तै. आन. १. ३
७ तै. आन. २. ३
८ तै. आन. ३. ३
९ तै. आन. ४. २
१० इत्येवमुक्त्वा. पा.
११ तै. आन. २. १
१२ तै. आन. ६. १
१३ रूपितस्य तस्याप. पा
१४ ज्ञानशङ्का. पा

द्ब्रह्मणो नानन्दमयो ब्रह्मेति चेत् — ब्रह्मणः पुच्छत्वप्रतिष्ठात्वाभावात् पुच्छमपि ब्रह्म न भवेत्। अथाविद्यापरिकल्पितस्य वस्तुनस्तस्याश्रयभूतत्वात् ब्रह्मणः पुच्छं प्रतिष्ठेति रूपणमात्रमित्युच्येत. हन्त तर्हि तस्यासुखाद्व्यावृत्तस्यानन्दमयस्य ब्रह्मणः प्रियशिरस्त्वादिरूपणं भविष्यति। एवं च १ "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति विकारास्पदजडपरिच्छिन्नवस्त्वन्तरव्यावृत्तस्यासुखाद्व्यावृत्तिरानन्दमय इत्युपदिश्यते। २ ततश्चाखण्डैकरसानन्दरूपे ब्रह्मण्यानन्दमय इति मयट् प्राणमय इव स्वार्थिको द्रष्टव्यः। तस्मादविद्यापरिकल्पितविविधविचित्रदेवादिभेदभिन्नस्य जीवात्मनस्स्वाभाविकं रूपमखण्डैकरसं सुखैकतानमानन्दमय इत्युच्यत इत्यानन्दमयः प्रत्यगात्मा ॥

सिद्धान्तः

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—आनन्दमयोऽभ्यासात्—आनन्दमयः परमात्मा। कुतः? अभ्यासात्; - ३ "सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति इत्यारभ्य ४ "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्येवमन्तेन वाक्येन शतगुणितोत्तरक्रमेण निरतिशयदशाशिरस्कोऽभ्यस्यमान आनन्दः अनन्तदुःखमिश्रपरिमितसुखलवभागिनि जीवात्मन्यसम्भवन्निखिलहेयप्रत्यनीकं कल्याणैकतानं सकलेतरविलक्षणं परमात्मानमेव स्वाश्रयमावेदयति ॥

यथाऽऽह ५ "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः" इति विज्ञानमयो हि जीवः, न बुद्धिमात्रम्, मयट् प्रत्ययेन व्यतिरेकप्रतीतेः। प्राणमयेत्यगत्या स्वार्थिकताऽऽश्रीयते। इह तु तद्वतो जीवस्य सम्भवान्नानर्थक्यं न्याय्यम्। बद्धो मुक्तश्च प्रत्यगात्मा ज्ञातैवेत्यभ्यधिष्महि। प्राणमयादौ च मयडर्थसम्भवोऽनन्तरमेव वक्ष्यते। कथं तर्हि विज्ञानमयविषयश्लोके ६ "विज्ञानं यज्ञं तनुते"

---

१ तै० आन० १ अनु० १
२ ततश्चाखण्डानन्दैकरस पा०
३ तै० आन० ८-१
४ तै० आन० ९-१
५ तै० आन० ५-२
६ तै० आन० ५-१

इति केवलविज्ञानशब्दोपादानमुपपद्यते । ज्ञातुरेवाऽऽत्मनस्स्वरूपमपि स्वप्रकाशतया विज्ञानमित्युच्यत इति न दोषः, ज्ञानैकनिरूपणीयत्वाच्च ज्ञातुस्स्वरूपस्य स्वरूपनिरूपणधर्मशब्दा हि धर्ममुखेन धर्मिस्वरूपमपि प्रतिपादयन्ति, गवादि शब्दवत् । १ "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति वा कर्तरि ल्युडाश्रीयते । नन्द्यादित्वं वाऽऽश्रित्य २ "नन्दिग्रहि" इत्यादिना कर्तरि ल्युः । अत एव च ३ "विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च" इति यज्ञादिकर्तृत्वं विज्ञानस्य श्रूयते । बुद्धिमात्रस्य हि न कर्तृत्वं सम्भवति । अचेतनेषु हि चेतनोपकरणभूतेषु विज्ञानमयात्प्राचीनेष्व-न्नमयादिषु न, चेतनधर्मभूतं कर्तृत्वं श्रूयते । अत एव चेतनमचेतनं च स्वासाधारणैः निलयनत्वानिलयनत्वादिभिर्धर्मविशेषैर्विभज्य निर्दिश-द्वाक्यम् "विज्ञानं चाविज्ञानं च" इति विज्ञानशब्देन तद्गुणं चेतनं वदति । तथाऽन्तर्यामिब्राह्मणे ४ "यो विज्ञाने तिष्ठन्" इत्यस्य काण्व-पाठगतस्य पर्यायस्य स्थाने ५ "य आत्मनि तिष्ठन्" इति पर्यायमधी-याना माध्यन्दिनाः काण्वपाठगतं विज्ञानशब्दनिर्दिष्टं जीवात्मेति स्फुटीकुर्वन्ति । विज्ञानमिति च नपुंसकलिङ्गं वस्तुत्वाभिप्रायम् । तदेवं विज्ञानमयाज्जीवादन्यस्तदन्तरः परमात्मा आनन्दमयः । यद्यपि ३ "विज्ञानं यज्ञं तनुते" इति श्लोके ज्ञानमात्रमेवोपादीयते; न ज्ञाता, तथाऽपि ६ "अन्योन्तर आत्मा विज्ञानमयः" इति तद्वान् ज्ञातैवोप-दिश्यते, यथा ७ "अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते" इत्यत्र श्लोके केवलान्नो-पादानेऽपि ८ "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" इत्यत्र नान्नमात्रं दिर्दिष्टम्; अपितु तन्मयः तद्विकारः । एतत्सर्वं हृदि निधाय सूत्र-कारस्स्वयमेव ९ "भेदव्यपदेशात्" इत्यनन्तरमेव वदति ॥

---

१ अष्टाध्याय्यां ३-३-११३
२ अष्टाध्याय्यां ३, १, १३४
३ तै० आन. ५ अनु०
४ बृ० ५, ७, २२
५ विज्ञानस्थाने माध्यन्दिन पाठः
६ तै० आन ४, १
७ तै० आन. २, १
८ तै० आ. १
९ शारी० १, १, १८

यदुक्तं जगत्कारणतया निर्दिष्टस्य १ "अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य" २ "तत्त्वमसि" इति च जीवसामानाधिकरण्यनिर्देशाज्जगत्कारणमपि जीवस्वरूपान्नातिरिच्यत इति कृत्वा जीवस्यैव स्वरूपं ३ "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति प्रक्रान्तमसुखाद्यावृत्तत्वेनाऽनन्दमय इत्युपदिश्यत इति तदयुक्तम्, जीवस्य चेतनत्वे सत्यपि ४ 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' इति स्वसङ्कल्पपूर्वकानन्तविचित्र सृष्टियोगानुपपत्तेः। शुद्धावस्थस्यापि हि तस्य सर्गादिजगद्व्यापारासम्भवो ५ "जगद्व्यापारवर्जम्" ६ "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" इत्यत्रोपपादयिष्यते । कारणभूतस्य ब्रह्मणो जीवस्वरूपत्वानभ्युपगमे ७ 'अनेन जीवेनाऽत्मना' ८ 'तत्वमसि' इति सामानाधिकरण्यनिर्देशः कथमुपपद्यत इति चेत्—कथं वा निरस्तनिखिलदोषगन्धस्य सत्यसङ्कल्पस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेरनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणगणस्य सकलकारणभूतस्य ब्रह्मणः नानाविधानन्तदुःखाकरकर्माधीनचिन्तितनिमिषतादिसकलप्रवृत्तिजीवस्वरूपत्वम्? अन्यतरस्य मिथ्यात्वेनोपपद्यत इति चेत्—कस्य भोः? किं हेयसम्बन्धस्य? किं वा हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानस्वभावस्य? हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानस्य ब्रह्मणोऽनाद्यविद्याश्रयत्वेन हेयसम्बन्धमिथ्याप्रतिभासो मिथ्यारूप इति चेत्—विप्रतिषिद्धमिदमभिधीयते. ब्रह्मणो हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानत्वमनाद्यविद्याश्रयत्वेनानन्तदुःखविषयमिथ्याप्रतिभासाश्रयत्वं चेति। अविद्याश्रयत्वं तत्कार्यदुःखप्रतिभासाश्रयत्वं चैव हि हेयसम्बन्धः। तत्सम्बन्धित्वं तत्प्रत्यनीकत्वं च विरुद्धमेव। तथाऽपि तस्य मिथ्यात्वान्न विरोध इति मा वोचः। मिथ्याभूतमप्य पुरुषार्थ एव, यन्निरसनाय सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्त इति ब्रूषे। निरसनीयापुरुषार्थयोगश्च हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानतया विरुध्यते। किं कुर्मः?

१ छा० ६-३-२ २ छा० ६, ८, ७
३ तै० आन० १ ४ छा० ६-२-३
५ शारी० ४-४-१७ ६ शारी. ४. ४. २१
७ छा० ६, ३, २ ८ छा. ६, ८, ७

१ "येनाश्रुतं श्रुतं भवति" इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय २ "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादिना निखिलजगदेककारणताम्, ३ "तदैक्षत बहु स्याम्" इति सत्यसङ्कल्पतां च ब्रह्मणः ४ "तत्त्वमसि" इति सामानाधिकरण्येनानन्तदुःखाश्रयजीवैक्यं प्रतिपादितम्; तदन्यथानुपपत्त्या ब्रह्मण एवाविद्याश्रयत्वादि परिकल्पनीयमिति चेत्—श्रुतोपपत्तयेऽप्यनुपपन्नं विरुद्धं च न कल्पनीयम्। अथ हेयसम्बन्ध एव पारमार्थिकः, कल्याणैकस्वभावता तु मिथ्याभूता; हन्तैवं तापत्रयाभिहतचेतनोज्जिजीवयिषया प्रवृत्तं शास्त्रम्, तापत्रयाभिहतिरेव तस्य पारमार्थिकी, कल्याणैकस्वभावस्तु भ्रान्तिपरिकल्पित इति बोधयत्सम्यगुज्जीवयति। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया ब्रह्मणो निर्विशेषचिन्मात्रस्वरूपातिरिक्तजीवत्वदुःखित्वादिकं सत्यसङ्कल्पत्वकल्याणगुणाकरत्वाद्यपि मिथ्याभूतमिति कल्पनीयमिति चेत्—अहो भवतां वाक्यार्थपर्यालोचनकुशलता। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानं सर्वस्य मिथ्यात्वे सर्वस्य ज्ञातव्यस्याभावान्न ५सेत्स्यति। यथैकविज्ञानं परमार्थविषयम्, तथैव सर्वविज्ञानमपि यदि परमार्थविषयम्, तदन्तर्गतं च तदा तज्ज्ञानेन सर्वविज्ञानमिति शक्यते वक्तुम्। न हि परमार्थशुक्तिकाज्ञानेन तदाश्रयमपरमार्थरजतं ज्ञातं भवति। अथोच्येत—एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया अयमर्थः—निर्विशेषवस्तुमात्रमेव सत्यम्—इति। न तर्हि १ "येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" इति श्रूयेत, येन श्रुतेनाश्रुतमपि श्रुतं भवतीति ह्यस्य वाक्यस्यार्थः। कारणतयोपलक्षितनिर्विशेषवस्तुमात्रस्यैव सद्भावश्चेत्प्रतिज्ञातः, ६ "यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातम्"

---

१ छा० ६, १. ३ २ छां० ६, २, १
३ छा० ६, २, ३ ४ छा० ६, ८, ७
५ संपत्स्यते पा० ६ छां० ६, १, ४

इति दृष्टान्तोऽपि न घटते । मृत्पिण्डविज्ञानेन हि तद्विकारस्य ज्ञातता निदर्शिता । तत्रापि विकारस्यासत्यताऽभिप्रेतेति चेन्—मृद्विकारस्य रज्जुसर्पादिवदसत्यत्वं शुश्रूषोरसिद्धमिति प्रतिज्ञातार्थसम्भावनाप्रदर्शनाय १ "यथा सोम्य" इति प्रसिद्धवदुपन्यासो न युज्यते । न च तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यज्ञानोत्पत्तेः प्राग्विकारजातस्यासत्यतामापादयत्तर्कानुगृहीतं वा प्रमाणमुपलभामह इति । अयमर्थः २ "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" इत्यत्र वक्ष्यते । तथा ३ "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" ४ "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति । तत्तेजोऽसृजत" ५ "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" ६ "सन्मूलास्सोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सदायतनास्सत्प्रतिष्ठाः"...''ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्यादिनाऽस्य जगतस्सदात्मकता, सृष्टेः पूर्वकाले नामरूपविभागप्रहाणम्, जगदुत्पत्तौ सच्छब्दवाच्यस्य ब्रह्मणस्स्वव्यतिरिक्तनिमित्तान्तरानपेक्षत्वम्, सृष्टिकालेऽहमेवानन्तस्थिरत्रसरूपेण 'बहुस्याम्' इत्यनन्यसाधारणसङ्कल्पविशेषः यथासङ्कल्पमनन्तविचित्रतत्त्वानां विलक्षण क्रमविशेषविशिष्टा सृष्टिः समस्तेष्वचेतनेषु वस्तुषु स्वात्मकजीवानु ७ प्रवेशेनैवानन्तनामरूपव्याकरणम्, स्वव्यतिरिक्तस्य समस्तस्य स्वमूलत्वम्, स्वायतनत्वम्, स्वप्रवर्त्यत्वम्, स्वेनैव जीवनम्, स्वप्रतिष्ठत्वमित्याद्यनन्तविशेषाश्शास्त्रैकसमधिगम्याः प्रतिपादितताः । तत्सम्बन्धितया प्रकरणान्तरेष्वप्यपहतपाप्मत्वादिनिरस्तनिखिलदोषतासर्वज्ञतासर्वेश्वरत्वसत्यकामत्वसत्यसङ्कल्पत्वसर्वानन्दकरणनिरतिशयानन्दयोगाद्ययस्सकलेतरप्रमाणाविषयास्सहस्रशः प्रतिपादिताः । एवमनन्यगोचरानन्तविशेषविशिष्टप्रकृतब्रह्मपरामर्शितच्छब्दस्य निर्विशेषवस्तुमात्रोपदेशपरत्वमसङ्गततयेनोन्मत्त ८ प्रलपितायेत । त्वंपद च संसारि-

१ छा० ६, १
२ शारी० २, १, १५
३ छा० ६, २, १
४ छा० ६, २, ३
५ छा० ६, ३, २
६ छा० ६, ८, ३
७ प्रवेशनानन्त पा
८ प्रलीपतायते पां

त्वविशिष्टजीववाचि । तस्यापि निर्विशेषस्वरूपोपस्थापनपरत्वे स्वार्थः परित्यक्तस्स्यात् । निर्विशेषप्रकाशस्वरूपस्य च वस्तुनो ह्यविद्यया तिरोधानं स्वरूपनाशप्रसङ्गादिभिर्न सम्भवतीति पूर्वमेवोक्तम् । एवं च सति समानाधिकरणवृत्तयोस्तत्त्वमिति द्वयोरपि पदयोर्मुख्यार्थपरित्यागेन लक्षणा च समाश्रयणीया ॥

अथोच्येत—समानाधिकरणवृत्तानामेकार्थप्रतिपादनपरतया विशेषणांशे तात्पर्यासम्भवादेव विशेषणनिवृत्तेर्वस्तुमात्रैकत्वप्रतिपादनान्नलक्षणाप्रसङ्गः । यथा 'नीलमुत्पलम्' इति पदद्वयस्य विशेष्यैकत्वप्रतिपादनपरत्वेन नीलत्वोत्पलत्वरूपविशेषणद्वयं न विवक्ष्यते । तद्विवक्षायां हि नीलत्वविशिष्टाकारेणोत्पलत्वविशिष्टाकारस्यैकत्वप्रतिपादनं प्रसज्येत । तत्तु न सम्भवति—न हि नैल्यविशिष्टाकारेण तद्वस्तूत्पलपदेन विशेष्यते. जाति गुणयोरन्योन्यसमवायप्रसङ्गात् । अतो नीलत्वोत्पलत्वोपलक्षितवस्त्वेकत्वमात्रं सामानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यते । तथा 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यतीतकालविप्रकृष्टदेशविशिष्टस्य तेनैव रूपेण सन्निहितदेशवर्तमानकालविशिष्टतया प्रतिपादनानुपपत्तेरुभयदेशकालोपलक्षितस्वरूपमात्रैक्यं सामानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यते । यद्यपि नीलमित्याद्येकपदश्रवणे, प्रतीयमानं विशेषणं सामानाधिकरण्यवेलायां विरोधान्न प्रतिपाद्यते । तथाऽपि वाच्येऽर्थे प्रधानांशस्य प्रतिपादनान्न लक्षणा । अपि तु विशेषणांशस्याविवक्षामात्रम् सर्वत्र १सामानाधिकरण्यस्यैष एव स्वभाव इति न कश्चिद्दोष—इति ॥

तदिदमसारं—सर्वेष्वेव वाक्येषु पदानां व्युत्पत्तिसिद्धार्थसंसर्गविशेषमात्रं प्रत्याय्यम् । तत्र समानाधिकरणवृत्तानामपि नीलादिपदानां नैल्यादिविशिष्ट एवार्थो व्युत्पत्तिसिद्धः पदान्तरार्थसंसृष्टोऽभिधीयते । यथा 'नीलमुत्पलमानय' इत्युक्ते नीलिमादिविशिष्टमेवानीयते, यथा च 'विन्ध्याटव्यां मदमुदितो मातङ्गगणस्तिष्ठति' इति

१ सामानाधिकरण्यस्यैष स्वभाव इति पा०

पदद्वयावगतविशेषणविशिष्ट एवार्थः प्रतीयते; एवं वेदान्तवाक्येष्वपि समानाधिकरणनिर्देशेषु तत्तद्विशेषणविशिष्टमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम्। न च विशेषणविवक्षायामितरविशिष्टाकारं वस्त्वन्येन विशेष्यम्; अपि तु सर्वैर्विशेषणैस्स्वरूपमेव विशेष्यम्। तथाहि १ "भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिस्सामानाधिकरण्यम्" इति; अन्वयेन निवृत्त्या वा पदान्तरप्रतिपाद्यादाकारादाकारान्तरयुक्तया तस्यैव वस्तुनः पदान्तरप्रतिपाद्यत्वं सामानाधिकरण्यकार्यम्। यथा 'देवदत्तश्श्यामो युवा लोहिताक्षोऽदीनोऽकृपणोऽनवद्यः' इति। यत्र त्वेकस्मिन् वस्तुनि समन्वयायोग्यं विशेषणद्वयं समानाधिकरणपदनिर्दिष्टम्; तत्राप्यन्यतरत्पदममुख्यवृत्तमाश्रीयते; न द्वयम्। यथा 'गौर्वाहीकः' इति। नीलोत्पलादिषु तु विशेषणद्वयान्वयाविरोधादेकमेवोभयविशिष्टं प्रतिपाद्यते॥

अथ मनुषे—एकविशेषणप्रतिसम्बन्धित्वेन निरूप्यमाणं विशेषणान्तरप्रतिसम्बन्धित्वाद्विलक्षणम् इति घटपटयोरिवैकविभक्तिनिर्देशेऽप्यैक्यप्रतिपादनासम्भवात्समानाधिकरणशब्दस्य न विशिष्टप्रतिपादनपरत्वम्, अपि तु विशेषणमुखेन स्वरूपमुपस्थाप्य तदैक्यप्रतिपादनपरत्वमेव—इति॥

स्यादेतदेवम्; यदि विशेषणद्वयप्रतिसम्बन्धित्वमात्रमेवैक्यं निरुन्ध्यात्। नचैतदस्ति; एकस्मिन्धर्मिण्युपसंहर्तुमयोग्यधर्मद्वयविशिष्टत्वमेव ह्यैकत्वं निरुणद्धि। अयोग्यता च प्रमाणान्तरसिद्धा घटत्वपटत्वयोः। 'नीलमुत्पलम्' इत्यादिषु तु दण्डित्वकुण्डलित्वयद्रूपवत्त्वरसवत्त्वगन्धवत्त्वादिवच्च विरोधो नोपलभ्यते। न केवलमविरोध एव; प्रवृत्तिनिमित्तभेदेनैकार्थनिष्ठत्वरूपं सामानाधिकरण्यमुपपादयत्येव धर्मद्वयविशिष्टताम्। अन्यथा स्वरूपमात्रैक्ये अनेकपदप्रवृत्तौ निमित्ताभावात्सामानाधिकरण्यमेव न स्यात्। विशेषणानां

१ कैयटे, पृथ्व्याह्निके

स्वसम्बन्धानादरेण वस्तुस्वरूपोपलक्षण १ परत्वेसत्येकेनैव वस्तूप-लक्षितमित्युपलक्षणान्तरमनर्थकमेव; उपलक्षणान्तरोपलक्ष्याकारभे-दाभ्युपगमे तेनाकारेण सविशेषत्वप्रसङ्गः ॥

' सोऽयं देवदत्तः ' इत्यत्रापि लक्षणागन्धो न विद्यते, विरोधा-भावात्। देशान्तरसम्बन्धितयाऽतीतस्य सन्निहितदेशसम्बन्धितया वर्तमानत्वाविरोधात्। अत एव हि ' सोऽयम् ' इति प्रत्यभिज्ञया कालद्वयसम्बन्धिनो वस्तुन ऐक्यमुपपाद्यते वस्तुनस्स्थिरत्ववादिभिः। अन्यथा प्रतीतिविरोधे सति सर्वेषां क्षणिकत्वमेव स्यात्। देशद्वय-सम्बन्धविरोधस्तु कालभेदेन परिह्रियते ॥

यतस्समानाधिकरणपदानामनेकविशेषणविशिष्टैकार्थवाचित्वम्; अत एव २ " अरुणयैकहायन्या पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति " इत्या-रुण्यादिविशिष्टैकहायन्या क्रयस्साध्यतया विधीयते ॥

तदुक्तम्—३ " अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमस्स्यात्" —इति। तत्रैवं पूर्वपक्षी मन्यते—यद्यप्यरुणयेति पदमाकृतेरिव गुण-स्यापि द्रव्यप्रकारतैकस्वभावत्वाद् द्रव्यपर्यन्तमेवारुणिमानमभिदधाति; तथाऽप्येकहायन्यन्वयनियमोऽरुणिम्नो न सम्भवति; एकहायन्या क्रीणाति, तच्चारुणयेत्यर्थद्वयविधानासम्भवात् ॥

ततश्चारुणयेति वाक्यं भित्वा प्रकरणविहितसर्वद्रव्यपर्यन्त-मेवारुणिमानमविशेषेणाभिदधाति। अरुणयेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः प्रकर-णविहितसर्वलिङ्गकद्रव्याणां प्रदर्शनार्थः। तस्मादेकहायन्यन्वयनियमो-ऽरुणिम्नो न स्यात्— इति ॥

१ रूपत्वे० पा २ यजु० ६-१-६

३ पूर्वमीमांसासूत्रम्० ३-१-१२-२

अत्राभिधीयते—१ " अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमस्स्यात् " २ " अरुणयैकहायन्या " इत्यारुण्यविशिष्टद्रव्यैकहायनीद्रव्यवाचिपदयोस्सामानाधिकरण्येनार्थैकत्वे सिद्धे सत्यैकहायनीद्रव्यारुण्यगुणयोररुणयेति पदेनैव विशेषणविशेष्यभावेन सम्बन्धितयाऽभिहितयोः क्रयाख्यैककर्मान्वयाविरोधादरुणिम्नः क्रयसाधनभूतैकहायन्यन्वयनियमस्स्यात् ॥

यद्येकहायन्याः क्रयसम्बन्धवदरुणिमसम्बन्धोऽपि वाक्यावसेयस्स्यात्; तदा वाक्यस्यार्थद्वयविधानं स्यात्। न चैतदस्ति अरुणयेति पदेनैवारुणिमविशिष्टद्रव्यमभिहितम्। एकहायनीपदसामानाधिकरण्येन तस्यैकहायनीत्वमात्रमवगम्यते; न गुणसम्बन्धः; विशिष्टद्रव्यैक्यमेव हि सामानाधिकरण्यस्यार्थः ३ " भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिस्सामानाधिकरण्यम " इति हि सामानाधिकरण्यलक्षणम् ॥

अत एव हि ' रक्तः पटो भवति ' इत्यादिष्वैकार्थ्यादेकवाक्यत्वम्। पटस्य भवनक्रियासम्बन्धे हि वाक्यव्यापारः; रागसम्बन्धस्तु रक्तपदेनैवाभिहितः; रागसम्बन्धि द्रव्यं पट इत्येतावन्मात्रं सामानाधिकरण्यावसेयम्। एवमेकेन गुणेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा तेनतेन पदेन समस्तेन व्यस्तेन वा विशिष्टमुपस्थाप्य सामानाधिकरण्येन सर्वविशेषणविशिष्टोऽर्थ एक इति ज्ञापयित्वा तस्य क्रियासम्बन्धाभिधानमविरुद्धम्—' देवदत्तश्श्यामो युवा लोहिताक्षो दण्डी कुण्डली तिष्ठति; शुक्लेन वाससा यवनिकां सम्पादयेन ; नीलमुत्पलमानय; नीलोत्पलमानय; गामानय शुक्लां शोभनाक्षीम् ' ४ " अग्नये पथिकृते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत् "—इति। एवम् ५ " अरुणयैकहायन्या पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति" इति ॥

---

१ पूर्वमी० ३-१-१२ २ यजु ६-१-६
३ कैयटे वृध्याह्निके० ४ यजुषि० २. काण्डे० २-अनु
५ यजुषि० ६-१-६

एतदुक्तं भवति—यथा ' काष्ठैस्स्थाल्यामोदनं १ पचेत् ' इत्यनेककारकविशिष्टैका क्रिया युगपत्प्रतीयते; तथा समानाधिकरणपदसङ्घाताभिहितमेकैकं कारकं तत्तत्कारकप्रतिपत्तिवेलायामेवानेकविशेषणविशिष्टं युगपत्प्रतिपन्नं क्रियायामन्वेतीति न कश्चिद्विरोधः ' खादिरैश्शुष्कैः काष्ठैस्समपरिमाणे भाण्डे पायसं शाल्योदनं समर्थः पाचकः पचेत् , इत्यादिषु—इति ॥

२ यत्तूपात्तद्रव्यकवाक्यस्थगुणशब्दः केवलगुणाभिधायीत्यरुणयेति पदेन केवलगुणस्यैवाभिधानमिति; तन्नोपपद्यते, लोकवेदयोर्द्रव्यवाचिपदसमानाधिकणस्य गुणवाचिनः क्वचिदपि केवलगुणाभिधानादर्शनात् । उपात्तद्रव्यकवाक्यस्थं गुणपदं केवलगुणाभिधायीत्यप्यसङ्गतम् . ' पटश्शुक्लः ' इत्यादिषूपात्तद्रव्यकेऽपि गुणविशिष्टस्यैवाभिधानात् । ' पटस्य शुक्लः ' इत्यत्र शौक्ल्यविशिष्टपटाप्रतिपत्तिरसमानविभक्तिनिर्देशकृता; न पुनरुपात्तद्रव्यकत्वकृता । तत्रैव ' पटस्य शुक्लो भागः ' इत्यादिषु समानविभक्तिनिर्देशे शौक्ल्यविशिष्टद्रव्यं प्रतीयते । यत्पुनः क्रयस्यैकहायन्यवरुद्धत्वादरुणिम्नः क्रयान्वयो न सम्भवतीति; तदपि विरोधिगुणरहितद्रव्यवाचिपदसमानाधिकरणगुणपदस्य तदाश्रयगुणाभिधानेन क्रियापदान्वयाविरोधादसङ्गतम् । राद्धान्ते चोक्तन्यायेनारुणिम्नश्शाब्दे द्रव्यान्वये सिद्धे द्रव्यगुणयोः क्रयसाधनत्वानुपपत्त्या अर्थात्परस्परान्वयस्सिध्यतीत्यप्यसङ्गतम् । अतो यथोक्त एवार्थः ॥

तस्मात् तत्त्वमस्यादिसामानाधिकरण्ये पदद्वयाभिहितविशेषणापरित्यागेनैवैक्यप्रतिपादनं वर्णनीयम । तत्त्वनाद्यविद्योपहितानवधिकदुःखभागिनश्शुद्धयशुद्धय भगावस्थाच्चेतनादर्थान्तरभूतमशेषहेयप्रत्यनीकानवधिककल्याणैकतानं परमात्मानमनभ्युपगच्छतो न सम्भवति ॥

१ पचति' इत्यने० पा   २ यत्तूक्तं—उपात्त. पा

अभ्युपगच्छतोऽपि समानाधिकरणपदानां यथावस्थितविशेषणविशिष्टैक्यप्रतिपादनपरत्वाश्रयणे त्वम्पदप्रतिपन्नसकलदोष १ भागित्वं परस्य प्रसज्येतेति चेत्—नैतदेवम् . त्वम्पदेनापि जीवान्तर्यामिणः परस्यैवाभिधानात ॥

एतदुक्तं भवति—सच्छब्दाभिहितं निरस्तनिखिलदोषगन्धं सत्यसङ्कल्पमिश्रानवधिका २ तिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणगणं समस्तकारणभूतं परं ब्रह्म ३ "बहु स्याम्" इति सङ्कल्प्य तेजोबन्नप्रमुखं कृत्स्नं जगत्सृष्ट्वा तस्मिन देवादिविचित्रसंस्थानसंस्थिते जगति चेतनं जीववर्गं स्वकर्मानुगुणेषु शरीरेष्वात्मतया प्रवेश्य स्वयं च स्वेच्छयैव जीवान्तरात्मतयाऽनुप्रविश्य एवम्भूतेषु स्वपर्यन्तेषु ४ देवाद्याकारेषु संघातेषु नामरूपे व्याकरोत् । एवं रूप संघातस्यैव वस्तुत्वं शब्दवाच्यत्वं चाकरोदित्यर्थः । अनेन जीवेनात्मना जीवेन मयेति निर्देशो जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वं दर्शयति । ब्रह्मात्मकत्वं च जीवस्य जीवान्तरात्मतया ब्रह्मणोऽनु५प्रवेशाद्वित्यवगम्यते—६ "इदं सर्वम सृजत । यदिदं किञ्च तत्सृष्ट्वा । तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्" इति अत्रेदं सर्वमिति निर्दिष्टं चेतनाचेतन७वस्तुद्वयं सत्यच्छब्दाभ्यां विज्ञानाविज्ञानशब्दाभ्यां च विभज्य निर्दिश्य चिद्वस्तुन्यपि ब्रह्मणोऽनुप्रवेशाभिधानात् । अत एव नामरूपव्याकरणात्सर्वे वाचकाश्शब्दा अचिज्जीवविशिष्टपरमात्मवाचिन इत्यवगतम्—इति ॥

किञ्च ८ "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इति चेतनमिश्रं प्रपञ्चम इदं

१ भागित्वं ब्रह्मणः पा०
२ निरतिशयकल्याण पा०
३ छा० ६, २, ३, तै० आन० ६
४ देवाद्याकारेषु नाम पा०
५ प्रवेशादवगम्यते पा०
६ तै० आन० ६, २
७ वर्गद्वयं पा०
८ छा० ६, ८, ७

सर्वमिति निर्दिश्य १ "तस्यैष आत्मा" इति प्रतिपादितम् । एवंच सर्व चेतनाचेतनं प्रति ब्रह्मण आत्मत्वेन सर्वं सचेतनं जगत् तस्य शरीरं भवति । तथा च श्रुत्यन्तराणि २ "अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा" ३ "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद । यस्य पृथिवी शरीरम् । यः पृथिवीमन्तरो यमयति । स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति प्रारभ्य ४ य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽत्मा शरीरम् । य आत्मानमन्तरो यमयति । स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इत्यादि ५ "यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यस्य पृथिवी शरीरम् । योऽपामन्तरे सञ्चरन् यस्यापश्शरीरम्" इत्यारभ्य ६ "योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन्यस्याक्षरं शरीरम् । यमक्षरं न वेद । एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इत्यादीनि सचेतनं जगत् तस्य शरीरत्वेन निर्दिश्य तस्यात्मत्वेन परमात्मानमुपदिशन्ति अतश्चेतनवाचिनोऽपि शब्दाश्चेतनस्याप्यात्मभूतं चेतनशरीरकं परमात्मानमेवाभिदधति । यथा अचेतनदेवादिसंस्थानपिण्डवाचिनश्शब्दाः तत्तच्छरीरकजीवात्मन एव वाचकाः ७ "चत्वारः पञ्च दशरात्राद्देवत्वं गच्छन्ति" इत्यादिषु, देवा भवन्तीत्यर्थः । शरीरस्य शरीरिणं प्रति प्रकारत्वात् ८ प्रकारवाचिनां च शब्दानां प्रकारिण्येव पर्यवसानात् ९ शरीरवाचिनां शब्दानां शरीरिपर्यवसानं न्याय्यम् । प्रकारो हि नाम इदमित्थमिति प्रतीयमाने वस्तुनि इत्थमिति प्रतीयमानोंऽशः । तस्य तद्वस्त्वपेक्षत्वेन तत्प्रतीतेस्तदपेक्षत्वात् तस्मिन्नेव पर्यवसानं युक्तमिति तस्य प्रतिपादकोऽपि शब्दस्तस्मिन्नेव पर्यवस्यति । अत एव 'गौरश्वो मनुष्यः' इत्यादिप्रकारभूताकृतिवाचिनश्शब्दाः प्रकारिणि

१ तै० आन ५
२ यजुषि आरण्यके० ३. ११
३ बृ० ५, ७, ३
४ बृ० ५, ७, २२
५, ६ सुबाल० ७
७
८ प्रकारवाचिनां शब्दानां पा०
९ शरीराभिधायिनां पा०

पिण्डे पर्यवस्यन्तः पिण्डस्यापि चेतनशरीरत्वेन तत्प्रकारत्वात् पिण्डशरीरकचेतनस्यापि परमात्मप्रकारत्वाच्च परमात्मन्येव पर्यवस्यतीति सर्वशब्दानां परमात्मैव वाच्य इति परमात्मवाचिशब्देन सामानाधिकरण्यं मुख्यमेव ॥

ननु - 'खण्डो गौः खण्डश्शुक्लः' इति जातिगुणवाचिनामेव पदानां द्रव्यवाचिपदैस्सह सामानाधिकरण्यं दृष्टम्, द्रव्याणां तु द्रव्यान्तरप्रकारत्वे मत्वर्थीयप्रत्ययो दृष्टः, यथा—'दण्डी कुण्डली' इति नैवम्, जातिर्वा गुणो वा द्रव्यं वा नैतच्चैकमेव सामानाधिकरण्ये प्रयोजकम्, अन्योन्यस्मिन् व्यभिचारात्, यस्य पदार्थस्य कस्यचित्प्रकारतयैव सद्भावः, तस्य तदपृथक्सिद्धिस्थितिप्रतीतिभिस्तद्वाचिनां शब्दानां स्वाभिधेयविशिष्टद्रव्यवाचित्वाद्धर्मान्तरविशिष्टतद्द्रव्यवाचिना शब्देन सामानाधिकरण्यं युक्तमेव । यत्र पुनः पृथक्सिद्धस्य स्वनिष्ठस्यैव द्रव्यस्य कदाचित्कचिद्द्रव्यान्तरप्रकारत्वमिष्यते; तत्र मत्वर्थीयप्रत्यय इति निरवद्यम् ॥

तदेवं परमात्मनश्शरीरतया तत्प्रकारत्वाच्चिद्विशिष्ट १ जीवस्यापि जीवनिर्देशविशेषरूपा अहंत्वमित्यादिशब्दाः परमात्मानमेवाऽचक्षत इति २ "तत्त्वमसि"इति सामानाधिकरण्येनोपसंहृतम्, एवं च सति परमात्मानं प्रति जीवस्य शरीरतयाऽन्वयाज्जीवगता धर्माः परमात्मानंनस्पृशन्ति, यथा स्वशरीरगता बालत्वयुवत्वस्थविरत्वादयो धर्माः जीवं न स्पृशन्ति. अतः २ 'तत्त्वमसि' इति सामानाधिकरण्ये तत्पदं जगत्कारणभूतं सत्यसङ्कल्पं सर्वकल्याणगुणाकरं निरस्तसमस्त-हेयगन्धं परमात्मानमाचष्टे. त्वमिति च तमेव सशरीरजीवशरीरकमाचष्ट इति सामानाधिकरण्यं मुख्यवृत्तम्, प्रकरणाविरोधस्सर्वश्रुत्यविरोधो ब्रह्मणि निरवद्ये कल्याणैकताने अविद्यादिदोषगन्धाभावश्च। अतो जीवसामानाधिकरण्यमपि विशेषण ३ भूताज्जीवादन्यत्वमेवापादयतीति विज्ञानमयाज्जीवादन्य एवानन्दमयः परमात्मा ॥

---

१ जीवस्य जीवनि पा०

२ छा० ६-८-७

३ भूतजीवा० पा०

यदुक्तम्—१ " तस्यैष एव शारीर आत्मा " इत्यानन्दमयस्य शारीरत्वश्रवणाज्जीवादन्यत्वं न सम्भवति—इति. तदयुक्तम्; अस्मिन् प्रकरणे सर्वत्र १ " तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य" इति परमात्मन एव शारीरात्मत्वाभिधाने कथं २ " तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः " इत्याकाशादिसृज्यवर्गस्य परमकारणत्वेन प्रज्ञातजीवव्यतिरेकस्य परस्य ब्रह्मण आत्मत्वेन व्यपदेशात्तद्व्यतिरिक्ताकाशादीनामन्नमयपर्यन्तानां तच्छरीरत्वमवगम्यते। ३ " यस्य पृथिवी शरीरं। यस्यापश्शरीरं। यस्य ४ तेजश्शरीरं। यस्य वायुश्शरीरं। यस्याकाशश्शरीरं। यस्याक्षरं। शरीरं। यस्य मृत्युश्शरीरं। एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः " इति सुबालश्रुत्या सर्वतत्त्वानां परमात्मशरीरत्वं स्पष्टमभिधीयते। अतः २ " तस्माद्वा एतस्मादात्मनः " इत्यत्रैवान्नमयस्य परमात्मैव शारीर आत्मेत्यवगतः। प्राणमयं प्रकृत्याह १ " तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य " इति। पूर्वस्यान्नमयस्य यश्शारीर आत्मा श्रुत्यन्तरसिद्धः परमकारणभूतः परमात्मा; स एव तस्य प्राणमयस्यापि शारीर आत्मेत्यर्थः। एवं मनोमयविज्ञानमययोर्द्रष्टव्यम्। आनन्दमये तु १ " एष एव " इति निर्देशस्तस्यानन्यात्मत्वं दर्शयितुम्। तत्कथं विज्ञानमयस्यापि पूर्वोक्तया नीत्या परमात्मैव शारीर आत्मेत्यवगतः। एवं सति विज्ञानमयस्य यश्शारीर आत्मा, स एवानन्दमयस्यापि शारीर आत्मेत्युक्ते आनन्दमयस्य अभ्यासावगतपरमात्मभावस्य परमात्मनस्स्वयमेवात्मेत्यवगम्यते। एवं च स्वव्यतिरिक्तं चेतनाचेतनवस्तुजातं स्वशरीरमिति स एव निरुपाधिकश्शारीर आत्मा। अत एवेदं परं ब्रह्माधिकृत्य प्रवृत्तं शास्त्रं शारीरकमित्यभियुक्तैरभिधीयते। अतो विज्ञानमयाज्जीवादन्य एव परमात्मा आनन्दमयः ॥१३॥

---

१ तै० आन० ४   २ तै० आन० १

३ सुबाल० ७   ४ तेजश्शरीरम्। यस्याकाशश्शरीरम् पा

आह—नायमानन्दमयो जीवादन्यः. विकारशब्दस्य मयट्-प्रत्ययस्य श्रवणात् १ "मयड्वैतयोः" इति प्रकृत्य २ "नित्यं वृद्धशरादिभ्यः" इति विकारार्थे मयट् स्मर्यते । वृद्धश्चायमानन्दशब्दः ॥

ननु प्राचुर्येऽपि मयडस्ति ३ " तत्प्रकृतवचने मयट् " इति-स्मृतेः । यथा ' अन्नमयो यज्ञः ' इति । स एवायं भविष्यति । नैवम्—अन्नमय इत्युपक्रमे विकारार्थत्वं दृष्टम् . अत औचित्यादस्यापि विकारार्थत्वमेव युक्तम् ॥

किञ्च—प्राचुर्यार्थत्वेऽपि जीवादन्यत्वं न सिध्यति । तथाहि—आनन्दप्रचुर इत्युक्ते दुःखमिश्रत्वमवर्जनीयम । आनन्दस्य हि प्राचुर्यं दुःखस्याल्पत्वमवगमयति । दुःखमिश्रत्वमेव हि जीवत्वम । अत औचित्यप्राप्तविकारार्थत्वमेव युक्तम् ॥

किञ्च—लोके मृण्मयं हिरण्मयं दारुमयमित्यादिषु, वेदे च ४ " पर्णमयी जुहूः " ५ " शमीमय्यस्स्रुचः " ६ " दर्भमयी रशना" इत्यादिषु मयटो विकारार्थे प्रयोगबाहुल्यात्स एव प्रथमतरं धियम-धिरोहति । जीवस्य चानन्दविकारत्वमस्त्येव । तस्य स्वत आनन्दरू-पस्य सतस्संसारित्वावस्था तद्विकार एवेति । अतो विकारवाचिनो मयट्प्रत्ययस्य श्रवणादानन्दमयो जीवादनतिरिक्त इति । तदेतदनु-भाष्य परिहरति—

विकारशब्दान्नेतिचेन्न प्राचुर्यात् ।१।१।१४॥

नैतद्युक्तं; कुतः ? प्राचुर्यात्—परस्मिन् ब्रह्मण्यानन्दप्राचुर्यात् । ७ प्राचुर्यार्थे च मयटस्सम्भवात् । एतदुक्तं भवति—शतगुणितोत्तर-क्रमेणाभ्यस्यमानस्यानन्दस्य जीवाश्रयत्वासम्भवाद्ब्रह्माश्रयोऽयमा-

१ अष्टाध्याय्यां० ४. ३. १४३
२ अष्टाध्याय्यां ४. ३. १४४
३ अष्टाध्याय्यां० ५. ४. २१
४ यजुषि. ३. कां. ५. प्र. ७. अनु
५, ६ यजुषि. ३. अष्टके. ८. प्र. २. अनु
७ प्राचुर्यार्थे मयटस्सं पा

नन्द इति निश्चिते सति तस्मिन् ब्रह्मणि विकारासम्भवात् प्राचुर्येऽपि मयड्विधिसम्भवाच्चानन्दमयः परं ब्रह्म—इति ॥

औचित्यात्प्रयोगप्रौढ्या च मयटो विकारार्थत्वमर्थविरोधान्न सम्भवति । किञ्च औचित्यं प्राणमय एव परित्यक्तम् , तत्र विकारार्थत्वासम्भवात् । अनस्तत्र पञ्चवृत्तेर्वायोः प्राणवृत्तिमत्तामात्रेण प्राणमयत्वम् , प्राणापानादिषु पञ्चसु वृत्तिषु प्राणवृत्तेः १ प्राचुर्याद्वा । न च प्राचुर्ये मयट्प्रत्ययस्य प्रौढिर्नास्ति. 'अन्नमयो यज्ञः' 'शकटमयी यात्रा' इत्यादिषु दर्शनात् ॥

यदुक्तमानन्दप्राचुर्यमल्पदुःखसद्भावमवगमयतीति; तदसत् , तत्प्रचुरत्वं हि तत्प्रभूतत्वम् , तच्चेतरस्य सत्तां नावगमयति; अपि तु तस्याल्पत्वं निवर्तयति । इतरसद्भावासद्भावौ तु प्रमाणान्तरावसेयौ; इह च प्रमाणान्तरेण तदभावोऽवगम्यते २ " अपहतपाप्मा " इत्यादिना । तत्रैतावदेव वक्तव्यं, ब्रह्मानन्दस्य प्रभूतत्वमन्या ३ नन्दस्याल्पत्वमपेक्षत इति । उच्यते च तत् ४ "स एको मानुष आनन्दः" इत्यादिना जीवानन्दापेक्षया ब्रह्मानन्दो निरतिशयदशापन्नः प्रभूत इति ॥

यच्चोक्तं जीवस्यानन्दविकारत्वं सम्भवतीति; तदपि नोपपद्यते. जीवस्य ज्ञानानन्दस्वरूपस्य केनचिदाकारेण मृद इव घटाद्याकारेण परिणामस्सकलश्रुतिस्मृतिन्यायविरुद्धः । संसारदशायां तु कर्मणा ज्ञानानन्दौ सङ्कुचितावित्युपपादयिष्यते । अतश्चानन्दमयो जीवादन्यः परं ब्रह्म ॥

इतश्च जीवादन्य आनन्दमयः परं ब्रह्म--

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ।१।१।१५॥

५ "को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति " इति । एष एव जीवानानन्दयतीति

१ प्राणवत्तामा० पा २ छा० ८-२-५
३ आनन्दस्याल्पत्वापेक्षमिति पा ४ तै० आन० ८-अनु
५ तै० आन-७. अनु

१जीवानन्दहेतुरयं व्यपदिश्यते। अतश्चानन्दयितव्याज्जीवादानन्दयिताऽयमन्य आनन्दमयः परमात्मेति विज्ञायते। आनन्दमय एवात्र आनन्दशब्देनोच्यत इति चानन्तरमेव वक्ष्यते ॥

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते । १ । १ । १६ ॥

इतश्च जीवादन्य आनन्दमयः --

२ "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति मन्त्रवर्णोदितं ब्रह्मैवानन्दमय इति गीयते। तत्तु जीवस्वरूपादन्यत् परं ब्रह्म—३"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति जीवस्य प्राप्यतया ब्रह्म निर्दिष्टम् ॥

४ "तदेषाभ्युक्ता" इति—तत् ब्रह्म, अभिमुखीकृत्य प्रतिपाद्यतया परिगृह्य, ऋगेषा, अध्येतृभिरुक्ता । ५ ब्राह्मणोक्तस्यार्थस्य वैशद्यमनेन मन्त्रेण क्रियत इत्यर्थः, जीवस्योपासकस्य प्राप्यं ब्रह्म तस्माद्विलक्षणमेव । अनन्तरं च ६" तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः" इत्यारभ्योत्तरोत्तरैर्ब्राह्मणैर्मन्त्रैश्च तदेव विशदीक्रियते । अतो जीवादन्य आनन्दमयः ॥

अत्राह—यद्यप्युपासकात्प्राप्यस्य भेदेन भवितव्यम् ; तथापि न वस्त्वन्तरं जीवान्मान्त्रवर्णिकं ब्रह्म ; किन्तु तस्यैवोपासकस्य निरस्तसमस्ताविद्यागन्धनिर्विशेषचिन्मात्रैकरसं शुद्धं स्वरूपम् , तदेव "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति मन्त्रेण विशोध्यते। तदेव च "यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह" इति वाङ्मनसागोचरतया निर्विशेषमिति गम्यते । अतस्तदेव मान्त्रवर्णिकमिति तस्मादनतिरिक्त आनन्दमय इति। अत उत्तरं पठति—

---

१ जीवानामानन्दहेतु पा०
२ तै० आन० १ अनु०
३ तै० आन० १ अनु
४ ६, ७, तै० आन० १ अनु
५ ब्राह्मणोक्तार्थस्य
७ तै० आन० १ अनु०

नेतरोऽनुपपत्तेः ।१।१।१७॥

परमात्मन इतरो जीवशब्दाभिलप्यो मुक्तावस्थोऽपि न भवति मान्त्रवर्णिकः। कुतः ? अनुपपत्तेः। तथाविधस्यात्मनो निरुपाधिकं विपश्चित्वं १"सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" इति सत्यसङ्कल्पत्व-प्रदर्शनेन विवरिष्यते। २ विविधं पश्यश्चित्त्वं हि विपश्चित्त्वम्। पृषोदरादित्वात्पश्यच्छब्दावयवस्य यच्छब्दस्य लोपं कृत्वा व्युत्पादितो विपश्चिच्छब्दः। यद्यपि मुक्तस्य विपश्चित्त्वं सम्भवति; तथापि तस्यैवात्मनस्संसारदशायामविपश्चित्त्वमप्यस्तीति निरुपाधिकं विपश्चित्त्वं नोपपद्यते। निर्विशेषचिन्मात्रतापन्नस्य मुक्तस्य विविध ३ दर्शनाभावा ४ त्सुतरां विपश्चित्त्वं न सम्भवतीति न केनापि प्रमाणेन निर्विशेषं वस्तु प्रतिपाद्यत इति च पूर्वमेवोक्तम्। ५ "यतो वाचो निवर्तन्ते" इति च वाक्यं यदि वाङ्मनसयोर्ब्रह्मणो निवृत्तिमभिदधीत; न ततो निर्विशेषतां वस्तुनोऽवगमयितुं शक्नुयात् ; अपि तु वाङ्मनसयोस्तत्राप्रमाणतां वदेत् ; तथा च सति तस्य तुच्छत्वमेवापद्यते। ६ "ब्रह्मविदाप्नोति" ७ इत्यारभ्य ब्रह्मणो विपश्चित्त्वं जगत्कारणत्वं ज्ञानानन्दैकतानतामितरान्प्रत्यानन्दयितृत्वं कामादेव चिदात्मकस्य कृत्स्नस्यस्रष्टृत्वं सृज्यवर्गानुप्रवेशकृततदात्मकत्वं भयाभयहेतुत्वं ८वाय्वादित्यादीनां प्रशासितृत्वं शतगुणितोत्तरक्रमेण निरतिशयानन्दत्वमन्यच्चानेकं प्रतिपाद्य वाङ्मनसयोःब्रह्मणि प्रवृत्त्यभावेन निष्प्रमाणकंब्रह्मेत्युच्यत इति भ्रान्तजल्पितम् ९"यतो वाचो निवर्तन्ते" इति यच्छब्दनिर्दिष्टमर्थम् १० "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" इत्यानन्दशब्देन प्रतिनिर्दिश्य तस्य ब्रह्मसम्बन्धित्वं ब्रह्मण इति व्यतिरेकनिर्देशेन

१, तै० आन० ६। २ विविधं हि पश्यचित्त्वं वि० पा०।
३ दर्शनासम्भवात् पा०। ४ सुतरमपि पा०।
५ तै० आन० ६ अनु०। ६ तै० आन० १।
७ परमित्यार पा०। ८ वाय्वादीनां पा०।
९ तै० आन० ९ अनु०! १० तै० आन० ९।

प्रतिपाद्य तदेव वाङ्मनसागोचरं विद्वान्' इति तद्वेदनमभिदधद्वाक्यं जरद्गवादिवाक्यवदनर्थकं [१] वाच्यानन्तर्गतं च स्यात् ॥

अतश्शतगुणितोत्तरक्रमेण ब्रह्मानन्दस्यातिशयेयत्तां वक्तुमुद्यम्य तस्येयत्ताया अभावादेव वाङ्मनसयोस्ततो निवृत्तिः [२] "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्युच्यते। एवमियत्तारहितं 'ब्रह्मण आनन्दं विद्वान् कुतश्चन न बिभेति' इत्युच्यते। किञ्च अस्य मान्त्रवर्णिकस्य विपश्चितः [३] "सोऽकामयत" इत्यारभ्य [४]वक्ष्यमाणस्वसङ्कल्पावक्लृप्तजगज्जन्मस्थितिजगदन्तरात्मत्वादेर्मुक्तात्मस्वरूपादन्यत्वं सुस्पष्टमेव ॥१७॥

इतश्चोभयावस्थात्प्रत्यगात्मनोऽन्य आनन्दमयः—

भेदव्यपदेशाच्च । १ । १ । १८ ॥

[५] "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः" इत्यारभ्य मान्त्रवर्णिकं ब्रह्म व्यञ्जयद्वाक्यमन्नप्राणमनोभ्य इव जीवादपि तस्य भेदं व्यपदिशति [६] "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः" इति। अतो जीवाद्भेदस्य व्यपदेशाच्चायं मान्त्रवर्णिक आनन्दमयोऽन्य एवेति [७]ज्ञायते ॥ १८ ॥

इतश्च जीवादन्यः—

कामाच्च नानुमानापेक्षा । १ । १ । १९ ॥

जीवस्याविद्यापरवशस्य जगत्कारणत्वे ह्यवर्जनीया आनुमानिकप्रधानादिशब्दाभिधेयाचिद्वस्तुसंसर्गापेक्षा; तथैव हि चतुर्मुखादीनां

---

१ वाचकानन्तर्गं पा०
२ तै० आन० १
३ तै० आन० ६
४ वक्ष्यमाणस्य स्व० पा०
५ तै० आन० १
६ तै० आन ५,
७ विज्ञायते पा०

कारणत्वम्, इह च १"सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेय" इत्यचित्संसर्ग २ रहितस्य स्वकामादेव विचित्रचिदचिद्वस्तुनस्सृष्टिः ३"इदं सर्वमसृजत। यदि दं किञ्च" इत्याम्नयते। अतोऽस्यानन्दमयस्य जगत्सृजतो नानुमानिकाचिद्वस्तुसंसर्गापेक्षा प्रतीयते। ततश्च जीवादन्य आनन्दमयः ॥१६॥

इतश्च—

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ।१।१।२०॥

अस्मिन्—आनन्दमये, अस्य जीवस्य, तद्योगम्—आनन्दयोगम्, शास्ति शास्त्रम्—४"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" इति। रसशब्दाभिधेयानन्दमयलाभादयं जीवशब्दाभिलपनीय आनन्दी भवतीत्युच्यमाने यल्लाभाद्य आनन्दी भवति, स स एवेत्यनुन्मत्तः को ब्रवीतित्यर्थः॥

एवमानन्दमयः परं ब्रह्मेति निश्चिते सति ५"यदेष आकाश आनन्दः" ६"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादिष्वानन्दशब्देनानन्दमय एव परामृश्यते। यथा विज्ञानशब्देन विज्ञानमयः अतएव ७'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इति व्यतिरेकनिर्देशः। अत एव च ८"आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति" इति फलनिर्देशश्च। उत्तरे चानुवाके पूर्वानुवाकोक्तानामन्नमयादीनाम् ९"अन्नं ब्रह्मेति व्याजानात्" १०"प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्" ११"मनो ब्रह्मेति व्यजानात्" १२"विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्" इति प्रति पादानात् १३"आनन्दो ब्रह्म" इत्यप्यानन्दमया-

१ तै० आन० ६ अनु०।
२ रहितस्य तस्य पाठ०।
३ तै० आन० ६, २।
४ तै० आन० ७, १।
५ तै० आन० ७।
६ बृ० ५, ६, २८।
७ तै० आन० ९, १।
८ तै० आन० ८, ५।
९ तै० भृ० २।
१० तै० भृ० ३।
११ तै० भृ० ४ अन०।
१२ तै० भृ० ५, १।
१३ तै० भ० ६, १।

यस्यैव प्रतिपादनमिति विज्ञायते ; तत एव च तत्रापि १"आनन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रम्य" इत्युपसंहृतम् ॥

अतः प्रधानशब्दाभिलप्यादर्थान्तरभूतस्य परस्य ब्रह्मणो जीवशब्दाभिलपनीयादपि वस्तुनोऽर्थान्तरत्वं सिद्धम् ॥२०॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आनन्दमयाधिकरणम् ॥६॥



(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अन्तरधिकरणम् ॥७॥)

यद्यपि मन्दपुण्यानां जीवानां कामाज्जगत्सृष्टिरतिशयितानन्दयोगो भयाभयहेतुत्व २मित्यादि न सम्भवत्येवेतीमामाशङ्कां निराकरोति—

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ।१।१।२१॥

इदमाम्नायते च्छान्दोग्ये ३"य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः । तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद । तस्यर्क्च साम च गेष्णौ इत्यधिदैवतम्" ४"अथाध्यात्मम्'''अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क् तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम" इति ॥

तत्र सन्दिह्यते—किमयमक्ष्यादित्यमण्डलान्तर्वर्ती पुरुषः पुण्योपचयनिमित्तैश्वर्य आदित्यादिशब्दाभिलप्यो जीव एव ; अहोस्वित्तदतिरिक्तः परमात्मा—इति । किं युक्तम् ?

१ तै० आन० १० ५ ।
२ इत्यादीनि न सम्भवन्ति० पा० ।
३ छा० १ ६, ६७, ८ ।
४ छा० १, ७, ५ ।

उपचितपुण्यो जीव एवेति। कुतः? सशरीरत्वश्रवणात्। शरीरसम्बन्धो हि जीवानामेव सम्भवति। कर्मानुगुणप्रियप्रयोगाय हि शरीरसम्बन्धः। अत एव हि कर्मसम्बन्धरहितस्य मोक्षस्य प्राप्यत्वमशरीरत्वेनोच्यते १"न ह वै स शरीरस्य सतः प्रियाप्रिययो-रपहतिरस्ति। अशरीरं वा व सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति। सम्भवति च पुण्यातिशयात् ज्ञानाधिक्यम्, शक्त्याधिक्यञ्च। अत एव लोककामेशत्वादि तस्यैवोपपद्यते। २ तत एव चोपास्यत्वम्, फलदायित्वम्, पापक्षपणकरत्वेन मोक्षोपयोगित्वं च। मनुष्येष्व-प्युपचितपुण्याः केचित् ज्ञानशक्त्यादिभिरधिकतरा दृश्यन्ते; ततश्च सिद्धगन्धर्वादयः; ततश्च देवाः; ततश्चेन्द्रादयः। अतो ब्रह्मादिष्व-न्यतम एवैकैकस्मिन् कल्पे पुण्यविशेषेणैवम्भूतमैश्वर्यं प्राप्तो जगत्सृ-ष्ट्याद्यपि करोतीति जगत्कारणत्वजगदन्तरात्मत्वादिवाक्यमस्मिन्ने-वोपचितपुण्यविशेषे सर्वज्ञे सर्वशक्तौ वर्तते। अतो न जीवादतिरिक्तः परमात्मा नाम कश्चिदस्ति। एवं च सति ३"अस्थूलमनण्वहृस्वम्" इत्यादयो जीवात्मनस्स्वरूपाभिप्राया भवन्ति। मोक्षशास्त्राण्यपि तत्स्वरूपतत्प्राप्त्युपायोपदेशपराणि—इति॥

सिद्धान्तः

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्—अन्तरादित्ये-ऽन्तरक्षिणि च यः पुरुषः प्रतीयते, स जीवादन्यः परमात्मैव; कुतः? तद्धर्मोपदेशात् जीवेष्वसम्भवंस्तदतिरिक्तस्यैव परमात्मनो धर्मोऽय-मपहतपाप्मत्वादिः ४"स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः" इत्यादि-नोपदिश्यते। अपहतपाप्मत्वं हि अपहतकर्मत्वम्, कर्मवश्यतागन्धर-हितत्वमित्यर्थः। कर्माधीनसुखदुःखभागित्वेन कर्मवश्या हि जीवाः। अतोऽपहतपाप्मत्वं जीवादन्यस्य परमात्मन एव धर्मः॥

---

१ छा० ८, १२, १। २ अत एवोपास्यत्वं फलदायित्वं च पा०।
३ बृ० ५, ८, ८। ४ छा० १, ६, ७।

तत्पूर्वकं स्वरूपोपाधिकं लोककामेशत्वम्, सत्यसङ्कल्पत्वादिकम् सर्वभूतान्तरात्मत्वञ्च तस्यैव धर्मः। यथाह [1]"एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः" इति, तथा [2]"एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इति। [3]"सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति" इत्यादिसत्यसङ्कल्पत्वपूर्वकसमस्तचिदचिद्वस्तुसृष्टियोगो निरुपाधिकभयाभयहेतुत्वम्, वाङ्मनसपरिमितिकृतपरिच्छेदरहितानवधिकातिशयानन्दयोग इत्यादयोऽकर्मसम्पाद्यास्स्वाभाविका धर्मा जीवस्य न सम्भवन्ति॥

यत्तु शरीरसम्बन्धान्न जीवातिरिक्त इत्युक्तम्; तदसत्, न हि सशरीरत्वं कर्मवश्यतां साधयति, सत्यसङ्कल्पस्येच्छयाऽपि शरीरसम्बन्धसम्भवात्। अथोच्येत—शरीरं नाम त्रिगुणात्मकप्रकृतिपरिणामरूपभूतसङ्घातः; तत्सम्बन्धश्चापहतपाप्मनस्सत्यसङ्कल्पस्य पुरुषस्येच्छया न सम्भवति, अपुरुषार्थत्वात्। कर्मवश्यस्य तु स्वस्वरूपानभिज्ञस्य कर्मानुगुणफलोपभोगायानिच्छतोऽपि तत्सम्बन्धोऽवर्जनीयः—इति॥ स्यादेतदेवम्; यदि गुणत्रयमयः प्राकृतोऽस्य देहस्स्यात्; स तु स्वाभिमतस्वानुरूपोऽप्राकृत एवेति सर्वमुपपन्नम्॥

एतदुक्तं भवति—परस्यैव ब्रह्मणो निखिलहेयप्रत्यनीकानन्तज्ञानानन्दैकस्वरूपतया सकलेतरविलक्षणस्य स्वाभाविकानवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणगणाश्च सन्ति। तद्वदेव स्वाभिमतानुरूपैकरूपाचिन्त्यदिव्याद्भुतनित्यनिरवद्यनिरतिशयौज्ज्वल्यसौन्दर्यसौगन्ध्यसौकुमार्यलावण्ययौवनाद्यनन्त [4] गुणगणनिधिदिव्यरूपमपि स्वाभाविकमस्ति। तदेवोपासकानुग्रहेण तत्तत्प्रतिपत्त्यनुरूपसंस्थानं करोत्यपारकारुण्यसौशील्यवात्सल्यौदार्यजलनिधिः, निरस्तनिखिलहेयगन्धोऽपहतपाप्मा परमात्मा परंब्रह्म पुरुषोत्तमो नारायणः—इति॥

---

[1] छा० ८, १, ५। [2] सुबाल० ७।

[3] तै० आन० ६। [4] गुणनिधिदिव्य० पा०।

१"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" २"सदेव सोम्येद-मग्र आसीत्" ३ "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" ४ "एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः" इत्यादिषु निखिलजगदेक-कारणतयाऽवगतस्य परस्य ब्रह्मणः ५"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ६ "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादिष्वेवम्भूतं स्वरूपमित्यवगम्यते। ७ "निर्गुणम्" ८ "निरञ्जनम्" ९ "अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः" १० "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" ११ "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं दैवतानां परमञ्च दैवतम्" १२ "स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" १३ "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः। नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते" १४"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्। आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" १५"सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि" इत्यादिषु परस्य ब्रह्मणः प्राकृतहेयगुणान् प्राकृतहेयदेहसम्बन्धं तन्मूलकर्मवश्यतासम्बन्धं च प्रतिषिध्य कल्याणगुणान् कल्याणरूपं च वदन्ति। तदिदं स्वाभाविकमेव-रूपमुपासकानुग्रहेण तत्प्रतिपत्त्यनुगुणाकारं देवमनुष्यादिसंस्थानं करोति स्वेच्छयैव परमकारुणिको भगवान्। तदिदमाह श्रुतिः—

---

१ तै० भृ. १ | २ छा. ६-२-१
३ ऐतरेय. १ १ १ | ४ महोप. १ अ. १
५ तै. आन. १ | ६ बृ. ५-६-२८
७ आत्मोप | ८ श्वेता. ६-१९
९ छा. ८-१-१ | १० श्वे. ६-८
११ श्वे. ६-७ | १२ श्वे. ६-९
१३. १४. यजु आरण्य. ३-१२. पुरुषसू | १५ तै. नारायणीये. १ अनु ८।

१ "अजायमानो बहुधा विजायते" इति । स्मृतिश्च २ "अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया । परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" इति । साधवोह्युपासकाः, तत्परित्राणमेवोद्देश्यम् , आनुषङ्गिकस्तु दुष्कृतां विनाशः, सङ्कल्पमात्रेणापि तदुपपत्तेः । 'प्रकृतिं स्वाम् , इति प्रकृतिः- स्वभावः । ३स्वमेव स्वभावमास्थाय, न संसारिणां स्वभावमित्यर्थः । आत्ममाययेति ४स्वसङ्कल्परूपेण ज्ञानेनेत्यर्थः ५ "माया वयुनं ज्ञानम्" इति ज्ञानपर्यामपि मायाशब्दं नैघण्टुका अधीयते । आह च भगवान् पराशरः—"समस्ताश्शक्तयश्चैता नृप यत्र प्रतिष्ठिताः । तद्विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्धरेर्महत् ॥ समस्तशक्तिरूपाणि तत्करोति जनेश्वर । देवतिर्यङ्मनुष्याख्याचेष्टावन्ति स्वलीलया । जगतामुपकाराय न सा कर्मनिमित्तजा"—इति, महाभारते चावताररूपस्याप्यप्राकृतत्वमुच्यते ७"न भूत सङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः" इति । अतः परस्यैव ब्रह्मण एवंरूपवत्त्वादयमपि तस्यैव धर्मः । अत आदित्यमण्डलाक्ष्यधिकरणः आदित्यादिजीवव्यतिरिक्त परमात्मैव ॥२१॥

भेदव्यपदेशाच्चान्यः । १ । १ । २२ ॥

आदित्यादिजीवेभ्यो भेदो व्यपदिश्यतेऽस्य परमात्मनः—८ "य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यश्शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयति" ९"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयती"१०"योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन्यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद यो मृत्युमन्तरे सञ्चरन्यस्य मृत्युश्शरीरं यं मृत्युर्न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इति ११चास्यापहतपाप्मनः पर, मात्मनस्सर्वान् जीवान् शरीरत्वेन व्यपदिश्य तेषामन्तरात्मत्वेनैनं व्यपदिशति । अतस्सर्वेभ्यो हिरण्यगर्भादिजीवेभ्योऽन्य एव परमात्मेति सिद्धम् ॥-२॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अन्तरधिकरणम् ।७॥

---

१. पुरुषसू ॥ २. गी० ४-६. यजु. आरण. ८ ॥ ३. स्वीयमेव स्वभावमा. पा० ४ स्वसंकल्पाज्ञानेन. पा० ॥ ५. वेदनिघण्टी, धर्मवर्गे. २२-श्लो० । ६ वि. पु. ६-७ ७० ॥ ७. महाभारते उद्योगपर्वणि ॥८. बृ. ५ ७ ९॥ ९. बृ. ५-७ २२ १०सुबाल. ७ ख॥११.इ'न चास्यापहतपाप्मन. सर्वान् जीवान

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आकाशाधिकरणम् ॥ ८ ॥)

१ "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इति जगत्कारणं ब्रह्मेत्यवगम्यते। किं तज्जगत्कारणमित्यपेक्षायां २ "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" ३ "तत्तेजोऽसृजत" ४ "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" ५ स इमाल्लोकानसृजत" ६ "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः" इति साधारणैश्शब्दैर्जगत्कारणे निर्दिष्टे ईक्षणविशेषानन्दविशेषरूपविशेषार्थस्वभावात्प्रधानक्षेत्रज्ञा ७ द्व्यतिरिक्तं ब्रह्मेत्युक्तम्। इदानीमाकाशादिविशेषशब्दै ८ र्निर्दिश्य जगत्कारणत्वजगदैश्वर्यादिवादेऽप्याकाशादिशब्दाभिधेयतया प्रसिद्धचिदचिद्वस्तुनोऽर्थान्तरमुक्तलक्षणमेव ब्रह्मेति प्रतिपाद्यते आकाशस्तल्लिङ्गात् इत्यादिना पादशेषेण—

आकाशस्तल्लिङ्गात् १ । १ । २३ ॥

इदमाम्नायते छान्दोग्ये—९ "अस्य लोकस्य का गतिरिति आकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्" —इति। तत्र सन्देहः—किं प्रसिद्धाकाश एवात्राकाशशब्देनाभिधीयते उतोक्तलक्षणमेव ब्रह्म—इति। किं प्राप्तम्। प्रसिद्धाकाश इति, कुतः? शब्दैकसमधिगम्ये वस्तुनि य एवार्थो व्युत्पत्तिसिद्धश्शब्देन प्रतीयते स एव ग्रहीतव्यः। अतः प्रसिद्धाकाश एव चराचरभूतजातस्य कृत्स्नस्य कारणम् अतस्तस्मादनतिरिक्तं ब्रह्म। नन्वीक्षापूर्वकसृष्ट्यादिभिरचेतनाज्जीवाच्च व्यतिरिक्तं ब्रह्मेत्युक्तम्। सत्यमुक्तम्, अयुक्तं तु-

१ तै० भृ० १

२ छा० ६-२-१

३ छा० ६-२-३

४ ऐतरेय १-१-१

५ ऐतरेय १-१-२

६ तै० आन० १

७ क्षेत्रज्ञातिरिक्तं पा०

८ शब्दैर्निर्दिष्टस्य पा०

९ छा० १-९-१

तत्। तथाहि १ "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते तद्ब्रह्म" इत्युक्ते कुत इमानि भूतानि जायन्त इत्यादिविशेषापेक्षायां २ "सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इत्यादिना विशेषप्रतीतेः-जगज्जन्मादिकारणमाकाश एवेति निश्चिते सति ३ "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादिष्वपि सदादिशब्दास्साधारणाकारास्तमेव विशेषमाकाशमभिदधति। ४ "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादिष्वात्मशब्दोऽपि तत्रैव वर्तते। तस्यापि हि चेतनैकान्तत्वं न सम्भवति; यथा 'मृदात्मको घटः' इति। आप्नोतीत्यात्मेति व्युत्पत्त्या सुतरामाकाशेऽप्यात्मशब्दो वर्तते। अत एवमाकाश एव कारणं ब्रह्मेति निश्चिते सतीक्षणादयस्तदनुगुणा गौणा वर्णनीयाः। यदि हि साधारणशब्दैरेव सदादिभिः कारणमभ्यधायिष्यत; ईक्षणाद्यर्थानुरोधेन चेतनविशेष एव कारणमिति निरचेष्यत। आकाशशब्देन तु विशेष एव निश्चित इति नार्थस्वाभाव्यान्निर्णेतव्यमस्ति। ननु ५ "आत्मन आकाशः सम्भूतः" इत्याकाशस्यापि कार्यत्वं प्रतीयते। सत्यम्, सर्वेषामेवाकाशवाय्वादीनां सूक्ष्मावस्था स्थूलावस्था चेत्यवस्थाद्वयमस्ति। तत्राकाशस्य सूक्ष्मावस्था कारणम् ६ स्थूलावस्था तु कार्यम्। ५ "आत्मन आकाशस्सम्भूतः" इति स्वस्मादेव सूक्ष्मरूपात्स्वयं स्थूलरूपस्सम्भूत इत्यर्थः। २ "सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इति सर्वस्य जगत आकाशादेव प्रभवाप्ययादिश्रवणात्तदेव हि कारणं ब्रह्मेति निश्चितम्। यत एवं प्रसिद्धाकाशादनतिरिक्तं ब्रह्म, अत एव च ७ "यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" ८ "आकाशो ह वै नामरूपयो-

१ तै० भृ० १ अनु०
२ छा० १-९ १
३ छा० ६ २ १
४ ऐतरेय १ १ १
५ तै० आन० १ २
६ स्थूलावस्था कार्यम् पा०
७ तै० आन० ७ अनु०
८ छा० ८ १४ १

-र्निर्वहिता" इत्येवमादिनिर्देशोऽप्युपपन्नतरः । अतः प्रसिद्धाकाशादन-तिरिक्तं ब्रह्मेति ॥

सिद्धान्तः

एवं प्राप्ते ब्रूमः---आकाशस्तल्लिङ्गात्–आकाशशब्दाभिधेयः प्रसिद्धाकाशादचेतनादर्थान्तभूतो यथोक्तलक्षणः परमात्मैव कुतः ? तल्लिङ्गात् निखिलजगदेककारणत्वम् , परायणत्वम् इत्यादीनि परमात्मलिङ्गान्युपलभ्यन्ते । १ निखिलकारणत्वं ह्यचिद्वस्तुनः प्रसिद्धाकाशशब्दाभिधेयस्य नोपपद्यते, चेतनवस्तुनस्तत्कार्यत्वासम्भवात् । परायणत्वं च चेतनानां परमप्राप्यत्वम् । तच्चाचेतनस्य हेयस्य सकलपुरुषार्थविरोधिनो न सम्भवति । सर्वस्माज्ज्यायस्त्वं च निरुपाधिकं सर्वैः कल्याणगुणैस्सर्वेभ्यो निरतिशयोत्कर्षः । तदप्यचितो नोपपद्यते ॥

यदुक्तं जगत्कारणविशेषाकांक्षायामाकाशशब्देन विशेषसमर्पणादन्यत्सर्वं तदनुरूपमेव वर्णनीयमिति,तदयुक्तम्, २ "सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इति प्रसिद्धवन्निर्देशात् । प्रसिद्धवन्निर्देशो हि प्रमाणान्तरप्राप्तिमपेक्षते । प्रमाणान्तराणि च ३ "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्येवमादीन्येव वाक्यानि तानि च यथोदितप्रकारेणैव ब्रह्म प्रतिपादयन्तीति तत्प्रतिपादितं ब्रह्माकाशशब्देन प्रसिद्धवन्निर्दिश्यते । सम्भवति च परस्य ब्रह्मणः ४प्रकाशकत्वादाकाशशब्दाभिधेयत्वम्—आकाशते, आकाशयति च---इति । किञ्च अनेनाकाशशब्देन विशेषसमर्पणक्षमेणापि चेतनांशं प्रत्यसम्भावितकारणभावमचेतनविशेषमभिदधानेन ५ "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" ६ "सोऽकामयत । बहुस्यां प्रजायेय" इत्यादि ७ वाक्यशेषावधारित-

---

१ निखिलजगदेककारणत्वं पा०
२ छा० १, ६, १ ।
३ छा० ६, २, १ ।
४ प्रकाशत्वात् पा० ।
५ छा० ६. २, ३ ।
६ तै० आन० ६ ।
७ वाक्यविशेष पा० ।

स सार्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पत्वादिविशिष्टापूर्वार्थप्रतिपादनसमर्थवाक्यार्थान्यथाकरणं न प्रमाणपदवीमधिरोहति । एवमपूर्वानन्तविशेषणविशिष्टापूर्वार्थप्रतिपादनसमर्थानेकवाक्यगतिसामान्यं चैकेनानुवादस्वरूपेणान्यथा कर्तुं न शक्यते । यस्त्वात्मशब्दश्चेतनैकान्तो न भवति, 'मृदात्मको घटः' इत्यादिदर्शनादित्युक्तम् ; तत्रोच्यते—यद्यपि चेतनादन्यत्रापि क्वचिदात्मशब्दः प्रयुज्यते ; तथापि शरीरप्रतिसम्बन्धिन्यात्मशब्दस्य प्रयोगप्राचुर्यात् १"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" २"आत्मन आकाशस्सम्भूतः" इत्यादिषु शरीरप्रतिसम्बन्धिचेतन एव प्रतीयते । यथा गोशब्दस्यानेकार्थवाचित्वेऽपि प्रयोगप्रचुर्यात्सास्नादिमानेव स्वतः प्रतीयते ; अर्थान्तरप्रतीतिस्तु तत्तदसाधारणनिर्देशापेक्षा ; तथा स्वतः प्राप्तं शरीरप्रतिसम्बन्धिचेतनाभिधानमेव ३"स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति" ४"सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेय" इत्यादितत्तद्वाक्यविशेषा एव स्थिरी कुर्वन्ति । एवं वाक्यशेषावधारितानन्यसाधारणानेकापूर्वार्थविशिष्टं निखिलजगदेककारणं ५"सदेव सोम्य" इत्यादिवाक्यसिद्धं ब्रह्मैवाकाशशब्देन प्रसिद्धवत् ६ सर्वाणि "ह वा इमानि भूतानि" इत्यादिवाक्येन निर्दिश्यत इति सिद्धम् ॥२३॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आकाशाधिकरणम् ॥ ८ ॥

अत एव प्राणः ।१।१।२४॥

इदमाम्नायते छान्दोग्ये—७"प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता" इति प्रस्तुत्य ५"कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसम्विशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा

१ ऐतरेय १, १, १ ।
२ तै० आन० १, २ ।
३ छा० ६, २, १ ।
४ छा १, ६, १ ।
५ छा० १, ११, ४, ५ ।

देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्"–इति ॥

अत्र प्राणशब्दोऽप्याकाशशब्दवत्प्रसिद्धप्राणव्यतिरिक्ते परस्मिन्नेव ब्रह्मणि वर्तते, तदसाधारणनिखिलजगत्प्रवेशनिष्क्रमणादिलिङ्गात्प्रसिद्धवन्निर्दिष्टात्। अधिकाशङ्का तु–कृत्स्नस्य भूतजातस्य प्राणाधीनस्थितिप्रवृत्त्यादिदर्शनात् प्रसिद्ध एव प्राणो जगत्कारणतया निर्देशमर्हति—इति ॥

परिहारस्तु—शिलाकाष्ठादिषु चेतनस्वरूपे च तदभावात् १ "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते" इति नोपपद्यत इति। अतः प्राणयति सर्वाणि भूतनीति कृत्वा–परं ब्रह्मैव प्राणशब्देनाभिधीयते। अतः प्रसिद्धाकाशप्राणादेरन्यदेव निखिलजगदेककारणमपहतपाप्मत्वसार्वज्ञसत्यसङ्कल्पत्वाद्यनन्तकल्याणगुणगणं परं ब्रह्मैवाकाश २ प्राणादिशब्दाभिधेयमिति सिद्धम् ॥ २४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्राणाधिकरणम् ॥ ६ ॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये ज्योतिरधिकरणम् ॥ १० ॥

अतः परं जगत्कारणत्वव्याप्तेन येनकेनापि निरतिशयोत्कृष्टगुणेन जुष्टं ज्योतिरिन्द्रादिशब्दैरर्थान्तरप्रसिद्धैरप्यभिधीयमानं परं ब्रह्मैवेत्यभिधीयते—ज्योतिश्चरणाभिधानात्-इत्यादिना—

ज्योतिश्चरणाभिधानात्। १। १ २५ ॥

इदमाम्नायते छान्दोग्ये ३ "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदि-

---

१ छा० १-११-५।　　२ प्राणशब्द पा०।
३. छा० ३-१३ ७।

दमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः" इति तत्र संशयः किमयं ज्योतिश्शब्देननिर्दिष्टो निरतिशयदीप्तियुक्तोऽर्थः प्रसिद्धमादित्यादिज्योतिरेव कारणभूतं ब्रह्म, उत समस्तचिदचिद्वस्तुजातविसजातीयः परमकारणभूतोऽमितभास्सर्वज्ञस्सत्यसङ्कल्पः पुरुषोत्तमः—इति। किं युक्तम्? प्रसिद्धमेव ज्योतिरिति। कुतः प्रसिद्धवन्निर्देशोऽप्याकाशप्राणादिवत् स्ववाक्योपात्त परमात्मव्याप्तलिङ्गविशेषादर्शनात्, परमपुरुषप्रत्यभिज्ञानासम्भवात्, १ कौक्षेयज्योतिषैक्योपदेशाच्च प्रसिद्धमेव ज्योतिः कारणात्वव्याप्तनिरतिशयदीप्तियोगाज्जगत्कारणं २ ब्रह्मेति॥

(सिद्धान्तः)

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—ज्योतिश्चरणाभिधानात् द्युसम्बन्धितया निर्दिष्टं निरतिशयदीप्तियुक्तं ज्योतिः परमपुरुष एव। कुतः ३ "पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इत्यस्यैव द्युसम्बन्धिनश्चरणत्वेन सर्वभूताभिधानात्॥

एतदुक्तं भवति यद्यपि ४ "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिः" इत्यस्मिन्वाक्ये परमपुरुषासाधारणलिङ्गंनोपलभ्यते; तथापि पूर्ववाक्ये द्युसम्बधितया परमपुरुषस्य निर्देशादिदमपि द्युसम्बन्धि ज्योतिस्स एवेति प्रत्यभिज्ञायत इति। १ कौक्षेयज्योतिषैक्योपदेशश्च फलाय तदात्मकत्वानुसन्धानविधिरिति न कश्चिद्दोषः। १ कौक्षेयज्योतिषश्च तदात्मकत्वं भगवता स्वयमेवोक्तम् '५ "अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः" इति॥

छन्दोभिधानान्नेतिचेन्न तथा चेतोर्पणनिगमात्तथाहि दर्शनम् ।१।१।२६॥

पूर्वस्मिन्वाक्ये ६"गायत्री वा इदं सर्वम्" इति गायत्र्याख्यं

---

१ कौशेयकज्योतिष पा०। २ ब्रह्मेति प्राप्ते प्रचक्ष्महे पा०।
३ छा० ३, १२, ६। ४ छा० ३, १३, ७।
५ गी० १५, १, ४। ६ छा० ३, १२, १।

छन्दोऽभिधाय १ "तदेतदृचाऽभ्यनूक्तम्" इत्युदाहृतायां २ "तावानस्य महिमा" इत्यस्या ऋचोऽपि छन्दोविषयत्वान्नात्र परमपुरुषाभिधानमिति चेत्

तन्न, तथा चेतोर्पणनिगमात् न गायत्रीशब्देन छन्दोमात्रमिहाभिधीयते, छन्दोमात्रस्य सर्वात्मकत्वानुपपत्तेः अपि तु ब्रह्मण एव गायत्रीचेतोर्पणमिह निगम्यते। ब्रह्मणि गायत्रीसादृश्यानुसन्धानं फलायोपदिश्यत इत्यर्थः सम्भवति च ३ "पादोऽस्य सर्वा भूतानि। त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति चतुष्पदो ब्रह्मणश्चतुष्पदया गायत्र्या च सादृश्यम्। चतुष्पदा च गायत्री क्वचिद्दृश्यते। तद्यथा ४ "इन्द्रश्शचीपतिः। बलेन पीडितः। दुश्च्यवनो वृषा। समित्सु सासहिः" इति। तथा ह्यन्यत्रापि सादृश्याच्छन्दोभिधायी शब्दोऽर्थान्तरे प्रयुज्यमानो दृश्यते। यथा संवर्गविद्यायाम् ५ "ते वा एते पञ्चान्ये दश ६ सम्पद्यन्ते" इत्यारभ्य ५ "सैषा विराडन्नात्" इत्युच्यते॥ २६॥

इतश्च गायत्रीशब्देन ब्रह्मैवाभिधीयते—

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ।१।१।२७॥

भूतपृथिवीशरीरहृदयानि निर्दिश्य ७ "सैषा चतुष्पदा" इति व्यपदेशो ब्रह्मण्येव गायत्रीशब्दाभिधेय उपपद्यते॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ।१।१।२८

पूर्ववाक्ये ८ "त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति दिवोऽधिकरणत्वेन निर्देशादिह च दिवः पर इत्यवधित्वेन निर्देशादुपदेशस्य ९ भिन्नरूप-

---

१ छा० ३, १२, १।　　२ छा० ३, १२, ६।
३ छा० ३, १२, ६।　　४
५ छा० ४, ३, ८।　　६ सन्त इति रङ्गरामानुजीयादिषु पाठो दृश्यते।
७ छा० ३, १२, ५।　　८ छा० ३, १२, ६।
९ भिन्नत्वेन पा०।

त्वेन पूर्ववाक्योक्तं ब्रह्म परस्मिन्न प्रत्यभिज्ञायत इति चेत्--तन्न, उभयस्मिन्नपि उपदेशे अर्थस्वभावैक्येन प्रत्यभिज्ञाया अविरोधात्; यथा 'वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परतश्श्येनः' इति। तस्मात्परमपुरुष एव निरतिशयतेजस्को दिवः परो ज्योतिर्दीप्यत इति प्रतिपाद्यते। १ "एतावानस्य महिमा। अतो ज्यायाँश्च पुरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि। त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति प्रतिपादितस्य चतुष्पादः परमपुरुषस्य २ "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्। आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे" इत्यभिहिताप्राकृतरूपस्य तेजोऽप्यप्राकृतमिति तद्वत्तया स एव ज्योतिश्शब्दाभिधेय इति निरवद्यम्॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये ज्योतिरधिकरणम्॥ १०॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये इन्द्रप्राणाधिकरणम्॥ ११)

निरतिशयदीप्तियुक्तं ज्योतिश्शब्दाभिधेयं प्रसिद्धवन्निर्दिष्टं-परमपुरुष एवेत्युक्तम। इदानीं कारणत्वव्याप्तामृतत्वप्राप्त्युपायतयोपास्यत्वेन श्रुत इन्द्रप्राणादिशब्दाभिधेयोऽपि परमपुरुष एवेत्याह-

प्राणस्तथाऽनुगमात्। १। १। २९॥

कौषीतकीब्राह्मणे प्रतर्दनविद्यायां ३ "प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च" इत्यारभ्य ३ "वरं वृणीष्व" इति वक्तारमिन्द्रं प्रति ३ "त्वमेव मे परं वृणीष्व यं त्व मनुष्याय हिततमं मन्यसे" इति प्रतर्दनेनोक्ते ३ "स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व" इति श्रूयते। तत्र संशयः- किमयं हिततमोपासनकर्मतयेन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टो जीव एव; उत तद्व्यतिरिक्तः परमात्मा--इति।। किं युक्तम्, जीव एवेति। कुतः? इन्द्रशब्दस्य जीवविशेष एव प्रसिद्धेः, तत्समानाधिकरणस्य प्राणशब्दस्यापि तत्रैव वृत्तेः। अयमिन्द्राभिधानो जीवः प्रतर्दनेन ३ "त्वमेव

१, २, यजु, आरण्य, ३, प्र, १२, अ. ३, कौषीतक्यां ३, १॥

मे वरं वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे" इत्युक्तः १ "मामुपास्व" इति स्वात्मोपासनं हिततममुपदिदेश। हिततमश्चामृतत्वप्राप्त्युपाय एव। जगत्कारणोपासनस्यैवामृतत्वप्राप्तिहेतुता २ "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इत्यवगता। अतः प्रसिद्धजीवभाव इन्द्र एव कारणं ब्रह्म ॥

इत्याशङ्कायामभिधीयते—प्राणस्तथानुगमात्— इति; अयमिन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टो न जीवमात्रम्, अपि तु जीवादर्थान्तरभूतं परं ब्रह्म। ३ "स एव प्राण एव प्रज्ञात्मा आनन्दोऽजरोऽमृतः" इतीन्द्रप्राणशब्दाभ्यांप्रस्तुतस्याऽनन्दाजरामृतशब्दसामानाधिकरण्येनानुगमो हि तथा सत्येवोपपद्यते ॥ २६ ॥

न वक्तुरात्मोपेदशादिति चेदध्यात्मसंबन्ध भूमा ह्यस्मिन्। १। १। ३०॥

यदुक्तमिन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टस्य ३ "आनन्दोऽजरोऽमृतः" इत्यनेनैकार्थ्यादयं परं ब्रह्मेति। तन्नोपपद्यते, ४ "मामेव विजानीहि" ५ "प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व" इति वक्ता हीन्द्रः ३ "त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम्" इत्येवमादिना त्वाष्ट्रवधादिभिः प्रज्ञातजीवभावस्य स्वात्मन एवोपास्यतां प्रतर्दनायोपदिशति। अत उपक्रमे जीवविशेष इत्यवगते सति ३ "आनन्दोऽजरोऽमृतः" इत्यादिभिरुपसंहारस्तदनुगुण एव वर्णनीय इति चेत्—

परिहरति—अध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्—आत्मनि यस्सम्बन्धस्सोऽध्यात्मसम्बन्धः। तस्य भूमा-भूयस्त्वम्. -बहुत्वमित्यर्थः। आत्मन्याधेयतया सम्बध्यमानानां बहुत्वेन सम्बन्धबहुत्वम्। तच्चास्मिन्प्रकरणे परमात्मन्येव हि सम्भवति। ३ "तद्यथा रथस्यारेषु नेमि-

१. कौषीतक्यां ३. १॥ २. छा. ६. १४. २॥ ३. कौ. ३. १॥
४. कौ. ३. १॥

रर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पितास्स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽजरोऽमृतः" इति भूतमात्राशब्देनाचेतनवस्तुजातमभिप्राय प्रज्ञामात्राशब्देन तदाधारतया चेतनवर्गं चाभिप्राय तस्याप्याधारतया प्रकृतमिन्द्रप्राणशब्दाभिधेयं निर्दिश्य तमेव १ "आनन्दोऽजरोऽमृतः" इत्युपदिशति। तदेतच्चेतनाचेतनात्मकृत्स्नवस्त्वाधारत्वं जीवादर्थान्तरभूतेऽस्मिन् परमात्मन्येवोपपद्यत इत्यर्थः ॥

अथवा—अध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्—परमात्मासाधारणधर्मसम्बन्धोऽध्यात्मसम्बन्धः। तस्य भूमा बहुत्वं हि अस्मिन् प्रकरणे विद्यते। तथाहि—प्रथमं २ "त्वमेव मे वरं वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे" इति १ "मामुपास्स्व" इति च परमात्मासाधारणमोक्षसाधनोपासनकर्मत्वं प्राणशब्दनिर्दिष्टस्येन्द्रस्य प्रतीयते। तथा २ "एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति" इति सर्वस्य कर्मणः कारयितृत्वं च परमात्मधर्मः। तथा २ "तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिताः एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः, प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः" इति सर्वाधारत्वं च तस्यैव धर्मः। तथा २ "स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽनन्दोऽजरोऽमृतः" इत्येतेऽपि परमात्मन एव धर्माः। २ "एष लोकाधिपतिरेष सर्वेशः" इति च परमात्मन्येव सम्भवति। तदेवमध्यात्मसम्बन्धभूम्नोऽत्र विद्यमानत्वात्परमात्मैवात्रेन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टः ॥ ३० ॥

कथं तर्हि प्रज्ञातजीवभावस्येन्द्रस्य स्वात्मन उपास्यत्वोपदेशस्सङ्गच्छते; तत्राह—

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् । १ । १ । ३१ ॥

प्रज्ञातजीवभावेनेन्द्रेण ३ "मामेव विजानीहि" ३ "मामुपास्स्व" इत्युपास्यत्वं ब्रह्मणस्स्वात्मत्वेनोपदेशोऽयं न प्रमाणान्तरप्राप्तस्वात्म-

१. कौ. ३. ८॥ २. कौ. ३. ८॥ ३. कौ. ३. १॥

वलोकनकृतः, अपितु शास्त्रेण स्वात्मदृष्टिकृतः। एतदुक्तं भवति— १ "अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" २"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" ३ "अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा" ४ "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽऽत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति" ५ "एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इत्येवमादीना शास्त्रेण जीवात्मशरीरकं परमात्मानमवगम्य जीवात्मवाचिनामहंत्वमादिशब्दानामपि परमात्मन्येव पर्यवसानं ज्ञात्वा" ६ "मामेव विजानीहि" ६ "मामुपास्स्व" इति स्वात्मशरीरकं परमात्मानमेवोपास्यत्वेनोपदिदेश—इति। वामदेववत्—यथा वामदेवः परस्य ब्रह्मणः सर्वान्तरात्मत्वं सर्वस्य च तच्छरीरत्वं शरीरवाचिनां च शब्दानां शरीरिणि पर्यवसानं पश्यन् 'अहम्' इति स्वात्मशरीरकं परं ब्रह्म निर्दिश्य तत्सामानाधिकरण्येन मनुसूर्यादीन् व्यपदिशति ७ "तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवानृषिरस्मि विप्र" इत्यादिना। यथा च प्रह्लादः ८ "सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः। मत्तस्सर्वमहं सर्वं मयि सर्वं सनातने" इत्यादि वदति ॥ ३१ ॥

अस्मिन् प्रकरणे जीववाचिभिश्शब्दैस्तद्विशेषाभिधायिभिश्चोपास्यभूतस्य परस्य ब्रह्मणोऽभिधाने कारणं चोद्यपूर्वकमाह—

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्या-दाश्रितत्वादिह तद्योगात् । १ । १ । ३२ ॥

६"न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्" ६ "त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम् अरुन्मुखान्यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्" इत्यादिर्जीवलिङ्गान्, ६"यावद्स्मिन् शरीरे प्राणो वसतितावदायुः" १० "अथ खलु प्राण

१. छा. ६. ३. २ ॥ २. छा. ६. ८. ७ ॥ ३. यजु. आरण्य ॥
४. बृ. ५. ७. २२॥ ५.सुबाल. ७. ख ॥ ६. कौ. ३. १ ॥
७. बृ. ३. ४. १०. 'अहमनु-सूर्यश्च' इत्यन्तमेव बृहदारण्यके दृश्यते। ऋक्संहिता (३-६-१९-४ ३-२६-१) वाक्यम् 'अहम्' इत्यरस्य 'विप्र' इत्यन्तम्
८. वि.पु.१.१६.८६॥ ९.कौ.१.८॥ १०.कौ. ३. १॥

एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति" इति मुख्यप्राणलिङ्गाच्च नाध्यात्मसम्बन्धभूमेति चेत्—न, उपासात्रैविध्यात् हेतोः, उपासना-त्रैविध्यमुपदेष्टुं तत्तच्छब्देनाभिधानम्—निखिलकारणभूतस्य ब्रह्मण-स्स्वरूपेणानुसन्धानम्, भोक्तृवर्ग शरीरकत्वानुसन्धानं भोग्य भोगो पकरणशरीरकत्वानुसन्धानंचेति त्रिविधमनुसन्धानमुपदेष्टु-मित्यर्थः। तदिदं त्रिविधं ब्रह्मानुसन्धानं प्रकरणान्तरेष्वप्याश्रितम्-१"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" २ "आनन्दो ब्रह्म"—इत्यादिषु स्वरूपानु-सन्धानम्; ३ "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्" इत्यादिषु भोक्तृशरी-रतया, भोग्यभोगोपकारणशरीरतया चानुसन्धानम्। इहापि प्रकरणे तत्त्रिविधमनुसन्धानं युज्यत एवेत्यर्थः।

एतदुक्तं भवति—यत्र हिरण्यगर्भादिजीवविशेषाणां प्रकृत्याद्यचे-तनविशेषाणां च परमात्मासाधारणधर्मयोगः तदभिधायिनां शब्दानां परमात्मवाचिशब्दैस्सामानाधिकरण्यं वा दृश्यते; तत्र परमात्मन-स्तत्तच्चिदचिद्विशेषान्तरात्मत्वानुसन्धानं प्रतिपिपादयिषितम्—इति। अतोत्रेन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टो जीवादर्थान्तरभूतः परमात्मैवेति सिद्धम् ३२

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये इन्द्रप्राणाधिकरणम् ॥ ११ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये
प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

---

१. तै. आन. १. अनु   २. तै. भृ. ६. अनु॥   ३. तै. आन. ६. २॥





श्रीमतेरामानुजायनमः

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

:(प्रथमाध्याये-द्वितीयपादे-सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणम् ॥ १॥):



प्रथमे पादे अधीतवेदः पुरुषः कर्ममीमांसाश्रवणाधिगतकर्मयाथात्म्यविज्ञानः केवलकर्मणामल्पास्थिरफलत्वमवगम्य, वेदान्तवाक्येषु चापातप्रतीतानन्तस्थिरफलब्रह्मस्वरूप [१]तदुपासनसमुपजातपरमपुरुषार्थलक्षणमोक्षापेक्षो ऽवधारितपरिनिष्पन्नवस्तुबोधनशब्दशक्तिः वेदान्तवाक्यानां परस्मिन् ब्रह्मणि निश्चितप्रमाणभावस्तदितिकर्तव्यतारूपशारीरकमीमांसाश्रवणमारभेतेत्युक्तं शास्त्रारम्भसिद्धये ॥ १ ॥

अनन्तविचित्रस्थिरत्रसरूपभोक्तृभोग्यभोगोपकरणभोगस्थानलक्षणनिखिलजगदुदयविभवलयमहानन्दैककारणं परं ब्रह्म "यतो वा इमानि" इत्यादिवाक्यं बोधयतीति च प्रत्यपादि ॥ २ ॥

जगदेककारणं परं ब्रह्म सकलेतरप्रमाणाविषयतया शास्त्रैकप्रमाणकमित्यभ्यधाम ॥ ३ ॥

शास्त्रप्रमाणकत्वं च ब्रह्मणः प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्यतरविरहेऽपि स्वरूपेणैव परमपुरुषार्थ भूते परस्मिन् ब्रह्मणि वेदान्तवाक्यानां समन्वयान्निरुह्यत इत्यब्रूम ॥ ४ ॥

निखिलजगदेककारणतया वेदान्तवेद्यं ब्रह्म च ईक्षणाद्यन्वयादानुमानिकप्रधानादर्थान्तरभूतश्चेतनविशेष एवेत्युपापीपदाम ॥ ५ ॥

---

१. तदुपासनः समुपजात. पा ॥

स च स्वाभाविकानवधिकातिशयानन्दविपश्चित्त्वनिखिलचेतनभयाभयहेतुत्वसत्यसङ्कल्पत्वसमस्तचेतनाचेतनान्तरात्मत्वादिभिर्बद्धमुक्तोभयावस्थाज्जीवशब्दाभिलपनीयाच्चार्थान्तरभूत इति च समार्तिथामहि ॥ ६ ॥

स चाप्राकृताकर्मनिमित्तस्वासाधारणदिव्यरूप इत्युदैरिराम॥ ७ ॥

आकाशप्राणाद्यचेतनविशेषाभिधायिभिर्जगत्कारणतया प्रसिद्धवन्निर्दिश्यमानस्सकलेतरचेतनाचेतनविलक्षणस्स एवेति समगरिष्महि

परतस्वासाधारणनिरतिशयदीप्तियुक्तज्योतिश्शब्दाभिधेयो द्युसम्बन्धितया प्रत्यभिज्ञानात्स एवेत्यातिष्ठामहि ॥ ९ ॥

परमकारणासाधारणामृतत्वप्राप्तिहेतुभूतः परमपुरुष एव शास्त्रदृष्ट्येन्द्रादिशब्दैरभिधीयत इत्यब्रूमहि ॥ १० ॥

तदेवमतिपतितसकलेतरप्रमाणसम्भावनाभूमिस्सार्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पत्वाद्यपरिमितोदारगुणसागरतया स्वेतरसमस्तवस्तुवीलक्षणः परं ब्रह्म पुरुषोत्तमो नारायण एव वेदान्तवेद्य इत्युक्तम् ॥ ११ ॥

अतः परं द्वितीयतृतीयचतुर्थेषु पादेषु यद्यपि वेदान्तवेद्यं ब्रह्मैव, तथापि कानिचिद्वेदान्तवाक्यानि प्रधानक्षेत्रज्ञान्तर्भूतवस्तुविशेषस्वरूपप्रतिपादनपराण्येवेत्याशङ्क्य तन्निरसनमुखेन तत्तद्वाक्योदितकल्याणगुणाकरत्वं ब्रह्मणः प्रतिपाद्यते ॥

तत्रास्पष्टजीवादिलिङ्गकानि वाक्यानि द्वितीये पादे विचार्यन्ते; स्पष्टलिङ्गकानि तृतीये; तत्तत्प्रतिपादनच्छायानुसारीणि चतुर्थे ॥

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । १ । २ । १ ॥

इदमाम्नायते छान्दोग्ये १"अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिल्लोँके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः" इत्यादि ।

अत्र २ " स क्रतुं कुर्वीत " इति प्रतिपादितस्योपासनस्योपास्यः २ "मनोमयः प्राणशरीरः" इति निर्दिश्यत इति प्रतीयते । तत्र संशयः—किं मनोमयत्वादिगुणकः क्षेत्रज्ञः ; उत परमात्मा—इति ।

१. छा. ३-१४-१ ॥ २. छा. ३.१४-२ ॥

किं युक्तम् ? क्षेत्रज्ञ इति । कुतः ? मनःप्राणयोः क्षेत्रज्ञोपकरणत्वात्, परमात्मनस्तु १ "अप्राणो ह्यमनाः" इति तत्प्रतिषेधाच्च । न च १ "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति २ पूर्वनिर्दिष्टं ब्रह्मात्रोपास्यतया सम्बद्धुं शक्यते, १ "शान्त उपासीत" इत्युपासनोपकरणशान्तिनिवृत्त्युपायभूतब्रह्मात्मकत्वोपदेशायोपात्तत्वात् । न च १ "स क्रतुं कुर्वीत" इत्युपासनस्योपास्यसाकाङ्क्षत्वाद्वाक्यान्तरस्थमपि ब्रह्म सम्बध्यत इति युक्तं वक्तुम्, स्ववाक्योपात्तेन मनोमयत्वादिगुणकेन निराकाङ्क्षत्वात्; १ "मनोमयः प्राणशरीरः" इत्यनन्यार्थतया निर्दिष्टस्य विभक्तिविपरिणाममात्रेणोभयाकाङ्क्षानिवृत्तिसिद्धेः । एवं निश्चिते जीवत्वे १ 'एतद्ब्रह्म' इत्युपसंहारस्थब्रह्मशब्दमपि जीव एव पूजार्थं प्रयुक्तमित्यध्यवसीयत इति ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः-सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्--मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मा । कुतः ? सर्वत्र--वेदान्तेषु परस्मिन्नेव ब्रह्मणि प्रसिद्धस्य मनोमयत्वादेरुपदेशात् । प्रसिद्धं हि मनोमयत्वादि ब्रह्मणः । यथा-३ "मनोमयः प्राणशरीरनेता" ४ "स एषोऽन्तर्हृदय आकाशः । तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः । अमृतो हिरण्मयः" ५ "हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतं विदुरमृतास्ते भवन्ति" ६ "न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा" ७ "मनसा तु विशुद्धेन" तथा ८ "प्राणस्य प्राणः" ९ "अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति" १० "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते" इत्यादिषु । मनोमयत्वं --विशुद्धेन मनसा ग्राह्यत्वम् । प्राणशरीरत्वं—प्राणस्याप्याधारत्वं नियन्तृत्वं च ।

एवं च सति ११ "एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद्ब्रह्म" इति ब्रह्मश-

---

१. मु. २-१-२॥ २. पूर्ववाक्यनिर्दिष्ट. पा ॥ ३. मु. २-२ ७॥
४. तै. शिक्षावल्ल्यां. ६ ३॥ ५. तै. नारायण ३॥ ६. मु. ३ १-८॥
७. ८. केनोप. १-२॥ ९. कौ. ३-२. अयं त्वधिकः पाठोनोपनिषदि ॥ १०. छा १-११ ५॥ ११. छा. ३-१४-४॥

ब्दोऽपि मुख्य एव भवति। १"अप्राणो ह्यमनाः" इति मनआयत्तं ज्ञानं प्राणायत्तां स्थितिं च ब्रह्मणो निषेधति।

अथवा २"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" इत्यत्रैवोपासनं विधीयते—सर्वात्मकं ब्रह्म शान्तस्सन्नुपासीतेति। २"स क्रतुं कुर्वीत" इति तस्यैव गुणोपादनार्थोऽनुवादः। उपादेयाश्च गुणा मनोमयत्वादयः; यतस्सर्वात्मकं ब्रह्म मनोमयत्वादिगुणकमुपासीतेति वाक्यार्थः। तत्र सन्देहः—किमिह ब्रह्मशब्देन प्रत्यगात्मा निर्दिश्यते : उत परमात्मा—इति। किं युक्तम्? प्रत्यगात्मेति। कुतः? तस्यैव सर्वपदसामानाधिकरण्यनिर्देशोपपत्तेः। सर्वशब्दनिर्दिष्टं हि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं कृत्स्नं जगत्। ब्रह्मादिभावश्च प्रत्यगात्मनोऽनाद्यविद्यामूलकर्मविशेषोपाधिको विद्यत एव; परस्य तु ब्रह्मणस्सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेरपहतपाप्मनो निरस्तसमस्ताविद्यादिदोषगन्धस्य समस्तहेयाकरसर्वभावो नोपपद्यते। प्रत्यगात्मन्यपि क्वचित्क्वचिद्ब्रह्मशब्दः प्रयुज्यते। अत एव परमात्मा परं ब्रह्मेति परमेश्वरस्य क्वचित्सविशेषणो निर्देशः। प्रत्यगात्मनश्च निर्मुक्तोपाधेर्बृहत्त्वं च विद्यते ३"स चानन्त्याय कल्पते" इति श्रुतेः। अविदुषस्तस्यैव कर्मनिमित्तत्वाज्जन्मस्थितिलयानां तज्जलानिति हेतुनिर्देशोऽप्युपपद्यते। तदयमर्थः—अयं जीवात्मा स्वतोऽपरिच्छिन्नस्वरूपत्वेन ब्रह्मभूतस्सन्ननाद्यविद्यया देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मनाऽवतिष्ठते—इति।

अत्र प्रतिविधीयते—सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्—सर्वत्र—४"सर्वं खल्विदम्" इति निर्दिष्टे सर्वस्मिन् जगति ब्रह्मशब्देन तदात्मतया विधीयमानं परं ब्रह्मैव न प्रत्यगात्मा। कुतः? प्रसिद्धोपदेशात्, ४"तज्जलान्" इति हेतुतः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति प्रसिद्धवदुपदेशात्। ब्रह्मणो जातत्वाद्ब्रह्मणि लीनत्वाद्ब्रह्माधीनजीवनत्वाच्च हेतोर्ब्रह्मात्मकं सर्वं खल्विदं जगदित्युक्ते यस्माज्जगज्जन्मस्थितिलया वेदान्तेषु प्रसिद्धा स्तदेवात्र ब्रह्मेति प्रतीयते। तच्च परमेव ब्रह्म; तथाहि ५"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंवि-

१. मु. २-१-२। २. छा. ३-१४-१। ३. श्वे. ५-९।
४. छा. ३-१४-१। ५. तै. भृ. १।

शन्ति। तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" इत्युपक्रम्य १"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिना पूर्वानुवाकप्रतिपादितानवधिकातिशयानन्दयोगिनो विपश्चितः परस्माद्ब्रह्मण एव जगदुत्पत्तिस्थितिलया निर्दिश्यन्ते; तथा २"स कारणं करणाधिपाधिपो नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः" इति करणाधिपस्य जीवस्याधिपः परं ब्रह्मैव कारणं व्यपदिश्यते। एवं सर्वत्र परस्यैव ब्रह्मणः कारणत्वं प्रसिद्धम्। अतः परब्रह्मणो जातत्वात्तस्मिन् प्रलीनत्वात्तेन प्राणनात्तदात्मकतया तादात्म्यमुपपन्नम्। अतस्सर्वप्रकारं सर्वशरीरं सर्वात्मभूतं परं ब्रह्म शान्तो भूत्वोपासीतेति श्रुतिरेव परस्य ब्रह्मणस्सर्वात्मकत्वमुपपाद्य तस्योपासनमुपदिशति। परं ब्रह्म हि कारणावस्थं कार्यावस्थं सूक्ष्मस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरतया सर्वदा सर्वात्मभूतम्। एवम्भूततादात्म्यस्य प्रतिपादने परस्य ब्रह्मणस्सकलहेयप्रत्यनीककल्याणगुणाकरत्वं न विरुध्यते, प्रकारभूतशरीरगतानां दोषाणां प्रकारिण्यात्मन्यप्रसङ्गात्, प्रत्युत निरतिशयैश्वर्यापादनेन गुणायैव भवतीति पूर्वमेवोक्तम्॥

यदुक्तं जीवस्य सर्वतादात्म्यमुपपद्यत इति; तदसत्. जीवानां प्रतिशरीरं भिन्नानामन्योन्यतादात्म्यासम्भवात्। मुक्तस्याप्यनवच्छिन्नस्वरूपस्यापि जगत्तादात्म्यं जगज्जन्मस्थितिप्रलयकारणत्वनिमित्तं न सम्भवतीति ३"जगद्व्यापारवर्जम्" इत्यत्र वक्ष्यते। जीवकर्मनिमित्तत्वाज्जगज्जन्मस्थितिलयानां स एव कारणमित्यपि न साधीयः, तत्कर्मनिमित्तत्वेऽपीश्वरस्यैव जगत्कारणत्वात्। अतः परमात्मैवाऽत्र ब्रह्मशब्दाभिधेयः। इममेव सूत्रार्थमभियुक्ता बहुमन्वते। यथाह वृत्तिकारः ४"सर्वं खल्विति सर्वात्मा ब्रह्मेशः" इति॥ १॥

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च १। २। २॥

वक्ष्यमाणाश्च गुणाः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते ५"मनोमयः प्राणशरीरो भारूपस्सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामस्स-

१ तै. भृ. ६॥ २ श्वे० ६-९॥ ३ शारी० ४-४-१७॥
४ वृत्तिः ५ छा० ३-१४-२॥

र्वगन्धस्सर्वरसस्सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः" इति। मनोमयः—परिशुद्धेन मनसैकेन ग्राह्यः; विवेकविमोकादिसाधनसप्तकानुगृहीतपरमात्मोपासननिर्मलीकृतेन हि मनसा गृह्यते। अनेन हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानतया सकलेतरविलक्षणस्वरूपतोच्यते; मलिनमनोभिर्मलिनानामेव ग्राह्यत्वात्। प्राणशरीरः—जगति सर्वेषां प्राणानां धारकः; प्राणो यस्य शरीरम् आधेयं विधेयं शेषभूतं च स प्राणशरीरः। आधेयत्वविधेयत्वशेषत्वानि शरीरशब्दप्रवृत्तिनिमित्तानीत्युपपादयिष्यते। भारूपः—भास्वररूपः; अप्राकृतस्वासाधारणनिरतिशयकल्याणदिव्यरूपत्वेन निरतिशयदीप्तियुक्त इत्यर्थः। सत्यसङ्कल्पः—अप्रतिहतसङ्कल्पः। आकाशात्मा—आकाशवत्सूक्ष्मस्वच्छस्वरूपः; सकलेतरकारणभूतस्याऽऽकाशस्याप्यात्मभूत इति वा आकाशात्मा; स्वयं च प्रकाशते अन्यानपि प्रकाशयतीति वा आकाशात्मा। सर्वकर्मा—क्रियत इति कर्म; सर्वं जगद्यस्य कर्म, असौ सर्वकर्मा; सर्वा वा क्रिया यस्यासौ सर्वकर्मा। सर्वकामः—काम्यन्त इति कामाः—भोग्यभोगोपकरणादयः; ते परिशुद्धाः सर्वविधास्तस्य सन्तीत्यर्थः। सर्वगन्धः सर्वरसः—[1]"अशब्दमस्पर्शम्" इत्यादिना प्राकृतगन्धरसादिनिषेधादप्राकृताः स्वासाधारणा निरवद्या निरतिशयाः कल्याणाः स्वभोग्यभूतास्सर्वविधा गन्धरसास्तस्य सन्तीत्यर्थः। सर्वमिदमभ्यात्तः—उक्तं रसपर्यन्तं सर्वमिदं कल्याणगुणजातं स्वीकृतवान्। 'अभ्यात्तः' इति 'भुक्ता ब्राह्मणाः' इतिवत्कर्तरि क्तः प्रतिपत्तव्यः। अवाकी—वाकः उक्तिः; सोऽस्य नास्तीत्यवाकी। कुत इत्याह—अनादर इति—अवाप्तसमस्तकामत्वेनादर्तव्याभावादादररहितः। अत एव अवाकी—अजल्पाकः; परिपूर्णैश्वर्यत्वाद्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं निखिलं जगत्तृणीकृत्य जोषमासीन इत्यर्थः। त एते विवक्षिता गुणाः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते ॥ २ ॥

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः । १ । २ । ३ ॥

तमिमं गुणसागरं पर्यालोचयतां खद्योतकल्पस्य शरीरसम्बन्धनिबन्धनापरिमितदुःखसम्बन्धयोग्यस्य बद्धमुक्तावस्थस्य जीवस्य

---

[1] कठ० १-३-१२ ॥

प्रस्तुतगुणलेशसम्बन्धगन्धोऽपि नोपपद्यत इति नास्मिन् प्रकरणे शारीरपरिग्रहशङ्का जायत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च । १ । २ । ४ ॥

१"एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मि" इति प्राप्यतया परं ब्रह्म व्यपदिश्यते, प्राप्तृतया च जीवः । अतः प्राप्ता जीव उपासकः, प्राप्यं परं ब्रह्मोपास्यमिति प्राप्तुरन्यदेवेदमिति विज्ञायते ॥ ४ ॥

शब्दविशेषात् । १ । २ । ५ ॥

२"एष म आत्माऽन्तर्हृदये" इति शारीरष्षष्ठ्या निर्दिष्टः उपास्यस्तु प्रथमया । एवं समानप्रकरणे वाजिनां च श्रुतौ शब्दविशेषश्श्रूयते जीवपरयोः; यथा ३"व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वा एवमयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयः यथा ज्योतिरधूमम्" इति । अत्र ३"अन्तरात्मन्" इति सप्तम्यन्तेन शारीरो निर्दिश्यते; ३ "पुरुषो हिरण्मयः" इति प्रथमयोपास्यः । अतः पर एवोपास्यः ॥

इतश्च शारीरादन्यः—

स्मृतेश्च । १ । २ । ६ ॥

४"सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च" ५"यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्" ६"ईश्वरस्सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया । तमेव शरणं गच्छ" इति शारीरमुपासकं, परमात्मानं चोपास्यं स्मृतिर्दर्शयति ॥ ६ ॥

---

१ छा० ३-१४-४ ॥   २ छा० ३-१४-३ ॥
३ शतपथब्राह्मण १-६-३   ४ गी० १५-१५ ॥
५ गी० १५-१९ ॥   ६ गी० १८-६१ ॥

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेतिचेन्न निचाय्य--त्वादेवं व्योमवच्च । १ । २ । ७ ॥

अल्पायतनत्वमर्भकौकस्त्वम् , तद्व्यपदेशः-अल्पत्वव्यपदेशः । १"एष म आत्माऽन्तर्हृदये" इत्यणीयसि हृदयायतने स्थितत्वात् १ "अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा" इत्यादिनाऽणीयस्त्वस्य स्वरूपेण व्यपदेशाच्च नायं परमात्मा, अपि तु जीव एव; २ "सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" इत्यादिभिः परमात्मनोऽपरिच्छिन्नत्वावगमात् , जीवस्य चाराग्रमात्रत्वव्यपदेशादिति चेत्-

नैतदेवम् , परमात्मैव ह्यणीयानित्येवं निचाय्यत्वेन व्यपदिश्यते; एवं निचाय्यत्वेन-एवं द्रष्टव्यत्वेन, एवमुपास्यत्वेनेति यावत् । न पुनरणीयस्त्वमेवास्य स्वरूपमिति; व्योमवच्चायं व्यपदिश्यते, स्वाभाविक महत्त्वं चात्रैव व्यपदिश्यते—२ ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः" इति । अत उपासनार्थमेवाल्पत्वव्यपदेशः । तथाहि २ "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" इति सर्वोत्पत्तिप्रलयकारणत्वेन सर्वस्याऽत्मतयाऽनुप्रवेशकृतजीवयितृत्वेन च सर्वात्मकं ब्रह्मोपासी--तेत्युपासनं विधाय २ "अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिल्लोंके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" इति यथोपासनं प्राप्यसिद्धि--मभिधाय २ "स क्रतुं कुर्वीत" इति गुणविधानार्थमुपासनमनूद्य २ "मनोमयः प्राणशरीरो भारूपस्सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामस्सर्वगन्धस्सर्वरसस्सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः" इति जगदैश्वर्यविशिष्टस्य स्वरूपगुणांश्चोपादेयान् प्रतिपाद्य २ "एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा" इत्युपासकस्य हृदयेऽणीयस्त्वेन तदात्मनयो-

१. छा. ३-१४-३ ॥ २. मुण्ड, १-१-६ ॥

३. छा० ३-१४-१, ४॥

पासस्य परमपुरुषस्योपासनार्थमवस्थानमुक्त्वा १"एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यस्सर्वकर्मा सर्वकामस्सर्वगन्धस्सर्वरसस्सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः" इत्यन्तर्हृदयेऽवस्थितस्योपास्यमानस्य प्राप्याकारं निर्दिश्य १"एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद्ब्रह्म" इत्येवम्भूतं परं ब्रह्म परमकारुण्येनास्मदुज्जिजीवयिषयाऽस्मद्धृदये सन्निहितमितीदमनुसन्धानं विधाय २"एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मि" इति यथोपासनं प्राप्तिनिश्चयानुसन्धानं च विधाय २"इति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्ति" इत्येवंविधप्राप्यप्राप्तिनिश्चयोपेतस्योपासकस्य प्राप्तौ न संशयोऽस्तीत्युपसंहृतम् । अत उपासनार्थमर्भकौकस्त्वमणीयस्त्वं च ॥ ७ ॥

सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् । १ । २ । ८ ॥

जीवस्येव परस्यापि ब्रह्मणश्शरीरान्तर्वर्तित्वमभ्युपगतं चेत्-तद्वदेव शरीरसम्बन्धप्रयुक्तसुखदुःखोपभोगप्राप्तिरिति चेत्--तन्न, हेतुवैशेष्यात्—नहि शरीरान्तर्वर्तित्वमेव सुखदुःखोपभोगहेतुः; अपि तु पुण्यपापरूपकर्मपरवशत्वम्; तत्त्वपहतपाप्मनः परमात्मनो न सम्भवति। तथा च श्रुतिः ३"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" इति ॥ ८ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणम् ॥१॥

---

१ छा० ३ । १४ । १, ४ ॥ २ छा० ३ । १४ । ४ ॥
३ मुण्ड० ३ । १ । १ ॥

—*(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अत्त्राधिकरणम् ॥२॥)*—

यदि परमात्मा न भोक्ता, एवं तर्हि सर्वत्र भोक्तृतया प्रतीयमानो जीव एव स्यादित्याशङ्क्याह –

अत्ता चराचरग्रहणात् । १ । २ । ९ ॥

कठवल्लीष्वाम्नायते १"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः" इति । अत्रौदनोपसेचनसूचितोऽत्ता किं जीव एव, उत परमात्मेति सन्दिह्यते । किं युक्तम् ? जीव इति । कुतः ? भोक्तृत्वस्य कर्मनिमित्तत्वाज्जीवस्यैव तत्सम्भवात् ॥

अत्रोच्यते—अत्ता चराचरग्रहणात्—अत्ता परमात्मैव । कुतः ? चराचरग्रहणात्—चराचरस्य कृत्स्नस्यात्तृत्वं हि तस्यैव सम्भवति । न चेदं कर्मनिमित्तभोक्तृत्वम् ; अपि तु जगज्जन्मस्थितिलयहेतुभूतस्य परस्य ब्रह्मणो विष्णोस्संहर्तृत्वम् ; २"सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" इत्यत्रैव दर्शनात् । तथा च ३"मृत्युर्यस्योपसेचनम्" इति वचनात्, ३"ब्रह्म च क्षत्रं च" इति कृत्स्नं चराचरं जगदिहादनीयौदनत्वेन गृह्यते । उपसेचनं हि नाम स्वयमद्यमानं सदन्यस्यादनहेतुः । अत उपसेचनत्वेन मृत्योरप्यद्यमानत्वात्तदुपसिच्यमानस्य कृत्स्नस्य ब्रह्मक्षत्रपूर्वकस्य जगतश्चराचरस्यादनमत्र विवक्षितमिति गम्यते । ईदृशं चादनमुपसंहार एव । तस्मादीदृशं जगदुपसंहाररूपं भोक्तृत्वं परमात्मन एव ॥ ९ ॥

प्रकरणाच्च । १ । २ । १० ॥

प्रकरणं चेदं परस्यैव ब्रह्मणः—४"महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति" ४"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" इति हि प्रकृतम् । ३"क इत्था वेद यत्र सः" इत्यपि हि तत्प्रसादादृते तस्य दुरवबोधत्वमेव पूर्वप्रस्तुतं प्रत्यभिज्ञाप्यते ॥ १० ॥

१ कठ० १-२-२५ ॥ २ कठ० १-३-९ ॥
३ कठ० १-२-२५ ४ कठ० १-२-२२-२३ ॥

अथ स्यात्—नायं ब्रह्मक्षत्रौदनसूचितः पुरुषोऽपहतपाप्मा परमात्मा; अनन्तरम् [1]"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्ध्ये। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः" इति कर्मफलभोक्तुरेव सद्वितीयस्याभिधानात्। द्वितीयश्च प्राणो बुद्धिर्वा स्यात्। ऋतपानं हि कर्मफलभोग एव; स च परमात्मनो न सम्भवति; बुद्धिप्राणयोस्तु भोक्तुर्जीवस्योपकरणभूतयोर्यथा कथञ्चित्पानेऽन्वयस्सम्भवतीति तयोरन्यतरेण सद्वितीयो जीव एव प्रतिपाद्यते, तदेकप्रकरणत्वात्पूर्वप्रस्तुतोऽत्ताऽपि स एव भवितुमर्हति—इति। तत्रोच्यते—

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।१। २ । ११ ।

न प्राणजीवौ बुद्धिजीवौ वा गुहां प्रविष्टावृतं पिबन्तावित्युच्येते; अपि तु जीवपरमात्मानौ हि तथा व्यपदिश्येते। कुतः? तद्दर्शनात्। अस्मिन् प्रकरणे जीवपरयोरेव गुहाप्रवेशव्यपदेशो दृश्यते। परमात्मानस्तावत् [2]"तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" इति। जीवस्यापि [3]"या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत" इति। कर्मफलान्यत्तीत्यदितिर्जीव उच्यते। प्राणेन सम्भवति—प्राणेन सह वर्तते। देवतामयी—इन्द्रियाधीनभोगा। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती—हृदयपुण्डरीकोदरवर्तिनी। भूतेभिर्व्यजायत—पृथिव्यादिभिर्भूतैस्सहिता देवादिरूपेण विविधा जायते। एवं च सति [4]"ऋतं पिबन्तौ" इति व्यपदेशः 'छत्रिणो गच्छन्ति' इति वत्प्रतिपत्तव्यः। यद्वा—प्रयोज्यप्रयोजकरूपेण पाने कर्तृत्वं जीवपरयोरुपपद्यते ॥ ११ ॥

विशेषणाच्च । १ । २ । १२ ।

अस्मिन् प्रकरणे जीवपरमात्मानावेवोपास्यत्वोपासकत्वप्रा-

---

१ कठ० १-३-१ ॥ २ कठ० १-२-१२ ॥
३ कठ० २-४-७ ॥ ४ कठ० ३-१-३ ॥

प्यत्वप्राप्तृत्वविशिष्टौ सर्वत्र प्रतिपाद्येते। तथाहि—१"ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति" इति। ब्रह्मजज्ञो जीवः, ब्रह्मणो जातत्वात् ज्ञत्वाच्च। तं देवमीड्यं विदित्वा-जीवात्मानमुपासकं ब्रह्मात्मकत्वेनावगम्येत्यर्थः। तथा २"यस्सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्। अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि" इत्युपास्यः परमात्मोच्यते। नाचिकेतम्—नाचिकेतस्य कर्मणः प्राप्यमित्यर्थः। ३"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च" इत्यादिनोपासको जीव उच्यते। तथा ४"विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः। सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" इति प्राप्यप्राप्तारावभिधीयेते जीवपरमात्मानौ। इहापि ५"छायातपौ" इत्यज्ञत्वसर्वज्ञत्वाभ्यां तावेव विशिष्य व्यपदिश्येते॥

अथ स्यात् ६"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके" इति जीवस्वरूपयाथात्म्यप्रश्नोपक्रमत्वात्सर्वमिदं प्रकरणं जीवपरमिति प्रतीयते—इति। नैतदेवम्, न हि जीवस्य देहातिरिक्तस्यास्तित्वनास्तित्वशङ्कयाऽयं प्रश्नः, तथा सति पूर्ववरद्वयवरणानुपपत्तेः। तथा हि पितुस्सर्ववेदसदक्षिणक्रतुसमाप्तिवेलायां दीयमानदक्षिणावैगुण्येन क्रतुवैगुण्यं मन्यमानेन कुमारेण नचिकेतसा आस्तिकाग्रेसरेण स्वात्मदानेनापि पितुः क्रतुसाद्गुण्यमिच्छता ७"कस्मै मां दास्यसि" इत्यसकृत्पितरं पृष्टवता स्वनिर्बन्धकृष्टपितृवचनान्मृत्युसदनं प्रविष्टेन स्वसदनात्प्रोषुषि यमे तददर्शनात्तत्र तिस्रो रात्रीरुपोषुषा स्वोपवासभीततत्प्रतिविधानप्रवृत्तमृत्युप्रदत्ते वरत्रये आस्तिक्यातिरेकात्प्रथमेन वरेण स्वात्मानं प्रति पितुः प्रसादो वृतः, एतच्च सर्वं देहातिरिक्तात्मानमजानतो नोपपद्यते। द्वितीयेन च वरेणोत्तीर्णदेहात्मानुभाव्यफलसाधनभूताऽग्निविद्या वृता; तदपि देहातिरिक्तात्मानभिज्ञस्य न सम्भवति। अतस्तृतीयेन वरेण यदिदं प्रियते ८"येयं प्रेते विचि-

---

१. कठ. १-१-१७॥ २. कठ. १.३.२॥ ३. कठ. १.३.३॥
४. कठ. १-३-९॥ ५. कठ. १.३.१॥ ६. कठ. १.१.२०॥
७. कठ. १.१.४॥ ८ कठ१. १. २०॥

कित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः" इति; अत्र परमपुरुषार्थरूपब्रह्मप्राप्तिलक्षणमोक्षयाथात्म्यविज्ञानाय तदुपायभूतपरमात्मोपासनपरावरात्मतत्वजिज्ञासयाऽयं प्रश्नः क्रियते । एवं च १"येयं प्रेते" इति न शरीरवियोगमात्राभिप्रायम्, अपि तु सर्वबन्धविनिर्मोक्षाभिप्रायम् । यथा २"न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" इति । अयमर्थः-मोक्षाधिकृते मनुष्ये प्रेते सर्वबन्धविनिर्मुक्ते तत्स्वरूपविषया वादिविप्रतिपत्तिनिमित्ताऽस्तिनास्त्यात्मिका येयं विचिकित्सा, तदपनोदनाय तत्स्वरूपयाथात्म्यं त्वयाऽनुशिष्टोऽहं विद्यां—जानीयाम्—इति । तथा हि बहुधा विप्रतिपद्यन्ते—केचिद्वित्तिमात्रस्याऽऽत्मनस्स्वरूपोच्छित्तिलक्षणं मोक्षमाचक्षते । अन्ये वित्तिमात्रस्यैव सतोऽविद्यास्तमयम् । अपरे—पाषाणकल्पस्याऽऽत्मनो ज्ञानाद्यशेषवैशेषिकगुणोच्छेदलक्षणं कैवल्यरूपम् । अपरे तु-अपहतपाप्मानं परमात्मानमभ्युपगच्छन्तस्तस्यैवोपाधिसंसर्गनिमित्तजीवभावस्योपाध्यपगमेन तद्भावलक्षणं मोक्षमातिष्ठन्ते । त्रय्यन्तनिष्णातास्तु-- निखिलजगदेककारणस्याशेषहेयप्रत्यनीकानन्तज्ञानानन्दैकस्वरूपस्य स्वाभाविकानवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणाकरस्य सकलेतरविलक्षणस्य सर्वात्मभूतस्य परस्य ब्रह्मणश्शरीरतया प्रकारभूतस्यानुकूलापरिच्छिन्नज्ञानस्वरूपस्य परमात्मानुभवैकरसस्य जीवस्यानादिकर्मरूपाविद्यातिरोहितस्वरूपस्याविद्योच्छेदपूर्वकस्वाभाविकपरमात्मानुभवमेव मोक्षमाचक्षते । तत्र मोक्षस्वरूपं तत्साधनं च त्वत्प्रसादाद्विद्यामिति नचिकेतसा पृष्टो मृत्युस्तस्यार्थस्य दुरवबोधत्वप्रदर्शनेन विविधभोगवितरणप्रलोभनेन चैनं परीक्ष्य योग्यतामभिज्ञाय परावरात्मतत्त्वविज्ञानं परमात्मोपासनं तत्पदप्राप्तिलक्षणं मोक्षं च ३"तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम्" इत्यारभ्य ४"सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" इत्यन्तेनोपदिश्य तदपेक्षितांश्च विशेषानुपदिदेशेति सर्वं समञ्जसम् । अतः परमात्मैवात्तेति सिद्धम् ॥ १२ ॥

इति श्रीशारीरिकमीमांसाश्रीभाष्ये अत्त्रधिकरणम् ॥ २ ॥

१-कठ. १-१-२ २-बृ. ४-४-१२ ३-कठ. १.२.१२ ॥
४-कठ. १.३.९ ॥

(*श्रीशारीरकमीमांसाश्रीभाष्ये-अन्तराधिकरणम् ॥ ३ ॥*)

अन्तर उपपत्तेः । १ । २ । १३ ॥

१इदमामनन्ति च्छन्दोगाः २ "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते। एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म" इति। तत्र सन्देहः— किमयमक्ष्याधारतया निर्दिश्यमानः पुरुषः प्रतिबिम्बात्मा, उत चक्षुरिन्द्रियाधिष्ठाता देवताविशेषः, उत जीवात्मा, अथ परमात्मा इति। किं युक्तम्? प्रतिबिम्बात्मेति। कुतः? प्रसिद्धवन्निर्देशात्; 'दृश्यते' इत्यपरोक्षाभिधानाच्च। जीवात्मा वा, तस्यापि हि चक्षुषि विशेषेण सन्निधानात्प्रसिद्धिरुपपद्यते? उन्मीलितं हि चक्षुरुद्वीक्ष्य जीवात्मनश्शरीरे स्थितिगती निश्चिन्वन्ति। ३ "रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः" इति ४ श्रुतिप्रसिद्ध्या चक्षुःप्रतिष्ठो देवताविशेषो वा; एष्वेव प्रसिद्धवन्निर्देशोपपत्तेरेषामन्यतमः—

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—अन्तर उपपत्तेः--अक्ष्यन्तरः परमात्मा। कुतः? ५ "एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति एतं संयद्वाम इत्याचक्षते। एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति एष उ एव वामनिः। एष हि सर्वाणि वामानि नयति। एष उ एव भामनिः। एष हि सर्वेषु लोकेषु भाति" इत्येषां गुणानां परमात्मन्येवोपपत्तेः ॥ १३ ॥

स्थानादिव्यपदेशाच्च । १ । २ । १४ ॥

चक्षुषि स्थितिनियमनादयः परमात्मन एव ६ "यश्चक्षुषि तिष्ठन्" इत्येवमादौ व्यपदिश्यन्ते। अतश्च ७ "य एषोऽक्षिणि

१. इदं समामनन्ति पा ॥
२. छा. ४-१५-१ ॥
३. बृ. ७-५-१ ॥
४. श्रुतिप्रसिद्ध पा ॥
५. छा. ४-१५-३ ॥
६. बृ. ५-७-१८ ॥
७. छा. ४-१५-१ ॥

पुरुषः' इति स एव प्रतीयते। अतः प्रासङ्गिकनिर्देशश्च परमात्म-न्युपपद्यते। तत एव 'दृश्यते' इति साक्षात्कारव्यपदेशोऽपि-योगिभिर्दृश्यमानत्वादुपपद्यते ॥ १४ ॥

सुखविशिष्टाभिधानादेव च । १ । २ १५ ॥

इतश्चाक्ष्याधारः पुरुषोत्तमः –१ "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति प्रकृतस्य सुखविशिष्टस्य ब्रह्मणः उपासनस्थानविधानार्थं संयद्वाम-त्वादिगुणविधानार्थं च ३ "य एषोऽक्षिणि पुरुषः" इत्यभिधानात्। एवकारो नैरपेक्ष्यं हेतोर्द्योतयति।

नन्वग्निविद्याव्यवधानात् १ "कं ब्रह्म" इति प्रकृतं ब्रह्म नेह सन्निधत्ते। तथा हि—अग्नयः १ "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति ब्रह्मविद्यामुपदिश्य २ "अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास" इत्यारभ्याग्नी-नामुपासनमुपदिदिशुः। न चाग्निविद्या ब्रह्मविद्याङ्गमिति शक्यं वक्तुम्; ब्रह्मविद्याफलानन्तर्गततद्विरोधिसर्वायुःप्राप्तिसन्तत्यविच्छे-दादिफलश्रवणात्। उच्यते—१ "प्राणो ब्रह्म" १ "एतदमृतमभय-मेतद्ब्रह्म" इत्युभयत्र ब्रह्मसंशब्दनात्। ३ "आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता" इत्यग्निवचनाच्च गत्युपदेशात्पूर्वं ब्रह्मविद्याया असमाप्तेस्तन्मध्य-गताग्निविद्या ब्रह्मविद्याङ्गमिति निर्धार्यते; ४ "अथ हैनं गार्हपत्यो-ऽनुशशास" इति ब्रह्मविद्याधिकृतस्यैवाग्निविद्योपदेशाच्च। किञ्च ५ "व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मि" इति ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तनानाविध-कामोपहतिपूर्वकगर्भजन्मजरामरणादिभव ६ भयोपतप्तायोपकोसलाय ८ "एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्याऽऽत्मविद्या च" इति समुच्चित्योपदेशा-न्मोक्षैकफलात्मविद्याङ्गत्वमग्निविद्यायाः प्रतीयते। एवं चाङ्गत्वे-

१. छा. ४-१०-५ ॥ २. छा. ४-११-१ ॥
३. छा. ४-१४-१ ॥ ४. छा. ४-११-१ ॥
५. छा. ४-१०-३ ॥ ६. भयाभि. पा ॥
७. छा. ४-१४-१ ॥ ८. छा. ४-१३-२ ॥

ऽवगते सति फलानुकीर्तनमर्थवाद इति गम्यते । नचात्र मोक्षविरोधिफलं किञ्चिच्छ्रूयते, १"अपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते उप वयन्तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च" लोकेऽमुष्मिंश्च इत्यमीषां फलानां मोक्षाधिकृतस्यानुगुणत्वात्। अपहते पापकृत्याम् - ब्रह्मप्राप्तिविरोधि पाप कर्मापहन्ति। लोकी भवति— तद्विरोधिनि पापे निरस्ते ब्रह्मलोकं प्राप्नोति । सर्वमायुरेति-ब्रह्मोपासनसमाप्तेर्यावदायुरपेक्षितम् , तत्सर्वमेति। ज्योग्जीवति—व्याध्यादिभिरनुपहतो यावद्ब्रह्मप्राप्ति जीवति। नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते— अस्य शिष्यप्रशिष्यादयः पुत्रपौत्रादयोऽपि ब्रह्मविद एव भवन्ति। २"नास्याब्रह्मवित्कुले भवति" इति च श्रुत्यन्तरे ब्रह्मविद्याफलत्वेन श्रूयते। उप वयन्तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च—वयम् अग्नयस्तमेनमुपभुञ्जामः-यावद्ब्रह्मप्राप्ति विघ्नेभ्यः परिपालयाम इति। अतोऽग्निविद्याया ब्रह्मविद्याङ्गत्वेन तत्सन्निधानाविरोधात्सुखाद्यविशिष्टं प्राकृतमेव ३ब्रह्मोपासनस्थानविधानार्थं गुणविधानार्थं चोच्यते । ननु ४"आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता" इति गतिमात्रपरिशेषणादाचार्येण गतिरेवोपदेश्येति गम्यते; तत्कथं स्थानगुणविध्यर्थतोच्यते तदभिधीयते ४"आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता" इत्यस्यायमभिप्रायः—ब्रह्मविद्यामनुपदिश्य प्रोषुषि गुरौ तदलाभादनाश्वासमुपकोसलमुज्जीवयितुं स्वपरिचरणप्रीता गार्हपत्यादयो गुरोरग्नयस्तस्मै ब्रह्मस्वरूपमात्रं तदङ्गभूतां चाग्निविद्यामुपदिश्य ५"आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्" इति श्रुत्यर्थमालोच्य साधुतमत्वप्राप्त्यर्थमाचार्य एवास्य संयद्वामत्वादिगुणकं ब्रह्म तदुपासनस्थानमर्चिरादिकां च गतिमुपदिशत्विति मत्वा ६"आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता" इत्यवोचन्। गतिग्रहणमुपदेश्यविद्याशेषप्रदर्शनार्थम्। अत एवाचार्योऽपि ७"अहं तु ते तद्वक्ष्यामि

१ छा० ४ । १३ । २ ॥
२ मु० ३ । २ । ९ ॥
३ प्रथम इहोपासनस्थान पा ॥
४ छा० ४ । ९ । ६ ॥
५ छा० ४ । ९ । ३ ॥
६ छा० ४ । १४ । १ ॥
७ छा० ४ । १४ । ३ ॥

यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" इत्युपक्रम्य संयद्वामत्वादिकल्याणगुणविशिष्टं ब्रह्माक्षिस्थानोपास्यमर्चिरादिकां च गतिमुपदिदेश। अतः १"कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति सुखविशिष्टस्य प्रकृतस्यैव ब्रह्मणोऽत्राभिधानादयमक्ष्याधारः परमात्मा ॥ १५ ॥

ननु च १"कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति परं ब्रह्माभिहितमिति कथमवगम्यते, यस्येहाक्ष्याधारतयाऽभिधानं ब्रूषे; यावता १"कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इति प्रसिद्धाकाशलौकिकसुखयोरेव ब्रह्मदृष्टिर्विधीयत इति प्रतिभाति, २"नाम ब्रह्म" ३"मनो ब्रह्म" इत्यादिवचनसारूप्यात्। तत्राह—

अत एव च स ब्रह्म । १ । २ । १६ ॥

यतस्तत्र ४"यदेव कं तदेव खम्" इति सुखविशिष्टस्याऽकाशस्याभिधानम्, अत एव खशब्दाभिधेयस्सः आकाशः परं ब्रह्म। एतदुक्तं भवति—अग्निभिः ५"प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इत्युक्ते उपकोसल उवाच ५"विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामि" इति ॥

अस्यायमभिप्रायः—न तावत्प्राणादिप्रतीकोपासनमग्निभिरभिहितम्, जन्मजरामरणादिभवभयभीतस्य मुमुक्षोर्ब्रह्मोपदेशाय प्रवृत्तत्वात्। अतो ब्रह्मैवोपास्यमुपदिष्टम्। तत्र प्रसिद्धैः प्राणादिभिस्समानाधिकरण्यं ब्रह्म निर्दिष्टम्; तेषु च प्राणविशिष्टत्वं जगद्विधरणयोगेन वा प्राणशरीरतया प्राणस्य नियन्तृत्वेन वा ब्रह्मण उपपद्यत इति ६"विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म" इत्युक्तवान्। तथा सुखाकाशयोरपि ब्रह्मणः शरीरतया तन्नियाम्यत्वेन विशेषणत्वम्; उतान्योन्यव्यवच्छेदकतया निरतिशयानन्दरूपब्रह्मस्वरूपसमर्पणपरत्वेन वा; तत्र पृथग्भूतयोश्शरीरतया विशेषणत्वे वैषयिकसुखभूताकाशयोर्नियाम-

१ छा० ४ । १० । ५ ॥ २ छा० ७ । १ । ५ ॥
३ छा० ७ । ३ । २ ॥ ४.५ छा० ४ । १० । ५ ॥
६ छा० ४ । १० । ५ ॥

कत्वं ब्रह्मणस्स्यादिति स्वरूपावगतिर्न स्यात् . अन्योन्यव्यवच्छेदक त्वेऽपरिच्छिन्नानन्दैकस्वरूपत्वं ब्रह्मणस्स्यादित्यन्यतरप्रकारनिर्दिधार-यिषया १"कं च तु खं च न विजानामि" इत्युक्तवान । उपकोसल-स्येममाशयं जानन्तोऽग्नयः १"यद्वा व कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्" इत्यूचिरे । ब्रह्मणस्सुखरूपत्वमेवापरिच्छिन्नमित्यर्थः । अतः प्राणशरीरतया प्राणविशिष्टं यद्ब्रह्म, तदेवापरिच्छिन्नसुखरूपं चेति निगमितम् -१"प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः" इति । अतः १"कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इत्यत्रापरिच्छिन्नसुखं ब्रह्म प्रतिपादितमिति परं ब्रह्मैव तत्र प्रकृतम्, तदेव चात्राक्ष्याधारतयाऽभिधीयत इत्यक्ष्याधारः परमात्मा ॥ १६ ॥

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च । १ । २ । १७ ॥

श्रुतोपनिषत्कस्य --अधिगतपरमपुरुषयाथात्म्यस्यानुसन्धेय-तया श्रुत्यन्तरप्रतिपाद्यमाना अर्चिरादिका गतिर्या, तामपुनरावृत्ति-लक्षणपरमपुरुषप्राप्तिकरीमुपकोसलायाक्षिपुरुषं श्रुतवते २"तेऽर्चिषमे-वाभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षम्" इत्यारभ्य ३"चन्द्र-मसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवस्स एतान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्म-पथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते" इत्यग्निरुपदि-शति । अतोऽप्ययमक्षिपुरुषः परमात्मा ॥ १७ ॥

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः । १ । २ । १८ ॥

प्रतिबिम्बादीनामक्षिणि नियमेनानवस्थानादमृतत्वादीनां च निरुपाधिकानां तेष्वसम्भवाच्च परमात्मन इतरः छायादिः अक्षिपुरुषो भवितुमर्हति । प्रतिबिम्बस्य तावत्पुरुषान्तरसन्निधानायत्तत्वान्न नियमेनावस्थानसम्भवः । जीवस्यापि सर्वेन्द्रियव्यापारानुगुणत्वाय सर्वेन्द्रियकन्दभूते स्थानविशेषे वृत्तिरिति चक्षुषि नावस्थानम् । देवता-

१ छा० ४ । १०। ५ ॥ २ छा० ४ । १५ । ५ ॥
३ छा० ४ । १५ । ५ ॥ ४ बृ० ७ । ५ । १० ॥

याश्च १"रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः" इति रश्मिद्वारेणावस्थानव-चनाद्देशान्तरावस्थितस्यापीन्द्रियाधिष्ठानोपपत्तेर्न चक्षुर्व्यवस्थानम्। सर्वेषामेवैषां निरुपाधिकामृतत्वादयो न सम्भवन्त्येव। तस्मादक्षि-पुरुषः परमात्मा ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अन्तराधिकरणम् ॥ ३ ॥

(*श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अन्तर्याम्यधिकरणम् ॥ ४ ॥*)

२ "स्थानादिव्यपदेशाच्च" इत्यत्र ३ "यश्चक्षुषि तिष्ठन्" इत्यादिना प्रतिपाद्यमानं चक्षुषि स्थितिनियमनादिकं परमात्मन एवेति सिद्धं कृत्वाऽक्षिपुरुषस्य परमात्मत्वं साधितम्। इदानीं तदेव समर्थ्यते--

अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यप-देशात्। १। २। १९ ॥

काण्वा माध्यन्दिनाश्च वाजसनेयिनस्समामनन्ति ४ "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति। एवमप्स्वग्न्यन्तरिक्षवाय्वादित्यदिक्चन्द्रतारकाकाशतमस्तेजस्सु दे-वेषु च सर्वेषु भूतेषु प्राणवाक्चक्षुश्श्रोत्रमनस्त्वग्विज्ञानरेतस्स्वात्मा-त्मीयेषु च तिष्ठन्तं तत्तदन्तरभूतं तत्तदवेद्यं तत्तच्छरीरकं तत्तद्यम-

---

१ छ० ४। १५। ५ ॥　　२ शारी. १-२-१४ ॥
३ बृ. ५-७-१८ ॥　　४ बृ. ५-७-३ ॥

यन्तं कञ्चिन्निर्दिश्य १ "एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इत्युपदिश्यते । माध्यन्दिनपाठे तु १ 'यस्सर्वेषु लोकेषु तिष्ठन्" १ "यस्सर्वेषु वेदेषु" १ "यस्सर्वेषु यज्ञेषु" इति च पर्यायाः। १ "यो विज्ञाने तिष्ठन्" इत्यस्य पर्यायस्य स्थाने १ "य आत्मनि तिष्ठन् इति पर्यायः। २ "स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति च विशेषः। तत्र संशय्यते —किमयमन्तर्यामी प्रत्यगात्मा, उत परमात्मा—इति । किं युक्तम् ? प्रत्यगात्मेति । कुतः ? वाक्यशेषे ३ "द्रष्टा श्रोता" इति करणायत्तज्ञानताश्रुतेः। एवं द्रष्टुरेवान्तर्यामित्वोपदेशात्, ३ "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इति द्रष्ट्रन्तरनिषेधाच्चेति ।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्—अधिदैवाधिलोकादिपदचिह्नितेषु वाक्येषु श्रूयमाणोऽन्तर्याम्यपहतपाप्मा परमात्मा नारायणः । काण्वपाठसिद्धेभ्योऽधिदैवादिमन्त्रयो वाक्येभ्योऽधिकान्यधिलोकादिमन्ति वाक्यानि माध्यन्दिनपाठे सन्तीति ज्ञापनार्थमधिदैवाधिलोकादिष्वित्युभयोरूपादानम् । तदेवमुभयेष्वपि वाक्येष्वन्तर्यामी परमात्मेत्यर्थः । कुतः ? तद्धर्मव्यपदेशात् ; परमात्मधर्मो ह्ययम्, यदेक एव सन् सर्वलोकसर्वभूतसर्वदेवादीन्नियमयतीति । तथा उद्दालकप्रश्नः — ४ "य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो—यमयति" इत्युपक्रम्य ३ "तमन्तर्यामिणं ब्रूहि" इति, तस्य चोत्तरम् ५ "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यारभ्योक्तम्। तदेतत्सर्वाल्लोकान् सर्वाणि च भूतानि सर्वान् देवान् सर्वान्वेदान् सर्वांश्च यज्ञानन्तः प्रविश्य सर्वप्रकारनियमनम्, सर्वशरीरतया सर्वस्यात्मत्वं च सर्वज्ञात्सत्यसङ्कल्पात्पुरुषोत्तमादन्यस्य न सम्भवति । तथाहि ६ "अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा" ७ "तत्सृष्ट्वा । तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्" इत्यादीन्यौपनिषदानि वाक्यानि

१. बृ ५-७ ॥

२. बृ. ५-७-२३. एषत इति स्थाने सत इति माध्यन्दिनपाठः ॥

३. बृ. ५ ७-२३ ॥

४. बृ. ५-७-१ ॥ ५. बृ. ५-७-३ ॥

६. तै. आरण्य. ३-११, अनु. २०॥ ७. तै. आन. ६ ॥

परमात्मन एव सर्वस्य प्रशासितृत्वं सर्वस्याऽऽत्मत्वमित्यादीनि वदन्ति। तथा सुबालोपनिषदि १ "नैवेह किञ्चनाग्र आसीदमूलमनाधारमिमाः प्रजाः प्रजायन्ते दिव्यो देव एको नारायणः। चक्षुश्च द्रष्टव्यं च नारायणः। श्रोत्रं च श्रोतव्यं च नारायणः" इत्यारभ्य १ "अन्तश्शरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यः यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यं पृथिवी न वेद यस्यापश्शरीरम्" इत्यादि, १ "यस्य मृत्युश्शरीरं यो मृत्युमन्तरे सञ्चरन्यं मृत्युर्न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इति परस्यैव ब्रह्मणस्सर्वात्मत्वं सर्वशरीरत्वं सर्वस्य नियन्तृत्वं च प्रतिपाद्यते। स्वाभाविकं चामृतत्वं परमात्मन एव धर्मः। न च परस्यात्मनः करणायत्तं द्रष्टृत्वादिकम्; अपितु स्वभावत एव सर्वज्ञत्वात्सत्यसङ्कल्पत्वाच्च स्वत एव। यथाच श्रुतिः २ "पश्यत्यचक्षुस्स शृणोत्यकर्णः अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" इति। न च दर्शनश्रवणादिशब्दाश्चक्षुरादिकरणजन्मनो ज्ञानस्य वाचकाः; अपितु रूपादिसाक्षात्कारस्य। सच रूपादिसाक्षात्कारः कर्मतिरोहितस्वाभाविकज्ञानस्य जीवस्य चक्षुरादिकरणजन्मा; परस्यतु स्वतएव। ३ "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इत्येतदपि पूर्ववाक्योदितान्नियन्तुर्द्रष्टुरन्यो द्रष्टा नास्तीति वदति। "यं पृथिवी न वेद" "यमात्मा न वेद" इत्येवमादिभिर्वाक्यैः पृथिव्यात्मादिनियाम्यैरनुपलभ्यमान एव नियमतीति यत्पूर्वमुक्तम्, तदेव ३ "अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतश्श्रोता" इति निगमय्य ३ "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इत्यादिना तस्य नियन्तुर्नियन्त्रन्तरं निषिध्यते। ४ "एष त आत्मा" * "स त आत्मा" इति च त इति व्यतिरेकविभक्तिनिर्दिष्टस्य जीवस्यात्मतयोपदिश्यमानोऽन्तर्यामी न प्रत्यगात्मा भवितुमर्हति ॥ १६ ॥

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापाच्छारीरश्च ।१।२।२०॥

स्मार्तं प्रधानम्। शारीरः जीवः। स्मार्तं च शारीरश्च नान्तर्या-

१ सुबाल० ७। ख॥ २ श्वे० ३। १९॥
३ बृ० ५। ७। २३॥ ४ बृ० ५। ७; *माध्यन्दिन पाठः॥

मीं, अतद्धर्माभिलापात्—तयोरसम्भावितधर्माभिलापात्। स्वभावत एव सर्वस्य द्रष्टृत्वम्, सर्वस्य नियन्तृत्वम्, सर्वस्याऽऽत्मत्वम्, स्वत एवामृतत्वं च तयोर्न सम्भावनागन्धमर्हति। एतदुक्तं भवति—यथा स्मार्तमचेतनं सर्वज्ञत्वनियन्तृत्वसर्वात्मत्वादिकं नार्हति, तथा जीवोऽपि, अतद्धर्मत्वात्-इति॥

अमीषां गुणानां परमात्मन्यन्वयः, प्रत्यगात्मनि व्यतिरेकश्च सूत्रद्वयेन दर्शितः॥ २०॥

निरपेक्षं च हेत्वन्तरमाह—

उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते । १ । २ २१ ॥

उभये—माध्यन्दिनाः काण्वाश्च, अन्तर्यामिणो नियम्यत्वेन वागादिभिरचेतनैस्समम् एनं शारीरमपि विभज्याधीयते—१ "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽऽत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति माध्यन्दिनाः, २"यो विज्ञाने तिष्ठन्" इत्यादि च काण्वाः, परमात्मनियाम्यतया तस्माद्विलक्षणत्वेनैनमधीयत इत्यर्थः। अतोऽन्तर्यामी प्रत्यगात्मनो विलक्षणोऽपहतपाप्मा परमात्मा नारायण इति सिद्धम्॥ २१॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अन्तर्याम्यधिकरणम्॥ ४॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम्॥)

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः । १ । २ । २२॥

आथर्वणिका अधीयते-३"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुश्श्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं

---

१. बृ. ५-७-२२ ॥ २. बृ. ५-७-२२. माध्यन्दिनपाठः॥
३. मुण्ड. १-१-५, ६॥

सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" इति; तथोत्तरत्र १ "अक्षरात्परतः परः" इति। तत्र सन्दिह्यते-किमिहादृश्यत्वादिगुणकमक्षरमक्षरात्परतः परश्च प्रकृतिपुरुषौ; अथोभयत्र परमात्मैव-इति। किं प्राप्तम् ? प्रकृतिपुरुषाविति । कुतः ? अस्याक्षरस्य २ "अदृष्टो द्रष्टा" इत्यादाविव न द्रष्टृत्वादिश्चेतनधर्मविशेष इह श्रूयते, २ "अक्षरात्परतः परः" इति च सर्वस्माद्विकारात्परभूतादक्षरादस्मात्परः चेतनः समष्टिपुरुषः प्रतिपाद्यते। एतदुक्तं भवति-रूपादिमत्स्थूलरूपाचेतनपृथिव्यादिभूताश्रयं दृश्यत्वादिकं प्रतिषिध्यमानं पृथिव्यादिसजातीयसूक्ष्मरूपाचेतनमेवोपस्थापयति, तच्च प्रधानमेव। तस्मात्परत्वं च समष्टिपुरुषस्यैव प्रसिद्धम्। तदधिष्ठितं च प्रधानं महदादिविशेषपर्यन्तं विकारजातं प्रसूत इति तत्र दृष्टान्ता उपन्यस्यन्ते ३ "यथोर्णनाभिस्सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयस्सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्' इति। अतोऽस्मिन् प्रकरणे प्रधानपुरुषावेव प्रतिपाद्येते-इति ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः-अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः-अदृश्यत्वादिगुणकोऽक्षरात्परतः परश्च परमपुरुष एव; कुतः ? तद्धर्मोक्तेः ४ "यस्सर्वज्ञस्सर्ववित्" इत्यादिना सर्वज्ञत्वादिकास्तस्यैव धर्मा उच्यन्ते; तथा हि ५ "यया तदक्षरमधिगम्यते" इत्यादिना अदृश्यत्वादिगुणकमक्षरमभिधाय २ "अक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्" इति तस्माद्विश्वसम्भवं चाभिधाय ५ "यस्सर्वज्ञस्सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते" इति भूतयोनेरक्षरस्य सर्वज्ञत्वादिः प्रतिपाद्यते। पश्चात् २ "अक्षरात्परतः परः" इति च प्रकृतमदृश्यत्वादिगुणकं भूतयोन्यक्षरं सर्वज्ञमेव परत्वेन व्यपदिश्यते। अतः २ "अक्षरात्परतः परः" इत्यक्षरशब्दः पञ्चम्यन्तः प्रकृतमदृश्यत्वादिगुणकमक्षरं नाभिधत्ते, तस्य सर्वज्ञस्य विश्वयोनेस्सर्वस्मात्परत्वेन तस्मादन्यस्य परत्वासम्भवात्। अतोऽत्राक्षरशब्दो भूतसूक्ष्ममचेतनं ब्रूते ॥ २२ ॥

१. मुण्ड. २-१-२ ॥ २. बृ ५-७-२३ ॥
३. मुण्ड. १-१-७॥ ४. मुण्ड. १-१-६॥
५. मुण्ड. १-१-५॥

इतश्च न प्रधानपुरुषौ--

विशेषणाभेदव्यपदेशाभ्याञ्च नेतरौ ।१।२।२३॥

विशिनष्टि हि प्रकरणं—प्रधानाच्च पुरुषाच्च भूतयोन्यक्षरं व्यावर्तयतीत्यर्थः; एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपादनादिभिः । तथा ताभ्यामक्षरस्य भेदश्च व्यपदिश्यते १"अक्षरात्परतः परः" इत्यादिना । तथाहि --२"स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह" इति सर्वविद्याप्रतिष्ठाभूता ब्रह्मविद्या प्रक्रान्ता; परविद्यैव च सर्वविद्याप्रतिष्ठा; तामिमां सर्वविद्याप्रतिष्ठां विद्यां चतुर्मुखाथर्वादिगुरुपरम्परयाऽङ्गिरसा प्राप्तां जिज्ञासुः ३"शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" इति ब्रह्मविद्यायास्सर्वविद्याश्रयत्वाद्ब्रह्मविज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवतीति कृत्वा ब्रह्मस्वरूपमनेन पृष्टम् ४"तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च" इति । ब्रह्मप्रेप्सुना द्वे विद्ये वेदितव्ये--ब्रह्मविषये परोक्षापरोक्षरूपे द्वे विज्ञाने उपादेये इत्यर्थः तत्र परोक्षं शास्त्रजन्यं ज्ञानम् , अपरोक्षं योगजन्यम् , तयोर्ब्रह्मप्राप्त्युपायभूतमपरोक्षं ज्ञानम् ; तच्च भक्तिरूपापन्नम् ,५"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" इत्यत्रैव विशेष्यमाणत्वात् , तदुपायश्चागमजन्यं विवेकादिसाधनसप्तकानुगृहीतं ज्ञानम् , ६"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति श्रुतेः । आह च भगवान्पराशरः ७"तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने । आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तथोच्यते" इति । ८"तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः" इत्यादिना ८"धर्मशास्त्राणि" इत्यन्तेन आगमोत्थं ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुभूतं परोक्षज्ञानमुक्तम् । साङ्गस्य सेतिहासपुराणस्य सधर्मशास्त्रस्य समी-

१. मुण्ड. २-१-२॥
२. मुण्ड. १-१-१॥
३. मुण्ड. १-१-३॥
४. मुण्ड. १-१-४॥
५. मुण्ड. ३-२-३॥
६. बृ० ६।४।२२॥
७. वि० पु० ६।५।६०
८. मुण्ड० १।१।५॥

मांसस्य वेदस्य ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वात् १ "अथ परा यया तदक्षर-मधिगम्यते" इत्युपासनाख्यं ब्रह्मसाक्षात्काररलक्षणं भक्तिरूपापन्नं ज्ञानम् "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्" इत्यादिना परोक्षापरोक्षरूपज्ञानद्वय-विषयस्य परस्य ब्रह्मणस्स्वरूपमुच्यते २ "यथोर्णनाभिस्सृजते गृह्णते च" इत्यादिना । अथोक्तस्वरूपात्परस्माद्ब्रह्मणोऽक्षरात्कृत्स्नस्य चेतना-चेतनात्मकप्रपञ्चस्योत्पत्तिरुक्ता; विश्वमिति वचनाच्चाचेतनमात्रस्य; ३"तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते । अन्नात्प्राणो मनस्सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्' इति ब्रह्मणो विश्वोत्पत्तिप्रकार उच्यते; तपसा–ज्ञानेन, ४ 'यस्य ज्ञानमयं तपः" इति वक्ष्यमाणत्वात्; चीयते-उपचीयते; ५"बहु स्याम्" इति सङ्कल्परूपेण ज्ञानेन ब्रह्म सृष्ट्यु-न्मुखं भवतीत्यर्थः । ततोऽन्नमभिजायते-अद्यत इत्यन्नम्, विश्वस्य भोक्तृवर्गस्य भोग्यभूतं भूतसूक्ष्ममव्याकृतं परस्माद्ब्रह्मणो जायत इत्यर्थः; प्राणमनः प्रभृति च स्वर्गापवर्गरूपफलसाधनभूतकर्मपर्यन्तं सर्वं विकारजातं तस्मादेव जायते । ४"यस्सर्वज्ञस्सर्ववित्" इत्यादिना सृष्ट्युपकरणभूतं सार्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पत्वादिकमुक्तम् । सर्वज्ञात्सङ्कल्पा-त्परस्माद्ब्रह्मणोऽक्षरादेतत् कार्याकारं ब्रह्म नामरूपविभक्तं भोक्तृभोग्य-रूपं च जायते। ६"तदेतत्सत्यम्" इति परस्य ब्रह्मणो निरुपाधिक-सत्यत्वमुच्यते । ६"मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि । तान्याचरत नियतं सत्यकामाः" इति सार्वज्ञ्य-सत्यसङ्कल्पत्वादिकल्याणगुणाकरमक्षरं पुरुषं स्वतस्सत्यं कामयमा-नास्तत्प्राप्तये फलान्तरेभ्यो विरक्त ऋग्यजुस्सामाथर्वसु कविभिर्दृष्टानि वर्णाश्रमोचितानि त्रेताग्निषु बहुधा सन्ततानि कर्माण्याचरतेति ६'एष वः पन्था' इत्यारभ्य ७'एष वः पुण्यस्सुकृतो ब्रह्मलोकः' इत्यन्तेन कर्मानुष्ठानप्रकारं, श्रुतिस्मृतिचोदितेषु कर्मस्वेकनरकर्मवैधुर्येऽपीतरे-

१. मुण्ड. १-१-५ ॥　　२. मुण्ड. १-१-७ ॥
३. मुण्ड. १-१-८ ॥　　४. मुण्ड. १-१-९ ॥
५. छा. ६-२-३, तै. आन. ६॥　　६. मुण्ड. १ २-१.
७. मुण्ड. १ २-१ ॥

षा मनुष्ठितानामपि निष्फलत्वम्, अयथानुष्ठितस्य चाननुष्ठितसमत्वम् अभिधाय १"प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्यू ते पुनरेवापि यन्ति", इत्यादिना फलाभिसन्धिपूर्वकत्वेन ज्ञानविधुरतया चावरं कर्माचरतां पुनरावृत्तिमुक्त्वा २"तपश्श्रद्धे ये ह्युपवसन्ति" इत्यादिना पुनरपि फलाभिसन्धिरहितं ज्ञानिनानुष्ठितं कर्म ब्रह्म प्राप्तये भवतीति प्रशस्य ३"परीक्ष्य लोकान्" इत्यादिना केवलकर्मफलेषु विरक्तस्य यथोदितकर्मानुगृहीतं ब्रह्मप्राप्त्युपायभूतं ज्ञानं जिज्ञासमानस्य च आचार्योपसदनं विधाय ४"तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्" इत्यादिना ५"सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य" इत्यन्तेन पूर्वोक्तस्याक्षरस्य भूतयोनेः परस्य ब्रह्मणः परमपुरुषस्यानुक्तैस्स्वरूपगुणैस्सह सर्वभूतान्तरात्मतया विश्वशरीरत्वेन विश्वरूपत्वम्, तस्माद्विश्वसृष्टिं च विस्पष्टमभिधाय ६"आविस्सन्निहितम्" इत्यादिना तस्यैवाक्षरस्याव्याकृतात्परतोऽपि पुरुषात्परभूतस्य परस्य ब्रह्मणः परमव्योम्नि प्रतिष्ठितस्यानवधिकातिशयानन्दस्वरूपस्य हृदयगुहायामुपासनप्रकारम् उपासनस्य च परभक्तिरूपत्वमुपासीनस्याविद्याविमोकपूर्वकं ब्रह्मासमं ब्रह्मानुभवफलं चोपदिश्योपसंहृतम् । अत एवं विशेषणाद्भेदव्यपदेशाच्च नास्मिन्प्रकरणे प्रधानपुरुषौ प्रतिपाद्येते ॥

भेदव्यपदेशोऽपि हि ताभ्यां परस्य ब्रह्मणोऽत्र विद्यते । ७"दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषस्सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाश्शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः" इत्यादिभिः अक्षराद्व्याकृतात्परो यस्समष्टिपुरुषः तस्मादपि परभूतोऽदृश्यत्वादिगुणकोऽक्षरशब्दाभिहितः परमात्मेत्यर्थः । अश्नुत इति वा, न क्षरतीति वाऽक्षरम् । तदव्याकृतेऽपि स्वविकारव्याप्तया वा महदादिवन्नामान्तराभिलापयोग्यक्षरणाभावाद्वाऽक्षरत्वं कथञ्चिदुपपद्यते ॥ २३ ॥

१. मुण्ड. १-२-७ ॥
२. मुण्ड. १-२-११ ॥
३. मुण्ड. १-२-१२ ॥
४. मुण्ड. २-१-१ ॥
५. मुण्ड. २-१-१० ॥
६. मुण्ड. २-२-१ ॥
७. मु २-१-२.

रूपोपन्यासाच्च । १ । २ । २४ ।

१"अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशश्श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा" इतीदृशं रूपं सर्वभूतान्तरात्मनः परमात्मन एव सम्भवति; अनश्च परमात्मा ॥ २४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम् ॥ ५ ॥

—*(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वैश्वानराधिकरणम् ॥६॥)*—

वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात् । १ । २ । २५ ॥

इदमामनन्ति च्छन्दोगाः २"आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहि" इति प्रक्रम्य ३"यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" इति । तत्र सन्देहः—किमयं वैश्वानर आत्मा, परमात्मेति शक्यनिर्णयः, उत न-इति । किं प्राप्तम् ? अशक्यनिर्णय इति । कुतः ? वैश्वानरशब्दस्य चतुर्ष्वर्थेषु प्रयोगदर्शनात्—जाठराग्नौ तावत् ४"अयमग्निर्वैश्वानरो येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यावेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषं शृणोति" इति; महाभूततृतीये च ५"विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्" इति देवतायां च ६"वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनामभिश्रीः" इति; परमात्मनि च ७"तदात्मन्येव हृदयेऽग्नौ वैश्वानरे प्रास्यत्" इति, ८"स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते" इति च । वाक्योपक्रमादिषूपलभ्यमानान्यपि लिङ्गानि सर्वानुगुणतया नेतुं शक्यानीति ॥

---

१. मु. २-१-४ ॥ २. छा. ५-११-६ ॥
३. छा. ५-१८-१ ॥ ४. बृ. ७-६-१ ॥
५. ६. यजु. का. १-५-११ ॥ ऋ।।।-सं- २६।७।
७. अष्टक १. प्रश्न-११ अनु-८ ॥ ८. प्रश्नो १-७ ॥

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात्—वैश्वानरः पर एवात्मा, कुतः? साधारणशब्दविशेषात् विशेष्यत इति विशेषः—साधारणस्य वैश्वानरशब्दस्य परमात्मासाधारणैर्धर्मैर्विशेष्यमाणत्वादित्यर्थः। तथाहि—औपमन्यवादयः पञ्चेमे महर्षयस्समेत्य [1]"को न आत्मा किं ब्रह्म" इति विचार्य "[2]उद्दालको ह वै भगवन्तोऽयमारुणिस्सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं हन्ताभ्यागच्छाम" इत्युद्दालकस्य वैश्वानरात्मविज्ञानमवगम्य तमभ्याजग्मुः। स चोद्दालक एतान्वैश्वानरात्मजिज्ञासूनभिलक्ष्यात्मनश्च तत्राकृत्स्नवेदित्वं मत्वा [3]"तान् होवाच अश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकयस्सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं हन्ताभ्यागच्छाम" इति। ते चोद्दालकषष्ठास्तमश्वपतिमभ्याजग्मुः। स च तान्महर्षीन्यथार्हं पृथगभ्यर्च्य [4]"न मे स्तेनः" इत्यादिना [4]"यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि" इत्यन्तेनाऽऽत्मनो व्रतस्थतया प्रतिग्रहयोग्यतां ज्ञापयन्नेव ब्रह्मविद्भिरपि प्रतिषिद्धपरिहरणीयतां विहितकर्मकर्तव्यतां च प्रज्ञाप्य [5]"यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्तः" इत्यवोचत्। ते च मुमुक्षवो वैश्वानरमात्मानं जिज्ञासमानास्तमेवात्मानमस्माकं ब्रूहीत्यवोचन्। तदेवं [3]"को न आत्मा किं ब्रह्म" इति जीवात्मनामात्मभूतं ब्रह्म जिज्ञासमानैस्तज्ज्ञमन्विच्छद्भिर्वैश्वानरात्मज्ञसकाशमागम्य पृच्छ्यमानो वैश्वानरात्मा परमात्मेति विज्ञायते, आत्मब्रह्मशब्दाभ्यामुपक्रम्य पश्चात्सर्वत्रात्मवैश्वानरशब्दाभ्यां व्यवहाराच्च ब्रह्मशब्दस्थाने निर्दिश्यमानो वैश्वानरशब्दो ब्रह्मैवाभिधत्त इति विज्ञायते; किञ्च [5]"स सर्वेषु लोकेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति" [6]"तद्यथेषीकतूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" इति च वक्ष्यमाणं वैश्वानरात्मविज्ञानफलं वैश्वानरात्मनं परं ब्रह्मेति ज्ञापयति ॥ २५ ॥

1 छा० ५ । ११ । १ ॥ 2 छा० ५ । ११ । २ ॥
3 छा० ५ । ११ । ४ ॥ 4 छा० ५ । ११ । ५ ॥
5 छा० ५ । १८ । १ ॥ 6 छा० ५ । २४ । ३ ॥

इतश्च वैश्वानरः परमात्मा—

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ।१।२।२६॥

द्यु प्रभृति पृथिव्यन्तमवयवविभागेन वैश्वानरस्य रूपमिहोपदिश्यते। तच्च श्रुतिस्मृतिषु परमपुरुषरूपतया प्रसिद्धम्। तदिह तदेवेदमिति स्मर्यमाणं—प्रत्यभिज्ञायमानं वैश्वानरस्य परमपुरुषत्वे अनुमानं—लिङ्गमित्यर्थः; इतिशब्दः प्रकारवचनः; इत्थंभूतं रूपं प्रत्यभिज्ञायमानं वैश्वानरस्य परमात्मत्वेऽनुमानं स्यात्। श्रुतिस्मृतिषु हि परमपुरुषस्येत्थं रूपं प्रसिद्धम्। यथा आथर्वणे १ "अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशश्श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा" इति। अग्निरिह द्युलोकः, २ "असौ वै लोकोऽग्निः" इति श्रुतेः। स्मरन्ति च मुनयः ३ "द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे। दिशश्श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता" इति, ४ "यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशश्श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः" इति च। इह च द्युप्रभृतयो वैश्वानरस्य मूर्धाद्यवयवत्वेनोच्यन्ते; तथा हि—तैरौपमन्यवप्रभृतिभिर्महर्षिभिः ५ "आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहि" इति पृष्टः केकयस्तेभ्यो वैश्वानरात्मानमुपदिदिक्षु-र्विशेषप्रश्नान्यथानुपपत्त्या वैश्वानरात्मन्येतैः किञ्चित् ज्ञातं किञ्चिदज्ञातमिति विज्ञाय ज्ञाताज्ञातांशबुभुत्सया तानेकैकं पप्रच्छ। तत्र "औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्से" इति पृष्टे ६ "दिवमेव भगवो राजन्" इति तेन चोक्ते दिवि तस्य पूर्णवैश्वानरात्मबुद्धिं निवर्तयन्वैश्वानरस्य द्यौर्मूर्धेति चोपदिशंस्तस्या वैश्वानरांशभूताया दिवः सुतेजा इति गुणनामधेयं प्राचिख्यपत्। एवं सत्ययज्ञादिभिरादित्यवाय्वाकाशाप्पृथिवीनामेकैकेनैकैकमुपास्यमानतया कथितानां 'विश्व-

१ मु० २ १-४ २ तृ० ८-२-६ ३.
४ भारते-शान्तिपर्व-राजधर्म ४७-७७ ५ छा० ५-११-६
६ छा० ५-१२-१

रूपः, पृथग्वर्त्मा, बहुलो, रयिः, प्रतिष्ठा, इत्येकैकगुणनामधेयानि वैश्वानरात्मनश्चक्षुःप्राणसन्देहवस्तिपादावयवत्वं चोपदिष्टम्। सन्देहो मध्यकाय उच्यते। अत एवम्भूतद्युमूर्धत्वादिविशिष्टं परमपुरुषस्यैव रूपमिति वैश्वानरः परमपुरुष एव ॥ २६ ॥

पुनरप्यानिर्णयमेवाशंक्य परिहरति—

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेतिचेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते १।२।२७॥

यदुक्तं वैश्वानरः परमात्मेति निश्चीयत इति, तन्न, शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च जाठरस्याप्यग्नेरिह प्रतीयमानत्वात्। शब्दस्तावद्वाजिनां वैश्वानरविद्याप्रकरणे १ "स एषोऽग्निर्वैश्वानरः" इति वैश्वानरसमानाधिकरणतयाऽग्निरिति श्रूयते; अस्मिन्प्रकरणे च २ "हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः" इति वैश्वानरस्य हृदयादिस्थस्याग्नित्रयकल्पनं क्रियते। ३ "तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहा" इत्यादिना प्राणाहुत्याधारत्वं च वैश्वानरस्यावगम्यते। तथा वैश्वानरस्यास्मिन्पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठानं वाजसनेयिनस्समामनन्ति ४ "स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद" इति। अतोऽग्निशब्दसामानाधिकरण्यादग्नित्रेतापरिकल्पनात्प्राणाहुत्याधारभावादन्तःप्रतिष्ठानाच्च वैश्वानरस्य जाठरत्वमपि प्रतीयत इति नैकान्ततः परमात्मत्वमिति चेत्—

तन्न, तथा दृष्ट्युपदेशात्—पूर्वोक्तस्य त्रैलोक्यशरीरस्य परस्य ब्रह्मणो वैश्वानरस्य जाठराग्निशरीरतया तद्विशिष्टस्योपासनोपदेशात्। अग्निशब्दादिभिर्हि न केवलो जाठरः प्रतिपाद्यते; अपितु जाठराग्निविशिष्टः परमात्मा। कथमिदमवगम्यत इति चेत्—असम्भवात्—जाठ-

१ प्रश्न १-७, अर्थनिर्देशोऽयम् ॥ २ छा ५-१८-२
३ छा० ५-१९-१ ४

रस्य केवलस्य त्रैलोक्यशरीरत्वासम्भवात्। त्रैलोक्यशरीरतया प्रतिपन्नवैश्वानरसमानाधिकरणो जाठरविषयतया प्रतीयमानोऽग्निशब्दो जाठरशरीरतया तद्विशिष्टं परमात्मानमेवाभिदधातीत्यर्थः। यथोक्तं भगवता १ "अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्" इति जाठरानलशरीरो भूत्वेत्यर्थः। अतस्तद्विशिष्टस्योपासनमत्रोपदिश्यते। किञ्च पुरुषमपि चैनमधीयते वाजसनेयिनः २ "स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः" इति; नहि जाठरस्य केवलस्य पुरुषत्वम्, परमात्मन एव हि निरुपाधिकं पुरुषत्वम्, यथा ३ "सहस्रशीर्षा पुरुषः" ३ "पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यादौ॥२७॥

अत एव न देवता भूतञ्च ।१।२।२८॥

उक्तेभ्य एव हेतुभ्यो देवतायाश्च तृतीयस्य महाभूतस्यापि न वैश्वानरत्वप्रसङ्गः॥ २८॥

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ।१।२।२९॥

वैश्वानरसमानाधिकरणस्याग्निशब्दस्य जाठराग्निशरीरतया तद्विशिष्टस्य परमात्मनो वाचकत्वम्, तथैव परमात्मन उपास्यत्वं चोक्तम्। जैमिनिस्त्वाचार्यो वैश्वानरशब्दवदग्निशब्दस्यापि परमात्मन एव साक्षात् अव्यवधानेन वाचकत्वे न कश्चिद्विरोध इति मन्यते॥

एतदुक्तं—भवति—यथा वैश्वानरशब्दस्साधारणोऽपि परमात्मासाधारणधर्मविशेषितो विश्वेषां नराणां नेतृत्वादिना गुणेन परमात्मानमेवाभिदधातीति निश्चीयते; एवमग्निशब्दोऽप्यग्रनयनादिना येनैव गुणेन योगाज्ज्वलने वर्तते, तस्यैव गुणस्य निरुपाधिकस्य काष्ठागतस्य परमात्मनि सम्भवादस्मिन्प्रकरणे परमात्मासाधारणधर्मविशेषितः परमात्मानमेवाभिधत्त इति॥२९॥

३ "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानम्" इत्यपरिच्छिन्नस्य परस्य ब्रह्मणो द्युप्रभृतिपृथिव्यन्तप्रदेशसम्बन्धिन्या मात्रया परिच्छिन्नत्वं कथमुपपद्यते—तत्राह—

---

१ गी० १२-१४ २. ३ पुरुषम्
३ छा० ५-१८-१

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः । १ । २ । ३० ॥

उपासकाभिव्यक्त्यर्थं प्रादेशमात्रत्वं परमात्मन इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते । द्यौर्मूर्धा आदित्यश्चक्षुः, वायुः प्राणः, आकाशो मध्यकायः, आपो वस्तिः, पृथिवी पादौ' इति द्युप्रभृतिप्रदेशसम्बन्धिन्या मात्रया परिच्छिन्नत्वम् कृत्स्नमभिव्याप्तवता विगतमानस्य ह्यभिव्यक्तेरेव हेतोर्भवति ॥ ३० ॥

मूर्धप्रभृत्यवयवविशेषैः पुरुषविधत्वं परस्य ब्रह्मणः किमर्थमिति चेत्—तत्राह—

अनुस्मृतेर्बादरिः । १ । २ । ३१ ॥

तथोपासनार्थमिति बादरिराचार्यो मन्यते । [1]"यस्त्वेतमेवमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति" इति ब्रह्मप्राप्तये ह्युपासनमुपदिश्यते एतमेवमिति—उक्तप्रकारेण पुरुषाकारमित्यर्थः । सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु वर्तमानं यदन्नं भोग्यं तदत्ति—सर्वत्र वर्तमानं स्वत एवानवधिकातिशयानन्दं ब्रह्मानुभवति । यत्तु सर्वैः कर्मवश्यैरात्मभिः प्रत्येकमनन्यसाधारणमन्नं भुज्यते, तन्मुमुक्षुभिस्त्याज्यत्वादिह न गृह्यते ॥ ३१ ॥

यदि परमात्मा वैश्वानरः, कथं तर्हि उरःप्रभृतीनां वेद्यादित्वोपदेशः, यावता जाठराग्निपरिग्रह एवैतदुपपद्यत इत्यत्राह—

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ।१।२।३२॥

अस्य परमात्मन एव वैश्वानरस्य द्युप्रभृतिपृथिव्यन्तशरीरस्य समाराधनभूतायाः उपासकैरहरहः क्रियमाणायाः प्राणाहुतेरग्निहोत्र-

---

१. छा. ५-१८-१ ॥

त्वसम्पादनायाथमुरः प्रभृतीनां चेदित्याद्युपदेश इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। तथाहि—परमात्मोपासनोचितमेव फलं प्राणाहुत्या अग्निहोत्रसम्पत्तिं च दर्शयतीयं श्रुतिः। १"स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक्तस्यात् अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषुभूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति तद्यथेषीकतूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मनः प्रदूयन्ते" इति॥

आमनन्ति चैनमस्मिन् ।१।२।३३।

एनं परमपुरुषं द्युमूर्धत्वादिविशिष्टं वैश्वानरम् अस्मिन् उपासकशरीरे प्राणाहुत्याधारत्वाय आमनन्ति च २"तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः" इत्यादिना। अयमर्थः-३"यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" इति त्रैलोक्यशरीरस्य परमात्मनो वैश्वानरस्योपासनं विधाय ३ "सर्वेषु लोकेषु" इत्यादिना ब्रह्मप्राप्तिं च फलमुपदिश्य अस्यैवोपासनस्याङ्गभूतं प्राणाग्निहोत्रं "२तस्य ह वा एतस्य" इत्यादिनोपदिशति; यः पूर्वमुपास्यतयोपदिष्टो वैश्वानरस्तस्यावयवभूतानग्न्यादित्यादीन् सुतेजोविश्वरूपादिनामधेयानुपासकशरीरे मूर्धादिपादान्तेषु सम्पादयति। मूर्धैव सुतेजाः—उपासकस्य मूर्धैव परमात्ममूर्धभूता द्यौरित्यर्थः। चक्षुर्विश्वरूपः—आदित्य इत्यर्थः। प्राणः पृथग्वर्त्मा—वायुरित्यर्थः। सन्देहो बहुलः—उपासकस्य मध्यकाय एव परमात्ममध्यकायभूत आकाश इत्यर्थः। पृथिव्येव पादौ—अस्य पादावेव तत्पादभूता पृथिवीत्यर्थः। एवमुपासकः स्वशरीरे परमात्मानं त्रैलोक्यशरीरं वैश्वानरं सन्निहितमनुसन्धाय स्वकीयान्युरोलोमहृदयमनआस्यानि प्राणाहुत्याधारस्य परमात्मनो वैश्वानरस्य वेदिबर्हिर्गार्हपत्यान्वाहार्यपचनाहवनीयानग्निहोत्रोपकरणभूतान्परिकल्प्य प्राणाहुतेश्चाग्निहो·

१ छा॰ ५।२४।१॥ २ छा॰ ५।१८।२॥
३ छा॰ ५।१८।१॥

न्नत्वं परिकल्प्यैवंविधेन प्राणाग्निहोत्रेण परमात्मानं वैश्वानरमाराधयेदिति १ "उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यः" इत्यादिनोपदिश्यते । अतः परमात्मा पुरुषोत्तम एव वैश्वानर इति सिद्धम् ॥ ३३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाश्रीभाष्ये वैश्वानराधिकरणम् ॥ ८ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये

प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

अस्याधिकरणार्थः-प्रादेशमात्रमिव देवास्सूर्यादयः अभिसम्पन्नाः प्राप्ताः उपासनया यदा, तदा ते विदिता भवन्ति । अहं केकयराजः युस्मभ्यमौपमन्यवादिभ्यः, एतान् देवान्, तथा वक्ष्यामियथा प्रादेशमात्रमेवाभिसम्पादयामीतीति, औपमन्यवप्रभृतीन् प्रतिवक्तव्यत्वेन प्रतिज्ञाय, अश्वपतीराजोवाच, किं कुर्वन्नित्युक्ते-अस्य मूर्धानमुपदिशन् कराग्रेण दर्शयन् एष वैभूरादि लोका न तीत्य तिष्ठन्तीत्यष्ठाद्यौर्वैश्वानरस्या वयव इति प्रसिद्धे मूर्द्धनि वैश्वानरस्याधिदैवं यो मूर्द्धा द्युलोकस्तत् दृष्टिः कर्तव्येत्यर्थः ॥ स्वकीयेचक्षुषी दर्शयन्नाह, एष वै सुतेजास्सहि सूर्योऽधिदैवत वैश्वानरस्य चक्षुरिति प्रसिद्धयोश्चक्षुषोर्वैश्वानरस्याधिदैवं यदादित्याख्यं चक्षुः तद्दृष्टिरित्यर्थः । इत्यादि सर्वत्र ज्ञेयमिति ॥

---

१ छा० ५ । १८ । २ ॥



॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते

श्रीशारीरकमीमांसाश्रीभाष्ये

प्रथमाध्याये-तृतीयपादे-द्युभ्वाद्यधिकरणम् ॥१॥

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्। १। ३। १

आथर्वणिका अधीयते १ "यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनस्सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथात्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः" इति। तत्र संशयः किमयं द्यु पृथिव्यादीनामायतनत्वेन श्रूयमाणो जीवः, उत परमात्मा—इति। किं युक्तम्? जीव इति। कुतः—१ "अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यस्स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः" इति परस्मिन् श्लोके पूर्ववाक्यप्रस्तुतं द्यु पृथिव्याद्यायतनं 'यत्र' इति पुनरपि सप्तम्यन्तेन परामृश्य तस्य नाड्याधारत्वमुक्त्वा, पुनरपि १ "स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः" इति तस्य बहुधा जायमानत्वं चोच्यते; नाडीसम्बन्धो देवादिरूपेण बहुधाजायमानत्वं च जीवस्यैव धर्मः। अस्मिन्नपि श्लोके १ "ओतं मनस्सह प्राणैश्च सर्वैः" इति प्राणपञ्चकस्य मनसश्चाश्रयत्वमुच्यमानं जीवधर्म एव। एवं जीवत्वे निश्चिते सति द्युपृथिव्याद्यायतनत्वादिकं यथाकथञ्चित्सङ्गमयितव्यम्—इति॥

---

१ मु० २-२-५, ६॥

सिद्धान्तः ।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्-द्युपृथिव्यादीनामायतनं परं ब्रह्म; कुतः? स्वशब्दात्-परब्रह्मासाधारणशब्दात् । १ "अमृतस्यैष सेतुः" इति परस्य ब्रह्मणोऽसाधारणशब्दः । २ "तमेवं विद्वानमृत इह भवति । नान्यः पन्था अयनाय विद्यते" इति सर्वत्रोपनिषत्सु स एवामृतत्वप्राप्तिहेतुश्श्रूयते । सिनोतेश्च बन्धनार्थत्वात् सेतुः-अमृतस्य प्रापक इत्यर्थः । सेतुरिव वा सेतुः-नद्यादिषु सेतुर्हि कूलस्य प्रतिलम्भकः-संसारार्णवपारभूतस्यामृतस्यैष प्रतिलम्भक इत्यर्थः । आत्मशब्दश्च निरुपाधिकः परस्मिन्ब्रह्मणि मुख्यवृत्तः, आप्नोतीति ह्यात्मा; स्वेतरसमस्तस्य नियन्तृत्वेन व्याप्तिस्तस्यैव सम्भवति । अतस्सोऽपि तस्यैव शब्दः । ३ "यस्सर्वज्ञस्सर्ववित्" इत्यादयश्चोपरितनाः परस्यैव ब्रह्मणश्शब्दाः । नाड्याधारत्वं तस्यापि सम्भवति ४ "सन्ततं सिराभिस्तु लम्बत्या कोशसन्निभम्" इत्यारभ्य ४ "तस्याश्शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः" इति श्रवणात् । ५ "बहुधा जायमानः" इत्यपि परस्मिन् ब्रह्मणि सङ्गच्छते--२ "अजायमानो बहुधा विजायते । तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्" इति देवादीनां समाश्रयणीयत्वाय तत्तज्जातीयरूपसंस्थान-गुणकर्मसमन्वितः स्वकीयं स्वभावमजहदेव स्वेच्छया बहुधा विजायते परः पुरुष इत्यभिधानात् । स्मृतिरपि ६ "अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया" इति । मनःप्रभृतिजीवोपकरणाधारत्वं च सर्वाधारस्य परस्यैवोपपद्यते ॥

इतश्च परमपुरुषः—

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च । १ । ३ । २ ॥

अयं द्युपृथिव्याद्यायतनभूतः पुरुषः संसारबन्धान्मुक्तैरपि

---

१ मु० २-२-५ ॥ २ पुरुषसू० ॥
३ मु० २-२-७ ॥ ४ तै० नारायणे १३ अनु०
५ मु० २-२-६ ॥ ६ गी० ४-६ ॥

प्राप्यतया व्यपदिश्यते १ "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" २ "यथा नद्यस्स्यन्दमानास्समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" इति। संसारबन्धनाद्विमुक्ता एव हि विधूतपुण्यपापा निरञ्जना नामरूपाभ्यां विनिर्मुक्ताश्च। पुण्यपापनिबन्धनाचित्संसर्गप्रयुक्तनामरूपभाक्त्वमेव हि संसारः। अतो विधूतपुण्यपापैर्निरञ्जनैः प्रकृतिसंसर्गरहितैः परेण ब्रह्मणा परमं साम्यमापन्नैः प्राप्यतया निर्दिष्टो द्यु पृथिव्याद्यायतनभूतः पुरुषः परं ब्रह्मैव ॥ २ ॥

परब्रह्मासाधारणशब्दादिभिः परमेव ब्रह्मेति प्रसाध्य, प्रत्यगात्मासाधारणशब्दाभावाच्चायं पर एवेत्याह—

नानुमानमतच्छब्दात्प्राणभृच्च । १ । ३ । ३ ॥

यथाऽस्मिन्प्रकरणे प्रतिपादकशब्दाभावात्प्रधानं न प्रतिपाद्यम्; एवं प्राणभृदपीत्यर्थः। अनुमीयत इत्यनुमानं परोक्तं प्रधानमुच्यते, अनुमानप्रमितत्वादानुमानमिति वा; अतच्छब्दात्—तद्वाचिशब्दाभावादित्यर्थः। 'अर्थाभावे यदव्ययम्' इत्यव्ययीभावः ॥३॥

इतश्चायं न प्रत्यगात्मा—

भेदव्यपदेशात् । १ । ३ । ४ ॥

३ "समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः" इत्यादिभिर्जीवाद्विलक्षणत्वेनायं व्यपदिश्यते। अनीशया भोग्यभूतया प्रकृत्या मुह्यमानश्शोचति जीवः; अयं यदा स्वस्मादन्यं सर्वस्येशं प्रीयमाणम्, अस्य ईश्वरस्य महिमानं च निखिलजगन्नियमनरूपं पश्यति; तदा वीतशोको भवति ॥४॥

१ मु० ३-१-३ ॥ २ मु० ३-२-८ ॥
३ श्वे० ४-७, मु० ३-१-२ ॥

प्रकरणात् । १ । ३ । ५ ॥

प्रकरणं चेदं परस्य ब्रह्मण इति १ "अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः" इत्यत्रैव प्रदर्शितम् । नाडीसम्बन्धबहुधाजायमानत्वमनःप्राणाधारत्वैश्च प्रकरणविच्छेदाशङ्कामात्रमत्र पर्यहार्ष्म ॥५॥

स्थित्यदनाभ्याञ्च । १ । ३ । ६ ॥

२ "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" इत्येकस्य कर्मफलादनम्, अन्यस्य च कर्मफलमनश्नत एव दीप्यमानतया शरीरान्तस्स्थितिमात्रं प्रतिपाद्यते । तत्र कर्मफलमनश्नन्दीप्यमान एव सर्वज्ञोऽमृतसेतुस्सर्वात्मा द्युभ्वाद्यायतनं भवितुमर्हति, न पुनः कर्मफलमदन् शोचन्प्रत्यगात्मा । अतो द्युभ्वाद्यायतनं परमात्मेति सिद्धम् ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये द्युभ्वाद्यधिकरणम् ॥१॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये भूमाधिकरणम् ॥२॥

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ।१।३।७॥

इदमामनन्तिच्छन्दोगाः ३ "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा । अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्" इति । अत्रायं भूमशब्दो भावप्रत्ययान्तो व्युत्पाद्यते । तथा हि पृथ्वादिषु बहुशब्दः पठ्यते ततः ४ "पृथ्वा-

---

१ शारी० १-२-२२ ॥ २ श्वे० ४-६ ॥
३ छा० ७-२४-१ ॥ ४ अष्टाध्याय्यां ५-१-१२२ ॥

दिभ्य इमनिज्वा" इति इमनिच्प्रत्ययं कृत्वे १ "बहोर्लोपो भू च बहोः" इति प्रकृतिप्रत्यययोर्विकारे भूमेति भवति। भूमा—बहुत्वमित्यर्थः। अत्र चायं बहुशब्दो वैपुल्यवाची, न सङ्ख्यावाची; २ "यत्रान्यत्पश्यति" "तदल्पम्" इत्यल्पप्रतियोगित्वश्रवणात् अल्पशब्दनिर्दिष्टधर्मिप्रतियोगिप्रतिपादनपरत्वादेव धर्मिपरश्च निश्चीयते; न धर्ममात्रपरः। तदेवं भूमेति विपुल इत्यर्थः; वैपुल्यविशेषश्चेहात्मेत्यवगतः ३ "तरति शोकमात्मवित्" इति प्रक्रम्य भूमविज्ञानमुपदिश्य ४ "आत्मैवेदं सर्वम्" इति तस्यैवोपसंहारात्। अत्र संशय्यते-किमयं भूमगुणविशिष्टः प्रत्यगात्मा, उत परमात्मा-इति। किं युक्तम्? प्रत्यगात्मेति। कुतः? ३ "श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवित्" इत्यात्मजिज्ञासयोपसेदुषे नारदाय नामादिप्राणपर्यन्तेषूपास्यतयोपदिष्टेषु ५ "अस्ति भगवो नाम्नो भूयः" ६ "अस्ति भगवो वाचो भूयः" इत्यादयः प्रश्नाः, ७ "वाग्वाव नाम्नोभूयसी" ८ "मनो वाव वाचो भूयः" इत्यादीनि च प्रतिवचनानि, प्राणात्प्राचीनेषु दृश्यन्ते; प्राणे तु न पश्यामः। अतः प्राणपर्यन्त एवायमात्मोपदेश इति प्रतीयते तेनेह प्राणशब्दनिर्दिष्टः प्राणसहचारी प्रत्यगात्मैव; न वायुविशेषमात्रम्। ९ "प्राणो ह पिता प्राणो ह माता" इत्यादयश्च प्राणस्य चेतनतामवगमयन्ति; ९ "पितृहा...मातृहा" इत्यादिना सप्राणेषु पितृप्रभृतिषूपमर्दकारिणि हिंसकत्वनिमित्तोपक्रोशवचनात्तेष्वेव विगतप्राणेष्वत्यन्तोपमर्दकारिण्यप्युपक्रोशाभाववचनाच्च हिंसायोग्यश्चेतन एव प्राणशब्दनिर्दिष्टः। अप्राणेषु स्थावरेष्वपि चेतनेषूपमर्दभावाभावयोहिंसातदभावदर्शनादयं हिंसायोग्यतया निर्दिष्टः प्राणः प्रत्यगात्मैवेति निश्चीयते। अत एवच अरनाभिदृष्टान्ताद्युपन्यासेन प्राणशब्दनिर्दिष्टः पर इति न भ्रमितव्यम्, परस्य हिंसाप्रसङ्गाभावात्, जीवाद्भिन्नस्य

१ अष्टा० ६-४-१५८ ॥　　　　२ शारी० १-२-२२ ॥
३ छा० ७-१-३ ॥　　　　४ छा० ७, २५, २॥
५ छा० ७ १-५॥　　　　६ छा० ७ २ २॥
७ छा० ७-१-१　　　　८ छा० ७-३-१॥
९ छा० ७-१५-१　　　　९ छा० ७-१५-२

तद्भोग्यभोगोपकरणभूतस्य कृत्स्नस्याचिद्वस्तुनो जीवायत्तस्थितित्वेन प्रत्यगात्मन्येवारनाभिदृष्टान्तोपपत्तेश्च। अयमेव च प्राणशब्दनिर्दिष्टो भूमा; 'अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः' इति प्रतिवचनस्य चाभावाद्भूमसंशब्दनात्प्राक्प्राणप्रकरणस्याविच्छेदात्। किञ्च प्राणवेदिनोऽतिवादित्वमुक्त्वा तमेव १ "एष तु वा अतिवदति" इति प्रत्यभिज्ञाप्य १ "यस्सत्येनातिवदति" इति तस्य सत्यवदनं प्राणोपासनाङ्गतयोपदिश्य उपादेयस्य सत्यवदनस्य शेषितया पूर्वनिर्दिष्टप्राणयाथात्म्यविज्ञानं २ "यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति" इत्युपदिश्य तत्सिद्ध्यर्थं च मननश्रद्धानिष्ठाप्रयत्नानुपदिश्य तदारम्भाय च प्राप्यभूतप्राणशब्दनिर्दिष्टप्रत्यगात्मस्वरूपस्य सुखरूपताज्ञानमुपदिश्य तस्य च सुखस्य विपुलता ३ "भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः" इत्युपदिश्यते। तदेवं प्रत्यगात्मन एवाविद्यावियुक्तं रूपं विपुलसुखमित्युपदिष्टमिति ४ "तरति शोकमात्मवित्" इत्युपक्रमाविरोधश्च। अतो भूमगुणविशिष्टः प्रत्यगात्मा, यत एवं भूमगुणविशिष्टः प्रत्यगात्मा, अतएवाहमर्थे प्रत्यगात्मनि ४ "अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टात्" इत्यारभ्य ५ "अहमेवेदं सर्वम्" इति प्रत्यगात्मनो वैभवमुपदिशति। एवं प्रत्यगात्मत्वे निश्चिते सति तदनुगुणतया वाक्यशेषो नेतव्य इति ॥

सिद्धान्तः ।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्—भूमगुण विशिष्टो न प्रत्यगात्मा; अपि तु परमात्मा, कुतः ? सम्प्रसादादध्युपदेशात्; सम्प्रसादः—प्रत्यगात्मा: १ "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्युपनिषत्प्रसिद्धेः। सम्प्रसादात् प्रत्यगात्मनोऽधिकतया भूमविशिष्टस्य सत्यशब्दाभिधेयस्योपदेशादित्यर्थः। सत्यशब्दाभिधेयं च परं ब्रह्म। एतदुक्तं भवति—यथा नामादिषु प्राणपर्यन्तेषु पूर्वपूर्वा-

१ छा० ७-१६ | १ छा० ७ १७
३ छा० ७-२३-१ | ४ छा० ७-१-३
५ छा० ७-२५-१ | ६ छा० ८-१२-२

धिकतयोत्तरोत्तराभिधानात्पूर्वेभ्य उत्तरेषामर्थान्तरत्वम् , एवं प्राण-शब्दनिर्दिष्टात्प्रत्यगात्मनोऽधिकतया निर्दिष्टस्सत्यशब्दाभिधेयस्त—स्मादर्थान्तरभूत एव; सत्यशब्दनिर्दिष्ट एव भूमेति सत्याख्यं परं ब्रह्मैव भूमेत्युपदिश्यते—इति। तदाह वृत्तिकारः १ "भूमा त्वेवेति भूमा ब्रह्म नामादिपरम्परया आत्मन ऊर्ध्वमस्योपदेशात्" इति। प्राणशब्दनिर्दिष्टादधिकतया सत्यस्योपदेशः कथमवगम्यत इति चेत् —२ "स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति" इति प्राणविदोऽतिवादित्वमुक्त्वा ३ "एष तु वा अतिवदति यस्सत्येनातिवदति" इति सत्यवेदित्वेनातिवादिनं तुशब्देन पूर्व-स्मादतिवादिनो व्यावर्तयति। अत एव ३ "एष तु वा अतिवदति" इत्यत्र प्राणातिवादिनो न प्रत्यभिज्ञा। अतोऽस्यातिवादित्वनिमित्तं सत्यं पूर्वातिवादित्वनिमित्तात्प्राणादधिकमिति विज्ञायते।

ननु च प्राणवेदिन एव सत्यवदनमङ्गत्वेनोपदिष्टम् , अतः प्राणप्रकरणाविच्छेद इत्युक्तम्। नैतद्युक्तम् —तुशब्देन ह्यतिवाद्यन्यः प्रतीयते, न तु तस्यैवातिवादिनस्सत्यवदनाङ्गविशिष्टतामात्रम्। ४ "एष तु वा अग्निहोत्री यस्सत्यं वदति" इत्यादिष्वग्निहोत्र्यन्तरा-प्रतीतेः, प्रतीतस्यैवाग्निहोत्रिणस्सत्यवदनाङ्गविधानमिति क्लिष्टा गतिराश्रीयते; अत्रत्वतिवाद्यन्तरत्वनिमित्तं सत्यशब्दाभिधेयं परं ब्रह्म प्रतीयते। सत्यशब्दश्च ५ "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादिषु परस्मिन्ब्रह्मणि प्रयुक्तः; अतस्तन्निष्ठस्यातिवादिनः पूर्वस्मादधिकत्वं सम्भवतीति वाक्यस्वरससिद्धमन्यत्वं न बाधितव्यम्। अतिवादित्वं हि वस्त्वन्तरात्पुरुषार्थतयाऽतिक्रान्तस्वोपास्यवस्तुवादित्वम् ; नामा-द्याशापर्यन्तोपास्यवस्त्वतिक्रान्तस्वोपास्यप्राणशब्दनिर्दिष्टप्रत्यगात्मवा-दित्वात्प्राणविदोऽतिवादित्वम् ; तस्यापि सातिशयपुरुषार्थत्वान्निर-

१. वृत्तिः ॥ २. छा. ७. १५. ४ ॥

३. छा. ७. १६-१ ॥ ४.

५. तै. आन. १. अनु ॥

तिशयपुरुषार्थतयोपास्यपरब्रह्मवादिन एव साक्षादतिवादित्वमिति १ "एष तु वा अतिवदति यस्सत्येनातिवदति" इत्युक्तम् । सत्येनेतीत्थम्भूतलक्षणे तृतीया; सत्येन परेण ब्रह्मणोपास्येनोपलक्षितो योऽतिवदतीत्यर्थः । अतएवैवं शिष्यः प्रार्थयते १ "सोऽहं भगवस्सत्येनातिवदानि" इति । आचार्यश्च १ "सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्" इत्याह । २ "आत्मतः प्राणः" इति च प्राणशब्दनिर्दिष्टस्याऽत्मन उत्पत्तिरुच्यते । अतः ३ "तरति शोकमात्मवित्" इति प्रक्रान्त आत्मा प्राणशब्दनिर्दिष्टादन्य इति गम्यते ।

यदुक्तम्—'अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः' इति प्रश्नस्य 'अदो वाव प्राणाद्भूयः' इति प्रतिवचनस्यचादर्शनात्प्रक्रान्त आत्मोपदेशः प्राणोपदेशपर्यवसानो गम्यत इति; तदयुक्तम् ; नहि प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामेवार्थान्तरत्वं गम्यते; प्रमाणान्तरेणापि तत्सम्भवात् । उक्तञ्च प्रमाणान्तरम् । 'अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः' इत्यपृच्छतोऽयमभिप्रायः —नामादिष्वाशापर्यन्तेष्वचेतनेषु पुरुषार्थभूयस्तया पूर्वपूर्वमतिक्रान्तेष्वप्युत्तरोत्तरेपूपदिष्टेषु तत्तद्वेदिन आचार्येणातिवादित्वं नोक्तम् ; प्राणशब्दनिर्दिष्टप्रत्यगात्मयाथात्म्यवेदिनस्तु पुरुषार्थभूयस्त्वातिशयं मन्वानेन ४ "स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति" इति अतिक्रान्तवस्तुवादित्वमुक्तम् । अतोऽत्रैवात्मोपदेशस्समाप्त इति मत्वा शिष्यो भूयो न पप्रच्छ । आचार्यस्त्विदमपि सातिशयं मत्वा निरतिशयपुरुषार्थभूतं सत्यशब्दाभिधेयं परं ब्रह्म २ "एष तु वा अतिवदति यस्सत्येनातिवदति" इति स्वयमेवोपचिक्षेप । शिष्योऽपि परमपुरुषार्थरूपे परस्मिन्ब्रह्मण्युपक्षिप्ते तत्स्वरूपतदुपासनयाथात्म्यबुभुत्सया ५ "सोऽहं भगवस्सत्येनातिवदानि" इति प्रार्थयामास । ततो ब्रह्मसाक्षात्कारनिमित्तातिवादित्वसिद्धये

१. छा. ७. १६. १ ॥ २. छा. ७. २६. १ ॥
३. छा. ७. १. ३ ॥ ४. छा. ७. १५. ४ ॥
५. छा. ७. १६ ॥

ब्रह्मसाक्षात्कारोपायभूतं ब्रह्मोपासनम् १ "सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्" इत्युपदिश्य तदुपायभूतं ब्रह्ममननम् २ "मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्या" इत्युपदिश्य श्रवणप्रतिष्ठार्थत्वान्मननस्य मननोपदेशेन श्रवणमर्थसिद्धं मत्वा श्रवणोपायभूतां ब्रह्मणि श्रद्धाम् ३ "श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्या" इत्युपदिश्य तदुपायभूतां च तन्निष्ठाम् ४ "निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्या" इत्युपदिश्य तदुपायभूतां च तदुद्योगप्रयत्नरूपां कृतिमपि ५ "कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्या" इत्युपदिश्य श्रवणाद्युपक्रमरूपकृतिसिद्धये प्राप्यभूतस्य सत्यशब्दाभिहितस्य ब्रह्मणस्सुखरूपता ज्ञातव्येति ६ "सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्" इत्युपदिश्य निरतिशयविपुलमेव सुखं परमपुरुषार्थरूपं भवतीति तस्यैव ब्रह्मणस्सुखरूपस्य निरतिशयविपुलता ज्ञातव्येति ६ "भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः" इत्युपदिश्य निरतिशयविपुलसुखरूपस्य ब्रह्मणो लक्षणमिदमुच्यते ७ "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" इति। अयमर्थः—अनवधिकातिशयसुखरूपे ब्रह्मण्यनुभूयमाने ततोऽन्यत्किमपि न पश्यत्यनुभविता, ब्रह्मस्वरूपतद्विभूत्यन्तर्गतत्वाच्च कृत्स्नस्य वस्तुजातस्य; अत ऐश्वर्यापरपर्यायविभूतिगुणविशिष्टं निरतिशयसुखरूपं ब्रह्मानुभवन् तद्व्यतिरिक्तस्य वस्तुनोऽभावादेव किमप्यन्यन्न पश्यति; अनुभाव्यस्य सर्वस्य सुखरूपत्वादेव दुःखं च न पश्यति, तदेव हि सुखम्; यदनुभूयमानं पुरुषानुकूलं भवति॥

ननु चेदमेव जगद्ब्रह्मणोऽन्यतयाऽनुभूयमानं दुःखरूपं परिमितसुखरूपं च भवत्कथमिव ब्रह्मविभूतित्वेन तदात्मकतयानुभूयमानं सुखरूपमेव भवेत्। उच्यते—कर्मवश्यानां क्षेत्रज्ञानां ब्रह्मणो-

१. छा. १-७-१६ २. छा. ७. १८॥
३. छा. ७. १९॥ ४. छा. ७. २०॥
५. छा. ७. २१॥ ६. छा. ७. २२॥
७. छा. ७. २३॥ ८. छा. ७. २४. १॥

ऽन्यत्वेनानुभूयमानं कृत्स्नं जगत्तत्तत्कर्मानुरूपं दुःखं च परिमितसुखं च भवति । अतो ब्रह्मणोऽन्यतया परिमितसुखत्वेन दुःखत्वेन च जगदनुभवस्य कर्मनिमित्तत्वात्कर्मरूपाविद्याविमुक्तस्य तदेव जगद्विभूतिगुणविशिष्टब्रह्मानुभवान्तर्गतं सुखमेव भवति । यथा पित्तोपहतेन पीयमानं पयः पित्ततारतम्येनाल्पसुखं विपरीतं च भवति; तदेव पयः पित्तानुपहतस्य सुखायैव भवति; यथैव राजपुत्रस्य पितुर्लीलोपकरणमतथात्वेनानुसन्धीयमानं प्रियत्वमनुपगतं तथात्वानुसन्धाने प्रियतमं भवति; तथा निरतिशयानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणाकरस्य लीलोपकरणं तदात्मकं चानुसन्धीयमानं जगन्निरतिशयप्रीतये भवत्येव । अतो जगदैश्वर्यविशिष्टमनवधिकातिशयसुखरूपं ब्रह्मानुभवंस्ततोऽन्यत्किमपि न पश्यति; दुःखं च न पश्यति । एतदेवोपपादयति वाक्यशेषः १"स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दस्स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति" इति । स्वराट्—अकर्मवश्यः । अन्यराजानः—कर्मवश्याः । तथा २"न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम् । सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः" इति च । निरतिशयसुखरूपत्वं च ब्रह्मणः ३"आनन्दमयोऽभ्यासात्" इत्यत्र प्रपञ्चितम् । अतः प्राणशब्दनिर्दिष्टात्प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतस्य सत्यशब्दाभिधेयस्य ब्रह्मणो भूमेत्युपदेशाद्भूमा परं ब्रह्म ॥

धर्मोपपत्तेश्च । १ । ३ । ८ ॥

अस्य भूम्नो ये धर्मा आम्नायन्ते; तेऽपि परस्मिन्नेवोपपद्यन्ते । ४"एतदमृतम्" इति स्वाभाविकममृतत्वम्, ४"स्वे महिम्नि" इत्यन-

१. छा. ७.२५.२॥ २. छा. ७.२६. २॥
३. शारी. १.१. १२॥
४. छा. ७.२४.१॥ तदमृतमिति रङ्गरामानुजीय पाठः ॥

न्याधारत्वम्, १"स एवाधस्तात्" इत्यादि १"स एवेदं सर्वम् इति सर्वात्मकत्वम्, २"आत्मतः प्राणः" इत्यादिप्राणप्रभृतिसर्वस्योत्पादकत्वमित्यादयो हि धर्माः परमात्मन एव। यत्तु १"अहमेवाधस्तात्" इत्यादिना सर्वात्मकत्वमुपदिष्टम्, तद्भूमविशिष्टस्य ब्रह्मणोऽहङ्ग्रहेणोपासनमुपदिश्यते १"अथातोऽहङ्कारादेशः" इत्यहङ्ग्रहोपदेशोपक्रमात्। अहमर्थस्य प्रत्यगात्मनोऽपि ह्यात्मा परमात्मेत्यन्तर्यामिब्राह्मणादिषूक्तम्। अतः प्रत्यगर्थस्य परमात्मपर्यवसानादहंशब्दोऽपि परमात्मपर्यवसायीति प्रत्यगात्मशरीरकत्वेन परमात्मानुसन्धानार्थोऽयमहङ्ग्रहोपदेशः। परमात्मनस्सर्वशरीरतया सर्वात्मत्वात्प्रत्यगात्मनोऽप्यात्मा परमात्मा। तदेव ३"अथात आत्मादेशः" इत्यादिना ३"आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यन्तेनोच्यते। एतदेवोपपादयितुं प्रत्यगात्मनोऽप्यात्मभूतात्परमात्मनस्सर्वस्योत्पत्तिरुच्यते ४"तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आकाशः" इत्यादिना। उपासकस्यान्तर्यामितयाऽवस्थितात्परमात्मनस्सर्वस्योत्पत्तिरित्यर्थः। अतः परमात्मनः प्रत्यगात्मशरीरकत्वज्ञानप्रतिष्ठार्थमहङ्ग्रहोपासनं कर्तव्यम्। तस्माद्भूमविशिष्टः परमात्मेति सिद्धम् ॥ ८ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये भूमाधिकरणम् ॥ २ ॥

—*(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अक्षराधिकरणम्)*—

अक्षरमम्बरान्तधृतेः । १ । ३ । ९ ॥

वाजसनेयिनो गार्गीप्रश्ने समामनन्ति ५"सहोवाचैतद्वै तदक्षरं

---

१. छा॰ ७. २५. १ ॥ २. छा. ७. २६. १. ॥
३. छा. ७. २५. २ ॥ ४. छा. ७. २६. १ ॥
५. बृ. ५-८-८ ॥

गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहम- च्छायम्" इत्यादि। तत्र संशयः—किमेतदक्षरं प्रधानम्-जीवो वा- उत परमात्मा-इति। किं युक्तम्? प्रधानमिति। कुतः? १"अक्षरा- त्परतः परः" इत्यादिस्वक्षरशब्दस्य प्रधाने प्रयोगदर्शनादस्थूलत्वा- दीनां च तत्र समन्वयात्। २"यया तदक्षरमधिगम्यते" इत्यादिषु परस्मिन्नप्यक्षरशब्दो दृश्यत इति चेत्-न, प्रमाणान्तरप्रसिद्धश्रुतिप्र- सिद्धयोः प्रमाणान्तरप्रसिद्धस्य प्रथमप्रतीतेः; प्रतीतपरिग्रहे विरोधा भावात्। ३"यदूर्ध्वं गार्गि दिवो, यदर्वाक्पृथिव्याः" इत्यारभ्य सर्व स्य कालत्रितयवर्तिनः कारणभूताकाशाधारत्वे प्रतिपादिते ३"कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च" इत्याकाशस्यापि कारणं तदाधारभूतं किमिति पृष्टे प्रत्युच्यमानमक्षरं सर्वविकारकारणतया तदाधारभूतं प्रमाणान्तरप्रसिद्धं प्रधानमिति प्रतीयते अतोऽक्षरं प्रधानम्॥

सिद्धान्तः।

इति प्राप्ते उच्यते—अक्षरमम्बरान्तधृतेः—अक्षरं-परं ब्रह्म; कुतः? अम्बरान्तधृतेः; अम्बरस्य-आकाशस्य, अन्तः-पारभूतम् अव्याकृतमम्बरान्तः; तस्य धृतेः तदाधारतयाऽस्याक्षरस्योपदेशादिति यावत्। अयमर्थः-"कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च" इत्यत्राकाश- शब्दनिर्दिष्टं न वायुमदम्बरम्, अपितु तत्पारभूतमव्याकृतम्, अतस्त- स्याव्याकृतस्याप्याधारत्वेनोच्यमानमक्षरं नाव्याकृतं भवितुमर्हति —इति। नन्वाकाशशब्दनिर्दिष्टो न वायुमानिति कथमवगम्यते; उच्यते ३"यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदर्वाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावा- पृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते आकाश एव तदोतं च प्रोतं च" इत्युक्ते त्रैकाल्यवर्तिनो विकारजातस्याधारतया निर्दिष्ट आकाशो न वायुमदाकाशो भवितुमर्हति; तस्यापि विकारा- न्तर्गतत्वात्। अतोऽत्राकाशशब्दनिर्दिष्टं भूतसूक्ष्ममिति प्रतीयते।

---

१. मु. २-१-२॥ २. मु. १-१-५॥
३. बृ. ५-८-७॥

ततस्तस्यापि भूतसूक्ष्मस्याधारभूतं किमिति पृच्छ्यते १ "कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च" इति । अतस्तदाधारतया निर्दिश्यमानमक्षरं न प्रधानं भवितुमर्हति ।

यत्तु श्रुतिप्रसिद्धात्प्रमाणान्तरप्रसिद्ध प्रथमं प्रतीयत इति, तन्न, अक्षरशब्दस्यावयवशक्त्या स्वार्थप्रतिपादने प्रमाणान्तरानपेक्षणात्; सम्बन्धग्रहणदशायामर्थस्वरूपं येन प्रमाणेनावगम्यते, न तत्प्रतिपादनदशायामपेक्षणीयम् ॥ ९ ॥

एवं तर्ह्यक्षरशब्दनिर्दिष्टो जीवोऽस्तु, तस्य भूतसूक्ष्मपर्यन्तस्य कृत्स्नस्याचिद्वस्तुन आधारत्वोपपत्तेः; अस्थूलत्वाद्युच्यमानविशेषणोपपत्तेश्च २"अव्यक्तमक्षरे लीयते" ३ "यस्याव्यक्तं शरीरं...यस्याक्षरं शरीरं" ४ "क्षरस्सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते" इत्यादिषु प्रत्यगात्मन्यप्यक्षरशब्दप्रयोगदर्शनादित्यत्रोत्तरम्—

सा च प्रशासनात् । १ । ३ । १० ॥

सा चाम्बरान्तधृतिरस्याक्षरस्य प्रशासनादेव भवतीत्युपदिश्यते ५ "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः; एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवस्संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति" इत्यादिना । प्रशासनम् प्रकृष्टं शासनम् न चेदृशं स्वशासनाधीनसर्ववस्तुविधरणं बद्धमुक्तोभयावस्थस्यापि प्रत्यगात्मनस्सम्भवति । अतः पुरुषोत्तम एव प्रशासितृक्षरम् ॥ १० ॥

---

१. बृ. ५-८-७ ॥ २. सुबाल. २-ख ॥
३. सुबाल. ७-ख ॥ ४. गी. १५-१६ ॥
५. बृ. ५-८-९ ॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च । १ । ३ । ११ ॥

अन्यभावः—अन्यत्वम् , प्रधानादिभावः । अस्याक्षरस्य परमपुरुषादन्यत्वं वाक्यशेषे व्यावर्त्यते १ "तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ, नान्यदतोऽस्ति मन्तृ, नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ, एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च" इति । अत्र द्रष्टृत्वश्रोतृत्वाद्युपदेशादस्याक्षरस्याचेतनभूतप्रधानभावो व्यावर्त्यते; सर्वैरदृष्टस्यैव सतस्सर्वस्य द्रष्टृत्वाद्युपदेशाच्च प्रत्यगात्मभावो व्यावर्त्यते । अत इयमन्यभावव्यावृत्तिरस्याक्षरस्य परमपुरुषतां द्रढयति । एवं वाऽन्यभावव्यावृत्तिः—अन्यस्य सद्भावव्यावृत्तिरन्यभावव्यावृत्तिः; यथैतदक्षरमन्यैरदृष्टं सदन्येषां द्रष्टृ च स्वव्यतिरिक्तस्य समस्तस्याधारभूतम् , एवमनेनादृष्टमेतस्य द्रष्टृ च सदेतस्याधारभूतमन्यन्नास्तीति वदन् १ "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" इत्यादिवाक्यशेषोऽन्यस्य सद्भावं व्यावर्तयन्नस्याक्षरस्य प्रधानभावं प्रत्यगात्मभावं च प्रतिषेधति । किञ्च २ "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः" इति श्रौतं स्मार्तं च यागदानहोमादिकं सर्वं कर्म यस्याऽऽज्ञया प्रवर्तते, तदक्षरं परब्रह्मभूतः पुरुषोत्तम एवेति विज्ञायते । अपि च ३ "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः, अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः" इति यदज्ञानात्संसारप्राप्तिर्यज्ज्ञानाच्चामृतत्वप्राप्तिस्तदक्षरं परं ब्रह्म चेतिसिद्धम् ॥११॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अक्षराधिकरणम् ॥ ३ ॥

---

१. बृ. ५-८-११ ॥ २. बृ. ५-८-९ ॥
३. बृ. ५-८-१० ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये ईक्षतिकर्माधिकरणम् ॥ ४ ॥)

ईक्षतिकर्म व्यपदेशात्सः । १ । ३ । १२ ॥

आथर्वणिकास्सत्यकामप्रश्नेऽधीयते १ "यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तस्ससामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" इति । अत्र ध्यायतीक्षतिशब्दावेकविषयौ, ध्यानफलत्वादीक्षणस्य; २ "यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषः" इति न्यायेन ध्यानविषयस्यैव प्राप्यत्वात् . ३ "परं पुरुषम्" इत्युभयत्र कर्मभूतस्यार्थस्य प्रत्यभिज्ञानाच्च ।

तत्र संशय्यते— किमिह "परं पुरुषम्" इति निर्दिष्टो जीवसमष्टिरूपोऽण्डाधिपतिश्चतुर्मुखः, उत सर्वेश्वरः पुरुषोत्तमः—इति । किं युक्तम् ? समष्टिक्षेत्रज्ञ इति । कुतः ? ३ "स यो ह वैतद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत कतमं वाव स तेन लोकं जयति" इति प्रक्रम्यैकमात्रं प्रणवमुपासीनस्य मनुष्यलोकप्राप्तिमभिधाय, द्विमात्रमुपासीनस्य अन्तरिक्षलोकप्राप्तिमभिधाय, त्रिमात्रमुपासीनस्य प्राप्यतयाऽभिधीयमानो ब्रह्मलोकोऽन्तरिक्षात्परो जीवसमष्टिरूपस्य चतुर्मुखस्य लोक इति विज्ञायते; तत्रत्येन चेक्ष्यमाणस्तल्लोकाधिपतिश्चतुर्मुख एव । ३ "एतस्माज्जीवघनात्परात्परम्" इतिच देहेन्द्रियादिभ्यः परात्तदेहेन्द्रियादिभिस्सह घनीभूताज्जीवव्यष्टिपुरुषाद्ब्रह्मलोकवासिनस्समष्टिपुरुषस्य चतुर्मुखस्य परत्वेनोपपद्यते । अतोऽत्र निर्दिश्यमानः परः पुरुषस्समष्टिपुरुषश्चतुर्मुख एव । एवं चतुर्मुखत्वे निश्चिते अजरत्वादयो यथा कथञ्चिन्नेतव्याः ।

---

१. प्रश्न. ५-५ ॥ २. छा. ३-१४-१ ॥
३. प्रश्न. ५-१ ॥

सिद्धान्तः ।

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे–ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः--ईक्षतिकर्म सः-- परमात्मा । कुतः ? व्यपदेशात्–व्यपदिश्यते हीक्षतिकर्म परमात्मत्वेन । तथाहि ईक्षतिकर्मविषयतयोदाहृते श्लोके [1]"तमोङ्कारेणैवायनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परंच" इति । परं शान्तमजरमभयम मृतमिति हि परमात्मन एवैतद्रूपम्, [2]"एतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म" इत्येवमादिश्रुतिभ्यः । [3] "एतस्माज्जीवघनात्परात्परम्" इति च परमात्मन एव व्यपदेशः ; न चतुर्मुखस्य. तस्यापि जीवघनशब्दगृहीतत्वात् । यस्य हि कर्मनिमित्तं देहित्वं स जीवघन इत्युच्यते; चतुर्मुखस्यापि तच्छ्रूयते [4]"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्"इत्यादौ । यत्पुनरुक्तमन्तरिक्षलोकस्योपरि निर्दिश्यमानो ब्रह्मलोकश्चतुर्मुखलोक इति प्रतीयते, अतस्तत्रस्थश्चतुर्मुख इति; तदयुक्तम् [5]"यत्तच्छान्तमजरममृतमभयम्" इत्यादिनेक्षतिकर्मणः परमात्मत्वे निश्चिते सति ईक्षितुः स्थानतया निर्दिष्टो ब्रह्मलोको न क्षयिष्णुश्चतुर्मुखलोको भवितुमर्हति किञ्च [6]"यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तस्ससामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्" इति सर्वपापविनिर्मुक्तस्य प्राप्यतयोच्यमानं न चतुर्मुखस्थानम् । अत एव चोदाहरण श्लोके इममेव ब्रह्मलोकमधिकृत्य श्रूयते [7]"यत्तत्कवयो वेदयन्ते" इति । कवयः- सूरयः । सूरिभिर्दृश्यं च वैष्णवं पदमेव, [8]"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" इत्येवमादिभ्यः । न चान्तरिक्षात्परश्चतुर्मुखलोकः मध्ये स्वर्गलोकादीनां बहूनां सद्भावात् । अतः [9]"एतद्वै सत्यकाम परं चापरं ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायनेनैकतरमन्वेति" इति प्रतिवचने यदपरं कार्यं ब्रह्म निर्दिष्टं तदैहिकामुष्मिकत्वेन द्विधा विभज्यैकमात्रं प्रणवमुपासीनानामैहिकं मनुष्यलोकावाप्तिरूपं फलमभिधाय, द्विमात्रमुपासीनानामामुष्मिकमन्तरिक्षशब्दोपलक्षितं फलं

१. प्रश्न. ५–७ ॥ २. छा. ४–१५–१ ॥ ३. प्रश्न. ५-५ ॥
४. श्वे. ६–१८ ॥ ५. प्रश्न. ५-७ ॥ ६. प्रश्न. ५-२ भ
७. सुवाल. ६-ख ॥ ८. प्रश्न. ५-२ ॥

चाभिधाय, त्रिमात्रेण परब्रह्मवाचिना प्रणवेन परं पुरुषं ध्यायतां परमेव ब्रह्म प्राप्यतयोपदिशतीति सर्वं समञ्जसम्। अत ईक्षतिकर्म परमात्मा ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाश्रीभाष्ये ईक्षतिकर्माधिकरणम् ॥ ४ ॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये दहराधिकरणम् ॥५॥

दहर उत्तरेभ्यः । १ । ३ । १३ ॥

इदमामनन्ति च्छन्दोगाः [1] "अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्" इति। तत्र सन्देहः—किमसौ हृदयपुण्डरीकमध्यवर्ती दहराकाशो महाभूतविशेषः, उत प्रत्यगात्मा, अथ परमात्मा—इति। किं तावद्युक्तम्? महाभूतविशेष इति। कुतः? आकाशशब्दस्य भूताकाशे ब्रह्मणि च प्रसिद्धत्वेऽपि भूताकाशे प्रसिद्धिप्रकर्षात्, [1] "तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" इत्यन्वेष्टव्यान्तरस्याधारतया प्रतीतेश्च।

सिद्धान्तः।

इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते—दहर उत्तरेभ्यः—दहराकाशः परं ब्रह्म; कुतः? उत्तरेभ्यो वाक्यगतेभ्यो हेतुभ्यः। [2] "एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः" इति निरुपाधिकात्मत्वमपहतपाप्मत्वादिकं सत्यकामत्वं सत्यसङ्कल्पत्वं चेति दहराकाशे श्रूयमाणा गुणाः

---

1. छा. ८-१-१ ॥ 2. छा. ८-१-५ ॥

दहराकाशं परं ब्रह्मेति ज्ञापयन्ति। १ "अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इत्यादिना २ "यं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते" इत्यन्तेन दहराकाशवेदिनस्सत्यसङ्कल्पत्वप्राप्तिश्चोच्यमानो दहराकाशं परं ब्रह्म त्यवगमयति। ३ "यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः" इत्युपमानोपमेयभावश्च दहराकाशस्य भूताकाशत्वे नोपपद्यते। हृदयावच्छेदनिबन्धन उपमानोपमेयभाव इति चेत्,—तथा सति हृदयावच्छिन्नस्य द्यावापृथिव्यादिसर्वाश्रयत्वं नोपपद्यते।

ननु च दहराकाशस्य परमात्मत्वेऽपि बाह्याकाशोपमेयत्वं न सम्भवति ४ "ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्" इत्यादौ सर्वस्माज्ज्यायस्त्वश्रवणात्—नैवम्, दहराकाशस्य हृदयपुण्डरीकमध्यवर्तित्वप्राप्ताल्पत्वनिवृत्तिपरत्वादस्य वाक्यस्य; यथा अभिज्ञवेऽपि सवितरि 'इषुवद्गच्छति सविता' इति वचनं गतिमान्द्यनिवृत्तिपरम्। अथ स्यात्—५ "एष आत्माऽपहतपाप्मा" इत्यादिना दहराकाशो न निर्दिश्यते ६ "दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" इति दहराकाशान्तर्वर्तिनस्ततोऽन्यस्यान्वेष्टव्यत्वेन प्रकृतत्वादिह ५ "एष आत्माऽपहतपाप्मा" इति तस्यैवान्वेष्टव्यस्य निर्देष्टुं युक्तत्वात्; स्यादेतदेवम्, यदि श्रुतिरेव दहराकाशं तदन्तर्वर्तिनं च न व्यभाङ्क्ष्यत्; व्यभाङ्क्षीत्तु सा; तथाहि ६ "अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" इति ब्रह्मपुरशब्देनोपास्यतया सन्निहितपरब्रह्मणः पुरत्वेनोपासकशरीरं निर्दिश्य तन्मध्यवर्ति च तदवयवभूतं पुण्डरीकाकारमल्पपरिमाणं हृदयं परस्य ब्रह्मणो वेश्मतयाऽभिधाय सर्वज्ञं सर्वशक्तिमाश्रितवात्सल्यैकजलधिमुपासकानुग्रहाय

१. छा. ८-१-६ ॥
२. छा. ८-२-१० ॥
३. छा. ८-१-३ ॥
४. छा. ३-१४-३ ॥
५. छा. ८-१-५ ॥
६. छा. ८-१-१ ॥

तस्मिन् वेश्मनि सन्निहितं सूक्ष्मतया ध्येयं दहराकाशशब्देन निर्दिश्य तदन्तर्वर्तिचापहतपाप्मत्वादिस्वभावतोनिरस्तनिखिलहेयत्वसत्यकामत्वादिस्वाभाविकानवधिकातिशयकल्याणगुणजातंच ध्येयं १"तदन्वेष्टव्यम्" इत्युपदिश्यते। अत्र १"तदन्वेष्टव्यम्" इति तच्छब्देन दहराकाशम्, तदन्तर्वर्तिगुणजातं च परामृश्य तदुभयमन्वेष्टव्यमित्युपदिश्यते; १"यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म" इत्यनूद्य तस्मिन् दहरपुण्डरीकवेश्मनि यो दहराकाशः, यच्च तदन्तर्वर्तिगुणजातम्, तदुभयमन्वेष्टव्यमिति विधीयत इत्यर्थः। दहराकाशशब्दनिर्दिष्टस्य परब्रह्मत्वं १"तस्मिन्यदन्तः" इति निर्दिष्टस्यच तद्गुणत्वम्, तच्छब्देनोभयं परामृश्योभयस्याप्यन्वेष्टव्यतया विधानं च कथमवगम्यत इति चेत्—तदवहितमनाश्शृणु – १"यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः" इति दहराकाशस्यानिमहत्तामभिधाय १"उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि" इति प्रकृतमेव दहराकाशमस्मिन्निति निर्दिश्य तस्य सर्वजगदाधारत्वमभिधाय १ "यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्त्समाहितम्" इति पुनरप्यस्मिन्निति तमेव दहराकाशं परामृश्य तस्मिन्नस्योपासकस्येहलोके यद्भोग्यजातमस्ति, यच्च मनोरथमात्रगोचरमिह नास्ति, सर्वं तद्भोग्यजातमस्तिन्दहराकाशे समाहितमिति निरतिशयभोग्यत्वं दहराकाशस्याभिधाय तस्य दहराकाशस्य देहावयवभूतहृदयान्तर्वर्तित्वेऽपि देहस्य जराप्रध्वंसादौ सत्यपि परमकारणतयाऽतिसूक्ष्मत्वेन निर्विकारत्वमुक्त्वा तत एव २ "एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम्" इति तमेव दहराकाशं सत्यभूतं ब्रह्माख्यं पुरं निखिलजगदावास भूतमित्युपपाद्य २ "अस्मिन्कामास्समाहिताः" इति दहराकाशमस्मिन्निति निर्दिश्य काम्यभूतांश्च गुणान्कामा इति निर्दिश्य तेषां दहराकाशान्तर्वर्तित्वमुक्त्वा तदेव दहराकाशस्य काम्यभूतकल्याणगुणविशिष्टत्वं तस्याऽऽत्मत्वंच २ "एष आत्माऽपहतपाप्मा" इत्यादिना २"सत्यसङ्कल्पः" इत्यन्तेन स्फुटीकृत्य २ "यथा ह्येवेह प्रजा

१. छा. ८-१-३ ॥ २. छा. ८-१-५ ॥

अन्वाविशन्ति" इत्यारभ्य ३ "तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति" इत्यन्तेन तदिदं गुणाष्टकं तद्विशिष्टं दहराकाशशब्दनिर्दिष्टमात्मानं चाविदुषामेतद्व्यतिरिक्तभोग्यसिद्धयेच कर्म कुर्वतामन्तवत्फलावाप्तिम-सत्यसङ्कल्पत्वं चाभिधाय ३"अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति"इत्यादिना दहराकाशशब्दनिर्दिष्टमात्मानं तदन्तर्वर्तिनश्च काम्यभूतानपहतपाप्मत्वादिकान्गुणान्वि जानतामुदारगुणसागरस्य तस्य परमपुरुषस्य प्रसादादेव सर्वकामावाप्तिस्सत्यसङ्कल्पता चोच्यते। अतो दहराकाशः परं ब्रह्म, तदन्तर्वर्ति चापहतपाप्मत्वादि काम्यगुणजातम्, तदुभयमन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यमितिचोच्यत इति निश्चीयते। तदेतद्वाक्यकारोऽपि स्पष्टयति १ "तस्मिन्यदन्तरिति कामव्यपदेशः" इत्यादिना। अत एतेभ्यो हेतुभ्यो दहराकाश- परमेव ब्रह्म ॥ १३ ॥

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च। १। ३। १४॥

इतश्च दहराकाशः परं ब्रह्म २ "तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमास्सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः" इति एतमिति प्रकृतं दहराकाशं निर्दिश्य तत्राहरहस्सर्वेषां क्षेत्रज्ञानां गमनम्, गन्तव्यस्य तस्य दहराकाशस्य ब्रह्मलोकशब्दनिर्देशश्च दहराकाशस्य परब्रह्मतां गमयतः। कथमनयोरस्य परब्रह्मत्वसाधकत्वमित्यत आह—तथाहि दृष्टम्—इति। परस्मिन्ब्रह्मणि सर्वेषां क्षेत्रज्ञानामहरहस्सुषुप्तिकाले गमनमन्यत्राभिधीयमानं दृष्टम्—३ "एवमेव खलु सोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सति सम्पद्य न विदुस्सति सम्पत्स्यामहे इति" इति "सत आगम्य न विदुस्सत आगच्छामहे

१. छा. ८-१-६ ॥
२. वाक्यकारः ॥
३. छा. ८-३-२ ।
३. छा. ६-९-२ ॥
४. छा. ६-१०-२ ॥

इति" इति च। तथा ब्रह्मलोकशब्दश्च परस्मिन्ब्रह्मणि दृष्टः १ "एष ब्रह्मलोकः सम्राडितिहोवाच" इति। मा भूदन्यत्र ब्रह्मणि गमनदर्शनम्; एतदेव तु दहराकाशे सर्वेषां क्षेत्रज्ञानां प्रलयकाल इव निरस्तनिखिलदुःखानां सुषुप्तिकालेऽवस्थानं श्रूयमाणमस्य परब्रह्मत्वे पर्याप्तं लिङ्गम्; तथा ब्रह्मलोकशब्दश्च समानाधिकरणवृत्त्याऽस्मिन्दहराकाशे प्रयुज्यमानोऽस्य ब्रह्मत्वे प्रयोगान्तरनिरपेक्षं पर्याप्तं लिङ्गमित्याह—लिङ्गं च—इति। निषादस्थपतिन्यायाच्च षष्ठीसमासात्समानाधिकरणसमासो न्याय्यः।

अथवा २ "अहरहर्गच्छन्त्यः" इति न सुषुप्तिविषयं गमनमुच्यते; अपित्वन्तरात्मत्वेन सर्वदा वर्तमानस्य दहराकाशस्य परमपुरुषार्थभूतस्योपर्युपर्यहरहर्गच्छन्त्यः सर्वस्मिन्काले वर्तमानाः तमजानत्यस्तं न विन्दन्ति—न लभन्ते; यथा हिरण्यनिधिं निहितं तत्स्थानमजानानास्तदुपरि सर्वदा वर्तमाना अपि न लभन्ते, तद्वदित्यर्थः। सेयमेवमन्तरात्मत्वेन स्थितस्य दहराकाशस्योपरि तन्नियमितानां सर्वासां प्रजानामजानतीनां सर्वदा गतिरस्य दहराकाशस्य परब्रह्मतां गमयति। तथाह्यन्यत्र परस्य ब्रह्मणोऽन्तरात्मतयाऽवस्थितस्य स्वनियाम्याभिस्स्वस्मिन्वर्तमानाभिः प्रजाभिरवेदनं दृष्टम्। यथा अन्तर्यामिब्राह्मणे ३ "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽऽत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति" इति ४ "अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतश्श्रोता" इति च। मा भूदन्यत्र दर्शनम्; स्वयमेव त्वियं निधिदृष्टान्तावगतपरमपुरुषार्थभावस्यास्य हृदयस्थस्योपरि तदाधारतयाऽहरहस्सर्वदा सर्वासां प्रजानामजानातीनां गतिरस्य परब्रह्मत्वे पर्याप्तं लिङ्गम्॥ १४॥

इतश्च दहराकाशः परं ब्रह्म—

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः। १। ३। १५।

५ "अथ य आत्मा" इति प्रकृतं दहराकाशं निर्दिश्य ५ "स

१. बृ. ६-३-३३॥ २. छा. ८-३-२॥ ३. बृ. ५-७-२२ मा. पा.॥
४. बृ. ५-७-२३॥ ५. छा. ८-४-१॥

सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय" इत्यस्मिञ्जगद्विधरणं श्रूयमाणं दहराकाशस्य परब्रह्मतां गमयति; जगद्विधरणं हि परस्य ब्रह्मणो महिमा १ "एष सर्वेश्वर एष सर्वभूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय" इति, २ "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इत्यादिभ्यः। स चायं तस्य परस्य ब्रह्मणो धृत्याख्यो महिमाऽस्मिन्दहराकाश उपलभ्यते; अतो दहराकाशः परं ब्रह्म ॥ १५ ॥

प्रसिद्धेश्च । १ । ३ । १६ ॥

आकाशशब्दश्च परस्मिन्ब्रह्मणि प्रसिद्धः ३ "को ह्येवाऽन्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" ४ "सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इत्यादिषु; अपहतपाप्मत्वादिगुणसनाथा प्रसिद्धिर्भूताकाशप्रसिद्धेर्बलीयसीत्यभिप्रायः ॥१६॥

एवं तावद्दहराकाशस्य भूताकाशत्वं प्रतिक्षिप्तम् । अथेदानीं दहराकाशस्य प्रत्यगात्मत्वमाशङ्क्य निराकर्तुमुपक्रमते—

इतरपरामर्शात्स इतिचेन्नासम्भवात् ।१।३।१७॥

यदुक्तं वाक्यशेषवशाद्दहराकाशः परं ब्रह्मेति, तदयुक्तम्, वाक्यशेषे परस्मादितरस्य जीवस्यैव साक्षात्परामर्शात् ५ "अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म" इति। यद्यपि ६ "दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशः" इति हृदयपुण्डरीक-

१. बृ. ६-४-२२ ॥
२. बृ. ५-८-९ ॥
३. तै. आन. ७ ॥
४. छा. १-९-१ ॥
५. छा. ८-३-४ ॥
६. छा. ८-१-१ ॥

मध्यवर्तितयोपदिष्टस्याकाशस्योपमानोपमेयभावाद्यसम्भवाद्भूताकाशत्वं न सम्भवति, तथापि वाक्यशेषवशात्प्रत्यगात्मत्वं युक्तमाश्रयितुम्। आकाशशब्दोऽपि प्रकाशादियोगाज्जीव एव वर्तिष्यत इति चेत्—अत्रोत्तरं—नासम्भवात्—इति। नायं जीवः; नह्यपहतपाप्मत्वादयो गुणा जीवे सम्भवन्ति ॥ १७ ॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु । १ । ३ । १८ ॥

उत्तरात्—प्रजापतिवाक्यात्, जीवस्यैवापहतपाप्मत्वादिगुणयोगो निश्चीयत इति चेत्—एतदुक्तं भवति—प्रजापतिवाक्यं जीवपरमेव, तथाहि १ "य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पस्सोऽन्वेष्टव्यस्स विजिज्ञासितव्यस्स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति" इति प्रजापतिवचनमैतिह्यरूपेणोपश्रुत्यान्वेष्टव्यात्मस्वरूपजिज्ञासया प्रजापतिमुपसेदुषे मघवते प्रजापतिर्जागरितस्वप्नसुषुप्त्यवस्थं जीवात्मानं सशरीरं क्रमेण शुश्रूषुयोग्यतापरीचिक्षिषयोपदिश्य तत्तत्र भोग्यमपश्यते परिशुद्धात्मस्वरूपोपदेशयोग्याय तस्मै मघवते २ "मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम्" इति शरीरस्याधिष्ठानतामात्मनश्चाधिष्ठातृतामशरीरस्य च तस्यामृतत्वस्वरूपतां चोक्त्वा २ "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति कर्मारब्धशरीरयोगिनस्तदनुगुणसुखदुःखभागित्वरूपानर्थं तद्विमोक्षे च तदभावमभिधाय ३ "एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति जीवात्मनस्वरूपमेव शरीरवियुक्तमुपदिदेश। ४ "स उत्तमः पुरुषः स तत्र

१. छा. ८-७-१ ॥ २. छा. ८-१२-१ ॥
३ छा. ८-१२-२ ॥ ४. छा. ८-१२-३ ॥

पर्यैति जक्षत्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्' इति प्राप्यस्य परस्य ज्योतिषः पुरुषोत्तमत्वम्, निवृत्ततिरोधानस्य परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्य प्रत्यगात्मनो ब्रह्मलोके यथेष्टभोगावाप्तिम्, प्रियाप्रियावियुक्तकर्मनिमित्तशरीराद्यपुरुषार्थाननुसन्धानं चाभिधाय १ "स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमस्मिन् शरीरे प्राणो युक्तः" इति यथोक्तस्वरूपस्यैव संसारदशायां कर्मतन्त्रं शरीयोगं युग्यशकटयोगदृष्टान्तेनाभिधाय २ "अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुस्स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ योवेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहाराय वागथ यो वेदेदं शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम्। अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः" इति चक्षुरादीनां करणत्वं रूपादीनां ज्ञेयत्वमस्य च ज्ञातृत्वं प्रदर्श्य तत एव शरीरेन्द्रियेभ्योऽस्य व्यतिरेकमुपपाद्य ३ "स वा एष एतेन दिव्येन चक्षुषा मनसैतान्कामान्पश्यन्रमते य एते ब्रह्मलोके" इति तस्यैव विधूतकर्मनिमित्तशरीरेन्द्रियस्य मनश्शब्दाभिहितेन दिव्येन स्वाभाविकेन ज्ञानेन सर्वकामानुभवमुक्त्वा ३ "तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः" इत्येवंविधमात्मानं ज्ञानिनो जानन्तीत्यभिधाय ३ "स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच" इत्येवंविधमात्मानं विदुषस्सर्वलोकसर्वकामावाप्त्युपलक्षितं ब्रह्मानुभवं फलमभिधायोपसंहृतम्। अतस्तत्रापहतपाप्मत्वादि गुणको ज्ञानव्यनया प्रक्रान्तो जीव एवेत्यवगतम्। अतो जीवस्यापहतपाप्मत्वादयस्सम्भवन्ति। अतो दहरवाक्यशेषे श्रूयमाणस्य जीवस्यापहतपाप्मत्वादिगुणसम्भवात्स एव दहराकाश इति निश्चीयते—इति चेत्—इति॥

---

१. छा. ८-१२-२॥ २. छा. ८-१२ ४. ५ ३. छा. ८-१२-६॥

(सिद्धान्तः)

तत्राह—आविर्भूतस्वरूपस्तु—इति। पूर्वमनृततिरोहितापहतपाप्मत्वादिगुणकस्वरूपः पश्चाद्विमुक्तकर्मबन्धश्शरीरात्समुत्थितः परं ज्योतिरुपसम्पन्न आविर्भूतस्वरूपस्सन्नपहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्टस्तत्र प्रजापतिवाक्येऽभिधीयते ; दहरवाक्ये त्वतिरोहितस्वभावापहतपाप्मत्वादिविशिष्ट एव दहराकाशः प्रतीयते। आविर्भूतस्वरूपस्यापि जीवस्यासम्भावनीयास्सेतुत्वसर्वलोकविधरणत्वादयस्सत्यशब्दनिर्वचनावगतं चेतनाचेतनयोर्नियन्तृत्वं दहराकाशस्य परब्रह्मतां साधयन्ति। सेतुत्वसर्वलोकविधरणत्वादय आविर्भूतस्वरूपस्यापि न सम्भवन्तीति १"जगद्व्यापारवर्जम्" इत्यत्रोपपादयिष्यामः ॥१८॥

यद्येवम्, दहरवाक्ये २"अथ य एष सम्प्रसादः" इत्यादिना जीवप्रस्तावः किमर्थः—इति चेत्—तत्राह—

अन्यार्थश्च परामर्शः । १ । ३ । १९ ॥

दहराकाशस्यैवापहतपाप्मत्वजगद्विधरणत्वादिवन्मुक्तस्य तदुपसम्पत्त्याऽपहतपाप्मत्वादिकल्याणगुणविशिष्टस्वाभाविकरूपप्राप्तिकथनेन तद्धेतुत्वरूपं परमपुरुषासाधारणं गुणमुपदेष्टुं प्रजापतिवाक्यान्तस्य जीवस्यात्र परामर्शः ; प्रजापतिवाक्ये च मुक्तात्मस्वरूपयाथात्म्यविज्ञानं दहरविद्योपयोगितयोक्तम् ; ब्रह्मप्रेप्सोर्हि जीवात्मनस्स्वरूपं च ज्ञातव्यमेव ; स्वयमपि कल्याणगुण एव सन्ननवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणं परं ब्रह्मानुभविष्यतीति ब्रह्मोपासनफलान्तर्गतत्वात्स्वरूपयाथात्म्यविज्ञानस्य। ३"सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्" ४"स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्" इत्यादिकं प्रजापतिवाक्ये कीर्त्यमानं फलमपि दहरविद्याफलमेव ॥१९॥

---

१. शारी ४-४-१७ ॥ २. छा. ८-३-४ ॥
३. छा. ८-१२-६ ॥ ४. छा. ८-१२-३ ॥

अल्पश्रुतेरितिचेत्तदुक्तम् । १ । ३ ।२० ॥

१"दहरोऽस्मिन्" इत्यल्पपरिमाणश्रुतिराराग्रोपमितस्य जीवस्यैवोपपद्यते, न तु सर्वस्माज्ज्यायसो ब्रह्मण इति चेत्-तत्र यदुत्तरं वक्तव्यम्, तत्पूर्वमेवोक्तं २"निचाय्यत्वादेवम्" इत्यनेन । अतो दहराकाशो ऽनाद्यनाविद्याद्यशेषदोषगन्धः स्वाभाविकनिरतिशयज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजःप्रभृत्यपरिमितोदारगुणसागरः पुरुषोत्तम एव । प्रजापतिवाक्यनिर्दिष्टस्तु ३"घ्नन्ति ह्येवैनं विच्छादयन्ति" इत्येवमादिभिरवगतकर्मनिमित्तदेहपरिग्रहः पश्चात्परञ्ज्योतिरूपसम्पद्याऽऽविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणस्वरूप इति न दहराकाशः ॥२०॥

इतश्चैतदेवम्—

अनुकृतेस्तस्य च ।१।३।२१॥

तस्य —दहराकाशस्य परस्य ब्रह्मणः, अनुकारात्—अयमपहतपाप्मत्वादिगुणको विमुक्तबन्धः प्रत्यगात्मा न दहराकाशः । तदनुकारःतत्साम्यम् । तथाहि प्रत्यगात्मनो विमुक्तस्य परब्रह्मानुकारः श्रूयते ४"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इति । अतोऽनुकर्ता प्रजापतिवाक्यनिर्दिष्टः । अनुकार्यं ब्रह्म दहराकाशः ॥२१

अपि स्मर्यते ।१।३।२२॥

संसारिणोऽपि मुक्तावस्थायां परमसाम्यापत्तिलक्षणः परब्रह्मानुकारः स्मर्यते ५"इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च" इति ॥

---

१. छा. ८-१-१ ॥
२. शारी. १-२-७ ॥
३. छा. ८-१०-२ ॥
४. मु. ३-१-३ ॥
५. गी. १४-२ ॥

केचित्—'अनुकृतेस्तस्यच' 'अपि स्मर्यते' इति सूत्रद्वयमधिकरणान्तरं १"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इत्यस्याश्श्रुतेः परब्रह्मपरत्वनिर्णयाय प्रवृत्तं वदन्ति। तत्तु–२"अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः" ३"द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्" इत्यधिकरणद्वयेन तस्य प्रकरणस्य परब्रह्मविषयत्वप्रतिपादनात् ४"ज्योतिश्चरणाभिधानात्" इत्यादिषु परस्य ब्रह्मणो भारूपत्वावगतेश्च पूर्वपक्षानुत्थानादयुक्तम्; सूत्राक्षर ५वैरूप्यं च ॥२२॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये दहराधिकरणम् ॥ ५ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रमिताधिकरणम् ॥ ६ ॥)

शब्दादेव प्रमितः ।१।३।२३॥

कठवल्लीषु श्रूयते ६"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वैतत्" ७"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः। एतद्वै तत्" ८"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतम्" इति। तत्र सन्दिह्यते—किमयमङ्गुष्ठमात्रप्रमितः प्रत्यगात्मा, उत परमात्मा—इति। किं युक्तम्? प्रत्यगात्मेति। कुतः? जीवस्यान्यत्राङ्गुष्ठमात्रत्वश्रुतेः ९*"प्राणाधिपस्सञ्चरति स्वकर्मभिः। अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः" इति।

---

१. मु. २-२-१० ॥ २. शारी. १-२-२२ ॥
३. शारी. १-३-१ ॥ ४. शारी. १-१-२५ ॥
५. वैरूप्याच. पा ॥ ६. कठ. २-४-१२ ॥
७. कठ. २-४-१३ ॥ ८. कठ. २६-१७ ॥
९. श्वे. ५-८-७ ॥ *'विश्वाधिप'इत्यपि पा ॥

नचान्यत्रोपासनार्थंतथाऽपि परमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वं श्रूयते । एवं निश्चिते जीवत्वे ईशानत्वं शरीरेन्द्रियभोग्यभोगोपकरणापेक्षयाऽपि भविष्यति ॥

सिद्धान्तः ।

इति प्राप्ते ब्रूमः—शब्दादेव प्रमितः–अङ्गुष्ठप्रमितः परमात्मा; कुनः ? १"ईशानो भूतभव्यस्य" इति शब्दादेव; न च भूतभव्यस्य सर्वस्येशितृत्वं कर्मपरवशस्य जीवस्योपपद्यते ॥ २३ ॥

कथं तर्हि परमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वमित्यत्राह—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ।१।३।२४।।

परमात्मन उपासनार्थमुपासकहृदये वर्तमानत्वादुपासकहृदयस्याङ्गुष्ठप्रमाणत्वात्तदपेक्षयेदमङ्गुष्ठप्रमितत्वमुपपद्यते. जीवस्याप्यङ्गुष्ठप्रमितत्वं हृदयान्तर्वर्तित्वात्तदपेक्षमेव; तस्याराग्रमात्रत्वश्रुतेः । मनुष्याणामेवोपासकत्वसम्भावनया शास्त्रस्य मनुष्याधिकारत्वान्मनुष्यहृदयस्य च तत्तदङ्गुष्ठप्रमितत्वात्खरतुरगभुजगादीनामनङ्गुष्ठप्रमितत्वेऽपि न कश्चिद्दोषः स्थितं तावदुत्तरत्रसमापयिष्यते ॥ २४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसा भाष्ये प्रतिमाधिकरणम् ॥ ६ ॥

(*श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये एतद्गर्भे देवताधिकरणम् ॥ ७ ॥*)

तदुपर्यपि बादरायणस्सम्भवात् । १ । ३ । २५ ॥

परस्य ब्रह्मणोऽङ्गुष्ठप्रमितत्वोपपत्तये मनुष्याधिकारं ब्रह्मोपासनशास्त्रमित्युक्तम् । तत्प्रसङ्गेनेदानीं ब्रह्मविद्यायां देवादीनामप्यधिकारोऽस्ति नास्तीति विचार्यते । किं तावद्युक्तम् ? नास्ति देवादीनामधिकार इति । कुतः ? सामर्थ्याभावात् , नह्यशरीराणां देवादीनां विवेकविमोकादिसाधनसप्तकानुगृहीतब्रह्मोपासनोपसंहारसामर्थ्यम-

१. कठ. २-४-१३ ॥

स्ति । नच देवादीनां सशरीरत्वे प्रमाणमुपलभामहे । यद्यपि परिनिष्पन्नेऽपि वस्तुनि व्युत्पत्तिसम्भावनया वेदान्तवाक्यानि परे ब्रह्मणि प्रमाणभावमनुभवन्ति; तथापि देवादीनां विग्रहवत्त्वप्रतिपादनपरं न किंचिदपि वाक्यमुपलभ्यते । मन्त्रार्थवादास्तु कर्मविधिशेषतयाऽन्यपरत्वान्न देवादिविग्रहसाधने प्रभवन्ति । कर्मविधयश्च स्वापेक्षितेन्द्राद्युद्देश्यकारकत्वातिरेकि देवतागतं किमपि न साधयन्ति । अतएव तासामर्थित्वमपि न सम्भवति । अतस्सामर्थ्यार्थित्वयोरभावाद्देवादीनामनधिकार इति ॥

सिद्धान्तः ।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—तदुपर्यपि बादरायणस्सम्भवात्—तदुपर्यपि—तत् ब्रह्मोपासनम्, उपरि—देवादिष्वपि, सम्भवतीति भगवान्बादरायणो मन्यते, तेषामर्थित्वसामर्थ्ययोस्सम्भवात् । अर्थित्वं तावदाध्यात्मिकादिदुर्विषहदुःखाभितापात्परस्मिन्ब्रह्मणि च निरस्तनिखिलदोषगन्धेऽनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणगणे निरतिशयभोग्यत्वाद्विज्ञानाच्च सम्भवति । सामर्थ्यमपि पटुतरदेहेन्द्रियादिमत्तया सम्भवति । देहेन्द्रियादिमत्त्वंच ब्रह्मादीनां सकलोपनिषत्सु सृष्टिप्रकरणेषूपासनप्रकरणेषु च श्रूयते । तथाहि १ "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" १ "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" इत्यारभ्य सर्वमचेतनं तेजोबन्नप्रमुखावस्थाविशेषब्रह्मरूपाकृत्य २ "अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति सङ्कल्प्य ब्रह्मादिस्थावरान्तं चतुर्विधं भूतजातं तत्तत्कर्मोचितशरीरं तदुचितनामभाक्चायमकरोदित्युक्तम् । एवं सर्वत्र सृष्टिवाक्येषु देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मना चतुर्विधा सृष्टिराम्नायते । देवादिभेदश्च तत्तत्कर्मानुगुणब्रह्मलोकप्रभृतिचतुर्दशलोकस्थफलभोगयोग्यदेहेन्द्रियादियोगायत्तः, आत्मनां स्वतो देवादित्वाभावात् । तथा ३ "तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे ते होचुः...इन्द्रो हवै देवानाम-

१. छा. ६-२-१, ३ ॥　　२. छा. ६-३-२ ॥
३. छा. ८-७-२ ॥

भिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः" १" तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्य--मूषतुः तौ ह प्रजापतिरुवाच" इत्यादिना स्पष्टमेव शरीरेन्द्रियवत्त्वं देवादीनां प्रतीयते। कर्मविधिशेषभूतमन्त्रार्थवादेष्वपि २ "वज्रहस्तः पुरन्दरः" ३ "तेनेन्द्रो वज्रमुदयच्छत्" इत्यादिभिः प्रतीयमानं विग्रहादिमत्त्वं प्रमाणान्तराविरुद्धं तत्प्रमेयमेव। नचानुष्ठेयार्थ--प्रकाशनस्तुतिपरत्वाभ्यां प्रतीयमानार्थान्तराविवक्षा शक्यते वक्तुम्, स्तुत्याद्युपयोगित्वात्तेन विना स्तुत्याद्यनुपपत्तेश्च। गुणकथनेन हि स्तुतित्वम्। गुणानामसद्भावे स्तुतित्वमेव हीयेत। नचासता गुणेन कथितेन प्ररोचना जायते। अतः कर्म प्ररोचयन्तो गुणसद्भावं बोध--यन्त्येवार्थवादाः। मन्त्राश्च कर्मसु विनियुक्तास्तत्रतत्र किञ्चित्कर-त्वायानुष्ठेयमर्थं प्रकाशयन्तो देवतादिगतविग्रहादिगुणविशेषमभिद--धत एव तत्र किञ्चित्कुर्वन्ति, अन्यथेन्द्रादिस्मृत्यनुपपत्तेः। नच निर्विशेषा देवता धियमधिरोहति। तत्र प्रमाणान्तराप्राप्तान्गुणान् स्वयमेव बोधयित्वा तैः कर्म प्ररोचयन्ति; गुणविशिष्टं वा प्रकाश--यन्ति; प्राप्तांश्चानूद्य तैः प्ररोचनप्रकाशने कुर्वन्ति; विरुद्धत्वे तु तद्वाचिभिश्शब्दैरविरुद्धान्गुणान् लक्षयित्वा कुर्वन्ति। कर्मविधेश्च देवताया ऐश्वर्यमपेक्षितमेव। कामिनः कर्तव्यतया कर्म विधीयमानं स्वयं क्षणप्रध्वंसि कालान्तरभाविनः फलस्य स्वर्गादेस्साधकमपेक्षते। मन्त्रार्थवादयोश्च ४ "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेये-नोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति" ५ "यदनेन हविषाऽऽशास्ते तदश्यात्तदृध्यात्तदस्मै देवा राधन्ताम्" इत्यादिषु देवतायाः कर्मणा--ऽऽराधितायाः फलदायित्वं तदनुगुणं चैश्वर्यं प्रतीयमानमपेक्षितत्वेन वाक्यार्थे समन्वीयते। देवपूजाभिधायिनो यजिधातोश्च यागाख्यं कर्म स्वाराध्यदेवताप्रधानं प्रतीयते। तदेवं कृत्स्नवाक्यपर्यालोचनया वाक्यादेव विध्यपेक्षितं सर्वमवगतमिति नापूर्वादिकं व्युत्पत्तिसम-

१. छा. ८-७-२ ॥ २. अष्टक. २. प्रश्न ६. अनु. ७. पं. २४॥
३. काण्ड.२. प्रश्न ४. अनु.१२॥ ४. यजु. काण्ड २-प्रश्न. १-अनु. १प. १॥
५. अष्ट. प्रश्न. ६॥

यानवगतं कर्मविधिष्वभिधेयतया कल्प्यतया वाऽऽश्रयितव्यम् । तथा सङ्कीर्णब्राह्मणमन्त्रार्थवादमूलेषु धर्मशास्त्रेतिहासपुराणेषु ब्रह्मादीनां देवासुरप्रभृतीनां च देहेन्द्रियादयस्स्वभावभेदाः स्थानानि भोगाः कृत्यानिचेत्येवमादयस्सुव्यक्ताः प्रतिपाद्यन्ते । अतो विग्रहादिमत्त्वाद्देवानामप्यधिकारोऽस्त्येव ॥ २५ ॥

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेक प्रतिपत्तेर्दर्शनात् । १ । ३ । २६ ॥

देवादीनां विग्रहादिमत्त्वाभ्युपगमे कर्मणि विरोधः प्रसज्यते, बहुषु यागेषु युगपदेकस्येन्द्रस्य विग्रहवत्त्वे १"अग्निमग्न आवह" २ "इन्द्रागच्छ हरिव आगच्छ" इत्यादिना आहूतस्य तस्य सन्निधानानुपपत्तेः । दर्शयति चाग्न्यादीनां तत्रतत्रागमनं ३ "कस्य वाह देवा यज्ञमागच्छन्ति कस्य वा न बहूनां यजमानानां यो वै देवताः पूर्वः परिगृह्णाति स एनाश्श्वोभूते यजते" इति । अतो विग्रहादिमत्त्वे कर्मणि विरोधः प्रसज्यत इति चेत्, तन्न—अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्—दृश्यतेहि सौभरिप्रभृतीनां शक्तिमतां युगपदनेकशरीरप्रतिपत्तिः ॥२६॥

शब्द इति चेन्नातः प्रभवा त्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । १ । ३ २७ ॥

विरोध इति वर्तते । मा भूत्कर्मणि विरोधोऽनेकशरीरप्रतिपत्तेः । शब्दे तु वैदिके विरोधः प्रसज्यते, अनित्यार्थसंयोगात् । विग्रहवत्त्वे हि सावयवत्वेनेन्द्रादेरर्थस्यानित्यत्वमनिवार्यम् । ततो देवदत्तादिशब्दवदिन्द्राद्यर्थजन्मनः प्राग्विनाशादूर्ध्वंचेन्द्रादिशब्दानां वैदिकानामर्थशून्यत्वमनित्यत्वं वा वेदस्य स्यादितिचेत्—तन्न, अतः प्रभवात्—अस्मादिन्द्रादिशब्दादेव पुनः पुनरिन्द्राद्यर्थस्य प्रभवात् । एतदुक्तं

१. यजु. अष्ट. ३. प्रश्न. ५॥ २. यजु आरण्य. प्रश्न. १. अनु. १२॥
३. यजु. का. १ प्रश्न. ६. अनु. ७ पं. २१॥

भवति–नहि देवदत्तादिशब्दवदिन्द्रादिशब्दा वैदिका व्यक्तिविशेषमात्रे सङ्केतपूर्वकाः प्रवृत्ताः; अपि तु स्वभावत एव गवादिशब्दवदाकृति-विशेषवाचित्वेन। ततश्चैकस्यामिन्द्रव्यक्तौ विनष्टायामन एव वैदिकादिन्द्रशब्दान्मनसि विपरिवर्तमानादवगततद्वाच्यभूतेन्द्राद्यर्थाकारो धाता तदाकारमेवापरमिन्द्रं सृजति; यथा कुलालो घटशब्दान्मनसि विपरिवर्तमानात्तदाकारमेव घटम्–इति। कथमिदमवगम्यते ? प्रत्यक्षानुमानाभ्यां—श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। श्रुतिस्तावत् १"वेदेन रूपे व्याकरोत्सतासती प्रजापतिः" इति; तथा २"स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत स भुव इति व्याहरत् सोऽन्तरिक्षमसृजत" इत्यादि। वाचकशब्दपूर्वकं तत्तदर्थसंस्थानं स्मरन् तत्तत्संस्थानविशिष्टं तंतमर्थं सृष्टवानित्यर्थः। स्मृतिरपि ३"अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतस्सर्वाः प्रसूतयः" इति;४"सर्वेषां तु स नामानि कर्माणिच पृथक्पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे" इति। संस्थाः संस्थानानि रूपाणीति यावत्; तथा ५"नामरूपंच भूतानां कृत्यानांच प्रपञ्चनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः" इति। अतो देवादीनां विग्रहवत्त्वेऽपि वैदिकशब्दानामानर्थक्यं, वेदस्यादिमत्त्वंच न प्रसज्यते ॥ २७ ॥

अत एव च नित्यत्वम्। १। ३। २८ ॥

यत एवेन्द्रवसिष्ठादिशब्दानां देवर्षिवाचिनां तत्तदाकारवाचित्वं, तत्तच्छब्देन तत्तदर्थस्मृतिपूर्विकाच तत्तदर्थसृष्टिः; तत एव ३"मन्त्रकृतो वृणीते" ४"नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः" ५"अग्रं सो अग्निरिति विश्वामित्रस्य सूक्तं भवति" इत्यादिभिर्वसिष्ठादीनां मन्त्रकृत्त्वकाण्डकृत्त्वऋषित्वादौ प्रतीयमानेऽपि वेदस्य नित्यत्वमुपपद्यते। एभिरेव ३"मन्त्रकृतो वृणीते" इत्यादिभिर्वेदशब्दैस्तत्तत्काण्ड-

---

१. अष्ट. २. प्रश्न. ६. अनु. २. पं. ७॥ २. अष्ट. २. प्रश्न. २. अनु. ४. पं. २२॥
३. मनु. अ. १. श्लो. २१ ॥ ४.
५. वि. पु. अं. १. अ. ५. श्लो. ६२॥ ६.
७ आरण. प्रश्न. ७. अनु. १. पं. १ ॥ ८. यजु. का. ५. प्र. २ अनु. ३. पं. ३॥

सूक्तमन्त्रकृतामृषीणामाकृतिशक्त्यादिकं परामृश्य तत्तदाकारान् तत्तच्छक्तियुक्तांश्च सृष्ट्वा प्रजापतिस्तानेव तत्तन्मन्त्रादिकरणे नियुङ्क्ते। तेऽपि प्रजापतिना आहितशक्तयस्तत्तदनुगुणं तपस्तप्त्वा नित्यसिद्धान्पूर्वपूर्ववसिष्ठादिदृष्टान् तानेव मन्त्रादीननधीत्यैव स्वरतो वर्णतश्चास्खलितान्पश्यन्ति। अतश्च वेदानां नित्यत्वमेषां च मन्त्रकृत्त्वमुपपद्यते ॥ २८ ॥

अथ स्यात्– नैमित्तिकप्रलयादिष्विन्द्राद्युत्पत्तौ वेदशब्देभ्यः पूर्वपूर्वेन्द्रादिस्मरणेन प्रजापतिना देवादिसृष्टिरुपपद्यतां नाम; प्राकृतप्रलये तु स्रष्टुः प्रजापतेर्भूताद्यहङ्कारपरिणामशब्दस्यच विनष्टत्वात्कथं प्रजापतेश्शब्दपूर्विका सृष्टिरुपपद्यते; कथन्तरां विनष्टस्य वेदस्य नित्यत्वम्; अतो वेदनित्यत्ववादिना देवादीनां विग्रहवत्त्वाभ्युपगमेऽपि लोकव्यवहारस्य प्रवाहानादिताऽऽश्रयणीयेति। अत्रोत्तरं पठति—

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ।१।३।२९॥

कृत्स्नोपसंहारे जगदुत्पत्त्यावृत्तावपि पूर्वोक्तात्समाननामरूपत्वादेव न कश्चिद्विरोधः। तथाहि—स भगवान्पुरुषोत्तमः प्रलयावसानसमये पूर्वसंस्थानं जगत्स्मरन् १ "बहु स्याम्" इति सङ्कल्प्य भोग्यभोक्तृजातं स्वस्मिन् शक्तिमात्रावशेषं प्रलीनं विभज्य महदादिब्रह्माण्डं हिरण्यगर्भपर्यन्तं यथापूर्वं सृष्ट्वा वेदांश्च पूर्वानुपूर्वीविशेषसंस्थितानाविष्कृत्य हिरण्यगर्भायोपदिश्य पूर्ववदेव देवाद्याकारजगत्सर्गे तं नियुज्य स्वयमपि तदन्तरात्मतयाऽवतस्थे। अतो यथोक्तं सर्वमुपपन्नम्। एतदेव च वेदस्यापौरुषेयत्वं नित्यत्वं च, यत्पूर्वपूर्वोच्चारणक्रमजनितसंस्कारेण तमेव क्रमविशेषं स्मृत्वा तेनैव क्रमेणोच्चार्यत्वम्; तदस्मासु सर्वेश्वरेऽपि समानम्। इयांस्तु विशेषः—संस्कार-

१. छा. ६-२-३ ॥

नपेक्षमेव स्वयमेवानुसन्धत्ते पुरुषोत्तमः। कुत इदं यथोक्तमवगम्यत इति चेत्—तत्राह—दर्शनात् स्मृतेश्च । दर्शनं तावत् १"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इति। स्मृतिरपि मानवी २"आसीदिदं तमोभूतम्" इत्यारभ्य "सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमपासृजत् ॥ तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् । तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः" इति । तथा पौराणिकी ३"तस्य सुप्तस्य नाभौ पद्मम जायत। तस्मिन्पद्मे महाभाग वेदवेदाङ्गपारगः ॥ ब्रह्मोत्पन्नस्स तेनोक्तः प्रजास्सृज महामते" ; तथा ४"परो नारायणो देवस्तस्माज्जातश्चतुर्मुखः" इति। तथा ५"आदिसर्गमहं वक्ष्ये" इत्यारभ्योच्यते—६"सृष्ट्वा नारं तोयमन्तस्स्थितोऽहं येन स्यान्मे नाम नारायणेति। कल्पेकल्पे तत्र शयामि भूयस्सुप्तस्य मे नाभिजं स्याद्यथाऽब्जम् ॥ एवंभूतस्य मे देवि नाभिपद्मे चतुर्मुखः । उत्पन्नस्स मया चोक्तः प्रजास्सृज महामते" इति ॥

अतो देवादीनामप्यर्थित्वसामर्थ्ययोगाद्ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्तीति सिद्धम् ॥ २६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये देवताधिकरणम् ॥ ७ ॥

—*(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये मध्वधिकरणम्)*—

—*:(पूर्वपक्ष सू०):*—

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः।१।३।३०॥

ब्रह्मविद्यायां देवादीनामप्यधिकारोऽस्तीत्युक्तम्; इदमिदानीं

---

१ श्वे. ६-१८ ॥ २ मनु. १-५-८, ९ ॥
३. ४.
५. ६.

चिन्त्यते येषूपासनेषु या देवता एवोपास्यास्तेषु तासामधिकारोऽस्ति न इति, किं प्राप्तम् ? नास्त्यधिकारस्तेषु मध्वादिष्विति जैमिनिर्मन्यते; कुतः असम्भवात्—नह्यादित्यवस्वादिभिरुपास्या आदित्यवस्वादयोऽन्ये सम्भवन्ति । नच वस्वादीनां सतां वस्वादित्वं प्राप्यं भवति, प्राप्तत्वात्; मधुविद्यायामृग्वेदादिप्रतिपाद्यकर्मनिष्पाद्यस्य रश्मिद्वारेण प्राप्तस्य रसस्याश्रयतया लब्धमधुव्यपदेशस्यादित्यस्यांशानां वस्वादिभिर्भुज्यमानानामुपास्यत्वं वस्वादित्वंच प्राप्यं श्रूयते १"असौ वा आदित्यो देवमधु" इत्युपक्रम्य २"तद्यत्प्रथममसृतं तद्वसव उपजीवन्ति" इत्युक्त्वा ३"स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति" इत्यादिना ॥ ३० ॥

ज्योतिषि भावाच्च ।१।३।३१।

४"तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्" इति ज्योतिषिपरस्मिन्ब्रह्मणि उपासनं देवानां श्रूयते । देवमनुष्योभयसाधारणे परब्रह्मोपासने देवानामुपासकत्वकथनं देवानामितरोपासननिवृत्तिं द्योतयति । अत एषु वस्वादीनामनधिकारः ॥ ३१ ॥

—*(सिद्धान्त सू०)*—

इति प्राप्तेऽभिधीयते—

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ।१।३।३२॥

आदित्यवस्वादीनामपि तेष्वधिकारभावं भगवान्बादरायणो मन्यते । अस्ति ह्यादित्यवस्वादीनामपि स्वावस्थब्रह्मोपासनेन वस्वादि-

---

१. छा. ३-१-१ ॥ २. छा. ३-६-१ ॥
३. छा. ३-६ ३ ॥ ४. बृ. ६-४-१४ ॥

त्वप्राप्तिपूर्वकब्रह्मप्रेप्सासम्भवः । इदानी वस्वादीनामपि सतां कल्पान्तरेऽपि वस्वादित्वप्राप्तिश्चापेक्षिता भवति । अत्र हि कार्यकारणोभयावस्थब्रह्मोपासनं विधीयते १"असौ वा आदित्यो देवमधु" इत्यारभ्य २"अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य" इत्यतः प्रागादित्यवस्वादिकार्यविशेषावस्थं ब्रह्मोपास्यमुपदिश्यते; २"अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य" इत्यादिना आदित्यान्तरात्मतयाऽवस्थितं कारणावस्थमेव ब्रह्मोपास्यमुपदिश्यते। तदेवं कार्यकारणोभयावस्थं ब्रह्मोपासीनः कल्पान्तरे वस्वादित्वं प्राप्य तदन्ते कारणं परं ब्रह्मैवाप्नोति । ३"न ह वा अस्मा उदेति न निम्रोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद" इति कृत्स्नाया मधुविद्याया ब्रह्मोपनिषत्त्वश्रवणाद्ब्रह्मप्राप्तिपर्यन्तवस्वादित्वफलस्य श्रवणाच्च वस्वादिभोग्यभूतादित्यांशस्य विधीयमानमुपासनं तदवस्थस्यैव ब्रह्मण इत्यवगम्यते । अत एवंविधमुपासनमादित्यवस्वादीनामपि सम्भवति । एवञ्च ब्रह्मण एवोपास्यत्वात् ४"तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः" इत्यप्युपपद्यते । तदाह वृत्तिकारः ५"अस्ति हि मध्वादिषु सम्भवो ब्रह्मण एव सर्वत्र निचाय्यत्वात्" इति ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये मध्वधिकरणम् ॥ ८ ॥

—*(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अपशूद्राधिकरणम्)*—

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि । १ । ३ । ३३ ॥

ब्रह्मविद्यायां शूद्रस्याप्यधिकारोऽस्ति नवेति विचार्यते; किं

---

१. छा. ३-१-१ ॥ २. छा. ३-११-१ ॥
३. छा. ३-११-३ ॥ ४. बृ. ६-४-१६ ॥
५. बोधायनवृत्तिः ॥

युक्तम् ? अस्तीति। कुतः ? अर्थित्वसामर्थ्यप्रयुक्तत्वादधिकारस्य, शूद्रस्यापि तत्सम्भवात् । यद्यप्यग्निविद्यासाध्येषु कर्मस्वनग्निविद्यत्वाच्छूद्रस्यानधिकारः; तथापि मनावृत्तिमात्रत्वाद्ब्रह्मोपासनस्य तत्राधिकारोऽस्त्येव, शास्त्रीयक्रियापेक्षत्वेऽप्युपासनस्य तत्तद्वर्णाश्रमोचितक्रियाया एवापेक्षितत्वाच्छूद्रस्यापि स्ववर्णोचितपूर्ववर्णशुश्रूषैव क्रिया भविष्यति। १ "तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः इत्यप्यग्निविद्यासाध्ययज्ञादिकर्मानधिकार एव न्यायसिद्धोऽनूद्यते। नन्वनधीतवेदस्याश्रुतवेदान्तस्य ब्रह्मस्वरूपतदुपासनप्रकारानभिज्ञस्य कथं ब्रह्मोपासनं सम्भवति ? उच्यते—अनधीतवेदस्याश्रुतवेदान्तवाक्यस्यापीतिहासपुराणश्रवणेनापि ब्रह्मस्वरूपतदुपासनज्ञानं सम्भवति। अस्तिच शूद्रस्यापीतिहासपुराणश्रवणानुज्ञा २ "श्रावयेच्चतुरो वर्णान्कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः" इत्यादौ। दृश्यन्तेचेतिहासपुराणेषु विदुरादयो ब्रह्मनिष्ठाः। तथोपनिषत्स्वपि संवर्गविद्यायां शूद्रस्यापि ब्रह्मविद्याधिकारः प्रतीयते—शुश्रूषुं हि जानश्रुतिमाचार्यो रैक्वश्शूद्रेत्यामन्त्र्य तस्मै ब्रह्मविद्यामुपदिशति—३ "आजहारेमाश्शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथाः" इत्यादिना। अतश्शूद्रस्याप्यधिकारस्सम्भवति ॥

सिद्धान्त।

इति प्राप्त उच्यते—न शूद्रस्याधिकारस्सम्भवति, सामर्थ्याभावात्; नहि ब्रह्मस्वरूपतदुपासनप्रकारमजानतस्तदङ्गभूतवेदानुवचनयज्ञादिष्वनधिकृतस्योपासनोपसंहारसामर्थ्यसम्भवः; असमर्थस्य चार्थित्वसद्भावे ऽप्यधिकारो न सम्भवति; असामर्थ्यं च वेदाध्ययनाभावात्; यथैव हि त्रैवर्णिकविषयाध्ययनविधिसिद्ध-

१. यजु. का. ७-१-१-१ ॥ २. भारते. शान्ति. मोच ॥
३. छा. ४-२-५ ॥

स्वाध्यायसम्पाद्यज्ञानलाभेन कर्मविधयो ज्ञानतदुपायादीनपरान् स्वीकुर्वन्ति; तथा ब्रह्मोपासनविधयोऽपि। अतोऽध्ययनविधिसिद्ध-स्वाध्यायाधिगतज्ञानस्यैव ब्रह्मोपासनोपायत्वाच्छूद्रस्य ब्रह्मोपासन-सामर्थ्यासम्भवः। इतिहासपुराणे अपि वेदोपबृंहणं कुर्वती पत्रो-पायभावमनुभवतः; न स्वातन्त्र्येण; शूद्रस्येतिहासपुराणश्रवणानुज्ञानं पापक्षयादिफलार्थम्; नोपासनार्थम्। विदुरादयस्तु भवान्तराधि-गतज्ञानाप्रमोषात् ज्ञानवन्तः प्रारब्धकर्मवशाच्चेदृशजन्मयोगिन इति तेषां ब्रह्मनिष्ठत्वम्।

यच्च—संवर्गविद्यायां शुश्रूषोः शूद्रेति सम्बोधनं शूद्रस्याधि-कारं सूचयति—इति; तत्रेत्याह—शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रव-णात्सूच्यते हि—शुश्रूषोर्जानश्रुतेः पौत्रायणस्य ब्रह्मज्ञानवैकल्येन हंसो-क्तानादरवाक्यश्रवणात्तदैव ब्रह्मविदो रैक्वस्य सकाशं प्रत्याद्रवणा-च्छुगस्य सञ्जातेति हि सूच्यते; अतस्स शूद्रेत्यामन्त्र्यते, न चतु-र्थवर्णत्वेन। शोचतीति हि शूद्रः; १ "शुचेर्दश्च" इति रप्रत्यये धातोश्च दीर्घे चकारस्य च दकारे शूद्र इति भवति। अतश्शोचितृ-त्वमेवास्य शूद्रशब्दप्रयोगेन सूच्यते; न जातियोगः। जानश्रुतिः किल पौत्रायणो बहुद्रव्यप्रदो बह्वन्नप्रदश्च बभूव। तस्य धार्मिकाग्रेसरस्य धर्मेण प्रीतयोः कयोश्चिन्महात्मनोरस्य ब्रह्मजिज्ञासामुत्पिपादयिषतोः हंसरूपेण निशायामस्याविदूरे गच्छतोरन्यतर इतरमुवाच—२ "भो भोऽयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योति-राततं तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा माप्रधाक्षीत्" इति। एवं जानश्रुति-प्रशंसारूपं वाक्यमुपश्रुत्य परो हंसः प्रत्युवाच—३ "कम्वर एनमेत-त्सन्तंसयुग्वानमिव रैक्वमात्थ" इति। कं सन्तमेनं जानश्रुतिं

१. उणादिषु ॥
२. छा. ४-१-२ ॥
३. छा. ४-१-३ ॥

सयुग्वानं रैक्वं ब्रह्मज्ञमिव गुणश्रेष्ठमेतदात्थ; स ब्रह्मज्ञो रैक्व एव लोके गुणवत्तरः; महता धर्मेण संयुक्तस्याप्यस्य जानश्रुतेरब्रह्मज्ञस्य को गुणः, यद्गुणजनितं तेजो रैक्वतेज इव मां दहेदित्यर्थः। एवमुक्तेन परेण कोऽसौ रैक्व इति पृष्टः लोके यत्किंचित्साध्वनुष्ठितं कर्म, यच्च सर्वचेतनगतं विज्ञानम्, तदुभयं यदीयज्ञानकर्मान्तर्भूतम्, स रैक्व इत्याह। तदेतद्धंसवाक्यं ब्रह्मज्ञानविधुरतया आत्मनिन्दागर्भं तद्वत्तया च रैक्वप्रशंसारूपं जानश्रुतिरुपश्रुत्य तत्क्षणादेव क्षत्तारं रैक्वान्वेषणाय प्रेष्य तस्मिन्विदित्वा आगते स्वयमपि रैक्व[1]मुपसद्य गवां षट्छतं निष्कमश्वतरी रथं च रैक्वायोपहृत्य रैक्वं प्रार्थयामास [2]"अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से" इति त्वदुपास्यां परां देवतां ममानुशाधीत्यर्थः। स च रैक्वस्स्वयोगमहिमविदितलोकत्रयो जानश्रुतेर्ब्रह्मज्ञानविधुरतानिमित्तानादरगर्भहंसवाक्यश्रवणेन शोकाविष्टतां तदनन्तरमेव ब्रह्मजिज्ञासयोद्योगं च विदित्वाऽस्य ब्रह्मविद्यायोग्यतामभिज्ञाय चिरकालसेवां विना द्रव्यप्रदानेन शुश्रूषमाणस्यास्य याचच्छक्तिप्रदानेन ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठिता भवतीति मत्वा तमनुगृह्णन् तस्य शोकाविष्टतामुपदेशयोग्यताख्यापिकां शूद्रशब्देनामन्त्रणेन ज्ञापयन्निदमाह—[3]"अहहारे त्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु" इति। सह गोभिरयं रथस्तवैवास्तु; नैतावता मह्यं दत्तेन ब्रह्मजिज्ञासया शोकाविष्टस्य तव ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठिता भवतीत्यर्थः। स च जानश्रुतिर्भूयोऽपि स्वशक्त्यनुगुणमेव गवादिकं धनं कन्यां च प्रदायोपससाद स रैक्वः पुनरपि तस्य योग्यतामेव ख्यापयन् शूद्रशब्देनामन्त्र्याह—[4]"आजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथाः" इति। इमानि धनानि शक्त्यनुगुणान्याजहर्थ;

---

[1] मासाद्य. पा ॥ [2] छा. ४-२-२ ॥
[3] छा. ४-२-३ ॥ [4] छा. ४-२-५ ॥

अनेनैव द्वारेण चिरसेवया विनाऽपि मां त्वदभिलषितं ब्रह्मोपदेशरूपवाक्यमालापयिष्यसीत्युक्त्वा तस्मा उपदिदेश । अतश्शूद्रशब्देन विद्योपदेशयोग्यताख्यापनार्थं शोक एवास्य १ सूचितः; न चतुर्थवर्णत्वम् ॥ ३३ ॥

क्षत्रियत्वगतेश्च ।१।३।३४॥

२"बहुदायी" इति दानपतित्वेन "२बहुपाक्यः" इत्यादिना २"सर्वत एवमेतदन्नमत्स्यन्ति" इत्यन्तेन बहुतरपकान्नप्रदायित्वप्रतीतेः ३"सहसञ्जिहान एव क्षत्तारमुवाच" इति क्षत्तृप्रेषणाद्बहुग्रामप्रदानावगतजनपदाधिपत्याच्चास्य जानश्रुतेः क्षत्रियत्वप्रतीतेश्च न चतुर्थवर्णत्वम् ॥ ३४ ॥

तदेवमुपक्रमगताख्यायिकायां क्षत्रियत्वप्रतीतिरुक्ता; उपसंहारगताख्यायिकायामपि क्षत्रियत्वमस्य प्रतीयत इत्याह--

उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ।१।३।३५॥

अस्य जानश्रुतेरुपदिश्यमानायामस्यामेव संवर्गविद्यायामुत्तरत्र कीर्त्यमानेनाभिप्रतारिनाम्ना चैत्ररथेन क्षत्रियेणास्य क्षत्रियत्वं गम्यते। कथम्? ४"अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे" इत्यादिना ५"ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे" इत्यन्तेन कापेयाभिप्रतारिणोर्भिक्षमाणस्य ब्रह्मचारिणश्च संवर्गविद्यासम्बन्धित्वं प्रतीयते । तेष्वभिप्रतारी क्षत्रियः, इतरौ ब्राह्मणौ; अतोऽस्यां विद्यायां ब्राह्मणस्य तदितरेषु च क्षत्रियस्यैवान्वयो दृश्यते; न शूद्रस्य । अतोऽस्यां विद्यायामन्वितादेकाद्ब्राह्मणाद-

१ सूचितो भवति. पा ॥ २ छा. ४-१-१ ॥
३ छा. ४-१-५ ॥ ४ छा. ४-३-५ ॥
५ छा. ४-३-७ ॥

न्यस्य जानश्रुतेरपि क्षत्रियत्वमेव युक्तम् ; न चतुर्थवर्णत्वम् । नन्व-स्मिन्प्रकरणेऽभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वं क्षत्रियत्वं च न श्रुतम् ; तत्कथ-मस्याभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वम् ? कथं वा क्षत्रियत्वम् ? तत्राह— लिङ्गात्—इति । १"अथह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसे-निम्" इत्यभिप्रतारिणः कापेयसाहचर्याल्लिङ्गादस्याभिप्रतारिणः कापे-यसम्बन्धः प्रतीयते; अन्यत्र च २"एतेन वै चैत्ररथं कापेया अयाज-यन्" इति कापेयसम्बन्धिनश्चैत्ररथत्वं श्रूयते; तथा चैत्ररथस्य क्षत्रि-यत्वं ३"तस्माच्चैत्ररथो नामैकः क्षत्रपतिरजायत" इति; अतोऽभिप्र-तारिणश्चैत्ररथत्वं क्षत्रियत्वं च गम्यते ॥ ३५ ॥

तदेवं न्यायविरोधिनि शूद्रस्याधिकारे लिङ्गं नोपलभ्यत इत्युक्तम् , इदानीं न्यायसिद्धश्शूद्रस्यानधिकारश्श्रुतिस्मृतिभिरनुगृ-ह्यत इत्याह—

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च । १ । ३ । ३६ ॥

ब्रह्मविद्योपदेशेषूपनयनसंस्कारः परामृश्यते—४ "उप त्वा नेष्ये" ५ "तं होपनिन्ये" इत्यादिषु । शूद्रस्य चोपनयनादिसंस्कारा-भावोऽभिलप्यते—६ "न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति" ७ "चतुर्थो वर्ण एकजातिर्न च संस्कारमर्हति" इत्यादिषु ॥३६॥

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः । १ । ३ । ३७ ॥

१ "नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहर" इति शुश्रूषोर्जाबालस्य शूद्रत्वाभावनिर्धारणे सत्येव विद्योपदेशप्रवृत्तेश्च न शूद्रस्याधिकारः ॥ ३७ ॥

---

१ छा. ४-२-२
२ ताण्ड्य. २०-१२-५ ॥
३. शतपथ. ११-५-३-१३ ॥
४. छा. ४-४-५ ॥
५. आपस्त. श्रौत ॥
६. मनु. १०-१२६ ॥
७. गौत. १०-अ. ४-सू ॥

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् । १ । ३ । ३८ ॥

शूद्रस्य वेदश्रवणतदध्ययनतदर्थानुष्ठानानि प्रतिषिध्यन्ते "पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्" "तस्माच्छूद्रो बहुपशुरयज्ञीयः" इति। बहुपशुः पशुसदृश इत्यर्थः। अनुपशृण्वतोऽध्ययनतदर्थज्ञानतदर्थानुष्ठानानि न सम्भवन्ति; अतस्तान्यपि प्रतिषिद्धान्येव ॥ ३८ ॥

स्मृतेश्च । १ । ३ । ३९ ॥

स्मर्यते च श्रवणादिनिषेधः १ "अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः" इति, २ "न चास्योपदिशेद्धर्मं नचास्य व्रतमादिशेत्" इति च; अतश्शूद्रस्यानधिकार इति सिद्धम् ॥ ३९ ॥

ये तु निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थः; अन्यत्सर्वं मिथ्याभूतम्; बन्धश्चापारमार्थिकः; स च वाक्यजन्यवस्तुयाथात्म्यज्ञानमात्रनिवर्त्यः; तन्निवृत्तिरेव मोक्षः—इति वदन्ति; तैर्ब्रह्मज्ञाने शूद्रादेरनधिकारो वक्तुं न शक्यते; अनुपनीतस्य अनधीतवेदस्याश्रुतवेदान्तवाक्यस्यापि यस्मात्कस्मादपि निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थोऽन्यत्सर्वं तस्मिन्परिकल्पितं मिथ्याभूतमिति वाक्याद्वस्तुयाथात्म्यज्ञानोत्पत्तेः, तावतैव बन्धनिवृत्तेश्च। न च तत्त्वमस्यादिवाक्येनैव ज्ञानोत्पत्तिः कार्या, न वाक्यान्तरेणेति नियन्तुं शक्यम्; ज्ञानस्यापुरुषतन्त्रत्वात्, सत्यां सामग्र्यामनिच्छतोऽपि ज्ञानोत्पत्तेः। न च वेदान्तवाक्येन वस्तुयाथात्म्यज्ञाने सति बन्धनिवृत्तिर्भवतीति शक्यं वक्तुम्, येनकेनापि वस्तुयाथात्म्यज्ञाने सति भ्रान्तिनिवृत्तेः;

---

१. गौत. ध. २-१२-२ ॥ २. मनु. ४-८० ॥

पौरुषेयादपि निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्म परमार्थोऽन्यत्सर्वं मिथ्याभूतमिति वाक्यात् ज्ञानोत्पत्तेस्तावतैव भ्रमनिवृत्तेश्च। यथा पौरुषेयादप्याप्तवाक्याच्छुक्तिकारजतादिभ्रान्तिर्ब्राह्मणस्य शूद्रादेरपि निवर्तते, तद्वदेव शूद्रस्यापि वेदवित्सम्प्रदायागतवाक्याद्वस्तुयाथात्म्यज्ञानेन जगद्भ्रमनिवृत्तिरपि भविष्यति; "नचास्योपदिशेद्धर्मम्" इत्यादिना वेदविदश्शूद्रादिभ्यो न वदन्तीति च न शक्यं वक्तुम्, तत्त्वमस्यादिवाक्यावगतब्रह्मात्मभावानां वेदशिरसि वर्तमानतया दग्धाखिलाधिकारत्वेन निषेधशास्त्रकिङ्करत्वाभावात्, अतिक्रान्तनिषेधैर्वा कैश्चिदुक्ताद्वाक्याच्छूद्रादेः ज्ञानमुत्पद्यत एव। न च वाच्यं-- शुक्तिकादौ रजतादिभ्रमनिवृत्तिवत्पौरुषेयवाक्यजन्यतत्त्वज्ञानसमनन्तरं शूद्रस्य जगद्भ्रमो न निवर्तत इति; तत्त्वमस्यादिवाक्य श्रवणसमनन्तरं ब्राह्मणस्यापि जगद्भ्रमानिवृत्तेः। निदिध्यासनेन द्वैतवासनायां निरस्तायामेव तत्त्वमस्यादिवाक्यं निवर्तकज्ञानमुत्पादयतीति-चेत्-- पौरुषेयमपि वाक्यं शूद्रादेस्तथैवेति न कश्चिद्विशेषः। निदिध्यासनं हि नाम ब्रह्मात्मत्वभावाभिधायि वाक्यं यदर्थप्रतिपादनयोग्यम्, तदर्थभावना; सैव विपरीतवासनां निवर्तयतीति दृष्टार्थत्वं निदिध्यासनविधेरपि, वेदानुवचनादीन्यपि विविदिषोत्पत्तावेवोपयुज्यन्ते इति शूद्रस्यापि विविदिषायां जातायां पौरुषेयवाक्यान्निदिध्यासनादिभिर्विपरीतवासनायां निरस्तायां ज्ञानमुत्पत्स्यते; तेनैवापारमार्थिको बन्धो निवर्तिष्यते; अथवा तर्कानुगृहीतात्प्रत्यक्षादनुमानाच्च निर्विशेषस्वप्रकाशचिन्मात्रप्रत्यग्वस्तुन्यज्ञानसाक्षित्वं, तत्कृतविविधविचित्रज्ञातृज्ञेयविकल्परूपं कृत्स्नं जगच्चाध्यस्तमिति निश्चित्यैवम्भूतपरिशुद्धप्रत्यग्वस्तुन्यनवरतभावनया विपरीतवासनां निरस्य तदेव प्रत्यग्वस्तु साक्षात्कृत्य शूद्रादयोऽपि विमोक्ष्यन्त इति मिथ्या-

भूतविचित्रैश्वर्यविचित्रसृष्ट्याद्यलौकिकानन्तविशेषावलम्बिना वेदान्तवाक्येन न किञ्चित्प्रयोजनमिह दृश्यत इति शूद्रादीनामेव ब्रह्मविद्यायामधिकारस्सुशोभनः। अनेनैव न्यायेन ब्राह्मणादीनामपि ब्रह्मवेदनसिद्धेरुपनिषद्य तपस्विनी दत्तजलाञ्जलिस्स्यात्। नच वाच्यं नैसर्गिकलाकव्यवहारे भ्राम्यतोऽस्य केनचिदयं लौकिकव्यवहारो भ्रमः, परमार्थस्त्वेवमिति समर्पिते सत्येव प्रत्यक्षानुमानवृत्तबुभुत्सा जायत इति तत्समर्पिका श्रुतिरप्यास्थेयेति; यतो भवभयभीतानां साङ्ख्यादय एव प्रत्यक्षानुमानाभ्यां वस्तुनिरूपणं कुर्वन्तः प्रत्यक्षानुवृत्तबुभुत्सां जनयन्ति; बुभुत्सायां च जातायां प्रत्यक्षानुमानभ्यामेव विविक्तस्वभावाभ्यां नित्यशुद्धस्वप्रकाशाद्वितीयकूटस्थचैतन्यमेव सत्, अन्यत्सर्वं तस्मिन्नध्यस्तमिति सुविवेचम्। एवम्भूते स्वप्रकाशे वस्तुनि श्रुतिसमधिगम्यं विशेषान्तरं च नाभ्युपगम्यते; अध्यस्तातद्रूपनिवर्तिनी हि श्रुतिरपि त्वन्मते। न च सत आत्मन आनन्दरूपताज्ञानायोपनिषदास्थेया, चिद्रूपताया एव सकलेतरातद्रूपव्यावृत्ताया आनन्दरूपत्वात्। यस्य तु मोक्षसाधनतया वेदान्तवाक्यैर्विहितं ज्ञानमुपासनरूपम्, तच्च परब्रह्मभूतपरमपुरुषप्रीणनम्, तच्च शास्त्रैकसमधिगम्यम्, उपासनशास्त्रं चोपनयनादिसंस्कृताधीतस्वाध्यायजनितं ज्ञानं विवेकविमोकादिसाधनानुगृहीतमेव स्वोपायतया स्वीकरोति, एवंरूपोपासनप्रीतः पुरुषोत्तम उपासकं स्वाभाविकात्मयाथात्म्यज्ञानदानेन कर्मजनिताज्ञानं नाशयन्बन्धान्मोचयतीति पक्षः; तस्य यथोक्तया नीत्या शूद्रादेरनधिकार उपपद्यते॥

इति श्रीशारीकमीमांसाभाष्ये अपशूद्राधिकरणम्॥

—:(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रमिताधिकरणशेषः):—

तदेवं प्रसक्तानुप्रसक्ताधिकारकथां परिसमाप्य प्रकृतस्याङ्गुष्ठप्रमितस्य भूतभव्येशितृत्वावगतपरब्रह्मभावोत्तम्भनं हेत्वन्तरमाह—

कम्पनात् १ । ३ । ४०

१ "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति" २ " अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा " इत्यनयोर्वाक्ययोर्मध्ये ३ " यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निस्सृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' इति कृत्स्नस्य जगतोऽग्निसूर्यादीनां चास्मिन्नङ्गुष्ठमात्रे पुरुषे प्राणशब्दनिर्दिष्टे स्थितानां सर्वेषां ततो निस्सृतानां तस्मात्सञ्जातमहाभयनिमित्तम् एजनं कम्पनं श्रूयते। तच्छासनानिवृत्तौ किं भविष्यतीति महतो भयाद्वज्रादिवोद्यतात्कृत्स्नं जगत्कम्पत इत्यर्थः। ३ "भयादस्याग्निस्तपति" इत्यनेनैकार्थ्यात् ३ "महद्भयं वज्रमुद्यतम्" इति पञ्चम्यर्थे प्रथमा। अयञ्च परस्य ब्रह्मणस्स्वभावः ४ " एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" ५ "भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः" इति परस्य ब्रह्मणः पुरुषोत्तमस्यैवं विधैश्वर्यावगतेः।

इतश्चाङ्गुष्ठप्रमितः पुरुषोत्तमः—

ज्योतिर्दर्शनात् १ । ३ । ४१ ॥

तयोरेवाङ्गुष्ठप्रमितविषययोर्वाक्ययोर्मध्ये परब्रह्मासाधारणं

१. कठ. २-४-१२ ॥ २. कठ. २-६-१७ ॥ ३. कठ. २ ६ ३,२ ॥
४. बृ. ५-८-९ ॥ ५. तै. आ. ८-१ ॥

सर्वतेजसां छादकं सर्वतेजसां कारणभूतमनुग्राहकं चाङ्गुष्ठप्रमितस्य ज्योतिर्दृश्यते—१ "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति " इति । अयमेव श्लोक आथर्वणे परं ब्रह्माधिकृत्य श्रूयते । परज्योतिष्ट्वं च सर्वत्र परस्य ब्रह्मणश्श्रूयते । यथा—२ "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" ३ "तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् " ४ "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते " इत्यादिषु । अतोऽङ्गुष्ठप्रमितः परं ब्रह्म ॥ ४१ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांभाष्ये प्रमिताधिकरणशेषः ॥६॥

—*(अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरणम्)*—

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् १ । ३ । ४२ ॥

छान्दोग्ये श्रूयते ५ "आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा" इति । तत्र संशयः—किमयमाकाशशब्दनिर्दिष्टो मुक्तात्मा, उत परमात्मा—इति । किं युक्तं ? मुक्तात्मेति । कुतः ? ६ "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य । धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि" इति मुक्तस्यानन्तरप्रकृतत्वात्, १"ते यदन्तरा" इति च नामरूपविनिर्मुक्तस्य तस्याभिधानात्, १"नामरूपयोर्निर्वहिता" इति च स एव पूर्वावस्थयोपलिलक्षयिषितः ; स एव हि देवादिरूपाणि नामानि च पूर्वमबिभः; तस्यैव नामरूपविनिर्मुक्ता साम्प्रतिकयवस्था १"तद्ब्रह्म तदमृतम्" इत्युच्यते । आकाशशब्दश्च तस्मिन्नप्यसङ्कुचितप्रकाशयोगादुपपद्यते । ननु दहरवाक्यशेषत्वादस्य स एव दहराका-

---

१. कठ. २-५-१५ ॥ २ छा. ८-१२-२ ॥ ३. बृ. ६-४-१६ ॥
४. छा. ३-१३-७ ॥ ५. छा. ८-१४-१ ॥ ६. छा. ८-१३-१

शोऽयमिति प्रतीयते । तस्य च परमात्मत्वं निर्णीतम् । मैवं, प्रजापतिवाक्यव्यवधानात् । प्रजापतिवाक्ये च प्रत्यगात्मनो मुक्त्यवस्थान्तं रूपमभिहितम्; अनन्तरं च १"विधूय पापम्" इति स एव मुक्तावस्थः प्रस्तुतः । अतोऽत्राकाशो मुक्तात्मा ॥

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्त उच्यते—आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्–इति । आकाशः परं ब्रह्म; कुतः ? अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् । अर्थान्तरत्वव्यपदेशस्तावत् २"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता" इति नामरूपयोर्निर्वोढृत्वं बद्धमुक्तोभयावस्थात्प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरत्वमाकाशस्योपपादयति । बद्धावस्थस्स्वयं कर्मवशान्नामरूपे भजमानो न नामरूपे निर्वोढुं शक्नुयात्; मुक्तावस्थस्य जगद्व्यापारासम्भवात् ३नितरां नामरूपनिर्वोढृत्वम्; ईश्वरस्य तु सकलजगन्निर्माणधुरन्धरस्य नामरूपयोर्निर्वोढृत्वं श्रुत्यैव प्रतिपन्नम् ४"अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" ५"यस्सर्वज्ञस्सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते" ६"सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते" इत्यादिषु । अतो निर्वाह्यनामरूपात्प्रत्यगात्मनो नामरूपयोर्निर्वोढाऽयमाकाशोऽर्थान्तरभूतः परमेव ब्रह्म । तदेवोपपादयति २"ते यदन्तरा" इति । यस्माद्यमाकाशो नामरूपे अन्तरा—ताभ्यामस्पृष्टोऽर्थान्तरभूतः, तस्मात्तयोर्निर्वोढा अपहतपाप्मत्वात्सत्यसङ्कल्पत्वाच्च निर्वहितेत्यर्थः । आदिशब्देन ब्रह्मत्वात्मत्वामृतत्वानि गृह्यन्ते । निरुपाधिकबृहत्त्वादयो हि परमात्मन एव सम्भवन्ति; तेनात्राकाशः परमेव ब्रह्म ।

१. छा. ८-१३-१ ॥ २. छा. ८-१४-१ ॥ ३. नतरां. पा. ॥
४. छा. ६-३-२ ॥ ५. मु. १-१-९ ६. तै. पु. ॥

यत्पुनरुक्तं १"धूत्वा शरीरम्" इति मुक्तोऽनन्तरप्रकृतः—इति; तत्र, १"ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि" इति परस्यैव ब्रह्मणोऽनन्तरप्रकृतत्वात्। यद्यप्यभिसम्भवितुर्मुक्तस्याभिसम्भाव्यतया परं ब्रह्म निर्दिष्टम्, तथाप्यभिसम्भवितुर्मुक्तस्य नामरूपनिर्वोढृत्वाद्यसम्भवादभिसम्भाव्यं परमेव ब्रह्म तत्र प्रत्येतव्यम्। किञ्च आकाशशब्देन प्रकृतस्य दहराकाशस्यात्र प्रत्यभिज्ञानात्, प्रजापतिवाक्यस्याप्युपासकस्वरूपकथनार्थत्वादुपास्य एव दहराकाशः प्राप्यतयेहोपसंह्रियत इति युक्तम्। आकाशशब्दश्च प्रत्यगात्मनि न क्वचिद्दृष्टचरः। अतोऽत्राकाशः परं ब्रह्म॥

अथ स्यात्—प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतमात्मान्तरमेव, नास्ति पेक्योपदेशात्, द्वैतप्रतिषेधाच्च; शुद्धावस्थ एव हि प्रत्यगात्मा परमात्मा परं ब्रह्म परमेश्वर इति च व्यपदिश्यते; अतः प्रकृतान्मुक्तात्मनोऽभिसम्भवितुर्नार्थान्तरमभिसम्भाव्यो ब्रह्मलोकः; अतो नामरूपयोर्निर्वहिता आकाशोऽपि स एव भवितुमर्हति—इति अत उत्तरं पठति—

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन। १। ३। ३४॥

व्यपदेशादिति वर्तते, सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरत्वेन परमात्मनो व्यपदेशात् प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतः परमात्माऽस्त्येव। तथाहि—वाजसनेयके २ "कतम ३ आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" इति प्रकृतस्य प्रत्यगात्मनस्सुषुप्त्यवस्थायामकिञ्चिज्ज्ञस्य सर्वज्ञेन परमात्मना परिष्वङ्ग आम्नायते—४"प्राज्ञेनाऽत्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्" इति; तथोत्क्रान्तावपि ५ "प्राज्ञेनाऽत्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन्याति" इति। न च

१. छा. ८-१४-१॥ २. बृ. ६-३-७॥ ३. आत्मेति योऽयं पा॥
४. बृ. ६-३-२१॥ ५. बृ. ६-३-३५॥

स्वपत उत्क्रामतो वा किञ्चिज्ज्ञस्य तदानीमेव स्वेनैव सर्वज्ञेन सता परिष्वङ्गान्वारोहौ सम्भवतः न च क्षेत्रज्ञान्तरेण, तस्यापि सर्वज्ञत्वासम्भवात् ॥

इतश्च प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतः परमात्मेत्याह—

पत्यादिशब्देभ्यः । १ । ३ । ४४ ॥

अयं परिष्वञ्जकः परमात्मा उत्तरत्र पत्यादिशब्दैर्व्यपदिश्यते-१ " सर्वस्याधिपतिस्सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्। एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय । तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति...एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति" २ "स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानः" ३ " अजरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म" इति। एते च पतित्वजगद्विधरणत्वसर्वेश्वरत्वादयः प्रत्यगात्मनि मुक्तावस्थेऽपि न कथञ्चित्सम्भवन्ति। अतो मुक्तात्मनोऽर्थान्तरभूतो नामरूपयोर्निर्वहिताऽऽकाशः । ऐक्योपदेशस्तु सर्वस्य चिदचिदात्मकस्य ब्रह्मकार्यत्वेन तदात्मकत्वायत्त इति ४ " सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्" इत्यादिभिर्वाक्यैः प्रतिपाद्यत इति पूर्वमेव समर्थितम्। द्वैतप्रतिषेधश्च तत एवेत्यनवद्यम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरणम् ॥

---

१. बृ. ६-४-२२ ॥ सर्वस्यवशीसर्वस्येशानस्सर्वस्याधिपतिः. पा॥

२. बृ. ६-४-२४॥ ३. बृ. ६-४-२५॥ अजरामरोमृतोभयो ब्रह्म इति

४. छा. ३-१४-१॥



श्रीमते रामानुजाय नमः

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

(प्रथमाध्ये-चतुर्थपादे-आनुमानिकाधिकरणम् ॥ १ ॥)

आनुमानिकमप्येकेषामितिचेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च । १ । ४ । १ ॥

उक्तं परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनतया जिज्ञास्यं जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्माचिद्वस्तुनः प्रधानादेश्चेतनाच्च बद्धमुक्तोभयावस्थाद्विलक्षणं निरस्तसमस्तहेयगन्धं सर्वज्ञं सर्वशक्ति सत्यसङ्कल्पं समस्तकल्याणगुणात्मकं सर्वान्तरात्मभूतं निरङ्कुशैश्वर्यमिति ! इदानीं कापिलतन्त्रसिद्धाब्रह्मात्मकप्रधानपुरुषादिप्रतिपादनमुखेन प्रधानकारणत्वप्रतिपादनच्छायानुसारीण्यपि कानिचिद्वाक्यानि कासुचिच्छाखासु सन्तीत्याशङ्क्य ब्रह्मैककारणत्वस्थेम्ने तन्निराक्रियते । कठवल्लीष्वाम्नायते १ " इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः । महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः " इति । तत्र सन्देहः— किं कापिलतन्त्रसिद्धमब्रह्मात्मकं प्रधानमिहाव्यक्तशब्देनोच्यते, उत

---

१. कठ. १-३-१०, ११ ॥

न—इति। किं युक्तम्? प्रधानमिति। कुतः? १"महतः परमव्यक्त-मव्यक्तात्पुरुषः परः" इति तन्त्रसिद्धतत्त्वप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञानेन तस्यैव प्रतीतेः, १"पुरुषान्नपरं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः" इति पञ्चविंशकपुरुषातिरिक्ततत्त्वनिषेधाच्च। अतोऽव्यक्तं कारणमिति प्राप्तम्। तदिदमुक्तम्—आनुमानिकमप्येकेषामिति चेत्—इति। एकेषां शाखिनां शाखास्वानुमानिकं प्रधानमपि कारणमाम्नायत इति चेत्—

(सिद्धान्त)

अत्रोत्तरं—नेति। नाव्यक्तशब्देनाब्रह्मात्मकं प्रधानमिहाभिधीयते। कुतः? शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः—शरीराख्यरूपकविन्यस्तस्य अव्यक्तशब्देन गृहीतेः। आत्मशरीरबुद्धिमनइन्द्रियविषयेषु रथिरथादिभावेन रूपितेषु रथरूपणेन विन्यस्तस्य शरीरस्यात्राव्यक्तशब्देन ग्रहणादित्यर्थः। एतदुक्तं भवति—पूर्वत्र हि २"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवच। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेवच। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्" इत्यादिना, ३"सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" इत्यन्तेन संसाराध्वनः पारं वैष्णवं पदं प्रेप्सन्तमुपासकं रथित्वेन तच्छरीरादीनिच रथरथाङ्गत्वेन रूपयित्वा, यस्यैते रथादयो वशे तिष्ठन्ति, स एवाध्वनः पारं वैष्णवं पदमाप्नोतीत्युक्त्वा, तेषु रथादिरूपितशरीरादिषु यानि येभ्यो वशीकार्यतायां प्रधानानि, तान्युच्यन्ते ४"इन्द्रियेभ्यः पराः" इत्यादिना। तत्र हयत्वेन रूपितेभ्य इन्द्रियेभ्यो गोचरत्वेन रूपिता विषयाः वशीकार्यत्वे पराः, वश्येन्द्रियस्यापि विषयसन्निधाविन्द्रि-

१. कठ. १-३-११॥ २. कठ. १-३-३॥
३. कठ. १-३-९॥ ४. कठ. १-३-१०॥

याणां दुर्निग्रहत्वात् । तेभ्योऽपि परं प्रग्रहरूपितं मनः, मनसि विषयप्रवणे विषयासन्निधानस्याप्यकिञ्चित्करत्वात् । तस्मादपि सारथित्वरूपिता बुद्धिः परा, अध्यवसायाभावे मनसोऽप्यकिञ्चित्करत्वात्। तस्या अपि रथित्वरूपित आत्मा कर्तृत्वेन प्राधान्यात्परः; सर्वस्यचास्यात्मेच्छायत्तत्वादात्मैव महानिति च विशेष्यते। तस्मादपि रथरूपितं शरीरं परम्, तदायत्तत्वाज्जीवात्मनस्सकलपुरुषार्थसाधनप्रवृत्तीनाम्। तस्मादपि परस्सर्वान्तरात्मभूतोऽन्तर्याम्यध्वनः पारभूतः परमपुरुषः, यथोक्तस्यात्मपर्यन्तस्य समस्तस्य तत्सङ्कल्पायत्तप्रवृत्तित्वात्। स खल्वन्तर्यामितयोपासनस्यापि निर्वर्तकः । १"परात्तु तच्छ्रुतेः" इति हि जीवात्मनः कर्तृत्वं परमपुरुषायत्तमिति वक्ष्यते। वशीकार्योपासननिर्वृत्त्युपायकाष्ठाभूतः परमप्राप्यश्च स एव। तदिदमुच्यते २ "पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा स' परा गतिः" इति। तथा चान्तर्यामिब्राह्मणे, ३"य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादिभिस्सर्वं साक्षात्कुर्वन्सर्वं नियमयतीत्युक्त्वा ४ "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इति नियन्त्रन्तरं निषिध्यते । भगवद्गीतासुच ५"अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्" इति । दैवमत्र पुरुषोत्तम एव ६"सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तस्स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च" इति वचनात् । तस्यच वशीकरणं तच्छरणागतिरेव। यथाह ७"ईश्वरस्सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया। तमेव शरणं गच्छ" इति। तदेवम् ८"आत्मानं रथिनं विद्धि" इत्यादिना रथ्यादिरूप-

---

१. शारी. २-३-४० ॥ २. कठ. १-३-११ ॥
३. बृ. ५-७-१२ ॥ मा. पा ॥ ४. बृ. ५-७-२३ ॥
५. गी. १८-१४ ६. गी १५-१५ ॥
७. गी. १८ ६१, ६२ ॥ ८. कठ १-३-३

कविन्यस्ता इन्द्रियादयः १"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः" इत्यत्र स्वशब्दैरेव प्रत्यभिज्ञायन्ते, न रथरूपितं शरीरमिति परिशेषात्तदव्यक्तशब्देनोच्यत इति निश्चीयते। अतः कापिलतन्त्रसिद्धस्य प्रधानस्य प्रसङ्ग एव नास्ति। नचात्र तत्तन्त्रसिद्धप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञा १"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः" इतीन्द्रियेभ्योऽर्थानां शब्दादीनां परत्वकीर्तनात्। नहि शब्दादय इन्द्रियाणां कारणभूतास्तद्दर्शने। २"अर्थेभ्यश्च परं मनः" इत्यपि न तत्तन्त्रसङ्गतम्, अकारणत्वादेव; तथा १"बुद्धेरात्मा महान्परः" इत्यप्यसङ्गतम्, बुद्धिशब्देन महत्तत्त्वस्याभिधानाभ्युपगमात्। नहि महतो महान्परस्सम्भवति। महत आत्मशब्देन विशेषणं च न सङ्गच्छते। अतो रूपकविन्यस्तानामेव ग्रहणम्। दर्शयति च तदेव ३"एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" ४"यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेत् ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि" इति। अजितबाह्याभ्यन्तरकरणैरस्य परमपुरुषस्य दुर्दर्शत्वमभिधाय हयादिरूपितानामिन्द्रियादीनां वशीकारप्रकारोऽयमुच्यते। ४"यच्छेद्वाङ्मनसी" वाचं मनसि नियच्छेत्—वाक्पूर्वकाणि कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि च मनसि नियच्छेदित्यर्थः। वाक्छन्दे द्वितीयायाः" ५"सुपां सुलुक्" इति लुक्। 'मनसी' इति सप्तम्याश्छान्दसो दीर्घः। ४"तद्यच्छेत् ज्ञान आत्मनि" तन्मनो बुद्धौ नियच्छेत्। ज्ञानशब्देनात्र पूर्वोक्ता बुद्धिरभिधीयते। ४"ज्ञान आत्मनि" इति व्यधिकरणे सप्तम्यौ। आत्मनि वर्तमाने ज्ञाने नियच्छेदित्यर्थः। ४"ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्" बुद्धिं कर्तारि महत्यात्मनि नियच्छेत्-

---

१. कठ. १-३-१० ॥ २. कठ. १-३-१० ॥
३. कठ. १-३-१२ ॥ ४. कठ. १-३-१३ ॥
५. पाणिनि. ७-१-३९ ॥

च्छेत् । १"तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि" तं कर्तारं परस्मिन्ब्रह्मणि सर्वान्तर्यामिणि नियच्छेत् । व्यत्ययेन तदिति नपुंसकलिङ्गता । एवम्भूतेन रथिना वैष्णवं पदं गन्तव्यमित्यर्थः ॥ १ ॥

अव्यक्तशब्देन कथं व्यक्तस्य शरीरस्याभिधानम् ? तत्राह—

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् । १ । ४ । २ ॥

भूतसूक्ष्ममव्याकृतं ह्यवस्थाविशेषमापन्नं शरीरं भवति; तदव्याकृतमिह शरीरावस्थमव्यक्तशब्देनोच्यते । तदर्हत्वात्—तस्याव्याकृतस्याविद्वस्तुन एव विकारापन्नस्य रथवत्पुरुषार्थसाधनप्रवृत्त्यर्हत्वात् ॥ २ ॥

यदि भूतसूक्ष्ममव्याकृतमभ्युपगम्यते; कापिलतन्त्रसिद्धोपादाने कः प्रद्वेषः तत्रापिहि भूतकारणमेवाव्यक्तमित्युच्यते; तत्राह—

तदधीनत्वादर्थवत् । १ । ४ । ३ ॥

परमकारणभूतपरमपुरुषाधीनत्वात्प्रयोजनवद्भूतसूक्ष्मम् । एतदुक्तं भवति—न वयमव्यक्तं तत्परिणामविशेषांश्च स्वरूपेण नाभ्युपगच्छामः ; अपितु परमपुरुषशरीरतया तदात्मकत्वविरहेण । तदात्मकत्वेनैव हि प्रकृत्यादयस्स्वप्रयोजनं साधयन्ति; अन्यथा स्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदास्तेषां न स्युः; तथाऽनभ्युपगमादेव तन्त्रसिद्धप्रक्रियानिरसनम्—इति । श्रुतिस्मृत्योर्हि जगदुत्पत्तिप्रलयवादेषु परमपुरुषमहिमवादेषु च प्रकृतिविकृतिपुरुषास्तदात्मकास्सङ्कीर्त्यन्ते; यथा २ "पृथिव्यप्सु लीयते" इत्यारभ्य "तन्मात्राणि भूतादौ लीयन्ते । भूतादिर्महति लीयते । महानव्यक्ते लीयते । अव्यक्तमक्षरे लीयते । अक्षरं तमसि लीयते । तमः परे देव एकीभवति" तथा

१. कठ. १-३-१३ ॥ २. सुबाल. २. खं ॥

१ "यस्य पृथिवी शरीरं यस्यापश्शरीरं यस्य तेजश्शरीरं यस्य वायुश्शरीरं यस्याकाशश्शरीरंयस्याहङ्कारश्शरीरं यस्य बुद्धिश्शरीरं यस्याव्यक्तं शरीरं यस्याक्षरं शरीरं यस्य मृत्युश्शरीरम् एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः", तथा २ "भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय। अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्ज। मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव" इति, ३ व्यक्तं विष्णुस्तथाऽव्यक्तं पुरुषः काल एव च" इति, ४ "प्रकृतिर्या मयाऽऽख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी । पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि। परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः" इति च ॥ ३ ॥

ज्ञेयत्वावचनाच्च । १ । ४ । ४ ॥

यदि तन्त्रसिद्धमिहाव्यक्तमविवक्षिष्यत्, ज्ञेयत्वमवक्ष्यत; '५ व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् मोक्षं वदद्भिस्तान्त्रिकैस्तेषां सर्वेषां ज्ञेयत्वाभ्युपगमात्, न चास्य ज्ञेयत्वमुच्यते; अतो न तन्त्रसिद्धस्येह ग्रहणम् ॥ ४ ॥

वदतीतिचेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् । १ । ४ । ५ ॥

६ "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते', इत्यव्यक्तस्य ज्ञेयत्वमनन्तरमेव वदतीयं श्रुतिरितिचेत्—तन्न, प्राज्ञः—परमपुरुष एव ह्यत्र श्लोके निचाय्यत्वेन प्रतिपाद्यते "विज्ञानसार-

१. सुबाल. ७. खं ॥
२. गी. ७-४, ५, ६, ७ ॥
३. वि. १-२-१८ ॥
४. वि. ६-४-३९, ४० ॥
५. सांख्यतत्त्वकारिका ॥
६. कठ. १-३-१५ ॥

यंस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः। सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" १ "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" इति प्राज्ञस्यैव प्रकृतत्वात्। अत एव २ "पुरुषान्न परं किञ्चित्" इति न पञ्चविंशकपुरुषातिरिक्तनत्त्वनिषेधः। तस्य च परमपुरुषस्याशब्दत्वादयो धर्माः ३"तत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धाः । ३ "महतः परम्" इत्यपि ४ " बुद्धेरात्मा महान्परः " इति पूर्वप्रकृताज्जीवात्मनः परत्वमेवोच्यते ॥ ५ ॥

त्रयाणामेवचैवमुपन्यासः प्रश्नश्च । १ । ४ । ६ ॥

अस्मिन्प्रकरणे ह्युपायोपेयोपेतॄणां त्रयाणमेव चैवमुपन्यासः— ज्ञेयत्वेनोपन्यासः, तद्विषयश्च प्रश्नो दृश्यते,नान्यस्याव्यक्तादेः। तथाहि नचिकेता मुमुक्षुस्सन्मृत्युप्रदत्ते वरत्रये प्रथमेन वरेणात्मनः पुरुषार्थयोग्यतापादिनीमात्मनि पितुस्सुमनस्कतां प्रतिलभ्य द्वितीयेन वरेण मोक्षोपायभूतां नाचिकेताग्निविद्यां वव्रे—५ "सत्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्योप्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्। स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण" इति। स्वर्गशब्देनात्र परमपुरुषार्थलक्षणो मोक्षोऽभिधीयते, ५ " अमृतत्वं भजन्ते " इति तत्रस्थस्य जननमरणाभावश्रवणादुत्तरत्र क्षयिफलकर्मनिन्दादर्शनाच्च; ६ "त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू" इति च प्रतिवचनात्। तृतीयेन वरेण मोक्षस्वरूपप्रश्नद्वारेणोपेयस्वरूपमुपेतृस्वरूपमुपायभूतकर्मानुगृहीतोपासनस्वरूपं च पृष्टम्—७" येयं प्रेते विचिकित्सा

१. कठ. १-३-१२ ॥
२. कठ. १-३-११ ॥
३. मु. १-६ ॥
४. कठ. १-३-१० ॥
५. कठ. १-१-१३ ॥
६. कठ. १-१-१७ ॥
७. कठ. १-१-२० ॥

मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः ” इति। एवं मोक्षे पृष्टे तदुपदेशयोग्यतां परीक्ष्योपदिदेश—१ “ तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति” इति। तदेवं सामान्येनोपदिष्टे नचिकेताः प्रीतस्सन् १ “देवं मत्वा” इत्युपास्यतया निर्दिष्टस्य प्राप्यभूतस्य देवस्य १ “ अध्यात्मयोगाधिगमेन” इति वेदितव्यतया निर्दिष्टस्य प्राप्तुः प्रत्यगात्मनश्च १ “मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति” इति निर्दिष्टस्य ब्रह्मोपासनस्य च स्वरूपविशोधनाय पुनः पप्रच्छ—२ "अन्यत्रधर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताद्भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद” इति। एवं सकलेतरातीतानागतवर्तमानसाध्यसाधनसाधकविलक्षणे त्रये पृष्टे प्रथमं प्रणवं प्रशस्य तद्वाच्यं प्राप्यस्वरूपं, तदन्तर्गतं च प्राप्तृस्वरूपं वाचकरूपं चापायं पुनरपि सामान्येन व्याचयन्प्रणवं तावदुपादिदेश—३ सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्’ इति। एवमुपदिश्य पुनरपि प्रणवं प्रशस्य प्रथमन्तावत्प्राप्तुः प्रत्यगात्मनस्स्वरूपमाह—४ "न जायते म्रियते वा विपश्चित्’ इत्यादिना। प्राप्यस्य परस्य ब्रह्मणो विष्णोस्स्वरूपम् ५ "अणोरणीयान्” इत्यादिना ६ "क इत्था वेद यत्र सः" इत्यन्तेनोपदिशन्मध्ये ७ “ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ” इत्यादिनोपायभूतस्योपासनस्य भक्तिरूपतामप्याह। ८ "ऋतं पिबन्तौ” इति

१. कठ. १-२-१२ ॥ २. कठ. १-२-१४ ॥
३. कठ १-२-१५ ॥ ४. कठ. १-२-१८ ॥
५. कठ. १-२-२० ॥ ६. कठ. १-२-२५ ॥
७. कठ. १-२-२३ ॥ ८. कठ. १-३-१ ॥

चोपास्यस्योपासकेन सहावस्थानात्सूपासतामुक्त्वा १ "आत्मानं रथिनं विद्धि" इत्यादिना २ " दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति" इत्यन्तेनोपासनप्रकारमुपासीनस्य च वैष्णवपरमपदप्राप्तिमभिधाय ३ "अशब्दमस्पर्शम्" इत्यादिनोपसंहृतम्। अतस्त्रयाणामेवात्र ज्ञेयत्वेनोपन्यासः प्रश्नश्च; तस्मान्नेह तान्त्रिकस्याव्यक्तस्य ग्रहणम् ॥

महद्वच्च । १ । ४ । ७ ॥

यथा ४ " बुद्धेरात्मा महान्परः" इत्यत्रात्मशब्दसामानाधिकरण्यान्न तन्त्रसिद्धं महत्तत्त्वं गृह्यते; एवमव्यक्तमप्यात्मनः परत्वेनाभिधानान्न कापिलतन्त्रसिद्धं गृह्यत इति स्थितम् ॥ ७ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आनुमानिकाधिकरणम् ॥ १ ॥

—:(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये चमसाधिकरणम्):—

चमसवदविशेषात् । १ । ४ । ८ ॥

अत्रापि तन्त्रसिद्धप्रक्रिया निरस्यते, न ब्रह्मात्मकानां प्रकृतिमहदहङ्कारादीनां स्वरूपम्, श्रुतिस्मृतिभ्यां ब्रह्मात्मकानां तेषां प्रतिपादनात्। यथा आथर्वणिका अधीयते—५ "विकारजननीमज्ञामष्टरूपमजां ध्रुवाम्। ध्यायते ऽध्यासिता तेन तन्यते प्रेर्यते पुनः। सूयते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठिता जगत्। गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी। सिताऽसिता च रक्ता च सर्वकामदुघा विभोः। पिबन्त्येनामविषमामविज्ञाताः कुमारकाः। एकस्तु पिबते देवः स्वच्छन्दोत्र वशानुगाम्। ध्यानक्रियाभ्यां भगवान्भुङ्क्तेऽसौ प्रसभं विभुः। सर्वसाधारणीं

१. कठ. १-३-३ ॥ २. कठ. १-३-१४ ॥ ३. कठ. १-३-१५ ॥
४. कठ. १-३-१० ॥ ५. मन्त्रिकोपनिषदि.

दोग्ध्रीं पीड्यमानानां तु यज्वभिः" १ "चतुर्विंशतिसङ्ख्यातमव्यक्तं व्यक्तमुच्यते" इति । अत्र प्रकृत्यादीनां स्वरूपमभिहितम्; यदात्मकश्चैते प्रकृत्यादयः; स परमपुरुषोऽपि १ "तं पड्विंशकमित्याहुस्सप्तविंशम-थापरे। पुरुषं निर्गुणं साङ्ख्यमथर्वशिरसो विदुः" इति प्रतिपाद्यते; अपरे चाथर्वणिकाः १ "अष्टौ प्रकृतयष्षोडश विकाराः" इत्यधीयते; श्वेताश्वतराश्चैवं प्रकृतिपुरुषेश्वरस्वरूपमामनन्ति २ संयुक्तमेतत्क्षरम-क्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः । अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृ भावात् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः" २ "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशा-वजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता । अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्" ३ "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्माना-वीशते देव एकः । तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमा-यानिवृत्तिः" ४ "छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति । अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्नि-रुद्धः । मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् । तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्" इति तथोत्तरत्रापि ५ "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणे-शस्संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः" इति । स्मृतिरपि ६ "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्। कार्यकारण कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते । पुरुषस्सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते। पुरुषः प्रकृतिस्थोऽपि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् । कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु" ७ "सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः । निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्"; तथा

१. मन्त्रिकोपनिषदि ॥　२. श्वे. १-८, ६ ॥　३. श्वे. १-१० ॥
४. श्वे. ४-६-१० ॥　५. श्वे. ६-१६ ॥
६. गी. १३-१६, २०, २१ ॥　७. गी १४-५ ॥

१"सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्। कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः। भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्" २"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिस्सूयते सचराचरम्। हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्धि परिवर्तते" इति। तस्माद्-ब्रह्मात्मकत्वेन कापिलतन्त्रसिद्धाः प्रकृत्यादयो निरस्यन्ते। श्वेताश्व-तरोपनिषदि श्रूयते ३ "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजास्सृ-जमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगा-मजोऽन्यः" इति। तत्र सन्देहः—किमस्मिन्मन्त्रे केवला तन्त्रसिद्धा प्रकृतिरभिधीयते, उत ब्रह्मात्मिका—इति। किं युक्तम्? केवलेति। कुतः? ३"अजामेकाम्" इत्यस्याः प्रकृतेरकार्यत्व श्रवणात्, ३"बह्वीः प्रजास्सृजमानां सरूपाः" इति स्वातन्त्र्येण सरूपाणां बह्वीनां प्रजानां स्रष्टृत्वश्रवणाच्च—इति॥

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—चमसवदविशेषात्—न जायत इत्य-जेत्यजात्वमात्रप्रतिपादनात्तन्त्रसिद्धाब्रह्मात्मकाजाग्रहणे विशेषाप्रतीतेः; चमसवत्—यथा ४"अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः" इत्यस्मिन्मन्त्रे चमसस्य भक्षणसाधनत्वमात्रं चमसशब्देन प्रतीयत इति न तावन्मा-त्रेण चमसविशेषप्रतीतिः, यौगिकशब्दानामर्थप्रकरणादिभिर्विनाऽर्थ-विशेषनिश्चयायोगात्; तत्र ५"यथेदं तच्छिरः एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः" इत्यादिना वाक्यशेषेण शिरसश्चमसत्वनिश्चयः; तथाऽ-त्राप्यर्थप्रकरणादिभिरेवाजा निर्णेतव्या; नचात्र तन्त्रसिद्धाजाग्रहण-हेतवोऽर्थप्रकरणादयो दृश्यन्ते; नचास्यास्स्वातन्त्र्येण स्रष्टृत्वं प्रतीयते, "बह्वीः प्रजास्सृजमानाम्" इति स्रष्टृत्वमात्रप्रतीतेः। अतोऽनेन मन्त्रेण नाब्रह्मात्मिकाऽजाऽभिधीयते ॥८॥

१. गी. ९-७, ८॥ २. गी. ९. १०॥ ३. श्वे. ४-५॥
४. बृ ४-२-३॥

ब्रह्मात्मकाजाग्रहण एव विशेषहेतुरस्तीत्याह—

ज्योतिरुपक्रमा तु तथाह्यधीयत एके।१।४।९॥

तुशब्दोऽवधारणार्थः; ज्योतिरुपक्रमैवैषाऽजा; ज्योतिः ब्रह्म १"तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः" २"अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धेः। ज्योतिरुपक्रमा ब्रह्मकारणिकेत्यर्थः। तथाह्यधीयत एके—हीति हेतौ, यस्मादस्या अजाया ब्रह्मकारणकत्वमेके शाखिनः तैत्तिरीया अधीयते—३"अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः" इति हृदयगुहायामुपास्यत्वेन सन्निहितं ब्रह्माभिधाय "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्" इत्यादिना सर्वेषां लोकानां ब्रह्मादीनां च तत उत्पत्तिमभिधाय सर्वकारणीभूताऽजा तत उत्पन्नाऽभिधीयते ४"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" इति। सर्वस्य तद्व्यतिरिक्तस्य वस्तुजातस्य तत उत्पत्त्या तदात्मकत्वोपदेशे प्रक्रियमाणेऽभिधीयमानत्वात्प्राणसमुद्रपर्वतादिवदेषाऽप्यजा बह्वीनां सरूपाणां प्रजानां स्रष्ट्री कर्मवश्येनाऽऽत्मना भुज्यमाना अन्येन विदुषाऽऽत्मना त्यज्यमाना च ब्रह्मण उत्पन्ना ब्रह्मात्मिकाऽवगन्तव्येत्यर्थः। अतो वाक्यशेषाच्चमसविशेषवच्छाखान्तरीयादेतत्सरूपात्प्रत्यभिज्ञायमानार्थाद्वाक्याग्नियमिताऽजा ब्रह्मात्मिकेति निश्चीयते। इहापि प्रकरणोपक्रमे ५"किं कारणं ब्रह्म" इत्यारभ्य ६"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" इति परब्रह्मशक्तिरूपाया अजाया अवगतेः, उपरिष्टाच्च ७"अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया

१. बृ. ४-४-१६॥ २. छा. ३-१३-७॥ ३. तै—नारा. १२॥
४. तै. नारा. १२॥ ५. श्वे. १-१॥ ६. श्वे. १-३॥
७. श्वे. ४-९॥

सन्निरुद्धः" १"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" १"यो योनिर्योनिमधितिष्ठत्येकः" इति च तस्या एव प्रतीतेर्नास्मिन्मन्त्रे नन्त्रसिद्धस्वतन्त्रप्रकृतिप्रतिपत्तिगन्धः ॥

कथं तर्हि ज्योतिरुपक्रमाया लोहितशुक्लकृष्णरूपाया अस्याः प्रकृतेरजात्वम्, अजाया वा कथं ज्योतिरुपक्रमात्वमित्यत्राह—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ।१।४।१०॥

प्रसक्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थश्चशब्दः । अस्याः प्रकृतेरजात्वं ज्योतिरुपक्रमात्वं च न विरुध्यते; कुतः? कल्पनोपदेशात् । कल्पनं क्लृप्तिः सृष्टिः; जगत्सृष्ट्युपदेशादित्यर्थः । यथा २"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इति कल्पनं सृष्टिः । अत्रापि ३ "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" इति जगत्सृष्टिरुपदिश्यते । स्वेनाविभक्तादस्मात्सूक्ष्मावस्थात्कारणान्मायि सर्वेश्वरस्सर्वं जगत्सृजतीत्यर्थः । अनेन कल्पनोपदेशेनास्याः प्रकृतेः कार्यकारणरूपेणावस्थाद्वयान्वयोऽवगम्यते। सा हि प्रलयवेलायां ब्रह्मतापन्ना अविभक्तनामरूपा सूक्ष्मरूपेणावतिष्ठते; सृष्टिवेलायां तद्भूतसत्त्वादिगुणा विभक्तनामरूपाऽव्यक्तादिशब्दवाच्या तेजोबन्नादिरूपेण च परिणता लोहितशुक्लकृष्णाकारा चावतिष्ठते । अतः कारणावस्थाऽजा, कार्यावस्था ज्योतिरुपक्रमेति न विरोधः । मध्वादिवत्—यथेश्वरेणादित्यस्य कारणावस्थायामेकस्यैवावस्थितस्य कार्यावस्थायामृग्यजुस्सामाथर्वप्रतिपाद्यकर्मनिष्पाद्यरसाश्रयतया वस्वादिदेवताभोग्यत्वाय मधुत्वकल्पनमुदयास्तमयकल्पनं च न विरुध्यते । तदुक्तं मधुविद्यायाम् ४ "असौ वा आदित्यो देवमधु" इत्यारभ्य ५"अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता

१. श्वे. ४-१०, ११ ॥ २. तै. नारा. १-१३ ॥
३. श्वे. ४-९ ॥ ४. छा. ३-१-१ ॥ ५. छा. ३-११-१ ॥

नास्तमेतैकल एव मध्ये स्याता" इत्यन्तेन। एकलः एकस्वभावः। अतोऽनेन मन्त्रेण ब्रह्मात्मिकाऽजैवाभिधीयते, न कापिलतन्त्रसिद्धेति सिद्धम् ॥

अन्ये त्वस्मिन्मन्त्रे तेजोबन्नलक्षणाऽजैकाभिधीयत इति ब्रुवते। तं प्रष्टव्याः—किं तेजोबन्नान्येव तेजोबन्नात्मिकाऽजैका; उत तेजोबन्नरूपं ब्रह्मैव; किं वा तेजोबन्नकारणभूता काचित्---इति। प्रथमे कल्पे तेजोबन्नानामनेकत्वात् "अजामेकाम्" इति विरुध्यते। न च वाच्यं तेजोबन्नानामनेकत्वेऽपि त्रिवृत्करणेनैकत्वापत्तिरिति। त्रिवृत्करणेऽपि बहुत्वानपगमात्, १ "इमास्तिस्रो देवताः" २ "तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" इति प्रत्येकं त्रिवृत्करणोपदेशात्। द्वितीयः कल्पो विकल्प्यः किं तेजोबन्नरूपेण विकृतं ब्रह्मैवाजैका; किंवा स्वरूपेणावस्थितमविकृतमिति। प्रथमः कल्पो बहुत्वानपायादेव निरस्तः। द्वितीयेऽपि ३ "लोहितशुक्लकृष्णाम्" इति विरुध्यते। स्वरूपेणावस्थितं ब्रह्म तेजोबन्नलक्षणमिति वक्तुमपि न शक्यते तृतीये कल्पेऽप्यजाशब्देन तेजोबन्नानि निर्दिश्य तैस्तत्कारणावस्थोपस्थापनीयेत्यास्थेयम्। ततो वरमजाशब्देन तेजोबन्नकारणावस्थायाः श्रुतिसिद्धाया एवाभिधानम्। यत्पुनरस्याः प्रकृतेरजाशब्देन च्छागत्वपरिकल्पनमुपदिश्यत इति; तदप्यसङ्गतम्, निष्प्रयोजनत्वात्। यथा ४ "आत्मानं रथिनं विद्धि" इत्यादिषु ब्रह्मप्राप्त्युपायताख्यापनाय शरीरादिषु रथादिरूपणं क्रियते; यथा-चादित्ये वस्वादीनां भोग्यत्वख्यापनाय मधुत्वकल्पनं क्रियते; तद्वदस्यां प्रकृतौ च्छागत्वपरिकल्पनं कोपयुज्यते; न केवलमुपयोगाभाव एव, विरोधश्च; कृत्स्नजगत्कारणभूतायाः स्वस्मिन्ननादिकालसम्ब-

१. छा. ६-३-२ ॥ २. छा. ६-३-३ ॥
३. श्वे. ४. ५॥ ४. कठ. १. ३. ३ ॥

द्धानां सर्वेषामेव चेतनानां निखिलसुखदुःखोपभोगापवर्गसाधनभूतायः अचेतनायाः अत्यल्पप्रजासर्गकरागन्तुकसङ्गमचेतनविशेषैकरूपात्यल्पप्रयोजनसाधनस्वपरित्यागाहेतुभूतस्वसम्बन्धिपरित्यागसमर्थचेतनविशेषरूपच्छागस्वभावख्यापनाय तद्रूपत्वकल्पनं विरुद्धमेव। १ "अजामेकाम्" १ "अजो ह्येकः" १ "अजोऽन्यः" इत्यत्राजाशब्दस्य विरूपार्थकल्पनं च न शोभनम्। सर्वत्र च्छागत्वं परिकल्प्यत इति चेत् १ "जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः इति विदुष आत्यन्तिकप्रकृतिपरित्यागं कुर्वतोऽनेनवाऽन्येनवा पुनरपि सम्बन्धयोग्यच्छागत्वपरिकल्पनमत्यन्तविरुद्धम् ॥ १० ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये चमसाधिकरणम् ॥ २ ॥

—(श्रीशारीरकमीमासांभष्ये संख्योपसंग्राधिकरणम् ॥३॥)—

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च।
१ । ४ । ११ ॥

वाजसनेयिनस्समामनन्ति २ " यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेवम्मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् " इति। कियमं मन्त्रः कापिलतन्त्रसिद्धतत्त्वप्रतिपादनपरः, उत नेति सन्दिह्यते। किं युक्तम्? तन्त्रसिद्धतत्त्वप्रतिपादनपर इति कुतः? पञ्चशब्दविशेषितात्पञ्चजनशब्दात्पञ्च विंशतितत्त्वप्रतीतेः । एतदुक्तं भवति २ " पञ्चजनाः " इति समासस्समाहारविषयः । पञ्चानां जनानां समूहाः पञ्चजनाः; 'पञ्चपूल्य' इतिवत्। पञ्च जनाइति लिङ्ग-

---

१. श्वे. ४. ५ ॥ २. बृ. ६-४-१७॥

व्यत्ययश्छान्दसः । तें च समूहाः कतीत्यपेक्षायां पञ्चजनशब्दविशेषणेन प्रथमेन पञ्चशब्देन समूहाः पञ्चेति प्रतीयन्ते, यथा पञ्च पञ्चपूल्य इति । अतः १ "पञ्च पञ्चजनाः" इति पञ्चविंशतिपदार्थावगतौ ते कतम इत्यपेक्षायां मोक्षाधिकारान्मुमुक्षुभिः ज्ञातव्यतया स्मृतिप्रसिद्धाः प्रकृत्यादय एव ज्ञायन्ते । २ " मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयस्सप्त । षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः " इति हि कापिलानां प्रसिद्धिः अतस्तन्त्रसिद्धतत्त्वप्रतिपादनपरः ॥

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—न सङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि—इति ३ "पञ्च पञ्चजनाः" इति पञ्चविंशतिसङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि न तन्त्रसिद्धतत्त्वप्रतीतिः। कुतः ? नानाभावात्—एषां पञ्चसङ्ख्याविशेषितानां पञ्चजनानां तन्त्रसिद्धेभ्यस्तत्त्वेभ्यः पृथग्भावात् ३ "यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः" इत्येतेषां यच्छब्दनिर्दिष्टब्रह्माश्रयतया ब्रह्मात्मकत्वं हि प्रतीयते ३ "तमेवम्मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्" इत्यत्र तमिति परामर्शेन यच्छब्दनिर्दिष्टं ब्रह्मेत्यवगम्यते । अतस्तेभ्यः पृथग्भूताः पञ्चजना इति न तन्त्रसिद्धा एते। अतिरेकाच्च—तन्त्रसिद्धेभ्यस्तत्त्वेभ्योऽत्र तत्त्वातिरेकोऽपि भवति; यच्छब्दनिर्दिष्ट आत्मा आकाशश्चात्रातिरिच्येते । अतः ४ "तं षड्विंशकमित्याहुस्सप्तविंशमथापरे" इति श्रुतिप्रसिद्धसर्वतत्त्वाश्रयभूतस्सर्वेश्वरः परमपुरुषोऽत्राभिधीयते 'न सङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि' इत्यपिशब्दस्य ३ "पञ्च पञ्चजनाः" इत्यत्र पञ्चविंशतितत्त्वप्रतिपत्तिरेव न

१. बृ. ६-४-१७॥   २. सांख्यतत्त्वकारिका ॥
३. बृ. ६-४-१७ ॥   ४. मन्त्रिकोपनिषद् ॥

सम्भवतीत्यभिप्रायः। कथम्? पञ्चभिरारब्धसमूहपञ्चकासम्भवात्; नहि तन्त्रसिद्धतत्त्वेषु पञ्चसु पञ्चस्वनुगतं यत्सङ्ख्यानिवेशनिमित्तं ज्ञात्याद्यस्ति; नच वाच्यं—पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्च महाभूतानि, पञ्च तन्मात्राणि, अविशिष्टानि पञ्च—इत्यवान्तर-सङ्ख्यानिवेशायनिमित्तमस्त्येव-इति; आकाशस्य पृथङ्निर्देशेन पञ्च-भिरारब्धमहाभूतसमूहासिद्धेः। अतः १ "पञ्चजनाः" इत्ययं समासो न समाहारविषयः; अयं तु २ "दिक्सङ्ख्ये संज्ञायाम्" इति संज्ञा-विषयः; अन्यथा पञ्चजनाः इति लिङ्गव्यत्ययश्च। पञ्चजना नाम केचित्सन्ति; तेच पञ्चसङ्ख्यया विशेष्यन्ते, पञ्च पञ्चजनाः इति; सप्त सप्तर्षय इतिवत्॥ ११॥

के पुनस्ते पञ्चजनाः इत्यत आह—

प्राणादयो वाक्यशेषात्। १। ४। १२॥

३ "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः" इति वाक्यशेषाद्ब्रह्माश्रयाः प्राणादय एव पञ्च पञ्चजनाः इति विज्ञायन्ते॥ १२॥

अथ स्यात्—काण्वानां माध्यन्दिनानां च ४ "यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः" इत्ययं मन्त्रस्समानः; ३ "प्राणस्य प्राणम्" इत्यादिवा-क्यशेषे काण्वानामन्नस्य पाठो न विद्यते; तेषां पञ्च पञ्चजनाः प्राणा-दय इति न शक्यं वक्तुम्—इति; अत्रोत्तरम्

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने। १। ४। १३॥

एकेषां काण्वानां पाठे असत्यन्ने ज्योतिषा पञ्चजनाः इन्द्रिया-णीति ज्ञायन्ते; तेषां वाक्यशेषः प्रदर्शनार्थः। एतदुक्तं भवति—

१. बृ. ६-४-१६॥ २. पाणिनि-२-१-५०॥
३. बृ. ६-४-१८॥ ४. बृ. ६ ४ १७॥

१ "यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः" इत्यस्मात्पूर्वस्मिन्मन्त्रे २ "तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्" इति ज्योतिषां ज्योतिष्ट्वे ब्रह्मण्यभिधीयमाने ब्रह्माधीनस्वकार्याणि कानिचिज्ज्योतींषि प्रतिपन्नानि; तानि च विषयाणां प्रकाशकानीन्द्रियाणीति १ "यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः" इत्यनिर्धारितविशेषनिर्देशेनावगम्यन्ते इति ३ "प्राणस्य" इति प्राणशब्देन स्पर्शनेन्द्रियं गृह्यते, वायुसम्बन्धित्वात्स्पर्शनेन्द्रियस्य मुख्यप्राणस्य ज्योतिश्शब्देन प्रदर्शनायोगात्। चक्षुष इति चक्षुरिन्द्रियम्, श्रोत्रस्येति श्रोत्रेन्द्रियम्, अन्नस्येति घ्राणरसनयोस्तन्त्रेणोपादानम्, अन्नशब्दोदितपृथिवीसम्बन्धित्वाद्घ्राणेन्द्रियमनेन गृह्यते; अद्यतेऽनेनेत्यन्नमिति रसनेन्द्रियमपि गृह्यते। मनस इति मनः। घ्राणरसनयोस्तन्त्रेणोपादानमिति पञ्चत्वमप्यविरुद्धम्। प्रकाशकानि मनःपर्यन्तानीन्द्रियाणि पञ्चजनशब्दनिर्दिष्टानि तदविरोधाय घ्राणरसनयोस्तन्त्रेणोपादानम्। तदेवम् १ "यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः" इति पञ्चजनशब्दनिर्दिष्टानीन्द्रियाण्याकाशशब्द प्रदर्शितानि महाभूतानि च ब्रह्मणि प्रतिष्ठितानीति सर्वतत्त्वानां ब्रह्माश्रयत्वप्रतिपादनान्न तन्त्रसिद्धपञ्चविंशतितत्त्वप्रसङ्गः। अतस्सर्वत्र वेदान्ते सङ्ख्योपसङ्ग्रहे तदभावे वा न कापिलतन्त्रसिद्धतत्त्वप्रतीतिरिति स्थितम् ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सङ्ख्योपसङ्ग्रहाधिकरणम् ॥

---

१. बृ. ६-४-१७ ॥ २. बृ. -४-१६ ॥ ३. बृ. ६-४-१८ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कारणत्वाधिकरणम् ॥ ४ ॥)

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः । १ । ४ । १४ ॥

पुनः प्रधानकारणवादी प्रत्यवतिष्ठते—न वेदान्तेष्वेकस्मात्सृष्टिराम्नायत इति जगतो ब्रह्मैककारणत्वं न युज्यते। कथम्? तथाहि १"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इति सत्पूर्विका सृष्टिराम्नायते; २ "असद्वा इदमग्र आसीत्" इत्यसत्पूर्विका च; अन्यत्र-३"असदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्समभवत्" इति च। अतो वेदान्तेषु स्रष्टुरव्यवस्थितेर्जगतो ब्रह्मैककारणत्वं न निश्चेतुं शक्यम्; प्रत्युत प्रधानकारणत्वमेव निश्चेतुं शक्यते ४"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्" इत्यव्याकृते प्रधाने जगतः प्रलयमभिधाय ४"तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इत्यव्याकृतादेव जगतस्सृष्टिश्चाभिधीयते। अव्याकृतं ह्यव्यक्तम्, नामरूपाभ्यां न व्याक्रियते—न व्यज्यत इत्यर्थः। अव्यक्तं प्रधानमेव। अस्य च स्वरूपनित्यत्वेन परिणामाश्रयत्वेन च जगत्कारणवादिवाक्यगतौ सदसच्छब्दौ ब्रह्मणीवास्मिन्न विरोत्स्येते। एवमव्याकृतकारणत्वे निश्चिते सतीक्षणादयः कारणगतास्सृष्ट्यौन्मुख्याभिप्रायेण योजयितव्याः। ब्रह्मात्मशब्दावपि बृहत्त्वव्यापित्वाभ्यां प्रधान एव वर्तेते। अतः स्मृतिन्यायप्रसिद्धं प्रधानमेव जगत्कारणं वेदान्तवाक्यैः प्रतिपाद्यते॥

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—कारणत्वेनचाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः—चशब्दस्तुशब्दार्थे; सर्वज्ञात्सर्वेश्वरात्सत्यसङ्कल्पान्निरस्तनि-

१. छा. ६-२-१ ॥ २. तै. आ. ७ ॥
३. छा. ३-१९-१ ॥ ४. बृ १-४-७ ॥

खिलदोषगन्धात्परस्माद्ब्रह्मण एव जगदुत्पद्यत इति निश्चेतुं शक्यते। कुतः? आकाशादिषु कारणत्वेन यथाव्यपदिष्टस्योक्तेः—सर्वज्ञत्वादिविशिष्टत्वेन १ "जन्माद्यस्य यतः" इत्येवमादिषु प्रतिपादितं ब्रह्म यथाव्यपदिष्टमित्युच्यते, तस्यैकस्यैवाकाशादिषु कारणत्वेनोक्तेः। २ "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः" ३ "तत्तेजोऽसृजत" इत्यादिषु सर्वज्ञं ब्रह्मैव कारणत्वेनोच्यते। तथाहि २ "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" २ "सोऽश्नुते सर्वान्कामान्—सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति प्रकृतं विपश्चिदेव ब्रह्म २ "तस्माद्वा एतस्मात्" इति परामृश्यते। तथा ३ "तदैक्षत बहु स्याम्" इति निर्दिष्टं सर्वज्ञं ब्रह्मैव ३ "तत्तेऽजोऽसृजत" इति परामृश्यते। एवं सर्वत्र सृष्टिवाक्येषु द्रष्टव्यम्। अतो ब्रह्मैककारणं जगदिति निश्चीयते।

ननु ४ "असद्वा इदमग्र आसीत्" इत्यसदेव कारणत्वेन व्यपदिश्यते; तत्कथमिव सर्वज्ञस्य सत्यसङ्कल्पस्य ब्रह्मण एव कारणत्वं निश्चीयत इत्यत आह—

समाकर्षात्। १। ४। १५॥

४ "असद्वा इदमग्र आसीत्" इत्यत्रापि विपश्चिदानन्दमयं सत्यसङ्कल्पं ब्रह्मैव समाकृष्यते। कथम्? ५ "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः" ६ "सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति" ६ इदं सर्वमसृजत। यदिदं किंच। तत्सृष्ट्वा।

---

१. शारी. १-१-२॥ २. तै. आ. १॥
३. छा. ६-२-३॥ ४. तै. आ. ७-१॥
५. २. आ. ५॥ ६. तै. आ. ६॥

तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत् ” इत्यादिना ब्राह्मणेनाऽऽनन्दमयं ब्रह्म सत्यसङ्कल्पं सर्वस्य स्रष्टृ सर्वानुप्रवेशेन सर्वात्मभूतमभिधाय १ “ तदप्येषश्लोकोभवति ” इत्युक्तस्यार्थस्य सर्वस्य साक्षित्वेनोदाहृतोऽयं श्लोकः २ “असद्वा इदमग्र आसीत्” इति। तथोत्तरत्र ३ “भीषाऽस्माद्वातः पवते” इत्यादिना तदेव ब्रह्म समाकृष्य सर्वस्य प्रशासितृत्वनिरतिशयानन्दत्वादयोऽभिधीयन्ते। अतोऽयं मन्त्रस्तद्विषय एव। तदानीं नामरूपविभागाभावेन तत्सम्बन्धितयाऽस्तित्वाभावाद्ब्रह्मैवासच्छब्देनोच्यते। ४ “असदेवेदमग्र आसीत्” इत्यत्राप्ययमेव निर्वाहः। यदुक्तं ५ “तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्” इति प्रधानमेव जगत्कारणत्वेनाभिधीयत इति; नेत्युच्यते, तत्राप्यव्याकृतशब्देनाव्याकृतशरीरं ब्रह्मैवाभिधीयते ५ “स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः पश्यंश्चक्षुः शृण्वञ् श्रोत्रं मन्वानो मन आत्मेत्येवोपासीत” इत्यत्र ६ “ स एषः ” इति तच्छब्देनाव्याकृतशब्दनिर्दिष्टस्यान्तःप्रविश्यप्रशासितृत्वेनानुकर्षात्, ६ “तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्” ७ “ अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि” इति स्रष्टुस्सर्वज्ञस्य परस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशनामरूपव्याकरणप्रसिद्धेश्च । ८ “अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां” इति नियमनार्थत्वादनुप्रवेशस्य प्रधानस्याचेतनस्यैवंरूपोऽनुप्रवेशो न सम्भवति। अतः अव्याकृतम्—अव्याकृतशरीरं ब्रह्म ९ “तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत” इति तदेवाविभक्तनामरूपं ब्रह्म सर्वज्ञंसत्य-

१. तै. आ. ६ ॥
२. तै. आ. ७ ॥
३. तै. आ. ८ ॥
४. छा. ३-१९-१ ॥
५. बृ. ३-४-७ ॥
६. तै. आ. ६ ॥
७. छा. ६-३-२ ॥
८. आरण्ये. १-३-२१ ॥
९. बृ १-४-७ ॥

सङ्कल्पं स्वेनैव विभक्तनामरूपं स्वयमेव व्याक्रियतेत्युच्यते । एवं च सति ईक्षणादयो मुख्या एव भवन्ति । ब्रह्मात्मशब्दावपि निरतिशयबृहत्त्वनियमनार्थव्यापित्वाभावेन प्रधाने न कथंचिदुपपद्येते । अतो ब्रह्मैककारणं जगदिति स्थितम् ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कारणत्वाधिकरणम् ॥ ४ ॥

--*(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये जगद्वाचित्वाधिकरणम्)*--

जगद्वाचित्वात् । १ । ४ १६ ॥

पुनरपि साङ्ख्यः प्रत्यवतिष्ठते—यद्यपि वेदान्तवाक्यानि चेतनं जगत्कारणत्वेन प्रतिपादयन्ति, तथापि तन्त्रसिद्धप्रधानपुरुषातिरिक्तं वस्तु जगत्कारणं वेद्यतया न तेभ्यः प्रतीयते । तथाहि—भोक्तारमेव पुरुषं कारणं वेद्यतयाऽधीयते कौषीतकिनो बालाक्यजातशत्रुसंवादे १ "ब्रह्म ते ब्रवाणि" इत्युपक्रम्य १ "यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्यः" इति उपक्रमे वक्तव्यतया बालाकिनोपक्षिप्तं ब्रह्माजानते तस्मा एवाजातशत्रुणा १ "स वै वेदितव्यः" इति ब्रह्मोपदिश्यते । १ " यस्य वैतत्कर्म" इति कर्मसम्बन्धात्प्रकृत्यध्यक्षो भोक्ता पुरुषो वेदितव्यतयोपदिष्टं ब्रह्मेति निश्चीयते, नार्थान्तरम्, तस्य कर्मसम्बन्धानभ्युपगमात् । कर्म च पुण्यापुण्यलक्षणं क्षेत्रज्ञस्यैव सम्भवति । न च वाच्यम्—क्रियत इति कर्मेति व्युत्पत्त्या प्रत्यक्षादिप्रमाणोपस्थापितं जगदेतत्कर्मेति निर्दिश्यते, यस्यैतत्कृत्स्नं जगत्कर्म, स वेदितव्य इति क्षेत्रज्ञादर्थान्तरमेव प्रती-

---

१. कौषीतकी. ४. १८ ॥

यते—इति; १"यो वै बालाके-एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म" इति पृथङ्निर्देशवैयर्थ्यात्, कर्मशब्दस्य च लोकवेदयोः पुण्यपापरूप एव कर्मणि प्रसिद्धेः। तत्तद्भोक्तृकर्मनिमित्तत्वाज्जगदुत्पत्तेरेतेषां पुरुषाणां कर्तेतिच भोक्तुरेवोपपद्यते। तदयमर्थः—एतेषामादित्यमण्डलाद्यधिकरणानां क्षेत्रज्ञभोग्यभोगोपकरणभूतानां पुरुषाणां यः कारणभूतः, एतत्कारणभावहेतुभूतं पुण्यापुण्यलक्षणं च कर्म यस्य, स वेदितव्यः—तत्स्वरूपं प्रकृतेर्विविक्तं वेदितव्यम्—इति। तथोत्तरत्र १ "तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुः तं यष्टिना विक्षेप" इति सुप्तपुरुषागमनयष्टिघातोत्थापनादीनि च भोक्तृप्रतिपादन एव लिङ्गानि। तथोपरिष्टादपि भोक्तैव प्रतिपाद्यते २ " तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा स्वाश्श्रेष्ठिनं भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते एवमेवैत आत्मान एनं भुञ्जन्ति" इति। तथा १ "क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क वा एतदभूत्कुत एतदागात्" इति पृष्टमर्थमजानते तस्मै स्वयमेवाजातशत्रुरुवाच ३ "हिता नाम नाड्यस्तासु तदा भवति यदा सुप्तस्स्वप्नं न कथंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिस्सहाप्येति मनस्सर्वैर्ध्यानैस्सहाप्येति स यदा प्रतिबुध्यते यथाग्नेर्ज्वलतस्सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः" इति सुषुप्त्याधारतया स्वप्नसुषुप्तिजागरितावस्थासु वर्तमानं वागादिकरणाप्ययोद्गमस्थानमेव जीवात्मानम् ३"अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति" इत्युक्तवान्। अस्मिन् जीवात्मनि प्राणभृत्त्वनिबन्धनोऽयं प्राणशब्दः ३ "स यदा प्रतिबुध्यते" इति प्राणशब्दनिर्दिष्टस्य प्रबोधश्रवणात् मुख्यप्राणस्ये-

१. कौषीतकी. ४. १८ ॥ २. कौषी ४-२० ॥
३. कौषी. ४-१९ ॥

श्वरस्य च सुषुप्तिप्रबोधयोरसम्भवात् अथवा १"अस्मिन्प्राणे" इति व्यधिकरणे सप्तम्यौ; अस्मिन्नात्मनि वर्तमाने प्राण एवैकधा भवति वागादिकरणग्राम इति । प्राणशब्दस्य मुख्यप्राणपरत्वेऽपि जीव एवास्मिन्प्रकरणे प्रतिपाद्यते, स्वतः प्राणस्य जीवोपकरणत्वात् । अतो वक्तव्यतयोपक्रान्तं ब्रह्म पुरुष एवेति तद्व्यतिरिक्तेश्वरासिद्धेः । कारणगताश्चेक्षणादयश्चेतनधर्मा अस्मिन्नेवोपपद्यन्त इत्येतदधिष्ठितं प्रधानमेव जगत्कारणम् ॥

—*—(सिद्धान्तः)—*—

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—जगद्वाचित्वात्—अत्र पुण्यापुण्यपरवशः क्षुद्रः क्षेत्रज्ञस्त्वस्मिन् प्रकृतिधर्माध्यासेन तत्परिणामहेतुभूतः पुरुषो नाभिधीयते; अपितु निरस्तसमस्ताविद्यादिदोषगन्धोऽनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणनिधिर्निखिल जगदेककारणभूतः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते । कुतः ? २"यस्य वैतत्कर्म" इत्यत्रैतच्छब्दान्वितस्य कर्मशब्दस्य परमपुरुषकार्यभूतजगद्वाचित्वात् । एतच्छब्दो ह्यर्थप्रकरणादिभिरसङ्कुचितवृत्तिरविशेषेण प्रत्यक्षादिप्रमाणोपस्थापितनिखिलचिदचिन्मिश्रजगद्विषयः । न च पुण्यापुण्यलक्षणं कर्मात्र कर्मशब्दाभिधेयं २"ब्रह्म ते ब्रवाणि" इत्युपक्रम्य ब्रह्मत्वेन वालाकिना निर्दिष्टानामादित्यमण्डलाद्यधिकरणानां पुरुषाणामब्रह्मत्वेन २"मृषा वै खलु मा संवादयिष्ठाः" इति तमब्रह्मवादिनमपोद्य तेनाविदितब्रह्मज्ञानायाजातशत्रुणेदं वाक्यमवतारितं २ "यो वै वालाके" इत्यादि । पुण्यापुण्यलक्षणकर्मसम्बन्धिन आदित्याद्यधिकरणास्तत्सजातीयाश्च पुरुषास्तेनैव विदिता इति तदविदितपुरुषविशेषज्ञापनपरोऽयं कर्मशब्दो न पुण्यापुण्यमात्रवाची; अपि तु कृत्स्नस्य

---

१. कौषी. ४-१९ ॥ २. कौषी. ४-१८ ॥

जगतः कार्यत्ववाची । एवमेव खल्वविदितोऽर्थ उपादिष्टो भवति । पुरुषस्य कर्मसम्बन्धोपलक्षितस्वाभाविकस्वरूपस्याज्ञातस्य वेदितव्यत्वोपदेशे च लक्षणा. कर्मसम्बन्धमात्रस्यैव वेदितव्यस्वरूपलक्षणत्वाद्यस्य कर्म स वेदितव्य इत्येतावतैव तत्सिद्धेः, १ "यस्य वैतत्कर्म" इत्येतच्छब्दवैयर्थ्यं च । १ "य एतेषां कर्त्ता. यस्य वैतत्कर्म" इति पृथङ्निर्देशस्य चायमभिप्रायः—ये त्वया ब्रह्मत्वेन निर्दिष्टाः तेषां यः कर्त्ता. ते यत्कार्यभूताः, किं विशिष्याभिधीयते, कृत्स्नं जगद्यस्य कार्यम्, उत्कृष्टा अपकृष्टाश्चेतना अचेतनाश्च सर्वे पदार्था यत्कार्यत्वे तुल्याः, स परमकारणभूतः पुरुषोत्तमो वेदितव्यः—इति । जगदुत्पत्तेर्जीवकर्मनिबन्धनत्वेऽपि न जीवस्स्वभोग्यभोगोपकरणादेस्स्वयमुत्पादकः, अपि तु स्वकर्मानुगुण्येनेश्वरसृष्टं सर्वं भुङ्क्ते; अतो न तस्य पुरुषान्प्रति कर्तृत्वमुपपद्यते । अतस्सर्ववेदान्तेषु परमकारणतया प्रसिद्धं परं ब्रह्मैवात्र वेदितव्यतयोपदिश्यते ॥ १६ ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् । १ । ४ । १७ ॥

अथ यदुक्तम्—जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणसंकीर्तनाच्च—लिङ्गाज्जोकैवा स्मिन्प्रकरणे प्रतिपाद्यते, न परमात्मा—इति; तद्व्याख्यातम्—तस्य निर्वाहः प्रतर्दनविद्यायामभिहितः । एतदुक्तं भवति—यत्रोपक्रमोपसंहारपर्यालोचनया ब्रह्मपरं वाक्यमिति निश्चितम्, तत्रान्यलिङ्गानि तदनुरोधेन वर्णनीयानीति तत्र प्रतिपादितम् । अत्राप्युपक्रमे १ ब्रह्म ते ब्रवाणि" इति ब्रह्मोपक्षिप्तम्; मध्ये च १ "यस्य वैतत्कर्म" इति निर्दिष्टं न पुरुषमात्रम्, अपि तु निखिलजगदेककारणं

१. कौषी. ४ १८ ॥

ब्रह्मैवेत्युक्तम्। उपसंहारे च १ "सर्वान्पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद" इति ब्रह्मोपासनैकान्तं सर्वपापापहतिपूर्वकं स्वाराज्यं च फलं श्रुतम्; अतोऽस्य वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वनिश्चयेन जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्यपि तत्परतया वर्णनीयानि—इति। प्रातर्दने धुपासात्रैविध्येन जीवमुख्यप्राणलिङ्गानां ब्रह्मपरत्वमुक्तम्; अत्रापि २"अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति" इति सामानाधिकरण्यसम्भवे वैयधिकरण्यसमाश्रयणायोगाद्ब्रह्मण्येव प्राणशब्दप्रयोगनिश्चयेन च प्राणशरीरकब्रह्मोपासनार्थं प्राणसङ्कीर्तनं लिङ्गं युज्यते ॥ १७ ॥

जीवलिङ्गानां पुनः कथं ब्रह्मपरत्वमित्यत्राह—

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके । १ । ४ । १८ ॥

तुशब्दो जीवसङ्कीर्तनेन वाक्यस्य तत्परत्वसम्भावनाव्यावृत्त्यर्थः। अन्यार्थं जीवसङ्कीर्तनं जीवातिरिक्तब्रह्मस्वरूपप्रतिबोधनार्थमिति जैमिनिराचार्यो मन्यते। कुतः? प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्; प्रश्नस्तावत् ३"तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुः" इत्यादिना सुप्तस्य प्रबुद्धप्राणस्यैव प्राणनामभिरामन्त्रणाश्रवणयष्टिघातोत्थापनाभ्यां प्राणादिव्यतिरिक्तं जीवं प्रतिबोध्य पुनर्जीवव्यतिरिक्तब्रह्मप्रतिबोधनपरो दृश्यते ३"क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क वा एतदभूत्कुत एतदागात्" इति। व्याख्यानमपि २"यदा सुप्तस्स्वप्नं न कथञ्चन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति एतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः" इति जीवादर्थान्तरभूतपर-

---

१. कौषी. ४-२० ॥　　२. कौषी ४-१९　　३. कौषी. ४-१८ ॥

मात्मपरमेव । सुषुप्तस्य हि जीवस्य यत्रोपिनस्य जागरितस्वप्नदशा-सम्बन्धिविचित्रसुखदुःखानुभवकालुष्यविरहेण संप्रसन्नस्य स्वस्थतापत्तिः, पुनरप्यस्य यस्माद्भोगाय निष्क्रमणम्, सोऽयं परमात्मा। तथाहि १"सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" २"प्राज्ञेनाऽऽत्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्" इति सुषुप्त्याधारतया प्रसिद्धो जीवादर्थान्तरभूतः प्राज्ञः परमात्मा । अतः प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां जीवसङ्कीर्तनं जीवादर्थान्तरभूतपरमात्मप्रतिपादनार्थमिति निश्चीयते । यदुक्तं प्रश्नव्याख्याने जीवपरे सुषुप्तिस्थानं च नाड्य एव, कारणग्रामश्च प्राणशब्दनिर्दिष्टे जीव एवैकधा भवति—इति; तदयुक्तम्, नाडीनां स्वप्नस्थानत्वात्, उक्तरीत्या ब्रह्मण एव सुषुप्तिस्थानत्वात् । प्राणशब्दनिर्दिष्टे ब्रह्मण्येव जीवस्य तदुपकरणभूतवागादिकरणग्रामस्य चैकतापत्तिविभागवचनाच्च । अपिचैवमेके—वाजसनेयिनोऽस्मिन्नेव बालाक्यजातशत्रुसंवादे सुषुप्ताद्विज्ञानमयाद्भेदेन तदाश्रयभूतं परमात्मानमामनन्ति ३ "य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाऽभूत्कुत एतदागात्" ३ यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते" इति । आकाशशब्दश्च परमात्मनि प्रसिद्धः ४ "दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशः" इति । अतोऽत्र जीवसङ्कीर्तनं तस्मादर्थान्तरभूतस्य प्राज्ञस्य परस्य ब्रह्मणः प्रतिबोधनार्थमित्यवगम्यते । तस्मादस्मिन्वाक्ये पुरुषादर्थान्तरभूतस्य निखिलजगत्कारणस्य परस्यैव ब्रह्मणो वेदितव्यतयाऽभिधानात्तन्त्रसिद्धस्य पुरुषस्य तदधिष्ठितस्य वा प्रधानस्य कारणत्वं क्वचिदपि वेदान्ते प्रतीयत इति स्थितम् ॥ १८ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये जगद्वाचित्वाधिकरणम् ॥५॥

१. छा. ६-८-१ ॥ ३. बृ. ४-१-१६-१७ ॥ २. बृ. ६-३-२१ ॥
४. छा. ८-१-१॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वाक्यान्वयाधिकरणम्)

वाक्यान्वयात् । १ । ४ । १९ ॥

अत्रापि कापिलतन्त्रसिद्धपुरुषतत्त्वावेदनपरं वाक्यं क्वचिद्दृश्यत इति तदतिरिक्त ईश्वरो नाम न कश्चित्सम्भवतीत्याशङ्क्य निराकरोति। बृहदारण्यके मैत्रेयीब्राह्मणे श्रूयते—१ "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति" इत्यारभ्यः—१ "न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यश्श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्" इति। तत्र संशयः—किमस्मिन्वाक्ये द्रष्टव्यतयोपदिश्यमानस्तन्त्रसिद्धः पुरुषः एव ? अथवा सर्वज्ञस्सत्यसङ्कल्पस्सर्वेश्वरः ? इति। किं युक्तम् ? पुरुष इति । कुतः ? आदिमध्यावसानेषु पुरुषस्यैव प्रतीतेः; उपक्रमे तावत्पतिजायापुत्रवित्तपश्वादिप्रियत्वयोगाज्जीवात्मैव प्रतीयते; मध्येऽपि २ "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यस्समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" इत्युत्पत्तिविनाशयोगात्स एवावगम्यते; तथाऽन्तेच ३ "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" इति स एव ज्ञाता क्षेत्रज्ञ एव प्रतीयते, नेश्वरः। अतस्तन्त्रसिद्धपुरुषप्रतिपादनपरमिदं वाक्यमिति निश्चीयते। ननु "अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन" इत्युपक्रमामृतत्वप्राप्त्युपायोपदेशपरमिदं वाक्यमित्यवगम्यते। तत्कथं पुरुषप्रतिपादनपरत्वमस्य वाक्यस्य; तदुच्यते—अत एव ह्यत्र पुरुषप्रतिपादनम्। तन्त्रे ह्यचिद्धर्माध्यासवियुक्तपुरुषस्वरूपयाथात्म्यविज्ञानमेवामृतत्वहेतुत्वेनोच्यते । अतो जीवात्मनः प्रकृतिवियुक्तं स्वरूपमिहामृतत्वाय

---

१. बृ. ६-५-६ ॥　　२. बृ. ४-४-१२ ॥　　३. बृ. ६-५-१४ ॥

१"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादिनोपदिश्यते। सर्वेषामात्मनां प्रकृतिवियुक्तस्वात्मयाथात्म्यविज्ञानेन सर्वं एवात्मानो विदिता भवन्तीत्यात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुपपन्नम्; देवादिस्थावरान्तेषु सर्वेषु भूतेष्वात्मस्वरूपस्य ज्ञानैकप्रकारत्वात् २ "इदं सर्वं यदयमात्मा" इत्यैकात्म्योपदेशः; देवाद्याकाराणामनात्माकारत्वात् २ "सर्वं तं परादात्" इत्यादिनाऽन्यत्वनिषेधश्च ३"यत्र हि द्वैतमिव भवति" इति च नानात्वनिषेधेनैकस्वरूपे ह्यात्मनि देवादिप्रकृतिपरिणामभेदेन नानात्वं मिथ्येत्युच्यते; ४ "तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निश्श्वसितमेतदृग्वेदः" इत्याद्यपि प्रकृतेरधिष्ठातृत्वेन पुरुषनिमित्तत्वाज्जगदुत्पत्तेरुपपद्यते। एवमस्मिन्वाक्ये पुरुषपरे निश्चिते सति तदैकार्थ्यात्सर्वे वेदन्तास्तन्त्रसिद्धं पुरुषमेवाभिदधतीति तदधिष्ठिता प्रकृतिरेव जगदुपादानम्, नेश्वरः—इति ॥

—*(सिद्धान्तः)*—

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—वाक्यान्वयात्—इति। सर्वेश्वर एवास्मिन्वाक्ये प्रतीयते; कुतः? एवमेवहि वाक्यावयवानामन्योन्यान्वयस्समञ्जसो भवति। ५ "अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन" इति याज्ञवल्क्येनाभिहिते ५ "येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहि" इत्यमृतत्वानुपायतया वित्तादिसाधनानादरेणामृतत्वप्राप्त्युपायमेव प्रार्थयमानायै मैत्रेय्यै तदुपायतया द्रष्टव्यत्वेनोपदिष्टोऽयमात्मा परमात्मैव ६"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" ७ "तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्थाः" इत्यादिभिरमृतत्वस्य परमपुरुषवेदनैकोपायतया प्रतिपादनात्। परमपुरुषविभूतिभूतस्य प्राप्तुरात्मनस्स्वरूपयाथात्म्यमपवर्गसाधनपरमपुरुषवेदनोपयोगितयाऽवगन्तव्यम्; न स्वत एवोपायत्वेन। अतोऽत्र परमात्मै-

१. बृ. ६-४-६ ॥ २. बृ. ६-४ ७ ॥ ३. बृ. ६-५-१५ ॥
४. बृ. ६-४-११ ॥ ५. बृ. ६-५-३, ४ ॥ ६. श्वे. ३-८ ॥ ७. पुरुष ॥

वामृतत्वोपायतया १ "द्रष्टव्यः" इत्यादिनोपदिश्यते। तथा २ 'तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतदृग्वेदः" इत्यादिना कृत्स्नस्य जगतः कारणत्वमुच्यमानं परमपुरुषादन्यस्य कर्मपरवशस्य मुक्तस्य निर्व्यापारस्य च पुरुषमात्रस्य न सम्भवति। तथा ३ "आत्मनो वा अरे दर्शनेन" इत्यादिना एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमभिधीयमानं सर्वात्मभूते परमात्मन्येवावकल्पते। यस्त्वेतदेकरूपत्वादात्मनामेकात्मविज्ञानेन सर्वात्मविज्ञानमुच्यत इति; तदयुक्तम्; अचेतनप्रपञ्चज्ञानाभावेन सर्वविज्ञानाभावात्। प्रतिज्ञोपपादनाय च ४ "इदं ब्रह्मेदं क्षत्रम्" इत्युपक्रम्य ४ "इदं सर्वं यदयमात्मा" इति प्रत्यक्षादिसिद्धं चिदचिन्मिश्रं प्रपञ्चम् 'इदम्' इति निर्दिश्य 'एतदयमात्मा' इत्यैकात्म्योपदेशश्च परमात्मन एवोपपद्यते। नहीदंशब्दवाच्यं चिदचिन्मिश्रं जगत्पुरुषेणाचित्संसृष्टेन तद्वियुक्तेन स्वरूपेण वाऽवस्थितेन चैक्यमुपगच्छति। अतएव ४ "सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनस्सर्वं वेद" इति व्यतिरिक्तत्वेन सर्ववेदननिन्दा च; तथा प्रथमेच मैत्रेयीब्राह्मणे ५ "महद्भूतमनन्तमपारम्" इति श्रुता महत्त्वादयो गुणाः परमात्मन एव सम्भवन्ति। अतस्स एवात्र प्रतिपाद्यते। यत्तूक्तं पतिजायापुत्रवित्तपश्वादिप्रियान्वयिनो जीवात्मन उपक्रमे त्वन्वेष्टव्यतया प्रतिपादनात्तद्विषयमेवेदं वाक्यमिति; तदयुक्तम, ६ "आत्मनस्तु * कामाय" इत्यात्मशब्देन जीवात्मसंशब्दने

* अत्रात्मशब्देन परमात्मा ग्राह्यः—यस्मात्पतिजायादीनां प्रियत्वं यत्संकल्पायत्तं तस्मात्तस्य परमात्मनः प्रसादाय परमात्मा द्रष्टव्यः। नहि परमात्मदर्शनेन प्रसन्नः सन्सर्वेषामपि वस्तूनां पतिजायादिवित्ततोऽधिकं वा प्रियत्वमापादयितुं शक्नोति। नपश्यो मृत्युं पश्यति, नरोगं नोत दुःखता मितिश्रवणादितिभावः॥

१. बृ. ६-५-६॥ २. बृ. ६-५ ११॥ ३. बृ. ६-५-६॥
४. बृ. ६-५-७॥ ५. बृ. ४-४-१२॥ ६. बृ. ६-५-६॥

तस्य "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यनेनानन्वयप्रसङ्गात्। १ "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यात्मनो द्रष्टव्यत्वोपयोगितया १ "आत्मनस्तु कामाय" इत्युपदिष्टमिति प्रतीयते। आत्मनस्तु कामाय—आत्मनः कामसम्पत्तये; काम्यन्त इति कामाः; आत्मन इष्टसम्पत्तय इति यावत्। न च—जीवात्मन इष्टसम्पत्तये पत्यादयः प्रिया भवन्ति—इत्युक्ते सति तस्य जीवस्य स्वरूपमन्वेष्टव्यं भवति। प्रियमेव ह्यन्वेष्टव्यम्; ननु प्रियं प्रति शेषिणः प्रियवियुक्तं स्वरूपम्। यस्मादात्मन इष्टसम्पत्तये पत्यादयः प्रिया भवन्ति, तस्मात्पत्यादि प्रियं परित्यज्य तद्वियुक्तमात्मस्वरूपमन्वेष्टव्यमित्यसङ्गतं भवति। प्रत्युत न पत्यादिशेषतया पत्यादीनां प्रियत्वम्; अपित्वात्मनश्शेषतया पत्यादीनां प्रियत्वमित्युक्ते स्वशेषतया त एवोपादेयास्स्युः। १"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" इत्यस्य परेणानन्वये वाक्यभेदः प्रसज्येत अभ्युपगम्यमानेऽपि वाक्यभेदे पूर्ववाक्यस्य न किञ्चित्प्रयोजनं दृश्यते। अतः पत्यादि सर्वं प्रियं परित्यज्यात्मन एवान्वेष्टव्यत्वं यथा प्रतीयते, तथा वाक्यार्थो वर्णनीयः; सोऽयमुच्यते—२ "अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन" इति वित्तादीनां नित्यनिर्दोषनिरतिशयानन्दरूपामृतत्वप्राप्त्यनुपायतामुक्त्वा वित्तपुत्रपतिजायादीनां सातिशयदुःखमिश्रकादाचित्कप्रियत्वमनुभूयमानं न पत्यादिस्वरूपप्रयुक्तम्, अपितु निरतिशयानन्दस्वभावपरमात्मप्रयुक्तम्। अतो य एव स्वयं निरतिशयानन्दस्सन्नन्येषामपि प्रियत्वलेशास्पदत्वमापादयति, स परमात्मैव द्रष्टव्य इत्युपदिश्यते। तदयमर्थः— १"न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति" न हि पतिजायापुत्रवित्तादयो मत्प्रयोजनायाहमस्य प्रियस्स्यामिति स्वसङ्कल्पात्प्रिया भवन्ति; अपि त्वात्मनः कामाय परमात्मनस्त्वाराधकप्रियप्र-

१. बृ. ६-२-६ ॥ २. बृ. ६-२-३ ॥

तिलम्भनरूपेष्टनिर्वृत्तय इत्यर्थः । परमात्मा हि कर्मभिराराधित-स्तत्तत्कर्मानुगुणं प्रतिनियतदेशकालस्वरूपपरिमाणमाराधकानां तत्तद्वस्तुगतं प्रियत्वमापादयति १ "एष ह्येवानन्दयाति" इति श्रुतेः । ननु तत्तद्वस्तु स्वरूपेण प्रियमप्रियंवा । यथोक्तं—"तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते । तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते ॥ तस्माद्दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चित्सुखात्मकम्" इति । २ "आत्मनस्तु कामाय" इत्यस्य जीवात्मपरत्वेऽपि २ "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इति तु परमात्मविषयमेव । तत्राय-मर्थः—यस्मात्पत्यादीनामिष्टसम्पत्तये तत्परवशेन पत्यादयः प्रियत्वेन नोपादीयन्ते, अपित्वात्मेष्टसम्पत्तये स्वतन्त्रेण स्वप्रियत्वेनोपादीयन्ते; तस्माच्च एवाऽत्मनो निरुपाधिकनिर्दोषनिरवधिकप्रियः परमात्मा; स एवहि द्रष्टव्यः; न दुःखमिश्राल्पसुखदुःखोदर्काः परायत्ततत्त-स्स्वभावाः पतिजायापुत्रवित्तादयो विषयाः—इति । अस्मिंस्तु प्रकरणे जीवात्मवाचिशब्देनापि परमात्मन एवाभिधानात् २ "आत्मनस्तु कामाय" २ "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इति पूर्वोक्तप्रक्रिययोभयत्रात्म-शब्दावेकविषयौ ॥ १९ ॥

मतान्तरेणापि जीवशब्देन परमात्माभिधानोपपादनायाह—

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः । १ । ४ । २० ॥

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासिद्धेरिदं लिङ्गम्, यज्जीवात्म-वाचिशब्दैः परमात्मनोऽभिधानम्—इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्य-ते स्म । यद्ययं जीवः परमात्मकार्यतया परमात्मैव न भवेत्, तदा तद्व्यतिरिक्ततया परमात्मविज्ञानादेतद्विज्ञानं न सेत्स्यति । ३ "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इति प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणात्

१. तै. आ. ७ ॥　　२. बृ. ६-५-६ ॥　　३. ऐतरेय. १-१-१ ॥

१ "यथासुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गास्सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाऽक्षराद्विविधास्सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" इत्यादिभिर्ब्रह्मणो जीवानामुत्पत्तिश्रवणात्तस्मिन्नेव लयश्रवणाच्च जीवानां ब्रह्मकार्यत्वेन ब्रह्मणैक्यमवगम्यते । अतो जीवशब्देन परमात्माभिधानमिति ॥ २० ॥

उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः ।१।४।२१॥

यदुक्तं जीवस्य ब्रह्मकार्यतया ब्रह्मणैक्येनैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपादनार्थं ब्रह्मणो जीवशब्देन प्रतिपादनमिति, तदयुक्तं २ "नजायते म्रियते वा विपश्चित्" इत्यादिनाऽजत्वश्रुतेर्जीवात्मनां प्राचीनकर्मफलभोगाय जगत्सृष्ट्यभ्युपगमाच्च, अन्यथा विषमसृष्ट्यनुपपत्तेश्च, ब्रह्मकार्यस्य जीवस्य ब्रह्मतापत्तिलक्षणो मोक्ष आकाशादिवदवर्जनीय इति तदुपायविधानानुष्ठानानर्थक्याच्च, घटादिवत्कारणप्राप्तेर्विनाशरूपत्वेन मोक्षस्यापुरुषार्थत्वाच्च । जीवात्मन उत्पत्तिप्रलयवादोपपत्तिरुत्तरत्र प्रपञ्चयिष्यते । अतः ३"एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" ४"यथा नद्यस्स्यन्दमानास्समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" इत्युत्क्रमिष्यतः परमात्मभावाज्जीवशब्देन परमात्मनोऽभिधानमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यतेस्म ॥ २१ ॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः । १ । ४ । २२ ॥

यदुक्तमुत्क्रमिष्यतो जीवस्य ब्रह्मभावाद्ब्रह्मणस्तच्छब्देनाभि-

१. मु. २-१-१ ॥ २. कठ. २-२-१८ ॥
३. छा. ८-३-४ ॥ ४. मु. ३-२-८ ॥

भानमिति; तदप्ययुक्तम्, विकल्पासहत्वात् । अस्य जीवात्मन उत्क्रान्तेः पूर्वमनेवम्भावः किं स्वाभाविकः; उतौपाधिकः; तत्रापि पारमार्थिकः, अपारमार्थिको वेति । स्वाभाविकत्वे ब्रह्मभावो नोपपद्यते, भेदस्य स्वरूपप्रयुक्तत्वेन स्वरूपे विद्यमाने तदनपायात् । अथ भेदेन सह स्वरूपमप्यपैतीति, तथा सति विनष्टत्वादेव तस्य न ब्रह्मभावः, अपुरुषार्थत्वादिदोषप्रसङ्गश्च । पारमार्थिकौपाधिकत्वे प्रागपि ब्रह्मैवेति 'उत्क्रमिष्यत एवम्भावात्' इति विशेषो न युज्यते वक्तुम् । अस्मिन्पक्षेऽप्युपाधिब्रह्मव्यतिरेकेण वस्त्वन्तराभावान्निरवयवस्य ब्रह्मण उपाधिना च्छेदाद्यसम्भवाच्चोपाधिगत एव भेद इत्युत्क्रान्तेः प्रागपि ब्रह्मैव । औपाधिकस्य भेदस्यापारमार्थिकत्वे कस्यायमुत्क्रान्तौ ब्रह्मभाव इति वक्तव्यम्; ब्रह्मण एवाविद्योपाधितिरोहितस्वस्वरूपस्येति चेन्न, नित्यमुक्तस्वप्रकाशज्ञानस्वरूपस्याविद्योपाधितिरोधानासम्भवात् । तिरोधानं नाम वस्तुस्वरूपे विद्यमाने तत्प्रकाशनिवृत्तिः । प्रकाश एव वस्तुस्वरूपमित्यङ्गीकारे तिरोधानाभावस्स्वरूपनाशो वा स्यात् । अतो नित्याविर्भूतस्वस्वरूपत्वात्तस्योत्क्रान्तौ ब्रह्मभावे न कश्चिद्विशेष इति 'उत्क्रमिष्यतः' इति विशेषणं व्यर्थमेव । [1]"अस्माच्छरीरात्समुत्थाय" इति पूर्वमनेवंरूपस्य न तदानीं ब्रह्मतापत्तिमाह; अपितु पूर्वसिद्धस्वरूपस्याविर्भावम् । तथाहि वक्ष्यते [2]"सम्पद्याविर्भावस्स्वेनशब्दात्" इत्यादिभिः । अतः [3]"अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य" [4]"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽऽत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" [5]"योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन्यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" [6]"अन्तः

---

१. छा. ८-३-४ ॥　　२. शारी. ४-४-१ ॥　　३. छा. ६-३-२ ॥
४. बृ. ५-७-२२ ॥ मा. पा. ॥　५. सुबाल. ७ ॥　६. आर. १-३-२१ ॥

प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा" इति स्वशरीरभूते जीवात्मन्यात्मतयाऽवस्थितं जीवशब्देन ब्रह्मप्रतिपादनमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते स्म। जीवशब्दश्च जीवस्य परमात्मपर्यन्तस्यैव वाचको न जीवमात्रस्येति पूर्वमेवोक्तम् १"नामरूपे व्याकरवाणि" इत्यत्र। एवमात्मशरीरभावेन तादात्म्योपपादने परस्य ब्रह्मणोऽपहतपाप्मत्वसर्वज्ञत्वादिगोचरा जीवस्याविदुषश्शोचतो ब्रह्मोपासनान्मोक्षवादिन्यो जगत्सृष्टिप्रलयाभिधायिन्यो जगतो ब्रह्मतादात्म्योपदेशपराश्च सर्वाश्श्रुतयस्सम्यगुपपादिता भवन्तीति काशकृत्स्नीयमेव मतं सूत्रकारस्स्वीकृतवान्। अयमत्र वाक्यार्थः—अमृतत्वोपाये मैत्रेय्या पृष्टे याज्ञवल्क्यः—२"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादिना परमात्मोपासनममृतत्वोपायमुक्त्वा २"आत्मनि खल्वरे दृष्टे" इत्यादिनोपास्यलक्षणम्, दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्चोपासनोपकरणभूतमनः-प्रभृतिकरणनियमनं च सामान्येनाभिधाय ३"स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेः" इत्यादिना ४"स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनम्" इत्यादिना चोपास्यभूतस्य परस्य ब्रह्मणो निखिलजगदेककारणत्वम्, सकलविषयप्रवृत्तिमूलकरणग्रामनियमनं च विस्तीर्णमुपदिश्य ५"स यथा सैन्धवघनः" इत्यादिनाऽमृतत्वोपायप्रवृत्तिप्रोत्साहनाय जीवात्मस्वरूपेणावस्थितस्य परमात्मनोऽपरिच्छिन्नज्ञानैकाकारतामुपपाद्य तस्यैवापरिच्छिन्नज्ञानैकाकारस्य संसारदशायां भूतपरिणामानुवृत्तिं ६'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यस्समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति" इत्यभिधाय ६ "न प्रेत्य संज्ञास्ति" इति मोक्षदशायां स्वाभाविकापरिच्छिन्नज्ञानसङ्कोचाभावेन भूतसङ्घातेनैकीकृत्याऽत्मनि देवादिरूपज्ञानाभावमुक्त्वा पुनरपि ७"यत्र

१. छा. ६-३-२ ॥ २. बृ. ६-५-६ ॥ ३. बृ. ४-४-१० ॥ ४. बृ. ४-४-११ ॥ ५ बृ. ६-५-१३ ॥ ६. बृ. ४-४-१२ ॥ ७. बृ. ४-४-१४ ॥

हि द्वैतमिव भवति" इत्यादिना अब्रह्मात्मकत्वेन नानाभूतवस्तुदर्शनमज्ञानकृतमिति निरस्तनिखिलाज्ञानस्य ब्रह्मात्मकं कृत्स्नं जगदनुभवतो ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वन्तराभावेन भेददर्शनं निरस्य १"येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्" इतिच जीवात्मा स्वात्मतयाऽवस्थितेन येन परमात्मना आहितज्ञानस्सन्निदं सर्वं विजानाति, अयं तं केन विजानीयात्, न केनापीति परमात्मनो दुरवगमत्वमुपपाद्य २"स एष नेतिनेति" इत्यादिनाऽयं सर्वेश्वरस्स्वेतरसमस्तचिदचिद्वस्तुविलक्षणस्वरूप एव सर्वशरीरस्सर्वस्याऽऽत्मतयाऽवस्थित इति स्वशरीरभूतचिदचिद्वस्तुगतैर्दोषैर्न स्पृश्यत इत्यभिधाय ३"विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनाऽसि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वम्" इति समस्तवस्तुविसजातीयं निखिलजगदेककारणभूतं सर्वस्य विज्ञातारं पुरुषोत्तममुक्तप्रकाराढुपासनादृते केन विजानीयादितीदमेवोपासनममृतत्वोपायः; ब्रह्मप्राप्तिरेव चामृतत्वमभिधीयते-इत्युक्तवान्। अतः परं ब्रह्मैवास्मिन्वाक्ये प्रतिपाद्यत इति परमेव ब्रह्म जगत्कारणम्, न पुरुषस्तदधिष्ठिता च प्रकृतिरिति स्थितम् ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वाक्यान्वयाधिकरणम् ॥ ६ ॥

(*श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रकृत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥*)

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् । १ । ४ । २३ ॥

एवं निरीश्वरसाङ्ख्ये निरस्ते सति सेश्वरसाङ्ख्यः प्रत्यवतिष्ठते--यद्यपीक्षणादिगुणयोगात्सर्वज्ञमीश्वरं जगत्कारणत्वेन वेदान्ताः प्रतिपादयन्ति; तथापि वेदान्तैरेव जगदुपादानतया प्रधानमेव प्रति-

---

१. बृ. ६-५-१५ ॥ २. बृ. ६-५-१५ ॥ ३. बृ. ४ ४-१४

पाद्यत इति प्रतीयते। नहि वेदान्तास्सर्वज्ञस्यापरिणामिनोऽधिष्ठातुरीश्वरस्याधिष्ठेयेनाचेतनेन परिणामिना प्रधानेन विना जगतः कारणत्वमवगमयन्ति। तथाह्यपरिणामिनं प्रधानमेनं प्रकृतिं चैतदधिष्ठितां परिणामिनीमधीयते —१"निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" २"स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरः" ३"विकारजननीमज्ञामष्टरूपामजां ध्रुवाम्" ३"ध्यायतेऽध्यासिता तेन तन्यते प्रेर्यते पुनः। सूयते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठिता जगत्। गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी" इति। तथा प्रकृतिमुपादानभूतामधिष्ठायैवेश्वरो विश्वं जगत्सृजतीति श्रूयते ४"अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् ४"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" इति। स्मृतिरपि ५"मयाध्यक्षेण प्रकृतिस्सूयते सचराचरम्" इति। एवमश्रुतेऽपि प्रधानोपादानत्वे ब्रह्मणो जगत्कारणत्वश्रुत्यन्यथानुपपत्त्यैव प्रधानस्वरूपं तस्येश्वराधिष्ठितस्य जगदुपादानत्वं च सिद्ध्यति।। एवमेवहि लोके निमित्तोपादानयोरत्यन्तभेदो दृश्यते। मृत्सुवर्णादेरचेतनस्य घटकटकाद्युपादानत्वं चेतनस्य कुलालसुवर्णकारादेर्निमित्तत्वं च नियतमुपलभ्यते कार्यनिष्पत्तिश्च नियमेनानेककारकसव्यपेक्षा दृष्टा। एवं निमित्तोपादानयोर्भेदनियमं कार्यनिष्पत्तेरनेककारकसव्यपेक्षत्वनियमं चातिक्रम्यैकमेव ब्रह्मोपादानं निमित्तं च प्रतिपादयितुं न प्रभवन्ति वेदान्तवाक्यानि। अतो ब्रह्म निमित्तकारणमेव, नोपादानम्। उपादानंतु तदधिष्ठितं प्रधानमेव—इति ॥

(सिद्धान्तः)

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्—इति। प्रकृतिश्च—उपादानंच। न निमित्तकारणमात्रं ब्रह्म, उपादानकारणं

१. श्वे. ६-१९ ॥ २. बृ. ६-४-२५ ॥ ३. मन्त्रिकोपनिषदि ॥ ४. श्वे. ४-९,१० ॥ ५. गी. ९-१० ॥

च ब्रह्मैवेत्यर्थः। कुतः? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। एवमेवहि प्रतिज्ञादृष्टान्तौ नोपरुध्येते। प्रतिज्ञा तावत् १"स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानविषया। दृष्टान्तश्च २"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् ३"यथा सोम्यैकेन लोहमणिना" ४"यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन" इति कारणविज्ञानात्कार्यविज्ञानविषयः। यदि निमित्तकारणमेव जगतो ब्रह्म, तदा तद्विज्ञानाञ्च समस्तं जगद्विज्ञातं स्यात्। नहि कुलालादिविज्ञानेन घटादिर्विज्ञायते। अतः प्रतिज्ञादृष्टान्तयोर्बाध एव। ब्रह्मण एवोपादानत्वे उपादानभूतमृत्पिण्डलोहमणि नखनिकृन्तनविज्ञानेन घटमणिकटकमुकुटवासीपरश्वथादितत्कार्यविज्ञानवन्निखिलजगदुपादानभूते ब्रह्मणि विज्ञाते तत्कार्यं निखिलं जगद्विज्ञातं स्यात्। कारणमेवात्रस्थान्तरापन्नं कार्यम्, 'न द्रव्यान्तरमिति कार्यकारणरूपेणावस्थितमृत्तद्विकारादिनिदर्शनेन प्रतिज्ञासमर्थनाद्ब्रह्म जगदुपादानं चेति निश्चीयते। यत्तु निमित्तोपादनयोर्भेदश्श्रुत्यैव प्रतीयत इति; तदसत्, निमित्तोपादानयोरैक्यप्रतीतेः ५"उत तमादेशमप्राक्ष्यः येनाश्रुतं श्रुतं भवति" इति। आदिश्यते प्रशिष्यतेऽनेनेत्यादेशः, ६"एतस्य वा वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि" इत्यादिश्रुतेः। साधकतमत्वेन कर्ता विवक्षितः। तमादेष्टारमप्राक्ष्यः, येनाश्रुतं श्रुतं भवति, येनादेष्ट्राऽधिष्ठात्रा श्रुतेनाश्रुतमपि श्रुतं भवतीति निमित्तोपादनयोरैक्यं प्रतीयते, ७"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेव" इति प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणादद्वितीयपदेनाधिष्ठात्रन्तरनिवारणाच्च। नन्वेवं सति ८"विकारजननीम्" ८ "गौरनाद्यन्तवती" इत्यादिभिः प्रकृतेराद्यन्तविरहेण

१. छा. ६-१-३ ॥ २. छा. ६-१-४ ॥ ३. छा. ६-१-५ ॥
४. छा. ६-१-६ ॥ ५. छा. ६-१-३ ॥ ६. बृ. ५-८-९ ॥
७. छा. ६-२-१ ॥ ८. मन्त्रिकोपनिषदि ॥

नित्यत्वं जगदुपादानत्वं च श्रूयमाणं कथमुपपद्यते। तदुच्यते-तत्राप्यविभक्तनामरूपं कारणावस्थं ब्रह्मैव प्रकृतिशब्देनाभिधीयते। ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वन्तराभावात्। तथाहि श्रुतयः १"सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनस्सर्वं वेद" २"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" इत्याद्याः; ३ "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" ४ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इति कार्यावस्थं कारणावस्थं च सर्वं जगद्ब्रह्मात्मकमिति श्रवणाच्च। एतदुक्तं भवति—'१"यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन्यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद" इत्यारभ्य ५"योऽव्यक्तमन्तरे सञ्चरन्यस्याव्यक्तं शरीरं यमव्यक्तं न वेद "योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन्यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद' ६"यः पृथिव्यां तिष्ठान्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति" इत्यारभ्य ७"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽऽत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति च सर्वचिदचिद्वस्तुशरीरतया सर्वदा सर्वात्मभूतं परं ब्रह्म कदाचिद्विभक्तनामरूपम्, कदाचिच्चाविभक्तनामरूपम्; यदा विभक्तनामरूपं तदा तदेव बहुत्वेन कार्यत्वेन चोच्यते; यदा चाविभक्तनामरूपं तदैकमद्वितीयं कारणमिति च। एवं सर्वदा चिदचिद्वस्तुशरीरस्य परस्य ब्रह्मणोऽविभक्तनामरूपा या कारणावस्था सा ८"गौरनाद्यन्तवती" ८"विकारजननीमज्ञाम्" ९" अजामेकाम्" इत्यादिभिरभिधीयते--इति। ननु च १०"महानव्यक्ते लीयते अव्यक्तमक्षरे लीयते" इति प्रलयश्रुतेरव्यक्तस्योत्पत्तिप्रलयौ प्रतीयेते; तथा च महाभारते ११ "तस्मादव्यक्त-

१. बृ. ६-१-७ ॥ २. बृ. ६-५-१५ ॥ ३. छा. ३-१४-१ ॥
४. छा. ६-८-७ ॥ ५. सुबा. ७॥ ६. बृ. ५-७-३ ॥
७. बृ. ५-७-२२ ॥ ८. मन्त्रिकोप ॥ ९. श्वे. ४-५ ॥
१०. सुबा. २ ॥ ११. भारते. शान्ति. मोच. ८-१३,१४ ॥

मुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम" १"अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्क्रिये सम्प्रलीयते" इति। नैष दोषः, अचिद्वस्तुशरीरस्य ब्रह्मणोऽव्यक्तशब्दवाच्यायास्त्रिगुणावस्थायाः कार्यत्वात्। "यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिः" इति कृत्स्नप्रलयदशायामपि ब्रह्मात्मकस्यातिसूक्ष्मस्याचिद्वस्तुनस्स्थित्यभिधाना जगत्कारणस्य परस्य ब्रह्मणः प्रकारभूतमतिसूक्ष्मं चाचिद्वस्तु नित्यमेवेति तत्प्रकारं ब्रह्मैव २"गौरनाद्यन्तवती" इत्यादिष्वभिधीयते। अत एव च ३"अक्षरं तमसि लीयते तमः परे देव एकी भवति" इति तमस एकीभावमात्रमेव श्रूयते; न तु लयः। एकीभाव इति तमोभिधानातिसूक्ष्माचित्प्रकारस्य ब्रह्मणोऽविभक्तनामरूपतयाऽवस्थानमभिधीयते। "तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतं तमसस्तन्महिनाजायतैकम्" इत्याद्यप्येतदेव वदति। तथा च मानवं वचः ४"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः" इति। ५"अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" इत्याद्यनन्तरमेवोपपादयिष्यते; ब्रह्मणोऽपरिणामित्वश्रुतयश्च। यत्त्वेकस्य निमित्तत्वमुपादानत्वं च न सम्भवति, एककारकनिष्पाद्यत्वं च कार्यस्य; लोके तथा नियमदर्शनात्। अतोऽग्निना सिञ्चेदितिवद्वेदान्तवाक्यान्येकस्मादेवोत्पत्तिं प्रतिपादयितुं न प्रभवन्तीति। अत्रोच्यते—सकलेतरविलक्षणस्य परस्य ब्रह्मणस्सर्वशक्तेस्सर्वज्ञस्यैकस्यैव सर्वमुपपद्यते। मृदादेरचेतनस्य ज्ञानाभावेनाधिष्ठातृत्वायोगादधिष्ठातुः कुलालादेर्विचित्रपरिणामशक्तिविरहादसत्यसङ्कल्पतया च तथा दर्शननियमः। अतो ब्रह्मैव जगतो निमित्तमुपादानं च ॥२३॥

अभिध्योपदेशाच्च। १। ४। २४ ॥

इतश्चोभयं ब्रह्मैव, ६"सोऽकामायत बहु स्यां प्रजायेयेति"

१. भारते. शान्ति. मोक्ष. ८-१३-,१३॥ २. मन्त्रिकोप ॥ ३. सुबा. २ ॥
४. मनु. २.१ ॥ ५. श्वे ४-६ ॥ ६. तै. आ. ६-२ ॥

१"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इति स्रष्टुर्ब्रह्मणस्स्वस्यैव बहुभवनसङ्कल्पोपदेशात्। विचित्रचिदचिद्रूपेणाहमेव बहु स्यां तथा प्रजायेयेति सङ्कल्पपूर्विका हि सृष्टिरुपदिश्यते ॥२४॥

साक्षाच्चोभयाम्नानात्। १।४।२५॥

न केवलं प्रतिज्ञादृष्टान्ताभिध्योपदेशादिभिरयमर्थो निश्चीयते, ब्रह्मण एव निमित्तत्वमुपादानत्वं साक्षादाम्नायते २"किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा पृच्छतेदुतयदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्। ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्" इति। अत्र हि स्रष्टुर्ब्रह्मणः किमुपादानं कानि चोपकरणानीति लोकदृष्ट्या पृष्टे सकलेतरविलक्षणस्य ब्रह्मणस्सर्वशक्तियोगो न विरुद्ध इति ब्रह्मैवोपादानमुपकरणानि चेति परिहृतम्। अतश्चोभयं ब्रह्म ॥२५॥

आत्मकृतेः १।४।२६॥

३"सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" इति सिसृक्षुत्वेन प्रकृतस्य ब्रह्मणः ४"तदात्मानं स्वयमकुरुत" इति सृष्टेः कर्मत्वं कर्तृत्वं च प्रतीयत इत्यात्मन एव बहुत्वकरणात्तस्यैव निमित्तत्वमुपादानत्वं च प्रतीयते। अविभक्तनामरूप आत्मा कर्ता, स एव विभक्तनामरूपः कार्यमिति मर्तृत्वकर्मत्वयोर्न विरोधः। स्वयमेवाऽत्मानं तथाऽकुरुतेति निमित्तमुपादानं च ॥२६॥

---

१. छा. ६-२-३॥ २. अष्ट. २. प्र.८-अनु.७.पं.८॥
३. तै. आ. ६-२॥ ४. तै. आ ७-१॥

१"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" २"आनन्दो ब्रह्म" ३"अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः" ४"निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" ५"स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरः इति स्वभावतो निरस्तसमस्तचेतनाचेतनवर्तिदोषगन्धस्य निरतिशयज्ञानानन्दैकतानस्य परस्य ब्रह्मणो विचित्रानन्तापुरुषार्थास्पदचिदचिन्मिश्रप्रपञ्चरूपेणाऽऽत्मनो बहुभवनसङ्कल्पपूर्वकं बहुत्वकरणं कथमुपपद्यत इत्याशङ्क्याह—

परिणामात् । १ । ४ । २७ ॥

परिणामस्वाभाव्यात्; नात्रोपदिश्यमानस्य परिणामस्य परस्मिन्ब्रह्मणि दोषावहत्वं स्वभावः प्रत्युतनिरङ्कुशैश्वर्यावहत्वमेवेत्यभिप्रायः। एवमेव हि परिणाम उपदिश्यते; अशेषहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानं स्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणं सर्वज्ञं सत्यसङ्कल्पमवाप्तसमस्तकाममनवधिकातिशयानन्दं स्वलीलोपकरणभूतसमस्तचिदचिद्वस्तुजातशरीरतया तदात्मभूतं परं ब्रह्म स्वशरीरभूते प्रपञ्चे तन्मात्राहङ्कारादिकारणपरम्परया तमश्शब्दवाच्यातिसूक्ष्माचिद्वस्त्वेकशेषे सति, तमसि च स्वशरीरतयापि पृथङ्निर्देशानर्हातिसूक्ष्मदशापत्त्या स्वस्मिन्नेकतामापन्ने सति, तथाभूततमश्शरीरं ब्रह्म पूर्ववद्विभक्तनामरूपचिदचिन्मिश्रप्रपञ्चशरीरं स्यामिति सङ्कल्प्याप्ययक्रमेण जगच्छरीरतया आत्मानं परिणमयतीति सर्वेषु वेदान्तेषु परिणामोपदेशः। तथैव बृहदारण्यके कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मशरीरत्वं ब्रह्मणस्तदात्मत्वं चाम्नायते ६"यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद

---

१. तै. आ. १-१ ॥ २. तै. भृ. ६ ॥ ३. छा. ८-१-५ ॥
४. श्वे. ६-१९ ॥ ५. बृ. ६-४-२५ ॥
६. बृ. ५-७-३ वाक्यमारभ्य यस्यरेतश्शरीरमिति २३ वाक्यपर्यन्तम् ॥

यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इत्यारभ्य "यस्यापश्शरीरम्" "यस्याग्निश्शरीरं" "यस्यान्तरिक्षं शरीरम्" "यस्य वायुश्शरीरम्" "यस्य द्यौश्शरीरम्" "यस्यादित्यश्शरीरम्" "यस्य दिशश्शरीरम्" "यस्य चन्द्रतारकं शरीरम्" "यस्याकाशश्शरीरम्" "यस्य तमश्शरीरं" "यस्य तेजश्शरीम्" 'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्" "यस्य प्राणश्शरीरम्" "यस्य वाक्छरीरम्" "यस्य चक्षुश्शरीरम्" "यस्य श्रोत्रं शरीरम्" "यस्त मनश्शरीरम्" "यस्य त्वक्छरीरम्" "यस्य विज्ञानं शरीरम्" "यस्य रेतश्शरीरं" इत्येवमन्तेन काण्वपाठे; माध्यन्दिने तु पाठे विज्ञानस्थाने 'यस्याऽत्मा शरीरम्' इति विशेषः । लोकयज्ञवेदानां परमात्मशरीरत्वमधिकम्। सुबालोपनिषदि च पृथिव्यादीनां तत्त्वानां परमात्मशरीरत्वमभिधाय वाजसनेयकेऽनुक्तानामपि तत्त्वानां शरीरत्वं ब्रह्मण आत्मत्वं च श्रूयते १"यस्य बुद्धिश्शरीरम्" १ "यस्याहङ्कारश्शरीरं" १"यस्य चित्तं शरीरं" १"यस्याव्यक्तं शरीरम्" १"यस्याक्षरं शरीरम्" "यो मृत्युमन्तरे सञ्चरन्यस्य मृत्युश्शरीरं यं मृत्युर्न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इति। अत्र मृत्युशब्देन परमसूक्ष्ममचिद्वस्तुतमश्शब्दवाच्यमभिधीयते, २"अव्यक्तमक्षरे लीयते अक्षरं तमसि लीयते" इति तस्यामेवोपनिषदि क्रमप्रत्यभिधानात्। सर्वेषामात्मनां ज्ञानावरणानर्थमूलत्वेन तदेव हि तमो मृत्युशब्दव्यपदेश्यम् । सुबालोपनिषद्येव ब्रह्मशरीरतया तदात्मकानां तत्त्वानां ब्रह्मण्येव प्रलय आम्नायते २"पृथिव्यप्सु प्रलीयते आपस्तेजसि लीयन्ते तेजो वायौ लीयते वायुराकाशे लीयते आकाशमिन्द्रियेष्विन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादौ लीयन्ते भूतादिर्महति

१. सुबा. ७॥ २. सुबा. २॥

लीयते महानव्यक्ते लीयते अव्यक्तमक्षरे लीयते अक्षरं तमसि लीयते तमः परे देव एकी भवति" इति । अविभागापत्तिदशायामपि चिदचिद्वस्त्वतिसूक्ष्मं सकर्मसंस्कारं तिष्ठतीत्युत्तरत्र वक्ष्यते—१"न कर्माविभागादितिचेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च" इति । एवं स्वस्माद्विभागव्यपदेशानर्हतया परमात्मनैकीभूतात्यन्तसूक्ष्मचिद्-चिद्वस्तुशरीरादेकस्मादेवाद्वितीयान्निरतिशयानन्दात्सर्वज्ञात्सत्यसङ्क-ल्पाद्ब्रह्मणो नामरूपविभागार्हस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरतया बहुभवन-सङ्कल्पपूर्वको जगदाकारेण परिणामश्श्रूयते । २"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ३"तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् । अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्द-मयः" ४"एष ह्येवानन्दयाति" ५"सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनु प्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं चानृतं च सत्य-मभवत्" इति । अत्र तपश्शब्देन प्राचीनजगदाकारपर्यालोचनरूपं ज्ञानमभिधीयते ६"यस्य ज्ञानमयं तपः" इत्यादिश्रुतेः । प्राक्सृष्टं जगत्संस्थानमालोच्येदानीमपि तत्संस्थानं जगदसृजदित्यर्थः; तथैव हि ब्रह्म सर्वेषु कल्पेष्वेकरूपमेव जगत्सृजति ७"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो सुवः" ८"यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये । दृश्यन्ते तानितान्येव तथा भावा युगादिषु" इति श्रुतिस्मृतिभ्यः । तदयमर्थः—स्वयमपरि-च्छिन्नज्ञानानन्दस्वभावोऽत्यन्तसूक्ष्मतयाऽसत्कल्पस्वलीलोपकरणचिद्-चिद्वस्तुशरीरतया तन्मयः परमात्मा निचित्रानन्तक्रीडनकोपादित्सया

१. शारी. २-१-३५ ॥ २. तै. आ. १-१ ॥ ३. तै. आ. ५-२ ॥
४. तै. आ. ७-७ ॥ ५. तै. आ. ६-२ ॥ ६. मु. १-१-९ ॥
७. तै. नारा. ६-२७ ॥ ८. वि. पु. १-५-६५ ॥

स्वशरीरभूतप्रकृतिपुरुषसमष्टिपरम्परया महाभूतपर्यन्तमात्मानं तत्तच्छरीरकं परिणमय्य तन्मयः पुनस्तत्स्यच्छन्दवाच्यविचित्रचिदचिन्मिश्रदेवादिस्थावरान्तजगद्रूपोऽभवत्—इति। १"तदेवानुप्राविशत्तदनुप्रविश्य" इति कारणावस्थायामात्मतयाऽवस्थितः परमात्मैव कार्यरूपेण विक्रियमाणद्रव्यस्याप्यात्मतयाऽवस्थाय तत्तदभवदित्युच्यते। एवं परमात्मचिदचित्सङ्घातरूपजगदाकारपरिणामे परमात्मशरीरभूतचिदंशगतास्सर्वे एवापुरुषार्थाः; तथाभूताचिदंशगताश्च सर्वे विकाराः; परमात्मनि कार्यत्वम्; तदवस्थयोस्तयोर्नियन्तृत्वेनात्मत्वम्; परमात्मा तु तयोस्स्वशरीरभूतयोर्नियन्तृतयात्मभूतस्तद्गतापुरुषार्थैर्विकारैश्च न स्पृश्यते; अपरिच्छिन्नज्ञानानन्दमयस्सर्वदैकरूप एव जगत्परिवर्तनलीलयाऽवतिष्ठते। तदेतदाह २"सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्" इति। विचित्रचिदचिद्रूपेण विक्रियमाणमपि ब्रह्म सत्यमेवाभवत्- निरस्तनिखिलदोषगन्धमपरिच्छिन्नज्ञानानन्दमेकरूपमेवाभवदित्यर्थः। सर्वाणि चिदचिद्वस्तूनि सूक्ष्मदशापन्नानि स्थूलदशापन्नानि च परस्य ब्रह्मणो लीलोपकरणानि; सृष्ट्यादयश्च लीलेति भगवद्द्वैपायनपराशरादिभिरुक्तम् ३"अव्यक्तादिविशेषान्तं परिणामर्धिसंयुतम्। क्रीडा हरेरिदं सर्वं क्षरमित्युपधार्यताम्" ४"क्रीडतो बालकस्येव चेष्टां तस्य निशामय" ५"बालः क्रीडनकैरिव" इत्यादिभिः। वक्ष्यतिच ६"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" इति। ७"अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः" इति ब्रह्मणि जगद्रूपतया विक्रियमाणेऽपि तत्प्रकारभूताचिदंशगतास्सर्वे विकारास्तत्प्रकारभूतक्षेत्रज्ञगताश्चापुरुषार्था इति विवेक्तुं प्रकृतिपुरुषयोर्ब्रह्मशरीरभूतयोस्तदानीं तथा निर्देशानर्हातिसूक्ष्मदशापन्नया

१. तै. आ. ९-२ ॥ २. वि. पु. १-२-१८ ॥ ३. वायुपु. उत्तरखं. ३६-६६ ॥
४. शारी. २-१-३३ ॥ ५. श्वे. ४-६ ॥ ६. तै. आ. ७ ॥ ७. मनु. १-८ ॥

ब्रह्मणैकीभूतयोरपि भेदेन व्यपदेशः, १ "तदात्मानं स्वयमकुरुत" इत्यादिभिरैकार्थ्यात्। तथाच मानवं वचः २"सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमपासृजत्" इति। अत एव ब्रह्मणो निर्दोषत्वनिर्विकारत्वश्रुतयश्चोपपन्नाः। अतो ब्रह्मैव जगतो निमित्तमुपादानञ्च ॥ २७ ॥

योनिश्चहि गीयते । १ । ४ । २८ ॥

इतश्च जगतो निमित्तमुपादानञ्च ब्रह्म, यस्माद्योनित्वेनाप्यभिधीयते ३"कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म योनिम्" इति । ४"यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" इति च योनिशब्दश्चोपादानवचन इति ४"यथोर्णनाभिस्सृजते गृह्णते च" इति वाक्यशेषादवगम्यते ॥ २८ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रकृत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

-*-(*श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ॥८॥*)-*-

एतेन सर्वे व्याख्याताव्याख्याताः । १ । ४ । २९ ॥

एतेन पादचतुष्टयोक्तन्यायकलापेन, सर्ववेदान्तेषु जगत्कारणप्रतिपादनपरास्सर्वे वाक्यविशेषाश्चेतनाचेतनविलक्षणसर्वज्ञसर्वशक्तिब्रह्मप्रतिपादनपरा व्याख्याताः। 'व्याख्याताः' इति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिद्योतनार्थः ॥ २९ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ॥ ८ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसा भाष्ये

प्रथमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

॥ समाप्तश्चाध्यायः ॥

---

१. तै. आ. ७ ॥ २. मनु. १-८ ॥ ३. मु. ३-१-३ ॥ ४. मु. १-१-७, ६॥

श्रीः

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य अकारादिक्रमेण सूत्राणां सूची ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

(द्वितीयाध्याये—प्रथमपादे—स्मृत्यधिकरणम् ॥ १ ॥)

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इतिचेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् २ । १ । १ ॥

*प्रथमेऽध्याये प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरादचेतनात्तत्संसृष्टात्तद्वियुक्ताच चेतनादर्थान्तरभूतं ×निरस्तनिखिलाविद्यात्वपुरुषार्थगन्धमनन्तज्ञानानन्दैक तानमपरिमितोदारगुणसागरं निखिलजगदेककारणं सर्वान्तरात्मभूतं परं ब्रह्म वेदान्तवेद्यमित्युक्तम् ॥

अनन्तरमस्यार्थस्य सम्भावनीयसमस्तप्रकारदुर्धर्षत्वप्रतिपादनाय द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते । प्रथमं तावत्कपिलस्मृतिविरोधाद्वेदान्तानामतत्परत्वमाशङ्क्य तन्निराक्रियते । कथं स्मृतिविरोधाच्छ्रुतेरन्यपरत्वम्? उक्तं हि+ १"विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यात्" इति श्रुतिविरुद्धायास्स्मृतेरनादरणीयत्वम्।-सत्यम, "औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्" इत्यादिषु स्वत एवार्थ-

---

१. पूर्वमीमां १, ३. ३ ॥

*अतीत ग्रन्थेन संगतिं प्रदर्शयन् प्रथमाध्यायार्थं संग्रहेणा ह प्रथमेऽध्याये इति । प्रत्यक्षादीत्यादिना अनुमान परिग्रहः ।

×मुक्तात्म व्यावृत्यर्थं निरस्तनिखिलेत्यादि । सागरः समूहः, अपरिमित उदारगुणसागरोयस्येति बहुव्रीहिः एकं निमित्ताभिन्नोपादानम् ।

+विरोधे प्रत्यक्षश्रुतिविरोधेसति स्मृतिवचन मनपेक्ष्य मनादरणीयम्—असति–विरोधे स्मृत्या श्रुतेरनुमानं कार्यमिति सूत्रार्थः—स्मृतीनां श्रुति मूलकत्वेनैव प्रामाण्यात् स्मृत्याश्रुतेरनुमानेपि प्रत्यक्ष श्रुतिविरुद्धाचेन् सा नानुमपिकेत्यनादरणीयैवेति भावः ।

†सत्यमिति अयमाशयः यत्र स्मृति न्यायनिरपेक्षं स्वतः एव श्रुतेरर्थो-निर्णेतुं शक्यते तत्र प्रत्यक्ष श्रुतिविरुद्धा स्मृति रुपेक्ष्या यथा औदुम्बरीं स्पृष्ट्वेति-श्रुतिविरुद्धा औदुम्बरी सर्वा वेष्टितव्येतिस्मृतिः, वेदान्तवाक्येषु सन्दिग्ध मानार्थत्वात् तन्निरपेक्षं स्वतोनिश्चेतुम्न शक्यते इतितदर्थं स्मृतिरपेक्षणीयैव–एतदेवाह इहेति ।

निश्चयसम्भवात्तद्विरुद्धा स्मृतिरनादरणीयैव; इह तु वेदान्तवेद्यतत्त्वस्य दुरवबोधत्वेन परमर्षिप्रणीतस्मृतिविरोधे सत्ययमर्थ इति निश्चयायोगात् स्मृत्या श्रुतेरतत्परत्वोपपादनमविरुद्धम्। एतदुक्तं भवति–प्राचीनभागोदितनिखिलाभ्युदयसाधनभूताग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिकर्माणि यथावदभ्युपगच्छता श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु १"ऋषिं प्रसूतं कपिलम्" इत्यादिवाक्यैराप्तत्वेन सङ्कीर्तितेन परमर्षिणा कपिलेन परमनिःश्रेयसतत्साधनावबोधित्वेनोपनिबद्धस्मृत्युपबृंहणेन विना अल्पश्रुतैर्मन्दमतिभिर्वेदान्तार्थनिश्चयायोगाद्यथाश्रुतार्थग्रहणे चाप्तप्रणीतायास्साङ्ख्यस्मृतेस्सकलाया एवानवकाशप्रसङ्गाच्च स्मृतिप्रसिद्ध एवार्थो वेदान्तवेद्य इति बलादभ्युपगमनीयम्–इति। न च वाच्यं मन्वादिस्मृतीनां ब्रह्मैककारणत्ववादिनीनामेवं सत्यनवकाशत्वदोपप्रसङ्ग इति; धर्मप्रतिपादनद्वारा प्राचीनभागोपबृंहण एव सावकाशत्वात्। अस्यास्तु कृत्स्नायास्तत्त्वप्रतिपादनपरत्वात्तथाऽनभ्युपगमे निरवकाशत्वमेव स्यात्। तदिदमाशङ्कते स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेत्–इति॥

(सिद्धान्तः)

तत्रोत्तरं–नान्यस्मृत्यनवकाशदोपप्रसङ्गात्—इति। अन्या हि मन्वादिस्मृतयो ब्रह्मैककारणतां वदन्ति; यथाऽऽह मनुः२ "आसीदिदं तमोभूतम्" इत्यारभ्य ३"ततस्स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्। महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः" ४"सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमपासृजत्" इति। भगवद्गीतासु च ५"अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा" ६"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तस्सर्वं प्रवर्तते" इति च। महाभारते।७"कुतस्सृष्टमिदं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्। प्रलये च कमभ्येति तन्मे ब्रूहि पितामह"

१. श्वे. ५-२॥ २. मनु. मनु. १-५॥ ३. मनु. १-६॥ ४. मनु. १-८॥ ५. गी. ७-६॥ ६. गी. १०-८॥ ७. महाभारत शान्ति पर्व॥

इति पृष्ट आह १"नारायणो जगन्मूर्तिरनन्तात्मा सनातनः" इति। तथा २"तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम" इति, ३"अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्क्रिये सम्प्रलीयते" इति च। आह च भगवान्पराशरः ४"विष्णोस्सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम्। स्थितिसंयमकर्ताऽसौ जगतोऽस्य जगच्च सः" इति। आह चापस्तम्बः ५"पूः प्राणिनस्सर्व एव गुहाशयस्य अहन्यमानस्य विकल्मषस्य" इत्यारभ्य ६"तस्मात्कायाः प्रभवन्ति सर्वे स मूलं शाश्वतिकस्स नित्यः" इति। यदि कापिलस्मृत्या वेदान्तवाक्यार्थव्यवस्था स्यात्, तदैतासां सर्वासां स्मृतीनामनवकाशत्वरूपो महान् दोषः प्रसज्येत। अयमर्थः–यद्यपि वेदान्तवाक्यानामतिक्रान्तप्रत्यक्षादिसकलेतरप्रमाणसम्भावनाभूमिभूतार्थप्रतिपादनपरत्वात्तदर्थवैशद्यायाल्पश्रुतानां प्रतिपत्तॄणां तदुपबृंहणमपेक्षितम्; तथापि तदर्थानुसारिणानाप्ततमप्रणीतानां बहूनां स्मृतीनां तदुपबृंहणाय प्रवृत्तानामनवकाशत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति श्रुतिविरुद्धार्था कपिलस्मृतिरुपेक्षणीया। उपबृंहणं च श्रुतिप्रतिपन्नार्थविशदीकरणम्; तच्च विरुद्धार्थया स्मृत्या न शक्यते कर्तुम्। नचैतासां स्मृतीनां प्राचीनभागोदितधर्मांशविशदीकरणेन सावकाशत्वम्; परब्रह्मभूतपरमपुरुषाराधनत्वेन धर्मान्विदधतीनामेतासामाराध्यभूतपरमपुरुषप्रतिपादनाभावे सति तदाराधनभूतधर्मप्रतिपादनासम्भवात्। तथाहि परमपुरुषाराधनरूपता सर्वेषां कर्मणां स्मर्यते ७"यतःप्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः" ८"ध्यायेन्नारायणं देवं स्नानादिषु च कर्मसु। ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चेहावर्तते पुनः" ९"यैस्स्वकर्मपरैर्नाथ नरैराराधितो भवान्। ते तरन्त्यखिलामेतां मायामात्मविमुक्तये" इति। नचैहिकामुष्मिकसांसारिकफलसाधनकर्मप्रतिपादनेनैतासां सावकाशत्वम्; यतस्तेषामपि कर्मणां पर-

÷ पूः—पुरं शरीरमितियावत् अङ्गं वपुर्वर्ष्म पुरम् प्रतीकमिति हलायुधः।

१. २-२-३ भारते. शान्तिपर्व. मोक्षधर्म. ८. ?, १२, १३, १४ ॥ ४. वि. पु. १-१-३१ ॥ ५. आपस्तम्बधर्म २२-ख. १-२ ॥ ६. आपस्तम्बधर्म २३. ख-१-२ ॥ ७. गी. १८-४६ ॥ ८. दक्षस्मृति ॥ ९. वि-पु. ५-३०-१६ ॥

मदुपाराधनत्वमेव स्वरूपम् ; यथोक्तं [१]"येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्। अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च। न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते" इति; तथा [२]"यज्ञैस्त्वमिज्यसे नित्यं सर्वदेवमयाच्युत। हव्यकव्यभुगेकस्त्वं पितृदेवस्वरूपधृक्" इति। यदुक्तम्—[३]"ऋषिं प्रसूतं कपिलम्" इति कपिलस्याप्ततया सङ्कीर्तनात्तत्स्मृत्यनुसारेण वेदान्तार्थव्यवस्थापनं न्याय्यम्—इति; तदसत्, बृहस्पतेश्श्रुतिस्मृतिषु सर्वेषामतिशयितज्ञानानां निदर्शनत्वेन सङ्कीर्तनात्तत्प्रणीतेन लोकायतेन श्रुत्यर्थव्यवस्थापनप्रसक्तेः—इति ॥ १ ॥

अथ स्यात् कपिलस्य स्वयोगमहिम्ना वस्तुयाथात्म्योपलब्धेस्तत्स्मृत्यनुसारेण वेदान्तार्थो व्यवस्थापयितव्यः—इति; अत उत्तरं पठति—

इतरेषां चानुपलब्धेः । २ । १ । २ ॥

चशब्दस्तुशब्दार्थश्चोदिताशङ्कानिवृत्त्यर्थः। इतरेषां—मन्वादीनां बहूनां स्वयोगमहिमसाक्षात्कृतपरावरतत्त्वयाथात्म्यानां निखिलजगद्भेषजभूतस्ववाक्यतया [४]"यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद्भेषजम्" इति श्रुतिप्रसिद्धानां कपिलदृष्टप्रकारेण तत्त्वानुपलब्धेश्श्रुतिविरुद्धा कपिलोपलब्धिर्भ्रान्तिमूलेति न तया यथोक्तो वेदान्तार्थश्चालयितुं शक्य इति सिद्धम् ॥ २ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये स्मृत्यधिकरणम् ॥ १ ॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् ॥ २ ॥

एतेन योगः प्रत्युक्तः । २ । १ । ३ ॥

एतेन—कापिलस्मृतिनिराकरणेन योगस्मृतिरपि प्रत्युक्ता। का पुनरत्राधिकाशङ्का, यन्निराकरणाय न्यायातिदेशः—योगस्मृतावपीश्वरा-

---

१. गी. ९-२३, २४ ॥ २. वि पु-१-२०, ६७ ॥ ३ श्वे-५-२ ॥ (११. अनु ॥ ४. यजुर्वि-२-३. अष्ट. च ३. प्रश्न. २.

भ्युपगमान्मोक्षसाधनतया वेदान्तविहितयोगस्य चाभिधानाद्वक्तुर्हिरण्यगर्भस्य सर्ववेदान्तप्रवर्तनाधिकृतत्वाच्च तत्स्मृत्या वेदान्तोपबृंहणं न्याय्यम्–इति ॥

परिहारस्तु––अब्रह्मात्मकप्रधानकारणवादान्निमित्तकारणमात्रेश्वराभ्युपगमाद्ध्यानात्मकस्य योगस्य ध्येयैकनिरूपणीयस्य ध्येयभूतयोरात्मेश्वरयोर्ब्रह्मात्मकत्वजगदुपादानतादिसर्वकल्याणगुणात्मकत्वविरहेणावैदिकत्वाद्वक्तुर्हिरण्यगर्भस्यापि क्षेत्रज्ञभूतस्य कदाचिद्रजस्तमोभिभवसम्भवाच्च योगस्मृतिरपि तत्प्रणीतरजस्तमोमूलपुराणवद्भ्रान्तिमूलेति न तया वेदान्तोपबृंहणं न्याय्यम्–इति ॥ ३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् ॥ २ ॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये विलक्षणत्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ।२।१।४।

पुनरपि स्मृतिविरोधवादी तर्कमवलम्ब्यमानः प्रत्यवतिष्ठते–यत्सांख्यस्मृतिनिराकरणेन जगतो ब्रह्मकार्यत्वमुक्तम्; तन्नोपपद्यते, अस्य प्रत्यक्षादिभिरचेतनत्वेनाशुद्धत्वेनानीश्वरत्वेनदुःखात्मकत्वेनचोपलभ्यमानस्य चिदचिदात्मकस्य जगतः भवदभ्युपेतात्सर्वज्ञात्सर्वेश्वराद्धेयप्रत्यनीकादानन्दैकतानाद्ब्रह्मणो विलक्षणत्वात् । न केवलं प्रत्यक्षादिभिरेव जगतो वैलक्षण्यमुपलभ्यते; शब्दाच्च तथात्वं-विलक्षणत्वम्, उपलभ्यते-[१]"विज्ञानं चाविज्ञानं च"[२]"एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिता" [३] "समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः"[४]"अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्" इत्यादिभिः । कार्यस्य

१. तै. आ. ६-३ ॥ २. कौ. ३-६ ॥ ३. मु. ३-१-२ ॥
४, श्वे. १-८ ॥

हि जगतोऽचेतनत्वदुःखित्वादयो निर्दिश्यन्ते। यद्धि यत्कार्यम्, तत्तस्मादविलक्षणम्, यथा मृत्सुवर्णादिकार्यं घटरुचकादि। अतो ब्रह्मविलक्षणस्यास्य जगतस्तत्कार्यत्वं न सम्भवतीति साङ्ख्यस्मृत्यनुरोधेन कार्यसलक्षणं प्रधानमेव कारणं भवितुमर्हति। अवश्यं च शास्त्रस्यानन्यापेक्षस्यातीन्द्रियार्थगोचरस्यापि तर्कोऽनुसरणीयः; यतस्सर्वेषां प्रमाणानां क्वचित्क्वचिद्विषये तर्कानुगृहीतानामेवार्थनिश्चयहेतुत्वम्। तर्को हि नाम-अर्थस्वभावविषयेण वा सामग्रीविषयेण वा निरूपणेनार्थविशेषे प्रमाणं व्यवस्थापयत्तदितिकर्तव्यतारूपमूहापरपर्यायं ज्ञानम्; तदपेक्षा च सर्वेषां प्रमाणानां समाना; शास्त्रस्य तु विशेषेणाकाङ्क्षासन्निधियोग्यताज्ञानाधीनप्रमाणभावस्य सर्वत्रैव तर्कानुग्रहापेक्षा; उक्तं च मनुना १ "यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः" इति। तदेव हि तर्कानुगृहीतशास्त्रार्थप्रतिपादनं श्रुत्या च २ "मन्तव्यः" इत्युच्यते। अथोच्येत-श्रुत्या जगतो ब्रह्मैककारणत्वे निश्चिते सति तत्कार्यस्यापि जगतश्चैतन्यानुवृत्तिरभ्युपगम्यते। यथा चेतनस्य सुषुप्तिमूर्च्छादिषु चैतन्यानुपलम्भः; तथा घटादिष्वपि सदेव चैतन्यमनुद्भूतम्; अत एव चेतनाचेतनविभागः-इति। नैतदुपपद्यते, यतो नित्यानुपलब्धिरसद्भावमेव साधयति। अत एव चैतन्यशक्तियोगोऽपि तेषु निरस्तः। यस्य हि क्वचित्कदाचिदपि यत्कार्यानुपलब्धिः; तस्य तत्कार्यशक्तिं ब्रुवाणो वन्ध्यासुतसमितिषु तज्जननीनां प्रजननशक्तिं ब्रूयात्। किञ्च वेदान्तैर्जगतो ब्रह्मोपादानताप्रतिपादननिश्चये सति घटादीनां चैतन्यशक्तेश्चैतन्यस्य वाऽनुद्भूतस्य सद्भावनिश्चयः, तन्निश्चये सति वेदान्तैर्जगतो ब्रह्मोपादानताप्रतिपादननिश्चय इतीतरेतराश्रयत्वम्। विलक्षणयोर्हि कार्यकारणभावः प्रतिपादयितुमेव न शक्यते। किं पुनः प्रकृतिविकारयोस्सालक्षण्यमभिप्रेतम्, यदभावाज्जगतो ब्रह्मोपादानताप्रतिपादनासम्भवं ब्रूषे; न तावत्सर्वधर्मसारूप्यम्, कार्यकारणभावानुपपत्तेः। नहि मृत्पिण्डकार्येषु घटशरावादिषु पिण्ड-

१. मनु. १२-१०६॥ २ बृ. ६ ५-६॥

त्वाद्यनुवृत्तिर्दृश्यते। अथ येनकेनचिद्धर्मेण सारूप्यम्, तज्जगद्ब्रह्मणो-रपि सत्तादिलक्षणं सम्भवति—तदुच्यते, येन स्वभावेन कारणभूतं वस्तु वस्त्वन्तराद्व्यावृत्तम्, तस्य स्वभास्य तत्कार्येऽप्यनुवृत्तिः कार्यस्य कारणसालक्षण्यम् येन ह्याकारेण मृदादिभ्यो हिरण्यं व्यावर्तते, तदाकारानुवृत्तिस्तत्कार्येषु कुण्डलादिषु दृश्यते। ब्रह्म च हेयप्रत्यनीक-ज्ञानानन्दैश्वर्यस्वभावम्, जगच्च तत्प्रत्यनीकस्वभावमिति न तदुपादानम्। ननु च वैलक्षण्येऽपि कार्यकारणभावो दृश्यते. यथा चेतनात्पुरुषादचे-तनानि केशनखदन्तलोमानि जायन्ते; यथाचाचेतनाद्गोमयाच्चेतनो वृश्चि-को जायते; चेतनाच्चोर्णनाभेरचेतनस्तन्तुः; नैतदेवम्, यतस्तत्राप्यचे-तनांश एव कार्यकारणभावः ॥ ४ ॥

अथ स्यात्—अचेतनत्वेनाभिमतानामपि चैतन्ययोगश्श्रुतिषु श्रा-व्यते १"तं पृथिव्यब्रवीत्" २ "आपो वा अकामयन्त" ३"त इमे प्राणा अहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्माणं जग्मुः" इति । नदीसमुद्रपर्वतादीना-मपि चेतनत्वं पौराणिका आतिष्ठन्ते; अतो न वैलक्षण्यम्—इति । अत्र उत्तरं पठति—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानु-गतिभ्याम् । २ । १ ५ ॥

तु शब्दश्चोदिताशङ्कानिवृत्त्यर्थः; पृथिव्याद्यभिमानिन्यो देवताः १ "तं पृथिव्यब्रवीत्" इत्यादिषु पृथिव्यादिशब्दैर्व्यपदिश्यन्ते । कुतः ? विशेषानुगतिभ्यां—विशेषः—विशेषणम्, देवताशब्देन विशेष्य पृथिव्या-दयोऽभिधीयन्ते, १ "हन्ताऽहमिमास्तिस्रो देवताः" इति तेजोऽबन्नानि देवताशब्देन विशेष्यन्ते, २"सर्वा ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः" २ "ते देवाः प्राणं निःश्रेयसं विदित्वा" इति च; अनुगतिः—अनुप्रवेशः;

१. यजुर्वि. २-का. ५-प्र २-अनु ॥ २. यजुर्वि. ३-अष्टक. १-प्र. ५-अनु : ३. बृ. ८-१-७ ॥ ४. छा. ६-३-२ ॥ ५. कौ. २-६ ॥

१"अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत । आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत । वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्" इत्यादिना वागाद्यभिमानित्वेनाग्न्यादीनामनुप्रवेशः श्रूयते । अतो जगतोऽचेतनत्वेन विलक्षणत्वाद्ब्रह्मकार्यत्वानुपपत्तेस्तर्कानुगृहीतस्मृत्यनुरोधेन जगतः प्रधानोपादानत्वं वेदान्तैः प्रतिपाद्यते–इति ॥ ५ ॥

सिद्धान्तः ।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—

दृश्यते तु । २ । १ । ६ ॥

तु शब्दात्पक्षो विपरिवर्तते, यदुक्तं–जगतो ब्रह्मविलक्षणत्वेन ब्रह्मोपादानत्वं न सम्भवति–इति ; तदयुक्तम्, विलक्षणयोरपि कार्यकारणभावदर्शनात् । दृश्यते हि माक्षिकादेर्विलक्षणस्य क्रिम्यादेस्तस्मादुत्पत्तिः । ननूक्तमचेतनांश एव कार्यकारणभावात्तत्र सालक्षण्यम् । सत्यमुक्तम्, न तावता कार्यकारणयोर्भवदभिमतसालक्षण्यसिद्धिः; यथा कथञ्चित्सालक्षण्ये सर्वस्य सर्वसालक्षण्येन सर्वस्मात्सर्वोत्पत्तिप्रसङ्गभयाद्वस्तुनो वस्त्वन्तराद्व्यावृत्तिहेतुभूतस्याकारस्यानुवृत्तिस्सालक्षण्यं भवताऽभ्युपेतम ; स तु नियमो माक्षिकादिभ्यः क्रिम्याद्युत्पत्तौ न दृश्यत इति ब्रह्मविलक्षणस्यापि जगतो ब्रह्मकार्यत्वं नानुपपन्नम । नहि मृद्धिरण्यघटमकुटादिष्विव वस्त्वन्तरव्यावृत्तिहेतुभूतासाधारणाकारानुवृत्तिर्माक्षिकगोमयक्रिमिवृश्चिकादिषु दृश्यते ॥ ६॥

असदितिचेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात । २ । १ । ७ ॥

यदि कार्यभूताज्जगतः कारणभूतं ब्रह्म विलक्षणम, नर्हि कार्यकारणयोर्द्रव्यान्तरत्वेन कारणे परस्मिन्ब्रह्मणि कार्यं जगन्न विद्यत इत्यसत एव जगत उत्पत्तिः प्रसज्यत इति चेन्–नैतदेवम . कार्यकारणयोस्सालक्षण्यनियमप्रतिषेधमात्रमेव हि पूर्वसूत्रेऽभिप्रेतम ; न तु कारणा-

१. ऐतरेय. १-२-४ ॥

त्कार्यस्य द्रव्यान्तरत्वम ; कारणभूतं ब्रह्मैव स्वस्माद्विलक्षणजगदाकारेण परिणमत इत्येतत्तु न परित्यक्तम ; क्रिमिवाृश्चिकयोरपि हि सति च वैलक्षण्ये कुण्डलहिरण्ययोरिव द्रव्यैक्यमस्त्येव ॥ ७ ॥

अत्र चोदयति—

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् । २ । १ । ८ ॥

अपीतावित्यपीतिपूर्वकसृष्टयादेः प्रदर्शनार्थम , १"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" २ "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत" इत्यादिष्वव्ययावस्थोपदेशपूर्वकत्वदर्शनात्सृष्टयादेः । यदि कार्यकारणयोर्द्रव्यैक्यमभ्युपेतम , तदा कार्यस्य जगतो ब्रह्मण्यप्ययसृष्टयादिषु सत्सु, ब्रह्मण एव तत्तदवस्थान्वय इति कार्यगतास्सर्वे एवापुरुषार्था ब्रह्मणि प्रसज्येरन् , सुवर्णे इव कुण्डलगता विशेषाः । ततश्च वेदान्तवाक्यं सर्वमसमञ्जसं स्यात् , ३"यस्सर्वज्ञस्सर्ववित" ४"अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः" ५" न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते " ६"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" ७"अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात" ८"अनीशया शोचति मुह्यमानः" इत्येकस्मिन्नेव वस्तुन्येषां परस्परविरुद्धानां प्रसक्तेः । अथोच्येत - चिदचिद्वस्तुशरीरकस्य परस्यैव ब्रह्मणः कार्यकारणभावाच्छरीरभूतचिदचिद्वस्तुगतत्वाच्च दोषाणाम , न शरीरिणि ब्रह्मणि कार्यावस्थे कारणावस्थे च प्रसङ्गः—इति । तदयुक्तम , जगद्ब्रह्मणोश्शरीरशरीरिभावस्यैवासम्भवात , सम्भवे च ब्रह्मणि शरीरसम्बन्धनिबन्धनदोषाणामनिवार्यत्वात ; न हि चिदचिद्वस्तुनां ब्रह्मणश्शरीरत्वं सम्भवति, शरीरं हि नाम कर्मफलरूपसुखदुःखभोगसाधनभूतेन्द्रियाश्रयः पञ्चवृत्तिप्राणाधीनधारणः पृथिव्यादिभूतसङ्घातविशेषः, तथा-

---

१. छा. ६-२-१ ॥ २. ऐतरेय. १-१-१ ॥ ३. मु. १-१-६ ॥
४. छा. ८-१-५ ॥ ५. श्वे. ६-८ ॥ ६. मु. ३-१-१ ॥ ७. श्वे. १-८ ॥
८. मु. ३-१-२ ॥

विषयत्वैव लोकवेदयोश्शरीरत्वप्रसिद्धेः। परमात्मनश्च १"अपहतपाप्मा विजरः" २"अनश्नन्यो अभिचाकशीति" ३"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुस्स शृणोत्यकर्णः" ४"अप्राणो ह्यमनाः" इत्यादिभिः कर्मतत्फलभोगयोरभावादिन्द्रियाधीनभोगत्वाभावात्प्राणवत्त्वाभावाच्च न तं प्रति चेतनाचेतनयोश्शरीरत्वम्। नचाचेतनव्यष्टिरूपतृणकाष्ठादीनां समष्टिरूपस्य भूतसूक्ष्मस्य चेन्द्रियाश्रयत्वादि सम्भवति। भूतसूक्ष्मस्य पृथिव्यादिसङ्घातत्वं च न विद्यते। चेतनस्य तु ज्ञानैकाकारस्य सर्वमेतन्नसम्भवतीति नितरां शरीरत्वसम्भवः। नच भोगायतनत्वं शरीरत्वमिति शरीरत्वसम्भवः, भोगायतनेषु वेश्मादिषु शरीरत्वाप्रसिद्धेः; यत्र वर्तमानस्यैव सुखदुःखोपभोगः, तदेव भोगायतनमितिचेन्न, परकायप्रवेशजन्मसुखदुःखोपभोगायतनस्य परकायस्य प्रविष्टशरीरत्वाप्रसिद्धेः; ईश्वरस्य तु स्वतस्सिद्धनित्यनिरतिशयानन्दस्य भोगं प्रति चिदचितोरायतनत्वनियमो न सम्भवति। एतेन भोगसाधनमात्रस्य शरीरत्वं प्रत्युक्तम्। अथ मतं—यदिच्छाधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्ति यत्, तत्तस्य शरीरमिति, सर्वस्येश्वरेच्छाधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वेनेश्वरशरीरत्वं सम्भवति—इति; तदपि न साधीयः, शरीरतया प्रसिद्धेषु तत्तच्चेतनेच्छायत्तस्वरूपत्वाभावात्, रुग्णशरीरस्य तदिच्छाधीनप्रवृत्तित्वाभावात्, मृतशरीरस्य तदात्मायत्तस्थितित्वाभावाच्च, सालभञ्जिकादिषु चेतनेच्छाधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिषु तच्छरीरत्वाप्रसिद्धेश्च, चेतनस्य नित्यस्येश्वरेच्छायत्तस्वरूपत्वाभावाच्च, न तच्छरीरत्वसम्भवः। नच यद्यदेकनियाम्यम्, यदेकधार्यम्, यस्यैकशेषभूतम्, तत्तस्य शरीरमिति वाच्यम्; क्रियादिषु व्यभिचारात्। ५"अशरीरं शरीरेषु" ६"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" इत्यादिभिश्चेश्वरस्य शरीराभावः प्रतिपाद्यते। अतो जगद्ब्रह्मणोश्शरीरशरीरिभावस्यासम्भवात्तत्सम्भवे च ब्रह्मणि दोषप्रसङ्गाद्ब्रह्मकारणवादे वेदान्तवाक्यानामसामञ्जस्यम्—इति ॥ ८ ॥

१. छा. ८-१-५ ॥ २. मु० ३-१-१ ॥ ३. श्वे. ३-१६ ॥
४. मु. २-१-२ ॥ ५. कठ १-२-२२ ॥ ६. श्वे. ३-१६ ॥

सिद्धान्तः ।

अत्रोत्तरम्—

न तु दृष्टान्तभावात् । २ । १ । ९ ॥

नैवमसामञ्जस्यम्—एकस्यैवावस्थाद्वयान्वयेऽपि गुणदोषव्यवस्थिते दृष्टान्तस्य विद्यमानत्वात् । तुशब्दोऽत्र हेतुरूपान्वयासम्भावनीयतां द्योतयति । एतदुक्तं भवति—चिदचिद्वस्तुशरीरतया तदात्मभूतस्य परस्य ब्रह्मणस्सङ्कोचविकासात्मककार्यकारणभावावस्थाद्वयान्वयेऽपि न कश्चिद्विरोधः; यतस्सङ्कोचविकासौ परब्रह्मशरीरभूतचिदचिद्वस्तुगतौ, शरीरगतास्तु दोषा नात्मनि प्रसज्यन्ते; आत्मगताश्च गुणा न शरीरे; यथा देवमनुष्यादीनां सशरीराणां क्षेत्रज्ञानां शरीरगता बालत्वयुवत्वस्थविरत्वादयो नात्मनि सम्बध्यन्ते; आत्मगताश्च ज्ञानसुखादयो न शरीरे । अथ च 'देवो जातो मनुष्यो जातः, तथा स एव बालो युवा स्थविरश्च' इति व्यपदेशश्च मुख्यः; भूतसूक्ष्मशरीरस्यैव क्षेत्रज्ञस्य देवमनुष्यादिभाव इति १" तदन्तरप्रतिपत्तौ" इति वक्ष्यते—इति । यत्पुनरुक्तं—चिदचिदात्मकस्य जगतस्स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च परमात्मानं प्रति शरीरभावो नोपपद्यते—इति; तदनाकलितसम्यङ्न्यायानुगृहीतवेदान्तवाक्यगणस्य स्वमतिपरिकल्पितकुतर्कविजृम्भितम् ; सर्वे एव हि वेदान्ताः स्थूलस्य सूक्ष्मस्य चेतनस्याचेतनस्य समस्तस्य च परमात्मानं प्रति शरीरत्वं श्रावयन्ति; वाजसनेयके तावत्काण्वशाखायां चान्तर्यामिब्राह्मणे २ 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्... यस्य पृथिवी शरीरम् " इत्यारभ्य पृथिव्यादिसमस्तमचिद्वस्तु ३ " यो विज्ञाने तिष्ठन्... यस्य विज्ञानं शरीरम् " ४ " य आत्मनि तिष्ठन्... यस्यात्मा शरीरम् " इति चेतनमचेतनं च पृथक्पृथङ्निर्दिश्य तस्य तस्य परमा-

१. शारी. ३-१-१. ॥ २. बृ. ५-७-३ ॥ ३. बृ. ५-७-२२. ॥
४. बृ. ५-७-२२. मा० पाठः ॥

त्मशरीरत्वमभिधीयते। सुबालोपनिषदि च १ "यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन्यस्य पृथिवी शरीरम्" इत्यारभ्य तद्वेव चिदचितोस्सर्वावस्थयोः परमात्मशरीरत्वमभिधाय २ "एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इति तस्य सर्वभूतानि प्रत्यात्मत्वमभिधीयते। स्मरन्ति च ३ 'जगत्सर्वं शरीरं ते" ४ "यदम्बु वैष्णवः कायः" ५ "तत्सर्वं वै हरेस्तनुः" ६ 'तानि सर्वाणि तद्वपुः" ७ "सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्' इत्यादि। भूतसूक्ष्मात्स्वाच्छरीरादित्यर्थः। लोके च शरीरशब्दो घटादिशब्दवदेकाकारद्रव्यनियतवृत्तिमनासादितः क्रिमिकीटपतङ्गसर्पनरपशुप्रभृतिष्वत्यन्तविलक्षणाकारेषु द्रव्येष्वगौणः प्रयुज्यमानोदृश्यते। तेन तस्य प्रवृत्तिनिमित्तव्यवस्थापनं सर्वप्रयोगानुगुण्येनैव कार्यम्। त्वदुक्तं च 'कर्मफलभोगहेतुः' इत्यादिकं प्रवृत्तिनिमित्तलक्षणं न सर्वप्रयोगानुगुणम्, यथोक्तेष्वीश्वरशरीरतयाऽभिहितेषु पृथिव्यादिष्वव्याप्तेः। किञ्च ईश्वरस्येच्छाविग्रहेषु मुक्तानां च ८ "स एकधा भवति" इत्यादिवाक्यावगतेषु विग्रहेषु तल्लक्षणमव्याप्तम्, कर्मफलभोगनिमित्तत्वाभावात्तेषाम्; परमपुरुषेच्छाविग्रहाश्च न पृथिव्यादिभूतसङ्घातविशेषाः ९ "न भूतसङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः" इति स्मृतेः। अतो भूतसङ्घातरूपत्वं च शरीरस्याव्याप्तम्। पञ्चवृत्तिप्राणाधीनधारणत्वं च स्थावरशरीरेष्वव्याप्तम्। स्थावरेषु हि प्राणसद्भावेऽपि तस्य पञ्चधा अवस्थाय शरीरस्य धारकत्वेनावस्थानं नास्ति। अहल्यादीनां कर्मनिमित्तशिलाकाष्ठादिशरीरेष्विन्द्रियाश्रयत्वं सुखदुःखहेतुत्वं चाव्याप्तम्। अतो यस्य चेतनस्य यद्द्रव्यं सर्वात्मना स्वार्थे नियन्तुं धारयितुं च शक्यम्,

---

१. सुबाल. ७ ख.॥ २. रामायणे युद्धकाण्डे, १२०-सर्गे २६-श्लो ॥ ३. वि० पु०२८६२-३७॥ ४ वि०पु०१-२२-३८॥ ५. वि. पु. १-२२-८६-॥ ६, मनु, १-८॥ ७. ब्र- ७-२-६२॥ ८. भारते॥

तच्छेषतैकस्वरूपं च, तत्तस्य शरीरमिति* शरीरलक्षणमास्थेयम् । रुग्णशरीरादिषु नियमनाद्यदर्शनं विद्यमानाया एव नियमनशक्तेः प्रतिबन्धकृतम्, अग्न्यादेश्शक्तिप्रतिबन्धादौष्ण्याद्यदर्शनवत्। मृतशरीरं च चेतनवियोगसमय एव विशरितुमारब्धम् ; क्षणान्तरे च विशीर्यते । पूर्वं शरीरतया परिक्लृप्तसङ्घातैकदेशत्वेन च तत्र शरीरत्वव्यवहारः । अतस्सर्वं परमपुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्यं धार्यं तच्छेषतैकस्वरूपमिति सर्वं चेतनाचेतनं तस्य शरीरम् । १"अशरीरं शरीरेषु" इत्यादि च कर्मनिमित्तशरीरप्रतिषेधपरम्, यथोक्तसर्वशरीरत्वश्रवणात् । उपरितनाधिकरणेषु चैतदुपपादयिष्यते। 'अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसं' 'नतु दृष्टान्तभावात्' इति सूत्रद्वयेन२ "इतरव्यपदेशात्" इत्यधिकरणसिद्धोऽर्थस्स्मारित ॥

स्वपक्षदोषाच्च । २ । १ । १० ॥

न केवलं ब्रह्मकारणवादस्य निर्दोषतयैतत्समाश्रयणम् : प्रधानकारणवादस्य दुष्टत्वाच्च तत्परित्यागेनैतदेव समाश्रयणीयम् । प्रधानकारणवादे हि जगत्प्रवृत्तिर्नोपपद्यते । तत्र हि निर्विकारस्य चिन्मात्रैकरसस्य पुरुषस्य प्रकृतिसन्निधानेन प्रकृतिधर्माध्यासनिबन्धना जगत्प्रवृत्तिः । निर्विकारस्य चिन्मात्ररूपस्य प्रकृतिधर्माध्यासहेतुभूतं प्रकृतिसन्निधानं किंरूपमिति विवेचनीयम् ; किं प्रकृतेस्सद्भाव एव; उत तद्गतः कश्चिद्विकारः ; अथ पुरुषगत एव कश्चिद्विकारः । न तावत्पुरुषगतः, अनभ्युप-

१. कठ. २-२२ ॥ २. शारी. २-१-२१ ॥

* (चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्) इति न्यायसूत्रे शरीरस्य लक्षणमयुक्तम् (चेष्टाभोगेन्द्रियाश्रय) इति हि न्यायविदः । अस्य लक्षणत्रयस्याव्याप्त्यात-व्याप्तिलक्षणत्रयमाह । (यस्येत्यादिना) यस्य चेतनस्य यद् द्रव्यं सर्वात्मना स्वार्थे नियन्तुं शक्यं तत्तस्य शरीरम्, यस्य चेतनस्य यद् द्रव्यं सर्वात्मना स्वार्थे धारयितुं शक्यं तत्तस्य शरीरम्, यस्य चेतनस्य तद् द्रव्यं शेषतैकस्वरूपं तत्तस्य शरीरमिति लक्षणत्रयम् ।

गमात्; नापि प्रकृतेर्विकारः, तस्याध्यासकार्यतयाऽभ्युपेतस्याध्यासहेतुत्वासम्भवात्; सद्भावमात्रस्य सन्निधानत्वे मुक्तस्याप्यध्यासप्रसङ्ग इति त्वत्पक्षे जगत्प्रवृत्तिर्नोपपद्यते। अयमर्थस्साङ्ख्यपक्षप्रतिक्षेपसमये१ "अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्" इत्यादिना प्रपञ्चयिष्यते ॥ १ ॥

तर्काप्रतिष्ठानादपि । २ । १ । ११ ॥

तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वादपि श्रुतिमूलो ब्रह्मकारणवाद एव समाश्रयणीयः; न प्रधानकारणवादः। शाक्योलूक्याक्षपादक्षपणकपिलपतञ्जलितर्काणामन्योन्यव्याघातात्तर्कस्याप्रतिष्ठित्वं गम्यते ॥ ११ ॥

अन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः । २ । १ । १२ ॥

इदानीं विद्यमानानां शाक्यादीनां तर्कानुदूष्यान्यथा प्रधानकारणवादमतिक्रान्ततदुपदर्शितदूषणत्वेनानुमास्यामह इति चेत्—एवमपि पुरुषबुद्धिमूलतर्कैकावलम्बनस्य तथैव देशान्तरकालान्तरेषु त्वदधिककुतर्ककुशलपुरुषोत्प्रेक्षिततर्कदूष्यत्वसम्भावनया तर्काप्रतिष्ठानदोषादनिर्मोक्षो दुर्वारः। अतोऽतीन्द्रियेऽर्थे शास्त्रमेव प्रमाणम्; तदुपबृंहणायैव तर्क उपादेयः; तथाचाह २"आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः" इति। वेदाख्यशास्त्राविरोधिनेत्यर्थः। अतो वेदविरोधित्वेन वेदार्थविशदीकरणरूपवेदोपबृंहणतर्कोपादानाय साङ्ख्यस्मृतिर्नादरणीया ॥ १२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये विलक्षणत्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ॥४॥)

एतेन शिष्टपरिग्रहा अपि व्याख्याताः ।२।१।१३॥

शिष्टाः परिशिष्टाः, न विद्यते वेदपरिग्रहो येषामित्यपरिग्रहाः; शिष्टाश्चापरिग्रहाश्च शिष्टापरिग्रहाः एतेन वेदापरिगृहीतसाङ्ख्यपक्षक्षप-

१. शारी. २-२-८ ॥ २. मनु. १२-१०६.

णेन परिशिष्टाश्च वेदापरिगृहीताः कणभक्षाक्षपादक्षपणकभिक्षुपक्षाः क्षपिता वेदितव्याः। परमाणुकारणवादेऽमीषां सर्वेषां संवादात्कारणवस्तुविषयस्य तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वं न शक्यते वक्तुमित्यधिकाशङ्का ॥

तावन्मात्रसंवादेऽपि तर्कमूलत्वाविशेषात्परमाणुस्वरूपेऽपि शून्यात्मकत्वाशून्यात्मकत्वज्ञानात्मकत्वार्थात्मकत्वक्षणिकत्वनित्यत्वैकान्तत्वानेकान्तत्वसत्यासत्वात्मकत्वादिविसंवाददर्शनाच्चाप्रतिष्ठितत्वमेवेति परिहारः ॥ १३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ॥ ४ ॥

— —

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् ॥ ५ ॥)

———

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ।२ १।१४॥

पुनरपि साङ्ख्यः प्रत्यवतिष्ठते—यदुक्तं, स्थूलसूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरस्य परस्य ब्रह्मणः कार्यकारणरूपत्वाज्जीवब्रह्मणोस्स्वभावविभाग उपपद्यते-इति; स तु विभागो न सम्भवति—ब्रह्मणस्सशरीरत्वे तस्य भोक्तृत्वापत्तेः, सशरीरत्वे जीवस्येवेश्वरस्यापि सशरीरत्वप्रयुक्तसुखदुःखयोर्भोक्तृत्वस्यावर्जनीयत्वात्। ननु च १ "सम्भोगप्राप्तिरितिचेन्न वैशेष्यात्" इत्यत्रेश्वरस्य भोगप्रसङ्गपरिहार उक्तः, नैवम् तत्र ह्युपास्यतया हृदयायतने सन्निहितस्य शरीरान्तर्वर्तित्वमात्रेण भोगप्रसङ्गो न विद्यत इत्युक्तम्, इह तु जीववद्ब्रह्मणोऽपि सशरीरत्वे तद्वदेव सुखदुःखयोर्भोक्तृत्वप्रसङ्गो दुर्वार इत्युच्यते; दृश्यते हि सशरीराणां जीवानां शरीरगतबालत्वस्थविरत्वादिविकारासम्भवेऽपि शरीरधातुसाम्यवैषम्यनिमित्तसुखदुःखयोगः। श्रुतिश्च २"न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वा व सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति। अतस्सशरीरब्रह्मकारणवादे जीवेश्वरस्वभावविभागासम्भवात्केवलब्रह्मकारणवा-

१. शारी. १-२-८ ॥ २. छा. ८-१२-१ ॥

द्दे मृत्सुवर्णादिवज्जगद्गतापुरुषार्थादिसर्वविशेषाश्रयत्वप्रसङ्गाच्च प्रधानकारणवाद एव ज्यायानिति चेत्—

सिद्धान्तः ।

अत्रोत्तरं—स्याल्लोकवत् इति । स्यादेव विभागो जीवेश्वरस्वभावयोः; नहि जीवस्य शरीरधातुसाम्यवैषम्यनिमित्तं सुखदुःखयोभोक्तृत्वं सशरीरत्वकृतम्, अपि तु पुण्यपापरूपकर्मकृतम्। "न ह वै सशरीरस्य" इत्यपि कर्मारब्धदेहविषयम्, १ "स एकधा भवति त्रिधा भवति" २ "स यदि पितृलोककामो भवति" ३ "स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाणः" इति कर्मबन्धविनिर्मुक्तस्याविर्भूतस्वरूपस्य सशरीरस्यैवापुरुषार्थगन्धाभावात्। अपहतपाप्मनस्तु परमात्मनस्स्थूलसूक्ष्मरूपकृत्स्नजगच्छरीरत्वेऽपि कर्मसम्बन्धगन्धो नास्तीति नतरामपुरुषार्थगन्धप्रसङ्गः। लोकवत्—यथा लोके राजशासनानुवर्तिनां तदतिवर्तिनां च राजानुग्रहनिग्रहकृतसुखदुःखयोगेऽपि न ४शरीरित्वमात्रेण शासके राज्यपि शासनानुवृत्त्यतिवृत्तिनिमित्तसुखदुःखयोर्भोक्तृत्वप्रसङ्गः। यथाह—द्रमिडभाष्यकारः ५ "यथा लोके राजा प्रचुरदन्दशूके घोरेऽनर्थसङ्कटेऽपि प्रदेशे वर्तमानो व्यजनाद्यवधूतदेहो दोषैर्न स्पृश्यते, अभिप्रेतांश्च लोकान् ६परिपालयति, भोगांश्च गन्धादीनविश्वजनोपभोग्यान्धारयति, तथाऽसौ लोकेश्वरो भ्रमत्स्वसामर्थ्यचामरो दोषैर्न स्पृश्यते, रक्षति च लोकान्ब्रह्मलोकादीन्, भोगांश्चाविश्वजनोपभोग्यान्धारयति" इति मृत्सुवर्णादिवद्ब्रह्मस्वरूपपरिणामस्तु नैवाभ्युपगम्यते, अविकारत्वनिर्दोषत्वादिश्रुतेः ॥

---

१. छा. ७-२६-२ ॥ २. छा. ८-२-१ ॥ ३. छा. ८-१२-३ ॥ ४. सशरीरत्व. पा ॥ ५. द्रमिडभाष्यम् ॥ ६. परिपिपालयिषति, परिपालयिष्यतीति च. पा ॥

* यत्तु परैर्ब्रह्मकारणवादे भोक्तृभोग्यविभागाभावमाशङ्क्य समुद्रफेनतरङ्गदृष्टान्तेन विभागप्रतिपादनपरं सूत्रं व्याख्यातम् ; तदयुक्तम् . अन्तर्भावितशक्त्यविद्योपाधिकाद् ब्रह्मणस्सृष्टिमभ्युपगच्छतामेवमाक्षेपपरिहारयोरसङ्गतत्वात्, कारणान्तर्गतशक्त्यविद्योपाध्युपहितस्य भोक्तृत्वादुपाधेश्च भोग्यत्वात् । विलक्षणयोस्तयोः परस्परभावापत्तिर्हि न सम्भवति- स्वरूपपरिणामस्तु तैरपि नाभ्युपेयते, १"न कर्माविभागादितिचेन्नानादित्वात्" इति क्षेत्रज्ञानां तद्गतकर्मणां चानादित्वप्रतिपादनात् । स्वरूपपरिणामभ्युपगमेऽपि भोक्तृभोग्याविभागाशङ्का कस्यचिदपि न जायते मृत्सुवर्णादिपरिणामरूपघटशरावकटकमकुटादिविभागवद्भोक्तृभोग्यविभागोपपत्तेः । स्वरूपपरिणामे च ब्रह्मण एव भोक्तृभोग्यत्वापत्तिरिति पुनरप्यसामञ्जस्यमेव ॥ १४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आरम्भणाधिकरणम् ॥ ६ ॥)

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः । २ । १ । १५ ॥

२ "असदितिचेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात्" इत्यादिषु कारणभूताद्ब्रह्मणः कार्यभूतस्य जगतोऽनन्यत्वमभ्युपगम्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वमुपपादितम्, इदानीं तदेवानन्यत्वमाक्षिप्य समाधीयते । तत्र काणादाः

---

१. शारी. २-१-३५ ॥ २. शारी. २. १. ७ ॥

* अस्य सूत्रस्य शांकरैः कृतमन्यथा व्याख्यामनुवदन्ति (यत्त्विति) भोक्तृशब्दो भोक्तृत्वपर इति तैरप्युक्तम्-भोग्यस्य भोक्तृत्वापत्तिं भोक्तुर्भोग्यत्वापत्तिंचाशङ्क्य परैः परिहृतम्-तद्दूषयति (तदयुक्तमिति) आक्षेपपरिहारयोरसङ्गतत्वमुपपादयति (कारणान्तर्गतेति) उपाधेश्च भोग्यत्वादिति, अत्रोपाधिशब्दः शक्त्यविद्योपाधीनां त्रयाणामपि वाचकः, यथा "वाद" शब्दः कथासामान्यवाची कथाविशेषवाची च तद्वत् ।

प्राहुः—न कारणात्कार्यस्यानन्यत्वं सम्भवति, विलक्षणबुद्धिबोध्यत्वात्, न खलु तन्तुपटमृत्पिण्डघटादिषु कार्यकारणविषया बुद्धिरेकरूपा। शब्दभेदाच्च, न हि तन्तवः पट इत्युच्यन्ते, पटो वा तन्तव इति। कार्यभेदाच्च, नहि मृत्पिण्डेनोदकमाह्रियते, घटेन वा कुड्यं निर्मियते। कालभेदाच्च, पूर्वकालं च कारणम्, अपरकालं च कार्यम्। आकारभेदाच्च, पिण्डाकारं कारणम्, कार्यं च पृथुबुध्नोदराकारम्; तथा सत्यामेव मृदि घटो नष्ट इति व्यवह्रियते। सङ्ख्याभेदश्च दृश्यते—बहवस्तन्तवः, एकश्च पटः। कारकव्यापारवैयर्थ्यञ्च—कारणमेवचेत्कार्यं किं कारकव्यापारसाध्यं स्यात्। सत्यपि कार्ये कार्योपयोगितया कारकव्यापारेण भवितव्यं चेत्–सर्वदा कारकव्यापारेण नोपरन्तव्यम्। सर्वस्य सर्वदा सत्त्वेन नित्यानित्यविभागश्च न स्यात्। अथ कार्यं सदेव पूर्वमनभिव्यक्तं कारकव्यापारेणाभिव्यज्यते, अतः कारकव्यापारार्थवत्त्वं, नित्यानित्यविभागश्चोच्यते; तदसत्, अभिव्यक्तेरभिव्यक्त्यन्तरापेक्षत्वे अनवस्थानादनपेक्षत्वे कार्यस्य नित्योपलब्धिप्रसङ्गात्तदुत्पत्त्यभ्युपगमे चासत्कार्यवादप्रसङ्गात्। किञ्च कारकव्यापारस्याभिव्यञ्जकत्वे घटार्थेन कारकव्यापारेण करकादेरप्यभिव्यक्तिः प्रसज्यते, सम्प्रतिपन्नाभिव्यञ्जकभावेषु दीपादिष्वभिव्यङ्ग्यविशेषनियमादर्शनात्; नहि घटार्थमारोपितः प्रदीपः करकादीन्नाभिव्यनक्ति। अतोऽसतः कार्यस्योत्पत्तिहेतुत्वेनैव कारकव्यापारार्थवत्त्वम्, अतश्च सत्कार्यवादासिद्धिः। न च नियतकारणोपादानं सत एव कार्यत्वं साधयति, कारणशक्तिनियमादेव तदुपपत्तेः। नन्वसत्कार्यवादिनोऽपि कारकव्यापारो नोपपद्यते; प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासत्त्वात्। कार्यादन्यत्र कारकव्यापारेण भवितव्यम्; तत्रान्यत्वाविशेषात्तन्तुगतकारकव्यापारेण घटोत्पत्तिरपि प्रसज्यते; नैवम् यत्कार्योत्पादनशक्तं यत्कारणम्, तद्गतकारकव्यापारेण तत्कार्योत्पत्तिसिद्धेः। १ अत्राहुः—कारणादनन्यत्कार्यम्;

१ अस्मिन् पक्षे सिद्धान्त्येकदेशिमुखेनोत्तरमाह—अत्राहुरिति ॥

नहि परमार्थतः कारणव्यतिरिक्तं कार्यं नाम वस्त्वस्ति, अविद्यानिबन्धनत्वात्सकलकार्यतद्व्यवहारयोः। अतो यथा कारणभूतान्मृद्द्रव्याद्घटादिषु विकारेषूपलभ्यमानाद्व्यतिरिक्तं घटशरावादिकार्यं व्यवहारमात्रालम्बनं मिथ्या; कारणभूतं मृद्द्रव्यमेव सत्यम्; तथा निर्विशेषसन्मात्रात्कारणभूताद्ब्रह्मणोऽन्योऽहङ्कारादिव्यवहारालम्बनः कृत्स्नः प्रपञ्चो मिथ्या; कारणभूतसन्मात्रं ब्रह्मैव सत्यम्। तस्मात्कारणव्यतिरिक्तं कार्यं नास्तीति कारणादनन्यत्कार्यम्। नच वाच्यं शुक्तिकारजतादीनामिव घटादिकार्याणामसत्यत्वप्रसिद्धेर्दृष्टान्तानुपपत्तिरिति; यतस्तत्रापि युक्त्या मृद्द्रव्यमात्रमेव सत्यतया व्यवस्थाप्यते; तदतिरिक्तं तु युक्त्या बाध्यते। का पुनरत्र युक्तिः?, मृद्द्रव्यमात्रस्यानुवर्तमानत्वम्, तदतिरिक्तस्य च व्यावर्तमानत्वम्। रज्जुसर्पादिषु ह्यनुवर्तमानस्याधिष्ठानभूतस्य रज्ज्वादेस्सत्यता, व्यावर्तमानस्य च सर्पभूदलनाम्बुधारादेरसत्यता दृष्टा, तथाऽनुवर्तमानमधिष्ठानभूतं मृद्द्रव्यमेव सत्यम्, व्यावर्तमानास्तु घटशरावादयोऽसत्यभूताः। किञ्च सत आत्मनो विनाशाभावादसतश्च शशविषाणादेरुपलब्ध्यभावादुपलब्धिविनाशयोगिकार्यं सदसद्भ्यामनिर्वचनीयमिति गम्यते। अनिर्वचनीयं च शुक्तिकारजतादिवन्मृषैव। तस्य चानिर्वचनीयत्वं प्रतीतिबाधाभ्यां सिद्धम्। किञ्च कार्यमुत्पादयन्मृदादि कारणद्रव्यं किमविकृतमेव कार्यमुत्पादयति, उत कञ्चन विशेषमापन्नम्। न तावदविकृतमुत्पादयति, सर्वदोत्पादकत्वप्रसङ्गात्। नापि विशेषान्तरमापन्नम्, विशेषान्तरापत्तेरपि विशेषान्तरापत्तिपूर्वकत्वेन भवितव्यम्, तस्या अपि तथेत्यनवस्थानात्। अविकृतमेव देशकालनिमित्तविशेषसम्बन्धं कार्यमुत्पादयतीति चेन्न। देशादिविशेषसम्बन्धोऽपि ह्यविकृतस्य विशेषान्तरमापन्नस्य च पूर्ववन्न सम्भवति। नच वाच्यं मृत्सुवर्णदुग्धादिभ्यो घटरुचकदध्यादीनामुत्पत्तिर्दृश्यते; शुक्तिकारजतादिवद्देशकालादिप्रतिपन्नोपाधौ बाधश्च न दृश्यते, अतः प्रतीतिशरणानां कारणात्कार्योत्पत्तिरवश्याश्रयणीयेति; विकल्पासहत्वात्—किं हेमा-

दिमात्रमेव स्वस्तिकादेरारम्भकम्; उत रुचकादि, अथ रुचकाद्याश्रयं हेमादिः; न तावद्धेमादिमात्रमारम्भकम्; हेमव्यतिरिक्तस्य कार्यस्याभावात्, स्वात्मानं प्रत्यात्मन आरम्भकत्वासम्भवाच्च। हेमव्यतिरिक्तं स्वस्तिकं दृश्यत इति चेत्—न हेमव्यतिरिक्तं तत्, हेमप्रत्यभिज्ञानात्तद्व्यतिरिक्तवस्त्वन्तरानुपलब्धेश्च। बुद्धिशब्दान्तरादिभिर्वस्त्वन्तरादीनां शुक्तिकारजतबुद्धिशब्दादिवद्भ्रान्तिमूलत्वेन वस्त्वन्तरसद्भावस्यासाधकत्वात्; नापि रुचकादि स्वस्तिकादेरारम्भकम्, स्वस्तिके हि रुचकं पट इव तन्तवो भवतापि नोपलभ्यते। नापि रुचकाश्रयभूतं हेम, रुचकाश्रयाकारेण हेम्नस्स्वस्तिकेऽनुपलब्धेः; अतो मृदादिकारणातिरिक्तस्य कार्यस्यासत्यत्वदर्शनाद्ब्रह्मव्यतिरिक्तं कृत्स्नं जगत्कार्यत्वेन मिथ्याभूतम्; तदिदं ब्रह्मव्यतिरिक्तमिथ्यात्वसुखप्रतिपत्तये काल्पनिकमृदादिसत्यत्वमाश्रित्य कार्यस्यासत्यत्वं प्रतिपादितम्। परमार्थतस्तु मृत्सुवर्णादिकारणमपि घटरुचकादिकार्यवन्मिथ्याभूतम्, ब्रह्मकार्यत्वाविशेषात्। १"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्" २"नेह नानास्ति किञ्चन ३मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" ४"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" ५"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्येवमादिभिश्श्रुतिभिश्च ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वमवगम्यते। नचागमावगतार्थस्य प्रत्यक्षविरोधश्शङ्कनीयः; यथोक्तप्रकारेण कार्यस्य सर्वस्य मिथ्यात्वावगमात्, प्रत्यक्षस्य सन्मात्रविषयत्वाच्च, विरोधे सत्यप्यसम्भावितदोषस्य चरमभाविनस्स्वरूपसद्भावादौ प्रत्यक्षाद्यपेक्षत्वेऽपि प्रमितौ निराकाङ्क्षस्य निरवकाशस्य शास्त्रस्य बलीयस्त्वात्। अतः कारणभूताद्ब्रह्मणोऽन्यत्सर्वं मिथ्या। नच प्रपञ्चमिथ्यात्वेन जीवमिथ्यात्वमाशङ्कनीयम्, ब्रह्मण एव जीवभावात्। ब्रह्मैव हि सर्वश-

१. छा. ६-८-७ ॥ २. कठ. ४-११ ॥ ३. कठ. ४-१० ॥
४. बृ. ४-४-१४ ॥ ५. बृ. ४-५-१६ ॥

रीरेषु जीवभावमनुभवति-१"अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य" २"एको देवस्सर्वभूतेषु गूढः" ३"एको देवो बहुधा निविष्टः" ४"एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते" ५"नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इत्येवमादिभ्य। नन्वेकमेव ब्रह्म सर्वशरीरेषु जीवभावमनुभवति चेत्-'पादे मे वेदना' 'शिरसि मे सुखम्' इतिवत्सर्वशरीरेषु सुखदुःखप्रतिसन्धानं स्यात्; जीवेश्वरबद्धमुक्तशिष्याचार्यज्ञत्वाज्ञत्वादिव्यवस्था च न स्यात्। * अत्र केचिद्द्वितीयत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपयन्त एवैनं समादधते-एकस्यैव ब्रह्मणः प्रतिबिम्बभूतानां जीवानां सुखित्वदुःखित्वादय एकस्यैव मुखस्य प्रतिबिम्बानां मणिकृपाणदर्पणादिषूपलभ्यमानानामल्पत्वमहत्त्वमलिनत्वविमलत्वादिवत्तत्तदुपाधिवशात् ६व्यवस्थाप्यन्ते। ननु ७"अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य" इत्यादिश्रुतेर्न जीवा ब्रह्मणो भिद्यन्त इत्युक्तम्; सत्यम्, परमार्थतः; काल्पनिकं तु भेदमाश्रित्येयं व्यवस्थोच्यते। कस्य पुनः कल्पना; न तावद्ब्रह्मणः, तस्य परिशुद्धज्ञानात्मनः कल्पनाशून्यत्वात्। नापि जीवानाम्, इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात्-कल्पनाधीनो हि जीवभावः, जीवाश्रया च कल्पना-इति। नैतदेवम्, अविद्याजीवभावयोर्बीजाङ्कुरन्यायेनानादित्वात्। किञ्च-प्रासादनिगरणादिवदनुपपन्नतैकवेषायामवस्तुभूतायामविद्यायां नेतरेतराश्रयत्वादयो वस्तुदोषा अनवक्लृप्तिमावहन्ति। वस्तुतो ब्रह्माव्यतिरिक्तानां जीवानां स्वतो विशुद्धत्वेऽपि कृपाणादिगतमुखप्रतिबिम्बश्यामतादिवदौपाधिकाशुद्धिसम्भवादविद्याश्रयत्वोपपत्तेः काल्पनिकत्वोपपत्तिः। प्रतिबिम्बगतश्यामतादिवज्जीवगताशुद्धिरपि भ्रान्तिरेव, अन्यथाऽनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। जीवानां भ्रमस्य प्रवाहानादित्वान्न तद्धेतुरन्वेषणीयः-इति ॥

१. छा. ६-३-२ ॥ २. श्वे. ६-११ ॥ ३. यजु. आरण्य. ३-प्रश्न, १२ अनु. १-पं ॥ ४. कठ. ३-१२ ॥ ५. बृ. ५-७-२३ ॥ ६. व्यवस्थास्यन्ते. पा ॥ ७. छा. ६.-३-२ ॥

* एतद्ब्रह्मव्यवस्थासिद्धर्थं जीवाज्ञानपक्षमुपन्यस्यति अत्र—केचिदिति।

* तदेतदविदिताद्वैतयाथात्म्यानां भेदवादश्रद्धालुजनसद्बहुमानावलोकनलिप्साविजृम्भितम् । तथाहि—जीवस्याकल्पितस्वाभाविकरूपेणाविद्याश्रयत्वे ब्रह्मण एवाविद्याश्रयत्वमुक्तं स्यात् । तदतिरिक्तेन तस्मिन्कल्पितेनाकारेणाविद्याश्रयत्वे जडस्याविद्याश्रयत्वमुक्तं स्यात् । न खल्वद्वैतवादिनस्तदुभयव्यतिरिक्तमाकारमभ्युपगच्छन्ति । कल्पिताकारविशिष्टेन स्वरूपेणैवाविद्याश्रयत्वमितिचेत्—तन्न, स्वरूपस्याखण्डैकरसस्याविद्यामन्तरेण विशिष्टरूपत्वासिद्धेः, अविद्याश्रयाकार एवहि निरूप्यते । किञ्च बन्धमोक्षादिव्यवस्थासिद्ध्यर्थं हि १ जीवाज्ञानवादाश्रयणम् , सा तु व्यवस्था जीवाज्ञानपक्षेऽपि न सिध्यति । अविद्याविनाश एव हि मोक्षः । तत्रैकस्मिन्मुक्ते अविद्याविनाशादितरेऽपि विमुच्येरन् । अन्यस्यामुक्तत्वादविद्या तिष्ठतीति चेत्—तर्ह्येकस्याप्यमुक्तिस्स्यात्, अविद्याया अविनष्टत्वात् । प्रतिजीवमविद्याभेदः कल्प्यते, तत्र यस्याविद्या विनष्टा, स मोक्ष्यते, यस्य त्वविनष्टा, स भन्त्स्यत इति चेत्—तन्न, प्रतिजीवमिति जीवभेदमाश्रित्य ब्रूषे, स जीवभेदः किं स्वाभाविकः, उताविद्याकल्पितः ; न तावत्स्वाभाविकः, अनभ्युपगमात् ; भेदसिद्ध्यर्थस्य चाविद्याकल्पनस्य व्यर्थत्वात् । अथाविद्याकल्पितः, तत्रेयं जीवभेदकल्पिकाऽविद्या किं ब्रह्मणः, उत जीवानाम् । ब्रह्मणइति चेत्—आगतोऽसि मदीयं मार्गम् । अथ जीवानाम् , किमस्या जीवभेदक्लृप्तिसिद्ध्यर्थतां विस्मरसि । अथ प्रतिजीवं बद्धमुक्तव्यवस्थासिद्ध्यर्थं या अविद्याः कल्प्यन्ते, ताभिरेव जीवभेदोऽपीति मनुषे, जीवभेदसिद्धौ तास्सिद्ध्यन्ति, तासु सिद्धासु जीवभेदसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वम् । नचात्र बीजाङ्कुरन्यायस्सिध्यति बीजाङ्कुरेषु ह्यन्यदन्यद्बीजमन्यस्यान्यस्याङ्कुरस्योत्पादकम् , इह तु याभिरविद्याभिर्ये जीवाः कल्प्यन्ते, तानेवाश्रित्य तासां २ सिद्धिरित्यशकनीयता । अथ बीजाङ्कुरन्यायेन पूर्वपूर्वजीवाश्रयाभिरविद्याभिरु-

१. जीवाज्ञानवादमनाश्रयणम्. पा ॥ २. सिद्धिरित्याशङ्कनीयता. पा ॥

* जीवाज्ञानपक्षं समाश्रित्य चोद्यमाह-तदेतदिति ।

त्तरोत्तरजीवकल्पनां मन्यसे, तथा सति जीवानां भङ्गुरत्वमकृताभ्याग-मकृतविप्रणाशादिप्रसङ्गश्च । अतएव ब्रह्मणः पूर्वपूर्वजीवाश्रयाभिरविद्या-भिरुत्तरोत्तरजीवभावकल्पनमित्यपि निरस्तम् । अविद्याप्रवाहेऽभ्युपग-म्यमाने तत्कल्पितजीवभावस्यापि तद्वत्प्रवाहानादिता स्यात् । न ध्रुव-रूपता, आमोक्षाच्च जीवस्य ध्रुवत्वमिष्टं न सिध्येत् । यच्चोक्तमविद्याया अवस्तुरूपत्वेनानुपपन्नतैकवेषाया नेतरेतराश्रयत्वाद्या वस्तुदोषा अ-नवक्लृप्तिमावहन्तीति, तथा सति मुक्तान् परञ्च ब्रह्माश्रयेदविद्या; शुद्धवि-द्यास्वरूपत्वादशुद्धिरूपा न तत्र प्रसजतीति चेत्—किमुपपत्त्यनुवर्तिन्य-विद्या । एवं तर्युक्ताभिरुपपत्तिभिर्जीवानपि नाश्रयेत् । किञ्च जीवा-श्रयाया अविद्यायास्तत्त्वज्ञानोदयान्नाशे सति जीवो नश्येद्वा, नवा, यदि नश्येत्, स्वरूपोच्छित्तिलक्षणो मोक्षस्स्यात्; नो चेदविद्याना-शेऽप्यनिर्मोक्षः, ब्रह्मस्वरूपव्यतिरिक्तजीवस्यावस्थानात् । यच्चोक्तं–मणि-कृपाणदर्पणादिषूपलभ्यमानमुखमलिनत्वविमलत्वादिवच्छुद्धयशुद्ध्यादि-व्यवस्थोपपत्तिः–इति ; तत्रेदं विमर्शनीयम्–अल्पत्वमलिनत्वादय उ-पाधिका दोषाः कदा नश्येयुरिति, कृपाणाद्युपाध्यपगम इति चेत्–किं त-दाऽल्पत्वाद्याश्रयः प्रतिबिम्बं तिष्ठति वा, नवा, तिष्ठति चेत्–तत्स्थानीय-स्य जीवस्यापि स्थितत्वादनिर्मोक्षप्रसङ्गः; नश्यति चेत्—तद्वदेव जीवना-शात्स्वरूपोच्छित्तिलक्षणो मोक्षस्स्यात् । किञ्च–यस्य ह्यपुरुषार्थरूपदोष-प्रतिभासः, तस्य तदुच्छेदः पुरुषार्थः ; तत्र किमौपाधिकदोषप्रतिभासो बिम्बस्थानीयस्य ब्रह्मणः, उत प्रतिबिम्बस्थानीयस्य जीवस्य, उतान्य-स्य कस्यचित् ; आद्ययोः कल्पयोर्दृष्टान्तोऽयं न सङ्गच्छते, मुखस्य मु-खप्रतिबिम्बस्य चाल्पत्वादिदोषप्रतिभासशून्यत्वात्, नहि मुखं तत्प्रति-बिम्बं वा चेतयते, ब्रह्मणो दोषप्रतिभासे ब्रह्माविद्याप्रसङ्गश्च । तृतीया-ऽपि कल्पो न कल्पते, जीवब्रह्मव्यतिरिक्तस्य द्रष्टुरभावात् । किञ्च अ-विद्याकल्पस्य जीवस्य कल्पकः क इति निरूपणीयम्, न तावदविद्या, अचेतनत्वात्, नापि जीवः, आत्माश्रयदोषप्रसङ्गात्, शुक्तिकारज-तादिवदविद्याकल्प्यत्वाच्च जीवभावस्य, ब्रह्मैव कल्पकमिति चेत्—त्र-

ह्माज्ञानमेवायातम् । किञ्च ब्रह्माज्ञानानभ्युपगमे किं ब्रह्म जीवान्पश्यति वा, न वा, न पश्यति चेत्--ईक्षापूर्विका विचित्रसृष्टिर्नामरूपव्याकरणमित्यादि ब्रह्मणो न स्यात् ! अथ पश्यति, अखण्डैकरसं ब्रह्म नाविद्यामन्तरेण जीवान्पश्यतीति ब्रह्माज्ञानप्रसङ्गः । अतएव मायाविद्याविभागवादोऽपि निरस्तः। अज्ञानमन्तरेण हि मायिनोऽपि ब्रह्मणो जीवदर्शित्वं न स्यात् । नच मायावी परानदृष्ट्वा मोहयितुमलम् । नापि माया मायाविनो दर्शनसाधनम् , दृष्टेषु परेषु तन्मोहनसाधनमात्रत्वात्तस्याः। अथ ब्रह्मणो माया तस्य जीवदर्शित्वं कुर्वती जीवमोहनस्य हेतुरिति मन्यसे , तर्हि परिशुद्धस्याखण्डैकरसस्वप्रकाशस्य ब्रह्मणः परदर्शनं कुर्वती माया मायापरपर्याया अविद्यैव स्यात् । अथ मतम्–विपरीतदर्शनहेतुरविद्या ।, माया तु मिथ्याभूतं ब्रह्मव्यतिरिक्तं मिथ्यात्वेन दर्शयन्ती न ब्रह्मणो विपरीतदर्शनहेतुः। अतस्तस्या नाविद्यात्वमिति । नैवम्-चन्द्रैकत्वे ज्ञायमाने द्विचन्द्रदर्शनहेतोरप्यविद्यात्वात् । यदि च ब्रह्म मिथ्यात्वेनैव स्वव्यतिरिक्तं जानाति, न तर्हि तन्मोहयति।नह्यनुन्मत्तो मिथ्यात्वेन ज्ञातान्मोहयितुमीहते । अथापुरुषार्थापरमार्थदर्शनहेतुरविद्या, माया तु ब्रह्मणो नापुरुषार्थदर्शनहेतुः; अतोऽस्या नाविद्यात्वमिति मतम् ; तन्न, द्विचन्द्रज्ञानस्य दुःखहेतुत्वाभावेनापुरुषार्थत्वाभावेऽपि तद्धेतुरविद्यैव, तन्निरसने च प्रयस्यन्तिः यदि च नापुरुषार्थदर्शनकरी माया, तर्ह्यनुच्छेद्यतया नित्या ब्रह्मस्वरूपानुबन्धिनी स्यात् । अस्तु को दोष इति चेत्–द्वैतदर्शनमेव दोषः। १ " यत्र हि द्वैतमिव भवति...यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत" इत्याद्यद्वैतश्रुतयः प्रकुप्येयुः । परमार्थविषया अद्वैतश्रुतयः, मायायास्त्वपरमार्थत्वादविरोध इति चेत्—अपरिच्छिन्नानन्दैकस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽपरमार्थभूतमायादर्शनं तद्वत्ताचाविद्यामन्तरेण नोपपद्यते। किञ्च अपरमार्थभूतया नित्यया मायया किं प्रयोजनं ब्रह्मणः । जीवमोहनमितिचेत्—अपुरुषार्थेन मोहनेन किं प्रयोजनम्। क्रीडेति चेत्-अपरिच्छिन्नानन्दस्य किं क्रीडया। परिपूर्णभो-

१. बृ. ४-४-१४

गानामेव क्रीडा पुरुषार्थत्वेन लोके दृष्टेति चेन्-नैवमिहोपपद्यते: नह्यपरमार्थभूतैः क्रीडोपकरणैरपरमार्थतया प्रतिभासमानैर्निष्पन्नयाऽपरमार्थभूतया क्रीडयाऽपरमार्थभूतेन च तत्प्रतिभासेनानुन्मत्तानां क्रीडारस निष्पद्यते । मायाश्रयतयाऽभिमतब्रह्मव्यतिरेकेणाविद्याश्रयस्य जीवस्य कल्पनासम्भवश्च पूर्ववदेव द्रष्टव्यः । अतो ब्रह्मैवानाद्यविद्याशबलं स्वगतनानात्वं पश्यतीत्यद्वितीयत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपयद्भिरभ्युपेत्यम् । यत्तु बन्धमोक्षव्यवस्था नोपपद्यत इति, न तद्ब्रह्माज्ञानवादिनश्चोद्यम् , एकस्यैव ब्रह्मणोऽज्ञस्य स्वाज्ञाननिवृत्त्या मोक्ष्यमाणत्वाद्बद्धमुक्तादिव्यवस्थाया एवाभावात् , व्यवह्रियमाणायाश्च बद्धमुक्तशिष्याचार्यादिव्यवस्थायाः काल्पनिकत्वात् , स्वप्नदर्शिन इव चैकस्यैवाविद्यया सर्वकल्पनोपपत्तेः; स्वप्नदशायामेकेन दृष्टाशिष्याचार्यादयस्तदविद्याकल्पिता एव । अत एव बह्वविद्याकल्पनमपि न युक्तिमत् । पारमार्थिकी बन्धमोक्षव्यवस्था स्वपरव्यवस्था च जीवाज्ञानवादिनापि नाभ्युपेयते । अपारमार्थिकी त्वेकस्यैवाविद्ययोपपद्यते । प्रयोगश्च-बन्धमोक्षव्यवस्थाः स्वपरव्यवस्थाश्च स्वाविद्याकल्पिताः, अपारमार्थिकत्वात् , स्वप्नदृष्टव्यवस्थावदिति । शरीरान्तराण्यपि मयैवात्मवन्ति, शरीरत्वात्, एतच्छरीरवत्। शरीरान्तराण्यपि मदविद्याकल्पितानि, शरीरत्वात् , कार्यत्वात् , जडत्वात् , कल्पितत्वाद्वा, एतच्छरीरवत् । विवादाध्यासितं चेतनजातमहमेव, चेतनत्वात् , यदनहम् , तदचेतनं दृष्टम्, यथा घटः । अतस्स्वपरविभागो बद्धमुक्तशिष्याचार्यादिव्यवस्थाश्चैकस्याविद्याकल्पिताः । द्वैतवादिनापि बद्धमुक्तव्यवस्था दुरुपपादा;अतीतानां कल्पानामानन्त्यादेकैकस्मिन्कल्पे एकैकमुक्तावपि सर्वेषां मोक्षसम्भवादमुक्तानुपपत्तेः । अनन्तत्वादात्मनाममुक्ताश्च सन्तीतिचेत्-किमिदमनन्तत्वम् ? असङ्ख्येयत्वमितिचेन्न, भूयस्त्वादल्पज्ञैरसङ्ख्येयत्वेऽपीश्वरस्य सर्वज्ञस्य सङ्ख्येया एव । तस्याप्यशक्यत्वे स- सर्वज्ञत्वं न स्यात् ;आत्मनां निस्सङ्ख्यत्वादीश्वरस्याविद्यमानसङ्ख्यावेदनाभावो नासार्वज्ञ्यतामावहतीतिचेत्- भिन्नत्वे सङ्ख्याविधुरत्वं नोपपद्यते । आत्मानस्सङ्ख्यावन्तः, भिन्नत्वात्, सापसर्पघटपटादिवत् । भिन्नत्वे चा-

त्मनां घटादिवज्जडत्वमनात्मत्वं क्षयित्वं च प्रसज्यते । ब्रह्मणश्चानन्तत्वं न स्यात्। अनन्तत्वं नाम-परिच्छेदरहितत्वम्। भेदवादे च वस्त्वन्तराद्विलक्षणत्वेन ब्रह्मणो वस्तुतः परिच्छेदरहितत्वं न शक्यते वक्तुम्; वस्त्वन्तरभाव एव हि वस्तुतः परिच्छेदः। वस्तुतः परिच्छिन्नस्य देशतः कालतश्चापरिच्छिन्नत्वं च न युज्यते;वस्त्वन्तराद्विलक्षणत्वेन वस्तुतः परिच्छिन्ना एव घटादयो देशतः कालतश्च परिच्छिन्ना हि दृष्टाः; तथा सर्वे चेतनाः ब्रह्म च वस्तुतः परिच्छिन्नाः देशकालाभ्यामपि परिच्छिद्यन्ते । एवञ्च १ "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" इत्यादिभिस्सर्वप्रकारपरिच्छेदरहितत्वं वदद्भिर्विरोधः । उत्पत्तिविनाशादयश्च जीवानां ब्रह्मणश्च प्रसज्येरन्; कालपरिच्छेद एव उत्पत्तिविनाशभागित्वम् अत एकस्यैवापरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणोऽविद्याविजृम्भितं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं कृत्स्नं जगत्; सुखदुःखप्रतिसन्धानव्यवस्थादयोऽपि स्वाप्नव्यवस्थावदविद्यास्वभाव्यादुपपद्यन्ते । तस्मादेकमेव नित्यमुक्तस्वप्रकाशस्वभावमनाद्यविद्यावशाज्जगदाकारेण विवर्तत इति परमार्थतो ब्रह्मव्यतिरिक्ताभावात्तदनन्यत्वं जगतः-इति ॥

* अत्रोच्यते-निर्विशेषस्वप्रकाशमात्रं ब्रह्मानाद्यविद्यातिरोहितस्वस्वरूपं स्वगतनानात्वं पश्यतीत्येतत् प्रकाशस्वरूपस्य निरंशस्य प्रकाशनिवृत्तिरूपतिरोधाने स्वरूपनाशप्रसङ्गेन तिरोधानासम्भवादिभ्यस्सकलप्रमाणविरुद्धंस्ववचन विरुद्धं चेति पूर्वमेवोक्तम् यत्पुनरुक्तं-कारणव्यतिरिक्तं कार्यं युक्तिबाधितत्वेन शुक्तिकारजतादिवद्भ्रमः-इति; तदयुक्तम्, युक्तेरभावात् । यत्त्वनुवर्तमानस्य कारणमात्रस्य सत्यत्वम्, व्यावर्तमानानां घटशरावादिकार्याणामसत्यत्वमिति; तदप्यन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र व्यावर्तमानता न बाधिकेत्यादिभिः पूर्वमेव परिहृतम् । यच्चोपलभ्यमानत्वविनाशित्वाभ्यां सदसदनिर्वचनीयत्वेन कार्यस्य मृषात्वमिति; तदसत् उपलब्धिविनाशयोगो हि न मिथ्यात्वं साधयति, किन्त्वनित्यत्वम । यद्देशकालसम्बन्धि.

* ब्रह्मज्ञानवादिनं वैशेषिकः प्रतिवदति-अत्रोच्यत इति ॥

१. तै. आन. १-१ ॥

तया यदुपलब्धम्, तद्देशकालसम्बन्धितया बाधितत्वमेव हि तस्य मिथ्यात्वे हेतुः; देशान्तरकालान्तरसम्बन्धितयोपलब्धस्यान्यदेशकालसम्बन्धित्वेन बाधितत्वं देशान्तरकालान्तराव्याप्तिमात्रं साधयति, न तु मिथ्यात्वम्। प्रतिप्रयोगश्च-घटादि कार्यं सत्यम्, देशकालादिप्रतिपन्नोपाधावबाधितत्वात्, आत्मवत्। यच्चोक्तं-कारणस्वरूपादविकृताद्विकृताच्च कार्योत्पत्तिर्न सम्भवति—इति; तदसत्, देशकालादिसहकारिसमवहितात्कारणात्कार्योत्पत्तिसम्भवात्। तत्समवधानं च विकृतस्याविकृतस्य च न सम्भवति—इति यदुक्तम्; तदयुक्तम्, पूर्वमविकृतस्यैव कालादिसमवधानसम्भवात्। अविकृतत्वाविशेषात् पूर्वमपि देशकालादिसमवधानं प्रसज्यत इतिचेन्न, देशकालादिसमवधानस्य कारणान्तरायत्तस्यैतदायत्तत्वाभावात्। अतो देशकालादिसमवधानरूपविशेषमापन्नं कारणं कार्यमुत्पादयतीति न किञ्चिदवहीनम्। कारणस्य च कार्यं प्रत्यारम्भकत्वमबाधितं दृश्यमानं न केनापि प्रकारेणापह्नोतुं शक्यते। यत्तु-हेमादिमात्रस्य, रुचकादिकार्यस्यैतदाश्रयस्य वा हेमादेरारम्भकत्वं न सम्भवति-इति; तदयुक्तम्, हेमादिमात्रस्यैव यथोक्तपरिकरयुक्तस्यारम्भकत्वसम्भवात्। न चारम्भकहेमव्यतिरिक्तं कार्यं न दृश्यत इति वक्तुं शक्यम्; हेमातिरिक्तस्य स्वस्तिकस्य दर्शनात्, बुद्धिशब्दान्तरादिभिर्वस्त्वन्तरस्य साधितत्वाच्च। नचायं शुक्तिकारजतादिवद्भ्रमः, उत्पत्तिविनाशयोरन्तराल उपलभ्यमानस्य तद्देशकालसम्बन्धितया बाधादर्शनात्। नचास्या उपलब्धेर्बाधिका काचिदपि युक्तिर्दृश्यते। प्रागनुपलब्धस्वस्तिकोपलब्धिवेलायामपि हेमप्रत्यभिज्ञा स्वस्तिकाश्रयतया हेम्नोऽप्यनुवृत्तेरविरुद्धा। श्रुतिभिस्तु प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधनं पूर्वमेव निरस्तम्। यच्चान्यदत्र प्रत्यक्षविरोधादि प्रतिवक्तव्यम्, तदपि सर्वं पूर्वमेव सुप्रु(१)क्तम्। यच्चोक्तम्-एकेनात्मना सर्वाणि शरीराण्यात्मवन्ति-इति; तदसत्, एकस्यैव सर्वशरीरप्रयुक्तसुखदुःखप्रतिसन्धानप्रसङ्गात्। सौभरिप्रभृतिषु ह्यात्मनकत्वेनानेकशरीरप्रयुक्तसुखादिप्रतिसन्धानमेकस्य दृश्यते। नचाहमर्थस्य ज्ञातृत्वात्त-

(१) सूक्तम्—इति पा॰

द्धेदात्प्रतिसन्धानाभावो नात्मभेदादिति वक्तुं शक्यम् ; आत्मा ज्ञातैव, न चाहमर्थ एव, अन्तःकरणभूतस्त्वहङ्कारो जडत्वात्करणत्वाच्च शरीरेन्द्रियादिवन्न ज्ञातेत्युपपादितत्वात् । यच्च—शरीरत्वजडत्वकार्यत्वकल्पितत्वैस्सर्वशरीराणामेकस्याविद्याकल्पितत्वमुक्तम् ; तदपि सर्वशरीराणामविद्याकल्पितत्वस्यैवाभावादयुक्तम् । तदभावश्चाबाधितस्य सत्यत्वोपपादनात् । यच्च चेतनादन्यस्य जडत्वदर्शनात्सर्वचेतनानामनन्यत्वमुक्तम्, तदपि सुखदुःखव्यवस्थया भेदोपपादनादेव निरस्तम् । यत्तु—मय्येवात्मवन्ति मदविद्याकल्पितान्यहमेव सर्वं चेतनजातमित्यहमर्थस्यैक्यमुपपादितम्, तदज्ञातस्वसिद्धान्तस्य भ्रान्तिजल्पितम्, अहं त्वमाद्यर्थविलक्षणं चिन्मात्रं ह्यात्मा त्वन्मते । किञ्च निर्विशेषचिन्मात्रातिरेकि सर्वं मिथ्येति वदतो मोक्षार्थश्रवणादिप्रयत्नो निष्फलः, अविद्याकार्यत्वात् ; शुक्तिकारजतादिषु रजताद्युपादानादिप्रयत्नवत् । मोक्षार्थप्रयत्नो व्यर्थः, कल्पिताचार्यायत्तज्ञानकार्यत्वात्, शुकप्रह्लादवामदेवादिप्रयत्नवत् । *तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यज्ञानं न बन्धनिवर्तकम्, अविद्याकल्पितवाक्यजन्यत्वात्, स्वयमविद्यात्मकत्वात्, अविद्याकल्पितज्ञात्राश्रयत्वात्, कल्पिताचार्यायत्तश्रवणजन्यत्वाद्वा, स्वाप्नबन्धनिवर्तनवाक्यजन्यज्ञानवत् । किञ्च निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्म मिथ्या, अविद्याकार्यज्ञानगम्यत्वात्, अविद्याकल्पितज्ञात्राश्रयज्ञानगम्यत्वात्, अविद्यात्मकज्ञानगम्यत्वाद्वा, यदेवं तत्तथा, यथा स्वाप्नगन्धर्वनगरादिः । नच निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्म स्वयं प्रकाशते, येन न प्रमाणान्तरमपेक्षते । यत्त्वात्मसाक्षिकं स्वयं प्रकाशज्ञानं दृश्यते, तत्तु ज्ञेयविशेषसिद्धिरूपं ज्ञातृगतमेव दृश्यत इति पूर्वमेवोक्तम् । यानि च तस्य निर्विशेषत्वसाधकानि यौक्तिकानि ज्ञानान्युपन्यस्तानि, तानि चानन्तरोक्तैरविद्याकार्यत्वादित्यादिभिरनुमानैर्निरस्तानि । नच निर्विशेषस्य चिन्मात्रस्याज्ञानसाक्षित्वमहङ्कारादिजगद्भ्रमश्चोपपद्यते, साक्षित्वभ्रमादयोऽपि हि ज्ञातृविशेषगता दृष्टाः, न ज्ञप्तिमात्रगताः ; नच तस्य प्रकाशत्वं स्वायत्तप्रकाशता वा सिध्यति ; प्रकाशो हि

कस्यचित्पुरुषस्य कञ्चनार्थविशेषं प्रति सिद्धिरूपो दृश्यते, तत एव हि तस्य स्वयम्प्रकाशतोपपाद्यते भवद्भिरपि । नचातादृशस्य निर्विशेषस्य प्रकाशता सम्भवति यः पुनः स्वगोष्ठीष्वपरमार्थादपि परमार्थकार्यं दृश्यत इत्युद्घोषः, सोऽपि तानि कार्याणि सर्वाण्यबाधितकल्पानि व्यावहारिकसत्यानि; वस्तुतस्त्वविद्यात्मकान्येवेति स्वाभ्युपगमादेव निरस्तः । अस्माभिरपि सर्वत्र परमार्थादेव कारणात्सर्वकार्योत्पत्तिमुपपादयद्भिः पूर्वमेव निरस्तः । नच स्वयैषामनुमानानां श्रुतिविरोधो वक्तुं शक्यते, श्रुतेरप्यविद्याकार्यत्वेनाविद्यात्मकत्वेन चोक्तदृष्टान्तेभ्यो विशेषाभावात् । यत्तु ब्रह्मणोऽपारमार्थिकज्ञानगम्यत्वेऽपि पश्चात्तनबाधादर्शनाद्ब्रह्म सत्यमेव इति; तदसत्, दुष्टकारणजन्यज्ञानगम्यत्वे निश्चिते सति पश्चात्तनबाधादर्शनस्याकिञ्चित्करत्वात्; यथा शून्यमेव तत्त्वमिति वाक्यजन्यज्ञानस्य पश्चात्तनबाधादर्शनेऽपि दोषमूलत्वनिश्चयादेव तदर्थस्यासत्यत्वम् । किञ्च १"नेह नानाऽस्ति किञ्चन" २"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति विज्ञानमात्रातिरिक्तस्य कृत्स्नस्य वस्तुजातस्य निषेधकत्वेन सर्वस्मात्परत्वात्पश्चात्तनबाधादर्शनमुच्यते, शून्यमेव तत्त्वमिति तस्याप्यभावं वदतस्तस्मात्परत्वेन पश्चात्तनबाधा दृश्यते । सर्वशून्यत्वातिरेकिनिषेधासम्भवात्तस्यैव पश्चात्तनबाधादर्शनम्; दोषमूलत्वं तु प्रत्यक्षादीनां वेदान्तजन्मनस्सर्वशून्यज्ञानस्याप्यविशिष्टम् । अतस्सर्वं विज्ञानजातं पारमार्थिकज्ञातृगतम्, स्वयं च परमार्थभूतमर्थविशेषसिद्धिरूपम्; तत्र किञ्चिन ज्ञानं दोषमूलम्; दोषश्च परमार्थः; किञ्चिच्च निर्दोषं पारमार्थिकसामग्रीजन्यमिति यावन्नाभ्युपेयते, न तावत्सत्यमिथ्यार्थव्यवस्था, लोकव्यवहारश्च सेत्स्यति । लोकव्यवहारो हि पारमार्थिको भ्रान्तिरूपश्च पारमार्थिकज्ञातृगतार्थविशेषसिद्धिरूपप्रकाशपूर्वकः; निर्विशेषसन्मात्रस्य तु पारमार्थिकस्यापारमार्थिकस्य च प्रतिभासमात्रेऽनुत्पन्नत्वात् लोकव्यवहारो न सम्भवति । यच्च—तैर्निरधिष्ठानभ्रमासम्भवात्सर्वभ्रमाधिष्ठानस्य सन्मात्रस्य पार-

मार्थिकत्वमुक्तम्, तदपि दोषदोषाश्रयत्वज्ञातृत्वज्ञानानामपारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तिवदधिष्ठानापारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तेर्निरस्तम्। अथ–अधिष्ठानापारमार्थ्येऽपि न कचिद्भ्रमो दृष्ट इति सन्मात्रस्य पारमार्थिकत्वमवश्याश्रयणीयमिति मन्यसे, हन्त तर्हि दोषदोषाश्रयत्वज्ञातृत्वज्ञानानामपारमार्थ्येऽपि न कचिद्भ्रमो दृष्ट इति दर्शनानुगुण्येन तेषामपि पारमार्थ्यमवश्याश्रयणीयमिति न कश्चिद्विशेषोऽन्यत्र तत्संरम्भात्। यत्तु भेदपक्षेऽप्यतीतकल्पानामानन्त्यात्सर्वेषामात्मनां मुक्तत्वेन बद्धासम्भवाद्बद्धमुक्तव्यवस्था न सम्भवति, तदात्मानन्त्येन परिहृतम्। यत्त्वात्मनां भिन्नत्वे माषसर्षपघटपटादिवत्सङ्ख्यावत्त्वमवर्जनीयमिति, तत्र घटादीनामप्यनन्तत्वाद्दृष्टान्तस्साध्यविकलस्स्यात्। दशघटास्सहस्रं माषा इति सङ्ख्यावत्त्वं दृश्यत इति चेत्–सत्यं. तत्तु न घटादिस्वरूपगतम्, अपितु देशकालाद्युपाधिमद्घटादिगतम्, तादृशं तु सङ्ख्यावत्त्वमात्मनामभ्युपगच्छामः। नच तावता सर्वमुक्तिप्रसङ्गः; आत्मस्वरूपानन्त्यात्। यत्तु–आत्मनां भिन्नत्वे घटादिवज्जडत्वानात्मत्वक्षयित्वप्रसङ्गः–इति; तदयुक्तं, एकजातीयानां भेदस्य तज्जातीयानां जात्यन्तरत्वानापादकत्वात्। नहि घटानां भेदः तेषां पटत्वमापादयति। यत्तु–भिन्नत्वे वस्तुतः परिच्छेदाद्देशकालाभ्यामपि परिच्छेदो ब्रह्मणः प्रसज्यत इत्यनन्तत्वं ब्रह्मणो न सिध्यतीति; तदयुक्तं, वस्तुतः परिच्छिन्नानामपि देशकालपरिच्छेदस्य न्यूनाधिकभावेनानियमदर्शनात्; देशकालसम्बन्धेयत्तायाः प्रमाणान्तरात्तन्निर्णयत्वेन ब्रह्मणस्सर्वदेशकालसम्बन्धस्यापि प्रमाणान्तरादापततो विरोधाभावात्। वस्तुतः परिच्छेदमात्रादपि सर्वप्रकारपरिच्छेदरहितत्वाभावादानन्त्यासिद्धिरिति चेत्–तद्भवतोऽप्यविद्याविलक्षणत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपयतस्समानम्। अतस्सतोऽविद्याविलक्षणत्वाभ्युपगमाद्ब्रह्मणोऽपि भिन्नत्वेन भेदप्रयुक्ता दोषास्सर्वे तत्रापि प्रसज्येरन्। यद्यविद्याविलक्षणत्वं नाभ्युपेयते; तर्ह्यविद्यात्मकमेव ब्रह्म स्यात्। १"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति लक्षणवाक्यमपि तत एवा-

१. तै. आन. १-१ ॥

पार्थकं स्यात्। भेदतत्त्वानभ्युपगमे हि स्वपक्षपरपक्षसाधनदूषणादिविवेकाभावात्सर्वमसमञ्जसं स्यात्। आनन्त्यप्रसिद्धिश्च देशकालपरिच्छेदरहितत्वमात्रेण; न वस्तुतोऽपि परिच्छेदरहितत्वेन, तथाविधस्य शशविषाणायमानस्यानुपलब्धेः। *भेदवादिनस्तु सर्वचिदचिद्वस्तुशरीरत्वेन ब्रह्मणस्सर्वप्रकारत्वात् +स्वतः परतोऽपि परिच्छेदो न विद्यते। तदेवो पादयद्भ्योऽवगम्यते। आरम्भणशब्द आदिर्येषां वाक्यानाम्, तान्याकारणाद्भिन्नस्य कार्यस्य सत्यत्वाद्ब्रह्मकार्यं कृत्स्नं जगद्ब्रह्मणोऽन्यदेव ॥

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे— तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः—तस्मात् परमकारणाद्ब्रह्मणः, अनन्यत्वं जगतः आरम्भणशब्दादिभ्यः तदुपरम्भणशब्दादीनि । आरम्भणशब्द आदिर्येषां वाक्यानाम्, तान्यारम्भणशब्दादीनि १ 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" २"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" ३"अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य" ४"सन्मूलास्सोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सदायतनास्सत्प्रतिष्ठाः... ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इत्येतानि; प्रकरणान्तरस्थान्यप्येवंजातीयकान्यत्राभिप्रेतानि । एतानि हि वाक्यानि चिदचिदात्मकस्य जगतः

---

१. छा. ६-१-४ ॥　　२. छा. ६-२-१ ॥　　३. छा. ६.३-३ ॥
४. छा. ६-८-६७ ॥

* साचारिसद्धान्तिपक्षे वस्त्वपरिच्छेद उपपद्य इत्याह (भेदवादिनस्त्विति)

+ ब्रह्मणः सर्वप्रकारत्वादित्यनेन सर्ववस्तु सामानाधिकरण्यार्हत्वं वस्त्वपरिच्छेद इति भाष्यकाराभिप्रायः। इदमिदं नभवतीति हि वस्तु परिच्छेदः, इदमिदं भवतीति निर्देश योग्यत्वं वस्त्वपरिच्छेद, सर्ववस्तु सामानाधिकरण्यर्हत्व मित्यर्थः। अनेकविशेषणानामेकविशेष्यपर्यन्तताभिधानं हि सामानाधिकरण्य कृत्यम्। तच्च वस्तुनस्तथा विधत्वात् ॥

परस्माद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वमुपपादयन्ति। तथा हि-[१]"स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" इति कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मैककारणत्वम्, कारणात्कार्यस्यानन्यत्वं च हृदि निधाय कारणभूतब्रह्मविज्ञानेन कार्यभूतस्य सर्वस्य विज्ञाने प्रतिज्ञाते सति कृत्स्नस्य ब्रह्मैककारणतामजानता शिष्येण [२]"कथं नु भगवस्स आदेशः" इत्यन्यज्ञानेनान्यज्ञातताऽसम्भवं चोदितो जगतो ब्रह्मैककारणतामुपदेक्ष्यन् लौकिकप्रतीतिसिद्धं कारणात्कार्यस्यानन्यत्वं तावत् [३]"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्" इति दर्शयति। यथैकमृत्पिण्डारब्धानां घटशरावादीनां तस्मादनतिरिक्तद्रव्यतया तज्ज्ञानेन ज्ञाततेत्यर्थः। अत्र काणादवादेन कारणात्कार्यस्य द्रव्यान्तरत्वमाशङ्क्य लोकप्रत्ययैव कारणात्कार्यस्यानन्यतामुपपादयति [३]"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इति। आरभ्यते आलभ्यते स्पृश्यते इत्यारम्भणम्; [३]"कृत्यल्युटो बहुलम्" इति कर्मणि ल्युट्, वाचा वाक्पूर्वकेण व्यवहारेण हेतुनेत्यर्थः। 'घटेनोदकमाहर' इत्यादिवाक्पूर्वको ह्युदकाहरणादिव्यवहारः; तस्य व्यवहारस्य सिद्धये, तेनैव मृद्द्रव्येण पृथुबुध्नोदरत्वादिलक्षणो विकारः-संस्थानविशेषः, तत्प्रयुक्तं च घटइत्यादिनामधेयम्, स्पृश्यते—उदकाहरणादिव्यवहारविशेषसिद्ध्यर्थं मृद्द्रव्यमेव संस्थानान्तरनामधेयान्तरभाग्भवति। अतो घटाद्यपि मृत्तिकेत्येव सत्य-मृत्तिकाद्रव्यमित्येव सत्यम्-प्रमाणेनोपलभ्यत इत्यर्थः, नतु द्रव्यान्तरत्वेन। अतस्तस्यैव मृद्धिरण्यादेर्द्रव्यस्य संस्थानान्तरभाक्त्वमात्रेण बुद्धिशब्दान्तरादय उपपद्यन्ते, यथैकस्यैव देवदत्तस्यावस्थाभेदैः'बालो युवा स्थविरः' इति बुद्धिशब्दान्तरादयः कार्यविशेषाश्च दृश्यन्ते। यदुक्तं-सत्यामेव मृदि घटो नष्ट इति व्यवहारात्कारणादन्यत्कार्यमिति; तदुत्पत्तिविनाशादीनां कारणभूतस्यैव द्रव्यस्यावस्थाविशेषत्वाभ्युपगमादेव परिहृतम्। तत्तदवस्थस्यैकस्यैव द्रव्यस्य ते ते शब्दास्तानि तानि च कार्याणीति युक्तम्। द्रव्यस्य तत्तदवस्थत्वं कारकव्यापारायत्तमिति तस्यार्थवत्त्वम्। अ-

१. छा. ६-१-३॥ २. छा. ६-१-४॥ ३. अष्टा. ३-३-११३॥

भिव्यक्त्यनुबन्धीनि चोद्यानि तस्या अनभ्युपगमादेव परिहृतानि। उत्पत्त्यभ्युपगमेऽपि सत्कार्यवादो न विरुध्यते; सत एवोत्पत्तेः। विप्रतिषिद्धमिदमभिधीयते,-पूर्वमेव सत्, तदुत्पद्यते च-इति। अज्ञातोत्पत्तिविनाशयाथात्म्यस्येदं चोद्यम्; द्रव्यस्योत्तरोत्तरसंस्थानयोगः पूर्वपूर्वसंस्थानसंस्थितस्य विनाशः, स्वावस्थस्य तूत्पत्तिः। अतस्सर्वावस्थस्य द्रव्यस्य सत्त्वात्सत्कार्यवादो न विरुध्यते। संस्थानस्यासत उत्पत्तावसत्कार्यवादप्रसङ्ग इति चेत्-असत्कार्यवादिनोऽप्युत्पत्तेरनुत्पत्तिमत्त्वे सत्कार्यवादप्रसङ्गः। उत्पत्तिमत्त्वे चानवस्था। अस्माकं त्ववस्थानां पृथक्प्रतिपत्तिकार्ययोगानर्हत्वादवस्थावत एवोत्पत्त्यादिकं सर्वमिति निरवद्यम्। कपालत्वचूर्णत्वपिण्डत्वावस्थाप्रहाणेन घटत्वावस्थावदेकत्वावस्थाप्रहाणेन बहुत्वावस्था तत्प्रहाणेनैकत्वावस्था चेति न कश्चिद्विरोधः। तथा[१] "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इति सदेवेदम् इदानीं विभक्तनामरूपत्वेन नानारूपं जगत्, अग्रे नामरूपविभागाभावेनैकमेवासीत्, सर्वशक्तित्वेनाधिष्ठात्रन्तरासहतया अद्वितीयं चेत्यनन्यत्वमेवोपपादितम्। तथा[२] "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इति स्रक्ष्यमाणतेजःप्रभृतिविविधविचित्रस्थिरत्रसरूपजगत्त्वेनात्मनो बहुभवनं सङ्कल्प्य जगत्सर्गाभिधानात्कार्यभूतस्य जगतः परमकारणात्परस्माद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वमवसीयते। सच्छब्दवाच्यस्य परस्य ब्रह्मणस्सर्वज्ञस्य सत्यसङ्कल्पस्य निरवद्यस्यैव सदेवेदमिति निर्देशाद्जगत्त्वम्, सच्छब्दवाच्यस्यैव जगतो नामरूपविभागाभावेनैकत्वमधिष्ठात्रन्तरनिरपेक्षत्वम्, पुनरपि तस्यैव विचित्रस्थिरत्रसरूपजगत्त्वेन बहुभवनसङ्कल्परूपेक्षणम्, यथासङ्कल्पं सर्गश्च कथमुपपद्यत इत्याशङ्क्याह[३] "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता: अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति तासां त्रिवृतं त्रिवृतम्" इत्यादि। [३] "तिस्रो देवताः" इति कृत्स्नमचिद्वस्तु निर्दिश्य स्वात्मकजीवानुप्रवेशेनैतद्विचिनामरूपभाक्त्वाणीत्यु-

१. छा. ६-२-१ ॥　　२. छा ६-२-३ ॥　　३. छा. ६-३-२ ॥

क्तम्। अनेन जीवेनात्मना-मदात्मकजीवेन आत्मतयाऽनुप्रविश्यैतद्विचित्रनामरूपभाक्करवाणीत्यर्थः । स्वात्मनो जीवस्य चात्मतयाऽनुप्रवेशकृतं नामरूपभाक्त्वमित्युक्तं भवति। १"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्" इति श्रुत्यन्तरेण स्पष्टं सजीवं जगत्परेण ब्रह्मणा आत्मतयाऽनुप्रविष्टमिति।तदेतत्कार्यावस्थस्य च कारणावस्थस्य च चिदचिद्वस्तुनः स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च परब्रह्मशरीरत्वम्, परस्य च ब्रह्मण आत्मत्वमन्तर्यामिब्राह्मणादिषु सिद्धं स्मारितम्। अनेन पूर्वोक्ता शङ्का निरस्ता। अचिद्वस्तुनि सजीवे ब्रह्मण्यात्मतयाऽवस्थिते नामरूपव्याकरणवचनाच्चिदचिद्वस्तुशरीरकं ब्रह्मैव जगच्छब्दवाच्यमिति २ "सदेवेदमग्र एकमेवासीत्" इत्यादिसर्वमुपपन्नतरम्। शरीरभूतचिदचिद्वस्तुगतास्सर्वे विकाराश्चापुरुषार्थाश्चेति ब्रह्मणो निरवद्यत्वं कल्याणगुणाकरत्वं च सुस्थितम्।तदेतत् ३"अधिकं तु भेदनिर्देशात्" इत्यनन्तरमेव वक्ष्यति।तथा४"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इति कृत्स्नस्य चेतनाचेतनस्य ब्रह्मतादात्म्यमुपदिशति। तदेवच ५"तत्त्वमसि" इति निगमयति। तथा प्रकरणान्तरस्थेष्वपि वाक्येषु ६"सर्वं खल्विदं ब्रह्म ७"आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्"८"इदं सर्वं यदयमात्मा"९"ब्रह्मैवेदं सर्वम्"१०"आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यनन्यत्वं प्रतीयते,तथाऽन्यत्वं च निषिध्यते११"सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनस्सर्वं वेद"११"नेह नानास्ति किञ्चनामृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति,, इति,तथा१२ 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" इत्यविदुषो द्वैतदर्शनं विदुषश्चाद्वैतदर्शनं प्रतिपादयदनन्यत्वमेव तात्त्विकमिति प्रतिपादयति।त-

---

१. तै आन. ६-२ ॥ २. छा. ३-२-१ ॥ ३. शारी २-१-२२ ॥
४. छा ६-८-७ ॥ ५. छा. ३-१४-१ ॥ ६, बृ ६-५-६ ॥ ७. बृ ६-५-७ ॥
८. ॥ ९ छा. ७-२५-२ ॥ १०. बृ. ६ ५-७ ॥ ११. बृ. ६-४-१९ ॥
१२. बृ. ६-५-७ ॥

देवमारम्भणशब्दादिभ्यो जगतः परमकारणात्परस्माद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वमुपपाद्यते। अत्रेदं तत्त्वं-चिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारं ब्रह्मैव सर्वदा सर्वशब्दाभिधेयम्। तत्कदाचित्स्वस्मात्स्वशरीरतयापि पृथग्व्यपदेशानर्हसूक्ष्मदशापन्नचिदचिद्वस्तुशरीरम्। तत्कारणावस्थं ब्रह्म। कदाचिच्च विभक्तनामरूपव्यवहारार्हस्थूलदशापन्नचिदचिद्वस्तुशरीरम्। तच्च कार्यावस्थमिति कारणात्परस्माद्ब्रह्मणः कार्यरूपं जगदनन्यत्। शरीरभूतचिदचिद्वस्तुनः शरीरिणो ब्रह्मणश्च कारणावस्थायां कार्यावस्थायांच श्रुतिशतसिद्धया स्वभावव्यवस्थया गुणदोषव्यवस्था च[1] "नतु दृष्टान्तभावात्" इत्यत्रोक्ता॥

ये तु*कार्यकारणयोरनन्यत्वं कार्यस्य मिथ्यात्वाश्रयेण वर्णयन्ति, न तेषां कार्यकारणयोरनन्यत्वं सिध्यति, सत्यमिथ्यार्थयोरैक्यानुपपत्तेः; तथासति ब्रह्मणो मिथ्यात्वं जगतस्सत्यत्वं वा स्यात्॥

येच+कार्यमपि पारमार्थिकमभ्युपयन्तएव जीवब्रह्मणोरौपाधिकमन्यत्वम्, स्वाभाविकं चानन्यत्वम्, अचिद्ब्रह्मणोस्तु द्वयमपि स्वाभाविकमिति वदन्ति; तेषामुपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वन्तराभावान्निरवयवस्याखण्डितस्य ब्रह्मण एवोपाधिसम्बन्धाद्ब्रह्मस्वरूपस्यैव हेयाकारपरिणामत्। शक्तिपरिणामाभ्युपगमे शक्तिब्रह्मणोरनन्यत्वाच्च जीवब्रह्मणोः कर्मवश्यत्वापहतपाप्मत्वादिव्यवस्थावादिन्योऽचिद्ब्रह्मणोश्च परिणामवादिन्यश्श्रुतयो व्याकुलीभवेयुः॥

ये पुनः ×निरस्तनिखिलभोक्तृत्वादिविकल्पविप्लवं सर्वशक्तियुक्तं सन्मात्रद्रव्यमेव कारणं ब्रह्म; तच्च प्रलयवेलायां शान्ताशेषसुखदुःखानुभवविशेषं स्वप्रकाशमपि सुप्तात्मवदचिद्विलक्षणमवस्थितम्, सृष्टिवेलायां मृत्तिकाद्रव्यमिव घटशरावादिरूपम्, समुद्र इव च फेनतरङ्गबुद्बुदादिरूपो

---

१. शारी. २-१-९॥

* मायावादिभिरस्यसूत्रस्योक्तमर्थं दूषयति (येत्विति)।

+ भास्करमतं दूषयति (येचेति)।

× यादवप्रकाशमतं दूषयति (ये पुनरिति)।

भोक्तृभोग्यनियन्तृरूपेणांशत्रयावस्थमवतिष्ठते ; अतो भोक्तृभोग्यनियन्तृत्वानि तत्प्रयुक्ताश्च गुणदोषाः शरावत्वघटत्वमणिकत्ववत्तद्गतकार्यभेदवच्च व्यवतिष्ठन्ते ; भोक्तृभोग्यनियन्तॄणां सदात्मनैकत्वं च घटशरावमणिकादीनां मृदात्मनैकत्ववदुपपद्यते ; अतस्सन्मात्रद्रव्यमेव सर्वावस्थावस्थितमिति ब्रह्मणोऽनन्यज्जगदातिष्ठन्ते ; तेषां सकलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणन्यायविरोधः; सर्वा हि श्रुतयः सस्मृतीतिहासपुराणास्सर्वेश्वरं सदैव सर्वज्ञं सर्वशक्ति सत्यसङ्कल्पं निरवद्यं देशकालानवच्छिन्नानवधिकातिशयानन्दं परमकारणं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति, न पुनरीश्वरादपि परमीश्वरांशि सन्मात्रम्। तथाहि १"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" २"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति"३"ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत् तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवक्षत्राणीन्द्रो वरुणस्सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति"४"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चन मिषत् स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति" ५"एको ह वै नारायण आसीत् न ब्रह्मा नेशानो नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि नापो नाग्निर्न सोमो न सूर्यः स एकाकी न रमेत तस्य ध्यानान्तस्थस्य"इत्यादिभिः परमकारणं सर्वेश्वरेश्वरो नारायण एवेत्यवगम्यते । सद्ब्रह्मात्मशब्दा हि तुल्यप्रकरणस्थास्तुल्यप्रकरणस्थेन नारायणशब्देन विशेषितात्मेवावगमयन्ति । ६"तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्" ७"स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" इतीश्वरस्यैव कारणत्वं श्रूयते । स्मृतिरपि मानवी ८"ततस्स्वयम्भूर्भगवान्" इति प्रक्रम्य ९"सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः । अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमपासृजत्"इति । इतिहासपुराणान्यपि पुरुषोत्तममेव परमकारणमभिदधति १०"नारायणो जगन्मूर्तिरनन्तात्मा सनातनः...स सिसृक्षुस्सहस्रांशादसृजत्पुरुषान् द्विधा,,

१ छा. ६-२-१ ॥—२. छा. ६-२-३ ॥—३. बृ. ३-४-११ ॥—४. ऐतरेय. १-१-१ ॥—५. महोप. १.१ ॥—६.श्वे.६-७ ॥— ७.श्वे. ६.९॥—८. मनु. १.६ ॥—९. मनु. १.८ ॥—१०. भारतं. मोक्ष. ८-१२ ॥

१"विष्णोस्सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम्" इत्यादिपुनचेश्वरस्सन्मात्रमेवेति वक्तुं शक्यम्, तस्य तदंशत्वाभ्युपगमात्सविशेषत्वाच्चा। नच तस्य ज्ञानानन्दाद्यनन्तकल्याणगुणयोगः कादाचित्क इति वक्तुं शक्यते, तेषां स्वाभाविकत्वेन सदातनत्वात् २"पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' ३ "यस्सर्वज्ञस्सर्ववित्,, इत्यादिभ्यः। ज्ञानानन्दादिशक्तियोग एवास्य स्वाभाविक इति मावोचः, 'शक्तिः स्वाभाविकी, ज्ञानबलक्रिया च स्वाभाविकी, इति पृथङ्निर्देशालक्षणाप्रसङ्गाच्च। नच पाचकादिवत् 'सर्वज्ञः' इत्यादिषु शक्तिमात्रे कृत्प्रत्यय इति वक्तुं शक्यम्, कृत्प्रत्ययमात्रस्य शक्तावस्मरणात्, ४"शक्तौ हस्तिकवाटयोः,, इत्यादिषु केषाञ्चिदेव कृत्प्रत्ययानां शक्तिविषयत्वस्मरणात्। पाचकादिषु त्वगत्या लक्षणा समाश्रीयते।किञ्च ईश्वरस्य तदंशविशेषत्वात्तस्य चांशित्वे तरङ्गात्समुद्रस्येवांशादंशिनोऽधिकत्वात्, ५"तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्,, ३"न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते,, इत्यादीनीश्वरविषयाणि परश्शतानि वचांसि बाध्येरन्। किञ्च सन्मात्रस्य सर्वात्मकत्वे, अंशित्वे च ईश्वरस्य तदंशविशेषत्वात् तस्य सर्वात्मकत्वांशित्वोपदेशाव्याहन्येरन्। नहि मणिकात्मकत्वं तदंशत्वं वा घटशरावादेः। स्वांशेषु सर्वेषु सन्मात्रस्य पूर्णत्वेनेश्वरांशेऽपि तस्य पूर्णत्वात् तदात्मकानि तदंशाश्चेतराणि वस्तूनीति चेन्न, घटेऽपि सन्मात्रस्य पूर्णत्वादीश्वरस्यापि घटात्मकत्वतदंशत्वप्रसङ्गात्। नच सन्मात्रस्य 'घटोऽस्ति' 'पटोऽस्ति, इति वस्तुधर्मतयाऽवगतस्य द्रव्यत्वं कारणत्वं चोपपद्यते। व्यवहारयोग्यता हि सत्त्वम्। विरोधिव्यवहारयोग्यता तद्व्यवहारयोग्यस्यासत्त्वम्। द्रव्यमेवसदित्यभ्युपगमे क्रियादीनामसत्त्वप्रसङ्गः। क्रियादिषु*काशकुशावलम्बनेऽपि सर्वत्रैकरूपा सत्ता दुरुपपादा।सदात्म-

१. वि-पु. १-१-३१ ॥ —२. श्वे. ६. ८॥ — ३. मु. १-१-९ ॥
४. अष्टा. ३-२ ५४ ॥—५- श्वे. ६-७ ॥

* काशस्य कुशत्वेन-कुशस्थाने ग्रहणम्-काशकुशावलम्बनम्, अयुक्तमित्यर्थः ॥

नाच सर्वस्याभिन्नत्वे सर्वज्ञत्वेन सर्वस्वभावप्रतिसन्धानात्सर्वगुणदोपसङ्करप्रसङ्गश्च पूर्वमेवोक्तः । अतो यथोक्तप्रकारमेवानन्यत्वम् ॥ १५ ॥

अथोच्येत—एकस्यैवावस्थान्तरयोगेऽपि बुद्धिशब्दान्तरादयो बालत्वयुवत्वादिपु दृश्यन्ते, मृदारुहिरण्यादिपु द्रव्यान्तरत्वेऽपि दृश्यन्ते, तत्र मृद्घटादिपु कार्यकारणेपु बुद्धिशब्दान्तरादयोऽवस्थानिबन्धना एवेति कुतो निर्णीयते—इति । तत्रोत्तरम्—

भावे चोपलब्धेः २। १। १६॥

कुण्डलादिकार्यसद्भावे च कारणभूतहिरण्यस्योपलब्धेः—'इदं कुण्डलं हिरण्यम्' इति हिरण्यत्वेन प्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः । न चैवं हिरण्यादिपु द्रव्यान्तरेपु मृदादय उपलभ्यन्ते । अतो बालयुवादिवत्कारणभूतमेव द्रव्यमवस्थान्तरापन्नं कार्यमिति गीयते; द्रव्यान्तरत्वादिनाऽप्यभ्युपेतेनावस्थान्तरयोगेन बुद्धिशब्दान्तरादिपूपपन्नेष्वनुपलब्धद्रव्यान्तरकल्पनानुपपत्तेश्च । नच जातिनिबन्धनेयं प्रत्यभिज्ञा, जात्याश्रयभूतद्रव्यान्तरानुपलब्धेः एकमेव हेमजातीयं द्रव्यं कार्यकारणोभयावस्थं दृश्यते । नच द्रव्यभेदे समवायिकारणानुवृत्त्या कार्ये प्रतिसन्धानमिति वक्तुं शक्यम्, द्रव्यान्तरत्वे संस्थाश्रयानुवृत्तिमात्रेण तदाश्रितद्रव्यान्तरे प्रतिसन्धानानुपपत्तेः । गोमयादिकार्ये वृश्चिकादौ गोमयादिप्रतिसन्धानं न दृश्यत इति चेन्न, तत्राप्याद्यकारणभूतपृथिवीद्रव्यप्रत्यभिज्ञानात् । अग्निकार्ये धूमे अग्निप्रत्यभिज्ञानं दृश्यत इति चेत्—भवतु, न तत्र प्रत्यभिज्ञानम्; तथापि न दोषः, अग्नेर्निमित्तकारणमात्रत्वात् । अग्निसंयुक्तार्द्रेन्धनाद्धि धूमो जायते । गन्धैक्याचार्द्रेन्धनकार्यमेव धूमः । अतः कार्यभावे च तदेवेदमित्युपलब्धेर्बुद्धिशब्दान्तरादयोऽवस्थाभेदमात्रनिबन्धना इत्यवगम्यते । तस्मात्कारणादनन्यत्कार्यम् ॥ १६ ॥

इतश्च—

सत्त्वाच्चापरस्य । २। १ १७॥

अपरस्य कार्यस्य सत्त्वाच कारणात्कार्यस्यानन्यत्वम् । लोकवेदयोर्हि कार्यमेव कारणतया व्यपदिश्यते; यथा लोके 'सर्वमिदं

घटशरावादिकं पूर्वाह्णे मृतिकैवासीत्' इति; वेदे च १"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इति ॥ १७ ॥

असद्व्यपदेशान्नेतिचेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषाद्युक्तेश्शब्दान्तराच्च । २। १। १८॥

यदुक्तं कारणे कार्यस्य सत्त्वं लोकवेदाभ्यामवगम्यत इति; तदयुक्तम्, असद्व्यपदेशात्१"असदेवेदमग्र आसीत्"२"असद्वा इदमग्र आसीत्" ३"इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीत्" इति; लोके च "सर्वमिदं घटशरावादिकं पूर्वाह्णे नासीत्" इति। अतो यथोक्तं नोपपद्यत इति चेत्‌तन्न, धर्मान्तरेण तथा व्यपदेशात्। स खल्वसद्व्यपदेशस्तस्यैव कार्यद्रव्यस्य पूर्वकाले धर्मान्तरेण–संस्थानान्तरेण; न भवदभिप्रेतेन तुच्छत्वेन। सत्त्वासत्त्वे हि द्रव्यधर्मावित्युक्तम्। तत्र सत्त्वधर्माद्धर्मान्तरमसत्त्वम्। इदं शब्दनिर्दिष्टस्य जगतस्सत्त्वधर्मो नामरूपे; असत्त्वधर्मस्तु तद्विरोधिनी सूक्ष्मावस्था। अतो जगतो नामरूपयुक्तस्य तद्विरोधिसूक्ष्मदशापत्तिरसत्त्वम्। कथमिदमवगम्यते – वाक्यशेषाद्युक्तेः शब्दान्तराच्च—वाक्यशेषस्तावत् ४"इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीत्" इत्यत्र ५"तदसदेव सन्मनोऽकुरुत स्यामिति" इति; अनेन वाक्यशेषगतेन मनस्कारलिङ्गेनासच्छब्दार्थे तुच्छातिरिक्ते निश्चिते, तदैकार्थ्यात् ६"असदेवेदम्" इत्यादिष्वप्यसच्छब्दस्यायमेवार्थ इति निश्चीयते। युक्तेश्चासत्त्वस्य धर्मान्तरत्वमवगम्यते; युक्तिर्हि सत्त्वासत्त्वे पदार्थधर्मावित्यवगमयति। मृद्द्रव्यस्य पृथुबुध्नोदराकारयोगो घटोऽस्तीति व्यवहारहेतुः; तस्यैव तद्विरोध्यवस्थान्तरयोगो घटो नास्तीति व्यवहारहेतुः; तत्र कपालाद्यवस्थायास्तद्विरोधित्वेन सैव घटावस्थस्य नास्तीति व्यवहारहेतुः।

१. छा. ६-२-१, ;—२. अथर्वब्राह्मणे ६-१-१। ३. यजुषि २-अष्ट. २ प्र. ६-अनु॥
४. यजुषि. २-अष्ट. २ प्र. ६-अनु ॥ — ५.छा. ६-२-१ ॥ —
६. छा. ६-२-२ ॥

नच तद्व्यतिरिक्तो घटाभावो नाम कश्चिदुपलभ्यते; नच कल्प्यते, तावतैवाभावव्यवहारोपपत्तेः। तथा शब्दान्तराच्च पूर्वकाले धर्मान्तरयोग एवावगम्यते। शब्दान्तरञ्च पूर्वोदाहृतम् १"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादिकम्। तत्र हि २"कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यात्" इति तुच्छत्वमाक्षिप्य २"सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्" इति स्थापितम्। ३"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इति सुस्पष्टमुक्तम् ॥ १८॥

इदानीं कार्यस्य कारणादनन्यत्वे निदर्शनद्वयं द्वाभ्यां सूत्राभ्यां दर्शयति—

पटवच्च । २ । १ । १९ ॥

यथा तन्तव एव व्यतिषङ्गविशेषभाजः पट इति नामरूपकार्यान्तरादिकं भजन्ते; तद्वद्ब्रह्मापि ॥ १९ ॥

यथा च प्राणादिः । २ । १ । २० ॥

यथा च वायुरेक एव शरीरे वृत्तिविशेषं भजमानः प्राणापानादिनामरूपकार्यान्तराणि भजते; तद्वद्ब्रह्मैकमेव विचित्रस्थिरत्रसरूपं जगद्भवतीति परमकारणात्परस्माद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वं जगतस्सिद्धम् ॥ २० ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आरम्भणाधिकरणम् ॥ ६ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये इतरव्यपदेशाधिकरणम् ॥ ७ ॥)

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः २।१।२१

जगतो ब्रह्मानन्यत्वं प्रतिपादयद्भिः ४"तत्त्वमसि" ५"अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादिभिर्जीवस्यापि ब्रह्मानन्यत्वं व्यपदिश्यत इत्युक्तम्; तत्रेदं चोद्यते; यदीतरस्य जीवस्य ब्रह्मभावोऽमीभिर्वाक्यैर्व्यपदिश्यते, तदा ब्र-

१. छा. ६-२-१ ॥ २. छा. ६-२-२ ॥ ३. बृ. ३-४-७ ॥
४. छा ६-८-७ ॥ ५. बृ. ६-४-५ ॥

ह्मणः सार्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पत्वादियुक्तस्यात्मनो हितरूपजगदकरणमहितरूपजगत्करणमित्यादयो दोषाः प्रसज्येरन् । आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकानन्तदुःखाकरं चेदं जगत् ; नचेदृशे स्वानर्थे स्वाधीनो बुद्धिमान प्रवर्तते । जीवाद्ब्रह्मणो भेदवादिन्यश्श्रुतयो जगद्ब्रह्मणोरनन्यत्वं वदता त्वयैव परित्यक्ताः, भेदे सत्यनन्यत्वासिद्धेः ॥

औपाधिकभेदविषया भेदश्रुतयः स्वाभाविकाभेदविषयाश्चाभेदश्रुतय इतिचेत्-तत्रेदं वक्तव्यम्-स्वभावतः स्वस्मादभिन्नं जीवं किमनुपहितं जगत्कारणं ब्रह्म जानाति वा, नवा; न जानाति चेत्-सर्वज्ञत्वहानिः; जानाति चेत्-स्वस्मादभिन्नस्य जीवस्य दुःखं स्वदुःखमिति जानतो ब्रह्मणो हिताकरणाहितकरणादिदोषप्रसक्तिरनिवार्या ॥

जीवब्रह्मणोरज्ञानकृतो भेदः, तद्विषया भेदश्रुतिरिति चेत्-तत्रापि जीवाज्ञानपक्षे पूर्वोक्तो विकल्पस्तत्फलं च तदवस्थम् । ब्रह्माज्ञानपक्षे स्वप्रकाशस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानसाक्षित्वं तत्कृतजगत्सृष्टिश्च न सम्भवति । अज्ञानेन प्रकाशस्तिरोहितश्चेत्-तिरोधानस्य प्रकाशनिवृत्तिकरत्वेन प्रकाशस्यैव स्वरूपत्वात्स्वरूपनिवृत्तिरेवेति स्वरूपनाशादिदोषसहस्रं प्रागेवोदीरितम् । अत इदमसङ्गतं ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम् ॥ २१ ॥

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्तेऽभिधीयते—

अधिकन्तु भेदनिर्देशात् । २ । १ । २२ ॥

तु शब्दः पक्षं व्यावर्तयति; आध्यात्मिकादिदुःखयोगार्हात्प्रत्यगात्मनः अधिकं अर्थान्तरभूतं ब्रह्म । कुतः, भेदनिर्देशात्-प्रत्यगात्मनो हि भेदेन निर्दिश्यते परं ब्रह्म [१]"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" [२]"पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" [३]"स कारणं करणाधिपाधिपः" [४]"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति

१. बृ. ४-७-२२. मा. पा ॥　　२. श्वे. १ ६ ॥　　३. श्वे. ६-६ ॥
४. श्वे. ४-६ ॥

अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" १"ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ" २"प्राज्ञेनाऽत्मना सम्परिष्वक्तः" ३"प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढः" ४"अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः" ५"प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" ६"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" ७"योऽव्यक्तमन्तरे सञ्चरन् यस्याव्यक्तं शरीरं यमव्यक्तं न वेद योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इत्यादिभिः ॥ २२ ॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः । २ । १ । २३ ॥

यथाऽश्मकाष्ठलोष्टतृणादीनामत्यन्तहेयानां सततविकारास्पदानामचिद्विशेषाणां निरवद्यनिर्विकारनिखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानस्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणानन्तज्ञानानन्दैकस्वरूपनानाविधानन्तमहाविभूति ब्रह्मस्वरूपैक्यं यथा नोपपद्यते, तथा चेतनस्याप्यनन्तदुःखयोगार्हस्य खद्योतकल्पस्य ८"अपहतपाप्मा" इत्यादिवाक्यावगतसकलहेयप्रत्यनीकानवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणाकरब्रह्मभावानुपपत्तिः । सामानाधिकरण्यनिर्देशः ९"यस्यात्मा शरीरम्" इत्यादिश्रुतेर्जीवस्य ब्रह्मशरीरत्वाद्ब्रह्मणो जीवशरीरतया तदात्मत्वेनावस्थितेर्जीवप्रकारब्रह्मप्रतिपादनपरत्वेनाविरोधी, प्रत्युतैतस्यार्थस्योपपादकश्चेति १०"अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः" इत्यादिभिरसकृदुपपादितम् । अतस्सर्वावस्थं ब्रह्म चिदचिद्वस्तुशरीरमिति सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कारणम् ; तदेव ब्रह्म स्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरं जगदाख्यं कार्यमिति जगद्ब्रह्मणोस्सामानाधिकरण्योपपत्तिः, जगतो ब्रह्मकार्यत्वम् , ब्रह्मणोऽनन्यत्वम् , अचिद्वस्तुनो जीवस्य

१. श्वे. १६ ॥—२. बृ. ६-३-२१ ॥—३. बृ. ६-३-३५ ॥—४. श्वे. ४ ९ ॥—५. श्वे. ६-१६ ॥ ६. श्वे. ६-१३ ॥—७. सुबाल. ७ ॥—८. छा. ८-१-५— ९. बृ. ५-७ २२. मा. पा ॥—१०. शारी. १-४-२१ ॥

च ब्रह्मणश्च परिणामित्वदुःखित्वकल्याणगुणाकरत्वस्वभावासङ्करस-र्वश्रुत्यविरोधश्च भवति। १"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेव" इत्यवि-भागावस्थायामप्यचिद्युक्तजीवस्य ब्रह्मशरीरतया सूक्ष्मरूपेणावस्थानम-वश्याभ्युपगन्तव्यम्. २"वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्" ३"न कर्मावि-भागादितिचेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च" इति सूत्रद्वयोदितत्वा-त्तदानीमपि सूक्ष्मरूपेणावस्थानस्य : अविभागस्तु नामरूपविभागाभावा-दुपपद्यते। अतो ब्रह्मकारणत्वं सम्भवत्येव। ये पुनरस्यैव जीवस्यावि-द्यावियुक्तावस्थामभिप्रेत्येमं भेदं वर्णयन्ति, तेषामिदं सर्वमसङ्गतं स्यात्; न हि तदवस्थस्य सर्वज्ञत्वं, सर्वेश्वरत्वं, समस्तकारणत्वं, सर्वात्मत्वं, सर्वनियन्तृत्वमित्यादीनि सन्ति। अनेनैव रूपेण ह्याभिः श्रुतिभिः प्रत्यगात्मनो भेदः प्रतिपाद्यते; तस्य सर्वस्याविद्यापरिकल्पितत्वात्। नचाविद्यापरिकल्पितस्याविद्यावस्थायां शुक्तिकारजतादिभेदवत्पारमार्थिक-भेदोऽत्र सूत्रकारेण ४"अधिकन्तु भेदनिर्देशात्" इत्यादिषु प्रतिपाद्यते; ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति जिज्ञास्यतया प्रक्रान्तस्य ब्रह्मणो जगज्जन्मादि-कारणस्य वेदान्तवेद्यत्वम्, तस्य च स्मृतिन्यायविरोधपरिहारश्च क्रियते। ५"अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम्" ६"न तु दृष्टान्तभावात्" इति सूत्रद्वय-मेतदधिकरणसिद्धमनुवदति; तत्र हि विलक्षणयोः कार्यकारणभावस-म्भव एवाधिकरणार्थः। ७"असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात्" इति च पूर्वाधिकरणस्थमनुवदति ॥ २३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये इतरव्यपदेशाधिकरणम् ॥ ७ ॥

— —:०:— —

१. छा. ६-२-१ ॥—२. शारी. २-१-३४ ॥—३. शारी. २-१-३५ ॥—४. शारी. २-१-२२ ॥—५ शारी. २-१-८ ॥—६. शारी २-१-९ ॥—७. शारी. २-१-७ ॥—

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये उपसंहारदर्शनाधिकरणम्)

उपसंहारदर्शनान्नेतिचेन्न क्षीरवद्धि । २। १। २४॥

परस्य ब्रह्मणस्सर्वज्ञस्य सत्यसङ्कल्पस्य स्थूलसूक्ष्मावस्थसर्वचेतनाचेतनवस्तुशरीरतया सर्वप्रकारत्वेन सर्वात्मत्वं सकलेतरविलक्षणत्वं चाविरुद्धमिति स्थापितम् । इदानीं सत्यसङ्कल्पस्य परस्य ब्रह्मणः सङ्कल्पमात्रेण विचित्रजगत्सृष्टियोगो न विरुद्ध इति स्थाप्यते । ननु च परिमितशक्तीनां कारककलापोपसंहारसापेक्षत्वदर्शनेन सर्वशक्तेर्ब्रह्मणः कारककलापानुपसंहारेण जगत्कारणत्वविरोधः कथमाशङ्क्यते ? ; उच्यते-लोके तत्तत्कार्यजननशक्तियुक्तस्यापि तत्तदुपकरणापेक्षत्वदर्शनात्सर्वशक्तियुक्तस्य परस्य ब्रह्मणोऽपि तत्तदुपकरणविरहिणः स्रष्टृत्वं नोपपद्यत इति कस्यचिन्मन्दधियश्शङ्का जायत इति सा निराक्रियते । घटपटादिकारणभूतानां कुलालकुविन्दादीनां तज्जननसामर्थ्ये सत्यपि कानिचिदुपकरणान्युपसंहृत्यैव जनयितृत्वं दृश्यते । तज्जननाशक्ताः कारककलापोपसंहारेऽपि जनयितुं न शक्नुवन्ति; शक्ताः पुनः कारककलापोपसंहारे जनयन्तीत्येतावानेव विशेषः । ब्रह्मणोऽपि सर्वशक्तेः सर्वस्य जनयितृत्वं तदुपकरणानामनुपसंहारे नोपपद्यते । प्राक्सृष्टेश्चासहायत्वं –१"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" २"एको ह वै नारायण आसीत्" इत्यादिषु प्रतीयते । अतस्स्रष्टृत्वं नोपपद्यत इत्येवं प्राप्तम् । तदिदमाशङ्कते— उपसंहारदर्शनान्नेतिचेत्–इति ॥

(सिद्धान्तः)

परिहरति—न क्षीरवद्धि–इति ; न सर्वेषां कार्यजननशक्तानामुपसंहारसापेक्षत्वमस्ति ; यथा क्षीरजलादेर्दधिहिमजननशक्तस्य तज्जनने; एवं ब्रह्मणोऽपि स्वयमेव सर्वजननशक्तेस्सर्वस्य जनयितृत्वमुपपद्यते ।

---

१. छा. ६-२-१ ॥—२. महो. १- १॥

हीति प्रसिद्धवन्निर्देशश्चोद्यस्य मन्दताख्यापनाय। क्षीरादिष्वातञ्चनाद्य-पेक्षा न दध्यादिभावाय ; अपितु शैघ्र्यार्थं रसविशेषार्थं वा ॥

देवादिवदपि लोके । २ । १ । २५ ॥

यथा देवादयः स्वेस्वे लोके सङ्कल्पमात्रेण स्वापेक्षितानि सृजन्ति; तथाऽसौ पुरुषोत्तमः कृत्स्नं जगत्सङ्कल्पमात्रेण सृजति । देवादीनां वेदावगतशक्तीनां दृष्टान्ततयोपादानम्, ब्रह्मणो वेदावगतशक्तेस्सुखग्रहणायेति प्रतिपत्तव्यम् ।

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये उपसंहारदर्शनाधिकरणम् ॥ ८ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरम् ॥ ९ ॥)

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ।२। १। २६ ॥

१"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" २"इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीत्" ३'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादिषु कारणावस्थायां ब्रह्मैकमेव निरवयवमासीदिति कारणावस्थायां निरस्तचिदचिद्विभागतया निरवयवं ब्रह्मैवासीदित्युक्तम् ; तदविभागमेकं निरवयमेव ब्रह्म ४"बहु स्याम्" इति सङ्कल्प्य आकाशवाय्वादिविभागं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तक्षेत्रज्ञविभागं चाभवदितिचोक्तम्; एवं सति तदेव परं ब्रह्म कृत्स्नं कार्यत्वेनोपयुक्तमित्यभ्युपगन्तव्यम् । अथ चिदंशः क्षेत्रज्ञविभागविभक्तः; अचिदंशश्चाकाशादिविभागविभक्तः इत्युच्यते, तदा "सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्" "ब्रह्मैकमेव" "आत्मैक एव" इत्येवमादयः कारणभूतस्य ब्रह्मणो निरवयवत्ववादिनश्शब्दाः कुप्येयुः-बाधिता भवेयुः । यद्यपि सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कारणम्, स्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कार्यमित्यभ्युपगम्यते; तथापि शरीरांशस्यापि का-

१ छा. ६-२-१॥—२. २. अष्ट. २-प्र. ८-अनु॥ ३. ऐतरेय. १-१-१ ॥
४. छा. ६-२-३ ॥

यैत्वाभ्युपगमादुक्तदोषो दुर्वारः । तस्य निरवयवस्य बहुभवनं च नोपपद्यते । कार्यत्वानुपयुक्तांशस्थितिश्च नोपपद्यते । तस्मादसमञ्जसमिवाभाति । अतो ब्रह्मकारणत्वं नोपपद्यते ॥

इत्याक्षिप्ते समाधत्ते—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् । २ । १ । २७ ॥

तु शब्द उक्तदोषं व्यावर्तयति । नैवमसामञ्जस्यम्; कुतः ? श्रुतेः श्रुतिस्तावन्निरवयवत्वं ब्रह्मणस्ततो विचित्रसर्गं चाह । श्रौतेऽर्थे यथाश्रुति प्रतिपत्तव्यमित्यर्थः । ननु च श्रुतिरपि अग्निना सिञ्चेदितिवत्परस्परान्वयायोग्यमर्थं प्रतिपादयितुं न समर्था; अत आह–शब्दमूलत्वादिति । शब्दैकप्रमाणकत्वेन सकलेतरवस्तुविसजातीयत्वादस्यार्थस्य विचित्रशक्तियोगो न विरुद्धयत इति न सामान्यतो दृष्टं साधनं, दूषणं वा अर्हति ब्रह्म ॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि । २ । १ । २८ ॥

किंच—एवं वस्त्वन्तरसंबन्धिनो धर्मस्य वस्त्वन्तरे चारोपणे सति, अचेतने घटादौ दृष्टा धर्मास्तद्विसजातीये चेतने नित्ये आत्मन्यपि प्रसज्यन्ते । तदप्रसक्तिश्च भावस्वभाववैचित्र्यादित्याह–विचित्राश्च हि–इति ; यथा 'अग्निजलादीनामन्योन्यविसजातीयानामौष्ण्यादिशक्तयश्च विसजातीया दृश्यन्ते ; तद्वल्लोकदृष्टविसजातीये परे ब्रह्मणि तत्रतत्रादृष्टास्सहस्रशः शक्तयस्सन्तीति न किञ्चिदनुपपन्नम । यथोक्तं भगवता पराशरेण—१"निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः । कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते" इति सामान्यदृष्ट्या परिचोद्य "शक्तयस्सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः । यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भा-

१. वि. पु. अं. १ अ. ३-१-२-३ ॥

वशक्तयः ॥ भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता" इति। श्रुतिश्च १"किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा पृच्छतेदुतद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्। ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्"इति। सामान्यतो दृष्टं चोद्यं सर्ववस्तुविलक्षणे परे ब्रह्मणि नावतरतीत्यर्थः॥

इतश्च—

स्वपक्षदोषाच्च । २ । १ । २९ ॥

स्वपक्षे-प्रधानादिकारणवादे, लौकिकवस्तुविसजातीयत्वाभावेन प्रधानादेः लोकदृष्टा दोषास्तत्र भवेयुरिति सकलेतरविलक्षणं ब्रह्मैव कारणमभ्युपगन्तव्यम्। प्रधानं च निरवयवम्; तस्य निरवयवस्य कथमिव महदादिविचित्रजगदारम्भ उपपद्यते। सत्त्वं रजस्तम इति तस्यावयवा विद्यन्त इति चेत्—तत्रेदं विवेचनीयम्; किं सत्त्वरजस्तमसां समूहः प्रधानम्, उत सत्त्वरजस्तमोभिरारब्धं प्रधानम्; अनन्तरे कल्पे प्रधानं कारणमिति स्वाभ्युपगमविरोधः; स्वाभ्युपेतसङ्ख्याविरोधश्च; तेषामपि निरवयवानां कार्यारम्भविरोधश्च। समूहपक्षे च तेषां निरवयवत्वेन प्रदेशभेदमनपेक्ष्य संयुज्यमानानां न स्थूलद्रव्यारम्भकत्वसिद्धिः। परमाणुकारणवादेऽपि तथैव अणवो निरंशाः निष्प्रदेशाः प्रदेशभेदमनपेक्ष्य परस्परं संयुज्यमाना अपि न स्थूलकार्यारम्भाय प्रभवेयुः॥

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् । २ । १ । ३० ॥

सकलेतरवस्तुविसजातीया परा देवता सर्वशक्त्युपेता च। तथैव परां देवतां दर्शयन्ति हि श्रुतयः—२"पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च "तथा ३"अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः" इति सकलेतरविसजातीयतां परस्या देवता-

१. यजुषि. २ अष्ट. २-प्र ७-अनु.॥—२. श्वे.६-७॥—३. छा. ८-॥१-

याः प्रतिपाद्य १"सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः" इति सर्वशक्तियोगं प्रतिपादयन्ति। तथा २"मनोमयः प्राणशरीरो भारूपस्सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामस्सर्वगन्धस्सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः" इति च ॥

विकरणत्वान्नेतिचेत्तदुक्तम् । २ । १ । ३१ ॥

यद्यप्येकमेव ब्रह्म सकलेतरविलक्षणं सर्वशक्तिः तथापि ३"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" इति करणविरहिणस्तस्य न कार्यारम्भसम्भवतीति चेत्—तत्रोत्तरं—"शब्दमूलत्वात्" । "विचित्राश्चहि" इत्युक्तम् । शब्दैकप्रमाणं सकलेतरविलक्षणं तत्तत्करणविरहेणापि तत्तकार्यसमर्थमित्यर्थः । तथाच श्रुतिः—४"पश्यत्यचक्षुस्स शृणोत्यकर्णः अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" इत्येवमाद्या ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् ॥ ९ ॥

———

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रयोजनवत्त्वाधिकरम् ॥ १० ॥)

———

न प्रयोजनवत्त्वात् । २ । १ । ३२ ॥

यद्यपीश्वरः प्राक्सृष्टेरेक एव सन् सकलेतरविलक्षणत्वेन सर्वार्थशक्तियुक्तः स्वयमेव विचित्रं सगत्स्रष्टुं शक्नोति; तथापीश्वरकारणत्वं न सम्भवति, प्रयोजनवत्त्वाद्विचित्रसृष्टेः, ईश्वरस्य च प्रयोजनाभावात्। बुद्धिपूर्वकारिणामारम्भे द्विविधं हि प्रयोजनं—स्वार्थः परार्थो वा । नहि परस्य ब्रह्मणस्स्वभावत एवावाप्तसमस्तकामस्य जगत्सर्गेण किंचन प्रयोजनमनवाप्तमवाप्यते । नापि परार्थः, अवाप्तकामस्य परार्थता हि परानुग्रहेण भवति; नचेदृशगर्भजन्मजरामरणनरकादिनानाविधानन्तदुःखबहुलं जगत्करुणया सृजति; प्रत्युत सुखैकतानमेव जनयेज्जगत्करुणया सृजन् । अतः प्रयोजनाभावाद्ब्रह्मणः कारणत्वं नोपपद्यत इति ॥ ३२ ॥

१. छा. ८-१-५ ॥ २. छा. ३-१४-२ ॥ ३. श्वे. ६-८ ॥
४. श्वे. ३-१९ ॥

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् । २ । १ । ३३ ॥

अवाप्तसमस्तकामस्य परिपूर्णस्य स्वसङ्कल्पविकार्यविविधविचित्रचिदचिन्मिश्रजगत्सर्गे लीलैव केवला प्रयोजनम्, लोकवत्-यथा लोके सप्तद्वीपां मेदिनीमधितिष्ठतस्संपूर्णशौर्यवीर्यपराक्रमस्यापि महाराजस्य केवललीलैकप्रयोजनाः कन्तुकाद्यारम्भा दृश्यन्ते; तथैव परस्यापि ब्रह्मणः स्वसङ्कल्पमात्रावक्लृप्तजगज्जन्मस्थितिध्वंसादेर्लीलैव प्रयोजनमिति निरवद्यम् ॥

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति । २ । १ । ३४ ॥

यद्यपि परमपुरुषस्य सकलेतरचिदचिद्वस्तुविलक्षणस्याचिन्त्यशक्तियोगात्प्राक्सृष्टेरेकस्य निरवयवस्यापि विचित्रचिदचिन्मिश्रजगत्सृष्टिस्सम्भाव्येत, तथापि देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मनोत्कृष्टमध्यमापकृष्टसृष्ट्या पक्षपातः प्रसज्येत । अतिघोरदुःखयोगकरणान्नैर्घृण्यं चावर्जनीयमिति । तत्रोत्तरं-न सापेक्षत्वादिति; न प्रसज्येयातां वैषम्यनैर्घृण्ये, कुतः सापेक्षत्वात्-सृज्यमानदेवादिक्षेत्रज्ञकर्मसापेक्षत्वाद्विषमसृष्टेः । देवादीनां क्षेत्रज्ञानां देवादिशरीरयोगं तत्तत्कर्मसापेक्षं दर्शयन्ति हि श्रुतिस्मृतयः-[1]"साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन कर्मणा", तथा भगवता पराशरेणापि देवादिवैचित्र्यहेतुः सृज्यमानानां क्षेत्रज्ञानां प्राचीनकर्मशक्तिरेवेत्युक्तं—[2]"निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि । प्रधानकारिणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः ॥ निमित्तमात्रं मुक्त्वैव नान्यत्किंचिदपेक्षते । नीयते तपतां श्रेष्ठ स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम्" इति । स्वशक्त्या स्वकर्मणैव देवादिवस्तुताप्राप्तिरिति ॥

१. बृ. ६-४-२ ॥ २. वि. पु. १-४-५१, ५२ ॥

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च । २ । १ । ३५ ॥

प्राक्सृष्टेः क्षेत्रज्ञा न सन्ति; कुतः ? अविभागश्रवणात्, [१]"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इति; अतस्तदानीं तदभावात्तत्कर्म न विद्यते; कथं तदपेक्षं सृष्टिवैषम्यमित्युच्यत इतिचेत्—न, अनादित्वात् क्षेत्रज्ञानां तत्कर्मप्रवाहाणां च । तदनादित्वेऽप्यविभाग उपपद्यते च; यतस्तत क्षेत्रज्ञवस्तु परित्यक्तनामरूपं ब्रह्मशरीरतयापि पृथग्व्यपदेशानर्हमतिसूक्ष्मम् । तथाऽनभ्युपगमे अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशप्रसङ्गश्च । उपलभ्यते च तेषामनादित्वं—[२]" न जायते म्रियते वा विपश्चित " इति । सृष्टिप्रवाहानादित्वं च[३]"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत" इत्यादौ । [४]"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इति नामरूपव्याकरणमात्रश्रवणात् क्षेत्रज्ञानां स्वरूपानादित्वं सिद्धम् । स्मृतावपि [५]"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" इति । अतस्सर्वविलक्षणत्वात्सत्यसंकल्पत्वात्, लीलैकप्रयोजनत्वात्, क्षेत्रज्ञकर्मानुगुण्येन विचित्रसृष्टियोगाद्ब्रह्मैव जगत्कारणम् ॥ ३५ ॥

सर्वधर्मोपपत्तेश्च । २ । १ । ३६ ॥

प्रधानपरमाण्वादीनां कारणत्वे यद्धर्मवैकल्यमुक्तं, वक्ष्यमाणं च तस्य सर्वस्य धर्मजातस्य कारणत्वोपपादिनो ब्रह्मण्युपपत्तेश्च ब्रह्मैव जगत्कारणमिति स्थितम् ॥ ३६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् ॥ १० ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये

द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

———

१. छा. ६-२-१ ॥—२. कठ १-२-१८ ॥—३. तै. नारा. १-१४ ॥ ४. बृ. ३-४-७ ॥—५. गी. १३-१९ ॥

* श्रीमते रामानुजाय नमः *

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

(द्वितीयाध्याये-द्वितीयपादे-रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ॥१॥)

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रवृत्तेश्च । २ । २ । १ ॥

उक्तं जगज्जन्मादिकारणं परं ब्रह्मेति ; तत्र परैरुद्भाविताश्च दोषाः परिहृताः ; इदानीं स्वपक्षरक्षणाय परपक्षाः प्रतिक्षिप्यन्ते ; इतरथा कस्यचिन्मन्दधियस्तेषां पक्षाणां युक्त्याभासमूलतामजानतः प्रामाणिकत्वशङ्कया वैदिकपक्षे किंचिच्छ्रद्धावैकल्यं जायेतापि; अतः परपक्षप्रतिक्षेपायानन्तरः पादः प्रवर्तते। तत्र प्रथमं तावत्कापिलमतं निरस्यते. वैदिकानुमतसत्कार्यवादाद्यर्थसङ्ग्रहेणैतस्य सत्पक्षनिक्षेपसम्भावनाभ्रमहेतुत्वातिरेकात् । १"ईक्षतेर्नाशब्दम्" इत्यादिभिः वैदिकवाक्यानामतत्परत्वमात्रमुक्तम् ; अत्रैव तत्पक्षस्वरूपप्रतिक्षेपः क्रियत इति न पौनरुक्त्याशङ्का । एषा साङ्ख्यानां दर्शनस्थितिः–२ 'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयस्सप्त । षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ” इति तत्त्वसङ्ग्रहः । मूलप्रकृतिर्नाम सुखदुःखमोहात्मकानि लाघवप्रकाशचलनोपष्टम्भनगौरवावरणकार्याण्यत्यन्तातीन्द्रियाणि कार्यैकनिरूपणविवेकान्यन्यूनानतिरेकाणि समतामुपेतानि सत्त्वरजस्तमांसि द्रव्याणि । सा च सत्त्वरजस्तमसां साम्यरूपा प्रकृतिरेका स्वयमचेतनाऽनेकचेतनभोगापवर्गार्था नित्या सर्वगता सततविक्रिया न कस्यचिद्विकृतिः, अपितु पर

---

१. शारी. १-१-५ ॥—२. सांख्यतत्त्वकौमुदी. ३. श्लो ॥

मकारणमेव; महदाद्यास्तद्विकृतयोऽन्येषां च प्रकृतयस्सप्त; महानहङ्कारः शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रम्—इति। तत्राहङ्कारस्त्रिधा—वैकारिकस्तैजसो भूतादिश्च, क्रमात्सात्त्विको राजसस्तामसश्च; तत्र वैकारिकस्सात्त्विक इन्द्रियादिः; भूतादिस्तामसो महाभूतहेतुभूततन्मात्रहेतुः; तैजसो राजसस्तूभयोरनुग्राहकः; आकाशादिनि पञ्च महाभूतानि श्रोत्रादीनि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि वागादीनि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि मन इति केवलविकाराः षोडश; पुरुषस्तु निष्परिणामत्वेन न कस्यचित्प्रकृतिः न कस्यचिद्विकृतिः; तत एव निर्धर्मकश्चैतन्यमात्रवपुर्नित्यो निष्क्रियस्सर्वगतः प्रतिशरीरं भिन्नश्च; निर्विकारत्वान्निष्क्रियत्वाच्च तस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च न सम्भवति। एवंभूतेऽपि तत्त्वे मूढाः प्रकृतिपुरुषसन्निधिमात्रेण पुरुषस्य चैतन्यं प्रकृतावध्यस्य प्रकृतेश्च कर्तृत्वं स्फटिकमणाविव जपाकुसुमस्यारुणिमानं पुरुषेऽध्यस्य 'अहंकर्ता भोक्ता' इति मन्यन्ते। एवमज्ञानाद्भोगः, तत्त्वज्ञानाच्चापवर्गः। तदेतत्प्रत्यक्षानुमानागमैस्साधयन्ति। तत्र प्रत्यक्षसिद्धेषु पदार्थेषु नातीव विवादपदमस्ति। आगमोऽपि कपिलादिसर्वज्ञज्ञानमूल इति सोऽपि प्रथमे काण्डे प्रमाणलक्षणे निरस्तप्रायः। यदिदं प्रधानमेव जगत्कारणमित्यनुमानम्, तन्निरसनेन तन्मतं सर्वं निरस्तं भवतीति तदेव निरस्यते। तेचैवं वर्णयन्ति—कृत्स्नस्य जगत एकमूलत्वमवश्याभ्युपगमनीयम्, अनेकेभ्यः कार्योत्पत्त्यभ्युपगमे कारणानवस्थानात्। तन्तुप्रभृतयो ह्यवयवाः स्वांशभूतैष्षड्भिः पार्श्वैः परस्परं संयुज्यमाना अवयविनमुत्पादयन्ति; तेच तन्त्वादयः स्वावयवैस्तथाभूतैरुत्पाद्यन्ते; तेच तथाभूतैः स्वावयवैरिति परमाणुभिरपिस्वकीयैष्षड्भिः पार्श्वैस्संयुज्यमानैरेव स्वकार्योत्पादनमभ्युपेतव्यम्, अन्यथा प्रथिमानुपपत्तेः। परमाणवोऽप्यंशित्वेन स्वांशैस्तथैवोत्पाद्यन्ते, तेच स्वांशैरिति न क्वचित्कारणव्यवस्थितिः। अतः कारणव्यवस्थासिद्ध्यर्थमेकद्रव्यं विविधविचित्रपरिणामशक्तियुक्तं स्वयमप्रच्युतस्वरूपेव महदाद्यनन्तावस्थाश्रयः कारणमाश्रयणीयम्। तच्चैकं

कारणं गुणत्रयसाम्यरूपं प्रधानमिति तत्कल्पने हेतूनुपन्यस्यन्ति–१"भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च । कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य । कारणमस्त्यव्यक्तम् " इति । अयमर्थः–विश्वरूपमेव वैश्वरूप्यम्, विचित्रसन्निवेशं तनुभुवनादि कृत्स्नं जगत्; तच्च जगद्विचित्रसन्निवेशत्वेन कार्यभूतं तत्सरूपाव्यक्तकारणकम्; कुतः?, कार्यत्वात्; कार्यस्य हि सर्वस्य तत्सरूपात्कारणविशेषाद्विभागस्तस्मिन्नेवाविभागश्च दृश्यते; यथा घटमकुटादेः कार्यस्य तत्सरूपान्मृत्सुवर्णादेः कारणाद्विभागस्तस्मिन्नेव चाविभागः; अतो विश्वरूपस्य जगतस्तत्सरूपात्प्रधानादुत्पत्तिस्तस्मिन्नेव लयश्चेति प्रधानकारणकमेव जगत्। गुणत्रयसाम्यरूपं प्रधानमेव जगत्सरूपं कारणम्; सत्त्वरजस्तमोमयसुखदुःखमोहात्मकत्वाज्जगतः। यथा मृदात्मनाघटस्य मृद्द्रव्यमेव कारणम्; तदेव हि तदुत्पत्त्याख्यप्रवृत्तिशक्तिमत्, तथा दर्शनात्। अव्यक्तस्य गुणसाम्यरूपस्य देशतः कालतश्चापरिमितस्यैव कारणत्वं भेदानां महदहङ्कारतन्मात्रादीनां परिमितत्वादवगम्यते। महदादीनि च घटादिवत्परिमितानि कृत्स्नजगदुत्पत्तौ न प्रभवन्ति, अतस्त्रिगुणं जगद्गुणत्रयसाम्यरूपप्रधानैककारणमिति निश्चीयते ॥

अत्रोच्यते–रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रवृत्तेश्च–अनुमीयतइत्यनुमानम्; न भवदुक्तं प्रधानं विचित्रजगद्रचनासमर्थम्, अचेतनत्वे सति तत्स्वभावाभिज्ञानधिष्ठितत्वात्; यदेवं तत्तथा, यथा रथप्रासादादिनिर्माणे केवलदार्वादिकम्। दार्वादेरचेतनस्य तज्ज्ञानधिष्ठितस्य कार्यारम्भानुपपत्तेर्दर्शनात्, तज्ज्ञाधिष्ठितस्य कार्यारम्भप्रवृत्तेर्दर्शनाच्च न प्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं कारणमित्युक्तं भवति। चकारादन्वयस्यानैकान्त्यं समुच्चिनोति; न ह्यन्वितं शौक्ल्यगोत्वादि कारणत्वव्याप्तम्; न च वाच्यं मा भूदन्वितानामपि शौक्ल्यादिधर्माणां कारणत्वम्, द्रव्यस्य तु हेमादेः कार्येऽन्वितस्य कारणत्वव्याप्तिरस्त्येव; सत्त्वादीन्यपि द्रव्याणि कार्येऽन्वितानि कारण-

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी. १५, १६ ॥

त्वव्याप्तानि–इति ; यतस्सत्त्वादयो द्रव्यधर्माः, न तु द्रव्यस्वरूपम् ; सत्त्वादयो हि पृथिव्यादिद्रव्यगतलघुत्वप्रकाशादिहेतुभूतास्तत्स्वभावविशेषा एव ; न तु मृद्धिरण्यादिवद्द्रव्यतया कार्यान्विता उपलभ्यन्ते ; गुणा इत्येव च सत्त्वादीनां प्रसिद्धिः । यच्च कारणव्यवस्थासिद्धये जगतः एकमूलत्वमुक्तम् , तदपि सत्त्वादीनामनेकत्वान्नोपपद्यते । अत एव कारणव्यवस्था च न सिद्ध्यति । साम्यावस्थास्सत्त्वादय एव हि प्रधानमिति त्वन्मतम् । अतः कारणबहुत्वादनवस्था तदवस्थैव । न च तेषामपरिमितत्वेन व्यवस्थासिद्धिः, अपरिमितत्वे हि त्रयाणामपि सर्वगतत्वेन न्यूनाधिकभावाभावाद्वैषम्यासिद्धेः कार्यारम्भासम्भवात् । कार्यारम्भायैव परिमितत्वमवश्याश्रयणीयम् ॥

यत्र रथादिषु स्पष्टं चेतनाधिष्ठितत्वं दृष्टम् , तद्व्यतिरिक्तं सर्वं पक्षीकृतमित्याह—

पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि । २ । २ । २ ॥

यदुक्तं प्रधानस्य प्राज्ञानधिष्ठितस्य विचित्रजगद्रचनानुपपत्तिरिति ; तन्न, यतः पयोऽम्बुवत्प्रवृत्तिरुपपद्यते । पयसस्तावद्दधिभावेन परिणममानस्यानन्यापेक्षस्याऽऽशुपरिस्पन्दप्रभृतिपरिणामपरम्परा स्वत एवोपपद्यते ; यथा च वारिदविमुक्तस्याम्बुन एकरसस्य नारिकेलतालचूतकपित्थनिम्बतिन्त्रिण्यादिविचित्ररसरूपेण परिणामप्रवृत्तिः स्वत एव दृश्यते ; तथा प्रधानस्यापि परिणामस्वभावस्यान्यानधिष्ठितस्यैव प्रतिसर्गावस्थायां सदृशपरिणामेनावस्थितस्य सर्गावस्थायां गुणवैषम्यनिमित्तविचित्रपरिणाम उपपद्यते । यथोक्तं १"परिणामतस्सलिलवत्प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्" इति । तदेवमव्यक्तमनन्यापेक्षं प्रवर्तत इति चेन्न—अत उत्तरं–तत्रापि–इति ; यत् क्षीरजलादिदृष्टान्ततया निदर्शितम् , तत्रापि प्राज्ञानधिष्ठाने प्रवृत्तिर्नोपपद्यते ; तदपि पूर्वत्र पक्षीकृतमित्यभिप्रायः । २"उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि" इत्यत्र दृष्टपरिकरान्तर-

१. साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी. १६ ॥—२. शा.ी. २-१-२४ ॥

ष्ठितस्यापि स्वासाधारणपरिणाम उपपद्यत इत्येतावदुक्तम्, न प्राज्ञाधिष्ठितत्वं पराकृतम्, [1]"योऽप्सु तिष्ठन्" इत्यादिश्रुतेः॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्।२।२।३॥

इतश्च सत्यसङ्कल्पेश्वराधिष्ठानानपेक्षपरिणामित्वे सर्गव्यतिरेकेण प्रतिसर्गावस्थयाऽनवस्थितिप्रसङ्गाच्च न प्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं कारणम्; प्राज्ञाधिष्ठितत्वे तस्य सत्यसङ्कल्पत्वेन सर्गप्रतिसर्गविचित्रसृष्टिव्यवस्थासिद्धिः। न च वाच्यं प्राज्ञाधिष्ठितत्वेऽपि तस्यावाप्तसमस्तकामस्य परिपूर्णस्यानवधिकातिशयानन्दस्य निरवद्यस्य निरञ्जनस्य सर्गप्रतिसर्गव्यवस्थाहेत्वभावाद्विषमसृष्टौ निर्दयत्वप्रसङ्गाच्च समानोऽयं दोष इति; परिपूर्णस्यापि लीलार्थप्रवृत्तिसम्भवात्, सर्वज्ञस्य तस्य परिणामविशेषापन्नप्रकृतिदर्शनरूपसर्गप्रतिसर्गविशेषहेतोस्सम्भवात्, क्षेत्रज्ञकर्मणामेव विषमसृष्टिव्यवस्थापकत्वाच्च। नन्वेवं क्षेत्रज्ञपुण्यापुण्यरूपकर्मभिरेव सर्वा व्यवस्थास्सिध्यन्तीति कृतमीश्वरेणाधिष्ठात्रा; पुण्यापुण्यरूपानुष्ठितकर्मसंस्कृता प्रकृतिरेव पुरुषार्थानुरूपं तथातथा व्यवस्थया परिणंस्यते; यथा विषादिदूषितानामन्नपानादीनामौषधविशेषाप्यायितानां च सुखदुःखहेतुभूतः परिणामविशेषो देशकालव्यवस्थया दृश्यते; अतस्सर्गप्रतिसर्गव्यवस्था देवादिविषमसृष्टिः कैवल्यव्यवस्था च सर्वप्रकारपरिणामशक्तियुक्तस्य प्रधानस्यैवोपपद्यत इति। अनभिज्ञो भवान् पुण्यापुण्यकर्मस्वरूपयोः; पुण्यापुण्यस्वरूपे हि शास्त्रैकसमधिगम्ये; शास्त्रं चानादिनिधनाविच्छिन्नपाठसम्प्रदायानाघ्रातप्रमादादिदोषगन्धवेदाख्याक्षरराशिः; तच्च परमपुरुषाराधनतद्विपर्ययरूपे कर्मणी पुण्यापुण्ये, तदनुग्रहनिग्रहायत्ते च तत्फले सुखदुःखे–इति वदति। तथाह द्रमिडाचार्यः [2]"फलसंविभक्तया हि कर्मभिरात्मानं पिप्रीषन्ति स प्रीतोऽलं फलायेतिशास्त्रमर्यादा" इति। तथाच श्रुतिः [3]"इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य ना-

१. बृ. ५-७ ४॥—२. द्रमिडाचार्यः।—३. तै. अर्भाम. २॥

भिः" इति। तथाच भगवता स्वयमेवोक्तं १"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः" इति २"तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु" इति च। स भगवान् पुरुषोत्तमोऽवाप्तसमस्तकामस्सर्वज्ञस्सर्वेश्वरस्सत्यसङ्कल्पः स्वमाहात्म्यानुगुणलीलाप्रवृत्तः,एतानि कर्माणि समीचीनान्येतान्यसमीचीनानीति कर्मद्वैविध्यं संविधाय तदुपादानोचितदेहेन्द्रियादिकं तन्नियमनशक्तिं च सर्वेषां क्षेत्रज्ञानां सामान्येन प्रदिश्य स्वशासनाववोधि शास्त्रं च प्रदर्श्य तदुपसंहारार्थं चान्तरात्मतयाऽनुप्रविश्यानुमन्तृतया च नियच्छंस्तिष्ठति। क्षेत्रज्ञास्तु तदाहितशक्तयस्तत्प्रदिष्टकरणकलेवरादिकास्तदाधाराश्च स्वयमेव स्वेच्छानुगुण्येन पुण्यापुण्यरूपे कर्मणी उपाददते: ततश्च पुण्यापुण्यरूपकर्मकारिणं स्वशासनानुवर्तिनं ज्ञात्वा धर्मार्थकाममोक्षैर्वर्धयते; शासनातिवर्तिनं च तद्विपर्ययैर्योजयति; अतः स्वातन्त्र्यादिवैकल्यचोद्यानि नावकाशं लभन्ते। दया हि नाम स्वार्थनिरपेक्षा परदुःखासहिष्णुता; सा च स्वशासनातिवृत्तिव्यवसायिन्यपि वर्तमाना न गुणायावकल्पते; प्रत्युतापुंस्त्वमेवावहति; तन्निग्रह एव तत्र गुणः, अन्यथा शत्रुनिग्रहादीनामगुणत्वप्रसङ्गात्। स्वशासनातिवृत्तिव्यवसायनिवृत्तिमात्रेणानादिनन्तकल्पोपचितदुर्विषहानन्तापराधानङ्गीकारेणनिरतिशयसुखसंवृद्धये स्वयमेव प्रयतते। यथोक्तं ३"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगन्तं येन मामुपयान्ति ते। तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता" इति। अतः प्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं न कारणम्॥ ३॥

अथ स्यात्—यद्यपि प्राज्ञानधिष्ठितायाः प्रकृतेः परिस्पन्दप्रवृत्तिरपि न सम्भवतीत्युक्तम्, तथाऽप्यनपेक्षाया एव परिणामप्रवृत्तिस्सम्भवति, तथादर्शनात्; धेन्वादिनोपयुक्तं हि तृणोदकादि स्वयमेव क्षीराद्याकारेण परिणममानं दृश्यते। अतः प्रकृतिरपि स्वयमेव जगदाकारेण परिणंस्यते—इति। तत्राह—

१. गी. १८-४६॥—२. गी. १६-१९॥—३. गी. १०-१०, ११॥

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् । २ । २ । ४ ॥

नैतदुपपद्यते, तृणादेः प्राज्ञानधिष्ठितस्य परिणामाभावाद्दृष्टान्तासिद्धेः; कथमसिद्धिः?. अन्यत्राभावात्--यदि हि तृणोदकादिकमनडुहाद्युपयुक्तं प्रहीणं वा क्षीराकारेण पर्यणंस्यत, ततः प्राज्ञानधिष्ठितमेव परिणमत इति वक्तुमशक्ष्यत; नचैतदस्ति; अतो धेन्वाद्युपयुक्तं प्राज्ञ एव क्षीरीकरोति। १"पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि" इत्युक्तमेवात्र प्रपञ्चितं तत्रैव व्यभिचारप्रदर्शनाय ॥

पुरुषाश्मवदितिचेत्तथापि । २ । २ । ५ ॥

अथोच्येत—यद्यपि चैतन्यमात्रवपुः पुरुषो निष्क्रियः, प्रधानमपि दृक्छक्तिविकलम्; तथापि पुरुषसन्निधानादचेतनं प्रधानं प्रवर्तते, तथा दर्शनात्; गमनशक्तिविकलदृक्छक्तियुक्तपङ्गुसन्निधानात्तच्चैतन्योपकृतो दृक्छक्तिविकलः प्रवृत्तिशक्तोऽन्धः प्रवर्तते; अयस्कान्ताश्मसन्निधानाच्चायः प्रवर्तते। एवं प्रकृतिपुरुषसंयोगकृतो जगत्सर्गः प्रवर्तते। यथोक्तं २"पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य । पंगूवन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतस्सर्गः" इति। पुरुषस्य प्रधानोपभोगार्थं कैवल्यार्थं च पुरुषसन्निधानात्प्रधानं सर्गादौ प्रवर्तत इत्यर्थः। अत्रोत्तरं—तथापीति। एवमपि प्रधानस्य प्रवृत्त्यसम्भवस्तदवस्थ एव, पङ्गोर्गमनशक्तिविकलस्यापि मार्गदर्शनतदुपदेशादयः कादाचित्का विशेषाः सहस्रशस्सन्ति; अन्धोऽपि चेतनस्संस्तदुपदेशाद्यवगमेन प्रवर्तते; तथा अयस्कान्तमणेरप्ययस्समीपागमनादयस्सन्ति; पुरुषस्य तु निष्क्रियस्य न तादृशा विकारास्सम्भवन्ति। सन्निधानमात्रस्य नित्यत्वेन नित्यसर्गप्रसङ्गो नित्यमुक्तत्वेन बन्धाभावोऽपवर्गाभावश्च ॥ ५ ॥

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च । २ । २ । ६ ॥

गुणानामुत्कर्षनिकर्षनिबन्धनाङ्गाङ्गिभावाद्धि जगत्प्रवृत्तिः ३"प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्"इति वदद्भिर्भवद्भिरभ्युपगम्यते। प्रतिसर्गावस्थायां

१. शारी. २-२-२ ॥ २. सांख्य. २१ ॥ ३. सांख्य. १६ ॥

तु साम्यावस्थानां सत्त्वरजस्तमसामन्योन्याधिक्यन्यूनत्वाभावादङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेर्न जगत्सर्ग उपपद्यते ; तदापि वैषम्याभ्युपगमे नित्यसर्गप्रसङ्गः। अतश्च न प्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं कारणम् ॥ ६ ॥

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ।२।२।७॥

दूषितप्रकारातिरिक्तप्रकारान्तरेण प्रधानानुमितौ च प्रधानस्य ज्ञातृत्वशक्तिवियोगात्त एव दोषाः प्रादुःष्युः। अतो न कथंचिदप्यनुमानेन प्रधानसिद्धिः ॥ ७ ॥

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् । २ । २ । ८ ॥

अनुमानेन प्रधानसिद्ध्यभ्युपगमेऽपि प्रधानेन प्रयोजनाभावान्न तदनुमानक्षम ।[1]"पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य" इति प्रधानस्य प्रयोजनं पुरुषभोगापवर्गावभिमतौ, तौ च न सम्भवतः ; पुरुषस्य चैतन्यमात्रवपुषो निष्क्रियस्य निर्विकारस्य निर्मलस्य ततएव नित्यमुक्तस्वरूपस्य प्रकृतिदर्शनरूपो भोगस्तद्वियोगरूपोऽपवर्गश्च न सम्भवति। एवंरूपस्यैव प्रकृतिसन्निधानात्तत्परिणामविशेषसुखदुःखदर्शनरूपभोगसम्भावनायां प्रकृतिसन्निधानस्य नित्यत्वेन कदाचिदप्यपवर्गो न सेत्स्यति ॥८॥

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् । २ । २ । ९ ॥

विप्रतिषिद्धं चेदं साङ्ख्यानां दर्शनम्। तथाहि—प्रकृतेः परार्थत्वेन दृश्यत्वेन भोग्यत्वेन च प्रकृतेर्भोक्तारमधिष्ठातारं द्रष्टारं साक्षिणं च पुरुषमभ्युपगम्य प्रकृत्यैव साधनभूतया तस्य कैवल्यमपि प्राप्यं वदन्त एव तस्य नित्यनिर्विकारचैतन्यमात्रस्वरूपतया अकर्तृत्वं, कैवल्यं च स्वरूपमेवाहुः ; ततएव बन्धमोक्षसाधनानुष्ठानं मोक्षश्च प्रकृतेरेवेत्याहुः, एवंभूतनिर्विकारोदासीनपुरुषसन्निधानात्प्रकृतेरितरेतराध्यासेन सर्गादिप्रवृत्तिं पुरुषभोगापवर्गार्थत्वं चाहुः [2]"सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधि-

१. सांख्य. २१ ॥ २. सांख्य. १७ ॥

ष्ठानात्। पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्कैवल्यार्थप्रवृत्तेश्च ॥ तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य। कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वं कर्तृभावश्च" इति; १"पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य" इत्युक्त्वैवमाहुः २"तस्मान्न बध्यते नापि मुच्येत नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः" इति ; तथा ३"तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम। गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतस्सर्गः" इति। साक्षित्वद्रष्टृत्वभोक्तृत्वादयो नित्यनिर्विकारस्याकर्तुरुदासीनस्य कैवल्यैकस्वरूपस्य न सम्भवन्ति। एवंरूपस्य तस्याध्यासमूलभ्रमोऽपि न सम्भवति, अध्यासभ्रमयोरपि विकारत्वात्। प्रकृतेश्च तौ न सम्भवतः, तयोश्चेतनधर्मत्वात्। अध्यासो हि नाम चेतनस्यान्यस्मिन्नन्यधर्मानुसन्धानम् स च चेतनधर्मो विकारश्च। नच पुरुषस्य प्रकृतिसन्निधिमात्रेणाध्यासादयस्सम्भवन्ति, निर्विकारत्वादेव;सम्भवन्ति चेत्—नित्यं प्रसज्येरन्; सन्निधेरकिञ्चित्करत्वञ्च ४"नविलक्षणत्वात्" इत्यत्र प्रतिपादितम्। प्रकृतिरेव संसरति बध्यते मुच्यते चेत्–कथं नित्यमुक्तस्य पुरुषस्योपकारिणी सेत्युच्यते ? वदन्ति हि ५"नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः। गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति" इति। तथा प्रकृतिर्येन पुरुषेण यथास्वभावा दृष्टा, तस्मात्पुरुषात्तदानीमेव निवर्तत इतिचाहुः। ६"रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्तात्। पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥ प्रकृतेस्सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति। या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य" इति ; तदप्यसङ्गतम्, पुरुषो हि नित्यमुक्तत्वान्निर्विकारत्वाच्च तां कदाचिदपि पश्यति,नाध्यस्यति च। स्वयं च स्वात्मानं न पश्यति, अचेतनत्वात्। पुरुषस्य स्वात्मदर्शनं स्वदर्शनमिति नाध्यवस्यतिच, स्वयमचेतनत्वात्,पुरुषस्य च दर्शनरूपवि-

१. सांख्य. ५७ ॥ – २. सांख्य. ६२ ॥—३. सांख्य २०, २१ ॥
४. शारी. २-१-४ ॥— ५. सांख्य. ६०, ५९ ॥ — ६.

कारासम्भवात्। अथ सन्निधिमात्रमेव दर्शनमित्युच्यते; सन्निधेर्नित्यत्वेन नित्यदर्शनप्रसङ्ग इत्युक्तम्। स्वरूपातिरिक्तकादाचित्कसन्निधिरपि नित्यनिर्विकारस्य नोपपद्यते । किंच मोक्षहेतुस्तु स्वसन्निधानरूपमेव दर्शनं चेत् बन्धहेतुरपि तदेवेति नित्यवद्बन्धो मोक्षश्च स्याताम्। अयथादर्शनं बन्धहेतुः, यथावत्स्वरूपदर्शनं मोक्षहेतुरितिचेत्–उभयविधस्यापि दर्शनस्य सन्निधानरूपतानतिरेकात्सदोभयप्रसङ्ग एव। सन्निधेरनित्यत्वे तस्य हेतुरन्वेषणीयः, तस्यापीत्यनवस्था। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया स्वरूपसद्भाव एव सन्निधिरिति,तदा स्वरूपस्य नित्यत्वेन नित्यवद्बन्धमोक्षौ। अत एवमादेर्विप्रतिषेधात्साङ्ख्यानां दर्शनमसमञ्जसम्। येऽपि कूटस्थनित्यनिर्विशेषस्वप्रकाशचिन्मात्रं ब्रह्माविद्यासाक्षित्वेनापारमार्थिकबन्धमोक्षभागिति वदन्ति, तेषामप्युक्तनीत्याऽविद्यासाक्षित्वाध्यासाद्यसम्भवादसामञ्जस्यमेव;इयांस्तु विशेषः—साङ्ख्याः जननमरणप्रतिनियमादिव्यवस्थासिद्ध्यर्थं पुरुषबहुत्वमिच्छन्ति, ते तु तदपि नेच्छन्तीति सुतरामसामञ्जस्यम्। यत्तु प्रकृतेः पारमार्थ्यापारमार्थ्यविभागेन वैषम्यमुक्तम्, तदयुक्तम् पारमार्थिकत्वेऽप्यपारमार्थिकत्वेऽपि नित्यनिर्विकारस्वप्रकाशैकरसचिन्मात्रस्य स्वव्यतिरिक्तसाक्षित्वाद्यनुपपत्तेः। अपारमार्थिकत्वे तु तस्याः दृश्यत्वबाध्यत्वाभ्युपगमात्सुतरामसङ्गतम्। औपाधिकभेदवादेऽपिउपाधिसम्बन्धिनो ब्रह्मणोऽयमेव स्वभाव इत्युपाधिसम्बन्धाद्यनुपपत्तेरसामञ्जस्यं पूर्वमेवोक्तम्॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये रचनानुपपत्त्यधिकरणम्॥१॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये महद्दीर्घाधिकरणम्॥ २॥

महद्दीर्घवद्वाह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ।२।२।१०॥

प्रधानकारणवादस्य युक्त्याभासमूलतया विप्रतिषिद्धत्वाद्यासामञ्जस्यमुक्तम्; सम्प्रति परमाणुकारणवादस्याप्यसामञ्जस्यं प्रतिपाद्यते—

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्—इति। असमञ्जसमिति वर्तते; वा-शब्दश्चार्थे। ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् द्व्यणुकपरमाणुभ्यां, महद्दीर्घयन-त्र्यणुकोत्पत्तिवादवत्, अन्यच्च तदभ्युपगतं सर्वमसमञ्जसम्; परमाणु-भ्यो द्व्यणुकादिक्रमेण जगदुत्पत्तिवादवदन्यदप्यसमञ्जसमित्यर्थः। तथाहि—तन्तुप्रभृतयो ह्यवयवाः स्वांशैष्षड्भिः पार्श्वैस्संयुज्यमाना अव-यविनमुत्पादयन्ति, परमाणवोऽपि स्वकीयैः षड्भिः पार्श्वैस्संयुज्यमाना एव द्व्यणुकादीनामुत्पादका भवेयुः, अन्यथा परमाणूनां प्रदेशभेदाभावे सति सहस्रपरमाणुसंयोगेऽप्येकस्मात्परमाणोरनतिरिक्तपरिमाणतया अ-णुत्वह्रस्वत्वमहत्त्वदीर्घत्वाद्यसिद्धिस्स्यात्। प्रदेशभेदाभ्युपगमे परमाणवो-ऽपि सांशाः स्वकीयैरंशैः। ते च स्वकीयैरंशैरित्यनवस्था। नच वाच्यम्—अवयवाल्पत्वमहत्त्वाभ्यां हि सर्षपमहीधरयोः वैषम्यम्, परमाणोरप्य-नन्तावयवत्वे अवयवानन्त्यसाम्यात्सर्षपमहीधरयोः वैषम्यासिद्धेः। अव-यवापकर्षकाष्ठावश्याभ्युपगमनीया—इति। परमाणूनां प्रदेशभेदाभावे सत्येकपरमाणुपरिमाणातिरेकी प्रथिमा न जायेतेति सर्षपमहीधरयोरेवा-सिद्धेः! किं कुर्म इति चेत्—वैदिकः पक्षः परिगृह्यताम्। यत्तु परैः ब्रह्मकारणवाददूषणपरिहारपरमिदं सूत्रं व्याख्यातम्; तदसङ्गतं, पुनरु-क्तं च; ब्रह्मकारणवादे परोक्तान् दोषान् पूर्वस्मिन् पादे परिहृत्य परपक्षप्र-तिक्षेपो ह्यस्मिन् पादे क्रियते। चेतनाद्ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिसम्भवश्च १ "न विलक्षणत्वात्" इत्यत्रैव प्रपञ्चितः। अतो ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां मह-द्दीर्घाणुह्रस्वोत्पत्तिवदन्यच्च तदभ्युपगतं सर्वमसमञ्जसमित्येव सूत्रार्थः॥१०॥

किमन्यदसमञ्जसमित्यत्राह—

उभयथाऽपि न कर्मातस्तदभावः ।२।२।११॥

परमाणुकारणवादे हि परमाणुगतकर्मजनिततत्संयोगपूर्वकद्व्य-णुकादिक्रमेण जगदुत्पत्तिरिष्यते, तत्र निखिलजगदुत्पत्तिकारणभूतपर-

१ शारी. २-१-४॥

माणुगतमाद्यं कर्मादृष्टकारितमित्यभ्युपगम्यते "अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यग्गमनमणुमनसोश्चाद्यं कर्मेत्यदृष्टकारितानि" इति । तदिदं परमाणुगतं कर्म स्वगतादृष्टकारितम्, आत्मगतादृष्टकारितं वा । उभयथाऽपि न सम्भवति, क्षेत्रज्ञपुण्यपापानुष्ठानजनितस्यादृष्टस्य परमाणुगतत्वासम्भवात्, सम्भवे च सदोत्पादकत्वप्रसङ्गः । आत्मगतस्य चादृष्टस्य परमाणुगतकर्मोत्पत्तिहेतुत्वं न सम्भवति । अथादृष्टवदात्मसंयोगादणुषु कर्मोत्पत्तिः, तदा तस्यादृष्टप्रवाहस्य नित्यत्वेन नित्यसर्गप्रसङ्गः । नन्वदृष्टं विपाकापेक्षं फलायालम् । कानिचिददृष्टानि तदानीमेव विपच्यन्ते, कानिचिज्जन्मान्तरे, कानिचित्कल्पान्तरे । अतो विपाकापेक्षत्वान्न सर्वदोत्पादकत्वप्रसङ्ग इति । नैतत्, अनन्तैरात्मभिस्सङ्कल्पपूर्वकमयुगपदनुष्ठितानेकविधकर्मजनितानामदृष्टानामेकस्मिन्काले एकरूपविपाकस्याप्रामाणिकत्वात् । अत एव युगपत्सर्वसंहारो द्विपरार्धकालमविपाकेनावस्थानं च न सङ्गच्छते । नचेश्वरेच्छाहितविशेषादृष्टसंयोगादणुषु कर्म, आनुमानिकेश्वरासिद्धेः १"शास्त्रयोनित्वात्" इत्यत्रोपपादितत्वात् । अतो जगदुत्पत्तावणुगतकर्मपूर्वकत्वाभावः ॥ ११ ॥

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः २।१।१२।

समवायाभ्युपगमाच्चासमञ्जसम्, कुतः ? साम्यादनवस्थितेः—समवायस्याप्यवयविजातिगुणवदुपपादकान्तरापेक्षासाम्यादुपपादकान्तरस्यापि तथेत्यनवस्थितेरसमञ्जसमेव । एतदुक्तं भवति—अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानामिह प्रत्ययहेतुर्यस्सम्बन्धः, स समवाय इति समवायोऽभ्युपगम्यते । अपृथक्स्थित्युपलब्धीनां जात्यादीनां तथाभावस्य निर्वाहकत्वेन चेत्समवायोऽभ्युपगम्यते, समवायस्यापि तत्साम्यात्तथाभावहेतुरन्वेषणीयः तस्यापि तथेत्यनवस्थितिः । समवायस्य तदपृथक्सिद्धत्वं

१.॥ २. शा० १-१-३ ॥

स्वभाव इति परिकल्प्यते चेत्—जातिगुणानामेवैष स्वभावः परिकल्पनीयः, न पुनरदृष्टचरं समवायमभ्युपगम्य तस्यैष स्वभाव इति कल्पयितुं युक्तम्—इति ॥ १२ ॥

समवायस्य नित्यत्वे ह्यनित्यत्वे चायं दोषस्समानः, नित्यत्वे दोषान्तरं चाह—

नित्यमेव च भावात् । २ । २ । १३ ॥

समवायस्य सम्बन्धत्वात्सम्बन्धस्य नित्यत्वे सम्बन्धिनो जगतश्च नित्यमेव भावादसमञ्जसम् ॥ १३ ॥

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ।२।२।१४॥

परमाणूनां पार्थिवाप्यतैजसवायवीयानां चतुर्विधानां रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वाभ्युपगमादभिमतनित्यत्वसूक्ष्मत्वनिरवयवत्वादिविपर्ययेणानित्यत्वस्थूलत्वसावयवत्वादि प्रसज्यते, रूपादिमतां घटादीनामनित्यत्वतथाविधकारणान्तरारब्धत्वादिदर्शनात् । नहि दर्शनानुगुण्येनादृष्टोऽर्थः कल्प्यमानः स्वाभिमतविशेषे व्यवस्थापयितुं शक्यः । दर्शनानुगुण्येन हि परमाणूनां रूपादिमत्त्वं त्वया कल्प्यते । अतोऽप्यसमञ्जसम् ॥ १४ ॥

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया परमाणूनां रूपादिमत्त्वं नाभ्युपगम्यते, तत्राह—

उभयधा च दोषात् । २ । २ । १५ ॥

न केवलं परमाणूनां रूपादिमत्त्वाभ्युपगम एव दोषः, रूपादिविरहेऽपि कारणगुणपूर्वकत्वात्कार्यगुणानां पृथिव्यादयो रूपादिशून्यास्स्युः । तत्परिजिहीर्षया रूपादिमत्त्वाभ्युपगमे पूर्वोक्तदोष इत्युभयथा च दोषादसमञ्जसम् ॥ १५ ॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा। २ । २ । १६ ॥

कापिलपक्षस्य श्रुतिन्यायविरोधपरित्यक्तस्यापि सत्कार्यवादादिना कचिदंशे वैदिकैः परिग्रहोऽस्ति, अस्य तु काणादपक्षस्य केनाप्यंशेनापरिग्रहादनुपपन्नत्वाचात्यन्तमनपेक्षैव निःश्रेयसार्थिभिः कार्या ॥

इति महद्दीर्घाधिकरणं समाप्तम् ॥ २ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये समुदायाधिकरणम् ॥ ३ ॥)

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः । २। २ । १७ ॥

परमाणुकारणवादिनो वैशेषिका निरस्ताः; सौगताश्च जगतः परमाणुकारणत्वमभ्युपगच्छन्तीत्यनन्तरं तन्मतेऽपि जगदुत्पत्तितद्व्यवहारादिकं नोपपद्यत इत्युच्यते ते चतुर्विधाः—केचित्पार्थिवाप्यतैजसवायवीयपरमाणुसङ्घातरूपान् भूतभौतिकान् बाह्यांश्चित्तचैत्तरूपांश्चाभ्यन्तरानर्थान् प्रत्यक्षानुमानसिद्धानभ्युपयन्ति, अन्ये तु बाह्यार्थान् सर्वान् पृथिव्यादीन्विज्ञानानुमेयान्वदन्ति; अपरे त्वर्थशून्यं विज्ञानमेव परमार्थसत्, बाह्यार्थास्तु स्वाप्नार्थकल्पा इत्याहुः; त्रयोऽप्येते स्वाभ्युपगतं वस्तु क्षणिकमाचक्षते, उक्तभूतभौतिकचित्तचैत्तव्यतिरिक्तमात्माकाशादिकं स्वरूपेणैव नानुमन्यते; अन्ये तु सर्वशून्यत्वमेव सङ्गिरन्ते; तत्र ये बाह्यार्थास्तित्ववादिनः, ते तावन्निरस्यन्ते; तेचैवं मन्यन्ते—रूपरसस्पर्शगन्धस्वभावाः पार्थिवाः परमाणवः, रूपरसस्पर्शस्वभावाश्चाप्याः, रूपस्पर्शस्वभावाश्च तैजसाः, स्पर्शस्वभावाश्च वायवीयाः पृथिव्यप्तेजोवायुरूपेण संहन्यन्ते, तेभ्यश्च पृथिव्यादिभ्यः शरीरेन्द्रियविषयरूपसङ्घाता भवन्ति; तत्र च शरीरान्तर्वर्ती ग्राहकाभिमानारूढो विज्ञानसन्तान एवात्मत्वेनावतिष्ठते; तत एव सर्वो लौकिको व्यवहारः प्रवर्तते-इति ॥

तत्राभिधीयते—समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः—योऽयमणुहेतुपृथिव्यादिभूतात्मकस्समुदायः, यश्च पृथिव्यादिहेतुकशरीरेन्द्रियविषयरूपस्समुदायः, तस्मिन्नुभयहेतुकेऽपि समुदाये तत्प्राप्तिर्नोपपद्यते—जगदात्मकसमुदायोत्पत्तिर्नोपपद्यत इत्यर्थः। परमाणूनां पृथिव्यादिभूतानां च क्षणिकत्वाभ्युपगमात्, क्षणध्वंसिनः परमाणवो भूतानि च कदा संहतौ व्याप्रियन्ते, कदा वा संहन्यन्ते, कदा विज्ञानविषयभूताः, कदा च हानोपादानादिव्यवहारास्पदतां भजन्ते, को वा विज्ञानात्मा कं च विषयं स्पृशति कश्च विज्ञानात्मा कमर्थं कदा वेदयते, कं वा विदितमर्थं कश्च कदोपादत्ते; स्प्रष्टा हि नष्टः, स्पृष्टश्च नष्टः; तथा वेदिता विदितश्च नष्टः; कथं चान्येन स्पृष्टमन्यो वेदयते, कथञ्चान्येन विदितमर्थमन्य उपादत्ते; सन्तानानामेकत्वेऽपि सन्तानिभ्यस्तेषां वस्तुतो वस्त्वन्तरत्वानभ्युपगमान्न तन्निबन्धनं व्यवहारादिकमुपपद्यते; अहमर्थ एवात्मा, स च ज्ञातैवेति चोपपादितं पुरस्तात्॥ १७॥

इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमितिचेन्न संघातभावानिमित्तत्वात्। २। २। १८॥

अविद्यादीनामितरेतरहेतुत्वेनोपपन्नं सङ्घातभावादिकमितिचेत्; एतदुक्तं भवति—यद्यपि क्षणिकास्सर्वे भावाः,तथाऽप्यविद्यैतत्सर्वमुपपद्यते: अविद्या हि नाम विपरीतबुद्धिः क्षणिकादिषु स्थिरत्वादिगोचरा; तया संस्काराख्याः रागद्वेषादयो जायन्ते; ततश्चित्ताभिज्वलनरूपं विज्ञानम्; ततश्च नामाख्याश्चित्तचैत्ताः पृथिव्यादिकं च रूपिद्रव्यम्; ततष्षडायतनाख्यमिन्द्रियषट्कम्; ततः स्पर्शाख्यः कायः; ततो वेदनादयः; ततश्च पुनरप्यविद्यादयो यथोक्ताः इत्यनादिरियमविद्यादिकाऽन्योन्यमूला चक्रपरिवृत्तिः; एतच्च सर्वं पृथिव्यादिभूतभौतिकसङ्घातमन्तरेण नोपपद्यते। अतस्सङ्घातभावादिकमुपपन्नम्-इति। तत्रोत्तरं—न सङ्घातभावानिमित्तत्वात्-इति। नैतदुपपद्यते-एषामविद्यादीनां पृथिव्यादिभूतभौतिकसङ्घा

नभावं प्रत्यनिमित्तत्वात् ; न खल्वस्थिरादिषु स्थिरत्वादिबुद्ध्यात्मिकाऽविद्या तन्निमित्ता रागद्वेषादयो वाऽर्थान्तरस्य क्षणिकस्य संहतिहेतुतां प्रतिपद्यन्ते ; शुक्तिकारजतादिबुद्धिर्हि न शुक्त्याद्यर्थसंहतिहेतुर्भवति; किंच यस्य क्षणिके स्थिरत्वबुद्धिः, स तदैव नष्ट इति कस्य रागादय उत्पद्यन्ते; संस्काराश्रयं स्थिरमेकं द्रव्यमनभ्युपगच्छतां संस्कारानुवृत्तिरपि न शक्या कल्पयितुम् ॥ १८ ॥

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् । २ । २ । १९ ।

इतश्च क्षणिकत्वपक्षे जगदुत्पत्तिर्नोपपद्यते, उत्तरक्षणोत्पत्तिवेलायां पूर्वक्षणस्य विनष्टत्वात्, तस्योत्तरक्षणं प्रति हेतुत्वानुपपत्तेः ; अभावस्य हेतुत्वे सर्वं सर्वत्र सर्वदोत्पद्येत; अथ पूर्वक्षणवर्तित्वमेव हेतुत्वमित्युच्यते, एवं तर्हि कश्चिदेव घटक्षणस्तदुत्तरकालभाविनां सर्वेषामेव गोमहिषाश्वकुडयपाषाणादीनां त्रैलोक्यवर्तिनां हेतुस्स्यात् . अथैकजातीयस्यैव पूर्वक्षणवर्तिनो हेतुत्वमिष्यते, तथापि सर्वदेशवर्तिनामुत्तरक्षणभाविनां घटानामेक एव पूर्वक्षणवर्तिघटो हेतुस्स्यात् ; अथैकस्यैव हेतुरेक इति मनुषे, तथापि कस्यैकस्य को हेतुरिति न ज्ञायते; अथ यस्मिन् देशे यो घटक्षणः स्थितः, तद्देशसम्बन्धिन एवोत्तरक्षणस्य स हेतुरिति, किं देशस्य स्थिरत्वं मनुषे; किञ्च चक्षुरादिसम्प्रयुक्तस्यार्थस्य ज्ञानोत्पत्तिकालेऽनवस्थितत्वान्न कस्यचिदर्थस्य ज्ञानविषयत्वं सम्भवति ॥ १९ ॥

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ।२।२।२०॥

असत्यपि हेतौ कार्यमुत्पद्यते चेत्—सर्वं सर्वत्र सर्वदोत्पद्येतेत्युक्तम्, न केवलमुत्पत्तिविरोध एव, प्रतिज्ञा च भवतामुपरुध्येत, अधिपतिसहकार्यालम्बनसमनन्तरप्रत्ययाश्चत्वारो विज्ञानोत्पत्तौ हेतव इति वः प्रतिज्ञा; अधिपतिः इन्द्रियम् । अथ प्रतिज्ञानुपरोधाय घटक्षणे स्थित एव घटक्षणान्तरोत्पत्तिरिष्यते तथा च सति द्वयोः कार्यकारणयोर्घटक्षणयोर्यौगपद्येनोपलब्धिः प्रसज्येत, न च तथोपलभ्यते, क्षणिकत्वप्रतिज्ञा चैवं हीयेत । क्षणिकत्वं स्थितमेवेति चेत्—इन्द्रियसंप्रयोगज्ञानयोर्यौगपद्यं प्रसज्येत॥

प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् । २ । २ । २१ ॥

एवं तावदसत उत्पत्तिर्निरस्ता; सतो निरन्वयविनाशोऽपि नोपपद्यत इत्युच्यते; क्षणिकत्ववादिभिर्मुद्गराभिघाताद्यनन्तरभावितयोपलब्धियोग्यस्सदृशसन्तानावसानरूपः स्थूलो यः, सदृशसन्ताने प्रतिक्षणभावी चोपलब्ध्यनर्हस्सूक्ष्मश्च या निरन्वयो विनाशः प्रतिसङ्ख्यानिरोधाप्रतिसङ्ख्यानिरोधशब्दाभ्यामभिधीयेते, तौ न सम्भवत इत्यर्थः। कुतः? अविच्छेदात्-सतो निरन्वयविच्छेदासम्भवात। असम्भवश्च सत उत्पत्तिविनाशौ नामावस्थान्तरापत्तिरेव; अवस्थायोगि तु द्रव्यमेकमेव स्थिरमिति कारणादनन्यत्वं कार्यस्योपपादयद्भिरस्माभिः [1]"तदनन्यत्वम्"इत्यत्र प्रतिपादितम्। निर्वाणस्य दीपस्य निरन्वयविनाशदर्शनादन्यत्रापि विनाशो निरन्वयोऽनुमीयत इति चेन्न; घटशरावादौ मृदादिद्रव्यानुवृत्त्युपलब्ध्या सतो द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिरेव विनाश इति निश्चिते सति प्रदीपादौ सूक्ष्मदशापत्त्याऽप्यनुपलम्भोपपत्तेः। तत्राप्यवस्थान्तरापत्तिकल्पनस्यैव युक्तत्वात ॥ २१ ॥

उभयथा च दोषात । २ । २ । २२ ॥

क्षणिकत्ववादिभिरभ्युपेता तुच्छादुत्पत्तिः उत्पन्नस्य तुच्छतापत्तिश्च न सम्भवतीत्युक्तम्; तदुभयप्रकाराभ्युपगतौ दोषश्च भवति। तुच्छादुत्पत्तौ तुच्छात्मकमेव कार्यं स्यात्; यद्धि यस्मादुत्पद्यते, तत्तदात्मकं दृष्टम्,- यथा मृत्सुवर्णादेरुत्पन्नं मणिकमुकुटादि मृत्सुवर्णाद्यात्मकं दृष्टम्, नच जगत्तुच्छात्मकं भवद्भिरभ्युपगम्यते; नच प्रतीयते। सतो निरन्वयविनाशे सत्येकक्षणादूर्ध्वं कृत्स्नस्य जगतस्तुच्छतापत्तिरेव स्यात्, पश्चात्तुच्छाज्जगदुत्पत्तौ अनन्तरोक्तं तुच्छात्मकत्वमेव स्यात। अत उभयथापि दोषान्न भवदुक्तप्रकारावुत्पत्तिनिरोधौ ॥ २२ ॥

---

1. शा. २-१-१५ ॥

आकाशे चाविशेषात् । २ । २ । २३ ॥

बाह्याभ्यन्तरवस्तुनः स्थिरत्वप्रतिपादनाय प्रतिसङ्ख्याप्रतिसङ्ख्यानिरोधयोस्तुच्छरूपता निराकृता ; तत्प्रसङ्गेन ताभ्यां सह तुच्छत्वेन सौगतैः परिगणितस्याकाशस्यापि तुच्छता प्रतिक्षिप्यते । आकाशे च निरुपाख्यता न युक्ता, भावरूपत्वेनाभ्युपगतपृथिव्यादिवदाकाशस्यापि अबाधितप्रतीतिसिद्धत्वाविशेषात् । प्रतीयते ह्याकाशः 'अत्र श्येनः पतति, अत्र गृध्रः' इति श्येनादिपतनदेशत्वेन । नच पृथिव्याद्यभावमात्रमाकाश इति वक्तुं शक्यम्, विकल्पासहत्वात् । पृथिव्यादेः प्रागभावः, प्रध्वंसाभावः, इतरेतराभावः, अत्यन्ताभावो वा आकाशः; सर्वथाऽप्याकाशप्रतीत्यनुपपत्तिस्स्यात् । प्रागभावप्रध्वंसाभावयोराकाशत्वे पृथिव्यादिपु वर्तमानेपु आकाशप्रतीत्ययोगात् निराकाशं जगत्स्यात् । इतरेतराभावस्याकाशत्वेऽपि इतरेतराभावस्य तत्तद्वस्तुगतत्वेन तेपामन्तराले आकाशप्रतीतिर्न स्यात् । अत्यन्ताभावस्तु पृथिव्यादीनां न सम्भवति । अभावस्य विद्यमानपदार्थावस्थाविशेषत्वोपपादनाच्चाकाशस्याभावरूपत्वेऽपि न निरुपाख्यत्वम् । अण्डान्तर्वर्तिनश्चाकाशस्य त्रिवृत्करणोपदेशप्रदर्शितपञ्चीकरणेन रूपवत्त्वाच्चाक्षुषत्वेऽप्यविरोधः ॥ २३ ॥

अनुस्मृतेश्च । २ । २ । २४ ॥

पूर्वप्रस्तुतं वस्तुनः स्थिरत्वमेवोपपाद्यते—अनुस्मरणं—पूर्वानुभूतवस्तुविपयं ज्ञानम्, प्रत्यभिज्ञानमित्यर्थः । तदेवेदमिति सर्वं वस्तुजातमतीतकालानुभूतं प्रत्यभिज्ञायते । नच भवद्भिर्ज्वालादिष्विव सादृश्यनिबन्धनोऽयमेकत्वव्यामोह इति वक्तुं शक्यम्, व्यामुह्यतो ज्ञातुरेकस्यानभ्युपगमात् । नह्यन्यानुभूतेनैकत्वं सादृश्यं वा स्वानुभूतस्यान्योऽनुसन्धत्ते । अतो भिन्नकालवस्त्वाश्रयसादृश्यानुभवनिबन्धनमेकत्वव्यामोहं वदद्भिर्ज्ञातुरेकत्वमवश्याश्रयणीयम् । नच ज्ञेयेष्वपि घटादिपु ज्वालादिष्विव भेदसाधनप्रमाणमुपलभामहे; येन सादृश्यनिबन्धनां प्रत्यभिज्ञां कल्पयेम । यदपि चेदमुच्यते-

प्रत्यक्षानुमानाभ्यां घटादेः क्षणिकत्वं सिध्यति; प्रत्यक्षं तावद्वर्तमानार्थविषयमवर्तमानाद्वस्तुनो व्यावृत्तं स्वविषयमवगमयति, नीलमिव पीतात् एवंच भूतभविष्यद्भ्यां वर्तमानस्य वस्त्वन्तरत्वमवगतं भवति । अनुमानमपि-अर्थक्रियाकारित्वात्सत्त्वाच्च घटादिः क्षणिकः, यदक्षणिकं शशविषाणादि, तदनर्थक्रियाकार्यसच्च । तथा अन्त्यघटक्षणसत्त्वात्पूर्वघटक्षणसत्त्वानि विनाशीनि, घटक्षणसत्त्वात्, अन्त्यघटक्षणसत्त्ववत्-इति; तच्चकार्यकारणभावानुपपत्त्यादिभिः पूर्वमेव निरस्तम् । किञ्च प्रत्यक्षगम्या वर्तमानस्यावर्तमानाद्व्यावृत्तिर्न वर्तमानस्य वस्त्वन्तरत्वमवगमयति; अपितु वर्तमानकालयोगितामात्रम् । नच तावता वस्त्वन्तरत्वं सिध्यति, तस्यैव कालान्तरयोगसम्भवात् । यत्तु सत्त्वादर्थक्रियाकारित्वाच्चेति क्षणिकत्वे हेतुद्वयमुक्तम्, तदभिमतविपरीतसाधनत्वाद्विरुद्धम् । सत्त्वादर्थक्रियाकारित्वाद्वा घटादि स्थास्नु, यदस्थास्नु तदसदनर्थक्रियाकारि च, यथा शशविषाणमित्यपि हि वक्तुं शक्यम् किञ्च अर्थक्रियाकारित्वमक्षणिकत्वमेव साधयेत । क्षणध्वंसिनो हि व्यापारासम्भवादर्थक्रियाकारित्वं न सम्भवतीत्युक्तम् । तथाऽन्त्यघटक्षणस्य हेतुतो नाशदर्शनादितरेऽपि घटक्षणा हेत्वपेक्षविनाशास्स्युरित्यामुद्गरादिहेतूपनिपातात् स्थास्नुत्वमेव । नच वाच्यं न मुद्गरादयो विनाशहेतवः, अपितु कपालादिविसदृशसन्तानोत्पत्तिहेतवइति, कपालत्वावस्थापत्तिरेव घटादीनां विनाश इत्युपपादितत्वात् । कपालोत्पत्तिव्यतिरिक्तत्वाभ्युपगमेऽपि विनाशस्य विनाशहेतुत्वमेव मुद्गरादेरानन्तर्यायुक्तम् । अतः प्रत्यभिज्ञाया स्थिरत्वमवगम्यमानं न केनापि प्रकारेणापह्नोतुं शक्यम् । पूर्वापरकालसम्बन्ध्यर्थैक्यविषयायाः प्रत्यभिज्ञाया अन्यविषयत्वं ब्रुवन्नीलादिज्ञानानामपि नीलादेरर्थान्तरविषयत्वं ब्रूयात् किञ्च प्रमातृप्रमेययोः क्षणिकत्वं वदद्भिर्व्याप्त्यवधारणतत्स्मरणपूर्वकानुमानाभ्युपगमोऽपि दुश्शकः । तथा इदं क्षणिकमित्यादिप्रतिज्ञापूर्वकहेतूपन्यासादिकमपि नोपपद्यते भवताम् । प्रतिज्ञोपक्रमक्षण एव वक्तुर्विनष्टत्वात् ; नह्यन्येनोपक्रान्तमजानद्भिरन्यैस्समापयितुं शक्यम् ॥ २५ ॥

नासतोऽदृष्टत्वात् । २ । २ । २५ ॥

एवं तावद्वैभाषिकसौत्रान्तिकयोर्बाह्यार्थास्तित्ववादिनोस्साधारणानि दूषणान्युक्तानि ; तत्र यदुक्तं-सम्प्रयुक्तस्यार्थस्य ज्ञानोत्पत्तिकालेऽनवस्थितत्वान्न कस्यचिदर्थस्य ज्ञानविषयत्वं सम्भवतीति ; तत्र सौत्रान्तिकः प्रत्यवतिष्ठते—न ज्ञानकालेऽनवस्थानमर्थस्य ज्ञानाविषयत्वहेतुः ; ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वमेव हि ज्ञानविषयत्वम् । नचैतावता चक्षुरादेः ज्ञानविषयत्वप्रसङ्गः, स्वाकारसमर्पणेन ज्ञानहेतोरेव ज्ञानविषयत्वाभ्युपगमात् । ज्ञाने स्वाकारं समर्प्य विनष्टोऽप्यर्थो ज्ञानगतेन नीलाद्याकारेणानुमीयते । नचपूर्वपूर्वज्ञानेनोत्तरोत्तरज्ञानाकारसिद्धिः, नीलज्ञानसन्ततौ पीतज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गात्।अतोऽर्थकृतमेव ज्ञानवैचित्र्यम्-इति।अत्रोच्यते-नासतोऽदृष्टत्वात्-इति, योऽयं ज्ञाने नीलादिराकार उपलभ्यते, स विनष्टस्यासतोऽर्थस्याकारो भवितुं नार्हति; कुतः ? अदृष्टत्वात्-न खलु धर्मिणि विनष्टे तद्धर्मस्यार्थान्तरे सङ्क्रमणं दृष्टम् । प्रतिबिम्बादिकमपि स्थिरस्यैव भवति । तत्रापि न धर्ममात्रस्य । अतोऽर्थवैचित्र्यकृतं ज्ञानवैचित्र्यमर्थस्य ज्ञानकालेऽवस्थानादेव भवति ॥ २५ ॥

पुनरपि साधारणं दूषणमाह—

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः । २ । २ । २६ ॥

एवं क्षणिकत्वासदुत्पत्त्यहेतुकविनाशाद्यभ्युपगमे उदासीनानामअनुद्युञ्जानानामपि सर्वार्थसिद्धिस्स्यात् इष्टप्राप्तिरनिष्टनिवृत्तिर्वा प्रयत्नादिभिस्साध्यते; क्षणध्वंसे हि सर्वेषां भावानां पूर्वपूर्वं वस्तु तद्गतो वा विशेषः संस्कारादिको विद्यादिर्वा उत्तरत्र न कश्चिदनुवर्तत इति प्रयत्नादिसाध्यं न किञ्चिदस्ति । एवं सत्यहेतुसाध्यत्वात्सर्वसिद्धीनामुदासीनानामप्यैहिकामुष्मिकफलं मोक्षश्च सिद्ध्येत् ॥ २६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये समुदायाधिकरणं समाप्तम् ॥ ३ ॥

———

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये उपलब्ध्यधिकरणम् ॥ ४ ॥)

नाभाव उपलब्धेः । २ । २ । २७ ॥

विज्ञानमात्रास्तित्ववादिनो योगाचाराः प्रत्यवतिष्ठन्ते । यदुक्तमर्थवैचित्र्यकृतं ज्ञानवैचित्र्यमिति; तन्नोपपद्यते, अर्थवत् ज्ञानानामेव साकाराणां स्वयमेव विचित्रत्वात् । तच्च स्वरूपवैचित्र्यं वासनावशादेवोपपद्यते । वासना च विलक्षणप्रत्ययप्रवाह एव । यद् घटाकारज्ञानं कपालाकारज्ञानस्योत्पादकम्, तस्य तथाविधस्योत्पादकं तत्पूर्वघटज्ञानम् । तस्य च तथाविधस्योत्पादकं ततःपूर्वघटज्ञानम् इत्येवं रूपः प्रवाह एव वासनेत्युच्यते। कथं बहिष्प्रसर्पमहीधरादेराकार आन्तरस्य ज्ञानस्येत्युच्यते ? इत्थम्-अर्थस्यापि व्यवहारयोग्यत्वं ज्ञानप्रकाशायत्तम्, अन्यथा स्वपरवेद्ययोरनतिशयप्रसङ्गात् । प्रकाशमानस्य च ज्ञानस्य साकारत्वमवश्याश्रयणीयम्, निराकारस्य प्रकाशायोगात् । एकश्चायमाकार उपलभ्यमानो ज्ञानस्यैव । तस्य च बहिर्वदवभासोऽपि भ्रमकृतः । ज्ञानार्थयोस्सहोपलम्भनियमाच्च ज्ञानादव्यतिरिक्तोऽर्थः । किञ्च बाह्यमथमभ्युपयद्भिरपि घटपटादिविज्ञानेषु ज्ञानस्य तत्तदर्थासाधारण्यं तत्तदर्थसारूप्यमन्तरेण नोपपद्यत इत्यवश्यं ज्ञानेऽर्थसरूपं रूपमास्थेयम् । तावतैव सर्वव्यवहारोपपत्तेः तद्व्यतिरिक्तार्थकल्पना निष्प्रामणिका । अतो विज्ञानमात्रमेव तत्त्वम्, न बाह्यार्थोऽस्ति—इति ।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे नाभाव उपलब्धेः–इति । ज्ञानातिरिक्तस्यार्थस्याभावो वक्तुं न शक्यते; कुतः ? उपलब्धेः–ज्ञातुरात्मनोऽर्थविशेषव्यवहारयोग्यतापादनरूपेण ज्ञानस्योपलब्धेः । एवमेव हि सर्वे लौकिकाः प्रतियन्ति–'घटमहं जानामि' इति । एवंरूपेण सकर्मकेण सकर्तृकेन ज्ञाधात्वर्थेन सर्वलोकसाक्षिकमपरोक्षमवभासमानेनैव ज्ञानमात्रमेव परमार्थ इति साधयन्तस्सर्वलोकोपहासोपकरणं भवन्तीति वेदवादच्छद्मप्रच्छन्नबौद्धनिराकरणे निपुणतरं प्रपञ्चितम् । यत्तु "सहोपलम्भनियमादभेदो नील-

तद्धियोः" इति, तत्स्ववचनविरुद्धम् , साहित्यस्यार्थभेदहेतुकत्वात् । तदर्थव्यवहारयोग्यतैकस्वरूपस्य ज्ञानस्य तेन सहोपलम्भनियमस्तस्मादवैलक्षण्यसाधनमिति च हास्यम् । निरन्वयविनाशिनां ज्ञानानामनुवर्तमानस्थिराकारविरहाद्वासना च दुरुपपादा । विनष्टेन पूर्वज्ञानेनानुत्पन्नमुत्तरज्ञानं कथं वास्यते । अतो ज्ञानवैचित्र्यमप्यर्थवैचित्र्यकृतमेव । तत्तदर्थव्यवहारयोग्यतापादनरूपतया साक्षात्प्रतीयमानस्य ज्ञानस्य तत्तदर्थसम्बन्धायत्तं तत्तदसाधारण्यम् । सम्बन्धश्च संयोगलक्षणः । ज्ञानमपि हि द्रव्यमेव । प्रभाद्रव्यस्य प्रदीपगुणभूतस्येव ज्ञानस्याप्यात्मगुणभूतस्य द्रव्यत्वमविरुद्धमित्युक्तम् । अतो न बाह्यार्थाभावः ॥

यत्परैः स्वप्नज्ञानदृष्टान्तेन जागरितज्ञानानामपि निरालम्बनत्वमुक्तम् ; तत्राह—

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् । २ । २ । २८ ॥

स्वप्नज्ञानवैधर्म्याज्जागरितज्ञानानामर्थशून्यत्वं न युज्यते वक्तुम् । स्वप्नज्ञानानि हि निद्रादिदोषदुष्टकरणजन्यानि, बाधितानि च; जागरितज्ञानानि तु तद्विपरीतानीति तेषां न तत्साम्यम् । सर्वेषां च ज्ञानानामर्थशून्यत्वे भवद्भिस्साध्योऽप्यर्थो न सिध्यति निरालम्बनानुमानस्याप्यर्थशून्यत्वात् । तस्यार्थवत्त्वे ज्ञानत्वस्यानैकान्त्यात्सुतरामर्थशून्यत्वासिद्धिः ॥

न भावोऽनुपलब्धेः । २ । २ । २९ ॥

न केवलस्यार्थशून्यस्य ज्ञानस्य भावस्सम्भवति; कुतः ? क्वचिदप्यनुपलब्धेः नह्यकर्तृकस्याकर्मकस्य वा ज्ञानस्य क्वचिदुपलब्धिः । स्वप्नज्ञानादिष्वपि नार्थशून्यत्वमिति ख्यातिनिरूपणे प्रतिपादितम् ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये उपलब्ध्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

———

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्वथानुपपत्त्यधिकरणम् ॥५॥)

सर्वथानुपपत्तेश्च । २ । २ । ३० ॥

अत्र सर्वशून्यवादी माध्यमिकः प्रत्यवतिष्ठते । शून्यवाद एव हि सुगतमतकाष्ठा । शिष्यबुद्धियोग्यतानुगुण्येनार्थाभ्युपगमादिना क्षणिकत्वादय उक्ताः । विज्ञानं बाह्यार्थाश्च सर्वे न सन्ति, शून्यमेव तत्त्वम्; अभावापत्तिरेव च मोक्ष इत्येव बुद्धस्याभिप्रायः। तदेव हि युक्तम् ;शून्यस्याहेतुसाध्यतया स्वतस्सिद्धेः,सत एव हि हेतुरन्वेषणीयः;तच्च सन् भावादभावाच्च नोत्पद्यते;भावात्तावन्न कस्यचिदुत्पत्तिर्दृष्टा; न हि घटादिरनुपमृदिते पिण्डादिके जायते। नाप्यभावादुत्पत्तिस्सम्भवति नष्टे पिण्डादिके ह्य भावादुत्पद्यमानं घटादिकमभावात्मकमेव स्यात् । तथा स्वतः परतश्चोत्पत्तिर्न सम्भवति, स्वतः स्वोत्पत्तावात्माश्रयदोषप्रसङ्गात् , प्रयोजनाभावाच्च । परतः परोत्पत्तौ परत्वाविशेषात्सर्वेषां सर्वेभ्य उत्पत्तिप्रसङ्गः । जन्माभावादेव विनाशस्याप्यभावः । अतः शून्यमेव तत्त्वम् । अतो जन्मविनाशसदसदादयो भ्रान्तिमात्रम् । नच निरधिष्ठानभ्रमासम्भवाद् भ्रमाधिष्ठानं किञ्चित्पारमार्थिकं तत्त्वमाश्रयितव्यम् , दोषदोषाश्रयत्वज्ञातृत्वाद्यपारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तिवदधिष्ठानापारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तेः । अतः शून्यमेव तत्त्वम् ॥

इति प्राप्ते उच्यते–सर्वथानुपपत्तेश्च–इति । सर्वथानुपपत्तेस्सर्वशून्यत्वं च भवदभिप्रेतं न सम्भवति । किं भवान् सर्वं सदिति वा प्रतिजानीते,असदिति वा, अन्यथा वा; सर्वथा तवाभिप्रेतं तुच्छत्वं न सम्भवति; लोके भावाभावशब्दयोस्तत्प्रतीत्योश्च विद्यमानस्यैव वस्तुनोऽवस्थाविशेषगोचरत्वस्य प्रतिपादितत्वात् । अतस्सर्वं शून्यमिति प्रतिजानता सर्वं सदिति प्रतिजानतेव सर्वस्य विद्यमानस्यावस्थाविशेषयोगितैव प्रतिज्ञाता भवतीति भवदभिमता तुच्छता न कुतश्चिदपि सिध्यति । किञ्च कुतश्चित्प्रमा–

णाच्छून्यत्वमुपलभ्य शून्यत्वं सिषाधयिषता तस्य प्रमाणस्य सत्यत्वमभ्युपेत्यम् ; तस्यासत्यत्वे सर्वं सत्यं स्यादिति सर्वथा सर्वशून्यत्वं चानुपपन्नम् ।

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्वथानुपपत्त्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये एकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम् ॥)

नैकस्मिन्न सम्भवात् । २ । २ ३१ ॥

निरस्तास्सौगताः । जैना अपि परमाणुकारणत्वादिकं जगतो वदन्तीत्यनन्तरं जैनपक्षः प्रतिक्षिप्यते । ते किलमन्यन्ते—जीवाजीवात्मकं जगदेतन्निरीश्वरम् ; तच्च षड्द्रव्यात्मकम् । तानि च द्रव्याणि जीवधर्माधर्मपुद्गलकालाकाशाख्यानि । तत्र जीवाः—बद्धाः, योगसिद्धाः, मुक्ताश्चेति त्रिविधाः । धर्मो नाम गतिमतां गतिहेतुभूतो द्रव्यविशेषो जगद्व्यापी, । अधर्मश्च स्थितिहेतुभूतो व्यापी । पुद्गलो नाम वर्णगन्धरसस्पर्शवद्द्रव्यम् । तच्च द्विविधम्–परमाणुरूपम् ,तत्सङ्घातरूपं च पवनज्वलनसलिलधरणीतनुभुवनादिकम् । कालस्तु अभूदस्तिभविष्यतीति व्यवहारहेतुरणुरूपो द्रव्यविशेषः । आकाशोऽप्येकोऽनन्तप्रदेशश्च । तेषु चाणु[१]व्यतिरिक्तद्रव्याणि पञ्चास्तिकाया इति च संगृह्यन्ते–जीवास्तिकायः, धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः, पुद्गलास्तिकायः, आकाशास्तिकायः–इति । अनेकदेशवर्तिनि द्रव्येऽस्तिकाय[२]शब्दः प्रयुज्यते । जीवानां मोक्षोपयोगितमपरमपि संग्रहं कुर्वन्ति–जीवाजीवास्रवबन्धनिर्जरसंवरमोक्षाः–इति । मोक्षसंग्रहेण मोक्षोपायश्च गृहीतः । स च सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपः । तत्र जीवस्तु—ज्ञानदर्शनसुखवीर्यगुणः । अजीवश्च जीवभोग्यवस्तुजातम् । आस्रवः तद्भोगोपकरणभूतमिन्द्रियादिकम् । बन्ध-

---

१. व्यतिरिक्तानि द्रव्याणि. पा ॥ – २. शब्दः । जीवानां, पा ॥

ष्चाष्टविधः-घातिकर्मचतुष्टयमघातिकर्मचतुष्टयं चेति । तत्राद्यं जीवगुणानां स्वाभाविकानां ज्ञानदर्शनवीर्यसुखानां प्रतिघातकरम् । अरं शरीरसंस्थानतदभिमानतत्स्थितितत्प्रयुक्तसुखदुःखोपेक्षाहेतुभूतम् । निर्जम् भांक्तसाधनमर्हदुपदेशावगतं तपः । संवरो नामेन्द्रियनिरोधः समाधिरूपः । मक्षस्तु निवृत्तरागादिक्लेशस्य स्वाभाविकात्मस्वरूपाविर्भावः । पृथिव्यादिहेतुभूताश्चाणवो वैशेषिकादीनामिव न चतुर्विधाः । अपित्वेकस्वभावाः । पृथिव्यादिभेदस्तु परिणामकृतः । सर्वं च वस्तुजातं सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वभिन्नत्वाभिन्नत्वादिभिरनैकान्तिकमिच्छन्ति-स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिचनास्तिच, स्यादवक्तव्यम्, स्यादस्तिचावक्तव्यं च, स्यानास्तिचावक्तव्यंच, स्यादस्तिच नास्तिचावक्तव्यं चेति सर्वत्र सप्तभङ्गीनयावतारात् । सर्वं वस्तुजातं द्रव्यपर्यायात्मकमिति द्रव्यात्मना सत्त्वैकत्व१नित्यत्वाद्युपपादयन्ति; पर्यायात्मना च तद्विपरीतम् । पर्यायाश्च द्रव्यस्यावस्थाविशेषाः । तेषां च भावाभावरूपत्वात्सत्त्वासत्त्वादिकं सर्वमुपपन्नम्-इति ॥

अत्राभिधीयते—नैकस्मिन्नसम्भवात्-इति । नैतदुपपद्यते; कुतः ? एकस्मिन्नसम्भवात्-एकस्मिन्वस्तुनि अस्तित्वनास्तित्वादेर्विरुद्धस्य च्छायातपवद्युगपदसम्भवात् । एतदुक्तं भयमि-द्रव्यस्य तद्विशेषणभूतपर्यायशब्दाभिधेयावस्थाविशेषस्य च पृथक्पदार्थत्वान्नैकस्मिन्विरुद्धधर्म२समावेशस्सम्भवति-इति । तथाहि—एकेनास्तित्वादिनाऽवस्थाविशेषेण विशिष्टस्य तदानीमेव न तद्विपरीतनास्तित्वादिविशिष्टत्वं सम्भवति । उत्पत्तिविनाशाख्यपरिणामविशेषास्पदत्वं च द्रव्यस्यानित्यत्वम्, तद्विपरीतं च नित्यत्वं तस्मिन् कथं समवैति; विरोधिधर्माश्रयत्वं च भिन्नत्वम्, तद्विपरीतंचाभिन्नत्वं कथं वा तस्मिन् समवैति ?; यथाऽश्वत्वमहिषत्वयोर्युगपदेकस्मिन्नसम्भवः । अयमर्थः पूर्वमेव भेदाभेदवादिनिरसनसमये "त-

१. नित्यत्वान्युपपादयन्ति, पा ॥—२. समावेशसम्भवइति. पा ॥

तु समन्वयात्" इत्यत्र प्रपञ्चितः। कालस्य पदार्थविशेषणतयैव प्रतीतेस्तस्य पृथगस्तित्वनास्तित्वादयो न वक्तव्याः, न च परिहर्तव्याः। कालोऽस्ति नास्तीति व्यवहारो व्यवहर्तॄणां जात्याद्यस्तित्वनास्तित्वव्यवहारतुल्यः। जात्यादयो हि द्रव्यविशेषणतयैव प्रतीयन्त इति पूर्वमेवोक्तम्। कथं पुनरेकमेव ब्रह्म सर्वात्मकमिति श्रोत्रियैरुच्यते ?; सर्वचेतनाचेतनशरीरत्वात्सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेस्सत्यसङ्कल्पस्य पुरुषोत्तमस्येत्युक्तम्। शरीरशरीरिणोस्तद्धर्माणाञ्चात्यन्तवैलक्षण्यमप्युक्तम्। किञ्च जीवादीनां पञ्चानां द्रव्याणामेकद्रव्यपर्यायत्वाभावात्तेषु द्रव्यैकत्वेन पर्यायात्मना चैकस्यानेकत्वादयो दुरुपपादाः। अथोच्येत–षडेतानि द्रव्याणि स्वकीयैः पर्यायैः स्वेनस्वेनचात्मना तथा भवन्ति–इति। एवमपि सर्वमनैकान्तिकमित्यभ्युपगमविरोधः, अन्योन्यतादात्म्याभावात्। अतो न युक्तमिदं जैनमतम्। ईश्वरानधिष्ठितपरमाणुकारणवादे पूर्वोक्तदोषास्तथैवावतिष्ठन्ते॥

एवं चात्माकार्त्स्न्यम्। २।२।३२॥

एवं भवदभ्युपगमे सति आत्मनश्चाकार्त्स्न्यं प्रसज्यते। जीवोऽसङ्ख्यातप्रदेशो देहपरिमाण इति हि भवतां स्थितिः। तत्र हस्त्यादिशरीरेऽवस्थितस्यात्मनस्ततो न्यूनपरिमाणे पिपीलिकादिशरीरे प्रविशतोऽल्पदेशाव्यापित्वेनाकार्त्स्न्यं प्रसज्यते–अपरिपूर्णता प्रसज्यत इत्यर्थः ॥३२॥

अथ सङ्कोचविकासधर्मतया आत्मनः पर्यायशब्दाभिधेयावस्थान्तरापत्त्या विरोधः परिह्रियत इत्युच्यते; तत्राह–

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः।२।२।३३॥

न च सङ्कोचविकासरूपावस्थान्तरापत्त्या विरोधः परिहर्तुं शक्यते, विकारतत्प्रयुक्तानित्यत्वादिदोषप्रसक्तेर्घटादितुल्यत्वप्रसङ्गात्॥ ३३ ॥

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः।२।२।३४॥

जीवस्य यदन्त्यं परिमाणं मोक्षावस्थागतम् , तस्य पश्चाद्देहान्तरपरिग्रहाभावादवस्थितत्वादात्मनश्च मोक्षावस्थस्य तत्परिमाणस्य चोभयोर्नित्यत्वात्तदेव आत्मनः स्वाभाविकं परिमाणमिति पूर्वमपि तस्माद्विशेषः स्यात् । अतो देहपरिमाणत्वमात्मनो न स्यादित्यसङ्गतमेवेदमार्हतमतम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये एकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम् ॥ ६ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पशुपत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥)

पत्युरसामञ्जस्यात् । २ । २ । ३५ ॥

कपिलकणादसुगतार्हतमतानामसामञ्जस्यात् वेदबाह्यत्वाच्चानिःश्रेयसार्थिभिरनादरणीयत्वमुक्तम् ; इदानीं पशुपतिमतस्य वेदविरोधादसामञ्जस्याच्च अनादरणीयतोच्यते । तन्मतानुसारिणश्चतुर्विधाः–[१]कापालाः, कालामुखाः, पाशुपताः, शैवाश्च—इति । सर्वेचैते वेदविरुद्धां तत्त्वप्रक्रियाम् ऐहिकामुष्मिकनिश्श्रेयससाधनकल्पनाश्च कल्पयन्ति । निमित्तोपादानयोर्भेदं, निमित्तकारणं च पशुपतिमाचक्षते । तथा निश्श्रेयससाधनमपि मुद्रिकाषट्कधारणादिकम्।यथाहुः कापालाः [२]"मुद्रिकाषट्कतत्त्वज्ञः परमुद्राविशारदः । भगासनस्थमात्मानं ध्यात्वा निर्वाणमृच्छति।[३]कण्ठिका रुचकं चैव कुण्डलं च शिखामणिः । भस्म यज्ञोपवीतं च मुद्राषट्कं प्रचक्षते ॥ आभिर्मुद्रितदेहस्तु नभूय इह जायते" इत्यादिकम् । तथा कालामुखा अपि कपालपात्रभोजनशवभस्मस्नानतत्प्राशनलगुडधारणसुराकुम्भस्थापनतदाधारदेवपूजादिकमैहिकामुष्मिकसकलफलसाधनमभिदधति ।[२]"रुद्राक्षकङ्कणं हस्ते जटा चैका च मस्तके । कपाल भस्मना स्नानम्" इत्यादि च प्रसिद्धं शैवागमेषु । तथा केनचित्क्रियाविशेषेण विजातीयानामपि ब्रा-

---

१. कापालिकाः. पा ॥　　२. शैवागमे ॥　　३. कर्णिका पा. ॥

ह्मण्यप्राप्तिमुत्तमाश्रमप्राप्तिं चाहुः—१"दीक्षाप्रवेशमात्रेण ब्राह्मणो भवति क्षणात्। कापालं व्रतमास्थाय यतिर्भवति मानवः" इति ॥

(सिद्धान्तः)

तत्रेदमुच्यते—पत्युरसामञ्जस्यात्—इति । "नैकस्मिन्नसम्भवात्" इत्यतो 'न' इत्यनुवर्तते । पत्युः-पशुपतेः, मतं नादरणीयम्; कुतः? असामञ्जस्यात्। असामञ्जस्यं च अन्योन्यव्याघातात् वेदविरोधाच्च । मुद्रिकाषट्कधारणभगासनस्थात्मध्यानसुराकुम्भस्थापनतत्स्थदेवतार्चन गूढाचारश्मशान भस्मस्नानप्रणवपूर्वाभिध्यानान्यन्योन्यविरुद्धानि वेदविरुद्धंचेद तत्त्वपरिकल्पनमुपासनमाचारश्च । वेदाः खलु परं ब्रह्म नारायणमेव जगन्निमित्तमुपादानंच वदन्ति—२"नारायण परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः । नारायण परो ज्योतिरात्मा नारायणः परः" ३"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति" ४"सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति" ५"तदात्मानं स्वयमकुरुत" इत्यादयः । परब्रह्मभूतपरमपुरुषवेदनमेव च मोक्षसाधनमुपासनं वदन्ति—६"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसस्तु पारे" ६"तमेवं विद्वानमृत इह भवति। नान्यः पन्था अयनाय विद्यते" इत्यादिना एकतां गतास्सर्वे वेदान्ताः, तदितिकर्तव्यताभूतं कर्म च वेदविहितवर्णाश्रमसम्बन्धि यज्ञादिकमेव वदन्ति—७"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" ७"एतमेव लोकमिच्छन्तः प्रव्राजिनः प्रव्रजन्ति" इत्यादयः । केवलपरतत्त्वप्रतिपादनपरनारायणानुवाकसिद्धतत्त्वपराः केषुचिदुपासनादिविधिपरेषु वाक्येषु श्रुताः प्रजापतिशिवेन्द्राकाशप्राणादिशब्दा इति ८'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्"इत्यत्र प्रतिपादितम्। तथा ९'एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः" इत्यारभ्य ९'स एकाकी न रमेत" इति सृष्टिवा-

१. शैवागमे ॥ — २. तै. नारा. १३ ॥ — ३. छां. ६-२-३ ॥— ४. तै. आन. ६. अनु. २ ॥ — ५. तै. आन. ७ ॥ — ६. पुरुषसू ॥— ७. बृ. ६-४-२२ ॥ — ८. शारी. १-१-३१ ॥ — ९. महोप. १-१ ॥

क्योदितं स्रष्टारं नारायणमेव समानप्रकरणस्थाः [1]"सदेव सौम्येदमग्रे" इत्यादिषु साधारणाः सद्ब्रह्मात्मादिशब्दाः प्रतिपादयन्तीति [2]"जन्माद्यस्य यतः" इत्यत्र प्रतिपादितम् । अतो वेदविरुद्धतत्त्वोपासनानुष्ठानाभिधानात्पशुपतिमतमनादरणीयमेव ॥ ३५ ॥

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च । २ । २ । ३६ ॥

वेदबाह्यानामनुमानाद्धि केवलनिमित्तेश्वरकल्पना; तथा सति दृष्टानुसारेण कुलालादिवदधिष्ठानं कर्तव्यम्; न च कुलालादेर्मृदाद्यधिष्ठानवत्पशुपतेर्निमित्तभूतस्य प्रधानाधिष्ठानमुपपद्यते, अशरीरत्वात्; सशरीराणामेव हि कुलालादीनामधिष्ठानशक्तिर्दृष्टा; नचेश्वरस्य सशरीरत्वमभ्युपगन्तव्यम्, तच्छरीरस्य सावयवस्य नित्यत्वं अनित्यत्वे च [3]"शास्त्रयोनित्वात्" इत्यत्र दोषस्योक्तत्वात् ॥ ३६ ॥

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः । २ । २ । ३७ ॥

यथा भोक्तुर्जीवस्य करणकलेवराद्यधिष्ठानमशरीरस्यैव दृश्यते; तद्वन्महेश्वरस्याप्यशरीरस्यच प्रधानाधिष्ठानमुपपद्यत इति चेत्—न, भोगादिभ्यः पुण्यपापरूपकर्मफलभोगार्थं पुण्यपापरूपादृष्टकारितं हि तदधिष्ठानम्; तद्वत्पशुपतेरपि पुण्यपापरूपादृष्टवत्तया तत्फलभोगादि सर्वं प्रसज्येत; अतो नाधिष्ठानसम्भवः ॥ ३७ ॥

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा । २ । २ । ३८ ॥

वाशब्दश्चार्थे; पशुपतेः पुण्यापुण्यरूपादृष्टवत्त्वे जीववदन्तवत्त्वं सृष्टिसंहाराद्यास्पदत्वमसर्वज्ञताच स्यादित्यनादरणीयमेवेदं मतम्, [4]"विरोधे त्वनपेक्षं स्यात्" इत्यादिना वेदविरुद्धस्यानादरणीयत्वे सिद्धेऽपि पशुपतिमतस्य वेदविरुद्धताख्यापनार्थं "पत्युरसामञ्जस्यात्" इति पुन

१. छा. ६-२-१ ॥—२. शारी. १-१-२ ॥—३. शारी. १-१-३ ॥
४. पू. मी. १-३-३ ॥

रारम्भः। यद्यपि पाशुपतशैवयोर्वेदाविरोधिन इव केचन धर्माः प्रतीयन्ते; तथापि वेदविरुद्धनिमित्तोपादानभेदकल्पनापरावरतत्त्वव्यत्ययकल्पनामूलत्वात् सर्वम सामञ्जस्यमेवेति 'असामञ्जस्यात्' इत्युक्तम् ॥ ३८ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पशुपत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये उत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम् ॥ ८ ॥

उत्पत्त्यसम्भवात् । २ । २ । ३९ ॥

कपिलादितन्त्रसामान्याद्भगवदभिहितपरमनिःश्रेयससाधनावबोधिनि पञ्चरात्रतन्त्रेऽप्यप्रामाण्यमाशङ्क्य निराक्रियते; तत्रैवमाशङ्कते १ "परमकारणात्परब्रह्मभूताद्वासुदेवात्सङ्कर्षणो नाम जीवो जायते सङ्कर्षणात्प्रद्युम्नसंज्ञं मनो जायते तस्मादनिरुद्धसंज्ञोऽहङ्कारो जायते" इति हि भागवतप्रक्रिया। अत्र जीवस्योत्पत्तिः श्रुतिविरुद्धा प्रतीयते; श्रुतयो हि जीवस्यानादित्वं वदन्ति २ "न जायते म्रियते वा विपश्चित" इत्याद्याः ॥ ३९ ॥

न च कर्तुः करणम् । २ । २ । ४० ॥

१ "सङ्कर्षणात्प्रद्युम्नसंज्ञं मनो जायते" इति कर्तुः जीवात्, करणस्य मनस उत्पत्तिर्न सम्भवति, ३ "एतस्माज्जायते प्राणो मनस्सर्वेन्द्रियाणि च" इति परस्मादेव ब्रह्मणो मनसोऽप्युत्पत्तिश्रुतेः। अतः श्रुतिविरुद्धार्थप्रतिपादनादस्यापि तन्त्रस्य प्रामाण्यं प्रतिषिध्यत इति ॥ ४० ॥

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः । २ । २ । ४१ ॥

वाशब्दात्पक्षो विपरिवर्तते; विज्ञानं चादिचेति परब्रह्म विज्ञानादि। सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानामपि परब्रह्मभावे सति तत्प्रतिपादनपरस्य

१. परमसंहिता ॥—२. कठ. २-१८ ॥—३. मु. २-१-३ ॥

शास्त्रस्य प्रामाण्यं न प्रतिषिध्यते। एतदुक्तं भवति भागवतप्रक्रियामजानतामिदं चोद्यं-यज्जीवोत्पत्तिर्विरुद्धाऽभिहिता—इति। वासुदेवाख्यं परं ब्रह्मैवाश्रितवत्सलं स्वाश्रितसमाश्रयणीयत्वाय स्वेच्छया चतुर्धाऽवतिष्ठत इति हि तत्प्रक्रिया। यथा पौष्करसंहितायां [1]"कर्तव्यत्वेन वै यत्र चातुरात्म्यमुपास्यते। क्रमागतैस्स्वसंज्ञाभिः ब्राह्मणैरागमं तु तत्" इत्यादि। तच्च चातुरात्म्योपासनं वासुदेवाख्यपरब्रह्मोपासनमिति सात्त्वतसंहितायामुक्तं [2]"ब्राह्मणानां हि सद्ब्रह्मवासुदेवाख्ययाजिनाम्। विवेकद परं शास्त्रं ब्रह्मोपनिषदं महत्"। इति। तद्धि वासुदेवाख्यं परं ब्रह्म सम्पूर्णषाड्गुण्यवपुः सूक्ष्मव्यूहविभवभेदभिन्नं यथाधिकारं भक्तैः ज्ञानपूर्वेण कर्मणा अभ्यर्चितं सम्यक्प्राप्यते। विभवार्चनाद्व्यूहं प्राप्य व्यूहार्चनात्परं ब्रह्म वासुदेवाख्यं सूक्ष्मं प्राप्यत इति वदन्ति। विभवो हि नाम रामकृष्णादिप्रादुर्भावगणः। व्यूहो वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धरूपश्चतुर्व्यूहः। सूक्ष्मं तु केवलषाड्गुण्यविग्रहं वासुदेवाख्यं परब्रह्म। यथा पौष्करे [1]"यस्मात्सम्यक्परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम्। अस्मादवाप्यते शास्त्रात् ज्ञानपूर्वेण कर्मणा" इत्यादि। अतस्सङ्कर्षणादीनामपि परस्यैव ब्रह्मणः स्वेच्छाविग्रहरूपत्वात् [3]"अजायमानो बहुधा विजायते" इति श्रुतिसिद्धस्यैवाश्रितवात्सल्यनिमित्तस्वेच्छाविग्रहसंग्रहरूपजन्मनोऽभिधानात्तदभिधायि-शास्त्रप्रामाण्यस्याप्रतिषेधः-इति। तत्र जीवमनोऽहङ्कारतत्त्वानामधिष्ठातारः सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धा इति तेषामेव जीवादिशब्दैरभिधानमविरुद्धम्; यथा आकाशप्राणादिशब्दैः ब्रह्मणोऽभिधानम्॥ ४१॥

विप्रतिषेधाच्च। २। २। ४२॥

विप्रतिषिद्धा हि जीवोत्पत्तिस्तस्मिन्नपि तन्त्रे; यथोक्तं परमसंहितायाम् [4]"अचेतना परार्था च नित्या सततविक्रिया। त्रिगुणा कर्मि-

१. पौष्करसंहिता॥—२. सात्त्वतसंहिता॥—३. पुरुषसू॥—४. परमसंहिता॥

णां चैत्रं प्रकृतेरूपमुच्यते ॥ व्याप्तिरूपेण सम्बन्धस्तयाश्च पुरुपस्य च। सह्यनादिरनन्तश्च परमार्थेन निश्चितः" इति। एवं सर्वास्वपि संहितासु जीवस्य नित्यत्ववचनाज्जीवस्वरूपोत्पत्तिः पञ्चरात्रतन्त्रे प्रतिपिद्धैव। जन्ममरणादिव्यवहारस्तु लोकवेदयोर्जीवस्य यथोपपद्यते, तथा १' नात्मा श्रुतः" इत्यत्र वक्ष्यते। अतो जीवस्योत्पत्तिस्तत्रापि प्रतिपिद्धेवेति जीवोत्पत्तिवादनिमित्ताप्रामाण्यशङ्का दूरोत्सारिता। यश्चैप केपाञ्चिदुद्घोपः २ "साङ्गेपु वेदेपु निष्ठामलभमानः शाण्डिल्यः पञ्चरात्रशास्त्रमधीतवान्" इति। साङ्गेपु वेदेपु पुरुषार्थनिष्ठा न लब्धेति वचनाद्वेदविरुद्धमेवेदं तन्त्रम् इति, सोऽप्यनाघ्रातवेदवचसामनाकलिततदुपबृंहणन्यायकलापानां श्रद्धामात्रविजृम्भितः; यथा ३ 'प्रातःप्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम्" इति अनुदितहोमनिन्दा उदितहोमप्रशंसार्थेत्युक्तम्; यथा च भूमविद्याप्रक्रमे नारदेन ४"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमम्" इत्यारभ्य सर्वं विद्यास्थानमभिधाय ५"सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्" इति भूमविद्याव्यतिरिक्तासु सर्वासु विद्यास्वात्मवेदनालाभवचनं वक्ष्यमाणभूमविद्याप्रशंसार्थं कृतम्; अथवा अस्य नारदस्य साङ्गेपु वेदेपु यत्परतत्त्वं प्रतिपाद्यते, तदलाभनिमित्तोऽयं वादः; एवमेव शाण्डिल्यस्येति। पश्चाद्वेदान्तवेद्यवासुदेवाख्यपरब्रह्मतत्त्वाभिधानादवगम्यते। तथा वेदार्थस्य दुर्ज्ञानतया सुखावबोधार्थश्शास्त्रारम्भः परमसंहितायामुच्यते ६ "अधीता भगवन् वेदास्साङ्गोपाङ्गास्सविस्तराः। श्रुतानि च मयाऽङ्गानि वाकोवाक्ययुतानि च। नचैतेपु समस्तेपु संशयेन विना क्वचित्। श्रेयोमार्गं प्रपश्यामि येन सिद्धिर्भविष्यति" इति, ६' वेदान्तेपु यथा सारं संगृह्य भगवान् हरिः। भक्तानुकम्पया विद्वान् सञ्चिक्षेप यथासुखम्" इति च। अतस्स भगवान्वेदैकवेद्यः परब्रह्माभिधानो वासुदेवो निखिलहेयप्रत्यनीकक-

१. शारी. २-३-१८ ॥ २ ब्राह्मणं ३ ऐतरेयब्राह्मणे ४-५ छां. ७-१-२,३॥ ६. ब्राह्मणं ॥

ल्याणैक तानानन्तज्ञानानन्दाद्यपरिमितोदारगुणसागरस्सत्यसङ्कल्पश्चातु-
र्वर्ण्यं चातुराश्रम्यव्यवस्थयाऽवस्थितान् धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थाभि
मुखान् भक्तानवलोक्यापारकारुण्यसौशील्यवात्सल्यौदार्यमहोदधिः स्व-
स्वरूपस्वविभूतिस्वाराधनतत्फलयाथात्म्यावबोधिनो वेदान् ऋग्यजुस्सा-
माथर्वभेदभिन्नानपरिमितशाखान् विध्यर्थवादमन्त्ररूपान् स्वेतरसकल-
सुरनरदुरवगाह्यांश्चावधार्य तदर्थयाथात्म्यावबोधि पञ्चरात्रशास्त्रं स्वयमे-
व निरमिमीतेति निरवद्यम् ॥

यत्तु—परैस्सूत्रचतुष्टयं कस्यचिद्विरुद्धांशस्य प्रामाण्यनिषे-
धपरं व्याख्यातम्; तत्सूत्राक्षराननुगुणम्, सूत्रकाराभिप्रायवि-
रुद्धञ्च। तथाहि—सूत्रकारेण वेदान्तन्यायाभिधायीनि सूत्राण्यभि-
धाय वेदोपबृंहणाय च भारतसंहितां शतसहस्रिकां कुर्वता मोक्षधर्मे ज्ञा-
नकाण्डेऽभिहितं १ "गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः। य इच्छे-
त्सिद्धिमास्थातुं देवतां कां यजेत सः" इत्यारभ्य महता प्रबन्धेन पञ्चरात्र-
शास्त्रप्रक्रियां प्रतिपाद्य २"इदं शतसहस्राद्धि भारताख्यानविस्तरात्। आवि-
ध्य मतिमन्थानं दध्नो घृतमिवोद्धृतम्। नवनीतं यथा दध्नो द्विपदां ब्राह्म
णो यथा। आरण्यकं च वेदेभ्यः ओषधीभ्यो यथाऽमृतम्" ३"इदं महोप-
निषदं चतुर्वेदसमन्वितम्। साङ्ख्ययोगकृतान्तेन पञ्चरात्रानुशब्दितम्" ४"इ-
दं श्रेय इदं ब्रह्म इदं हितमनुत्तमम्। ऋग्यजुस्सामभिर्जुष्टमथर्वाङ्गिरसैस्तथा।
भविष्यति प्रमाणं वा एतदेवानुशासनम्" इति। साङ्ख्ययोगशब्दा-
भ्यां ज्ञानयोगकर्मयोगावभिहितौ; यथोक्तं ५ "ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां
कर्मयोगेन योगिनाम्" इति। भीष्मपर्वण्यपि ६ "ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः
शूद्रैश्च कृतलक्षणैः। अर्चनीयश्च सेव्यश्च पूजनीयश्च माधवः। सात्वतं
विधिमास्थाय गीतस्सङ्कर्षणेन यः" इति। कथमेवं ब्रुवाणो बादरायणो वे-

१. भारते शान्ति–मोक्ष. ३३९–१ ॥ २. भारते. शान्ति–मोक्ष. ३४४–११ ॥
३. भारते शान्ति मोक्ष ३५०–१११ ॥ ४. भारते शान्तिमोक्ष ३४६–३२ ॥
५. गी० ३–३ ॥ ६. भारते भीष्मपर्वणि ६६–३६, ४० ॥

द्विदग्रेसरो वेदान्तवेद्यपरब्रह्मभतवासुदेवोपासनार्चनादिप्रतिपादनपरस्य-सात्त्वतशास्त्रस्याप्रामाण्य ब्रूयात्। ननुच १"साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रंवेदाः पाशुपतं तथा।" "किमेतान्येकनिष्ठानि पृथङ्निष्ठानि वा मुने" इत्यादिना साङ्ख्यादीनामप्यादरणीयतोच्यते; शारीरके तु साङ्ख्यादीनि प्रतिषिध्यन्ते; अत इदमपि तन्त्रं तत्तुल्यम्; नेत्युच्यते, यतस्तत्रापोममेव शारीरकोक्तं न्यायमवतारयन्ति; "किमेतान्येकनिष्ठानि पृथङ्निष्ठानिवा" इति प्रश्नस्यायमर्थः–किं साङ्ख्ययोगपाशुपतवेदपञ्चरात्राण्येकतत्त्वप्रतिपादनपराणि, पृथक्तत्त्वप्रतिपादनपराणि वा; यदैकतत्त्वप्रतिपादनपराणि; किं तदेकं तत्त्वम्; यदा तु पृथक्तत्त्वप्रतिपादनपराणि, तदैषां परस्परं विरुद्धार्थप्रतिपादनपरत्वाद्वस्तुनि विकल्पासम्भवाच्चैकमेव प्रमाणमङ्गीकरणीयम्, किं तदेकम्—इति। अस्योत्तरं ब्रुवन् २ "ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानिवै। साङ्ख्यस्य वक्ता कपिलः" इत्यारभ्य साङ्ख्ययोगपाशुपतानां कपिलहिरण्यगर्भपशुपतिकृतत्वेन पौरुषेयत्वं प्रतिपाद्य३"अवान्तरतपा नाम वेदाचार्यस्स उच्यते"इति वेदानामपौरुषेयत्वमभिधाय ४"पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणस्स्वयम्" इतिपञ्चरात्रतंत्रस्य वक्ता नारायणः स्वयमेवेत्युक्तवान्। एवं वदतश्चायमाशयः–पौरुषेयाणां तन्त्राणां परस्परविरुद्धवस्तुवादितया अपौरुषेयत्वेन निरस्तप्रमादादिनिखिलदोषगन्धवेदवेद्यवस्तुविरुद्धाभिधायित्वाच्च यथावस्थितवस्तुनि प्रामाण्यं दुर्लभम्; वेदवेद्यश्च परब्रह्मभूतो नारायणः; अतस्तत्तत्तन्त्राभिहितप्रधानपुरुषपशुपतिप्रभृतितत्त्वस्य वेदान्तवेद्यपरब्रह्मभूतनारायणात्मकतयैव वस्तुत्वमभ्युपगमनीयम्—इति। तदिदमाह च५"सर्वेषु च नृपश्रेष्ठज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते। यथागमं यथान्यायं निष्ठा नारायणः प्रभुः" इति। "यथागमं यथान्यायम्" इति न्यायानुगृहीततत्तदागमोक्तं वस्तु परामृशतो नारायण एव सर्वस्य वस्तुनो निष्ठेति दृश्यते, अब्रह्मात्मकत-

१. भारते शान्ति-मोक्ष ३४०-१, २ ॥ २. भारते शान्ति—मोक्ष ३४०–६३,६४॥ ३. भारते शान्ति–मोक्ष ३४०–६२ ॥ ४. भार, शा, मो, ३४०–६७, ६८ ॥ ५. छा, ३–१४–१ ॥

या तत्तत्तन्त्राभिहितानां तत्त्वानां १"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" २"विश्वं नारायणः" इत्यादिना सर्वस्य ब्रह्मात्मकतामनुसन्दधानस्य नारायण एव निष्ठेति प्रतीयत इत्यर्थः। अतो वेदान्तवेद्यः परब्रह्मभूतो नारायणः स्वयमेव पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्तेति, तत्स्वरूपतदुपासनाभिधायि तत्तन्त्रमिति च तस्मिन्नितरतन्त्रसामान्यं न केनचिदुद्भावयितुं शक्यम्। अतस्तत्रैवेदमुच्यते ३'एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च। परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रं तु कथ्यते" इति। सांख्यं च योगश्च सांख्ययोगम्, वेदाश्चारण्यकानि च वेदारण्यकम् परस्पराङ्गान्येतानि एकतत्त्वप्रतिपादनपरतयैकीभूतानि एकं पञ्चरात्रमिति कथ्यते। एतदुक्तं भवति—सांख्योक्तानि पञ्चविंशतितत्त्वानि, योगोक्तं च यमनियमाद्यात्मकं योगम्, वेदोदितकर्मस्वरूपाण्यङ्गीकृत्य तत्त्वानां ब्रह्मात्मकत्वं। योगस्य च ब्रह्मोपासनप्रकारत्वं कर्मणां च तदाराधनरूपतामभिदधति- ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपादयन्त्यारण्यकानि। एतदेव परेण ब्रह्मणा नारायणेन- स्वयमेवपञ्चरात्रतन्त्रे विशदीकृतम्—इति। शारीरके च सांख्योक्ततत्त्वानामब्रह्मात्मकतामात्रं निराकृतम्; न स्वरूपम्। योगपाशुपतयोश्चेश्वरस्य केवलनिमित्तकारणता, परावरतत्त्वविपरीतकल्पना, वेदबहिष्कृताचारो निराकृतः, न योगस्वरूपम्, पशुपतिस्वरूपं च। अतः ४'सांख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा। आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः" इत्यपि तत्तदभिहिततत्त्वस्वरूपमात्रमङ्गीकार्यम्, जिनसुगताभिहिततत्त्ववत्सर्वं न बहिष्कार्यमित्युच्यते। ५यथागमं "यथान्यायं निष्ठा नारायणः प्रभुः" इत्यनेनैकार्थ्यात्॥ ४२॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये उत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम्॥ ८॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये
द्वितीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः॥ २॥

१. छा. ३-१४-१॥—२. तै. नारा. १३॥—३. भारते. शा. मो. ३४९-८१
४. भारते. शान्ति. मोक्ष. ३५०-६३॥—५. भारते. शान्ति. मो. ३५०-६८॥

श्रीमते रामानुजाय नमः.

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

(द्वितीयाध्याये-तृतीयपादे-वियदधिकरणम् ॥)

न वियदश्रुतेः । २ । ३ । १ ॥

साङ्ख्यादिवेदबाह्यतन्त्राणां न्यायाभासमूलतया विप्रतिषेधाच्चासामञ्जस्यमुक्तम्; इदानीं स्वपक्षस्य विप्रतिषेधादिदोषाभावख्यापनाय अकार्यतयाऽभिमतचिदचिदात्मकप्रपञ्चस्य कार्यताप्रकारो विशोध्यते। तत्र वियदुत्पद्यते, नवा—इति संशय्यते। किं युक्तम्? न वियदुत्पद्यत इति। कुतः? अश्रुतेः; संभावितस्य हि श्रवणसंभवः; असंभावितस्य तु गगनकुसुमवियदुत्पत्त्यादेः शब्दाभिधेयत्वं न संभवति। न खलु निरवयवस्य सर्वगतस्याकाशस्य आत्मन इवोत्पत्तिर्निरूपयितुं शक्यते; अत एव उत्पत्त्यसंभवात् छान्दोग्ये सृष्टिप्रकरणे तेजःप्रभृतीनामेवोत्पत्तिराम्नायते–[1]"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" इति। तैत्तिरीयकाथर्वणादिषु [2]"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्संभूतः" [3]"एतस्माज्जायते प्राणो मनस्सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुर्ज्योतिरापः" इत्यादिषु श्रूयमाणा वियदुत्पत्तिः अर्थविरोधाद्बाध्यते–इति ॥ १ ॥

(सिद्धान्तः)

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—

अस्ति तु । २ । ३ । २ ॥

अस्तित्वाकाशस्योत्पत्तिः; अतीन्द्रियार्थविषया हि श्रुतिः प्रमाणान्तराप्रतीतामपि वियदुत्पत्तिं प्रतिपादयितुं समर्थैव। न च श्रुतिप्रतिप-

---

१ छा. ६-२-३ ॥—२. तै. आन. १ अनु ॥—३. मु. २-१-३ ॥

त्रेऽर्थे तद्विरोधिनिरवयवत्वादिहेतुकमनुत्पत्त्यनुमानमुदेतुमलम्; आत्मनोऽनुत्पत्तिर्न निरवयवत्वप्रयुक्तेति वक्ष्यते ॥ २ ॥

पुनश्चोदयति—

गौण्यसम्भवाच्छब्दाच्च । २ । ३ । ३ ॥

१ "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्यादिवियदुत्पत्तिश्रुतिर्गौणीति कल्पयितुं युक्तम् , २ "तत्तेजोऽसृजत" इति सिसृक्षोः ब्रह्मणः प्रथमं तेज उत्पद्यत इति तेजउत्पत्तिप्राथम्येन वियदुत्पत्तिप्रतिपादनासम्भवात् , ३ "वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्" इति वियतोऽमृतत्वशब्दाच्च ॥ ३ ॥

कथमेकस्य संभूतशब्दस्य आकाशापेक्षया गौणत्वम् ,अग्न्याद्यपेक्षया मुख्यत्वमिति चेत्-तत्राह—

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् । २ । ३ । ४ ॥

एकस्यैव १ "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्संभूतः" इत्याकाशे मुख्यत्वासंभवात् गौणतया प्रयुक्तस्य सम्भूतशब्दस्य १ "वायोरग्निः" इत्यादिष्वनुषक्तस्य मुख्यत्वं स्यादेव; ब्रह्मशब्दवत्—यथा ब्रह्मशब्दः, ४ "तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते" इत्यत्र प्रधाने गौणतया प्रयुक्तस्तस्मिन्नेव प्रकरणे ५ "तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते" इति ब्रह्मणि मुख्यतया प्रयुज्यते; तद्वत् । अनुषङ्गे च श्रवणावृत्ताविवाभिधानावृत्तिर्विद्यत एवेत्यर्थः ॥ ४ ॥

परिहरति—

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकात् । २ । ३ । ५ ॥

छान्दोग्यश्रुत्यनुसारेणान्यासां वियदुत्पत्तिवादिनीनां श्रुतीनां गौ-

१. तै. आन. १ अनु॥—२. छा. ६-२-३॥—३. बृ. ४-३-३॥—४. मु. १-१-६॥५ मु. १-१-८॥

णत्वं कल्पयितुं न युज्यते, यतः छान्दोग्यश्रुत्यैव वियदुत्पत्तिरङ्गीकृता; १ येनाश्रुतं श्रुतम्" इत्यादिना ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानात् । तस्या हि प्रतिज्ञायाः अहानिराकाशस्यापि ब्रह्मकार्यत्वेन तदव्यतिरेकादेव भवति ॥ ५ ॥

शब्देभ्यः । २ । ३ । ६ ॥

इतश्च वियदुत्पत्तिः छान्दोग्ये प्रतीयते, २ 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इति प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणशब्दात्; ३ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्येवमादिशब्देभ्यश्च कार्यत्वेन ब्रह्मणोऽव्यतिरेकप्रतीतेः । नच ४ "तत्तेजोऽसृजत" इति तेजस उत्पत्तिश्रुतिर्वियदुत्पत्तिं वारयति । वियदुत्पत्त्यवचनमात्रेण तेजसः प्रतीयमानं प्राथम्यं श्रुत्यन्तरप्रतिपन्नां वियदुत्पत्तिं न निवारयितुमलम् ॥ ६ ॥

यावद्विकारन्तु विभागो लोकवत् । २ । ३ । ७ ॥

तुशब्दश्चार्थे; ३ "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्"इत्यादिभिराकाशस्य विकारत्ववचनेन तस्याकाशस्य ब्रह्मणो विभागः–उत्पत्तिरप्युक्तैव । लोकवत्–यथा लोके एते सर्वे देवदत्तपुत्रा इत्यभिधाय तेषु केषांचित्तत उत्पत्तिवचनेन सर्वेषामुत्पत्तिरुक्ता स्यात्, तद्वत् । एवंच सति ५' वायुश्चान्तरिक्षञ्चैतदमृतम्" इति सुराणामिव चिरकालस्थायित्वाभिप्रायम् ॥ ७ ॥

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः । २ । ३ । ८ ॥

अनेनैव हेतुना मातरिश्वनो वायोरप्युत्पत्तिर्व्याख्याता । वियन्मातरिश्वनोः पृथग्योगकरणं ६"तेजोऽतस्तथाह्याह" इति मातरिश्वपरामर्शार्थम् ॥ ८ ॥

१. छा. ६-१-३॥—२. छा. ६-२-१॥—३. छा. ६-८-७ ॥—४. छा. ६- -३ ॥ ५. बृ. ४-३-३ ॥—६. शारी. २-३-१० ॥

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः । २ । ३ । ९ ॥

तुशब्दोऽवधारणार्थः; असम्भवः—अनुत्पत्तिः । सतः—ब्रह्मण एव; तद्व्यतिरिक्तस्य कस्यचिदप्यनुत्पत्तिर्न सम्भवति, अनुपपत्तेः । एतदुक्तं भवति वियन्मातरिश्वनोरुत्पत्तिप्रतिपादनमुदाहरणार्थम् ; उत्पत्त्यसम्भवस्तु सतः परमकारणस्य परस्यैव ब्रह्मणः । तद्व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्याव्यक्तमहदहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियवियत्पवनादिकस्य प्रपञ्चस्यैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञादिभिरवगतकार्यभावस्यानुत्पत्तिर्नोपपद्यत इति ॥९॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वियदधिकरणम् ॥ १ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तेजोधिकरणम् ॥ २ ॥)

तेजोऽतस्तथाह्याह । २ । ३ । १० ॥

ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य ब्रह्मकार्यत्वमुक्तम् , इदानीं व्यवहितकार्याणां किं केवलात्तत्तदनन्तरकारणभूताद्वस्तुन उत्पत्तिः, आहोस्वित्तत्तद्रूपाद्ब्रह्मण इति चिन्त्यन्ते । किं युक्तम्? केवलात्तत्तद्वस्तुन इति । कुतः तेजस्तावत् अतः—मातरिश्वन एवोत्पद्यते ।[१]"वायोरग्निः" इति ह्याह ।१०।

आपः । २ । ३ । ११ ॥

आपोऽपि अतः—तेजस एवोत्पद्यन्ते, [१]'अग्नेरापः' [२]'तदपोऽसृजत" इति ह्याह ॥ ११ ॥

पृथिवी । २ । ३ । १२ ॥

पृथिवी अद्भ्य उत्पद्यते—[३]"अद्भ्यः पृथिवी" [४]"ता अन्नमसृजन्त" इति ह्याह ॥ १२ ॥

---

१. तै, आन. १—अनु. २ ॥—२. छा. ६-२-३ ॥ ३, तै. आन.१ अनु. २ ॥—४, छा. ६—२—४ ॥

नन्वन्नशब्देन कथं पृथिव्यभिधीयते ?, अत आह-

अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः । २ । ३ । १३ ॥

महाभूतसृष्ट्यधिकारात्पृथिव्येवान्नशब्देनोक्तेति प्रतीयते । अदनीयस्य सर्वस्य पृथिवीविकारत्वात् कारणे कार्यशब्दः। तथा वाक्यशेषे भूतानां रूपसंशब्दने, १"यदग्नेरोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य" इत्यप्तेजसोस्सजातीयमेवान्नशब्दवाच्यं प्रतीयते। शब्दान्तरंच समानप्रकरणे२"अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी"इति श्रूयते। अतः पृथिव्येवान्नशब्देनोच्यत इत्यद्भ्यः एव पृथिवी जायते। उदाहृतास्तेजः प्रभृतयः प्रदर्शनार्थाः। महदादयोऽपि स्वानन्तरवस्तुन एवोत्पद्यन्ते, यथाश्रुत्यभ्युपगमाविरोधात् । ३"एतस्माज्जायते प्राणो मनस्सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी" ४"तस्मादेतद्ब्रह्मनामरूपमन्नं च जायते"२"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः"२"तत्तेजोऽसृजत" इत्यादयो ब्रह्मणः परम्परया कारणत्वेऽप्युपपद्यन्त इति ॥ १३ ॥

(सिद्धान्तः)

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः । २ । ३ । १४ ॥

तुशब्दात्पक्षो व्यावृत्तः, महदादिकार्याणामपि तत्तदनन्तरवस्तुशरीरकस्स एव पुरुषोत्तमः कारणम्, कुतः?तदभिध्यानरूपात्तल्लिङ्गात् ;अभिध्यानम्-बहु स्यामिति सङ्कल्पः, ५"तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति" ६"ता आप ऐक्षन्त बह्व्यस्स्याम:प्रजायेमहि" इत्यात्मनो बहुभवनसङ्कल्परूपेक्षणश्रवणान्महदहङ्काराकाशादीनामपि कारणानां तथाविधेक्षापूर्विकैव स्वकार्यसृष्टिरिति गम्यते, तथाविधंचेक्षणं तत्तच्छरीरकस्य परस्यैव ब्रह्मण उपपद्यते । श्रूयतेच सर्वशरीरकत्वेन सर्वात्मकत्वं परस्य ब्रह्मणोऽन्त-

१. छा. ६-४-१ ॥—२ तै. आन. १ अनु. २ ॥—३. मु. २-१-३ ॥
४. मु. १-१-९ ॥—५छा. ६-२-३ ॥—६. छा. ६-२-४ ॥

र्यामिब्राह्मणे १"यः पृथिव्यां तिष्ठन्" १ "योऽप्सु तिष्ठन्" १' यस्तेजसि तिष्ठन्" १" यो वायौ तिष्ठन् "१ " य आकाशे तिष्ठन् " इत्यादि । सुबालोपनिषदि च २"यस्य पृथिवी शरीरम्" इत्यारभ्य २"यस्याहङ्कारश्शरीरं" २"यस्य बुद्धिश्शरीरं" २' यस्याव्यक्तं शरीरम्" इत्यादि ॥

यच्चोक्तम् ३"एतस्माज्जायते प्राणो मनस्सर्वेन्द्रियाणि च" इत्यादिषु श्रूयमाणा ब्रह्मणः प्राणादिसृष्टिः परम्परयाऽप्युपपद्यत इति; अत्रोच्यते–

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यतेच । २ । ३ । १५ ॥

तुशब्दोऽवधारणार्थः । अव्यक्तमहदहङ्काराकाशादिक्रमाद्विपर्ययेण यस्सर्वेषां कार्याणां ब्रह्मान्तर्यरूपः क्रमः ३"एतस्माज्जायते प्राणः" इत्यादिषु प्रतीयते, सच क्रमस्तत्तद्रूपाद्ब्रह्मणस्तत्तत्कार्योत्पत्तेरेवोपपद्यते । परम्परया कारणत्वे ह्यानन्तर्यश्रवणमुपरुध्येत । अतः ३"एतस्माज्जायते"इत्यादिकमपि सर्वस्य ब्रह्मणः साक्षात्सम्भवस्योत्तम्भनम् ॥ १५ ॥

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् । २ । ३ । १६ ॥

विज्ञानसाधनत्वादिन्द्रियाणि विज्ञानमित्युच्यन्ते, यदुक्तम् ३"एतस्माज्जायते" इत्यादिना सर्वस्य ब्रह्मणोऽनन्तरकार्यत्वं श्राव्यते; अतश्चानेन वाक्येन सर्वस्य साक्षाद्ब्रह्मण उत्पत्तिरभिध्यानलिङ्गावगतोत्तभ्यत इति; तन्नोपपद्यते-क्रमविशेषपरत्वादस्य वाक्यस्य; अत्रापि सर्वेषां क्रमप्रतीतेः । खादिषु तावत् श्रुत्यन्तरसिद्धिः क्रमोऽत्रापि प्रतीयते तैस्सहपाठलिङ्गाद्भूतप्राणयोरन्तराले विज्ञानमनसी अपि क्रमेणोत्पद्येते इति प्रतीयते । अतस्सर्वस्य साक्षाद्ब्रह्मण एव सम्भवस्योत्तम्भनमिदंवाक्यं न भवतीति चेत्–तन्न, अविशेषात् ४"एतस्माज्जायते प्राणः" इत्यनेनाविशेषात्। विज्ञानमनसोः खादीनांच ४"एतस्माज्जायते" इत्यनेन साक्षात्सम्भवरूपसम्ब-

१. बृ. ५-७ ॥—२. सुबा. ७॥—३. मु. २ १-३ ॥–४. मु. २–१–३॥

न्धस्याभिधेयस्य सर्वेषां प्राणादिपृथिव्यन्तानामविशिष्टत्वात्स एव विधेयः, न क्रमः। श्रुत्यन्तरसिद्धक्रमविरोधाच्च नेदं क्रमपरम्, १"पृथिव्यप्सु प्रलीयते" इत्यारभ्य "तम...एकीभवति"इत्यन्तेन क्रमान्तरप्रतीतेः। अतोऽव्यक्तादिशरीरकात्परस्माद्ब्रह्मण एव सर्वकार्याणामुत्पत्तिः। तेजःप्रभृतयश्च शब्दास्तदात्मभूतं ब्रह्मैवाभिदधति ॥ १६ ॥

नन्वेवं सर्वशब्दानां ब्रह्मवाचित्वे सति तैस्तैश्शब्दैः तत्तद्वस्तुव्यपदेशो व्युत्पत्तिसिद्ध उपरुध्येत; तत्राह-

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशोभाक्तस्तद्भावभावित्वात् । २ । ३ । १७ ॥

तुशब्दश्चोदिताशङ्कानिवृत्त्यर्थः, निखिलजङ्गमस्थावरव्यपाश्रयस्तत्तच्छब्दव्यपदेशः भाक्तः-वाच्यैकदेशे भज्यत इत्यर्थः, समस्तवस्तुप्रकारिणो ब्रह्मणः प्रकारभूतवस्तुग्राहिप्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वाद्वेदान्तश्रवणात्प्राक्प्रकार्यप्रतीतेः,प्रकारिप्रतीतिभावभावित्वाच्च तत्पर्यवसानस्य, लोके तत्तद्वस्तुमात्रे वाच्यैकदेशे तेते शब्दाः भङ्क्त्वाभङ्क्त्वा व्यपदिश्यन्ते। अथवा तेजःप्रभृतिभिश्शब्दैस्तत्तद्वस्तुमात्रवाचितया व्युत्पन्नैर्ब्रह्मणो व्यपदेशो भाक्तस्यात्-अमुख्यस्स्यादित्याशङ्क्य-चराचरव्यपाश्रयस्तु-इत्युच्यते। चराचरव्यपाश्रयः तद्व्यपदेशः-तद्वाचिशब्दः, चराचरवाचिशब्दो ब्रह्मण्यभाक्तः मुख्य एव; कुतः?,ब्रह्मभावभावित्वात्सर्वशब्दानां वाचकभावस्य; नामरूपव्याकरणश्रुत्या हि तथाऽवगतम् ॥ १७ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तेजोधिकरणम् ॥ २ ॥

---

१. सुबा. २-८ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आत्माधिकरणम् ॥ ३ ॥)

नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः । २ । ३ । १८ ॥

वियदादेः कृत्स्नस्य परस्माद्ब्रह्मण उत्पत्तिरुक्ता । इदानीं जीवस्याप्युत्पत्तिरस्ति नेति संशय्यते; किं युक्तम् ? अस्तीति, कुतः, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपत्तेः, प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणाच्च । वियदादेरिव जीवस्याप्युत्पत्तिवादिन्यः श्रुतयश्च सन्ति-१"यतः प्रसूता जगतः प्रसूती तोयेन जीवान् व्यससर्ज भूम्याम्"२"प्रजापतिः प्रजा असृजत"३"सन्मूलास्सोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सदायतनास्सत्प्रतिष्ठाः",४"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते,,इति । एवं सचेतनस्य जगत उत्पत्तिवचनात् जीवस्याप्युत्पत्तिः प्रतीयते । नच वाच्यं-ब्रह्मणो नित्यत्वात् तत्त्वमस्यादिभिश्च जीवस्य ब्रह्मत्वावगमाज्जीवस्य नित्यत्वम्-इति ५ "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् , ६ "सर्वं खल्विदं ब्रह्म,,इत्येवमादिभिर्वियदादेरपि ब्रह्मत्वावगमात्तस्यापि नित्यत्वप्रसक्तेः । अतो जीवोपि वियदादिवदुत्पद्यत इति ॥

(सिद्धान्तः)

एवं प्राप्तेऽभिधीयते-नात्मा श्रुतेः-इति । नात्मोत्पद्यते;कुतः?श्रुतेः७ "न जायते म्रियते वा विपश्चित्,,८"ज्ञाज्ञौ द्वावजौ,,इत्यादिभिर्जीवस्योत्पत्तिप्रतिषेधो हि श्रूयते । आत्मनो नित्यत्वं च ताभ्यः-श्रुतिभ्य एवागम्यते९"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्,,७"अजो नित्यश्शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे,, इत्यादिभ्यः । अतश्च

---

१. तै. अश्व. १-१ ॥ २. यजु. २-अष्ट ॥ ३. छा. ६-८-४ ॥
४. तै. आन. ॥ ५, छा, ६-८-७ ॥ ६, छा, ३-१४-१ ॥
७, कठ, २-१८ ॥ ८, श्वे, १-९ ॥ ९, श्वे, ६-१३ ॥

नात्मोत्पद्यते। कथं तर्ह्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपद्यते; इत्थमुपपद्यते- जीवस्यापि कार्यत्वात्कार्यकारणयोरनन्यत्वाच्च। एवं तर्हि वियदादिवदुत्पत्तिमत्त्वमङ्गीकृतं स्यात्; नेत्युच्यते-कार्यत्वं हि नामैकस्य द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिः, तज्जीवस्याप्यस्त्येव। इयांस्तु विशेषः वियदादेरचेतनस्य यादृशोऽन्यथाभावो न तादृशो जीवस्य ज्ञानसङ्कोचविकासलक्षणो जीवस्यान्यथाभावः; वियदादेस्तु स्वरूपान्यथाभावलक्षणः। सेयं स्वरूपान्यथाभावलक्षणोत्पत्तिर्जीवे प्रतिषिध्यते। एतदुक्तं भवति—भोग्यभोक्तृनियन्तृन् विविक्तस्वभावान् प्रतिपाद्य भोग्यगतमुत्पत्त्यादिकं, भोक्तरि प्रतिषिध्य तस्य नित्यतां च प्रतिपाद्य भोग्यगतमुत्पत्त्यादिकं, भोक्तृगतं चापुरुषार्थाश्रयत्वं नियन्तरि प्रतिषिध्य तस्य नित्यत्वं, निरवद्यत्वं सर्वदा सर्वज्ञत्वं, सत्यसङ्कल्पत्वं, करणाधिपाधिपत्वं, विश्वस्य पतित्वं, च प्रतिपाद्य सर्वावस्थयोश्चिदचितोस्तं प्रति शरीरत्वं तस्य चात्मत्वम्, प्रतिपादितम्; अतस्सर्वदा चिदचिद्वस्तुतया तत्प्रकारं ब्रह्म; तत्कदाचित्स्वस्माद्विभक्तव्यपदेशानर्हातिसूक्ष्मदशापन्नचिदचिद्वस्तु शरीरं तिष्ठति; तत्कारणावस्थं ब्रह्म। कदाचिच्च विभक्तनामरूपस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरम्; तच्च कार्यावस्थम्। तत्र कारणावस्थस्य कार्यावस्थापत्तावचिदंशस्य कारणावस्थायां शब्दादिविहीनस्य भोग्यत्वाय शब्दादिमत्तया स्वरूपान्यथाभावरूपविकारो भवति। चिदंशस्य च कर्मफलविशेषभोक्तृत्वाय तदनुरूपज्ञानविकासरूपविकारो भवति। उभयप्रकारविशिष्टे नियन्त्रंशे तदवस्थतदुभयविशिष्टतारूपविकारो भवति; कारणावस्थायां अवस्थान्तरापत्तिरूपो विकारः प्रकारद्वये प्रकारिणि च समानः। अत एवैकस्यावस्थान्तरापत्तिरूपविकारापेक्षया १"येनाश्रुतं श्रुतम्" इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय मृदादिदृष्टान्तो २"यथा सोम्यैकेन" इत्यादिना निदर्शितः। ईदृशज्ञानसङ्कोचविकासकरतत्तद्देहसम्बन्धवियोगाभिप्रायाः जीवस्योत्पत्तिमरणवादिन्यः, १"प्रजापतिः प्रजा

१, २. छा. ६-१-३, ४   २. यजु, अष्ट, २ ।

असृजत" इत्याद्याः श्रुतयः । अचिदंशवस्स्वरूपान्यथात्वाभावाभिप्राया उत्पत्तिप्रतिषेधवादिन्यो नित्यत्ववादिन्यश्च १" न जायते म्रियते" इत्याद्याः,२"नित्यो नित्यानाम्" इत्याद्याश्च श्रुतयः। स्वरूपान्यथात्वज्ञानसङ्कोचविकासरूपोभयविधानिष्टविकाराभावाभिप्रायाः ३"सवा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतो ब्रह्म" ४ "नित्यो नित्यानाम्" इत्याद्याः परविषयाः श्रुतयः। एवं सर्वदा चिदचिद्वस्तुविशिष्टस्य ब्रह्मणः प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणं च नामरूपविभागाभावादुपपद्यते। ५"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत इतिहि नामरूपविभागभावाभावाभ्यां नानात्वैकत्वे वदति-इति। ये त्वविद्योपाधिकं जीवत्वंवदन्ति,येच पारमार्थिकोपाधिकृतम्, येच सन्मात्रस्वरूपं ब्रह्म स्वयमेव भोक्तृभोग्यनियन्तृरूपेण त्रिधाऽवस्थितं वदन्ति; सर्वेऽप्येते अविद्याशक्तेरुपाधिशक्तेर्भोक्तृभोग्यनियन्तृशक्तीनां च प्रलयकालेऽवस्थानेऽपि तदानीमेकत्वावधारणं नामरूपविभागाभावादेवोपपादयन्ति। ६"वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्"७"न कर्माविभागादितिचेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च,, इति सूत्राभ्यां जीवभेदस्य तत्कर्मप्रवाहस्यचानादित्वाभ्युपगमाच्च। इयान्विशेषः-एकस्यानाद्यविद्यया ब्रह्म स्वयमेव मुह्यति, अन्यस्य पारमार्थिकानाद्युपाधिना ब्रह्मस्वरूपमेव बध्यते, उपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वन्तराभावात्। अपरस्य ब्रह्मैव विचित्राकारेण परिणमते, कर्मफलानिचानिष्टानि भुङ्क्ते; नियन्त्रंशस्य भोक्तृत्वाभावेऽपि सर्वज्ञत्वात्स्वस्मादभिन्नं भोक्तारमनुसंदधानोनि स्वयमेव भुङ्क्ते; अस्माकं तु स्थूलसूक्ष्मावस्थचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कार्यकारणोभयावस्थावस्थितमपि सर्वदा निरस्तनिखिलदोषगन्धं सत्यसङ्कल्पत्वाद्यपरिमितोदारगुणसागरमवतिष्ठते। प्रकारभूतचिदचिद्वस्तुगताः अपुरुषार्थाः स्वरूपान्यथाभावाश्चेति सर्वं समञ्जसम् ॥ १८ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आत्माधिकरणम् ॥ ३ ॥

—*—

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये ज्ञाधिकरणम् ॥ ४ ॥)

ज्ञोऽत एव । २ । ३ । १९ ॥

वियदादिवज्जीवो नोत्पद्यत इत्युक्तम्, तत्प्रसङ्गेन जीवस्वरूपं निरूप्यते। किं सुगतकपिलाभिमतचिन्मात्रमेवात्मनस्स्वरूपम्; उत कणभुगभिमतपाषाणकल्पस्वरूपमचित्स्वभावमेवागन्तुकचैतन्यगुणकम्; अथ ज्ञातृत्वमेवास्य स्वरूपमिति। किंयुक्तम्? चिन्मात्रमिति; कुतः तथा श्रुतेः। अन्तर्यामिब्राह्मणेहि १"य आत्मनि तिष्ठन्" ।इति माध्यन्दिनीयपर्यायस्य स्थाने १"यो विज्ञाने तिष्ठन्" इति काण्वा अधीयते। तथा २"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपिच" इति कर्तुरात्मनो विज्ञानमेव स्वरूपं श्रूयते। स्मृतिषु च ३"ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः" इत्यादिष्वात्मनो ज्ञानस्वरूपत्वं प्रतीयते। अपरस्तु–जीवात्मनो ज्ञानत्वे ज्ञातृत्वे च स्वाभाविकेऽभ्युपगम्यमाने तस्य सर्वगतस्य सर्वदा सर्वत्रोपलब्धिप्रसङ्गात्, करणानां च वैयर्थ्यात्, सुषुप्तिमूर्च्छादिषु सतोऽप्यात्मनश्चैतन्यानुपलब्धेर्जाग्रतस्सामग्र्यां सत्यां ज्ञानोत्पत्तिदर्शनादस्य न ज्ञानं स्वरूपम्; नापि ज्ञातृत्वम्; आगन्तुकमेव चैतन्यम्; सर्वगतत्वं चात्मनोऽवश्याभ्युपेत्यम्, सर्वत्र कार्योपलब्धेः सर्वत्रात्मनस्सन्निधानाभ्युपगमाच्छरीरगमनेनैव कार्यसम्भवे सति गतिकल्पनायां प्रमाणाभावाच्च। श्रुतिरपि सुषुप्तिवेलायां ज्ञानाभावं दर्शयति—४"नाह खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि" इति। तथा मोक्षदशायां ज्ञानाभावं दर्शयति–५"न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" इति। ३"ज्ञानस्वरूपम्" इत्यादिप्रयोगस्तु ज्ञानस्य तदसाधारणगुणत्वेन लाक्षणिक इति॥

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे–ज्ञोऽत एव-ज्ञ एव–अयमात्मा ज्ञातृत्वस्वरूप एव, नज्ञानमात्रम्, नापि जडस्वरूपः; कुतः? अत एव–श्रुतेरेवेत्यर्थः। "ना-

१. बृ. ५-७-२२॥—२. तै. आन. ५-१॥—३. वि. पु. १-अं. २-अ. ६-श्लो॥—४. छा. ८-११-२ ॥—५. बृ. ६-४-१२ ॥

त्मा श्रुतेः" इति प्रकृता श्रुतिः अत इति शब्देन परामृश्यते । तथा छान्दोग्ये प्रजापतिवाक्ये मुक्तामुक्तात्मस्वरूपकथने १"अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा" २"मनसैवैतान् कामान् पश्यन्नमते य एते ब्रह्मलोके" ३"सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः" ४"नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्" अन्यत्रापि ५"न पश्यो मृत्युं पश्यति" तथा वाजसनेयके ६"कतम आत्मा" इति पृष्ट्वा ७"योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" इति तथा ८"विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" ९"ज्ञाता ह्येवायं पुरुषः" तथा १०"एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" ११ "एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाष्षोडशकलाः" ॥ इति १९ ॥

यत्तूक्तं ज्ञातृत्वे स्वाभाविके सति सर्वगतस्य तस्य सर्वदा सर्वत्रोपलब्धिः प्रसज्यत इति ; तत्रोच्यते

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् । २ । ३ । २० ॥

नायं सर्वगतः, अपित्वणुरेवायमात्मा ; कुतः ? उत्क्रान्ति गत्यागतीनां श्रुतेः; उत्क्रान्तिस्तावच्छ्रूयते १२ "तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः" इति । गतिरपि १३"ये वै केचास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" इति आगतिरपि १४"तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे" इति । विभुत्वे ह्येता उत्क्रान्त्यादयो नोपपद्येरन् ॥ २० ॥

स्वात्मना चोत्तरयोः । २ । ३ । २१ ॥

च शब्दोऽवधारणे । यद्यपि शरीरवियोगरूपत्वेनोत्क्रान्तिः स्थि-

१. बृ. ४-३-२२ ॥ — २. छा. ८-१२-४ ॥ — ३. छा. ८-७-१ ॥
४. छा. ८-१२-३ ॥ —५. छा. ७-२६-२ ॥—६, ७. बृ. ६-३-७ ॥—८ बृ. ६-५-१५॥—९ ॥ १०.।प्रश्न. ४-९॥—११. प्रश्न. ६ ५॥—१२. बृ. ६ ४-२॥
१३. कौषी. १-२ ॥—१४. बृ. ६ ४-६ ॥

तस्याप्यात्मनः कथंचिदुपपद्यते; गत्यागती तु न कथंचिदुपपद्येते। अतस्ते स्वात्मनैव सम्पाद्ये ॥ २१ ॥

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् २।३।२२॥

१"योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" इति जीवं प्रस्तुत्य २"स वा एष महानज आत्मा" इति महत्त्वश्रुतेः नाणुर्जीव इति चेन्न ; इतराधिकारात्-जीवादितरस्य प्राज्ञस्य तत्राधिकारात् ; यद्यप्युपक्रमे जीवः प्रस्तुतः, तथापि ३"यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा" इति मध्ये परः प्रतिपाद्यत इति तत्सम्बन्धीदं महत्त्वम् ; न जीवस्य ॥ २२ ॥

स्वशब्दोन्मानाभ्यांच । २ । ३ । २३ ॥

साक्षादणुशब्द एव श्रूयते ४"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश" इति; उद्धृत्य मानमुन्मानम् ; अणुसदृशं वस्तूद्धृत्य तन्मानत्वं जीवस्य श्रूयते ५"वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवस्स विज्ञेयः" इति; ६"आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः" इतिच। अतोऽणुरेवायमात्मा ॥ २३ ॥

अथ स्यात्-आत्मनोऽणुत्वे सकलशरीरव्यापिनी वेदना नोपपद्यत इति ; तत्र मतान्तरेण परिहारमाह—

अविरोधश्चन्दनवत् । २ । ३ । २४ ॥

यथा हरिचन्दनविन्दुर्देहैकदेशवर्त्यपि सकलदेहव्यापिनमाह्लादं जनयति, तद्वदात्माऽपि देहैकदेशवर्ती सकलदेशवर्तिनीं वेदनामनुभवति ॥

अवस्थितिवैशेष्यादितिचेन्नाभ्युपगमाद्धृदिहि । २ । ३ । २५ ॥

१. बृ. ६-३-७ ॥—२. बृ. ६-४-२२ ॥—३. बृ. ६-४-१३॥—४. मु. ३-१-६ ॥—५. श्वे. ५-६ ॥—६. श्वे. ५.८ ॥

हरिचन्दनबिन्द्वादेर्देहदेशविशेषावस्थितिविशेषात्तथाभावः, आत्मनस्तु तन्न विद्यत इति चेन्न; आत्मनोऽपि देहदेशविशेषे स्थित्यभ्युपगमात्; हृदयदेशे ह्यात्मनः स्थितिः श्रूयते १"हृदि ह्ययमात्मा तत्रैकशतं नाडीनाम्" इति; तथा २"कतम आत्मा" इति प्रकृत्य २ "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः" इति। आत्मनो देशविशेषस्थितिख्यापनाय चन्दनदृष्टान्तः प्रदर्शितः; न तु चन्दनस्य देशविशेषापेक्षा ॥ २५ ॥

एकदेशवर्तिनस्सकलदेहव्यापिकार्यकरत्वप्रकारं स्वमतेनाह—

गुणाद्वाऽऽलोकवत् । २ । ३ । २६ ॥

वाशब्दो मतान्तरव्यावृत्त्यर्थः; आत्मा स्वगुणेन ज्ञानेन सकलदेहं व्याप्यावस्थितः; आलोकवत्—यथा मणिद्युमणिप्रभृतीनामेकदेशवर्तिनामालोकोऽनेकदेशव्यापी दृश्यते, तद्वद्धृदयस्थस्याऽऽत्मनो ज्ञानं सकलदेहं व्याप्य वर्तते; ज्ञातुः प्रभास्थानीयस्य ज्ञानस्य स्वाश्रयादन्यत्र वृत्तिर्मणिप्रभावदुपपद्यत इति प्रथमसूत्रे स्थापितम् ॥ २६ ॥

ननूक्तं ज्ञानमात्रमेवात्मेति; तत्कथं ज्ञानस्य स्वरूपव्यतिरिक्तगुणत्वमुच्यते; तत्राह—

व्यतिरेको गन्धवत्तथा च दर्शयति । २ । ३ । २७ ॥

यथा पृथिव्याः गन्धस्य गुणत्वेनोपलभ्यमानस्य ततो व्यतिरेकः, तथा जानामीति ज्ञातृगुणत्वेन प्रतीयमानस्य ज्ञानस्याऽऽत्मनो व्यतिरेकस्सिद्धः; दर्शयति च श्रुतिः २"जानात्येवायं पुरुषः" इति ॥ २७ ॥

पृथगुपदेशात् । २ । ३ । २८ ॥

स्वशब्देनैव ज्ञानं विज्ञातुः पृथगुपदिश्यते ४"नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते" इति ॥ २८ ॥

---

१. प्रश्न. ३-६ ॥—२. बृ. ६-३-७ ॥—३ ॥—४. बृ. ६-३-३०॥

यत्तूक्तं १"यो विज्ञाने तिष्ठन्" २ विज्ञानं यज्ञं तनुते" ३"ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलम्" इत्यादिषु ज्ञानमेवात्मेति व्यपदिश्यत इति,तत्राह—

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्।२।३।२९॥

तुशब्दश्चोद्यं व्यावर्तयति;तद्गुणसारत्वात्–विज्ञानगुणसारत्वात् आत्मनो विज्ञानमिति व्यपदेशः। विज्ञानमेवास्य सारभूतो गुणः, यथा प्राज्ञस्यानन्दस्सारभूतो गुण इति प्राज्ञ आनन्दशब्देन व्यपदिश्यते–४"यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" ५ "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इति; प्राज्ञस्य ह्यानन्दस्सारभूतो गुणः–६"स एको ब्रह्मण आनन्दः" ."आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" इति। यथावा ८"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"इति विपश्चितः प्राज्ञस्य ज्ञानशब्देन व्यपदेशः;८"सह ब्रह्मणा विपश्चिता"९"यस्सर्वज्ञः"इत्यादिषु प्राज्ञस्य ज्ञानं सारभूतो गुण इति विज्ञायते॥

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्।२।३।३०॥

विज्ञानस्य यावदात्मभाविधर्मत्वात्तेन तद्व्यपदेशो न दोषः;तथाच खण्डादयो यावत्स्वरूपभाविगोत्वादिधर्मशब्देन गौरिति व्यपदिश्यमाना दृश्यन्ते; स्वरूपनिरूपणधर्मत्वादित्यर्थः। चकारात् ज्ञानवदात्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वेन विज्ञानमिति व्यपदेशो न दोष इति समुच्चिनोति॥ ३०॥

यच्चोक्तं सुषुप्त्यादिषु ज्ञानाभावात् ज्ञानस्य न स्वरूपानुबन्धिधर्मत्वमिति, तत्राह—

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्।२।३।३१।

तुशब्दश्चोदिताशङ्कानिवृत्त्यर्थः। अस्य-ज्ञानस्य सुषुप्त्यादिष्वपि वि-

१. बृ. ५-७-१२॥ २. तै. आन. ५-१ ॥ ३. वि.पु. १-२-६ ॥ ४. तै. आन. ७-१ ॥ ५. तै. भृ. ६-१ ॥ ६. तै. आन. ८-४॥ ७. तै. आन. ९-१ ॥ ८. तै. आन. १-१,२ ॥ ९ .मु. १-१-९ ॥

धमानस्य जागर्यादिष्वभिव्यक्तिसम्भवात्स्वरूपानुबन्धिधर्मत्वोपपत्तिः; पुंस्त्वादिवत्-यथा पुंस्त्वाद्यसाधारणस्य धातोर्बाल्याद्यवस्थायां सतोऽप्यनभिव्यक्तस्य युवत्वेऽभिव्यक्तौ पुंसस्तद्वत्ता न कादाचित्की भवति। सप्तधातुमयत्वं हि शरीरस्य स्वरूपानुबन्धि-१"तत्सप्तधातु त्रिमलं द्वियोनि चतुर्विधाहारमयं शरीरम्" इतिशरीरस्वरूपव्यपदेशात्। सुषुप्त्यादिष्वप्यहमर्थः प्रकाशत इति प्रागेवोक्तम्। तस्य विद्यमानस्य ज्ञानस्य विषयगोचरत्वं जागर्यादावुपलभ्यते; एते चात्मनो ज्ञातृत्वादयो धर्माः प्रागेवोपपादिताः। अतो ज्ञातृत्वमेव जीवात्मनः स्वरूपम्। स चायमात्माऽणुपरिमाण २"न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" इत्यपि न मुक्तस्य ज्ञानाभाव उच्यते; अपितु २"एतेभ्योभूतेभ्यस्समुत्थायतान्येवानुविनश्यति" इतिसंसारादशायां यद्भूतानुविधायित्वप्रयुक्तं जन्मनाशादिदर्शनम्, तन्मुक्तस्य न विद्यते ३ "न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्। सर्वं हि पश्यःपश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः" ४"नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्" ५ "मनसैतान् कामान् पश्यन्रमते" इत्यादिश्रुत्यैकार्थ्यात्॥ ३१॥

सम्प्रति ज्ञानात्मवादे तस्य सर्वगतत्वे दूषणमाह—

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा। २। ३। ३२॥

अन्यथा सर्वगतत्वपक्षे तस्य ज्ञानमात्रत्वपक्षे च नित्यमुपलब्ध्यनुपलब्धी सहैव प्रसज्येयाताम्; अन्यतरनियमो वा-उपलब्धिरेव वा नित्यं स्यात्, अनुपलब्धिरेव वा। एतदुक्तं भवति-लोके तावद्वर्तमानयोरात्मोपलब्ध्यनुपलब्ध्योरयं ज्ञानात्मा सर्वगतो हेतुस्स्यात्, उपलब्धेरेव वा, अनुपलब्धेरेव वा; उभयहेतुत्वे सर्वदा सर्वत्रोभयं प्रसज्येत; यद्युपलब्धेरेव, सर्वस्य सर्वदासर्वत्रानुपलम्भो न स्यात्। अथानुपलब्धेरेव, सर्वदा सर्व-

१. ॥ २. बृ. ४-४-१२ ॥ ३. छा. ७-२६-२ ॥ ४. छा. ८-१२-३॥ ५. छा. ८-१२-५ ॥

त्रोपलब्धिर्न स्यात्-इति । अस्माकं शरीरस्यान्तरेवावस्थितत्वादात्मनस्तत्रैवोपलब्धिर्नान्यत्रेति व्यवस्थासिद्धिः । करणायत्तोपलब्धेरपि सर्वेषामात्मनां सर्वगतत्वेन सर्वैः करणैस्सर्वदा संयुक्तत्वाददृष्टादेरप्यनियमादुक्तदोपस्समानः ॥ ३२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये ज्ञाधिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कर्त्रधिकरणम् ॥ ५ ॥)

कर्ता शास्त्रार्थवत्वात् । २ । ३ । ३३ ॥

अयमात्मा ज्ञाता, स चाणुपरिमाण इत्युक्तम्; इदानीं किं स एव कर्ता; उत स्वयमकर्तैव सन्नचेतनानां गुणानां कर्तृत्वमात्मन्यध्यस्यतीति चिन्त्यते । किं युक्तम् , अकर्तैवात्मेति । कुतः ? आत्मनो ह्यकर्तृत्वम्, गुणानामेव च कर्तृत्वमध्यात्मशास्त्रेपु श्रूयते । तथाहि कठवल्लीपु जीवस्य[१] "न जायते म्रियते" इत्यादिना जन्मजरामरणादिकं सर्वं प्रकृतिधर्मं प्रतिषिध्य हननादिपु क्रियासु कर्तृत्वमपि प्रतिषिध्यते-[२]"हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते" इति । हन्तारमात्मानं जानन्न जानात्यात्मानमित्यर्थः । तथा च भगवता स्वयमेव जीवस्याकर्तृत्वं स्वरूपम् , कर्तृत्वाभिमानस्तु व्यामोह इत्युच्यते—[३]"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते"[४]"नान्य गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति" '[५]कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते । पुरुषस्सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते" इति च । अतः पुरुपस्य भोक्तृत्वमेव, प्रकृतेरेव तु कर्तृत्वम् इति

१. कठ-२-१८ ॥—२. कठ २-१९ ॥—३. गी. ३-२७ ॥—४. गी. १४-१९ ॥—५. गी. १३-२० ॥

(सिद्धान्तः)

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे– कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्–इति । आत्मैव कर्ता: न गुणा:, कस्मात् ? शास्त्रार्थवत्त्वात् । शास्त्राणि हि 'यजेत स्वर्गकामः' ' मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत ' इत्येवमादीनि स्वर्गमोक्षादिफलस्य भोक्तारमेव कर्तृत्वे नियुञ्जते; नह्यचेतनस्य कर्तृत्वेऽन्यो नियुज्यते । शासनाच्च शास्त्रम्; शासनंच प्रवर्तनम्: शास्त्रस्य च प्रवर्तकत्वं बोधजननद्वारेण; अचेतनं च प्रधानं न बोधयितुं शक्यम् । अतः शास्त्राणामर्थवत्त्वं भोक्तुश्चेतनस्यैव कर्तृत्वे भवेत् । तदुक्तं १"शास्त्रफलं प्रयोक्तरि" इति । यदुक्तं २ "हन्ता चेन्मन्यते" इत्यादिना हननक्रियायामकर्तृत्वमात्मनः श्रूयत इति; तदात्मनो नित्यत्वेन हन्तव्यत्वाभावादुच्यते । यच्च ३"प्रकृतेः क्रियमाणानि" इत्यादिना गुणानामेव कर्तृत्वं स्मर्यत इति ; तत्सांसारिकप्रवृत्तिष्वस्य कर्तृता सत्त्वरजस्तमोगुणसंसर्गकृता; न स्वरूपप्रयुक्तेति प्राप्ताप्राप्ताविवेकेन गुणानामेव कर्तृतेत्युच्यते । तथाच तत्रैवोच्यते ४"कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु" इति । तथा तत्रैवात्मनश्च कर्तृत्वमभ्युपेत्योच्यते ५"तत्रैवं सति कर्तारमात्मानंकेवलं तु यः । पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः" इति । ६"अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् । विविधा च पृथक् चेष्टा दैवंचैवात्र पञ्चमम्" इत्यधिष्ठानादिदैवपर्यन्तसापेक्षे सत्यात्मनः कर्तृत्वे य आत्मानमेव केवलं कर्तारं मन्यते, न स पश्यतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

उपादानाद्विहारोपदेशाच्च । २ । ३ । ३४ ॥

७"स यथा महाराजः" इति प्रकृत्य, ८" एवमेवैष एतान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते" इति प्राणानामुपादाने विहारे च कर्तृत्वमुपदिश्यते ॥ ३४ ॥

१° पूर्वमीमांसान्यायः ॥—२. कठ, २-१६ ॥— ३ गी ३-२७ ॥ ४. गी, १३-२१ ॥–५, गी, १८-१६ ॥–६, गी, १८१ ४ ॥–७, बृ, ४-१ १८ ॥

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः।२।३।३५

१"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेपि च", इति लौकिकवैदिक-क्रियासु कर्तृत्वव्यपदेशाच्च कर्ता। विज्ञानशब्देन नात्मनो व्यपदेशः; अपित्वन्तःकरणस्य बुद्धेरितिचेत्—एवंसति निर्देशविपर्ययस्स्यात्-बुद्धेः करणत्वाद्विज्ञानेनेति करणविभक्तिनिर्देशस्स्यात ॥ ३५ ॥

उपलब्धिवदनियमः । २ । ३ । ३६ ॥

आत्मनोऽकर्तृत्वे दोष उच्यते। यथाऽऽत्मनो विभुत्वे नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्ग इत्यादिनोपलब्धेरनियम उक्तः; तद्वदात्मनोऽकर्तृत्वे प्रकृतेश्च कर्तृत्वे तस्यास्सर्वपुरुषसाधारणत्वात्सर्वाणि कर्माणि सर्वेषां भोगाय स्युः;नैव वा कस्यचित्। आत्मनां विभुत्वाभ्युपगमात्सन्निधानमपि सर्वेषामविशिष्टम। अतएव चान्तःकरणादीनामपि नियमो नोपपद्यते; यदायत्ता व्यवस्था स्यात ॥ ३६ ॥

शक्तिविपर्ययात् । २ । ३ । ३७ ॥

बुद्धेः कर्तृत्वे कर्तुरन्यस्य भोक्तृत्वानुपपत्तेर्भोक्तृत्वशक्तिरपि तस्या एव स्यादित्यात्मनो भोक्तृत्वशक्तिर्हीयेत। भोक्तृत्वं च बुद्धेरेव संपद्यत इति आत्मसद्भावे प्रमाणाभावश्च स्यात। २"पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्" इति हि तेषामभ्युपगमः ॥ ३७ ॥

समाध्यभावाच्च । २ । ३ । ३८ ॥

बुद्धेः कर्तृत्वे मोक्षसाधनभूतसमाधावपि सैव कर्त्री स्यात। स च समाधिः प्रकृतेरन्योऽस्मीत्येवंरूपः, नच प्रकृतेरन्योऽस्मीति प्रकृतिस्समाधातुमलम्। अतोऽप्यात्मैव कर्ता ॥ ३८ ॥

नन्वात्मनः कर्तृत्वेऽभ्युपगम्यमाने सर्वदा कर्तृत्वान्नोपरमेतेत्यत्राह—

१, तै आन, ५-१ ॥—२. सांख्यतत्त्वकौमुदी. २७. पा. ॥

यथा च तक्षोभयथा । २ । ३ । ३९ ॥

वागादिकरणसम्पन्नोऽप्यात्मा यदेच्छति, तदा करोति यदा तु नेच्छति, तदा न करोति; यथा तक्षा वास्यादिकरणसन्निधानेऽपि इच्छानुगुण्येन करोति, न करोति च । बुद्धेस्त्वचेतनायाः कर्तृत्वे तस्याः भोगवाञ्छादिनियमकारणाभावात्सर्वदा कर्तृत्वमेव स्यात् ॥ ३९ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कर्त्रधिकरणम् ॥ ५ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये परायत्ताधिकरणम् ॥ ६ ॥)

परात्तुतच्छ्रुतेः । २ । ३ । ४० ॥

इदं जीवस्य कर्तृत्वं किं स्वातन्त्र्येण ? उत परमात्मायत्तमिति । किं प्राप्तम् ? स्वातन्त्र्येणेति । परमात्मायत्तत्वे हि विधिनिषेधशास्त्रानर्थक्यं प्रसज्येत । यो हि स्वबुद्धया प्रवृत्तिनिवृत्त्यारम्भशक्तः; स एव नियोज्यो भवति । अत स्स्वातन्त्र्येणास्य कर्तृत्वम् ॥

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्तेऽभिधीयते—परात्तुतच्छ्रुतेः—इति । तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति; तत्—कर्तृत्वं अस्य—जीवस्य परात्—परमात्मन एव हेतोर्भवति, कुतः श्रुतेः—१ " अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा " २ " य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः " इति । स्मृतिरपि ३ " सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिः ज्ञानमपोहनं च" ४ "ईश्वरस्सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया" इति ॥ ४० ॥

---

१. तै. आरण्य. ३-११-१० ॥—२. बृ. ५-७-२२ ॥—३. गी. १५-१५ ॥ ४. गी. १८-६१ ॥

नन्वेवं विधिनिषेधशास्त्रानर्थक्यं प्रसज्येतेत्युक्तम् ; तत्राह—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः । २ । ३ । ४१ ॥

सर्वासु क्रियासु पुरुषेण कृतं प्रयत्नम् उद्योगमपेक्ष्यान्तर्यामी परमात्मा तदनुमतिदानेन प्रवर्तयति । परमात्मानुमतिमन्तरेणास्य प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इत्यर्थः । कुत एतत्? विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः—आदिशब्देनानुग्रहनिग्रहादयो गृह्यन्ते । यथा द्वयोस्साधारणे धने परस्वत्वापादनमन्यतरानुमतिमन्तरेण नोपपद्यते ; अथापीतरानुमतेः स्वेनैव कृतमिति तत्फलं स्वस्यैव भवति । पापकर्मसु निवर्तनशक्तस्याप्यनुमन्तृत्वं न निर्दयत्वमावहतीति साङ्ख्यसमर्थनिरूपणे प्रतिपादितम् नन्वेवम् १ "एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति" इत्युन्निनीषयाऽधोनिनीषया च स्वयमेव साध्वसाधुनी कर्मणी कारयतीत्येतन्नोपपद्यते । उच्यते—एतन्न सर्वसाधारणम्, यस्त्वतिमात्रपरमपुरुषानुकूल्ये व्यवस्थितः प्रवर्तते ; तमनुगृह्णन् भगवान् स्वयमेव स्वप्राप्त्युपायेष्वतिकल्याणेषु कर्मस्वेव रुचिं जनयति । यश्चातिमात्रप्रातिकूल्ये व्यवस्थितः प्रवर्तते ; २तं निगृह्णन् स्वप्राप्तिविरोधिष्वधोगतिसाधनेषु कर्मसु रुचिं जनयति । यथोक्तं भगवता स्वयमेव ३"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तस्सर्वं प्रवर्तते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः" इत्यारभ्य ४'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तंयेन मामुपयान्ति ते" ५"तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता" इति । तथा ६'असत्यमप्रतिष्ठं

---

१. कौषी. ३-८ ॥—२. तं स्वप्राप्तिविरोधिषु अधोगतिसाधनेषु कर्मसु सञ्जयति. पा ॥—३. गी. १०-८ ॥—४.—५. गी. १०-१०, ११ ॥—६. गी. १६-८ ॥

ते जगदाहुरनीश्वरम्" इत्यादि१ "मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः" इत्यन्तमुक्त्वा २ "तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु" इत्युक्तम् ॥ ४१ ॥

इति श्री शारीरकमीमांसाभाष्ये परायत्ताधिकरणम् ॥ ६ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अंशाधिकरणम्॥ ७ ॥)

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथाचापि दाशकितवादित्वमधीयत एके । २ । ३ । ४२ ॥

जीवस्य कर्तृत्वं परमपुरुषायत्तमित्युक्तम् ; इदानीं किमयं जीवः परस्मादत्यन्तभिन्नः, उत परमेव ब्रह्म भ्रान्तम् , उत ब्रह्मैवोपाध्यवच्छिन्नम् , अथ ब्रह्मांश इति संशय्यते; श्रुतिविप्रतिपत्तेस्संशयः । ननु ३ "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" ४"अधिकं तु भेदनिर्देशात्" इत्यत्रैवायमर्थो निर्णीतः । सत्यम्, स एव नानात्वैकत्वश्रुतिविप्रतिपत्त्या आक्षिप्य जीवस्य ब्रह्मांशत्वोपपादनेन विशेषतो निर्णीयते; यावद्धि जीवस्य ब्रह्मांशत्वं न निर्णीतम् , तावज्जीवस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वं, ब्रह्मणस्तस्मादधिकत्वं च न प्रतितिष्ठति । किं तावत्प्राप्तम् ? अत्यन्तभिन्न इति; कुतः?५"ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ"इत्यादिभेदनिर्देशात् । ज्ञाज्ञयोरभेदश्रुतयस्तु 'अग्निना सिञ्चेत्' इतिवद्विरुद्धार्थप्रतिपादनादौपचारिक्यः । ब्रह्मणोंऽशो जीव इत्यपि न साधीयः, एकवस्त्वेकदेशवाची ह्यंशशब्दः, जीवस्य ब्रह्मैकदेशत्वे तद्गता दोषा ब्रह्मणि भवेयुः । न च ब्रह्मखण्डो जीव इत्यंशत्वोपपत्तिः,खण्डनानर्हत्वाद्ब्रह्मणः,प्रागुक्तदोषप्रसङ्गाच्च । तस्मादत्यन्तभिन्नस्य च तदंशत्वं दुरुपपादम् । यद्वा भ्रान्तं ब्रह्मैव जीवः,

---

१. गी. १६-१८ ॥ २. गी. १६-१९ ॥ ३. शारी. २-१-१४ ॥ ४. शारी. २-१-२२ ॥ ५. श्वे. १-९ ।

कुतः १ "तत्वमसि" २ "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादिब्रह्मात्मभावोपदेशात्। नानात्ववादिन्यस्तु प्रत्यक्षादिसिद्धार्थानुवादित्वादनन्यथासिद्धाद्वैतोपदेशपराभिः श्रुतिभिः प्रत्यक्षादय इवाविद्यान्तर्गताः ख्याप्यन्ते। अथवा ब्रह्मैवानाद्युपाध्यवच्छिन्नं जीवः। कुतः, तत एव ब्रह्मात्मभावोपदेशात्। नचायमुपाधिर्भ्रान्तिपरिकल्पित इति वक्तुं शक्यम्, बन्धमोक्षादिव्यवस्थानुपपत्तेः—इति॥

एवं प्राप्तेऽभिधीयते ब्रह्मांश इति। कुतः? नानाव्यपदेशात्, अन्यथा च-एकत्वेन व्यपदेशात्। उभयथाहि व्यपदेशो दृश्यते। नानात्वव्यपदेशस्तावत्स्रष्टृत्वसृज्यत्वनियन्तृत्वनियाम्यत्वसर्वज्ञत्वाज्ञत्वस्वाधीनत्वपराधीनत्वशुद्धत्वाशुद्धत्वकल्याणगुणाकरत्वतद्विपरीतत्वपतित्वशेषत्वादिभिर्दृश्यते। अन्यथाच अभेदेन व्यपदेशोऽपि१ 'तत्त्वमसि' २ "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादिभिर्दृश्यते। अपि दाशकितवादित्वमधीयत एके ३ "ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मे मे कितवाः" इत्याथर्वणिका ब्रह्मणो दाशकितवादित्वमप्यधीयते। ततश्च सर्वजीवव्यापित्वेनाभेदो व्यपदिश्यत इत्यर्थः। एवमुभयव्यपदेशमुख्यत्वसिद्धये जीवोऽयं ब्रह्मणोंश इत्यभ्युपगन्तव्यः। नच भेदव्यपदेशानां प्रत्यक्षादिप्रसिद्धार्थत्वेनान्यथासिद्धत्वम्, ब्रह्मसृज्यत्वतन्नियाम्यत्वतच्छरीरत्वतच्छेषत्वतदाधारत्वतत्पाल्यत्वतत्संहार्यत्वतदुपासकत्वतत्प्रसादलभ्यधर्मार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थभाक्त्वादयस्तत्कृतश्च जीवब्रह्मणोर्भेदः, प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वेनानन्यथासिद्धः। अतो न जगत्स्रष्ट्यादिवादिनीनां प्रमाणान्तरसिद्धभेदानुवादेन मिथ्यार्थोपदेशपरत्वम्। नचाखण्डैकरसचिन्मात्रस्वरूपेण ब्रह्मणा आत्मनोऽतद्भावानुसन्धानम्, बहुभवनसङ्कल्पपूर्वकवियदादिसृष्टिं, जीवभावेन तत्प्रवेशं, विचित्रनामरूपव्याकरणं, तत्कृतानन्तविषयानुभवनिमित्तसुखदुःखभागित्वम्, अभोक्तृत्वेन तत्र स्थित्वा तन्नियमनेनान्तर्यामित्वं, जीवभूतस्य स्वस्य कारणब्रह्मात्मभाव—

१. छा. ६-१०-३ ॥ २. बृ. ६-४-५ ॥ ३. ॥

नुसन्धानं, संसारमोक्षं, तदुपदेशशास्त्रं च कुर्वाणेन भ्रमितव्यमित्युपदिश्यते, तथा सत्युन्मत्तप्रलपितत्वापातात्। उपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्म जीव इत्यपि न साधीयः, पूर्वनिर्दिष्टनियन्तृत्वनियाम्यत्वादिव्यपदेशबाधादेव। नहि देवदत्तादेरेकस्यैव गृहाद्युपाधिभेदान्नियन्तृनियाम्यभावादिसिद्धिः। अत उभयव्यपदेशोपपत्तये जीवोऽयं ब्रह्मणोंश इत्यभ्युपेत्यम् ॥ ४२ ॥

मन्त्रवर्णात् । २ । ३ । ४३ ॥

१ "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति मन्त्रवर्णाच्च ब्रह्मणोंशो जीवः। अंशवाचो हि पादशब्दः। १ "विश्वाभूतानि" इति जीवानां बहुत्वाद्बहुवचनं मन्त्रे, सूत्रेऽपि अंश इत्येकवचनं जात्यभिप्रायम्। २"नात्माश्रुतेः" इत्यत्राप्येकवचनं जात्यभिप्रायम्, ३ "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" इत्यादिश्रुतिभ्य ईश्वराद्भेदस्यात्मनां बहुत्वनित्यत्वयोश्चाभिधीयमानत्वात्। एवं नित्यानामात्मनां बहुत्वे प्रामाणिके सति ज्ञानस्वरूपत्वेन सर्वेषामेकरूपत्वेऽपि भेदकाकारः आत्मयाथात्म्यवेदनक्षमैरवगम्यते ४ "अजन्ततेश्चा व्यतिकरः" इत्यनन्तरमेवचात्मबहुत्वं वक्ष्यति ॥ ४३ ॥

अपि स्मर्यते । २ । ३ । ४४ ॥

५"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतस्सनातनः" इति जीवस्य पुरुषोत्तमांशत्वं स्मर्यते; अतश्चायमंशः ॥ ४४ ॥

अंशत्वेऽपि जीवस्य ब्रह्मैकदेशत्वेन जीवगता दोषा ब्रह्मण एवेत्याशङ्क्याह—

प्रकाशादिवत्तु नैवं परः । २ । ३ । ४५ ॥

तु शब्दश्चोद्यं व्यावर्तयति ; प्रकाशादिवज्जीवः परमात्मनोंऽशः-

१. पुरुषसू ॥ २. शारी. २-३-१८ ॥ ३. श्वे. ६-१३ ॥ ४. शारी. २-३-७ ॥ ५. गी. १५-७ ॥

यथाऽग्न्यादित्यादेर्भास्वतो भारूपः प्रकाशोंऽशो भवति, यथा गवाश्वशुक्लकृष्णादीनां गोत्वादिविशिष्टानां वस्तूनां गोत्वादीनि विशेषणान्यंशाः, यथा वा देहिनो देवमनुष्यादिर्देहोंऽशः,तद्वत्। एकवस्त्वेकदेशत्वं ह्यंशत्वम्, विशिष्टस्यैकस्य वस्तुनो विशेषणमंश एव। तथाच विवेचकाः विशिष्टे वस्तुनि विशेषणांशोऽयम्, विशेष्यांशोयमिति व्यपदिशन्ति। विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वेऽपि स्वभाववैलक्षण्यं दृश्यते। एवं जीवपरयोर्विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वं, स्वभावभेदश्चोपपद्यते। तदिदमुच्यते–नैवं पर इति। यथाभूतो जीवः, न तथाभूतः परः। यथैवहि प्रभायाः प्रभावानन्यथाभूतः तथा प्रभास्थानीयात्स्वांशाज्जीवादंशी परोऽप्यर्थान्तरभूत इत्यर्थः। एवं जीवपरयोर्विशेषणविशेष्यत्वकृतं स्वभाववैलक्षण्यमाश्रित्य भेदनिर्देशाः प्रवर्तन्ते; अभेदनिर्देशास्तु पृथक्सिद्ध्यनर्हविशेषणानां विशेष्यपर्यन्तत्वमाश्रित्य मुख्यत्वेनोपपद्यन्ते। १"तत्त्वमसि"२"अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादिषु, तच्छब्दब्रह्मशब्दवत् त्वमयमात्मेतिशब्दा अपि जीवशरीरकब्रह्मवाचकत्वेनैकार्थाभिधायित्वादित्ययमर्थः प्रागेव प्रपञ्चित. ॥ ४५ ॥

स्मरन्ति च। २। ३। ४६ ॥

एवं प्रभाप्रभावद्रूपेण शक्तिशक्तिमद्रूपेण शरीरात्मभावेन चांशांशिभावं जगद्ब्रह्मणोः पराशरादयः स्मरन्ति ३ 'एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा। परस्य ब्रह्मणश्शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्" ४ "यत्किञ्चित्सृज्यते येन सत्त्वजातेन वै द्विज। तस्य सृज्यस्य सम्भूतौ तत्सर्वं वै हरेस्तनुः" इत्यादिना। चकाराच्छ्रुतयोऽपि—५"यस्यात्मा शरीरम्" इत्यादिना आत्मशरीरभावेनांशांशित्वं वदन्तीत्युच्यते ॥ ४६ ॥

एवं ब्रह्मणोंऽशत्वे, ब्रह्मप्रत्यैक्त्वे, ज्ञत्वे च सर्वेषां समाने केषांचिद्वेदाध्ययनतदर्थानुष्ठानाद्यनुज्ञा, केषांचित्तत्परिहारः, केषांचिद्दर्शनस्पर्श–

१. छा. ६-१०-३ ॥—२. बृ ६-४-५ ॥—३. वि. पु. १-२२-५६ ॥
४. वि. पु १-२२ ३८ ॥—५. बृ. ५ ७-२२ ॥

नाद्यनुज्ञा. केषांचित्तत्परिहारश्च, शास्त्रेषु कथमुपपद्यत इत्याशङ्कयाह–

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् । २ । ३ । ४७ ॥

सर्वेषां ब्रह्मांशत्वज्ञत्वादिनैकरूपत्वे सत्यपि ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादिरूपशुच्यशुचिदेहसम्बंधनिबन्धनावनुज्ञापरिहारावुपपद्येते; ज्योतिरादिवत्–यथाग्नेरग्नित्वेनैकरूपत्वेऽपि श्रोत्रियागारादग्निराह्रियते ; श्मशानादेस्तु परिह्रियते ; यथाचान्नादि श्रोत्रियादेरनुज्ञायते ; अभिशस्तादेस्तु परिह्रियते ॥ ४७ ॥

असन्ततेश्चाव्यतिकरः । २ । ३ । ४८ ॥

ब्रह्मांशत्वादिनैकरूपत्वे सत्यपि जीवानामन्योन्यभेदादणुत्वेन प्रतिशरीरं भिन्नत्वाच्च भोगव्यतिकरोऽपि न भवति । भ्रान्तब्रह्मजीववादे त्वोपहितब्रह्मजीववादे च जीवपरयोर्जीवानां च भोगव्यतिकरादयस्सर्वे दोषास्सन्तीत्यभिप्रायेण स्वपक्षे भोगव्यतिकराभाव उक्तः ॥ ४८ ॥

ननु भ्रान्तब्रह्मजीववादेऽप्यविद्याकृतोपाधिभेदाद्भोगव्यवस्थादय उपपद्यन्ते ; अत आह–

आभास एव च । २ । ३ । ४९ ॥

अखण्डैकरसप्रकाशमात्रस्वरूपस्य स्वरूपतिरोधानपूर्वकोपाधिभेदोपपादनहेतुराभास एव । प्रकाशैकस्वरूपस्य प्रकाशतिरोधानं प्रकाशनाश एवेति प्रागेवोपपादितम् । 'आभासा एव' इति वा पाठः; तथासति हेतव आभासाः, चकारात् १"पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा" २"ज्ञाज्ञौ द्वौ" ३ 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" इत्यादिश्रुतिविरोधश्च । अविद्यापरिकल्पितोपाधिभेदेऽपि सर्वोपाधिभिरुपहितस्वरूपस्यैकत्वाभ्युपगमात् भोगव्यतिकरस्तदवस्थ एव ॥ ४९ ॥

१—श्वे. १-६ ॥—२. श्वे १-९-१ ॥—३. श्वे. ४-६ ॥

पारमार्थिकोपाध्युपहितब्रह्मजीवबादेऽप्युपाधिभेदहेतुभूतानामदृष्ट वशाद्व्यवस्था भविष्यतीत्याशङ्क्याह-

अदृष्टानियमात् । २ । ३ । ५० ॥

उपाधिपरस्पराहेतुभूतस्यादृष्टस्यापि ब्रह्मस्वरूपाश्रयत्वेन नियमहेत्वभावादव्यवस्थैव, उपाधिभिरदृष्टैश्च स्वसम्बन्धेन ब्रह्मस्वरूपच्छेदासम्भवात् ॥ ५० ॥

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् । २ । ३ । ५१ ॥

अदृष्टहेतुभूताभिसन्ध्यादिष्वप्युक्तादेव हेतोरनियम एव ॥ ५१ ॥

प्रदेशभेदादिति चेन्नान्तर्भावात् । २ । ३ । ५२॥

यद्यप्येकमेव ब्रह्मस्वरूपम्, तच्छेदानर्हं नानाविधोपाधिभिस्सम्बध्यते- तथाप्युपाधिसम्बन्धिब्रह्मप्रदेशभेदादुपपद्यत एव भोगव्यवस्थेति चेत्-तन्न, उपाधीनां तत्र तत्र गमनात्सर्वप्रदेशानां सर्वोपाध्यन्तर्भावादव्यवस्थैव एव । प्रदेशभेदेन सम्बन्धेऽपि सर्वस्य ब्रह्मप्रदेशत्वात्तत्प्रदेशसम्बन्धि दुःखं ब्रह्मण एव स्यात् । पूर्वत्र १"नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा" २ "उपलब्धिवदनियमः" इत्याभ्यां सूत्राभ्यां वेदबाह्यानां सर्वगतजीववादिनां दोष उक्तः; अत्रतु ३"आभास एव च" इत्यादिभिस्सूत्रैर्वेदावलम्बिनामात्मैकत्ववादिनां दोष उच्यते ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अंशाधिकरणम् ॥ ७ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये

द्वितीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

---

१. ॥—२ ॥—३. शारी. २-३. ३२-३६-४६ ॥

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः. ॥

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते—

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

(द्वितीयाध्याये-चतुर्थः पादः-प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥)

तथा प्राणाः । २ । ४ । १ ॥

ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य वियदादेः कृत्स्नस्य कार्यत्वेनोत्पत्तावुक्तायां जीवस्य कार्यत्वेऽपि स्वरूपान्यथाभावलक्षणोत्पत्तिरपोदिता ; तत्प्रसङ्गेन जीवस्वरूपं शोधितम् ; सम्प्रति जीवोपकरणानामिन्द्रियाणां प्राणस्य चोत्पत्त्यादिप्रकारो विशोध्यते । तत्र किमिन्द्रियाणां कार्यत्वं जीववत् ; उत वियदादिवदिति चिन्त्यते । किं युक्तम् ? जीववदेवेत्याह पूर्वपक्षी-तथा प्राणाः—इति । प्राणाः-इन्द्रियाणि । यथा जीवो नोत्पद्यते ; तथेन्द्रियाण्यपि नोत्पद्यन्ते । कुतः ? श्रुतेः । यथा जीवस्यानुत्पत्तिः श्रुतेरवगम्यते; तथा प्राणानामप्यनुत्पत्तिः श्रुतेरेवावगम्यते । तथा प्राणा इति १प्रमाणमप्यतिदिश्यते । का पुनरत्र श्रुतिः? २"असद्वा इदमग्र आसीत्तदाहुः किं तदासीदिति ऋषयो वा व ते अग्रे सदासीत् तदाहुः के ते ऋषय इति प्राणा वा व ऋषयः" इति जगदुत्पत्तेः प्रागिन्द्रियाणां सद्भावः श्रूयते । प्राणशब्दे बहुवचनादिन्द्रियाण्येवेति निश्चीयते । नचेयं श्रुतिः ३"वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्" ४"सैपाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः" इतिवचिरकालावस्थायित्वेन परिणेतुं शक्या, ५"असद्वा इदमग्र आसीत् इति कृत्स्नप्रपञ्चप्रलयवेलायामप्यवस्थितत्वश्रवणात् । उत्पत्तिवादिन्यस्तु जीवोत्पत्तिवादिन्य इव नेतव्या इति ॥

---

१. प्रमाणमपि एतिदिश्यते. पा. ॥—२. शतपथ. ६-१-१ ॥—३. बृ. ४·३-३ ॥—४.—५. शतपथ. ६-१-१ ॥

सिद्धान्तः

एवं प्राप्तेऽभिधीयते-वियदादिवदेव प्राणाश्चोत्पद्यन्ते;कुतः ? १'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'' २ "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादिषु प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणात् ,३'एतस्माज्जायते प्राणो मनस्सर्वेन्द्रियाणि च'' इतीन्द्रियाणामुत्पत्तिश्रवणाच, प्रागवस्थानासम्भवात् । नचात्मोत्पत्तिवादवदिन्द्रियोत्पत्तिवादाः परिणेतुं शक्याः, आत्मवदुत्पत्तिप्रतिषेधश्रुतीनां नित्यत्वेश्रुतीनां चादर्शनात्। ४ "असद्वा इदमग्र आसीत्" इत्यादिवाक्येऽपि प्राणशब्देन परमात्मैव निर्दिश्यते । ५ "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते" इति प्राणशब्दस्य परमात्मन्यपि प्रसिद्धेः । ४"प्राणा वा व ऋषयः" इति ऋषिशब्दश्च सर्वज्ञे तस्मिन्नेव युज्यते । न त्वचेतनेष्विन्द्रियेषु ॥ १ ॥

ऋषयः, प्राणा इति च बहुवचनश्रुतिः कथमुपपद्यत इति चेत्—तत्राह—

गौण्यसम्भवात्तत्प्राक्श्रुतेश्च । २ । ४ । २ ॥

बहुवचनश्रुतिर्गौणी, बह्वर्थासम्भवात्; तस्यैव परमात्मनः सृष्टेः प्रागवस्थानश्रुतेरेव ॥ २ ॥

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः । २ । ४ । ३ ॥

इतश्च प्राणशब्दः परमात्मवचनः; वाचः-परमात्मव्यतिरिक्तविषयस्य नामधेयस्य वाग्विषय भूतवियदादिसृष्टिपूर्वकत्वात् । ६"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इति नामरूपभाजामभावात्तदानीं वागादीन्द्रियकार्याभावाच तानि न सन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

———

१. छां. ६-२-१ ॥ २. ऐ. १-अ. १ खं. १ । ३. मु. २ १-३ ॥
४. शतपथ. ६-१-१ ॥ ५. छां १-११-५ ॥ ६. बृ. ३-४-७ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सप्तगत्यधिकरणम् ॥ २ ॥)

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च । २ । ४ । ४ ॥

तानीन्द्रियाणि किं सप्तैव स्युः, अथवैकादशेति चिन्त्यते । श्रुतिविप्रतिपत्तेस्संशयः । किं प्राप्तम् ; सप्तेति । कुतः? गतेर्विशेषितत्वाच्च । गतिस्तावज्जायमानेन म्रियमाणेन च जीवेन सह लोकेषु सञ्चरणरूपा सप्तानामेव श्रूयते[१] "सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहितास्सप्तसप्त" इति । वीप्सा पुरुषभेदाभिप्राया । विशेषिताश्च ते गतिमन्तः प्राणाःस्वरूपतः [२]"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्" इति । शरीरान्तरसञ्चरणं विहाय मोक्षार्थगमनं परमा गतिः । एवं जीवेन सह जन्ममरणयोस्सप्तानामेव गतिश्रवणात योगदशायां ज्ञानानीति विशेषितत्वाच्च जीवस्य करणानि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणबुद्धिमनांसि सप्तैवेति गम्यते । यानि त्वितराणि विषयाणां ग्राहकत्वेन [३]"अष्टौ ग्रहाः" [४]"सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः द्वाववाञ्चौ" इत्यादिषु चतुर्दशपर्यन्तानि प्राणप्रतिपादकवाक्येषु वाक्पाणिपादपायूपस्थाहङ्कारचित्ताख्यानीन्द्रियाणि प्रतीयन्ते तेषां जीवेन सह गतिश्रवणाभावाज्जीवस्याल्पाल्पोपकारकत्वमात्रेणौपचारिकः प्राणव्यपदेशः ॥ ४ ॥

सिद्धान्तः

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् । २ । ४ । ५ ॥

न सप्तैवेन्द्रियाणि;अपि त्वेकादश,हस्तादीनामपि शरीरे स्थिते जीवनस्य भोगोपकरणत्वात् ,कार्यभेदाच्च । दृश्यते हि श्रोत्रादीनामिव हस्तादी-

१. मु. २-१-८ ॥ २. कठ. ?-६-१० ॥ ३. बृ. ३-२-६ ॥
४. यजु. ७-३-१२ ॥

नामपि कायभेद आदानादिः;अतस्तेऽपि सन्त्येव। अतो नैवम्-अतो हस्तादयो न सन्तीत्येवं न मन्तव्यमित्यर्थः। अध्यवसायाभिमानचिन्तावृत्तिभेदान्मन एव बुद्ध्यहङ्कारचित्तशब्दैर्व्यपदिश्यत इत्येकादशेन्द्रियाणि। अतः १"दशेमे पुरुषे प्राणाः आत्मैकादशः" इति-आत्मशब्देन मनोऽभिधीयते; २"इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः" ३"तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवा वैकारिका दश। एकादशं मनश्चात्र" इत्यादिश्रुतिस्मृतिसिद्धेन्द्रियसङ्ख्या स्थिता। अधिकसङ्ख्यावादाः मनोवृत्तिभेदाभिप्रायाः; न्यूनव्यपदेशास्तु तत्रतत्र विवक्षितगमनादिकार्यविशेषप्रयुक्ताः ॥ ५ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सप्तगत्यधिकरणम् ॥ २ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्राणाणुत्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥)

अणवश्च । २ । ४ । ६ ॥

४ "त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः" इत्यानन्त्यश्रवणाद्विभुत्वं प्राणानाम्—

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्तेऽभिधीयते-५'प्राणमनूत्क्रान्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' इत्युत्क्रान्त्यादिश्रवणात्परिमितत्वे सिद्धे सत्युत्क्रान्त्यादिषु पार्श्वस्थैरनुपलभ्यमानत्वादणवश्च प्राणाः। आनन्त्यश्रुतिस्तु४"अथ यो हैताननन्तानुपास्ते" इत्युपासनश्रवणादुपास्यप्राणविशेषणभूतकार्यबाहुल्याभिप्रायाः ॥ ६ ॥

श्रेष्ठश्च । २ । ४ । ७ ॥

प्राणसंवादे शरीरस्थितिहेतुत्वेन श्रेष्ठतया निर्णीतो मुख्यप्राणः६ 'आ-

१. बृ. ५-३-४ ॥ २. गी १३-५ ॥ ३. वि. पु. १-२-४७ ॥ ४. बृ. ३-५-१३ ॥ ५. बृ. ६-४-२ ॥ ६. मु-१-२-३

नीदवातं स्वधया तदेकम्" इति महाप्रलयसमये स्वकार्यभूतप्राणसद्भावश्रवणात्, "एतस्माज्जायते" इति जन्मश्रवणस्य जीवजन्मश्रवणवदुपपत्तेर्नोत्पद्यत इत्याशङ्क्य प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणादिविरोधात्, १ 'एतस्माज्जायते प्राणः" इति पृथिव्यादितुल्योत्पत्तिश्रवणात्, उत्पत्तिनिषेधाभावाच्च जायत एव श्रेष्ठश्च प्राण इत्युच्यते। २"आनीदवातम्" इति तु न जैवं श्रेष्ठं प्राणमभिप्रेत्योच्यते; अपितु परस्य ब्रह्मण एकस्यैव विद्यमानत्वमुच्यते। ३"अवातम्" इति तत्रैव श्रवणात्। पूर्वेणैव तुल्यन्यायत्वेऽपि पृथग्योगकरणमुत्तरचिन्तार्थम् ॥ ७ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्राणाणुत्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वायुक्रियाधिकरणम् ॥ ४ ॥)

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् । २ । ४ । ८ ॥

सोऽयं श्रेष्ठः प्राणः किं महाभूतद्वितीयवायुमात्रम्; तस्य वा स्पन्दरूपक्रिया; अथवा वायुरेव कञ्चन विशेषमापन्नः–इति विशये वायुरेवेति प्राप्तम्, " यः प्राणस्स वायुः " इति व्यपदेशात्। यद्वा वायुमात्रे प्राणत्वप्रसिद्ध्यभावादुच्छ्वासनिश्वासादिवायुक्रियायां प्राणशब्दप्रसिद्धेश्च तत्क्रियैव—

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्ते वायुमात्रम्, नच तत्क्रियेत्युच्यते; कुतः, पृथगुपदेशात्—३" एतस्माज्जायते प्राणो मनस्सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुः " इति तत एव पृथगुपदेशात् वायुक्रियापि न भवति प्राणः; नहि तेजः प्रभृतीनां क्रिया तैस्सह पृथग्द्रव्यतयोपदिश्यते ४ " यः प्राणस्स वायुः " इति तु वायुरेवावस्थान्तरमापन्नः प्राणः; न तेजः प्रभृतिवत्तत्त्वान्तर-

१.—२.—३. मु. २-१-३ ॥—४ ॥

मिति ज्ञापनार्थम् । उच्छ्वासनिश्वासादावपि प्राणः स्पन्दत इति क्रियावति द्रव्य एव प्राणशब्दप्रसिद्धिः ; न क्रियमात्रे ॥ ८ ॥

किमयं प्राणो वायोर्विकारस्सन्नग्निवद्भूतान्तरम् ?, नेत्याह--

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः । २। ४। ९॥

नायं भूतविशेषः; अपितु चक्षुरादिवज्जीवोपकरणविशेषः । तथा पकरणत्वमुपकरणभूतैरिन्द्रियैस्सहशिष्ट्यादिभ्योऽवगम्यते । चक्षुरादिभिस्सहायं प्राणश्शिष्यते प्राणसंवादादिषु तत्सजातीयत्वे हि तैस्सह शासनं युज्यते । प्राणशब्दपरिगृहीतेषु करणेष्वस्य विशिष्याभिधानमादिशब्देन गृह्यते; १" अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणः " २"योऽयं मध्यमः प्राणः" इत्यादिषु विशिष्याभिधानात् ॥ ९ ॥

चक्षुरादिवदस्यापि करणत्वे तद्वदस्यापि जीवं प्रत्युपकारविशेषरूपक्रियाया भवितव्यम् ; सा तु न दृश्यते; अतो नायं चक्षुरादिवद्भवितुमर्हतीति चेत्-तत्राह--

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ।२।४।१०॥

अकरणत्वात्-करणं क्रिया, अक्रियत्वात् अस्य प्राणस्य जीवं प्रत्युपकारविशेषरूपक्रियारहितत्वाच्च यो दोष उद्भाव्यते, स नास्ति; यत उपकारविशेषरूपां शरीरेन्द्रियधारणादिरूपां क्रियां दर्शयति श्रुतिः-३" यस्मिन्नुत्क्रान्त इदं शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते सवः श्रेष्ठः " इत्युक्त्वा वागाद्युत्क्रमणेऽपि शरीरस्येन्द्रियाणां च स्थितिं दर्शयित्वा प्राणोत्क्रमणे शरीरेन्द्रियशैथिल्याभिधानात् । अतः प्राणापानव्यानोदानसमानाकारेण पञ्चधाऽवस्थितोऽयं प्राणः शरीरेन्द्रियधारणादिना जीवस्योपकरोतीति चक्षुरादिवत्करणत्वम् ॥ १० ॥

---

१. छा. १-२-७ ॥—२ ॥ ३. छा. ५-१-७ ॥

नन्वेवं नामभेदात्कार्यभेदाच्च प्राणापानादयस्तत्त्वान्तराणि स्युः ; तत्राह—

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते । २ । ४ । ११ ॥

यथा कामादिवृत्तिभेदे तत्कार्यभेदेऽपि न कामादिकं मनसस्तत्त्वान्तरं १"कामस्सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" इति वचनात् । एवं १" प्राणोऽपानो व्यान उदानस्समान इत्येतत्सर्वं प्राण एव " इति वचनात् अपानादयोऽपि प्राणस्यैव वृत्तिविशेषाः ; न तत्त्वान्तरमित्यवगम्यते ॥ ११ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वायुक्रियाधिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् ॥ ५ ॥)

अणुश्च । २ । ४ । १२ ॥

अणुश्चायम् , पूर्ववदुत्क्रान्त्यादिश्रवणात् २"तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति" इत्यादिषु । अधिकाशङ्का तु ३"सम एभिस्त्रिभिर्लोकैस्समोऽनेन सर्वेण" ४' प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्" ५"सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्" इत्यादिश्रवणात् महापरिमाण इति ॥

(सिद्धान्तः)

परिहारस्तु—उत्क्रान्त्यादिश्रवणात्परिच्छिन्नत्वे निश्चिते सर्वस्य प्राणिजातस्य प्राणायत्तस्थितित्वेन वैभववादोपपत्तिः—इति ॥ १२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् ॥ ५ ॥

---

१. बृ. ३-५-३ ॥ — २. बृ. ६-४-२ ॥ — ३. बृ. ३-३-२२ ॥—
४ ॥—५ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम् ॥)

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्प्राणवता शब्दात् । २ । ४ । १३ ॥

सश्रेष्ठानां प्राणानां ब्रह्मण उत्पत्तिरियत्तापरिमाणं चोक्तम्; तेषां प्राणानामग्न्यादिदेवताधिष्ठितत्वं च पूर्वमेव १"अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्" इत्यनेन सूत्रेण प्रसङ्गादुपपादितम्; जीवस्य च स्वभोगसाधनानामेषामधिष्ठातृत्वं लोकसिद्धम्, २ "एवमेवैष एतान् प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते" इत्यादिश्रुतिसिद्धं च। तदिदं जीवस्याग्न्यादिदेवतानां च प्राणविषयमधिष्ठानं किं स्वायत्तम्; उत परमात्मायत्तमिति विषये नैरपेक्ष्यात्स्वायत्तम् ॥

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—ज्योतिराद्यधिष्ठानमिति। प्राणवता—जीवेन सह ज्योतिरादीनामग्न्यादिदेवतानां प्राणविषयमधिष्ठानम्, तदामननात्—तस्य परमात्मनः आमननाद्भवति। आमननम्—आभिमुख्येन मननम्, परमात्मनस्सङ्कल्पादेव भवतीत्यर्थः। कुत एतत्? शब्दात्—इन्द्रियाणां साभिमानिदेवतानां जीवात्मनश्च स्वकार्येषु परमपुरुषमननायत्तत्वशास्त्रात्। यथाऽन्तर्यामिब्राह्मणादिषु ३"योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निश्शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः३"यो वायौ तिष्ठन्' ३ "य आदित्ये तिष्ठन्" ३ "य आत्मनि तिष्ठन्" ३"यश्चक्षुषि तिष्ठन्" इत्यादि। यथा च ४ "भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः"इति।तथा५'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' इत्यादि ॥

१. शारी. २-१-५ ॥ २. बृ. ४-१-१८ ॥ ३. बृ. ५-७-५, ७. ६,२२, १८ ॥ ४. तै. आन. ८-१ ॥ ५. बृ. ५-८-६ ॥

तस्य च नित्यत्वात् । २ । ४ । १४ ॥

सर्वेषां परमात्माधिष्ठितत्वस्य नित्यत्वात् , स्वरूपानुबन्धित्वेन नियतत्वाच्च तत्सङ्कल्पादेवैषामधिष्ठातृत्वमवर्जनीयम् । १ "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्" इत्यादिना परमपुरुषस्य नियन्तृत्वेन सर्वचिदचिद्वस्त्वनुप्रवेशः स्वरूपानुबन्धी श्रूयते; स्मर्यते च २"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति ॥ १४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम् ॥ ६ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये इन्द्रियाधिकरणम् ॥ ७ ॥)

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् । २ । ४ । १५ ॥

किं सर्वे प्राणशब्दनिर्दिष्टा इन्द्रियाणि, उत श्रेष्ठप्राणव्यतिरिक्ता एवेति विशये प्राणशब्दवाच्यत्वात्, करणत्वाच्च सर्व एवेन्द्रियाणि ॥

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्त उच्यते–श्रेष्ठव्यतिरिक्ता एव प्राणा इन्द्रियाणि; कुतः? श्रेष्ठादन्येष्वेव प्राणेषु तद्व्यपदेशात् ३"इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः" इत्यादिभिर्हि चक्षुरादिषु समनस्केष्वेव इन्द्रियशब्दो व्यपदिश्यते ॥ १५ ॥

भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च । २ । ४ । १६ ॥

४ "एतस्माज्जायते प्राणो मनस्सर्वेन्द्रियाणि च" इत्यादिष्विन्द्रिये-

---

१. तै. आन. ६-२-३ ॥ २. गी. १०-४२ ॥ ३. गी. १३-५ ॥ ४. मु. २-१-३ ॥

भ्यः प्राणस्य पृथक्छ्रवणात्प्राणव्यतिरिक्तानामेवेन्द्रियत्वमवगम्यते। मनसः पृथक्छ्रवणेऽपि तस्यान्यत्रेन्द्रियान्तर्भाव उक्तः १"मनःषष्ठानीन्द्रियाणि" इत्यादौ। वैलक्षण्यं च चक्षुरादिभ्यः श्रेष्ठप्राणस्योपलभ्यते; सुषुप्तौ हि प्राणस्य वृत्तिरुपलभ्यते, चक्षुरादीनां तु वृत्तिर्नोपलभ्यते। कार्यं च चक्षुर्वागादीनां समनस्कानां ज्ञानकर्मसाधनत्वम्; प्राणस्य तु शरीरेन्द्रियधारणम्; प्राणाधीनधारणत्वात्त्विन्द्रियेषु प्राणशब्दव्यपदेशः; तथा च श्रुतिः २ "त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन् तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते" इति। रूपमभवन्—शरीरमभवन्, तदधीनप्रवृत्तयोऽभवन्नित्यर्थः ॥ १६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये इन्द्रियाधिकरणम् ॥ ७ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ॥ ८ ॥)

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ।२।४।१७॥

भूतेन्द्रियादीनां समष्टिसृष्टिः, जीवानां कर्तृत्वं च परस्माद्ब्रह्मण इत्युक्तं पुरस्तात्। जीवानां स्वेन्द्रियाधिष्ठानं च परायत्तमिति चानन्तरं स्थिरीकरणाय स्मारितम्। या त्वियं नामरूपव्याकरणात्मिका प्रपञ्चव्यष्टिसृष्टिः, सा किं समष्टिजीवरूपस्य हिरण्यगर्भस्यैव कर्म, उत तेजःप्रभृतिशरीरकस्य परस्यावाष्टिसृष्टिवद्धिरण्यगर्भशरीरकस्य परस्य ब्रह्मण, इतीदानीं चिन्त्यते। किं युक्तम्? समष्टिजीवस्येति; कुतः? ३"अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति जीवकर्तृकत्वश्रवणात्। न हि परा देवता स्वेन रूपेण नामरूपे व्याकरवाणीत्यैच्छत्; अपितु स्वांशभूतेन जीवरूपेण, ३"अनेन जीवेनाऽऽत्मना" इति वचनात्। नन्वेवं चारेणानुप्रविश्य परबलं सङ्कलयानीतिवत् ३"व्याकरवाणि" इत्युत्तमपुरुषः

१. गी-१५-७ ॥—२॥—३. छा. ६-३-२ ॥

कर्तृत्वक्रियश्च प्रविशतिर्लाक्षणिकत्वस्यात्। नैवम्; तत्र राजचार्योः स्वरूपभेदाल्लाक्षणिकत्वम्, इह तु जीवस्यापि स्वांशत्वेन स्वरूपत्वात्तेन रूपेण प्रवेशो व्याकरणं चात्मन एवेति न लाक्षणिकत्वप्रसङ्गः। नच सहयोगलक्षणेयं तृतीया, कारकविभक्तौ सम्भवन्त्यामुपपदविभक्तेरन्याय्यत्वात्। नच करणे तृतीया, ब्रह्मकर्तृकयोः प्रवेशव्याकरणयोर्जीवस्य साधकतमत्वाभावात्। नच जीवस्य कर्तृत्वं प्रवेशमात्रे पर्यवस्यति, नामरूपव्याकरणं तु ब्रह्मण एवेति शक्यं वक्तुम् क्त्वाप्रत्ययेन समानकर्तृकत्वप्रतीतेः। जीवस्य स्वांशत्वेन स्वरूपत्वेऽपि परस्वरूपव्यावृत्त्यर्थः १"अनेन जीवेन" इति पराक्त्वेन परामर्शः। अतो हिरण्यगर्भकर्तृकेयं नामरूपव्याक्रिया। अतएव च स्मृतिषु चतुर्मुखकर्तृकसृष्टिप्रकरणे नामरूपव्याकरणं सङ्कीर्त्यते २"नामरूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपञ्चनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः" इत्यादि॥

(सिद्धान्तः)

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु—इति। तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति; संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः—नामरूपव्याकरणम्, तत्त्रिवृत्कुर्वतः परस्यैव ब्रह्मणः, तस्यैव नामरूप व्याकरणोपदेशात्। त्रिवृत्करणं कुर्वत एव हि नामरूपव्याकरणमुपदिश्यते—१"सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" इति समानकर्तृकत्वप्रतीतेः। त्रिवृत्करणं तु चतुर्मुखस्याण्डान्तर्वर्तिनो न सम्भवति, त्रिवृत्कृतैस्तेजोबन्नैर्ह्यण्डमुत्पाद्यते; चतुर्मुखस्य चाण्डे सम्भवः स्मर्यते—३"तस्मिन्नण्डेऽभवद्ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः" इति। अतस्त्रिवृत्करणं परस्यैव ब्रह्मणः; तत्समानकर्तृकं नामरूपव्याकरणं च तस्यैवेति विज्ञायते। कथं तर्हि १ "अनेन जीवेन" इति सङ्गच्छते,१ "आत्मना जीवेन' इति सामानाधिकरण्यात् जीवशरीरं परं

१. छा. ६-३-२ ॥—२. वि. पु. १-५-६३ ॥—३ ॥

ब्रह्मैव जीवशब्देनाभिधीयते; यथा १ 'तत्तेज ऐक्षत' १ 'तदपोऽसृजत" १ 'ता आप ऐक्षन्तः' १'ता अन्नमसृजन्त' इति तेजः प्रभृतिशरीरकं परमेव ब्रह्माभिधीयते। अतो जीवसमष्टिभूतहिरण्यगर्भशरीरकस्य परस्यैव ब्रह्मणः कर्म नामरूपव्याकरणम्। एवं च २ 'प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'इति प्रविशतिरुत्तमपुरुषश्चाक्लिष्टौ मुख्यार्थावेव भवतः। प्रवेशव्याकरणयोस्समानकर्तृकत्वमप्युपपद्यते। चतुर्मुखशरीरकस्य परस्यैव ब्रह्मणः कर्म देवादिविचित्रसृष्टिरिति चतुर्मुखकर्तृकसृष्टिप्रकरणे नामरूपव्याक्रियोपदेशश्चोपपद्यते। अतः ३ "सेयं देवता" इत्यादिवाक्यस्यायमर्थः- इमाः-तेजोऽबन्नरूपास्तिस्रो देवताः अनेन जीवेन-जीवसमष्टिविशिष्टेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि-देवादिविचित्रसृष्टितन्नामधेयानि च करवाणि। तदर्थमन्योन्यसंसर्गमप्राप्तानामेषां तेजोबन्नानां विशेषसृष्टयसमर्थानां तत्सामर्थ्यायैकैकां त्रिवृतंत्रिवृतं करवाणि-इति। अतः परस्यैव ब्रह्मणः कर्मेदं नामरूपव्याकरणम् ॥ १७ ॥

अथ स्यात् नामरूपव्याकरणस्य त्रिवृत्करणेनैककर्तृकत्वात्परमात्मकर्तृकमिति न शक्यते वक्तुम्, त्रिवृत्करणस्यापि जीवकर्तृकत्वसम्भवात्। अण्डसृष्ट्युत्तरकालं हि चतुर्मुखसृष्टिजीवेषु त्रिवृत्करणप्रकार उपदिश्यते-४"यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति" ५ "अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो भागस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठः तन्मनः" इत्यादिना। तथा पूर्वस्मिन्नपि वाक्ये ४"यदग्नेरोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य" इत्यादिना चतुर्मुखसृष्टाग्न्यादित्यचन्द्रविद्युत्सु त्रिवृत्करणं प्रदर्श्यते। नामरूपव्याकरणोत्तरकालं च त्रिवृत्करणं श्रूयते। ६"सेयं देवतेमास्तिस्रो देवताः अनेन जीवेनाऽऽत्मना-

१. छा. ६-२-३, ४ ॥ २. छा. ६-३-२ ॥ ३. छा. ६-३-२ ॥ ४. छा. ६-४-७, १ ॥ ५. छा. ६-५-१ ॥ ६ ६-३-२३, ४ ॥

ऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्तासां त्रिवृतंत्रिवृतमेकैकामकरोत्" इति । तत्राह—

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च।२।४।१८॥

यदुक्तमण्डसृष्ट्युत्तरकालं चतुर्मुखसृष्टदेवतादिविषयोऽयं १"तासां त्रिवृतत्रिवृतमेकैकामकरोत्" इति त्रिवृत्करणोपदेश इति; तन्नोपपद्यते, २"अन्नमशितं त्रेधा विधीयते" इत्यत्र मांसमनसोः पुरीषादणुत्वेनाणीयस्त्वेन च व्यपदिष्टयोः कारणानुविधायित्वेनाप्यतैजसत्वप्रसङ्गात्, ३"आपः पीताः" इत्यत्रापि मूत्रप्राणयोः स्थविष्ठाणीयसोः पार्थिवत्वतैजसत्वप्रसङ्गाच्च । नचैवमिष्यते; मांसादि भौममिष्यते–पुरीषवन्मांसमनसी अपि भौमे—पार्थिवे इष्यते ३"अन्नमशितं त्रेधा" इति प्रक्रमात् । यथाशब्दमितरयोश्च–इतरयोरपि ३"आपः पीताः" ३ "तेजोऽशितम्" इति पर्याययोर्यथाशब्दं विकारा इष्यन्ते । ३ "आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते" इत्यपामेव त्रेधा परिणामः शब्दात्प्रतीयते;तथा ३"तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते" इत्यपि तेजस एव त्रेधा परिणामः शब्दात्प्रतीयते; अतः पुरीषमांसमनांसि पृथिवीविकाराः, मूत्रलोहितप्राणाः अब्विकाराः, अस्थिमज्जावाचस्तेजोविकारा इति प्रतिपत्तव्यम् ; ३ "अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्" इति वाक्यशेषाविरोधाच्च । अतः ४ "तासां त्रिवृतंत्रिवृतमेकैकामकरोत्" इत्युक्तत्रिवृत्करणप्रकारः १"अन्नमशितम्" इत्यादिना न प्रदर्श्यते; तथा सति मनःप्राणवाचां त्रयाणामप्यणीयस्त्वेन तैजसत्वात् २ "अन्नमयं हि सोम्य मनः" इत्यादिर्विरुध्येत । प्रागेव त्रिवृत्कृतानां पृथिव्यादीनां पुरुषं प्राप्तानाम् ३ "अन्नमशितम्" इत्यादिनैकैकस्य त्रेधा परिणाम उच्यते । अण्डसृष्टेः प्रागेव च तेजोबन्नानां त्रिवृत्करणेन भवितव्यम् , अत्रिवृत्कृ–

१. छा. ६–३–२ ।। २. छा. ६–५–१ ॥ ३. छा. ६–५–२, १,३,४,॥
४. छा. ६–३–४ ॥

तानां तेषां कार्यारम्भासामर्थ्यात्। अन्योन्यसंयुक्तानामेव हि कार्यारम्भसामर्थ्यम् ; तदेव च त्रिवृत्करणम्। तथा च स्मर्यते १ "नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना। नाशक्नुवन् प्रजास्स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः॥ समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्पर समाश्रयाः। महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते" इति। अत एव च २"अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् तासां त्रिवृतंत्रिवृतमेकैकामकरोत्' इति पाठक्रमोऽर्थक्रमेण बाध्यते। अण्डान्तर्वर्तिष्वग्न्यादित्यादिषु त्रिवृत्करणप्रदर्शनं श्वेतकेतोश्शुश्रूषोरण्डान्तर्वर्तित्वेन; तस्य बहिष्ठवस्तुषु त्रिवृत्करणप्रदर्शनायोगात्त्रिवृत्कृतानां कार्येषु अग्न्यादित्यादिषु क्रियते॥ १८॥

स्यादेतत्; ३'अन्नमशितम्' ३ 'आपः पीताः' ३ 'तेजोऽशितम्' इति त्रिवृत्कृतानामन्नादीनामेकैकस्य तेजोबन्नात्मकत्वेन त्रिरूपस्य कथमन्नमापस्तेज इत्येकैकरूपेण व्यपदेश उपपद्यत इति; तत्राह—

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः। २। ४। १९॥

वैशेष्यं-विशेषभावः। त्रिवृत्करणेन त्रिरूपेऽप्येकैकस्मिन्नन्नाद्याधिक्यात्तत्रतत्रान्नादिवादः। द्विरुक्तिरध्यायसमाप्तिं द्योतयति॥ १९॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम्॥३॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये
द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्थ पादः॥ ४॥
समाप्तश्चाध्यायः।

———

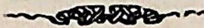
१. वि. पु. १-२-५२, ५३॥ २. छा. ६-३-४॥ ३. छा. ६-५-१, २, ३॥

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः. ॥

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

(तृतीयाध्याये - प्रथमः पादः-तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ॥)



तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् । ३ । १ । १ ॥

अतिक्रान्ताध्यायद्वयेन निखिलजगदेककारणं निरस्तनिखिलदोषगन्धमपरिमितोदारगुणसागरं सकलेतरविलक्षणं परं ब्रह्म मुमुक्षुभिरुपास्यतया वेदान्ताः प्रतिपादयन्तीत्ययमर्थः स्मृतिन्यायविरोधपरिहारपरपक्षप्रतिक्षेपवेदान्तवाक्यपरस्परविरोधपरिहाररूपकार्यस्वरूपसंशोधनैस्तद्दुर्धर्षणत्वहेतुभिस्सह स्थापितः; अतोऽध्यायद्वयेन ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपादितम् । उत्तरेणेदानीं तत्प्राप्त्युपायैस्सह प्राप्तिप्रकारश्चिन्तयितुमिष्यते । तत्र तृतीयाध्याये उपायभूतोपासनविषया चिन्ता वर्तते । उपासनारम्भाभ्यर्हितोपायश्च प्राप्यवस्तुव्यतिरिक्तवैतृष्ण्यम् , प्राप्यतृष्णा चेति ; तत्सिद्ध्यर्थं जीवस्य लोकान्तरेषु सञ्चरतो जाग्रतस्स्वपतस्सुषुप्तस्य मूर्च्छतश्च दोषाः, परस्य च ब्रह्मणस्तद्रहितता, कल्याणगुणाकरत्वं च प्रथमद्वितीययोः पादयोः प्रतिपाद्यते । तत्र देहाद्देहान्तरं गच्छन्नयं जीवो देहान्तरारम्भहेतुभिर्भूतसूक्ष्मैस्सम्परिष्वक्त एव गच्छति, उत नेति चिन्तायाम्—यत्रयत्र जीवो याति; तत्रतत्र भूतसूक्ष्माणां सुलभत्वादसम्परिष्वक्तो यातीति प्राप्तम् । पश्चादपि पूर्वपक्षबीजान्युपन्यस्य निरसिष्यन्ति ॥

(सिद्धान्तः)

तत्र सिद्धान्तमाह-तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः—इति। [1]"संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः" इति मूर्तिशब्देन देहः प्रस्तुतः; स तच्छब्देन परामृश्यते। तदन्तरप्रतिपत्तौ-देहान्तरगमने भूतसूक्ष्मैस्सम्परिष्वक्तोजीवो रंहति-गच्छतीत्यर्थः। कुतः? प्रश्ननिरूपणाभ्यां-प्रश्नप्रतिवचनाभ्याम्। पञ्चाग्निविद्यायामेवं प्रश्नप्रतिवचने आम्नायेते—श्वेतकेतुं किलारुणेयं पाञ्चालः प्रवाहणः कर्मिणां गन्तव्यदेशं, पुनरावृत्तिप्रकारं, देवयानपितृयाणपथव्यावर्तनं, अमुष्य लोकस्याप्रापारं च वेत्थेति पृष्ट्वेदमपि पप्रच्छ—[2]"वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" इति। तत इमं पश्चिमं प्रश्नं प्रतिब्रुवंश्च द्युलोकमग्नित्वेन रूपयित्वा [3]"तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेस्सोमो राजा सम्भवति" इत्यादिना-देवाख्याः जीवस्य प्राणाः अग्नित्वेन रूपिते द्युलोके श्रद्धाख्यं वस्तु प्रक्षिपन्ति; सा च श्रद्धा सोमराजाख्यामृतमयदेहरूपेण परिणमते; तं चामृतमयं देहं त एव प्राणाः पर्जन्येऽग्नित्वेन रूपिते प्रक्षिपन्ति: स च देहस्तत्र प्रक्षिप्तो वर्षं भवति; तच्च वर्षं त एव प्राणाः पृथिव्यामग्नित्वरूपितायां प्रक्षिपन्ति; तच्च तत्र प्रक्षिप्तमन्नं भवति; तच्चान्नं त एव पुरुषेऽग्नित्वरूपिते प्रक्षिपन्ति; तच्च तत्र रेतो भवति; तच्च त एव योषायामग्नित्वरूपितायां प्रक्षिपन्ति; तच्च तत्र प्रक्षिप्तं गर्भो भवतीत्युक्त्वा आह--[4]"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" इति। एवं पञ्चम्यामाहुतौ हुतायामापः पुरुषशब्दाभिलप्या भवन्तीत्यर्थः। एवमुक्तं पूर्वास्वप्याहुतिष्वनुवर्तमानानामेवापां सूक्ष्मरूपाणामिदानीं पुरुषाकारत्वं भवतीत्युक्तं भवति। अत एवं प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां देहहेतुभूतैर्भूतसूक्ष्मैस्सह तत्रतत्र यातीति गम्यते ॥ १ ॥

१. शारी. २-४-१७ ॥—२. छा. ५-३-३ ॥—३. छा. ५-४-२ ॥—
४. छा. ५-९ १ ॥

ननु १"आपः पुरुषवचसः" इत्युक्ते अपां पुरुषाकारपरिणामप्रतीतेर्गच्छता जीवेन तासामेव परिष्वङ्गः प्रतीयते; अतः कथं सर्वेषां भूतसूक्ष्माणां परिष्वङ्ग इति ; तत्राह—

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् । ३ । १ । २ ॥

तुशब्दश्चोद्यं व्यावर्तयति । देहारम्भकाणामपां केवलानां न देहारम्भसम्भवः । देहाद्यारम्भाय हि २ "तासां त्रिवृतंत्रिवृतमेकैकामकरोत्" इति त्रिवृत्करणम् । केवलानामपां श्रवणं तु तासां भूयस्त्वात् । देहे च लोहितादिभूयस्त्वेनारम्भकेष्वपां भूयस्त्वं गम्यते ॥ २ ॥

प्राणगतेश्च । ३ । १ । ३ ॥

इतश्च भूतसूक्ष्मपरिष्वक्तस्य गमनमिति गम्यते । उत्क्रामति जीवे प्राणानां तदनुगतिश्श्रूयते-३"तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" इति । स्मर्यते च-४"मनष्षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति । शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्" इति । नच निराश्रयाणां गतिरुपपद्यत इति तदाश्रयभूतानां भूतसूक्ष्माणामपि गतिरभ्युपगन्तव्या ॥ ३ ॥

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ।३।१।४॥

५"यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति, वातं प्राणश्चक्षुरादित्यम्" इत्यादिना प्राणानां जीवमरणकाले अग्न्यादिष्वत्ययश्रवणान्नेषां जीवेन सह गमनमिति गतिश्रुतिरन्यथा नेयेतिचेत्—न, भाक्तत्वात् अग्न्यादिष्वप्ययश्रवणस्य । कथं भाक्तत्वम् ? ५ "ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशाः" इत्यनपियद्भिर्लोमादिभिस्सह श्रवणात् । अतश्चक्षुराद्यप्ययश्रुतिरधिष्ठातृदेवतापक्रमणपरा ॥ ४ ॥

१. छा. ५-९-१ ॥–२. छा. ६ ३-३ ॥–३. बृ. ६-४-२ ॥–४. गी १५-७॥
५. बृ. ५-२—१३॥

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ।३।१।५॥

यदुक्तमद्भिस्सूक्ष्माभिर्भूतान्तरसंसृष्टाभिः परिष्वक्तो जीवो गच्छतीति प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामवगम्यत इति ; तन्नोपपद्यते, द्युलोकाग्निविषये प्रथमे होमे अपां होम्यत्वाश्रवणात् । १"तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति" इति श्रद्धैव होम्यत्वेन श्रुता । श्रद्धा नाम जीवस्य मनोवृत्तिविशेषत्वेन प्रसिद्धा । अतो नापस्तत्र होम्या इति चेत्—न, यतः ताः—आप एव श्रद्धाशब्देन तत्राभिधीयन्ते; कुतः ?प्रश्नप्रतिवचनोपपत्तेः । २ "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" इतिप्रश्नस्य प्रतिवचनोपक्रमे हि श्रद्धा द्युलोकाग्नौ होम्यत्वेन श्रुता ; तत्र यदि श्रद्धाशब्देनापो नोच्येरन् ; ततोऽन्यथा प्रश्नोऽन्यथा प्रतिवचनमित्यसङ्गतं स्यात् । ३ "इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसः' इति प्रतिवचननिगमनं च श्रद्धाया अप्त्वमेव सूचयति । २"वेत्थ यथा" इति हि प्रश्नगतः प्रकारः ३"इति तु पञ्चम्याम् " इतीतिशब्देन परिहारे निगम्यते । श्रद्धासोमराजवर्षान्नरेतोगर्भरूपेणापां परिणाममुक्त्वा ह्येवमापः पुरुषवचस इति निगम्यते । श्रद्धाशब्दस्य चाप्सु वैदिकप्रयोगो दृश्यते—४"अपः प्रणयति श्रद्धा वा आपः " इति । १"श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेस्सोमो राजा सम्भवति" इति सोमाकारेण परिणामश्चापामेवोपपद्यते । अतो भूतान्तरसंसृष्टाभिरद्भिस्सम्परिष्वक्तो जीवो रंहतीत्युपपन्नम् ॥ ५ ॥

अश्रुतत्वादितिचेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ।३।१।६॥

यत्पुनरुक्तमद्भिस्संपरिष्वक्तो जीवो यातीत्ययमर्थ एतस्माद्वाक्याद्यगम्यत इति ; तन्नोपपद्यते, अस्मिन्वाक्ये जीवस्याश्रवणात् । अत्र हि श्रद्धादय एवाम्बवस्थाविशेषा होम्यत्वेन श्रुताः; न तु जीवस्तत्परिष्वक्त इतिचेत्—तन्न, इष्टादिकारिणां प्रतीतेः—अस्मिन्नेव वाक्ये ह्युत्तरत्र ब्रह्मज्ञानविधुरेष्टापूर्तदत्तकारिणो द्युलोकं प्राप्य सोमराजानो भवन्ति; पुण्य-

१. छा. ५-४-२ ॥–२. छा. ५-३-३ ॥–३ छा.५-९-१॥–४. ३ अष्ट २-४-३३॥

कर्मावसाने च पुनरागत्य गर्भं प्राप्नुवन्तीत्युच्यते १ "अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति" इत्यारभ्य १'पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति' १'तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' १ 'योयो ह्यन्नमत्ति यो रेतस्सिञ्चति तद्भूय एव भवति' इति। अत्रापि द्युलोकाग्नौ २'श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेस्सोमो राजा सम्भवति' इति तदेकार्थत्वाच्छ्रद्धावस्थदेहविशिष्टस्सोमरूपदेहविशिष्टो भवतीत्युक्तमिति गम्यते। देहस्य जीवविशेषणतैकस्वरूपस्य वाचकः शब्दो विशेष्ये जीव एव पर्यवस्यति; अतस्सम्परिष्वक्तो जीवो यातीत्युपपद्यते ॥ ६ ॥

ननु च १'तं देवा भक्षयन्ति' इति देवैर्भक्ष्यमाणत्ववचनात् १'सोमो राजा' इति न जीव उच्यते, जीवस्यानदनीयत्वात्; तत्राह—

भाक्तं वानात्मवित्वात्तथाहि दर्शयति ।३।१।७॥

वाशब्दश्चोद्यं व्यावर्तयति। इष्टादिकारिणोऽनात्मवित्त्वात्स देवानां भोगोपकरणत्वेनेहामुत्र च वर्तते। इहेष्टादिना तदाराधनं कुर्वन्नुपकरोति: आराधनप्रीतैर्देवैर्दत्तममुं लोकं प्राप्य तत्र तत्समानभोगस्तदुपकरणंभवति ३'यथा पशुरेवं स देवानाम्' इत्यनात्मविदो देवानामुपकरणत्वं दर्शयति श्रुतिः। स्मृतिरप्यात्मविदां ब्रह्मप्राप्तिमनात्मविदां च देवभोग्यत्वं दर्शयति ४'देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि' इति। अतो जीवस्य देवानां भोगोपकरणत्वाभिप्रायमन्नत्वेन भक्ष्यत्ववचनम्; अनस्तद्भाक्तम्। तेन तृप्तिरेव च देवानां भक्षणमिति श्रूयते ५'न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' इति। तस्माद्भूतसूक्ष्मैस्सम्परिष्वक्तो जीवो रंहतीति सिद्धम् ॥ ७ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ॥१॥

———

१, छा. ५–१०–३, ४, ५, ६. ॥ २. छा. ५–४–२ ॥ ३. बृ. १–४–१० ॥ ४, गी. ७–२३ ॥ ५, छा. ३–६–१ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कृतात्ययाधिकरणम् ॥ २ ॥)

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ।३।१।८॥

केवलेष्टापूर्तदत्तकारिणां धूमादिना पितृयाणेन पथा गमनं कर्मफलावसाने पुनरावर्तनं चाम्नातं १ 'यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' इति । तत्र प्रत्यवरोहन् जीवः किमनुशयवान् प्रत्यवरोहति, उत नेति संशय्यते । किं युक्तम् ? कर्मणः कृत्स्नस्योपभुक्तत्वात् नानुशयवानिति प्राप्तम् । अनुशयो ह्युपभुक्तशिष्टं कर्म । तच्च कृत्स्नफलोपभोगेसति नावशिष्यते । १ 'यावत्सम्पातमुषित्वा' इति वचनात् कृत्स्नोपभोगश्च गम्यते : सम्पतन्त्यनेन स्वर्गं लोकमिति सम्पातः कर्मोच्यते । श्रुत्यन्तरं च २ 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम । तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' इति ॥

सिद्धान्तः

एवं प्राप्तेऽभिधीयते-अनुशयवान् प्रत्यवरोहति-इति । कुतः?दृष्टस्मृतिभ्यां-श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । श्रुतिस्तावत्-३'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं क्षत्रिययोनिं वैश्ययोनिं वा अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिंवा' इति प्रत्यवरूढान प्रति श्रूयते। अमुष्माल्लोकात्प्रत्यवरूढेषु रमणीयकर्माणो रमणीयां ब्राह्मणादियोनिं प्रतिपद्यन्ते; कपूयचरणाः-कुत्सितकर्माणः कुत्सितां श्वसूकर चण्डलादियोनिं प्रतिपद्यन्त इति प्रत्यवरूढानां पुण्यपापकर्मयोगं द-

१. छा. ५-१०-३, ४, ५ ॥ २, बृ. ६-४-६ ॥ ३. छा,५-१०-७, ५॥

र्शयति। स्मृतिरपि १ 'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुश्श्रुतवित्तवृत्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते विष्वञ्चो विपरीता नश्यन्ति' इति। तथा—२ 'ततः परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण जातिं रूपं वर्णं बलं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यन्ते तच्चक्रवदुभयोर्लोकयोस्सुख एव वर्तते' इति। ३ 'यावत्सम्पातम्' इति। फलदानप्रवृत्तकर्मविशेषविषयम्; ४'यत्किंचेह करोत्ययम्' इतीदमपि तद्विषयमेव। अभुक्तफलानामकृतप्रायश्चित्तानां च कर्मणां कर्मान्तरफलानुभवान्नाशोऽप्यनुपपन्नः। अतोऽमुं लोकं गतास्सानुशया एव यथेतमनेवं च पुनर्निवर्तन्ते–आरोहणप्रकारेण प्रकारान्तरेण च पुनर्निवर्तन्ते इत्यर्थः आरोहणं हि धूमरात्र्यपरपक्षदक्षिणायनषण्मासपितृलोकाकाशचन्द्रक्रमेण। अवरोहणं तु चन्द्रमसः स्थानादाकाशवायुधूमाभ्रमेघक्रमेण। तत्राकाशावरोहणाद्यथेतम; वाय्वादिप्राप्तेः पितृलोकाद्यप्राप्तेश्चानेवम्॥ ८॥

चरणादितिचेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ।३।१।९॥

५'रमणीयचरणाः' ५'कपूयचरणाः' इति न चरणशब्देन पुण्यपापरूपं कर्माभिधीयते, चरणशब्दस्य लोकवेदयोराचारे प्रसिद्धेः; लौकिकाः खलु चरणमाचारः शीलं वृत्तमिति पर्यायानभिमन्यते; वेदे च ६ 'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि' ६'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि' इति चरणकर्मणी भेदेन व्यपदिश्येते; अतः चरणात्–शीलात् योनिविशेषप्राप्तिः, नानुशयादितिचेत्—तन्न, चरण·

१. गौतम. २-प्र. ११ अ. १२, १३, ॥ २ आपस्तम्ब, २-१-२-३ ॥ ३. छा. ५-१०-७, ५ ॥ ४. बृ. ६-४-६ ॥ ५. छा. ५-१०-७ ॥ ६, तै. शिक्षा ११-२ ॥

श्रुतिः कर्मोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिराचार्यो मन्यते, केवलादाचारात्सुखदुःखप्राप्त्यसम्भवात् । सुखदुःखे हि पुण्यपापरूपकर्मफले ॥ ९ ॥

आनर्थक्यमितिचेन्न तदपेक्षत्वात् । ३ । १ । १० ॥

एवं तर्ह्यफलत्वादाचारस्य स्मृतिविहितस्यानर्थक्यमेवेति चेत्–तन्न तदपेक्षत्वात्पुण्यस्य कर्मणः । आचारवत एव पुण्यकर्मस्वधिकारः–१'सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हस्सर्वकर्मसु' २'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' इत्यादिवचनेभ्यः । अतश्चरणश्रुतिः कर्मोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनेरभिप्रायः ॥ १० ॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः । ३ । १ । ११ ॥

'पुण्यं कर्माचरति' पापं 'कर्माचरति'इति कर्मणि चरतेः प्रयोगात् पृथङ्निर्देशस्य च प्रत्यक्षश्रुतिसिद्धाचारानुमितश्रुतिसिद्धविषयत्वेन गोबलीवर्दन्यायेनोपपत्तेः । मुख्ये सम्भवति न लक्षणा न्याय्येति सुकृतदुष्कृते एव चरणशब्दाभिधेये;इति बादरिराचार्यो मन्यते । अत्र बादरिमतमेव स्वमतम् ; आचारानुमितश्रुतिविहितसन्ध्यावन्दनादेः कर्मान्तराधिकारसम्पादनं फलमिति तु स्वीकृतम् । अतस्सानुशया एव प्रत्यवरोहन्ति ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कृतात्ययाधिकरणम् ॥ २ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अनिष्टादिकार्यधिकरणम् ॥३॥)

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ३ । १ । १२ ॥

केवलेष्टापूर्तदत्तकारिणश्चन्द्रमसं गत्वा सानुशया एव निवर्तन्त इत्युक्तम् ; इदानीमनिष्टादिकारिणोऽपि चन्द्रमसं गच्छन्ति, नेति चिन्त्यते । ये विहितं न कुर्वन्ति, निषिद्धं च कुर्वन्ति, त उभयेऽपि पापकर्माणोऽ–

---

१. ॥—२, ॥

निष्टादिकारिणः । किं युक्तम् ? तेऽपि चन्द्रमसं गच्छन्तीति; कुतः ? तेषामपि हि तद्गमनं श्रुतं–१"ये वैकेचास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" इत्यविशेषेण सर्वेषामेव गतिश्रवणात् ॥ १२ ॥

एव तर्हि सुकृतदुष्कृतकारिणोरुभयोरप्यविशिष्टैव गतिस्स्यात्, नेत्याह—

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गति–दर्शनात् । ३ । १ । १३ ॥

तु शब्दश्शङ्कां व्यावर्तयति; इतरेषाम्-अनिष्टादिकारिणां चन्द्रारोहावरोहौ संयमने-यमशासने तत्प्रयुक्तयातना अनुभूयैव, नान्यथा; कुतः ? तद्गतिदर्शनात् -दृश्यते हि पापकर्मणां यमवश्यतया तद्गमनम् २'अयं लोको नास्ति न पर इतिमानी पुनःपुनर्वशमापद्यते मे' ३'वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानम्" इत्यादिषु ॥ १३ ॥

स्मरन्तिच । ३ । १ । १४ ॥

स्मरन्ति च सर्वेषां यमवश्यतां पराशरादयः ४ "सर्वे चैते वशं यान्ति यमस्य भगवन्किल" इत्यादिषु ॥ १४ ॥

अपि सप्त । ३ । १ । १५ ॥

पापकर्मणां गन्तव्यत्वेन रौरवादीन् सप्त नरकानपि स्मरन्ति ॥१५॥ ननु सप्तसु लोकेषु गच्छतां कथं यमसदनप्राप्तिः, अत आह—

तत्रापि तद्व्यापारादविरोधः । ३ । १ । १६ ॥

तेष्वपि सप्तसु यमाज्ञयैव गमनादविरोधः। अतोऽनिष्टादिकारिणामपि यमलोकं प्राप्य स्वकर्मानुरूपं यातनाश्चानुभूय पश्चाच्चन्द्रारोहावरोहौ स्तः ॥ १६ ॥

१. कौषी, अ, १. २ ॥ २, ॥ ३, आरण २. प्र. १ प, ॥ ४. वि, पु, ३ ७-५ ॥

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्त उच्यते—

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् । ३ । १ । १७ ।

तु शब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः । अनिष्टादिकारिणामपि चन्द्रप्राप्तिरस्तीत्येतन्नोपपद्यते; कुतः ? विद्याकर्मणोरिति विद्याकर्मणोः फलभोगार्थत्वाद्देवयानपितृयाणयोः । एतदुक्तं भवति—अनिष्टादिकारिणां यथा विद्याविधुरत्वाद्देवयानेन पथा गमनं न सम्भवति; तद्वदेवेष्टापूर्तदत्तविधुरत्वात्पितृयाणेन चन्द्रगमनमपि न सम्भवति—इति । देवयानपितृयाणयोः विद्याविषयत्वं पुण्यकर्मविषयत्वं च कथमवगम्यत इति चेत्—प्रकृतत्वात्तयोः । प्रकृता हि देवयाने विद्या, पितृयाणे च कर्म १"तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते" इत्युक्त्वा १"तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽह्नः" इत्यादिना देवयानवचनात् , २"अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते" इत्युक्त्वा २ "ते धूममभिसम्भवन्ति" इत्यादिना पितृयाणवचनाच्च ३ "ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" इत्येतदपि वचनं 'य इष्टादिकारिणः ते सर्वे' इति परिणेयम् ॥

ननु पापकर्मणां चन्द्रगमनाभावे पञ्चमाहुत्यसम्भवाच्छरीरारम्भ एव नोपपद्यते; ४"पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" इति हि शरीराम्भश्श्रूयते, सा चाहुतिश्चन्द्रप्राप्तिपूर्विकेति दर्शितम् ; अतश्शरीरारम्भायैव तेषामपि चन्द्रारोहावरोहाववश्याभ्युपेत्यावित्यत आह—

न तृतीये तथोपलब्धेः ३ । १ । १८ ॥

* तृतीयस्थानस्य शरीरारम्भाय न पञ्चमाहुत्यपेक्षा;कुतः ? तथोपलब्धेः-तृतीयस्थानशब्देन केवलपापकर्माणि उच्यन्ते, तेषां देहारम्भे

१. छा, ५-१०-१ । २. छा. ५-१०-३ ॥ ३, कौषी. १ अ. २ ॥
४. छा. ५-६-१ ॥ * तृतीयस्य स्थानस्य. पा. ॥

पञ्चमाहुत्यनपेक्षत्वमुपलभ्यते १ "वेत्थ यथा केनासौ लोको न संपूर्यते" इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचने २ "अथैतयोः पथोर्न कतरेण च तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्वम्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते" इति तृतीयस्थानस्य द्युलोकारोहावरोहाभावेन द्युलोकासंपूर्तिवचनादस्य तृतीयस्थानस्य शरीरारम्भाय न पञ्चमाहुत्यपेक्षा। ३"पञ्चम्यामाहुतौ" इतिचापां पञ्चमाग्निसम्बन्धस्य पुरुषवचस्त्वहेतुत्वमात्रं प्रतिपादयति, नान्यन्निवारयति, अवधारणाश्रवणात् ॥

स्मर्यतेऽपि च लोके । ३ । १ । १९ ॥

पुण्यकर्मणामपि केषाञ्चित्पञ्चमाहुत्यनपेक्षया देहारम्भो लोके स्मर्यते द्रौपदीधृष्टद्युम्नप्रभृतीनाम् ॥ १९ ॥

दर्शनाच्च । ३ । १ । २० ॥

श्रुतावपि दृश्यते केषाञ्चित्पञ्चमाहुत्यनपेक्षया देहारम्भः ३ "तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्" इति एवमुद्भिज्जस्वेदजयोः भूतयोः पञ्चमाहुतिमन्तरेणोत्पत्तिर्दृश्यते ॥ २० ॥

ननु स्वेदजानामत्र न सङ्कीर्तनमस्ति ३"त्रीण्येव बीजानि" इति वचनात्; तत्राह—

तृतीयशब्दावरोधस्संशोकजस्य । ३ । १ । २१ ॥

संशोकजस्य-स्वेदजस्यापि ४ "आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्" इत्यत्र तृतीयेनोद्भिज्जशब्देनावरोधः संग्रहो विद्यत इत्यर्थः; अतः केवलपापकर्मणां चन्द्रप्राप्तिर्न सम्भवति ॥ २१ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अनिष्टादिकार्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

———

१. छा. ५-३-३ ॥ २. छा. ५-१०-८ ॥ ३. छा. ६-३-१ ॥ ४. छा. ६-३-१ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तत्स्वाभाव्यापत्त्यधिकरणम् ॥)

तत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्तेः । ३ । १ । २२ ॥

इष्टादिकारिणो भूतसूक्ष्मपरिष्वक्तास्सानुशयाश्चन्द्रमसोऽवरोहन्तीत्युक्तम् , अवरोहप्रकारश्च[1] "अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशम् आकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति" इति वचनात् । 'यथेतमनेवञ्च' इत्युक्तम् ; तत्रास्याकाशादिप्रतिपत्तौ देवमनुष्यादिभाववदाकाशादिभावः, उत * तत्सादृश्यापत्तिमात्रमिति विशये श्रद्धावस्थस्य सोमभाववदविशेषादाकाशादिभावः—

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्ते तत्स्वाभाव्यापत्तिरेवेत्युच्यते । तत्स्वाभाव्यापत्तिः--तत्सादृश्यापत्तिरित्यर्थः । कुत एतत्? उपपत्तेः सोमभावमनुष्यभावादौ हि सुखदुःखोपभोगाय तद्भावः; अत्र त्वाकाशादौ सुखदुःखोपभोगाभावात्तद्भावानुपपत्तेस्तदापत्तिवचनं तत्संसर्गकृततत्सादृश्यापत्त्यभिप्रायम् ॥२२॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तत्स्वाभाव्यापत्त्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये नातिचिराधिकरणम् ॥ ७ ॥)

नातिचिरेण विशेषात् । ३ । १ । २३ ॥

आकाशप्राप्तिप्रभृति यावद्व्रीह्यादिप्राप्ति किं तत्रतत्र नातिचिरं नियमः, उतानियम इति विशये नियमहेत्वभावादनियमः—

---

१. छा. ५-१०-५ ॥ * तत्सादृश्यमात्रम्, तत्स्वाभाव्यापत्तिमात्रम् , पा ॥

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्ते उच्यते–नातिचिरेण–इति । कुतः?विशेषात्–उत्तरत्र व्रीह्यादिप्राप्तौ१ "अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्" इति विशिष्य कृच्छ्रनिष्क्रमणत्वाभिधानात् पूर्वत्र ह्याकाशादिप्राप्तावचिरनिष्क्रमणं गम्यते । दुर्निष्प्रपतरमिति च्छान्दसस्तशब्दलोपः; दुर्निष्प्रपतरं–दुःखनिष्क्रमणतरमित्यर्थः ।

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये नातिचिराधिकरणम् ॥ ५ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अन्याधिष्ठिताधिकरणम् ॥ ६ ॥)

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् । ३ । १ । २४ ॥

अवरोहन्तो जीवाः व्रीह्यादिभावेन जायन्त इति श्रूयते १"मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा जायन्ते" इति । ते किमन्यैर्भोक्तृभिर्व्रीह्यादिशरीरैरधिष्ठितान्व्रीह्यादीनाश्लिष्यन्ति; उत ते भोक्तारो व्रीह्यादिशरीरा जायन्त इति विशये २ "जायन्ते" इति वचनाद्देवो जायते मनुष्यो जायत इतिवद्व्रीह्यादिशरीरा एव––

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्त उच्यते–अन्याधिष्ठिते इति । जीवान्तरेणाधिष्ठिते व्रीह्यादिशरीरे तेषां संश्लेषमात्रमेव । कुतः?पूर्ववदभिलापात्–आकाशादिमेघपर्यन्तवत्केवलतद्भावाभिलापात् । यत्र हि भोक्तृत्वमभिप्रेतम् ; तत्र तत्साधनभूतं कर्माभिलप्यते१ "रमणीयचरणाः" "कपूयचरणाः" इति।इह चाकाशादिवन्नाभिलप्यते कर्म, फलप्रदाने प्रवृत्तस्य स्वर्गोपभोग्यफलस्यैष्टादेः कर्मणः स्वर्गोपभोगादेव समाप्तत्वात् , अनारब्धस्य १"रमणीयचरणाः

---

१. छा. ५-१०-६ ॥ २. छा. ५-१०-६-७ ॥

""कपूयचरणाः" इति वक्ष्यमाणत्वात्, मध्ये कर्मान्तराभावाच्च। अत आकाशादिभाववचनवद्व्रीह्यादिभावेन जन्मवचनमौपचारिकम् ॥२४॥

अशुद्धमितिचेन्न शब्दात्। ३। १। २५॥

नैतदस्ति—यदन्याधिष्ठिते व्रीह्यादिशरीरे संश्लेपमात्रम्, भोक्तृत्व-हेत्वभावान्न व्रीह्यादिभावेन जन्म—इति भोक्तृत्वहेतुसद्भावात् स्वर्गो-पभोग्यफलमिष्टादिकर्मैवाशुद्धम्-पापमिश्रम, अग्नीषोमीयादिहिंसायुक्त-त्वात्। हिंसा च १"न हिंस्यात्सर्वा भूतानि" इति निषिद्धत्वात्पापमेव। चात्र यदाहवनीयादिवदुत्सर्गापवादभावस्सम्भवति, भिन्नविषयत्वात्। अग्नीषोमीयहिंसाविधिर्हिंसायाः क्रतूपकारकत्वं बोधयति; १"न हिंस्यात्" इति तु हिंसायाः प्रत्यवायफलत्वम्। अथोच्येत-अग्नीषोमीयादिषु वि-हितः प्रवृत्तेर्न तद्विषयं निषेधविधिरास्कन्दति, रागप्राप्तविषयत्वात्तस्येति; नै॰ म्, इहापि रागप्राप्तेरविशिष्टत्वात्। २"स्वर्गकामो यजेत"इत्येवमादौ हि कामिनः कर्तव्यतया यागाद्युपदेशाद्यागादेः स्वर्गादिसाधनत्वमवगम्य फ-लरागत एव यागादौ प्रवर्तते। अग्नीषोमीयादिष्वपि तेषां फलसाधनभू-तस्य यागादेरुपकारकत्वं शास्त्रादवगम्य रागादेव प्रवर्तते। लौकिक्यामपि हिंसायां केनचित्प्रमाणेन हिंसायाः स्वसमीहितसाधनत्वमवगम्य रागा-त्प्रवर्तत इति न कश्चन विशेषः। तथा नित्येष्वपि कर्मसु ३"सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परमपरिमितं सुखम्" इत्यादिवचनात्फलसाधनत्वमवगम्य रागादेव प्रवृत्तिरिति तेषामप्यशुद्धियुक्तत्वम्। अत इष्टादीनां पापमिश्र-त्वेनाशुद्धियुक्तानां स्वर्गेऽनुभाव्यं फलं स्वर्गेऽनुभूय हिंसांशस्य फलं व्री-ह्यादिस्थावरभावेनानुभूयते। स्थावरभावं च पापफलं स्मरन्ति ४"शरी-रजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः" इति। अतो व्रीह्यादिभावेन भोगाया-नुशयिनो जायन्त इति चेन्न तन्न, कुतः? शब्दात्-अग्नीषोमीयादेस्संज्ञपन-

१. ॥ २. यजु. २-१-१ ॥ ३. आपस्तम्ब. २-१-२-२ ॥ ४. मनु. १२-९ ॥

स्य स्वर्गलोकप्राप्तिहेतुतया हिंसात्वाभाव शब्दात् । पशोर्हि संज्ञपननिमित्तां स्वर्गलोकप्राप्तिंवदन्तं शब्दमामनन्ति १ 'हिरण्यशरीर ऊर्ध्वः स्वर्गं लोकमेति" इत्यादिकम् । अतिशयिताभ्युदयसाधनभूतो व्यापारोऽल्पदुःखदोऽपि न हिंसा; प्रत्युत रक्षणमेव । तथा च मन्त्रवर्णः २ "न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवान् इदेपि पथिभिस्सुगेभिः । यत्र यन्ति सुकृतो नापि दुष्कृतस्तत्र त्वा देवस्सविता दधातु" इति । चिकित्सकं च तादात्विकाल्पदुःखकारिणमपि रक्षकमेव वदन्ति, पूजयन्ति च तज्ज्ञाः ॥

रेतस्सिग्योगोऽथ । ३ । १ २६ ॥

इतश्चौपचारिकं व्रीह्यादिजन्मवचनम्, व्रीह्यादिभाववचनानन्तरं ३"यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतस्सिञ्चति तद्भूय एव भवति" इति रेतस्सिग्भावोऽनुशयिनां श्रूयमाणो यथा तद्योगमात्रं प्रतिपादयति; तद्वद्व्रीह्यादिभावोऽपीत्यर्थः ॥ २६ ॥

योनेश्शरीरम् । ३ । १ । २७ ॥

योनिप्राप्तेः पश्चादेवानुशयिनां शरीरप्राप्तिः, तत्रैव सुखदुःखोपभोगसद्भावात् । ततः प्रागाकाशादिप्राप्तिप्रभृति तद्योगमात्रमेवेत्यर्थः ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अन्याधिष्ठिताधिकरणम् ॥ ६ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये

तृतीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

---

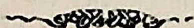
१. ॥ २. यजु २-का, ६ प्र, ६ अनु. ४६ प. ॥ ३. छा. ५-१०-६ ॥

|| श्रीमते रामानुजाय नमः ||

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

—(तृतीयाध्याये -द्वितीयः पादः-सन्ध्याधिकरणम् ||)—



सन्ध्ये सृष्टिराह हि । ३ । २ । १ ॥

एवं कर्मानुरूपगमनागमनजन्मादियोगेन जाग्रतो जीवस्य दुःखित्वं ख्यापितम्; इदानीमस्य स्वप्नावस्था परीक्ष्यते । स्वप्नमधिकृत्य श्रूयते १"न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति अथ रथान् रथयोगान् पथस्सृजते न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्ति अथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति अथ वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यस्सृजते स हि कर्ता" इति । तत्र संशयः-किमियं रथादिसृष्टिर्जीवेनैव क्रियते; अहोस्विदीश्वरेण—इति । किंयुक्तम्? सन्ध्ये सृष्टिर्जीवेनेति । कुतः? सन्ध्यं-स्वप्नस्थानमुच्यते, २"सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्" इति वचनात्; सा तु जीवेनैव क्रियते १"सृजते स हि कर्ता" इत्याह हि । स्वप्नदृग्जीव एव तत्र प्रतीयते ॥ १ ॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च । ३ । २ । २ ॥

किञ्च-एनं जीवं स्वप्ने कामानां निर्मातारमेके शाखिनोऽधीयते ३"य एषु सुप्तेषु जागर्ति कामंकामं पुरुषो निर्मिमाणः" इति; पुत्रादयश्च तत्र काम्यमानतया कामशब्देन निर्दिश्यन्ते, नेच्छामात्रम्; पूर्वत्र हि४"स-

---

१. बृ. ६-३-१० ॥-२. ॥-३. कठ. २-२-८ ॥-४. कठ. १-१-२१ ॥

र्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व" १"शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व"इति पुत्रादय एव कामाः प्रकृताः। अतो रथादीन् जीवः स्वप्ने सृजति,जीवस्य च सत्यसङ्कल्पत्वं प्रजापतिवाक्ये श्रुतम् ; अत उपकरणाद्यभावेऽपि सृष्टि- रुपपद्यते ॥ २ ॥

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्तेऽभिधीयते—

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्त- स्वरूपत्वात् । ३ । २ । ३ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति; स्वप्न रथपुष्करिण्याद्यर्थजातं मायामात्रं परमपुरुषसृष्टमित्यर्थः । मायाशब्दो ह्याश्चर्यवाची २' जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता'' इत्यादिषु तथा दर्शनात् । अत्रापि ३ "न तत्र रथा न रथायोगा न पन्थानः"-सकलेतरपुरुषानुभाव्यतया न भवन्तीत्यर्थः,३"अथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते"-स्वप्नदृगनुभाव्यतया तत्कालमात्रावसानान् सृजत इत्याश्चर्यरूपत्वमेवाह । एवंविधाश्चर्यरूपा सृष्टिस्सत्यसङ्कल्पस्य परमपुरुषस्यैवोपपद्यते, न जीवस्य तस्य सत्यसङ्कल्पत्वादियुक्तस्यापि संसारदशायां कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वान्न जीवस्य तथाविधाश्चर्यसृष्टिरुपपद्यते । ४' कामंकामं पुरुषो निर्मिमाणः" इति च परमपुरुषमेव निर्मातारमाह—४"य एषु सुप्तेषु जागर्ति"४"तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिन् लोकाश्श्रितास्सर्वे तदु नात्येति कश्चन" इत्युपक्रमोपसंहारयोः परमपुरुषासाधारणस्वभावप्रतीतेः । ३' अथ वेशान्तान् पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते स हि कर्ता" इति च तया श्रुत्यैकार्थ्यात्परमपुरुषमेव कर्तारमाह ॥ ३ ॥

१. कठ १-१-२३ ॥—२. श्रीरामायणे. बालकाण्डे. १-२७ ॥—३. बृ. ६-३-१० ॥—४. कठ. २-५-८ ॥

स्वाभाविकं चेज्जीवस्यापहतपाप्मत्वादिकम्, कुतस्तन्नाभिव्यज्यत इत्यत आह—

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ । ३ । २ । ४ ॥

तुशब्दश्शङ्काव्यावृत्त्यर्थः; पराभिध्यानात्—परमपुरुषसङ्कल्पात्, अस्य जीवस्य स्वाभाविकं रूपं तिरोहितम्; अनादिकर्मपरम्परया कृतापराधस्य ह्यस्य स्वाभाविकं कल्याणरूपं परमपुरुषस्तिरोधापयति; ततः तत्सङ्कल्पादेव हि अस्य जीवस्य बन्धमोक्षौ श्रुतौ १"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" १"एष ह्येवानन्दयाति" २"भीषाऽस्माद्वातः पवते" इत्यादिषु ॥ ४ ॥

देहयोगाद्वा सोऽपि । ३ । २ । ५ ॥

सोऽपि तिरोभावो देहयोगद्वारेण वा भवति, सूक्ष्माचिच्छक्तियोगद्वारेण वा; सृष्टिकाले देहावस्थेनाचिद्वस्तुना संयोगाद्भवति, प्रलयकाले नामरूपविभागानर्हातिसूक्ष्माचिद्वस्तुयोगात्। अतोऽनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्स्वप्ने जीवो न रथादीन् सङ्कल्पमात्रेण स्रष्टुं शक्नोति। ३"तस्मिँल्लोकाश्श्रितास्सर्वे तदु नात्येति कश्चन" इति सर्वेषु सुप्तेषु जागरणं सर्वलोकाश्रयत्वमित्यादयो हि परमपुरुषस्यैव सम्भवन्ति। अतो जीवानामल्पाल्पकर्मानुगुणफलानुभवार्थं तावन्मात्रकालावसानान् तदेकानुभाव्यानर्थानुत्पादयति ॥ ५ ॥

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः । ३ । २ । ६ ॥

इतश्च स्वाप्ना अर्था न जीवसङ्कल्पपूर्वकाः; यतः स्वप्नोऽभ्युदया-

१. तै. आन. ७-१ ॥—२. तै. आन. ८-१ ॥—३. कठ. २-८ ॥ ४. छा. ५ २ ६ ॥—५ ॥

नभ्युदययोस्सूचकः श्रुतेरवगम्यते१ "यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने" इति; २ "अथ स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति" इत्यादेश्च। स्वप्नाध्यायविदश्च स्वप्नं शुभाशुभयोस्सूचकमाचक्षते। सूचकत्वं च स्वसङ्कल्पायत्तस्य नोपपद्यते;तथाचाशुभस्यानिष्टत्वाच्छुभस्य सूचकमेव सृष्ट्वा पश्येत्। अतः स्वप्ने सृष्टिरीश्वरेणैव कृता ॥ ६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सन्ध्याधिकरणम् ॥ १ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तदभावाधिकरणम् ॥ २ ॥)

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनिच । ३ । २।७॥

इदानीं सुषुप्तिस्थानं परीक्ष्यते; इदमाम्नायते ३ "यत्रैतत्सुप्तस्समस्तस्सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति" इति; तथा ४ "अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते" इति; तथा-५ "यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" इति। एवं नाड्यः पुरीतद्ब्रह्म च सुषुप्तिस्थानत्वेन श्रूयन्ते; किमेषां विकल्पः समुच्चयो वेति विशये निरपेक्षत्वप्रतीतेः युगपदनेकस्थानवृत्त्यसम्भवाच्च विकल्पः—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते-तदभावः-इति। तदभावः-स्वप्नाभावः: सुषुप्तिः नाडीषु पुरीतत्यात्मनि च भवति, एषां स्थानानां समुच्चय इत्यर्थः। कुतः?

१. छा. ५-२-८ ॥ २ ॥ ३. छा. ८-६-३ ॥ ४. बृ. ४-१-१६ ॥
५. छा. ६-८-१ ॥

तच्छ्रुतेः-त्रयाणां स्थानत्वश्रुतेः । न च कार्यभेदेन समुच्चये सम्भवति पाक्षिकबाधगर्भविकल्पो न्याय्यः । सम्भवति च प्रासादखट्वापर्यङ्कवन्नाड्यादीनां कार्यभेदः । तत्र नाडीपुरीततौ प्रासादखट्वास्थानीयौ; ब्रह्म तु पर्यङ्कस्थानीयम् । अतो ब्रह्मैव साक्षात्सुषुप्तिस्थानम् ॥ ७ ॥

अतः प्रबोधोऽस्मात् । ३ । २ । ८ ॥

यतो ब्रह्मैव साक्षात्सुषुप्तिस्थानम्, अतः अस्मात्-ब्रह्मणः एषां जीवानां प्रबोधः श्रूयमाण उपपद्यते-१ "सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे" इत्यादिषु ॥ ८ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तदभावाधिकरणम् ॥ २ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ॥३॥)

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । ३ । २ । ९ ॥

किं सुषुप्त एव प्रबोध समये उत्तिष्ठति, उतान्य इति संशये अस्य सकलोपाधिविनिर्मुक्तस्य ब्रह्मणि सम्पन्नस्य मुक्तादविलक्षणत्वेन प्राचीनशरीरेन्द्रियादिसम्बन्धाभावादन्यः—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते-स एव तु इति । तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति, स एवोत्तिष्ठति; कुतः? कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । कर्म तावत्-सुषुप्तेन पूर्वकृतं पुण्यपापरूपं तत्त्वज्ञानात्प्राक्तेनैव भोक्तव्यम् । अनुस्मृतिरपि-य एवाहं सुप्तः, स एव प्रबुद्धोऽस्मीति । शब्दोऽपि-सुषुप्तप्रबुद्धस्सएवेति दर्शयति-१"त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तथा भवन्ति" इति । विधयश्च मोक्षार्थास्सुषुप्तस्य मुक्तत्वेऽनर्थकास्स्युः । नचासौ सर्वोपाधिविनिर्मुक्त

---

१. छा. ६-१० २ ॥

आविर्भूतस्वरूपः—१"तद्यत्रैतत्सुप्तः" इति सुषुप्तं प्रकृत्य १"नाह खल्व यमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाश मेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि" इति वचनात्। मुक्तस्य च २"परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" ३ "स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाणः"४"स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" ५"सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः" इति सर्वज्ञत्वादि श्रूयते। अतस्सुप्तस्संसरन्नेव आयस्तसर्वकरणो ज्ञानभोगाद्यशक्तो विश्रमस्थानं परमात्मानमुपसम्पद्याश्वस्तः पुनर्भोगायोत्तिष्ठति ॥ ६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ॥३॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये मुग्धाधिकरणम् ॥ ४ ॥)

मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात् । ३ । २ । १० ॥

मुग्धमधिकृत्य चिन्त्यते; किमियं मूर्च्छा सुषुप्त्यादिष्वन्यतमावस्था, उतावस्थान्तरमिति विशये सुषुप्त्यादीनामन्यतमावस्थायामेव मूर्च्छाप्रसिद्ध्युपपत्तेरवस्थान्तरकल्पने प्रमाणाभावादन्यतमावस्था—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः-इति। मुग्धे पुरुषे या तस्या वस्था, सा मरणायार्धसम्पत्तिः। कुतः? परिशेषात्— न तावत्स्वप्नजागरौ, ज्ञानाभावात्; निमित्तवैरूप्यादाकारवैरूप्याच्च न सुषुप्तिमरणे। निमित्तं हि मूर्च्छाया अभिघातादिः। पारिशेष्यान्मरणायार्धसम्पत्तिर्मूर्च्छा। मरणं हि सर्वप्राणदेहसम्बन्धोपरतिः; सूक्ष्मप्राणदेहसम्बन्धावस्थितिर्मूर्च्छा ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये मुग्धाधिकरणम् ॥ ४ ॥

---

१. छा. ८-११-२ ॥ २, छा. ८-३-४ ॥ ३.छा.८-१२-३ ॥ ४.छा. ७-२५-२ ॥ ५. छा. ७-२६-२ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये उभयलिङ्गाधिकरणम् ॥ ५ ॥)

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ३।२।११

दोषदर्शनाद्वैराग्योदयाय जीवस्यावस्थाविशेषा निरूपिताः, इदानीं ब्रह्मप्राप्तितृष्णाजननाय प्राप्यस्य ब्रह्मणो निर्दोषत्वकल्याणगुणात्मकत्वप्रतिपादनायारभते। तत्र जागरस्वप्नसुषुप्तिमुग्ध्युत्क्रान्तिषु स्थानेषु तत्तत्स्थानप्रयुक्ता जीवस्य ये दोषाः, ते तदन्तर्यामिणः परस्य ब्रह्मणोऽपि तत्रतत्रावस्थितस्य सन्ति, नेति विचार्यते। किं युक्तम्? सन्तीति। कुतः? तत्तदवस्थशरीरेऽवस्थानात्। ननु १"सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्" २"स्थित्यदनाभ्यांच" इत्यादिषु परस्याकर्मवश्यत्वेन दोषाभाव उक्तः, तत्कथमकर्मवश्यस्य परस्य ब्रह्मणस्तत्तत्स्थानसम्बन्धाद्दोष उच्यते; इत्थमुच्यते—कर्माण्यपि देहसम्बन्धमापादयन्त्यपुरुषार्थजननानि भवन्ति—इति ३"देहयोगाद्वा" इत्यत्रोक्तम्; तच्च देहसम्बन्धस्यापुरुषार्थत्वेन भवति; इतरथा कर्माण्येव दुःखं जनयिष्यन्ति; किं देहसम्बन्धेन; अतोऽकर्मवश्यत्वे सत्यपि नानाविधाशुचिदेहसम्बन्धोऽपुरुषार्थ एव; अतस्तन्नियमनार्थं स्वेच्छया तत्प्रवेशेऽप्यपुरुषार्थसम्बन्धोऽवर्जनीयः; पूयशोणितादिमज्जनं हि स्वेच्छाकारितमप्यपुरुषार्थ एव। अतो यद्यपि जगदेककारणं सर्वज्ञत्वादिकल्याणगुणाकरं च ब्रह्म, तथापि ४" यः पृथिव्यां तिष्ठन् " ४ ' य आत्मनि तिष्ठन् " ४"यश्चक्षुषि तिष्ठन्" ४" यो रेतसि तिष्ठन् " इत्यादिवचनात् तत्रतत्रावस्थितस्य तत्तत्सम्बन्धरूपापुरुषार्थास्सन्ति—इति॥

(सिद्धान्तः)

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—न स्थानतोऽपि परस्य—इति। न पृथिव्या-

१. शारी. १-२-८ ॥—२. शारी. १-३-६ ।—३. शारी. ३-१-४ ॥ —४. बृ. ५ ७-३, २२, १८, २३ ॥

त्मादिस्थानतोऽपि परस्य ब्रह्मणः अपुरुपार्थगन्धस्सम्भवति । कुतः ? उभयलिङ्गं सर्वत्र हि—यतः सर्वत्र श्रुतिस्मृतिपु परं ब्रह्म उभयलिङ्गम उभयलक्षणमभिधीयते, निरस्तनिखिलदोपत्वकल्याणगुणाकरत्वलक्षणो-पेतमित्यर्थः । १"अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपि-पासस्सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः" २"समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वश-क्तिलेशाद्धृतभूतसर्गः" २"तेजोबलैश्वर्यमहावबोधसुवीर्यशक्त्यादिगुणैक-राशिः। परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयस्सन्ति परावरेशे" ३'समस्तहेयरहितं विष्णवाख्यं परमं पदम्" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः उभ-यलक्षणं हि ब्रह्मावगतम् ॥ ११ ॥

भेदादितिचेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् । ३ । २ । १२ ।

यथा जीवस्य प्रजापतिवाक्यावगतापहतपाप्मत्वाद्युभयलिङ्गस्यापि देवादिदेहयोगरूपावस्थाभेदादपुरुपार्थयोगः, तथाऽन्तर्यामिणः परस्या-पि स्वतोऽपहतपाप्मत्वाद्युभयलिङ्गस्य तत्तद्देवादिशरीरयोगरूपावस्थाभे-दादपुरुपार्थयोगोऽवर्जनीय इति चेत्-तन्न, प्रत्येकमतद्वचनात्—४"यः पृथिव्यां तिष्ठन्" ४"य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादिपु प्रतिपर्यायं ५"स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इत्यन्तर्यामिणोऽमृतत्ववचनेन तत्रतत्र स्वेच्छया नियमनं कुर्वतस्तत्तत्सम्बन्धप्रयुक्तापुरुपार्थप्रतिपेधात् । जीवस्य तु तत्स्व-रूपं तिरोहितमिति ६'पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्" इत्यत्रोक्तम् । ननु स्वेच्छया कुर्वतोऽपि तत्तद्वस्तुस्वभावायत्तापुरुपार्थसम्बन्धोऽवर्जनीय इ-त्युक्तम्; नैतद्युक्तम्, नह्यचिद्वस्त्वपि स्वभावतोऽपुरुपार्थस्वरूपम्; कर्म-वश्यानां तु कर्मस्वभावानुगुण्येन परमपुरुपसङ्कल्पादेकमेव वस्तु कालभे-

१. छा. ८-१-५ ॥ — २. वि, पु. ६-५-८४, ८५ ॥ — ३. वि. पु. १-२२-५३ ॥—४. बृ. ५-७-३, २२ ॥—५. बृ. ५-७-३, २३ ॥—६. शारी. ३-२-५ ॥

देन पुरुषभेदेन च सुखाय दुःखाय च भवति; वस्तुस्वरूपप्रयुक्ते तु ताद्रूप्ये सर्वं सर्वदा सर्वस्य सुखायैव दुःखायैव वास्यात्; नचैवं दृश्यते; तथाचोक्तं–१"नरकस्वर्गसंज्ञे वै पापपुण्ये द्विजोत्तम। वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यागमाय च। कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः। तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते। तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते। तस्माद्दुःखात्मकं नास्ति न च कंचित्सुखात्मकम्" इति। अतो जीवस्य कर्मवश्यत्वात्तत्तत्कर्मानुगुण्येन तत्तद्वस्तुसम्बन्ध एवापुरुषार्थस्स्यात्; परस्य तु ब्रह्मणः स्वाधीनस्य स एव सम्बन्धस्तत्तद्विचित्रनियमनरूपलीलारसायैव स्यात्॥ १२॥

अपिचैवमेके। ३। २। १३॥

अपिच एके शाखिनः एकस्मिन्नेव देहसंयोगे जीवस्यापुरुषार्थं परस्य तु तदभावं नियमनरूपैश्वर्यायत्तदीप्तियोगं च स्वशब्देनाधीयते–२"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" इति॥

अथ स्यात्–३"अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति ब्रह्मात्मकजीवानुप्रवेशपूर्वकं नामरूपव्याकरणमिति ब्रह्मणोऽपि तदात्मभूतस्य देवमनुष्यादिरूपत्वं तन्नामभाक्त्वंचास्ति, ततश्च४"ब्राह्मणो यजेत" इत्यादिविधिनिषेधशास्त्रगोचरत्वेन कर्मवश्यत्वमवर्जनीयमिति; तत्राह–

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्। ३। २। १४॥

देवादिशरीरानुप्रवेशे तेन रूपेण युक्तमप्यरूपवदेव तत् ब्रह्म-रूपरहिततुल्यमेव; जीववच्छरीरित्वनिबन्धनं कर्मवश्यत्वमस्य न विद्यत इ-

१. वि. पु. २-६. ४६-४७-४८॥—२. मु. ३-१-१॥—३. छा. ६-३-२॥ –४॥

त्यर्थः । कुतः ? निर्वाहकत्वेन प्रधानत्वात् । १"आकाशो ह वै नामरूपयो-र्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म" इति सर्वानुप्रवेशेऽपि नामरूपकार्यास्पर्शेन नामरूपयोर्निर्वोढृत्वमेव ब्रह्मणः प्रतिपादयति । ननु तच्छरीरकत्वेन तदन्तर्यामित्वे कथमरूपवदिति रूपसम्बन्धरहिततुल्यत्वमुच्यते? इत्थं-यथा जीवस्य तत्तज्जन्यसुखदुःखभाक्त्वेन तत्तद्रूपसम्बन्धः, तथा तदभावात्परस्यारूपवत्त्वम्। विधिनिषेधशास्त्राण्यपि कर्मवश्यमेवाधिकुर्वन्ति;तस्मादरूपतुल्यमेव परं ब्रह्म । ततश्चान्तर्यामिरूपेणावस्थितमपि ब्रह्म निरस्तनिखिल-दोषत्वकल्याणगुणाकरत्वरूपोभयलिङ्गमेव ॥ १४ ॥

ननु च २ "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादिभिर्निर्विशेषप्रकाशैकस्वरूपं ब्रह्मावगम्यते, अन्यत्तु सर्वज्ञत्वसत्यसङ्कल्पत्वजगत्कारणत्वसर्वान्तरात्मत्वसत्यकामत्वादिकं ३"नेतिनेति" इत्यादिभिः प्रतिषिध्यमानत्वेन मिथ्याभूतमित्यवगन्तव्यम् ; तत्कथं कल्याणगुणाकरत्वनिरस्तनिखिलदोषत्वरूपोभयलिङ्गत्वं ब्रह्मण इति; अत आह—

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् । ३ । २ । १५ ॥

यथा २ "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादिवाक्यावैयर्थ्यात्प्रकाशस्वरूपत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते ; तथा सत्यसङ्कल्पत्वसर्वज्ञत्वजगत्कारणत्वसर्वात्मकत्वनिरस्तनिखिलाविद्यादिदोषत्वाद्यभिधायिवाक्यावैयर्थ्या-दुभयलिङ्गमेव ब्रह्म ॥ १५ ॥

आह च तन्मात्रम् । ३ । २ । १६ ॥

किञ्च २" सत्यं ज्ञानमनन्तम् " इत्यादिवाक्यं ब्रह्मणः प्रकाशस्वरूपतामात्रं प्रतिपादयति, नान्यत्सत्यसङ्कल्पत्वादिकं वाक्यान्तरावगतं निषेधति; ३ " नेतिनेति " इति च निषेधविषयोऽनन्तरमेव वक्ष्यते ॥

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते । ३ । २ । १७ ॥

१. छा. ८-१४-१ ॥—२. तै. आन. १-१ ॥—३. बृ. ४-३-६ ॥

दर्शयति च वेदान्तगणः कल्याणगुणाकरत्वं निरस्तनिखिलदोषत्वं च १ "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं दैवतानां परमं च दैवतम्। स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः। न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"२ "यस्सर्वज्ञस्सर्ववित यस्य ज्ञानमयं तपः" ३ "भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः" ३ "स एको ब्रह्मण आनन्दः"४ "यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति ५ "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" इत्यादि। स्मर्यते च ६ "यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्" ७ "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" ८ "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिस्सूयते सचराचरम्। हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्धि परिवर्तते" ९ "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" १० "सर्वज्ञस्सर्वकृत्सर्वशक्तिज्ञानबलर्धिमान्। अन्यूनश्चाप्यवृद्धिश्च स्वाधीनो नादिमान्वशी। क्लमतन्द्रीभयक्रोधकामादिभिरसंयुतः। निरवद्यः परः प्राप्तेर्निरधिष्ठोऽक्षरः क्रमः" इत्यादिः। अतस्सर्वत्रावस्थितस्यापि ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वात्तत्तत्स्थानप्रयुक्ता दोषा न परं ब्रह्म स्पृशन्ति ॥ १७ ॥

अत एवचोपमा सूर्यकादिवत् । ३ । २ । १८ ॥

यतो नानाविधेषु स्थानेषु स्थितस्यापि परस्य ब्रह्मणो न तत्प्रयुक्तदोषभाक्त्वम्, अत एव जलदर्पणादिप्रतिबिम्बितसूर्यादिवत्परमात्मा तत्रतत्रावस्थितोऽपि निर्दोष इति शास्त्रैरुपमा क्रियते-११ "आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत्। तथात्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान्।

१, श्वे, ६-७-८ ॥-२, मु, १-१-९ ॥-३, तै. आ, ८-४ ॥-४, तै, आ. ९-१ ॥-५, श्वे, ६-१९ ॥-६, गी, १०-३ ॥-७, गी, १०-४२ ॥-८, गी, ९-१० ॥-९, गी, १५-१७ ॥-१०, वि, पु, ५-१-४७-४८-४९ ॥-११, याज्ञवल्क्य, प्रायश्चित्त अध्यात्मप्र. १४४ ॥

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" इत्यादिषु ॥ १८ ॥

अत्र चोदयति—

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् । ३ । २ । १९ ॥

तुशब्दोऽक्षर्यं द्योतयति। अम्बुवदिति सप्तम्यन्तात् वतिः। अम्बुदर्पणादिषु यथा सूर्यमुखादयो गृह्यन्ते; न तथा पृथिव्यादिषु स्थानेषु परमात्मा गृह्यते। अम्ब्वादिषु हि सूर्यादयो भ्रान्त्या तत्रस्था इव गृह्यन्ते, न परमार्थतस्तत्रस्थाः। इह तु २"यः पृथिव्यां तिष्ठन्" २ "योऽप्सु तिष्ठन्" २ 'य आत्मनि तिष्ठन्" इत्येवमादिना परमार्थत एव परमात्मा पृथिव्यादिषु स्थितो गृह्यते। अतस्सूर्यादेरम्बुदर्पणादिप्रयुक्तदोषाननुपङ्गस्तत्रतत्र स्थित्यभावादेव। अतो न तथात्वं--दार्ष्टान्तिकस्य न दृष्टान्ततुल्यत्वमित्यर्थः ॥ १९ ॥

परिहरति -

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवं दर्शनाच्च । ३ । २ । २० ॥

पृथिव्यादिस्थानान्तर्भावात्स्थानिनः परस्य ब्रह्मणः स्वरूपतो गुणतश्च पृथिव्यादिस्थानगतवृद्धिह्रासादिदोषभाक्त्वमात्रं सूर्यादिदृष्टान्तेन निवर्त्यते। कथमिदमवगम्यते? उभयसामञ्जस्यादेवम्—उभयदृष्टान्तसामञ्जस्यादेवमिति निश्चीयते। १"आकाशमेकंहि यथाघटादिषु पृथग्भवेत्" "जलाधारेष्विवांशुमान्" इति दीपवत्स्वनेकेषु वस्तुषु वस्तुतोऽवस्थितस्याकाशस्य, वस्तुतोऽनवस्थितस्यांशुमतश्चोभयस्य दृष्टान्तस्योपादानं हि परमात्मनः पृथिव्यादिगतदोषभाक्त्वनिवर्तनमात्रे प्रतिपाद्ये समञ्जसं भवति।

---

१. याज्ञवल्क्य. प्रायश्चित्त. अध्यात्मप्र. १४४ ॥—२. बृ. ५-७-३, ४, २२ ॥

घटकरकादिषु यथा वृद्धिह्रासभाक्षु पृथक्पृथक्संयुज्यमानमप्याकाशं वृद्धिह्रासादिदोषैर्न स्पृश्यते; यथा च जलाधारेषु विषमेषु दृश्यमानोंऽशुमान् तद्गतवृद्धिह्रासादिभिर्न स्पृश्यते; तथाऽयं परमात्मा पृथिव्यादिषु नानाकारेष्वचेतनेषु चेतनेषु च स्थितस्तत्तद्गतवृद्धिह्रासादिदोषैरसंस्पृष्टस्सर्वत्र वर्तमानोऽप्येक एवास्पृष्टदोषगन्धः कल्याणगुणाकर एव । एतदुक्तं भवति -यथा जलादिषु वस्तुतोऽनवस्थितस्यांशुमतो हेत्वभावाज्जलादिदोषानभिष्वङ्गः, तथा पृथिव्यादिष्ववस्थितस्यापि परमात्मनो दोषप्रत्यनीकाकारतया दोषहेत्वभावान्न दोषसम्बन्धः-इति । दर्शनाच्च-दृश्यते चैवं सर्वात्मना साधर्म्याभावेऽपि विवक्षितांशसाधर्म्याद्दृष्टान्तोपादानं, सिंह इव माणवक इत्यादौ । अतः स्वभावतो निरस्तनिखिलाज्ञानादिदोषगन्धस्य समस्तकल्याणगुणाकरस्य पृथिव्यादिस्थानतोऽपि न दोषसम्भवः ॥२०॥

अथ स्यात्-१"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तमेव च" इति प्रकृत्य समस्तं स्थूलसूक्ष्मरूपं प्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपत्वेन परामृश्य २"तस्य ह वा एतस्य पुरुषस्य रूपं यथा माहारजनं वासः" इत्यादिना आकारविशेषं चाभिधाय ३"अथात आदेशो नेतिनेति नह्येतस्मादितिनेत्यन्यत्परमस्ति" इति सर्वं प्रकृतं ब्रह्मणः प्रकारमितिशब्देन परामृश्य तत्सर्वं प्रतिषिध्य सर्वविशेषाधिष्ठानं सन्मात्रमेव ब्रह्म; विशेषास्त्वेवंविधं स्वस्वरूपमजानता ब्रह्मणा कल्पिता इति दर्शयति; अतः कथमुभयलिङ्गत्वं ब्रह्मण इति—अत्राह—

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततोब्रवीति च भूयः । ३ । २ । २१ ॥

नैतदुपपद्यते—यद्ब्रह्मणः प्रकृतविशेषवत्त्वं ३"नेतिनेति" इति प्रतिषिध्यत-इति, तथा सति भ्रान्तजल्पितायमानत्वात् । न हि ब्रह्मणो विशेषणतया प्रमाणान्तराप्रज्ञातं सर्वं तद्विशेषणत्वेनोपदिश्य पुनस्तदेवा-

१. बृ. ४-३-१ ॥—२. बृ. ४-३-६ ॥ – ३. बृ. ४-३-६ ॥

नुन्मत्तः प्रतिषेधति। यद्यपि निर्दिश्यमानेषु केचन पदार्थाः प्रमाणान्तरप्रसिद्धाः; तथापि तेषां ब्रह्मणः प्रकारत्वमप्रज्ञातमेव, इतरेषां तु स्वरूपं ब्रह्मणः प्रकारत्वं चाज्ञातम्। अतस्तेषामनुवादासम्भवादत्रैवोपदिश्यन्ते। अतस्तन्निषेधो नोपपद्यते। यस्मादेवं; तस्मात्प्रकृतैतावत्त्वं ब्रह्मणः प्रतिषेधतीदं वाक्यम्। ये ब्रह्मणो विशेषाः प्रकृताः; तद्विशिष्टतया ब्रह्मणः प्रतीयमानेयत्ता १"नेतिनेति" इति प्रतिषिध्यते। नेतिनेति—नैवं नैवम्, उक्तप्रकारमात्रविशिष्टं न भवति ब्रह्म; उक्तप्रकारविशिष्टतया या ब्रह्मण इयत्ता प्रकृता; साऽत्र इतिशब्देन परामृश्यत इत्यर्थः। यतश्च निषेधानन्तरं ब्रह्मणो भूयो गुणजातं ब्रवीति, अतश्च प्रकृतविशेषणयोगित्वमात्रं ब्रह्मणः प्रतिषेधति। ब्रवीति हि भूयो गुणजातं-१"न ह्येतस्मादितिनेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्यसत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्" इति। अयमर्थः—इति नेति यद्ब्रह्म प्रतिपादितम्, तस्मादेतस्मादन्यद्वस्तु परं नह्यस्ति, ब्रह्मणोऽन्यन् स्वरूपतो गुणतश्चोत्कृष्टं नास्तीत्यर्थः। तस्य च ब्रह्मणः सत्यस्य सत्यमिति नामधेयम्। तस्य च निर्वचनं १"प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्" इति। प्राणशब्देन प्राणसाहचर्याज्जीवाः परामृश्यन्ते; ते तावत्सत्यम्, वियदादिवत्स्वरूपान्यथाभावरूपपरिणामाभावात्; तेषामेष सत्यम्-तेभ्योऽप्येष परमपुरुषस्सत्यम्, जीवानां कर्मानुगुण्येन ज्ञानसङ्कोचविकासौ विद्येते; परमपुरुषस्य त्वपहतपाप्मनस्तौ न विद्येते; अतस्तेभ्योऽप्येष सत्यम्। अतश्चैवं वाक्यशेषोदितगुणजातयोगात् १"नेतिनेति" इति ब्रह्मणस्सविशेषत्वं न प्रतिषिध्यते; अपि तु पूर्वप्रकृतेयत्तामात्रम्। अत उभयलिङ्गमेव परं ब्रह्म ॥ २१ ॥

ब्रह्मणः प्रमाणान्तरागोचरत्वेन तत्सम्बन्धितया मूर्तामूर्तादिरूपानुवादेन तन्निषेधासम्भवात्प्रकृतेयत्ताप्रतिषेध उक्तः; तदेव प्रमाणान्तरागोचरत्वं द्रढयति—

१. बृ. ४-३-६ ॥—

तदव्यक्तमाह हि । ३ । २ । २२ ॥

तत्—ब्रह्म प्रमाणान्तरेण न व्यज्यते. आह हि शास्त्रं १"न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्" २"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा" इत्यादि ॥

हेत्वन्तरं चाह—

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । ३ । २ । २३ ॥

अपि च संराधने-सम्यक्प्रीणने भक्तिरूपापन्ने निदिध्यासन एवास्य साक्षात्कारः; नान्यत्रेति श्रुतिस्मृतिभ्यामवगम्यते । ३"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् २"ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" इति श्रुतिः । स्मृतिरपि ४"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया" ४"भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप" इति । भक्तिरूपापन्नमेवोपासनं संराधनम्-तस्य प्रीणनमिति पूर्वमेवोक्तम् । अतो निदिध्यासनाय ब्रह्मस्वरूपमुपदिशत् ५"द्वे वाव ब्रह्मणः" इत्यादिशास्त्रं ब्रह्मणो मूर्तामूर्तरूपद्वयादिविशिष्टतां प्रागसिद्धां नानुवदितुं क्षमम् ॥ २३ ॥

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् । ३ । २ । २४ ।

इतश्च प्रकृतैतावत्त्वमेव प्रतिषेधति; न मूर्तामूर्तादिविशिष्टत्वम्; यतस्साक्षात्कृतपरब्रह्मस्वरूपाणां वामदेवादीनां दर्शने प्रकाशादिवत् ज्ञानानन्दादिस्वरूपवन्मूर्तादिप्रपञ्चविशिष्टताया अपि ब्रह्मगुणत्वावैशे-

१. तै. नारा. १-अनु. १० ॥—२. मु. ३-१-८ ॥—३. मु. ३-२-३ ।—४. गी. ११-५३. ५४ ॥—५ बृ. ४-३-१ ॥

प्यं प्रतीयते-१"तद्धेतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च" इत्यादि। ब्रह्मस्वरूपभूतप्रकाशानन्दादिश्च तेषां वामदेवादीनां संराधनात्मके कर्मण्यभ्यासादुपलभ्यते। तद्वद्याभ्यस्तसंराधनानां तेषां मूर्तामूर्तादिविशिष्टत्वमप्यविशेषेण प्रतीयत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

उक्तं ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वमुपसंहरति—

अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम् । ३ । २ । २५ ॥

अतः—उक्तैर्हेतुभिर्ब्रह्मणः अनन्तेन कल्याणगुणगणेन विशिष्टत्वं सिद्धम्। तथा हि सत्युभयलिङ्गं ब्रह्मोपपन्नं भवति ॥ २५ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये उभयलिङ्गाधिकरणम् ॥ ५ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अहिकुण्डलाधिकरणम् ॥६॥)

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् । ३ । २ ।२६ ॥

मूर्तामूर्तात्मकस्य अचित्प्रपञ्चस्य ब्रह्मणो रूपत्वं २"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे" इत्यादिनोपदिश्यते। ३"अथात आदेशो नेतिनेति" इति मूर्तामूर्तादिवस्तुरूपतया ब्रह्मण इयत्ता प्रतिषिध्यते। ३"नह्येतस्मादितिनेत्यन्यत्परमस्ति" इति ब्रह्मणोऽन्यदुत्कृष्टं नह्यस्तीति प्रतिपादितम्। तदुपपादनाय ३"अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्" इति प्राणशब्दनिर्दिष्टेभ्यश्चेतनेभ्योऽप्येष सत्यमिति कदाचिदपि ज्ञानादिसङ्कोचाभावादुक्तम्। तथा ४"प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" ५"पतिं विश्वस्याऽऽत्मेश्वरं" ७"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" इत्यादिश्रुतेश्चायमर्थोऽवगम्यते।

---

१. बृ. ३-४-१० ॥—२. ३ . बृ. २-३ १।६ ॥—४. श्वे. ६-१६ ॥—
५- तै. ना. ११-अनु. ॥—६. श्वे. ६-१३ ॥

तस्याचिद्वस्तुनो ब्रह्मरूपत्वप्रकार इदानीं चिन्त्यते, ब्रह्मणो निर्दोषत्वसिद्ध्यर्थम्–किमस्याचिद्वस्तुनो ब्रह्मरूपत्वमहिकुण्डलन्यायेन, उत प्रभाप्रभावतोरिवैकजातियोगेन, उत जीवस्येव विशेषणविशेष्यतयांशांशिभावेन-इति। इह स्थाप्यमानं विशेषणविशेष्यभावमङ्गीकृत्य १"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" २"तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" इत्यत्र सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुविशिष्टाद्ब्रह्मणः स्थूलचिदचिद्वस्तुविशिष्टस्योत्पत्तिरनन्यत्वं चोक्तम्। किं युक्तम्? अहिकुण्डलवदिति; कुतः? उभयव्यपदेशात् ३"ब्रह्मैवेदं सर्वम्" ४"आत्मैवेदं सर्वम्" इति तादात्म्यव्यपदेशात्, ५"हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः" अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य" इत्यादिभेदव्यपदेशाच्च अहेः कुण्डलभाव*ऋजुभाववत्, तस्यैव ब्रह्मणस्संस्थानविशेषा एवाचिद्वस्तूनि ।२६॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् । ३ । २ । २७ ॥

वाशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः; ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्रूपेणावस्थाने भेदश्रुतयो ब्रह्मणोऽपरिणामित्ववादिन्योऽपि बाधिता भवेयुः; अतो यथा तेजस्त्वेन प्रभातदाश्रययोरपि तादात्म्यम्; एवमचित्प्रपञ्चस्य ब्रह्मणो रूपत्वमित्यर्थः ॥ २७ ॥

पूर्ववद्वा । ३ । २ । २८ ॥

वाशब्दः पक्षद्वयव्यावृत्त्यर्थः; एकस्यैव द्रव्यस्यावस्थाविशेषयोगे ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्द्रव्यरूपत्वादुक्तदोषादनिर्मोक्षः। अथ प्रभातदाश्रययोरिवाचिद्ब्रह्मणोर्ब्रह्मत्वजातियोगमात्रम्; एवं तर्ह्यश्वत्वगोत्ववद्ब्रह्मापीश्वरे चिदचिद्वस्तुनोश्चानुवर्तमानं सामान्यमिति सकलश्रुतिस्मृतिव्यवहारविरोधः। पूर्ववदेव ६"अंशो नानाव्यपदेशात्" ७"प्रकाशादिवत्तु नैवं परः"

---

१. शारी. १-४-२३ ॥—२. शारी. २-१-१५ ॥—३. बृ. ४-५-१ ॥—४. छा. ७-२५-२ ॥—५. छा. ६-३-२ ॥—*रज्जु. पा ॥—६. शारी. २-३-४२ ॥— ७, शारी. २-३-४५ ॥

इति जीववत्पृथक्सिद्ध्यनर्हविशेषणत्वेनाचिद्वस्तुनो ब्रह्मांशत्वम्; विशिष्टवस्त्वेकदेशत्वेनाभेदव्यवहारो मुख्यः, विशेषणविशेष्ययोः स्वरूपस्वभावभेदेन भेदव्यवहारो मुख्यः, ब्रह्मणो निर्दोषत्वं च रक्षितम्। तदेवं प्रकाशजातिगुणशरीराणां मणिव्यक्तिगुण्यात्मनः = प्रत्यपृथक्सिद्धिलक्षणविशेषणतया यथांशत्वम्; तथेह जीवस्याचिद्वस्तुनश्च ब्रह्म प्रत्यंशत्वम् ॥२८

प्रतिषेधाच्च । ३ । २ । २९ ॥

१"स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरः२"नास्य जरयैतज्जीर्यति' इत्यादिभिः ब्रह्मणोऽचिद्धर्मप्रतिषेधाच्च विशेषणविशेष्यत्वेनैवांशांशिभाव इत्यर्थः। अतस्सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुविशिष्टं कारणभूतं ब्रह्म, स्थूलचिदचिद्वस्तुविशिष्टं कार्यभूतं ब्रह्मेति कारणात्कार्यस्यानन्यत्वम्, कारणभूतब्रह्मविज्ञानेन कार्यस्य ज्ञाततेत्यादि सर्वमुपपन्नम्; ब्रह्मणो निर्दोषत्वं च रक्षितम्। ब्रह्मणो निर्दोषत्वेन कल्याणगुणाकरत्वेनचोभयलिङ्गत्वमपि सिद्धम् ॥ २६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अहिकुण्डलाधिकरणम् ॥ ६ ॥

———

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पराधिकरणम् ॥ ७ ॥)

——:o:——

परमतस्सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः । ३ । २ । ३०

इदानीमस्मात्परस्माज्जगन्निमित्तोपादानरूपपरमकारणात्परब्रह्मणः परमपि किञ्चित्तत्वमस्तीति कैश्चिद्धेत्वाभासैराशङ्क्य निराक्रियते, अस्योपास्यस्य निर्दोषत्वानवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणाकरत्वस्थेम्ने। त-

१. बृ. ६-४-२५ ॥—२. छा. ८-१-५ ॥—

त्रेयमाशङ्का-यदिदं परं ब्रह्मोभयलिङ्गम्, एतस्मान्निखिलजगत्कारणात्परमपि किञ्चित्तत्त्वमस्ति। कथम्? १'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः' इत्यस्य परस्य सेतुत्वव्यपदेशात्। सेतुशब्दस्य च लोके कूलान्तरप्राप्तिहेतौ प्रसिद्धेरितोऽन्यदनेन प्राप्तव्यमस्तीति गम्यते। तथा २"एतं सेतुं तीर्त्वाऽन्धस्सन्ननन्धो भवति"इति तरितव्यता चास्याभिधीयते,अतश्चान्यत्प्राप्यमस्ति। उन्मानव्यपदेशाच्च-उन्मितं-परिमितम् इदं परं ब्रह्म, ३"चतुष्पाद्ब्रह्म"४"षोडशकलम्"इत्युन्मानव्यपदेशात्। सचायमुन्मानव्यपदेशस्तेन सेतुना प्राप्यस्यानुन्मितस्यास्तितां द्योतयति। तथा सम्बन्धव्यपदेशश्च सेतुसेतुमतोः प्रापकत्वप्राप्यत्वलक्षणो दृश्यते, ५ "अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्" ६'अमृतस्यैष सेतुः" इति। अतश्च परात्परमस्ति। भेदेन च परात्परं व्यपदिश्यते, ७ "परात्परं पुरुषमुपैति" ८ "परात्परं यन्महतो महान्तम्" इतिच। तथा ९"तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" १०"ततो यदुत्तरतरं तद्रूपमनामयम्" इति। अत एभ्यो हेतुभ्यः परस्माद्ब्रह्मणः परमपि किञ्चिदस्तीति गम्यत इति॥ ३०॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—

सामान्यात्तु। ३। २। ३१॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति; यत्तावदुक्तं सेतुव्यपदेशात्परापरमस्तीति; तन्नोपपद्यते। न ह्ययमत्र किञ्चित्प्राप्यं प्रति सेतुरुच्यते, ११"एषां लोकानामसम्भेदाय" इति सेतुसामान्येन सर्वलोकासङ्करकरत्वश्रुतेः। सिनोति-बध्नाति स्वस्मिन् सर्वं चिदचिद्वस्तुजातमसङ्कीर्णमिति सेतुरुच्यते।

१. छा. ८-४-१॥ २. छा. ८-४-२॥ ३. छा. ३-१८-२॥ ४.प्रश्न ६-१॥ ५. श्वे. ६-१९॥ ६. मु. २-२-५॥ ७. मु. ३-२-८॥ ८. तै. नारा. १-५.॥ ९. श्वे. ३-९.॥ १०. श्वे. ३-१०॥ ११.छा.८-४-१,२

१"एतं सेतुं तीर्त्वा" इति तरतिश्च प्राप्तिवचनः। यथा 'वेदान्तं तरति' इति ॥ ३१ ॥

बुद्ध्यर्थः पादवत् । ३ । २ । ३२ ॥

योऽयं २"चतुष्पाद्ब्रह्म" ३"षोडशकलम्" ४ 'पादोऽस्यविश्वा भूतानि" इत्युन्मानव्यपदेशः; स बुद्ध्यर्थः--उपासनार्थः, ५"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादिभिर्जगत्कारणस्य ब्रह्मणोऽपरिच्छिन्नत्वावगमात्स्वत उन्मितत्वासम्भवात्। जगत्कारणत्वं हि तस्यैव श्रूयते ६"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः" ७"सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति" इति। अतो यथा ८"वाक्पादः प्राणः पादः चक्षुः पादो मनः पादः" इत्यादिना ब्रह्मणो वागादिपादव्यपदेश उपासनार्थः एवमयमपि ॥ ३२ ॥

स्वयमनुन्मितस्य कथमुपासनार्थतयाऽप्युन्मानसम्भवः; तत्राह—

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् । ३ । २ । ३३ ॥

प्रतिपन्नवागादिस्थानविशेषरूपोपाधिभेदात्तत्सम्बन्धितयोन्मितत्वानुसन्धानं सम्भवति; यथा प्रकाशाकाशादेर्विततस्य वातायनघटादिस्थानभेदैः परिच्छिन्नयानुसन्धानसम्भव इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

उपपत्तेश्च । ३ । २ । ३४ ॥

यदुक्तम्-९"अमृतस्यैषसेतुः" इति प्राप्यप्रापकसम्बन्धव्यपदेशात्प्रापकात्परं प्राप्यमस्तीति; तन्न, प्राप्यस्य परमपुरुषस्य स्वप्राप्तौ स्वस्यैवोपायत्वोपपत्तेः। १०' नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" इत्यनन्योपायत्वश्रवणात् ॥ ३४ ॥

---

१. छा. ८-४-१, २ ॥ २. छा. ३-१८-२ ॥ ३. प्रश्न. ६-१ ॥ ४. पुरुष सू. ॥ ५. तै, आन. १ अनु. १ ॥ ६. तै. आन. १ अनु. २ ॥ ७. तै. आन, ६ अनु. २ ॥ ८. छा. ३-१८-२ ॥ ९. मु. २. २-५॥ १०. मु. ३. २-३ ॥

तथाऽन्यप्रतिषेधात् ३ । २ । ३५ ॥

यत्पुनरुक्तं–१"ततो यदुत्तरतरं" २ "परात्परं पुरुषम्" ३ "अक्षरात्परतः परः" इत्यादिभेदव्यपदेशात्परात्परमस्तीति–तन्नोपपद्यते, तत्रैव ततोऽन्यस्य परस्य प्रतिषेधात्, ४ 'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्" इति। यस्मादपरं परं नास्ति किञ्चित्–न केनापि प्रकारेण परमस्तीत्यर्थः। तथाऽन्यत्रापि ५ "न ह्येतस्मादितिनेत्यन्यत्परमस्ति" इति–इति नेति निर्दिष्टादेतस्माद्ब्रह्मणोऽन्यत्परं न ह्यस्तीत्यर्थः। तथा ६"न तस्येशे कश्चन तस्य नाम महद्यशः" इति। तद्धि जगदुपादानकारणतयाऽनन्तरमुक्तं ७"सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि" ८"स आपः प्रदुघे उभे इमे" इत्यादिना। ८ "अद्भ्यस्सम्भूतो हिरण्यगर्भ इत्यष्टौ"इति च जगत्कारणं पुरुषमेनं प्रत्यभिज्ञापयति।९'ततो यदुत्तरतरम्" इति किमुच्यत इति चेत्—पूर्वत्र १०"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्, तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति परस्य ब्रह्मणो महापुरुषस्य वेदनमेवामृतत्वसाधनम्,नान्योऽमृतत्वस्य पन्था इत्युपदिश्य तदुपपादनाय ११"यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" इति पुरुषस्य परत्वं, तद्व्यतिरिक्तस्य परत्वासम्भवञ्च प्रतिपाद्य ९'ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति' इति पूर्वोक्तमर्थं हेतुतो निगमयति–यदुत्तरतरं पुरुषतत्त्वम्, तदेवारूपमनामयं यतः,ततो य एतत्पुरुषतत्त्वं विदुः, त एवामृता भवन्ति, अथेतरे दुःखमेवापियन्ति–इति। अन्यथोपक्रमविरोधोऽनन्तरोक्तिविरोधश्च।१२'परात्परं पुरुषमुपैति

---

१. श्वे, ३. ब, १० ॥ २. मु. ३–२–८ ॥ ३. मु. २-१-२ ॥ ४. श्वे. ३–९ ॥ ५. बृ. २–३–६ ॥ ६. तै. नारा. १–९ ॥ ७. तै. नारा. १–८ ॥ ८. तै. नारा. १–११ ॥ ९. श्वे. ३–१० ॥ १०. ११, श्वे. ३-८-९ ॥ १२. मु. ३–२–८ ॥

दिव्यम्" इति पूर्वत्र १"अक्षरात्परतः परः" इति अक्षरात् अव्याकृतान यः परः-समष्टिपुरुषः; तस्मात्परो योऽदृश्यत्वादिगुणकस्सर्वज्ञः परमपुरुषः, स एवेहापि 'परात्परः' इति समष्टिपुरुषात्परत्वेनोच्यते ॥ ३५ ॥

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ।३।२।३६॥

अनेन ब्रह्मणा, सर्वगतत्वम्-सर्वस्य जगतो व्याप्तत्वम्, आयामशब्दादिभ्यः सर्वव्याप्तिवाचिशब्देभ्योऽवगम्यमानमस्मात्परं नास्तीत्यवगमयति आयामशब्दस्तावत् २ 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" ३"यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्चतत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" ४"नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः"। आदिशब्दात् ५"ब्रह्मैवेदं सर्वम्" ६"आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यादयो गृह्यन्ते। अत इदं परं ब्रह्मैव सर्वस्मात्परम् ॥ ३६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पराधिकरणम् ॥ ७ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये फलाधिकरणम् ॥ ८ ॥)

फलमत उपपत्तेः । ३ । २ । ३७ ॥

उक्तमुपासिसिपोपजननार्थं जीवस्य सर्वावस्थासु सदोषत्वं, प्राप्यस्य च परमपुरुषस्य निर्दोषत्वं, कल्याणगुणाकरत्वं सर्वस्मात्परत्वञ्च: अतः परमुपासनं विवक्षन्नुपासीनानां परस्मादेवास्मात्पुरुषात्तत्प्राप्तिरूपमपवर्गाख्यं फलमिति सम्प्रति ब्रूते। तुल्यन्यायतया शास्त्रीयमैहिकामुष्मिकमपि फलम्, अत एव परस्मात्पुरुषाद्भवतीति सामान्येन 'फलमतः' इत्युच्यते। कुत एतत्? उपपत्तेः-स एव हि सर्वज्ञस्सर्वशक्तिर्महोदारो यागदानहोमादिभिरुपासनेन चाराधित ऐहिकामुष्मिकभोगजातं स्वस्वरूपावा-

---

१. मु. २-१-२॥—२. श्वे. ३-९॥—३. नारायण १-१३॥—४. मु.१-१-६॥ —५. बृ. ४-५-१ ॥—६, छा. ७-२५-२ ॥

निरूपमपवर्गं च दातुमीष्टे; नह्यचेतनं कर्म क्षणध्वंसि कालान्तरभाविफल साधनं भवितुमर्हति ॥ ३७ ॥

श्रुतत्वाच्च । ३ । २ । ३८ ॥

१"स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानः" २"एष ह्येवानन्दयाति" इति भोगापवर्गरूपं फलमयमेव ददातीति हि श्रूयते ॥ ३८ ॥

सम्प्रति पूर्वपक्षमाह—

धर्मं जैमिनिरत एव । ३ । २ । ३९ ॥

अत एव-उपपत्तेः, शास्त्राच्च यागदानहोमोपासनरूपधर्ममेव फलप्रदं जैमिनिराचार्यो मन्यते । लोके हि कृष्यादिकर्म, दानादिकं च कर्म साक्षाद्वा, परम्परयावा स्वयमेव फलसाधनं दृष्टम्; एवं वेदेऽपि यागदानहोमादीनां साक्षात्फलसाधनत्वाभावेऽपि परम्परया अपूर्वद्वारेण फलसाधनत्वमुपपद्यते । तथा ३ 'यजेत स्वर्गकामः" इत्यादिशास्त्रमपि सिषाधयिषितस्वर्गस्य कर्तव्यतया यागाद्यभिदधदन्यथानुपपत्त्या अपूर्वद्वारेण फलसाधनत्वमवगमयति ॥ ३९ ॥

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् । ३ । २ । ४० ॥

तु शब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः; पूर्वोक्तं परमपुरुषस्यैव फलप्रदत्वं भगवान्बादरायणो मन्यते । कुतः ? हेतुव्यपदेशात्-४"यज-देवपूजायाम्"इति देवताराधनभूतयागाद्याराध्यभूताग्निवाय्वादिदेवतानामेव तत्तत्फलहेतुतया तस्मिंस्तस्मिन्नपि वाक्ये व्यपदेशात् ५"वायव्यं श्वेतमा लभेत भूतिकामो वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति" इत्यादिषु कामिनस्सिषाधयिषितफलसाधनत्वप्रकारोपदेशोऽपि विध्यपेक्षित एवेति नातत्परत्वशङ्का युक्ता । एवमपेक्षितेऽपि फलसाधनत्वप्रकारे शब्दादेवावगते सति तत्परित्यागमश्रुतापूर्वादिपरिकल्पनं च प्रामाणिका

१. बृ. ६-४-२४ ॥—२. तै. आनं- ७-१ ॥—३. यजुषि. २-२-१ ॥
४. धातु. भ्वादि. ॥—५. यजु. २-कां. १-प्र. १-पं ॥

न सहन्ते । लिङादयोऽपि देवताराधनभूतयागादेः प्रकृत्यर्थस्य कर्तृव्यापार-साध्यतां व्युत्पत्तिसिद्धां शब्दानुशासनानुमतामभिदधति; नान्यदलौकिकमिति प्रागेवोक्तम् । तदेवं १"वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादिशब्दाद्वाय्वादीनां फलप्रदत्वमवगम्यते । वाय्वाद्यात्मना च परमपुरुष एवाराध्यतया फलप्रदायित्वेन चावतिष्ठत इति श्रूयते २"इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः । तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमाः" इति । अन्तर्यामिब्राह्मणे च ३"यो वायौ तिष्ठन्यस्य वायुश्शरीरम्" ४"योऽग्नौ तिष्ठन्" ४"य आदित्ये तिष्ठन्" इत्यादि श्रूयते । स्मर्यते च ५"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति । तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते । लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्" इति, ६"अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेवच" इति । प्रभुरिति-फलप्रदायीत्यर्थः । ५"देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि" ६"यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्" इति च । लोके च कृष्यादिभिर्विचित्ररूपान् द्रव्यविशेषान् सम्पाद्य तैः राजानं भृत्यद्वारेण साक्षाद्वाऽर्चयन्ति; अर्चितश्च राजा तत्तदर्चनानुगुणं फलं प्रयच्छन् दृश्यते । वेदान्तास्त्वतिपतितसकलेतरप्रमाणसम्भावनाभूमिं निरस्तसमस्ताविद्यादिदोषगन्धं स्वाभाविकानवधिकातिशयापरिमितोदारगुणसागरं पुरुषोत्तमं प्रतिपाद्य, तदाराधनरूपाणि च यागदानहोमात्मकानि, स्तुतिनमस्कारकीर्तनार्चनध्यानानि च तदाराधनानि, आराधितात्परस्मात्पुरुषाद्भोगापवर्गरूपं फलं च, वदन्तीति सर्वं समञ्जसम् ॥ ४० ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये फलाधिकरणम् ॥ ८ ॥

———

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये
तृतीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

———

१. यजु. २-कां-१-७-१पं. ॥—२. तै. ना-१-६-॥—३. बृ. ५-७-७ ॥
४. बृ. ५-७-५-६ ॥—५. गी. ७-२१-२२-२३ ॥—६. गी. ९-२४-२५ ॥

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते—

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

(तृतीयाध्याये-तृतीयः पादः-सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ॥)

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्। ३। ३। १ ॥

उक्तं ब्रह्मोपासिसिषोपजननाय वक्तव्यं ब्रह्मणः फलदायित्वपर्यन्तम्; इदानीं ब्रह्मोपासनानां गुणोपसंहारविकल्पनिर्णयाय विद्याभेदचिन्ता प्रस्तूयते। प्रथम तावदेकस्या वैश्वानरविद्यादिकाया अनेकशाखासु श्रूयमाणायाः किमेकविद्यात्वम्, उत विद्याभेद इति चिन्त्यते। अविशेषपुनश्श्रवणस्य प्रकरणान्तरस्य च भेदकत्वाच्छाखान्तरे चोभयोरवर्जनीयत्वाद्विद्याभेद इति प्राप्तम्। अत एव १"तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्" इति शिरोव्रतवतामाथर्वणिकानामेव विद्योपदेशनियम उपपद्यते। विद्यैक्ये हि विद्याङ्गस्य शिरोव्रतस्यान्येषामपि शाखिनां प्राप्तेर्नियमो नोपपद्यते—

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्त उच्यते—सर्ववेदान्तप्रत्ययमेकमुपासनमिति। कुतः ? चोदनाद्यविशेषात्-चोदना तावत् २"उपासीत" ३"विद्यात्" इत्येवंजातीयको धात्वर्थविशेषविधिः। आदिशब्देन ४"एकं वा संयोगरूपचोदनाख्या-

---

१, मु. ३-२-१० ॥—२, छा, १-१-१; बृ, ३-४-२ ॥—३, कठ. ६-१७ ॥—४. पूर्व २-४-६ ॥

विशेषात्" इति कर्मकाण्डशाखान्तराधिकरणसूत्रोक्तास्संयोगरूपाख्या गृह्यन्ते । एषां चोदनादीनामविशेषात् सैवेयं विद्येति शाखान्तरे प्रत्यभिज्ञायते । तथाहि-छान्दोग्यवाजसनेयकयोः १ "वैश्वानरमुपास्ते" इति चोदना तावदेकरूपा ; वेद्यैकनिरूपणीयस्वरूपस्य विदिपर्यायस्योपासेर्वेद्यभूतवैश्वानरैक्याद्रूपमप्यविशिष्टम् ; आख्या च वैश्वानरविद्येत्यविशिष्टा; फलसंयोगोऽप्युभयत्रापि ब्रह्मप्राप्तिरूपोऽविशिष्टः । अत एभिः प्रत्यभिज्ञानाच्छाखान्तरेऽपि विद्यैक्यम् ॥ १ ॥

यदुक्तमविशेषपुनश्श्रवणात्प्रकरणान्तराच्च विधेयभेदप्रतीतेर्न विद्यैक्यमिति, तदनुभाष्य परिहरति—

भेदान्नेति चेदेकस्यामपि । ३ । ३ । २ ॥

अविशेषपुनश्श्रुत्या प्रकरणान्तराच्च विधेयभेदान्न विद्यैक्यमिति चेत्-एकस्यामपि विद्यायां प्रतिपत्तृभेदात्पुनश्श्रुतिः प्रकरणान्तरं चोपपद्यते । यत्र ह्येकस्मिन् प्रतिपत्तरि पुनश्श्रुतिः प्रकरणान्तरं च विद्यते ; तत्रान्यथानुपपत्त्या विधेयभेदाद्विद्याभेदः, प्रतिपत्तृभेदे तु तत्प्रतिपत्त्यर्थतया पुनश्श्रुत्याद्युपपत्तेस्तत्र न विधेयान्तरसम्भवः ॥ २ ॥

यच्चोक्तं शिरोव्रतवतामाथर्वणिकानामेव विद्योपदेशनियमदर्शनाद्विद्याभेदः प्रतीयत इति, तत्राह—

स्वाध्यायस्य तथात्वे हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः । ३। ३। ३॥

नैतदस्ति-शिरोव्रतोपदेशनियमदर्शनं विद्याभेदं द्योतयति-इति, शिरोव्रतस्य विद्याङ्गत्वाभावात् । स्वाध्यायस्य तथात्वे हि तन्नियमः स्वाध्यायस्य तथात्वसिद्ध्यर्थ-तज्जन्यसंस्कारभाक्त्वसिद्ध्यर्थं हि शिरोव्रतोपदेशनियमः, न विद्यायाः । कुत एतत् ? २ "नैतदचीर्णव्रतोऽधीयीत" इति तस्याध्ययनसंयोगात्; समाचारेऽधिकाराच्च-समाचाराख्ये ग्रन्थे ३ "इदमपि वेदव्रतेन व्याख्यातम्" इत्यतिदेशात् । ४ "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत"

१. छा. ५-१८-१ ॥—२. मु. ३.२ ११ ॥—३. समाचारे॥—४. मु. ३-२,१०॥

वेदविद्यामित्यर्थः । सववश्च तन्नियमः—यथाहि सवहोमास्सप्त सूर्यादयशतोदनपर्यन्ता आथर्वणिकैकाग्निसम्बन्धिनस्तत्रैव भवन्ति; न त्रेताग्निषु ॥

दर्शयति च । ३ । ३ । ४ ॥

दर्शयति च श्रुतिरुपासनस्य सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वम्; तथाहि-छान्दोग्ये १"तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" इत्युक्त्वा २"किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यम्" इति प्रश्नपूर्वकम् अपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकविशिष्टः परमात्मा तस्मिन्नुपास्य इत्युक्तम्; तैत्तिरीयके तु छान्दोग्यस्थं प्रतिनिर्देशमुपजीव्य ३"तत्रापि दहरं गगनं विशोकस्तस्मिन्यदन्तस्तदुपासितव्यम्" इति गुणाष्टकविशिष्टस्य परमात्मन उपासनमुच्यते; तदुभयत्र विद्यैकत्वेन गुणोपसंहारादेवोपपद्यते ॥ ३ ॥

तदेवं शाखान्तराधिकरणन्यायसिद्धं विद्यैक्यं स्थिरीकृत्य तत्प्रयोजनमाह—

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ।३।३।५॥

एवं सर्ववेदान्तेषु समाने सत्युपासने वेदान्तान्तराम्नातानां गुणानां वेदान्तान्तर उपसंहारः कर्तव्यः; कुतः ? विधिशेषवदर्थाभेदात्—यथैकस्मिन्वेदान्ते श्रुतो वैश्वानरदहरादिविधिशेषो गुणस्तद्विद्यासम्बन्धात्तदुपकाररूपप्रयोजनसिद्ध्यर्थमनुष्ठीयते ; तथा वेदान्तान्तरोदितोऽपि तद्विद्यासम्बन्धित्वेन तदुपकाराविशेषादुपसंहर्तव्य इत्यर्थः । चशब्दोऽवधारणे ॥ ४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ॥ १ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अन्यथात्वाधिकरणम् ॥२॥)—

अन्यथात्वं शब्दादितिचेन्नाविशेषात् । ३ । ३ । ६॥

एवं चोदनाद्यविशेषाद्विद्यैकत्वम्, एकत्वे च गुणोपसंहारः कर्तव्य

१. छा. ८-१-१ ॥—२. छा. ८.१-२ ॥—३. तै. नारा. १०-२३ ॥

इत्युक्तम् ; अतः परं काश्चन विद्या अधिकृत्य प्रत्यभिज्ञाहेतुभूतचोदनाद्यविशेषोऽस्ति, नेति निरूप्य निर्णीयते। अस्त्युद्गीथविद्या वाजिनां छन्दोगानां च। वाजिनां तावत् १"द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च" इत्यारभ्य १"ते ह देवा ऊचुः हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययाम" इत्युद्गीथेनासुरविध्वंसनं प्रतिज्ञायोद्गीथे वागादिमनःपर्यन्तदृष्टौ असुरैरभिभवमुक्त्वा २"अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः" इत्यादिना उद्गीथे प्राणदृष्टया असुरपराभवमुक्त्वा २"भवत्यात्मना परास्य द्विपन् भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद" इति शत्रुपराजयफलायोद्गीथे प्राणदृष्टिर्विहिता। एवं छन्दोगानामपि ३"देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे" इत्यारभ्य ३"तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिहनिष्यामः" इत्युद्गीथेनासुरपराभवं प्रतिज्ञाय तद्धदेवोद्गीथे वागादिदृष्टौ दोषमभिधाय ४"अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे" इत्यादिना उद्गीथे प्राणदृष्टया असुरपराभवमुक्त्वा ४" यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसते एवं हैव स विध्वंसते य एवं विदि पापं कामयते" इति शत्रुपराभवाय उद्गीथे प्राणदृष्टिर्विहिता। वेदनविषयविधिप्रत्ययाश्रवणेऽपि फलसाधनत्वश्रवणाद्वेदनविषयो विधिः कल्प्यते। उद्गीथविद्यायाः क्रत्वर्थत्वेन क्रतुसाद्गुण्यफलत्वेऽप्यार्थवादिकमपि फलं तदविरुद्धं ग्राह्यमेवेति देवताधिकरणे प्रतिपादितम्। तत्र संशय्यते—किमत्र विद्यैक्यम्, उत नेति। किं युक्तम्? विद्यैक्यमिति। कुतः? उभयत्रोद्गीथस्यैवाध्यस्तप्राणभावस्योपास्यत्वश्रवणाचोदनाद्यविशेषात्। फलसंयोगस्तावच्छत्रुपरिभवरूपो न विशिष्यते। रूपमप्यध्यस्तप्राणभावोद्गीथाख्योपास्यैक्यादविशिष्टम्। चोदना च विदिधात्वर्थगताऽविशिष्टा। आख्या चोद्गीथविद्येत्यविशिष्टा। अत्र राद्धान्तिच्छायया परिचोद्य परिहरति—अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्—इति। यदुक्तं विद्यैक्यमिति, तन्नोपपद्यते, रूपभेदात्; रूपान्यथात्वं

१. बृ. १-३-१॥—२. बृ. १-३-७॥—३ छा. १-२-१॥—४. छा. १-२-७-८॥

हि शब्दादेव प्रतीयते ; वाजसनेयके हि १"अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्‌गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उद्‌गायत्" इत्युद्‌गानस्य कर्तरि प्राणदृष्ट्याऽसुरपराभवमुक्त्वा १"य एवं वेद" इति कर्तर्येव प्राणदृष्टिरेवंशब्दादवगम्यते । छान्दोग्ये २"अथ ह य एवायं मुख्यःप्राणस्तमुद्‌गीथमुपासाञ्चक्रिरे" इत्युद्‌गानस्य कर्मण्युद्‌गीथे प्राणदृष्ट्या असुरपराभवमुक्त्वा २"य एवंविदि पापं कामयते" इत्येवंशब्दात्कर्मण्येवोद्‌गीथे प्राणदृष्टिर्विहिता । अत एकत्र कर्तरि प्राणदृष्टिशब्दादन्यत्र कर्मणि प्राणदृष्टिशब्दाच्च रूपान्यथात्वं स्पष्टम् । रूपान्यथात्वे च विधेयभेदे सति केवल चोदनाद्यविशेषोऽकिञ्चित्कर इति विद्याभेद इतिचेत्–नन्न, अविशेषात्–अविशेषेण ह्युभयत्र उद्‌गीथसाधनकपरपरिभव उपक्रमे प्रतीयते ; वाजसनेयके ३"ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्‌गीथेनात्याम" इत्युपक्रमे श्रूयते; छान्दोग्येऽपि ४"तद्ध देवा उद्‌गीथमाजह्रुरनेनैनानभिहनिष्यामः" इति । अत उपक्रमाविरोधाय १"तेभ्य एष प्राण उद्‌गायत्" इत्यध्यस्तप्राणभाव उद्‌गीथ उद्‌गानकर्मभूत एव पाकादिष्वोदनादिवत्सौकर्यातिशयविवक्षया कर्तृत्वेनोच्यते; अन्यथोपक्रमगत उद्‌गीथशब्दः कर्तरि लाक्षणिकः स्यात् , अतो विद्यैक्यम् ॥ ६ ॥

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ।३।३।७॥

नवेति पक्षं व्यावर्तयति ; नचैतदस्ति, यद्विद्यैक्यमिति; कुतः ? प्रकरणभेदात् ५"ओमित्येतदक्षरमुद्‌गीथमुपासीत" इति प्रकृतमुद्‌गीथावयवभूतं प्रणवं प्रस्तुत्य ६"एतस्य वा अक्षरस्योपव्याख्यानं भवति" ७"देवासुरा हवै यत्र संयतिरे" इत्यारभ्य ८"अथ ह य एवायं मुख्यः प्राण-

१. बृ. ३-३-७ ॥ — २. छा. १-२-७, ८ ॥ --३. बृ. ३-३-१ ॥-- ४. छा. १-२-१--५. छा. १-१-१ ॥--६. छा. १-१-१०॥--७. छा. १-२-१॥ ८. छा. १-२-७ ॥

स्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे" इत्युद्गीथावयवभूतप्रणवविषयमुपासनं छन्दोगा अधीयते; वाजिनस्तु तादृशप्राचीनप्रकरणाभावात् १"हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययाम" इति कृत्स्नमुद्गीथं प्रस्तुत्य २"अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गाय" इत्यादिकृत्स्नोद्गीथविषयमधीयते; अतः प्रकरणभेदेन विधेयभेदः, विधेयभेदे च रूपभेद इति न विद्यैक्यम्; किञ्च ३"अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे" इति पूर्वप्रकृत उद्गीथावयवभूतः प्रणव एवाध्यस्तप्राणभावश्छन्दोगानामुपास्यः; वाजिनां तु कृत्स्नस्योद्गीथस्य कर्तोद्गाथा प्राणदृष्ट्योपास्य इति। २"अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायत्" इत्युद्गातरि प्राणाध्यासं निर्दिश्य २"य एवं वेद" इत्युद्गातैवाध्यस्तप्राणभाव उपास्यो विधीयते; अतश्च रूपभेदः। नचोद्गातयुपास्ये विहिते १"उद्गीथेनात्ययाम" इत्याख्यायिकापक्रमविरोधश्शङ्कनीयः, उद्गातुरुपासने उद्गीतस्योद्गानकर्मभूतस्यावश्यापेक्षितत्वात्तस्यापि परपरिभवाख्यं फलं प्रति हेतुत्वात्। अतो रूपभेदाद्विद्याभेद इति चोदनाद्यविशेषेऽपि न विद्यैक्यम्। परोवरीयस्त्वादिवत्—३यथैकस्यामपि शाखायामुद्गीथावयवभूते प्रणवे परमात्मदृष्टिविधानसाम्येऽपि हिरण्मयपुरुषदृष्टिविधानात् परोवरीयस्त्वादिगुणविशिष्टदृष्टिविधानमर्थान्तरभूतम् ॥ ७ ॥

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि । ३। ३। ८॥

उद्गीथविद्येति संज्ञैक्यात् तत्-विद्यैक्यमुक्तं चेत्—तत्-संज्ञैक्यं विधेयभेदेऽप्यस्त्येव; यथा अग्निहोत्रसंज्ञा नित्याग्निहोत्रे, कुण्डपायिनामयनाग्निहोत्रे च; यथा चोद्गीथविद्येति छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठकोदितासु बह्वीषु विद्यासु ॥ ८ ॥

व्याप्तेश्च समञ्जसम् । ३ । ३ । ९ ॥

१ बृ. ३-३-१ ॥—२. बृ. ३-३-७ ॥—३. यथैकस्यामेव, पा ॥

छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके उत्तरास्वपि विद्यासूद्गीथावयवस्य प्रणवस्य प्रथमप्रस्तुतस्योपास्यत्वेन व्याप्तेश्च तन्मध्यगतस्य १"तद्ध देवा उद्गीथमाजह्नुः"इत्युद्गीथशब्दस्य प्रणवविषयत्वमेव समञ्जसम्। अवयवे च समुदायशब्दः 'पटो दग्धः' इत्यादिषु दृश्यते। अतश्चोद्गीथावयवभूतः प्रणव एवोद्गीथशब्दनिर्दिष्ट इति स एव प्राणदृष्ट्योपास्यश्छान्दोग्ये प्रतिपत्तव्यः। वाजसनेयके तु कृत्स्नोद्गीथविषय उद्गीथशब्द इति कृत्स्नोद्गीथस्य कर्तोद्गाता प्राणदृष्ट्योपास्य इति विद्यानानात्वं सिद्धम् ॥ ६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अन्यथात्वाधिकरणम् ॥ २ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्वाभेदाधिकरणम् ॥ ३ ॥)

सर्वाभेदादन्यत्रेमे । ३ । ३ । १० ॥

छान्दोग्यवाजसनेयकयोः प्राणविद्या आम्नायते २"यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च" इत्यादि। तत्र ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यगुणकं प्राणमुपास्यं प्रतिपाद्य वाक्चक्षुश्श्रोत्रमनस्सु वसिष्ठत्वप्रतिष्ठात्वसम्पत्त्वायतनत्वाख्यान् गुणान् प्रतिपाद्य वागादीनां देहस्य च प्राणायत्तस्थितित्वेन तदायत्ततत्तत्कार्यत्वेन च प्राणस्य श्रैष्ठ्यं प्रतिपाद्य वागादिसम्बन्धितया श्रुतान्वसिष्ठत्वादीन् गुणांश्च प्राणसम्बन्धितया प्रतिपादयति। एवं छान्दोग्यवाजसनेयकयोर्ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यगुणको वसिष्ठत्वादिगुणकश्च प्राण उपास्यः प्रतिपाद्यते। कौषीतकिनां तु प्राणविद्यायां तथैव ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यगुणकः प्राण उपास्यः प्रतिपादितः; न पुनर्वसिष्ठत्वादयो वागादिसम्बन्धिनो गुणाः प्राणसम्बन्धितया प्रतिपादिताः। तत्र संशयः—किमत्र विद्या भिद्यते, उत नेति। किं युक्तम्? भिद्यत इति। कुतः? रूपभेदात्। यद्यप्युभयत्र प्राण एव ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यगुणक उपास्यः; तथाप्येकत्र वसिष्ठत्वादिभिरपि गुणैर्युक्तः प्राण उपास्यः प्रतीयते; इतरत्र तु तद्विधुर इत्युपास्य रूपभेदाद्विद्याभेदः—

१. छा. १-२-१ ।—२. छा. ५-१-१ ॥

(सिद्धान्तः)

इति प्राप्ते ब्रूमः--सर्वाभेदादन्यत्रेमे-नात्र विद्याभेदः, अन्यत्र कौपीतकिनां प्राणविद्यायामपि इमे--वसिष्ठत्वादयो गुणा उपास्यास्सन्ति; कुतः ? सर्वाभेदात्--प्रतिज्ञातप्राणज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्योपपादनप्रकारस्य सर्वस्य तत्राप्यभेदात्। तथाहि--छन्दोगवाजसनेयिनां प्राणविद्यायाम् १"एता ह वै देवता अहंश्रेयसे व्यूदिरे" २"अहंश्रेयसे विवदमानाः" इति चोपक्रम्य वागाद्येकैकापक्रमणे अन्येषां सप्राणानामिन्द्रियाणां शरीरस्य च स्थितिं तत्तत्कार्यं चाविकलं प्रतिपाद्य प्राणोत्क्रमणे सर्वेषां विशरणमकार्यकरत्वं चाभिधाय सर्वेषां प्राणाधीनस्थितित्वतदधीनकार्यत्वाभ्यां प्राणस्य ज्यैष्ठ्यमुपपादितम्। एवमुपपादितं वागादिकार्यस्य प्राणाधीनत्वम् ३"अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसि" इत्यादिना वागादिभिरनूद्यते। कौपीतकिनां प्राणविद्यायामपि प्राणज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यप्रतिपादनाय वागादिषु वसिष्ठत्वादयः प्रतिपादिताः। ४"अथ हेमा देवताः प्रजापतिं पितरमेत्याब्रुवन् को वै नः श्रेष्ठः" इत्यादिना वागादिगता गुणा वागादयश्च देहश्च प्राणाधीना इति प्राणस्य ज्यैष्ठ्यमुपपादितम्। वागादिभिः स्वस्वगुणानां वसिष्ठत्वादीनां प्राणाधीनत्वानुवादमात्रं तु न कृतम्। नैतावता रूपभेदः, वागादीनां वसिष्ठत्वादिगुणान्वितानां प्राणाधीनकार्यत्वोपपादनेनैव प्राणस्य वागादिवसिष्ठत्वादिगुणहेतुत्वस्य सिद्धत्वात्। तदेव हि प्राणस्य वसिष्ठत्वादिगुणयोगित्वम्; यद्वागादिवसिष्ठत्वादिहेतुत्वम्। अतोऽत्रापि वसिष्ठत्वादिगुणयोगात्प्राणो ज्येष्ठः प्रतिपन्न इति नास्ति विद्याभेदः ॥ १० ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्वाभेदाधिकरणम् ॥ ३ ॥

---

१. छा. ५-१-६ ॥--२. बृ. ८-१-७॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आनन्दाद्यधिकरणम् ॥ ४ ॥)

प्राणविद्याङ्गविषयमन्यदपि निरूपणमनन्तरमेव करिष्यते। यथा प्राणस्य वसिष्ठत्वाद्यनुसन्धानेन विना ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यानुसन्धानानुपपत्तेरनुक्तानामपि वसिष्ठत्वादीनां कौषीतकिप्राणविद्यायां प्राप्तिः; तथा ब्रह्मस्वरूपानुसन्धानं यैर्गुणैर्विना नोपपद्यते; ते ब्रह्मविद्यासु सर्वास्वप्यनुसन्धेया इत्ययमर्थः प्रतिपाद्यते—

आनन्दादयः प्रधानस्य । ३ । ३ । ११ ॥

अत्र ब्रह्मस्वरूपगुणानां सर्वासु परविद्यासूपसंहारोऽस्ति, नेति विचार्यते। अप्रकरणाधीतानामुपसंहारे प्रमाणाभावात्प्रकरणश्रुतानामेवोपसंहार इति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आनन्दादयः प्रधानस्य-अभेदादिति वर्तते; प्रधानस्य गुणिनो ब्रह्मणस्सर्वेषूपासनेष्वभेदात्, गुण्यपृथग्भावाद्गुणानां सर्वत्रानन्दादयस्तद्गुणा उपसंहर्तव्याः ॥ ११ ॥

एवं तर्हि गुण्यपृथग्भावादेवानन्दादिवत्प्रियशिरस्त्वादयोऽपि १"तस्य प्रियमेव शिरः" इत्यादौ ब्रह्मगुणत्वेन श्रुतास्सर्वत्र प्रसज्येरन्; नेत्याह—

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे । ३ । ३ । १२ ॥

ब्रह्मस्वरूपगुणानां प्राप्तावुच्यमानायां प्रियशिरस्त्वादीनामप्राप्तिः, तेषामब्रह्मगुणत्वात्; ब्रह्मणः पुरुषविधत्वरूपणमात्रान्तर्गतत्वात्प्रियशिरस्त्वादीनाम्। अन्यथा शिरःपक्षपुच्छाद्यवयवभेदे सति ब्रह्मणोऽप्युपचयापचयौ प्रसज्येयाताम्। तथा च सति २"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि विरुध्यते ॥ १२ ॥

१. तै. आ. ५-२ ॥—२. तै. आ. १. अनु. १ ॥

नन्वेवमेव ब्रह्मसम्बन्धिनामैश्वर्यगाम्भीर्यौदार्यकारुण्यादीनां गुणानामनन्तानां गुण्यपृथक्स्थितत्वमात्रेण तत्राश्रुतानामप्युपसंहारे सर्वे सर्वत्र प्रसज्येरन्, आनन्त्यादुपसंहाराशक्तिश्च; तत्राह—

इतरे त्वर्थसामान्यात् । ३ । ३ । १३ ॥

तुशब्दश्चोद्यं व्यावर्तयति; इतरेतु-आनन्दादयः अर्थसामान्यात्सर्वत्रानुवर्तन्ते । ये त्वर्थसमानाः—अर्थस्वरूपनिरूपणधर्मत्वेनार्थप्रतीत्यनुबन्धिनः; तेऽर्थस्वरूपवत्सर्वत्रानुवर्तन्ते । ते च गुणास्सत्यज्ञानानन्दामलत्वानन्तत्वानि । १ "यतो वा इमानि" इत्यादिना जगत्कारणतयोपलक्षितं ब्रह्म २ "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ३ "आनन्दो ब्रह्म" इत्यानन्दादिभिर्हि स्वरूपतो निरूप्यते । अत उपास्यब्रह्मस्वरूपावगमाय सर्वासु विद्यास्वानन्दादयोऽनुवर्तन्ते । ये तु निरूपितस्वरूपस्य ब्रह्मणः कारुण्यादयो गुणाः प्रतिपन्नाः; तेषां गुण्यपृथक्स्थितत्वेऽपि प्रतीत्यनुबन्धित्वाभावात्-ये यत्र श्रुताः, तेतत्रोपसंहार्याः-इति निरवद्यम् ॥ १३ ॥

यत्तूपचयापचयप्रसङ्गात्प्रियशिरस्त्वादयो ब्रह्मणः पुरुषविधत्वरूपणमात्रार्थाः; न तु ब्रह्मगुणाः । तर्हितथारूपस्य ब्रह्मणस्तथात्वेन रूपणं किमर्थं क्रियते; अतथाभूतस्य हि तथात्वरूपणे केनचित्प्रयोजनेन भवितव्यम् : यथा ४ "आत्मानं रथिनं विद्धि" इत्यादिनोपासकस्य तदुपकरणानां च रथिरथादित्वरूपणम् उपासनोपकरणभूतशरीरेन्द्रियादिवशीकरणार्थं क्रियत इत्युक्तम् । नचेह तथाविधं किञ्चित्प्रयोजनं दृश्यते । इति बलाद्ब्रह्मगुणत्वं प्रियशिरस्त्वादीनामभ्युपेत्यम् । तत्राह—

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् । ३ । ३ । १४ ॥

प्रयोजनान्तराभावादाध्यानायायं रूपणोपदेशः क्रियते । आध्यानम् अनुचिन्तनम्, उपासनमुच्यते । २ "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यत्रोपदिष्टाध्यानरूपवेदनसिद्धये आनन्दमयब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थमानन्दमयं

१. तै भृगु. १ अनु. ॥ २. तै. आ. १ अनु. १ ॥ ३. तै. भृगु. ६ अनु॥ ४. कठ. १-अ ३-३ ॥

ब्रह्म प्रियमोदादिरूपेण विभज्य शिरःपक्षादित्वेन रूपयित्वोपदिश्यते। यथाऽन्नमयः पुरुषः अयं देहः शिरःपक्षादिभिः १ "तस्येदमेव शिरः" इत्यादिना बुद्धावारोप्यते; यथा च प्राणमयमनोमयविज्ञानमयाः २ "तस्य प्राण एव शिरः" इत्यादिना प्राणाद्यवयवैर्बुद्धावारोप्यन्ते; एवमेभ्योऽर्थान्तरभूतस्तदन्तरात्मा आनन्दमयोऽपि प्रियमोदादिभिरेकदेशैः शिरःप्रभृतित्वेन रूपितैराध्यानाय बुद्धावारोप्यते। एवमानन्दमयोपलक्षणत्वात्प्रियशिरस्त्वादीनां न सर्वदा आनन्दमयप्रतीतावनुवर्तन्ते ॥ १४ ॥

आत्मशब्दाच्च । ३ । ३ । १५ ॥

३"अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः" इत्यात्मशब्देन निर्देशादात्मनश्च शिरःपक्षपुच्छासम्भवात्प्रियशिरस्त्वादयस्तस्य सुखप्रतिपत्त्यर्थं रूपणमात्रमिति गम्यते ॥ १५ ॥

ननु ४"अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः" ५ "अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः" इत्यात्मशब्दस्यनात्मस्वपि पूर्वं प्रयुक्तत्वात् २"अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः" इत्यात्मशब्दस्य परमात्मविषयत्वं कथं निश्चीयते ? तत्राह–

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् । ३ । ३ । १६ ॥

२"अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः" इत्यत्रात्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणम्; इतरवत्–यथेतरत्र ६"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् स ईक्षत लोकान्नु सृजै" इत्यादिष्वात्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणम्; तद्वत्। कुत एतत् ? उत्तरात्–७"सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" इत्यानन्दमयविषयादुत्तराद्वाक्यात् ॥ १६ ॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् । ३ । ३ । १७॥

पूर्वत्र प्राणमयादिष्वनात्मशब्दान्वयदर्शनान्नोत्तरान्निश्चेतुं शक्यत इति चेत्–स्यादवधारणात्–स्यादेव निश्चयः; कुतः ? अवधारणात्

१, तै. आ, १ अनु-१॥२, . तै. आ. २ अनु ३.॥ ३.तै. आन. ५-अनु. १॥–४.तै. आन. २-१ ॥ .५तै. आन. ३-१॥– ६. ऐतरेय. १-१-१॥– ७. तै.आन. ६-२॥–

पूर्वत्रापि १"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः" इति परमात्मन एव बुद्ध्याऽवधारितत्वात् अन्नमयादनन्तरे प्राणमये प्रथमं परमात्मबुद्धिरवतीर्णा; तदनन्तरं च प्राणमयादनन्तरे मनोमये; ततो विज्ञानमये, तत आनन्दमये प्रक्रान्ता परमात्मबुद्धिस्तदन्तराभावादुत्तराच्च २"सोऽकामयत" इति वाक्यात्प्रतिष्ठितेत्युपक्रमेऽप्यपरमात्मनि परमात्मबुद्ध्या आत्मशब्दान्वयः इति निरवद्यम् ॥ १७ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आनन्दाद्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कार्याख्यानाधिकरणम् ॥५॥)

कार्याख्यानादपूर्वम् । ३ । ३ । १८ ॥

पूर्वप्रस्तुतप्राणविद्याशेपभूतमिदानीं चिन्त्यते । छान्दोग्यवाजसनेयकयोः ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च प्राणमुपास्यमुक्त्वा प्राणस्य वासस्त्वेनापोऽभिधीयन्ते । छान्दोग्ये तावत् ३ "स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो भवति" इति ; वाजसनेयके 'किं मे वासः' इति प्राणेन पृष्टा वागादयः ऊचुः ४ "आपो वास इति तद्विद्वांसश्श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वा चाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते" ५ "तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते" इति । तत्र संशयः—किमत्राचमनं विधीयते, उतापां प्राणवासस्त्वानुसन्धानमिति । ५ 'अशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेत्" इत्याचमने विधिप्रत्ययश्रवणात्, 'एतमेव तदनमनग्नं कुरुते' इति वेदने वि-

---

१. तै. आन. १ अनु. २ ॥ २, तै. आन. ६ अनु,२ ॥ ३. छा. ५-२-२॥ ४. बृ. ८-१-१४ ॥ ५. ॥

विधिप्रत्ययाभावादनग्नतासङ्कीर्तनस्य स्तुत्यर्थतयाऽन्वयोपपत्तेश्च, भोजनाङ्गस्याचमनस्य स्मृत्याचारप्राप्तत्वेन विधिप्रत्ययबलात्प्राणविद्याङ्गमाचमनान्तरं विधीयते—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्ते ब्रूमः—आचमनीयानामपां प्राणस्य वासस्त्वानुसन्धानमेवेह—अपूर्वम्—अप्राप्तं विधीयते, कार्याख्यानात्—अप्राप्ताख्यानात्, अप्राप्ताख्याने शब्दस्यार्थवत्त्वादित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—१ "किं मे वासः" १"आपो वासः" २ "अद्भिः परिदधति" ३ "एतमेव तदनमनग्नं कुरुते" इत्युपक्रमोपसंहारयोर्वाक्यस्यापां प्राणवासोदृष्टिपरत्वप्रतीतेराचमनस्य स्मृत्याचारप्राप्तत्वादाचमनमनूद्याचमनीयास्वप्सु प्राणवासस्त्वानुसन्धानं विधीयते इति । अत एव च्छान्दोग्ये २" तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति" इत्यद्भिः परिधानमेवोक्तम्; नाचमनम् ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कार्याख्यानाधिकरणम् ॥ ५ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये समानाधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

समान एवं चाभेदात् । ३ । ३ । १९ ॥

वाजसनेयके अग्निरहस्ये शाण्डिल्यविद्याऽऽम्नाता १"सत्यं ब्रह्मेत्युपासीत अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषः" इत्यारभ्य ४ " स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपं सत्यसङ्कल्पमाकाशात्मानम्" इति । तथा तस्मिन्नेव बृहदारण्यके पुनरपि शाण्डिल्यविद्याऽऽम्नायते ५ 'मनोमयोऽयं पुरुषो भासत्यं तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्य

१.बृ. ८-१ १४ ॥—२. छा. ५-२-२ ॥—३. ॥—४. वाजसनेयके अग्निरहस्ये ॥ ५. बृ. ७-६-१ ॥

वशी सर्वस्येशानस्सर्वस्याधिपतिस्सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च" इति। तत्र संशयः-किमत्र विद्या भिद्यते, उत नेति। संयोगचोदनाख्यानाम-विशेषेऽपि वशित्वाद्युपास्यगुणभेदेन रूपभेदाद्विद्याभेदः—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—समान एवमिति। यथाऽग्निरहस्ये मनोमय-प्राणशरीरभारूपसत्यसङ्कल्पत्वगुणगणः श्रुतः; एवं बृहदारण्यकेऽपि मनो-मयत्वादिके समाने सत्यधिकस्य वशित्वादेश्च सत्यसङ्कल्पत्वगुणाभेदान्न रूपभेदः; अतो विद्यैक्यम् ॥ १९ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये समानाधिकरणम् ॥ ६ ॥

—:—:—

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सम्बन्धाधिकरणम् ॥ ७ ॥)—

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि । ३ । ३ । २० ॥

बृहदारण्यके श्रूयते-१"सत्यं ब्रह्म" इत्युपक्रम्य २"तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षिन्" इत्यु-पक्रम्य आदित्यमण्डलेऽक्षिणि च सत्यस्य ब्रह्मणो व्याहृतिशरीरत्वेनो-पास्यत्वमुक्त्वा ३ "तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतम्" ३"तस्योपनिषदहमि-त्यध्यात्मम्" इति द्वे उपनिषदौ-रहस्यनामनी उपासनशेषतयाऽम्नायेते; ते किं यथाश्रुतस्थानविशेषनियतत्वेन व्यवस्थिते, उतोभयत्रोभे अनियमेनेति संशये सत्यस्य व्याहृतिशरीरस्यैवोपास्यस्य ब्रह्मणो द्वयोः स्थान-योस्सम्बन्धादुपास्यैक्येन रूपाभेदात्संयोगाद्यभेदाच्च विद्यैक्यादनियमेने-ति प्राप्तम्। तदिदमुच्यते-सम्बन्धादेवमन्यत्रापीति। यथा मनोमय-त्वादिगुणविशिष्टस्यैकत्वादुपास्यैक्येन रूपाभेदाद्विद्यैक्याद्गुणोपसंहारः;

१. बृ. ७-४ २ ॥—२. बृ. ७-५-१ ॥—३. बृ. ७ ५-३ ॥

एवमन्यत्राक्ष्यादित्यसम्बन्धिनो ब्रह्मणस्सत्यस्यैकत्वेन विद्यैक्यादुभयो-रुभयत्रोपसंहारः ॥ २० ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

न वा विशेषात् । ३ । ३ । २१ ॥

न चैतदस्ति—यद्विद्यैक्यादुपसंहारः इति । कुतः ? विशेषात्—उपास्यरूपविशेषात् । ब्रह्मण एकत्वेऽप्येकत्रादित्यमण्डलस्थतया उपास्यत्वम्; इतरत्राक्ष्याधारतयोपास्यत्वमिति स्थानसम्बन्धित्वभेदेन रूपभेदाद्विद्याभेदः । नैवं शाण्डिल्यविद्यायाः उपास्यस्थानं भिद्यते, उभयत्र हृदयाधारत्वेनोपास्यत्वात् । अतो व्यवस्थित इति ॥ २१ ॥

दर्शयति च । ३ । ३ । २२ ॥

दर्शयति चाक्ष्याधारादित्याधारयोर्गुणानुपसंहारं १ "तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपम्" इत्यादिना रूपाद्यतिदेशेन । स्वतो ह्यप्राप्तावतिदेशेन प्राप्त्यपेक्षा ॥ २२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सम्बन्धाधिकरणम् । ७ ॥

—*—

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सम्भृत्यधिकरणम् ॥ ८ ॥)—

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः । ३ । ३ । २३ ॥

तैत्तिरीयके राणायनीयानां खिलेषु च २ "ब्रह्म ज्येष्ठा वीर्या सम्भृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान । ब्रह्म भूतानां प्रथमोऽत्त जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः" इति ब्रह्मणि ज्येष्ठानां वीर्याणां सम्भृतिः, द्युव्याप्तिश्चेत्यादिगुणजातमाम्नातम् । तेषामुपासनविशेषमनारभ्याधीतानां गुणानां सर्वासु विद्यासूपसंहारे प्राप्त उच्यते—

—(सिद्धान्तः)—

१. छा. १-७-५ ॥ २. ॥

सम्भृतिगुर्व्याप्त्यपि–इति । सम्भृतिगुर्व्याप्तीति समाहारद्वन्द्वत्वादेकवद्भावः । सम्भृत्यादिकमनारभ्याधीतमपि अत एव स्थानभेदाद्व्यवस्थाप्यम् ; न सर्वत्रोपसंहर्तव्यम् । कथमनारभ्याधीतानां स्थानविशेषनियतत्वम् ' स्वसामर्थ्यादिति ब्रूमः । गुर्व्याप्तिस्तावद्धृदयाद्यल्पस्थानगोचरासु विद्यासु नोपसंहर्तुं शक्या ; सम्भृत्यादयोऽपि तत्सहचारिणस्तत्तुल्यदेशा इत्यल्पस्थानविषयासु विद्यास्वनुपसंहार्याः । शाण्डिल्यदहरादिविद्यास्वल्पस्थानविषयासु १"ज्यायान् पृथिव्याः" २"यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः" इत्यादयस्तत्रतत्राशक्योपसंहाराः मनोमयत्वापहतपाप्मत्वादिविशिष्टस्योपास्यस्य माहात्म्यप्रतिपादनपराः ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सम्भृत्यधिकरणम् ॥ ८ ॥

—*—

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पुरुषविद्याधिकरणम् ॥ ९ ॥)

———

पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात् ।३।३।२४॥

तैत्तिरीयके पुरुषविद्याऽऽम्नायते ३ "तस्यैवंविदुषो यज्ञस्याऽऽत्मा यजमानश्श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिः" इत्यादिका । छान्दोग्येऽपि पुरुषविद्याऽऽम्नायते ४ 'पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि" इत्यादिका । तत्र संशयः-किमत्र विद्या भिद्यते, उत नेति । पुरुषविद्येति नामैक्यात्पुरुषावयवेषु यज्ञावयवकल्पनसाम्येन रूपैक्यात् तैत्तिरीयके फलसंयोगाश्रवणात् ५ " प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति" इति छान्दोग्ये श्रुतस्यैव पुरुषविद्याफलत्वात्फलसंयोगस्याप्यविशेषाद्विद्यैक्यम् ॥

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—उभयत्राम्नातयोर्विद्ययोः पुरुषविद्यात्वेऽपि विद्याभेदोऽस्त्येव; कुतः ? इतरेषामनाम्नानात्–एकस्यां शाखायामाम्नातानां गुणानामन्यत्रानाम्नानात् । तथा हि १ "यत्सायं प्रातर्मध्यन्दिनं च तानि सवनानि" इत्यादयस्तैत्तिरीयके आम्नाताः छान्दोग्ये सवन-

१. छा. ३-१४-३ ॥ २. छा. ८-१-३ ॥ ३ तै नारायण ८२-अनु ॥ ४. छा ३-१६-१ ॥ ५, छा ३-१६-७ ॥

त्वेन नाम्नायन्ते; त्रेधा विभक्तं पुरुषायुषं छान्दोग्ये सवनत्वेन कल्प्यते; छान्दोग्ये श्रुतानामशिशिपादीनां दीक्षादित्वकल्पनं तैत्तिरीयके न कृतम्; यजमानपत्न्यादिपरिकल्पनं चान्यथा। अतो रूपमुभयत्र भिद्यते। तथा फलसंयोगोऽपि भिद्यते; तैत्तिरीयके हि पूर्वानुवाके १ "ब्रह्मणे त्वामहस ओमित्यात्मानं युञ्जीत" इति ब्रह्मविद्यामभिधाय तत्फलत्वेन २ "ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति" इत्युक्त्वा ३'तस्यैवं विदुषः' इत्यादिना आम्नाता पुरुषविद्याऽस्यैव ब्रह्मविदुषो यज्ञत्वकल्पनमिति गम्यते॥

अतो ब्रह्मविद्याङ्गत्वाद्ब्रह्मप्राप्तिरेवात्र फलम्; ४'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्' इति न्यायात्तैत्तिरीयकाम्नाता पुरुषविद्या ब्रह्मविद्याङ्गमिति गम्यते। छान्दोग्ये त्वायुःप्राप्तिफला पुरुषविद्येत्युक्तम्। अतो रूपसंयोगयोर्भेदाद्विद्याभेद इत्येकत्राम्नातानां गुणानामितरत्रानुपसंहारः ॥२४॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पुरुषविद्याधिकरणम् ॥ ९ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वेधाद्यधिकरणम् ॥ १० ॥)

वेधाद्यर्थभेदात् । ३ । ३ । २५ ॥

आथर्वणिका उपनिषदारम्भे ४'शुक्रं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य' इत्यादीन्मन्त्रानधीयते; सामगाश्च रहस्यब्राह्मणारम्भे ५ 'देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव' इत्याद्यामनन्ति; काठकास्तैत्तिरीयकाश्च ६ 'शं नो मित्रश्शं वरुणः' इत्यादिकम्; शाट्यायनिनश्च ७ 'श्वेतोऽश्वो हरिनीलोऽसि' इत्यादिकम्; ऐतरेयिणस्तु महाव्रतब्राह्मणमधीयते ८'इन्द्रो ह वै वृत्रं हत्वा महानभवत्' इत्यादि; कौषीतकिनोऽपि महाव्रतब्राह्मणमेव ९'प्रजापतिर्वै

१. तै, नारायणं २१-अनु. ॥ २. तै. नारायणं. २२-अनु. ॥ ३. पूर्व मीमांसा न्यायः ॥ ४. ॥ ५. सामसु. २१५५ ब्राह्मणो ॥ ६. तै. शी. १-अनु. ॥ ७. ॥—८. ॥—९. ॥

संवत्सरस्तस्यैप आत्मा यन्महाव्रतम्' इति, वाजसनेयिनस्तु प्रवर्ग्यब्राह्मणं १ 'देवा ह्वै सत्रं निषेदुः' इत्यादि। तत्र संशयः–किमुपनिषदारम्भेष्वधीताः २ 'शुक्रं प्रविध्य' ३ 'शं नो मित्रः' इत्यादयो मन्त्राः प्रवर्ग्यादीनि च कर्माणि विद्याङ्गम्, उत नेति। किं युक्तम् ? विद्याङ्गमिति। कुतः ? सन्निधिसमाम्नानात् विद्याङ्गत्वप्रतीतेः। यद्यपि २'शुक्रं प्रविध्य' इत्यादीनां मन्त्राणां प्रवर्ग्यादेश्च कर्मणः श्रुतिलिङ्गवाक्यैर्बलवद्भिर्यथायथं कर्मसु विनियोगोऽवगम्यते, तथाऽपि ३ 'शं नो मित्रः' ४ 'सह नाववतु' इत्यादेर्मन्त्रस्यान्यत्र विनियोगाभावाद्विद्याधिकाराच्च विद्याङ्गत्वमवर्जनीयमिति सर्वासु विद्यासु इमे मन्त्राः उपसंहर्तव्याः—

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-वेधाद्यर्थभेदात् २'शुक्रं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य ३'ऋतं वदिष्यामि'४ सत्यं वदिष्यामि' ५ 'ऋतमवादिषं' सत्यमवादिषं ६ 'तेजस्विनाऽवधीतमस्तु मा विद्विषावहै' इत्यादिभिर्लिङ्गैरभिचाराध्ययनादिष्वेषां विनियोगावगमान्न विद्याङ्गत्वम्। एतदुक्तं भवति—यथा २'हृदयं प्रविध्य' इत्यादिमन्त्रसामर्थ्यात् २ 'शुक्रं प्रविध्य' इत्यादीनामभिचारादिशेपत्वमवगम्यते, एवमेव ३'ऋतं वदिष्यामि' ५'तेजस्विनावधीतमस्तु' इत्यादिमन्त्रसामर्थ्यादेव स्वाध्यायशेपत्वं ३ "शं नो मित्रः" इत्यादिमन्त्राणामवगम्यते; अतो न तेषां विद्याङ्गत्वम्" इति २ 'शुक्रं प्रविध्य" इत्यादीनां प्रवर्ग्यादिब्राह्मणानां चेह पाठो दिवाकीर्त्यत्वारण्येनुवाक्यत्वकृतः ॥ २५ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वेधाद्यधिकरणम् ॥ १० ॥

———

१. ॥—२. ॥—३. तै. शी. १ अनु. ॥ ४. तै, आन, १ अनु. ॥ ५, . शी. १२ अनु १ ॥ ६. तै, गु, १ अनु–१ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये हान्यधिकरणम् ॥ ११ ॥)

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्स्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् । ३ । ३ । २६ ॥

छन्दोगा आमनन्ति-१"अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य । धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवानि" इति; आथर्वणिकाश्च २ 'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इति; शाट्यायनिनस्तु ३'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदस्साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इत्यादि; कौषीतकिनस्तु ४ "तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयस्सुकृतमुपयन्ति अप्रिया दुष्कृतम्"इति। एवं क्वचित्पुण्यपापयोर्हानिः, क्वचित्प्रियाप्रियेषु तत्प्राप्तिः, क्वचिदुभयं च श्रुतम् । तदुभयमेकैकविद्यायां श्रुतमपि सर्वविद्याङ्गमास्थेयम् , सर्वब्रह्मविद्यानिष्ठस्यापि ब्रह्म प्राप्नुवतः पुण्यपापप्रहाणस्यावश्यंभावित्वात् प्रहीणविषयत्वाच्चोपायनस्य । तच्चिन्तनं च विधीयमानं सर्वविद्याङ्गं भवितुमर्हति । तत्रेदं विचार्यते-हानिचिन्तनमुपायनचिन्तनमुभयचिन्तनं च विकल्प्येरन् , उपसंह्रियेरन्वा । किं युक्तम् ? विकल्प्येरन्निति । कुतः ? पृथगाम्नानसामर्थ्यात् । समुच्चये हि सर्वत्रोभयानुसन्धानं स्यात् , तच्च कौषीतकीवाक्येनैव सिद्धमित्यन्यत्राम्नानमनर्थकमेव स्यात् । अतोऽनेकत्राम्नानस्य विकल्प एव प्रयोजनम् । नचाध्येतृभेदेन परिहर्तुं शक्यमनेकत्राम्नानम् , अविशेषपुनश्श्रवणं ह्यध्येतृभेदपरिहार्यम् , अत्र तु हानिरेव द्वयोः शाखयोः, उपायनमेव चैकस्याम् । न च विद्याभेदेन व्यवस्थापयितुं शक्यम् , सर्वशेषभूतदिदमनुसन्धानमित्युक्तत्वात् ॥

(सिद्धान्तः)

अत्रेदमुच्यते-हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्-इति । तु शब्दः पक्षं व्यावर्तयति, हानाविति प्रदर्शनार्थम्, केवलायां हानौ केवले चोपायने श्रु-

१, छा, ८-१३-१ ॥--२, मु, ३-१.३॥--३, ।--४,कौषी,१-अ.४ ।

यमाणे तयोरितरेतरसमुच्चयोऽवश्यंभावी; कुतः ? उपायनशब्दशेषत्वात्-उपायनशब्दस्य हानिवाक्यशेषत्वात् । उपायनवाक्यस्य हि हानिवाक्यशेषत्वेमेवोचितम्, विदुषा त्यक्तयोः पुण्यपापयोः प्रवेशस्थानवाचित्वादुपायनवाक्यस्य । प्रदेशान्तराम्नातस्य वाक्यस्य प्रदेशान्तराम्नातवाक्यशेषत्वे दृष्टान्ता उपन्यस्यन्ते—कुशाच्छन्दस्स्तुत्युपगानवदिति । कालापिनः १"कुशा वानस्पत्याः" इत्यामनन्ति; शाट्यायनिनां तु २"औदुम्बर्यः कुशाः" इति वाक्यं सामान्येन वानस्पत्यत्वेनावगताः कुशाः औदुम्बर्य इति विशिंपत्तद्वाक्यशेपतामापद्यते; तथा ३"देवासुराणां छन्दोभिः" इत्यादिना अविशेषेण देवासुराणां छन्दसां प्रसङ्गे ४"देवच्छन्दांसि पूर्वम्" इति वचनं क्रमविशेषं प्रतिपादयत्तद्वाक्यशेषतां गच्छति; तथा हिरण्येन षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति" इत्यविशेषेण प्राप्ते ६"समयाविषिते सूर्ये षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति" इति विशेषविषयं वाक्यं तद्वाक्यशेषतां भजते; तथा ७"ऋत्विज उपगायन्ति" इत्यविशेषप्राप्तस्य ८"नाध्वर्युरुपगायेत्" इति वाक्यमनध्वर्युविषयतामवगमयत्तद्वाक्यशेषत्वमृच्छति; एवं सामान्येनावगतमर्थं विशेषे व्यवस्थापयितुं चमस्य वाक्यस्य तच्छेषत्वमनभ्युपगच्छद्भिस्तयोरर्थयोर्विकल्पस्समाश्रयितव्यः; स च सम्भवन्त्यां गतौ न युज्यते; तदुक्तं पूर्वस्मिन् काण्डे ९"अपितु वाक्यशेषस्स्यादन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात्" इति । तदेवं केवलहानोपायनवाक्ययोरेकवाक्यत्वात्केवलस्य हानस्य, केवलस्य चोपायनस्याभावाद्विकल्पो नोपपद्यते । कौषीतकिनामुभयाम्नानमविशेषपुनश्श्रवणत्वेन प्रतिपत्तृभेदादविरुद्धम् ॥ २६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये हान्यधिकरणम् ॥ ११ ॥

———

१ ॥—२ ॥—३ ॥—४ ॥—५ ॥—६. ६-कां. ६-प्र. ११-अनु.।—७।—८.१-कां. ३-प्र. १-अनु, ६-पं ॥—९पूर्वमीमांसा सू. ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये साम्परायाधिकरणम् ॥ १२ ॥

साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ।३।३।२७॥

सुकृतदुष्कृतयोर्हानमुपायनं च सर्वासु विद्यासु चिन्तनीयमित्युक्तम्; तद्धानं किं देहवियोगकाले देहादुत्क्रान्तस्याध्वनि च, उत देहवियोगकाल एवेति विशये उभयत्रेति युक्तम्, उभयथा श्रुतत्वात्; एवं हि कोपीतकिनस्समामनन्ति १"स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकं गच्छति" इत्युपक्रम्य १"स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसाऽत्येति तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते" इति। अत्र वाक्ये अध्वनि सुकृतदुष्कृतहानिः प्रतीयते। ताण्डिनस्तु २"अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य । धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवानि" इति। अत्र तु देहवियोगकाल इति प्रतीयते; शाट्यायनकेऽपि ३"तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदस्साधुकृत्यां द्विपन्तः पापकृत्याम्" इति पुत्रेषु दायसंक्रान्तिसमकालं सुकृतदुष्कृतसंक्रमणं श्रूयमाणं देहवियोगकाल इति गम्यते। अतस्सुकृतदुष्कृतयोरेकदेशो देहवियोगकाले हीयते; शेपस्त्वध्वनि—

इति प्राप्त उच्यते—साम्पराये—इति। साम्पराये—देहादपक्रमणकाले एव विदुपस्सुकृतदुष्कृते निरवशेषे हीयेते। कुतः? तर्तव्याभावात्—विदुषो देहवियोगात्पश्चात्सुकृतदुष्कृताभ्यां तरितव्यभोगाभावात्। विद्याफलभूतब्रह्मप्राप्तिव्यतिरेकेण हि सुकृतदुष्कृताभ्यां भोक्तव्ये सुखदुःखे न विद्येते। तथा ह्यन्ये देहवियोगादूर्ध्वं ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तसुखदुःखोपभोगाभावमधीयते ४"अशरीरं वा व सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" ४"एप सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" ५"तस्यतावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इति ॥ २७ ॥

१. कौषी. १-३-४॥—२.॥—छा. ८-१-१३ ॥—३॥ ४. छा. ८-१२. १. २ ॥—५. छा. ६-१४-२ ॥

छन्दत उभयाविरोधात् । ३ । ३ । २८ ॥

एवमर्थस्वाभाव्यात्सुकृतदुष्कृतहानिकालेऽवधृते सत्युभयाविरोधेन—श्रुतेरर्थस्वभावस्य चाविरोधेन छन्दतः—यथेष्टं पदानामन्वयो वर्णनीयः। कौषीतकीवाक्ये [१]"तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते" इति चरमश्रुतोवाक्यावयवः [१]"एतं देवयानं पन्थानमापद्य" इति प्रथमश्रुतावयवात्प्रागनुगमयितव्य इत्यर्थः ॥ २८ ॥

अत्र पूर्वपक्षी प्रत्यवतिष्ठते—

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोध ।३।३।२९।

सुकृतदुष्कृतयोरेकदेशस्य देहवियोगकाले हानिः, शेषस्य च पश्चादिति उभयथा कर्मक्षये सत्येव गतेरर्थवत्त्वम्—देवयानगतिश्रुतेरर्थवत्त्वमित्यर्थः। अन्यथा हि विरोधः—देहवियोगकाल एव सर्वकर्मक्षयेसूक्ष्मशरीरस्यापि विनाशस्स्यात्; तथा सति केवलस्यात्मनो गमनं नोपपद्यते। अत उत्क्रान्तिसमये विदुषो निश्शेषकर्मक्षयो नोपपन्नः ॥ २९ ॥

अत्रोत्तरम्—

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ।३।३।३०॥

उपपन्न एवोत्क्रान्तिकाले सर्वकर्मक्षयः; कथम् ? तल्लक्षणार्थोपलब्धेः-क्षीणकर्मणोऽप्याविर्भूतस्वरूपस्य देहसम्बन्धलक्षणार्थोपलब्धेः। [२]"परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" [२]"स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाणः" [३]"स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" [४]"स एकधा भवति त्रिधा भवति" इत्यादिषु देह सम्बन्धाख्योऽर्थो ह्युपलभ्यते। अतः क्षीण कर्मणोऽपि सूक्ष्मशरीरयुक्तस्य देवयानेन गमनमुपपद्यते। कथं सूक्ष्मशरीरमप्यारम्भककर्मविनाशेऽवतिष्ठत इति चेत्—विद्यामाहात्म्यादिति ब्रूमः। विद्या हि स्वयं सूक्ष्म

१. कौषी. १-अ. ४, ३ ॥—२. छा, ८-१२-२-३ ॥—३. छा. ७-२५-२ ॥—४. छा. ७-२६-२ ॥

शरीरस्यानारम्भिकापि प्राकृतसुखदुःखोपभोगसाधनस्थूलशरीरस्य सर्वकर्मणां च निरवशेषक्षयेऽपि स्वफलभूतब्रह्मप्राप्तिप्रदानाय देवयानेन पथैनं गमयितुं सूक्ष्मशरीरं स्थापयति; लोकवत्—यथा लोके सस्यादिसमृद्ध्यर्थमारब्धे तटाकादिके तद्धेतुषु तदिच्छादिषु विनष्टेष्वपि तदेव तटाकादिकमशिथिलं कुर्वन्तस्तत्र पानीयपानादि कुर्वन्ति; तद्वत् ॥३०॥

अथ स्यात्—ज्ञानिनां साक्षात्कृतपरतत्त्वानां देहपातसमये कर्मणो निरवशेषक्षयाद्देहपातादूर्ध्वं सूक्ष्मशरीरमात्रं गत्यर्थमनुवर्तते, सुखदुःखानुभवो न विद्यत—इति यदुक्तम्; तन्नोपपद्यते; वसिष्ठावान्तरतपःप्रभृतीनां साक्षात्कृतपरतत्त्वानां देहपातादूर्ध्वं देहान्तरसङ्गमः, पुत्रजन्मविपत्त्यादिनिमित्तसुखदुःखानुभवश्च दृश्यते—इति। अत उत्तरं पठति—

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्। ३। ३। ३१॥

नास्माभिस्सर्वेषां ज्ञानिनां देहपातसमये सुकृतदुष्कृतयोर्विनाश उक्तः; अपितु येषां ज्ञानिनां देहपातानन्तरमर्चिरादिका गतिः प्राप्ता, तेषां देहपातसमये सुकृतदुष्कृतहानिरुक्ता। वसिष्ठादीनां त्वाधिकारिकाणां न देहपातानन्तरमर्चिरादिगतिप्राप्तिः, प्रारब्धस्याधिकारस्यासमाप्तत्वात्। तेषां कर्मविशेषेणाधिकारविशेषं प्राप्तानां यावदधिकारसमाप्ति तदारम्भकं कर्म न क्षीयते। प्रारब्धस्य हि कर्मणो भोगादेव क्षयः। अत आधिकारिकाणां तदारम्भकं कर्म यावदधिकारमवतिष्ठते। अतस्तेषां न देहपातादनन्तरमर्चिरादिगतिप्राप्तिः ॥ ३१ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये साम्परायाधिकरणम् ॥ १२ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अनियमाधिकरणम् ॥ १३ ॥)

अनियमस्सर्वेषामविरोधश्शब्दानुमानाभ्याम् । ३ । ३ । ३२ ॥

उपकोसलादिषु येषूपासनेष्वर्चिरादिगतिः श्रूयते; किं तन्निष्ठानामेव तया ब्रह्मप्राप्तिः, उत सर्वेषां ब्रह्मोपासननिष्ठानामिति संशये। इतरेष्वनाम्नानात्, १ "ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते" २ "श्रद्धां सत्यमुपासते" इतीतरसकलब्रह्मविद्योपस्थापकत्वे प्रमाणाभावाच्च तन्निष्ठानामेव—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्तेऽभिधीयते—अनियमः—इति । सर्वेषां—सर्वोपासननिष्ठानां तयैव गन्तव्यत्वात् तन्निष्ठानामेवेति नियमो नास्ति । सर्वेषां तयैव गमने हि सति शब्दानुमानाभ्यां—श्रुतिस्मृतिभ्यामविरोधः, अन्यथा विरोध एवेत्यर्थः। श्रुतिस्तावत् छान्दोग्यवाजसनेयकयोः पञ्चाग्निविद्यायामर्चिरादिमार्गेण सर्वब्रह्मोपासननिष्ठानां गमनमाह २ "य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" इति वाजसनेयके; ३ "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" इति छान्दोग्ये; "य इत्थं विदुः" इति पञ्चाग्निविद्यानिष्ठान् "ये चेमे" इत्यादिना श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मोपासीनांश्चोद्दिश्यार्चिरादिका गतिरुपदिश्यते. ४"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ५"सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्" इति सत्यशब्दस्य ब्रह्मणिप्रसिद्धेः। तपश्शब्दस्यापि तेनैकार्थ्यात्सत्यतपश्शब्दाभ्यां ब्रह्मैवाभिधीयते । "श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मोपा-

१. छा. ५-१०-१ ॥—२. बृ. ८-२-१५ ॥—३. छा. ५-१०-१ ॥
४. तै. आन. १ अनु. ॥—५. छा ७-१७ खं. ॥

सनं चान्यत्र श्रुतं १ "सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्" इत्युपक्रम्य २"श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्या" इति । स्मृतिरपि ३ "अग्निर्ज्योतिरहश्शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः" इति सर्वेषां ब्रह्मविदामनेनैव मार्गेण गमनमित्याह । एवंजातीयकाः श्रुतिस्मृतयो बह्व्यस्सन्ति । एवं सर्वविद्यासाधारणी इयं गतिः प्राप्तैवोपकोसलविद्यादावनूद्यते ॥ ३२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अनियमाधिकरणम् ॥ १५ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अक्षरध्यधिकरणम् ॥१४॥)—

अक्षरधियां त्ववरोधस्सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् । ३ । ३ । ३३ ॥

बृहदारण्यके श्रूयते ४ "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणमसुखममात्रमनंतरमबाह्यं न तदश्नाति किंच न एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इति । तथा आथर्वणे ५"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुश्श्रोत्रं तदपाणिपादम्" इति। तत्र संशयः-किमिमे अक्षरशब्दनिर्दिष्टब्रह्मसम्बन्धितया श्रुताः अस्थूलत्वादयः प्रपञ्चप्रत्यनीकतास्वरूपास्सर्वासु ब्रह्मविद्यास्वनुसन्धेयाः, उत यत्र श्रूयन्ते तत्रैव-इति । किं युक्तम्? यत्र श्रुतास्तत्रैवेति । कुतः? विद्यान्तरस्य रूपभूतानां गुणानां विद्यान्तरस्य रूपत्वे प्रमाणाभावात् . प्रतिषेधरूपाणामेषामानन्दादिवत्स्वरूपावगमोपायत्वाभावाच्च । आनन्दादिभिर-

१. छा. ७-१७-खं. ॥—२. छा. १६ खं. ॥—३. गी. ८-२४ ॥
४. बृ. ५-८-८ ॥—५. मु. १-१-५ ॥

वगतस्वरूपे हि ब्रह्मणि स्थूलत्वादयः प्रपञ्चधर्माः प्रतिषिध्यन्ते, निरालम्बनप्रतिषेधायोगात् ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—अक्षरधियां त्ववरोधः—इति । अक्षरब्रह्मसम्बन्धिनामस्थूलत्वादिधियां सर्वब्रह्मविद्यास्ववरोधः—संग्रहणमित्यर्थः । कुतः? सामान्यतद्भावाभ्यां—सर्वेपूपासनेपूपास्यस्याक्षरस्य ब्रह्मणः समानत्वादस्थूलत्वादीनां तत्स्वरूपप्रतीतौ भावाच्च । एतदुक्तं भवति—असाधारणाकारेण ग्रहणं हि वस्तुनो ग्रहणम् । नच केवलमानन्दादि ब्रह्मणोऽसाधारणमाकारमुपस्थापयति, प्रत्यगात्मन्यप्यानन्दादेर्विद्यमानत्वात् । हेयप्रत्यनीको ह्यानन्दादिर्ब्रह्मणोऽसाधारणं रूपम् । प्रत्यगात्मनस्तु स्वतो हेयविरहिणोऽपि हेयसम्बन्धयोग्यताऽस्ति; हेयप्रत्यनीकत्वं च चिदचिदात्मकप्रपञ्चधर्मभूतस्थूलत्वादिविपरीतरूपम् । अतोऽसाधारणाकारेण ब्रह्मानुसन्दधताऽस्थूलत्वादिविशेषितज्ञानानन्दाद्याकारं ब्रह्मानुसन्धेयमिति अस्थूलत्वादीनामानन्दादिवद्ब्रह्मस्वरूपप्रतीत्यन्तर्भावात्सर्वासु ब्रह्मविद्यासु तथैव ब्रह्मानुसन्धेयमिति । गुणानां प्रधानानुवर्तित्वे दृष्टान्तमाह—औपसदवत्—इति । यथा जामदग्न्यचतूरात्रपुरोडाश्युपसद्गुणभूतः सामवेदपठितः १ "अग्निर्वै होत्रं वेतु" इत्यादिको मन्त्रः प्रधानानुवर्तितया याजुर्वैदिकेनोपांशुत्वेन प्रयुज्यते । तदुक्तं प्रथमे काण्डे २"गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः" इति ॥ ३३ ॥

नन्वेवं सर्वासु ब्रह्मविद्यासु ब्रह्मण एव गुणित्वाद्गुणानां च प्रधानानुवर्तित्वात् ३"सर्वकर्मा सर्वगन्धस्सर्वरसः" इत्यादेर्गुणजातस्यप्रतिविद्यं व्यवस्थितस्याप्यव्यवस्था स्यात्; तत्राह—

इयदामननात् ३ । ३ । ३४ ॥

आमननम्—आभिमुख्येन मननम्—अनुचिन्तनम् । आमननाद्धे-

१ ॥ २. पूर्वमीमांसा ॥ ३. छा. ३-१४-२ ॥

तोरियदेव गुणजातं सर्वत्रानुसन्धेयत्वेन प्राप्तम्; यदस्थूलत्वादिविशेषितमानन्दादिकम्। येन गुणजातेन विना ब्रह्मस्वरूपस्येतरव्यावृत्तस्यानुसन्धानं न सम्भवति, तदेव सर्वत्रानुवर्तनीयम्; तच्चेयदेवेत्यर्थः। इतरे तु सर्वकर्मत्वादयः प्रधानानुवर्तिनोऽपि चिन्तनीयत्वेन प्रतिविद्यं व्यवस्थिताः ॥ ३४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अक्षरध्यधिकरणम् ॥ १४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अन्तरत्वाधिकरणम् ॥ १५ ॥)

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् । ३ । ३ । ३५ ॥

बृहदारण्यके उषस्तप्रश्न एवमाम्नायते १"यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः तन्मे व्याचक्ष्व' इति। तस्य प्रतिवचनं १"यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आत्मा" इत्यादि। अतुष्टेन तेन पुनः पृष्ट आह २"न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेश्श्रोतारं शृणुयाः न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीया एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तम्" इति। तथा तदनन्तरं कहोलप्रश्ने चैवमाम्नायेत ३ 'यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः तन्मे व्याचक्ष्व" इति। प्रतिवचनं च ३"योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति एवं द्वैतमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च" इत्यादि "अतोऽन्यदार्तम्" इत्यन्तम्। तत्र संशय्यते-किमनयोर्विद्याभेदोऽस्ति, नेति। किं युक्तम्? भेद इति; कुतः? रूपभेदात्। प्रतिवचनभेदाद्रूपं भिद्यते। प्रश्नस्यैकरूप्येऽपि प्रतिवचनप्रकारो हि भेदेनोपलभ्यते। पूर्वत्र प्राणनादीनां कर्ता सर्वान्तरात्मत्वेनोच्यते;

१. बृ. ५-४-१ ॥--२. बृ. ५-४-२ ॥--३. बृ ५-५-१ ॥--

परत्राशनायापिपासादिरहितः। अतः पूर्वत्र प्राणिता देहेन्द्रियबुद्धिमनःप्राणव्यतिरिक्तः प्रत्यगात्मोच्यते; परत्र तु तदतिरिक्तोऽशनायापिपासादिरहितः परमात्मा। अतो रूपं भिद्यते। भूतग्रामवतश्च प्रत्यगात्मनस्तस्य भूतग्रामस्य [1]सर्वस्यान्तरत्वेन सर्वान्तरत्वमप्युपपन्नम्। यद्यपि प्रत्यगात्मनः सर्वान्तरत्वं भूतग्राममात्रापेक्षत्वेनापेक्षिकम् तथापि तदेव ग्राह्यम्, अन्यथा मुख्यान्तरात्मपरिग्रहलोभात्परमात्मस्वीकारे प्रतिवचनभेदो नोपपद्यते। प्रतिवचनं हि पूर्वत्र प्रत्यगात्मविषयम्, परमात्मनः प्राणितृत्वापानितृत्वाद्यसम्भवात्। परं च परमात्मविषयम्, अशनायापिपासाद्यतीतत्वात्। तदिदमाशङ्कते—अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरितिचेत्—इति। अन्तरा—सर्वान्तरत्वेन प्रथमप्रतिवचनं भूतग्रामवत्स्वात्मनः—भूतग्रामवान्-तदन्तरः स्वात्मा—प्रत्यगात्मा सर्वान्तर इत्युच्यत इत्यर्थः। अन्यथा [2]"यः प्राणेन प्राणिति" 'योऽशनायापिपासाद्यतीतः'—इति प्रतिवचनभेदानुपपत्तिरिति चेत्—

—(सिद्धान्तः)—

अत्रोत्तरं—नेति। न विद्याभेद इत्यर्थः। उभयत्र परविषयत्वात्प्रश्नप्रतिवचनयोः। तथाहि—[2]"यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः" इति प्रश्नस्तावत्परमात्मविषय एव, ब्रह्मशब्दस्य परमात्मासाधारणत्वेऽपि प्रत्यगात्मन्यपि कदाचिदुपचरितप्रयोगदर्शनाच्छ्यावृत्त्या परमात्मप्रतिपत्त्यर्थं [2]"यत्साक्षाद्ब्रह्म" इति विशेषणं क्रियते। अपरोक्षत्वमपि सर्वदेशसर्वकालसम्बन्धित्वं [3]"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यनन्तत्वेनावगतस्य परमात्मन एवोपपद्यते। सर्वान्तरत्वमपि [4]"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः" इत्यारभ्य [5]"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः" इति सर्वान्तर्यामिणः परमात्मन एव सम्भवति। प्रतिवचनमपि तथैव परमात्मविषयम्। [2]"यः प्राणेन, प्राणिति" इति

१. सर्वस्यान्तरात्मत्वेन सर्वान्तरत्व. पा. २. बृ. ५-४-१ ॥—३. तै. आन. १-१- ॥—४. बृ. ५-७-३ ॥—५. बृ. ५-७-२२. मा. पा ॥

निरुपाधिकं प्राणनस्य कर्तृत्वं परमात्मन एव, प्रत्यगात्मनस्सुषुप्तौ प्राणनम्प्रति कर्तृत्वाभावात्। एवमजानतोपस्तेन प्राणने कर्तृत्वमात्रमुक्तं मन्वानेन प्रत्यगात्मनोऽपि साधारणत्वं प्रतिवचनस्य मत्वा अतुष्टेन पुनः पृष्टस्तं प्रति प्रत्यगात्मनो व्यावृत्तं निरुपाधिकत्वेन प्राणनस्य कर्तारं परमात्मानमाह = १" न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः " इत्यादिना। इन्द्रियाधीनानां दर्शनश्रवणमननविज्ञानानां कर्तारं प्रत्यगात्मानं प्राणनस्य कर्तृत्वेनोक्त इति न मन्वीथाः ; तस्य सुषुप्तिमूर्च्छादौ प्राणनादेरकर्तृत्वात्। २"को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" इति सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वं हि परमात्मन एवान्यत्र श्रुतम्। अतः पूर्वप्रश्नप्रतिवचने परमात्मविषये। एवमुत्तरे अपि, अशनायाद्यतीतत्वस्य परमात्मासाधारणत्वात्। उभयत्र १" अतोऽन्यदार्तम् " इत्युपसंहारश्चैकरूपः। प्रश्नप्रतिवचनावृत्तिस्तु कृत्स्नप्राणिप्राणनहेतोः परस्य ब्रह्मणोऽशनायाद्यतीतत्वप्रतिपादनाय। तत्र दृष्टान्तमाह-उपदेशवदिति। यथा सद्विद्यायाम् ३"उत तमादेशमप्राक्ष्यः " इति प्रकान्ते सदुपदेशे ४"भगवांस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति" ५"भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु" इति प्रश्नस्य ६"एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्" इति प्रतिवचनस्य च भूयोभूय आवृत्तिस्सतो ब्रह्मणस्तत्तन्माहात्म्यविशेषप्रतिपादनाय दृश्यते ; तद्वत्। अत एकस्यैव सर्वान्तरभूतस्य ब्रह्मणः कृत्स्नप्राणिप्राणनहेतुत्वाशनायाद्यतीतत्वप्रतिपादनेन रूपैक्याद्विद्यैक्यम् ॥ ३५ ॥

अथ स्यात्-यद्यप्युभे प्रश्नप्रतिवचने परब्रह्मविषये ; तथापि विद्याभेदोऽवर्जनीयः, एकत्र सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वेनोपास्यम्, इतरत्राशनायाद्यतीतत्वेनेत्युपास्यगुणभेदेन रूपभेदात्, प्रष्टृभेदाच्च, पूर्वत्र उषस्तः प्रष्टा ; उत्तरत्र कहोलः-इति ; तत्राह-

व्यतिहारो विंशिषन्ति हीतरवत् । ३ । ३ । ३६ ॥

१. बृ. ५-४-२; ५ ५-१ ॥—२. तै. आन. ७-१ ॥--३. छा. ६-१-३ ॥
४ छा. ६-१-७ ॥—५. छा. ६-५-४ ॥--६. छा. ६-८-४ ॥

नात्र विद्याभेदः, प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामेकरूपार्थविषयाभ्यामेकेन च विधिपदेनैकवाक्यत्वप्रतीतेः। प्रश्नद्वयं तावत्सर्वान्तरात्मत्वविशिष्टब्रह्मविषयम्। द्वितीये प्रश्ने १"यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः" इत्येवकारश्च पूर्वत्रोषस्तेन पृष्टगुणविशिष्टब्रह्मविषयत्वं कहोलप्रश्नस्यावधारयति। प्रतिवचनं चोभयत्र २"स त आत्मा सर्वान्तरः" इति सर्वान्तरात्मत्वविशिष्टब्रह्मविषयमेकरूपमेव। विधिप्रत्ययश्चोत्तरत्रैव दृश्यते १"तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्" इति। एवं सर्वान्तरात्मत्वविशिष्टब्रह्मैकविषयत्वे द्वयोरवगते सत्येकस्मिन्नेव सर्वान्तरात्मत्वविशिष्टे ब्रह्मण्युपास्ये उषस्तकहोलयोरितरेतरबुद्धिव्यतिहारः कर्तव्यः। उषस्तस्य या सर्वान्तरात्मनो ब्रह्मणस्सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वविषया बुद्धिः; सा कहोलेनापि प्रष्ट्रा कार्या; या च कहोलस्य तस्यैव ब्रह्मणोऽशनायाद्यतीतत्वविषया बुद्धिः, सा उषस्तेनापि कार्या। एवं व्यतिहारे कृते उभाभ्यां सर्वान्तरस्य ब्रह्मणो जीवव्यावृत्तिरवगता भवति। एवं सर्वान्तरात्मानं प्रत्यगात्मनो व्यावृत्तमवगमयितुं सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वाशनायाद्यतीतत्वप्रतिपादनेन विशिंषन्ति हि याज्ञवल्क्यस्य प्रतिवचनानि। अतो ब्रह्मणस्सर्वान्तरात्मत्वमेवोपास्यगुणः। प्राणनहेतुत्वादयस्तु तस्योपपादकाः; नोपास्याः। ननूपास्यगुणः सर्वान्तरात्मत्वमेव चेत्-प्राणनहेतुत्वस्य अशनायाद्यतीतत्वस्य च प्रष्ट्रोः व्यतिहृत्यानुसन्धानं किमर्थम्?; तदुच्यते सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वेन सर्वान्तरात्मनि जीवाद्व्यावृत्ते ब्रह्मण्युषस्तेनावगते सति कहोलेन जीवस्य सर्वात्मना असम्भावितेन स्वभावविशेषेण सर्वान्तरात्मा व्यावृत्तोऽनुसन्धेय इति कृत्वा पुनः प्रश्नः कृतः। याज्ञवल्क्योपि तदभिप्रायमभिज्ञाय प्रत्यगात्मनोऽसम्भावितमशनायादिप्रत्यनीकत्वमुक्तवान्। अतश्चोपास्यस्य व्यावृत्तिप्रतीतिसिद्ध्यर्थमुभाभ्यां परस्परबुद्धिव्यतिहारः कर्तव्यः। इतरवत्-यथेतरत्र सद्विद्यायां भूयोभूयः प्रश्नैः

---

१. बृ. ५-५-१ ॥—२. बृ. ५-४-१ ॥

प्रतिवचनैश्च तदेव सद्ब्रह्म व्यवच्छिद्यते; न पुनः पूर्वप्रतिपन्नाद्गुणाद्गुणान्तरविशिष्टतयोपास्यं प्रतिपाद्यते; तद्वत् ॥ ३६ ॥

तत्रापि प्रश्नप्रतिवचनभेदे सति कथमैक्यमवगम्यत इति चेत्–तत्राह–

सैव हि सत्यादयः । ३ । ३ । ३७ ॥

सैव हि—सच्छब्दाभिहिता परमकारणभूता परा देवतैव १"सेयं देवतैक्षत" २"तेजः परस्यां देवतायाम्" इति प्रकृता ३"यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति" इत्यादिषु पर्यायेषु सर्वेषूपपाद्यते। यतः ४"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा" इति प्रथमपर्यायोदितास्सत्यादयस्सर्वेषु पर्यायेषूपपाद्योपसंह्रियन्ते ॥

केचित्तु–'व्यतिहारो विंशिषन्ति हीतरवत्' 'सैवहिसत्यादयः' इति सूत्रद्वयमधिकरणद्वयं वर्णयन्ति। तत्र पूर्वेण ५"त्वं वाऽहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्" इति वाक्ये जीवपरयोर्व्यतिहारानुसन्धानं प्रतिपाद्यत इत्युच्यत इत्याहुः; तत् ६"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" ७"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" ८"तत्त्वमसि" इत्यवगतसर्वात्मभावविषयत्वादस्य वाक्यस्य नात्र प्रतिपादनीयमपूर्वमस्तीत्यनादरणीयम्। तत्तु वक्ष्यते–"आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" इति। नच सर्वात्मत्वानुसन्धानातिरेकेण परस्मिन् ब्रह्मणि जीवत्वानुसन्धानम्, जीवे च परब्रह्मत्वानुसन्धानं, तथ्यं सम्भवति। उत्तरेण च सूत्रेण ९"स यो हवै तन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्म" इत्यादिवाक्यप्रतिपादितस्य सत्योपासनस्य १०"तद्यत्सत्यमसौ स

१. छा. ६-३-२ ॥—२. छा. ६-८-६ ॥—३. छा. ६-६-१ ।—४. छा. ६-८-७ ॥—५. ॥—६. छा. ३-१४-१ ॥—७. छा. ६-१६-३ ॥—८. शारी. ४-१-३ ॥—९. बृ. ५-४-१ ॥—१०. बृ. ५-५-१ ॥

आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षिन्" इत्यादिवाक्यप्रतिपादितोपासनस्य चैक्यं प्रतिपाद्यत इति; तदप्ययुक्तम्, उत्तरवाक्ये अद्त्यादित्यस्थानभेदेन विद्याभेदस्य पूर्वमेव १ "न वा विशेषात्" इत्यनेन प्रतिपादितत्वात्। नच द्वयोरनयोर्व्याहृत्यादिशरीरकत्वेन रूपवतोः २ "हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद" इति पृथक्संयोगचोदनावतोर्द्वयोरुपासनयोः ३ "स यो हवै तन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमान् लोकान्" इति संयोगरूपादिमत्तया निरपेक्षेण पूर्वेणैकेनोपासनेनाभेदस्सम्भवति। नच २ "हन्ति पाप्मानं जहाति" इति गुणफलाधिकारत्वम्, प्रमाणाभावात्। पूर्वेणैकविद्यात्वं प्रमाणमिति चेत्—न, इतरेतराश्रयत्वात्। एकविद्यात्वे निश्चिते पूर्वफलस्यैव प्रधानफलत्वेनोत्तरयोः फलयोर्गुणफलत्वम्, तयोर्गुणफलत्वे निश्चिते सति संयोगभेदाभावात्पूर्वेण विद्यैक्यमितीतरेतराश्रयत्वमित्येवमादिभिर्यथोक्तप्रकारमेव सूत्रद्वयम्॥ ३७॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अन्तरत्वाधिकरणम्॥ १५॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कामाद्यधिकरणम्॥ १६॥)—

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः। ३। ३। ३८॥

छान्दोग्ये श्रूयते ४"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" इत्यादिः; वाजसनेयके च ५ "स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" इत्यादि। तत्र संशयः—किमनयोर्विद्याभेदः, उत नेति। किं युक्तम्? भेद इति कुतः? रूपभेदात्; अपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकविशिष्ट आकाशः छान्दोग्ये उपास्यः

१. शारी. ३-३-२१॥—२. बृ. ७ ५-२॥—३. बृ. ७-४-१॥
४. छा. ८-१-१॥—५. बृ. ६-:-२२॥

प्रतीयते;वाजसनेयके त्वाकाशे शयानो वशित्वादिगुणशिष्ट उपास्यः प्रतीयते; अतो रूपभेदाद्विद्याभेदः—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—न भेद इति। कुतः? रूपाभेदात्—इतरत्र तत्र च कामाद्येव हि रूपं—वाजसनेयके छान्दोग्ये च सत्यकामादिविशिष्टमेव ब्रह्मोपास्यमित्यर्थः। कुत एतदवगम्यते? आयतनादिभ्यः—हृदयायतनत्वसेतुत्वविधरणत्वादिभिस्तावदुभयत्र सैव विद्येति प्रत्यभिज्ञायते; वशित्वादयश्च वाजसनेयके श्रुताः छान्दोग्येश्रुतस्य गुणाष्टकान्यतमभूतस्य सत्यसङ्कल्पत्वस्य विशेषा एवेति सत्यसङ्कल्पत्वसहचारिणां सत्यकामत्वादीनामपहतपाप्मत्वपर्यन्तानां सद्भावमवगमयन्ति; अतो रूपं न भिद्यते। संयोगोऽपि १"परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" २"अभयं वै ब्रह्म भवति" इति ब्रह्मप्राप्तिरूपो न भिद्यते। आकाशशब्दः छान्दोग्ये परमात्मविषय इति, ३"दहर उत्तरेभ्यः" इत्यत्र निर्णीतम्। वाजसनेयके त्वाकाशे शयानस्य वशित्वादिश्रवणात्तस्य शयानस्य परमात्मत्वे सति तदाधाराभिधायिन आकाशशब्दस्य ४"तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मम्" इति हृदयान्तर्गतस्य सुषिरशब्दवाच्यस्याकाशस्याभिधायकत्वमवगम्यते। अतो विद्यैक्यम् ॥ ३८ ॥

अथ स्यात्—यदुक्तं वाजसनेयके वशित्वादिभिस्सह सत्यकामत्वादिसद्भावोऽवगम्यते—इति; तन्नोपपद्यते, वशित्वादीनामेव तत्र परमार्थतस्सद्भावाभावात्; तदभावश्च ५"मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्योस्समृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"५"एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्" इति प्रक्रतेन वाक्येन ५"स एष नेतिनेत्यात्मा" इत्युत्तरेणचोपास्यस्य ब्रह्मणो निर्विशेषत्वप्रतीतेरवगम्यते; अतो वशित्वा-

१. छा. ८-३-४ ॥— २. बृ. ६-४-२५ ॥—३. शारी. १-३-१३ ॥—४. तै. ना. ११-अनु ॥—५. बृ. ६-४-१९, २०, २२ ॥

दयोऽपि स्थूलत्वाणुत्ववन्निषेध्या इति प्रतीयन्ते, अत एव छान्दोग्येऽपि सत्यकामत्वादयो न ब्रह्मणः पारमार्थिका गुणा उच्यन्ते; अतोऽपारमार्थिकत्वादेवंजातीयकानां गुणानां मोक्षार्थेपूपासनेपु लोप इति; तत्राह—

आदरादलोपः । ३ । ३ । ३९ ॥

ब्रह्मगुणत्वेन प्रमाणान्तराप्राप्तानां गुणानामेषां सत्यकामत्वादीनां १"तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" २"एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः" ३ "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" ३"एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय" इत्यादिभिरनयोः श्रुत्योरन्यासु च मोक्षार्थोपासनोपास्यब्रह्मगुणत्वेन सादरमुपदेशादेषामलोपः; अपितूपसंहार एव कार्यः । छान्दोग्ये तावत् ४"तत्र इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान् तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति सत्यकामत्वादिगुणविशिष्टस्य ब्रह्मणो वेदनमभिधाय ४"अथ य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति" इत्यवेदननिन्दा क्रियमाणा गुणविशिष्टवेदनस्यादरं दर्शयति । तथा वाजसनेयके ३"सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" ३ "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपालः" इति भूयोभूय ऐश्वर्योपदेशाद्गुणेष्वादरः प्रतीयते । एवमन्यत्रापि । न च मातापितृसहस्रेभ्योऽपि वत्सलतरं शास्त्रं प्रतारकवदपारमार्थिकान्निरसनीयान् गुणान् प्रमाणान्तराप्रतिपन्नानादरेणोपदिश्य संसारचक्रपरिवर्तनेन पूर्वमेव बम्भ्रम्यमाणान्मुमुक्षून् भूयोऽपि भ्रमयितुमलम् । ५"नेह नानाऽस्ति किञ्चन" ६"एकधैवानुद्रष्टव्यम्" इति तु सर्वस्य ब्रह्मकार्यत्वेन तदात्मकत्वादेकधाऽनुदर्शनं

१. छा. ८-१-१ ॥–२. छा. ८-१-५ ॥–३. बृ. ६-४-२२ ॥–४. छा. ८-१-६ ॥–५, ६,, बृ. ६–४–१६, २०, २२ ॥

विधायात्रह्मात्मकत्वेन पूर्वसिद्धनानात्वदर्शनं निषेधतीत्ययमर्थः प्रागेव प्रपञ्चितः। १"स एष नेतिनेत्यात्मा" इत्यत्र चेतिशब्देन प्रमाणान्तरप्रतिपन्नं प्रपञ्चाकारं परामृश्य न तथाविधं ब्रह्मेति सर्वात्मभूतस्य ब्रह्मणः प्रपञ्चविलक्षणत्वं प्रतिपाद्यते; तदेव चानन्तरमुपपादयति १"अग्राह्यो न हि गृह्यते अशीर्यो नहि शीर्यते असङ्गो नहि सज्यते अव्यथितो न व्यथते न रिष्यति" इति। प्रमाणान्तरग्राह्यविसजातीयत्वात्प्रमाणान्तरेण न गृह्यते; विशरणीयविसजातीयत्वान्न विशीर्यते; एवमुत्तरत्रानुसन्धेयम्। छान्दोग्येऽपि २"नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यते एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामास्समाहिताः" इति सर्वविसजातीयत्वं ब्रह्मणः प्रतिपाद्य तस्मिन् सत्यकामत्वादयो विधीयन्ते ॥ ३९ ॥

नन्वेवमपि २"तद्य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति स यदि पितृलोककामो भवति" इत्यादिना सत्यकामादिगुणविशिष्टवेदनस्य सांसारिकफलसम्बन्धश्रवणान्मुमुक्षोर्ब्रह्मप्रेप्सोर्न सगुणं ब्रह्मोपास्यम्; परविद्याफलं च ३"परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इतीदमेव। अतस्सत्यकामत्वादयो ब्रह्मप्रेप्सोर्नोपसंहार्या इति; अत उत्तरं पठति—

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् । ३ । ३ । ४० ॥

उपस्थितिः—उपस्थानम्, ब्रह्मोपसम्पन्ने सर्वबन्धविनिर्मुक्ते स्वेन रूपेणाभिनिष्पन्ने प्रत्यगात्मनि अत एव—उपसम्पत्तेरेवहेतोस्सर्वेषु लोकेषु कामचार उच्यते ३"परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति तदेतच्चतुर्थे निपुणतरमुपपादयिष्यते। अतस्सर्वेषु लोकेषु कामचारस्य मुक्तोपभोग्यफलत्वान्मुमुक्षोस्सत्यकामत्वादयो गुणा उपसंहार्याः ॥ ४० ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कामाद्यधिकरणम् ॥ १६ ॥

---

१. बृ. ६-४-२२ ॥— २. छा. ८-१-५, ६ ॥ ३. छा. ८-३-४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तन्निर्धारणानियमाधिकरणम् ॥)

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् । ३ । ३ । ४१ ॥

१ "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" इत्यादीनि कर्माङ्गाश्रयाण्युपासनानि कर्माङ्गभूतोद्गीथादिमुखेन जुह्वादिमुखेन पर्णतादिवत् कर्माङ्गत्वेन निरूढानुष्ठानानीत्युद्गीथाद्युपासनसम्बन्धिनो २ "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति वर्तमाननिर्देशस्य पर्णतादिसम्बन्धपापश्लोकश्रवणवत्पृथक्फलत्वकल्पनायोगात्क्रतुषु नियमेनोपसंहार्याणीति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-तन्निर्धारणानियमः-इति । निर्धारणं निश्चयेन मनसोऽवस्थापनम्, ध्यानमित्यर्थः; तन्निर्धारणानियमः-कर्मसूद्गीथाद्युपासनानामनियमः; कुतः? तद्दृष्टेः-उपलभ्यते ह्युपासनानुष्ठानानियमः-२"तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद" इत्यविदुषोऽप्यनुष्ठानवचनात्। न चाङ्गत्वे सत्युपासनस्यानुष्ठानानियम उपपद्यते। एवमुपासनस्यानङ्गत्वे निश्चिते सत्युपासनविधेः फलाकांक्षायां रात्रिसत्रन्यायेन वीर्यवत्तरत्वं कर्मफलात्पृथग्भूतं फलमित्यवगम्यते। किमिदं वीर्यवत्तरत्वम्? कर्मफलस्यैवाप्रतिबन्धः। प्रतिबध्यते हि कर्मफलं प्रबलकर्मान्तरफलेन तावन्तं कालम्; तदभावोऽप्रतिबन्धः। स ह्यप्रतिबन्धः कर्मफलात्स्वर्गादिलक्षणात्पृथग्भूतमेव फलम्। तदिदमुच्यते-पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलमिति। अतः कर्माङ्गाश्रयाणामपि पृथक्फलत्वाद्गोदोहनादिवत्कर्मसूद्गीथाद्युपासनानामनियमेनोपसंहारः ॥ ४१ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तन्निर्धारणानियमाधिकरणम् ॥ १७ ॥

---

१. छा. १-१-१ ॥—२. छा. १-१-१० ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रदानाधिकरणम् ॥)

प्रदानवदेव तदुक्तम् । ३ । ३ । ४२ ॥

दहरविद्यायां १ "तत्र इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामान्" इति दहराकाशस्य परमात्मन उपासनमुक्त्वा १ "एतांश्च सत्यान्कामान्" इति गुणानामपि पृथगुपासनं विहितम्। तत्र संशयः-गुणचिन्तनेऽपि तत्तद्गुणविशिष्टतया दहरस्यात्मनश्चिन्तनमावर्तनीयम्, उत नेति। दहराकाशस्यैवापहतपाप्मत्वादीनां गुणित्वात्तस्य च सकृदेवानुसन्धातुं शक्यत्वाद्गुणार्थन्तच्चिन्तनं नावर्तनीयम्-

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते-प्रदानवदेव-इति। प्रदानवदावर्तनीयमेवेत्यर्थः। यद्यपि दहराकाश एक एवापहतपाप्मत्वादिगुणानां गुणी; स च प्रथमं चिन्तितः; तथाऽपि स्वरूपमात्राद्गुणविशिष्टाकारस्य भिन्नत्वात् २ "अपहतपाप्मा विजरः" इत्यादिना गुणविशिष्टतया चोपास्यत्वेन विहितत्वात्पूर्वं स्वरूपेणानुसंहितस्यापहतपाप्मत्वादिविशिष्टतयाऽनुसन्धानार्थमावृत्तिः कर्तव्या; यथा ३ "इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपेत्" ३ "इन्द्रायाधिराजाय" ३ "इन्द्राय स्वराज्ञे" इतीन्द्रस्यैव राजत्वादिगुणविशिष्टत्वेऽपि तत्तद्गुणसम्बन्ध्याकारस्य भिन्नत्वात्प्रदानावृत्तिः क्रियते; तदुक्तं साङ्कर्षणे ४ "नाना वा देवता पृथक्त्वात्" इति ॥ ४२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रदानाधिकरणम् ॥ १८ ॥

—:*:—

---

१. छा. ८-१-६ ॥--२. छा. ८-१-५ ॥--३. यजु-२-कां. ३-प्र. ६-अनु ॥
४. साङ्कर्षणकाण्डे ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥)

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि । ३। ३। ४३ ॥

तैत्तिरीया दहरविद्यानन्तरमधीयते १"सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं विश्वशम्भुवम् । विश्वं नारायणं देवमक्षरं परमं प्रभुम्" इत्यारभ्य "सोऽक्षरः परमस्स्वराट्" इत्यन्तम् । तत्र संशयः-किं पूर्वप्रकृतविद्यैकविद्यात्वेन तदुपास्यविशेषनिर्धारणमनेन क्रियते, उत सर्ववेदान्तोदितपरविद्योपास्यविशेषनिर्धारणम्-इति । किं युक्तम् ? दहरविद्योपास्यविशेषनिर्धारणमिति । कुतः ? प्रकरणात् । पूर्वस्मिन्ननुवाके दहरविद्याहि प्रकृता २"दहं विपाप्मं परवेश्मभूतं यत्पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम् । तत्रापि दहं गगनं विशोकस्तस्मिन्यदन्तस्तदुपासितव्यम्" इति । अस्मिंश्चानुवाके ३"पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्" इत्यादिना हृदयपुण्डरीकाभिधानमस्य नारायणानुवाकस्य दहरविद्योपास्यनिर्धारणार्थत्वमुपोद्बलयतीति ॥

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-लिङ्गभूयस्त्वात्--इति । अस्य निखिलपरविद्योपास्यविशेषनिर्धारणार्थत्वे भूयांसि लिङ्गानि दृश्यन्ते; तथा हि—परविद्यास्वक्षरशिवशम्भुपरब्रह्मपरज्योतिःपरतत्त्वपरमात्मादिशब्दनिर्दिष्टमुपास्यं वस्त्विह तैरेव शब्दैरनूद्य तस्य नारायणत्वं विधीयते; भूयसीषु विद्यासु श्रुताननूद्य नारायणत्वविधानभूयस्त्वं नारायण एव सर्वविद्यासूपास्यमस्थूलत्वादिविशेषितानन्दादिगुणकं परं ब्रह्मेति विशेषनिर्णये भूयः बहुतरं लिङ्गं भवति । अत्र लिङ्गशब्दः चिह्नपर्यायः । चिह्नभूतं वाक्यं बहुतरमस्तीत्यर्थः । तद्धि प्रकरणाद्बलीयः । तदप्युक्तं प्रथमकाण्डे ४"श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्" इति । यत्तूक्तं ३"पद्मकोषप्रतीकाशम्" इत्यादिवचनं

---

१ तै. ना-१-अनु ॥—२. तै. ना. १०. अनु ॥--३. तै. ना. ११-अनु ॥

४. पूर्वमीमांसा. ३-३-१४

दहरशेषत्वमस्योपोद्बलयति--इति ; तन्न, बलीयसा प्रमाणेन सर्व-विद्योपास्यनिर्धारणार्थत्वेऽवधूते सति दहरविद्यायामपि तस्यैव नाराय णस्योपास्यत्वेन तद्वचनोपपत्तेः । नच १ "सहस्रशीर्षम्" इत्यादिद्वितीया-निर्देशेन पूर्वानुवाकोदितोपासिना सम्बन्धश्शङ्कनीयः, २ "तस्मिन् यद-न्तस्तदुपासितव्यम्" इत्युपासिगतेन कृत्प्रत्ययेनोपास्यस्य कर्मणोऽभि-हितत्वात्तदुपास्ये द्वितीयानुपपत्तेः । १ 'विश्वमेवेदं पुरुषः" १ "तत्त्वं नारायणः परः" इत्यादिप्रथमानिर्देशाच्च प्रथमार्थे द्वितीया वेदितव्या । १"अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" १ 'तस्याश्शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः । स ब्रह्मा स शिवस्सेन्द्रः सोऽक्षरः परमस्स्वराट्" इति निर्देशैस्सर्वस्मात्परो नारायण एव सर्वत्रोपास्य इति नि-र्णीयमानत्वाच्च प्रथमार्थे द्वितीयेति निश्चीयते ॥ ४३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥ १९ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पूर्वविकल्पाधिकरणम् ॥ २० ॥)

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया मानसवत् । ३ । ३ । ४४ ॥

वाजसनेयके अग्निरहस्ये मनश्चितादयोऽग्नयः श्रूयन्ते--३"मनश्चितो वाक्चितः प्राणचितः चक्षुश्चितः श्रोत्रचितः कर्मचितोऽग्निचितः" इति । तत्र संशयः--किमेते मनश्चितादयस्साम्पादिकत्वेन विद्यारूपा अग्नयः क्रियामयक्रत्वनुप्रवेशेन क्रियारूपाः, आहोस्विद्विद्यामयक्रत्वनुप्रवेशेन विद्यारूपा एव--इति विशये क्रियारूपत्वं तावदाह--पूर्व विकल्पः --इत्यादिना । चित्यग्नित्वेन सम्पादितानामेषां मनश्चितादीनां क्रत्व-नुप्रवेशसाकांक्षाणां स्वदेशे क्रतुविध्यभावात्पूर्वत्र ४ "असद्वा इदमग्र

---

१. तै. ना. ११ अनु. ॥--२. तै, ना. १० अनु. ॥--३. ॥--४. ॥

आसीत्" इत्यादिनेष्टकचितस्याग्नेः प्रकृतत्वात् तस्य च क्रियामयक्रत्वव्यभिचारित्वेन तत्र क्रतुसन्निधानात्तत्प्रकरणगृहीता मनश्चितादयस्तेनेष्टकचितेनाग्निना विकल्प्यमानाः क्रियारूपा एव स्युः। विद्यारूपाणामपि क्रियामयक्रत्वनुप्रवेशेन क्रियारूपत्वं मानसग्रहवदुपपद्यते। यथा द्वादशाहे अविवाक्ये दशमेऽहनि मानसग्रहस्य मनोनिष्पाद्यग्रहणासादनस्तोत्रशस्त्रप्रत्याहरणभक्षणत्वेन विद्यारूपस्यापि क्रियामयक्रत्वङ्गतया क्रियारूपत्वम्; तथेहापि ॥ ४४ ॥

अतिदेशाच्च । ३ । ३ । ४५ ॥

इतश्चेष्टकचितेनाग्निना मनश्चितादीनां विकल्पः क्रियारूपत्वं चावगम्यते; 'तेषामेकैक एव तावान् यावानसौ पूर्वः" इति पूर्वस्येष्टकचितस्याग्नेर्वीर्यं मनश्चितादिष्वतिदिश्यते; तेन तुल्यकार्यत्वाद्विकल्पः। ततश्चेष्टकचितवत्तत्क्रतुनिर्वर्तनेन तदङ्गभूताः मनश्चितादयः १(क्रियामय-क्रत्वनुप्रवेशेन) क्रियारूपा एवेति ॥ ४५ ॥

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

विद्यैव तु निर्धारणाद्दर्शनाच्च ३ । ३ । ४६ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति ; यदुक्तं मनश्चितादयः क्रियामयक्रत्वनुप्रवेशेन क्रियारूपा एवेति; नैतदस्ति; विद्यारूपा एवैते—विद्यारूपक्रत्वन्वयिन इत्यर्थः। कुतः? निर्धारणाद्दर्शनाच्च; निर्धारणं तावत्- "ते हैते विद्याचित एव विद्यया हैवैत एवंविदश्चिता भवन्ति" इति; वाङ्मनश्चक्षुरादिव्यापाराणामिष्टकादिवच्चयनानुपपत्तेर्मनसा सम्पादिताग्नित्वेन विद्यारूपत्वे सिद्धेऽपि "विद्याचित एव" "विद्यया हैवैत" इति चावधारणं विद्यामयक्रत्वन्वयेन विद्यारूपत्वज्ञापनार्थमिति निश्चीयते। दृश्यते चात्रैवैषां शेषी विद्यारूपः क्रतुः "ते मनसैवाधीयन्त मनसैवाचीयन्त मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्त मनसास्तुवन्त मनसाशंसन् यत्किञ्च

१. कुण्डलितग्रन्थः केषुचित्कोशेषु न दृश्यते ॥

यज्ञे कर्म क्रियते, यत्किञ्च यज्ञीयं कर्म मनसैव तेषु मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमक्रियत" इति। इष्टकचितेष्वग्निषु यत्क्रियामयं यज्ञीयं कर्म क्रियते;तन्मनोनिर्वर्त्येषु मनश्चिताद्यग्निषु मनोमयमेवाक्रियतेति वचनात् क्रतुरपि विद्यामयोऽत्र प्रतीयते ॥ ४६ ॥

नन्वत्र विधिपदाश्रवणात् फलसम्बन्धाप्रतीतेश्चेष्टकचिताग्न्युपस्थापितक्रियामयक्रतुप्रकरणाद्विद्यामयक्रत्वन्वयेन विद्यारूपतैषां बाध्यते, नेत्याह—

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः । ३ । ३ । ४७ ॥

श्रुतिलिङ्गवाक्यानां प्रकरणाद्बलीयस्त्वेन श्रुत्याद्यवगतः क्रतुरेषां तदन्वयश्च दुर्बलेन प्रकरणेन बाधितुं न शक्यते; श्रुतिस्तावत्—१"ते हैते विद्याचित एव" इति। तां विवृणोति १"विद्यया हैवैत एवंविदश्चिता भवन्ति" इति। विद्यया विद्यामयेन क्रतुना सम्बद्धा मनश्चितादयश्चिता भवन्तीत्यर्थः। २ "तान् हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते" इति लिङ्गम्। वाक्यं च ३ "एवंविदे चिन्वन्ति" इति। समभिव्याहारो वाक्यम्। एवंविदे विद्यामयक्रतुमते सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्तीत्यर्थः। सर्वभूतकर्तृकं सर्वकालव्यापि चयनं मनसा सम्पादितं परिमितकर्तृकालक्रियामयेष्टकचितकार्यद्वारेण क्रत्वनुप्रवेशसम्भवमलभमानं विद्यामयक्रत्वनुप्रवेशे लिङ्गं भवति ॥ ४७ ॥

यच्चेदमुक्तं—विधिप्रत्ययाश्रवणात्फलसम्बन्धाप्रतीतेश्च क्रियामयात्क्रतोरन्योऽत्र विद्यामयः क्रतुर्न सम्भवति—इति, तत्राह—

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् । ३ । ३ । ४८ ॥

इष्टकचितान्वयिनः क्रियामयात्क्रतोर्विद्यामयोऽयं क्रतुः पृथक्त्वेन

१. ॥—२. ॥—३. ॥

अनुबन्धादिभ्यः पृथक्त्वहेतुभ्योऽवगम्यते । अनुबन्धाः यज्ञानुबन्धिनो ग्रहस्तोत्रशस्त्रादयः १ "मनसैषु ग्रहा अगृह्णन्त मनसास्तुवन्त मनसाशंसन्" इत्यादिना प्रतिपादिताः । आदिशब्देन श्रुत्यादयः पूर्वोक्ता गृह्यन्ते । श्रुत्यादिभिस्सानुबन्धैर्विद्यामयक्रतुः पृथगवगम्यत इत्यर्थः । प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्–यथा प्रज्ञान्तरं दहरविद्यादि क्रियामयात्क्रतोः पृथग्भूतं श्रुत्यादिभिरवगम्यते, एवमयमपि । एवं चानुबन्धादिभिः पृथग्भूते विद्यामये यज्ञेऽवगते सति विधिः परिकल्प्यते । इष्टश्चानुवादसरूपेषु कल्प्यमानो विधिः । तदुक्तं—२"वचनानि त्वपूर्वत्वात्" इति । फलं च ३"तेषामेकैक एव तावान् यावानसौ पूर्वः इत्यतिदेशात् स्वक्रतुद्वारेणेष्टकचितस्याग्नेर्यत्फलम्, तदेव मनश्चितादीनामपि स्वक्रतुद्वारेण फलमित्यवगम्यते ॥ ४८ ॥

यत्पुनरतिदेशेन तुल्यकार्यत्वावगमात्क्रियामयक्रत्वनुप्रवेशोऽवगम्यत इत्युक्तम्, तत्राह—

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः । ३ । ३ । ४९ ॥

नावश्यमतिदेशादर्थान्तरव्यापारस्यापि तुल्यतया भवितव्यम्, येन क्रियामयक्रत्वनुप्रवेश एषां स्यात्, यस्मात्कस्माच्चित्सामान्यमात्रादतिदेशोपलब्धेः; उपलभ्यते हि ४ "स एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः" इत्यादिषु संहर्तृत्वादिसामान्यमात्रादतिदेशः; नहि तत्र मण्डलपुरुषस्य मृत्युवत्तल्लोकापत्तिः–तद्देशप्राप्तिरपि भवति; एवमिहापि मनश्चितादीनामिष्टकचिताग्निवद्भावातिदेशमात्रेणेष्टकचिताग्निदेशरूपक्रियामयक्रत्वनुप्रवेशेनापि न भवितव्यम् । अत इष्टकचिताग्नेः स्वक्रतुद्वारेण यत्फलम् तदेव मनश्चितादीनामपि विद्यामयक्रतुद्वारेण फलमित्यतिदेशादवगम्यते ॥

१. ॥—२. पू. मी. ३-१-२१ ॥—३. ॥—४. ॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः । ३ । ३ । ५० ॥

परेण च ब्राह्मणेनास्यापि मनश्चिताद्यभिधायिनः शब्दस्य ताद्विध्यं—तद्विधत्वम्, विद्यामयप्रतिपादित्वमवगम्यते; परेणहि ब्राह्मणेन १"अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितस्तस्याप एव परिश्रिताः" इत्यादिना २"स यो हैतदेवं वेद लोकंपृणानामैनं भूतमेतत्सर्वमभिसम्पद्यते" इति पृथक्फला विद्यैव विधीयते, तथा वैश्वानरविद्यादौ च विद्यैव विधीयते। अतोऽग्निरहस्यस्य क्रियैकविषयत्वं नास्ति। एवं तर्हि विद्यामया मनश्चितादयो बृहदारण्यकेऽनुबद्धव्याः. किमर्थमिहानुबध्यन्ते; तत्रोच्यते—भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः—इति। मनश्चितादिषु सम्पादनीयानामग्न्यङ्गानां भूयस्त्वात्सन्निधाविहानुबन्धः कृतः ॥ ५० ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पूर्वविकल्पाधिकरणम् ॥ २० ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये शरीरेभावाधिकरणम् ॥२१॥)

एक आत्मनश्शरीरे भावात् । ३ । ३ । ५१ ॥

सर्वासु परविद्यासूपास्योपासनस्वरूपवदुपासकस्वरूपस्यापि ज्ञातव्यत्वमुक्तं—३"त्रयाणामेवचैवमुपन्यासः प्रश्नश्च" इति । वक्ष्यति चास्य प्रत्यगात्मनः परमात्मात्मकत्वेनानुसन्धानम् ४"आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" इति। किमयं प्रत्यगात्मा ज्ञाता कर्ता भोक्तेत्यामुत्र सञ्चारक्षमोऽनुसन्धेयः, उत प्रजापतिवाक्योदितापहतपाप्मत्वादिस्वरूपः; किं युक्तम् ? ज्ञातृत्वाद्याकारमात्र इत्येके मन्यन्ते; कुतः ? अस्योपासकस्यात्मनः शरीरे भावात्; शरीरे वर्तमानस्य तादृशमेव रूपम्; तावतै-

---

१ ॥—२ ॥—३. शारी. १-४-६ ॥—४. शारी. ४-१-३ ॥

वानुसन्धानेन तत्फलसिद्ध्युपपत्तेश्च; नहि कर्मस्वधिकृतानां स्वर्गादिफलार्थिनां ज्ञातृत्वाद्यतिरेकेण फलानुभवदशायां यादृशं रूपम्, तादृशं रूपं साधनानुष्ठानदशायामनुसन्धातव्यम्, तावतैव साधनानुष्ठानतत्फलयोस्सिद्धेरतिरिक्तानुसन्धाने प्रयोजनाभावात्; तद्विशेषादिहापि तथैव। ननुचात्र १"यथाक्रतुरस्मिन्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" इतिविशेषवचनादपहतपाप्मत्वाद्याकार एवानुसन्धातव्य इत्यवगम्यते; मैवम्, २"तं यथायथोपासते" इत्युपास्यविषयत्वात्तस्य ॥

--(सिद्धान्तः)--

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत् । ३ । ३ । ५२ ॥

न त्वेतदस्ति—यत् ज्ञातृत्वाद्याकार एवानुसन्धेय इति; अस्यात्मनस्संसारदशायाः मोक्षदशायां यो व्यतिरेकः, सोऽपहतपाप्मत्वादिकोऽनुसन्धेयः; अस्य मोक्षदशायां यादृशं रूपं, तादृगूप एवोपासनवेलायामात्माऽनुसन्धेय इत्यर्थः । कुतः ? तद्भावभावित्वात्तद्रूपापत्तेः; १"यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति २"तं यथायथोपासते तथैव भवति" इति यथोपासनमेव हि प्राप्तिः श्रूयते । नच परस्वरूपमात्रविषयमेवेदमिति वक्तुं शक्यते, प्रत्यगात्मनोऽप्युपास्यभूतपरब्रह्मशरीरतयोपास्यकोटिनिक्षिप्तत्वात् । अतः प्रजापतिवाक्योदितापहतपाप्मत्वादिगुणकप्रत्यगात्मशरीरपरमात्मोपासनस्य तथारूपमेव प्राप्यमित्युक्तं भवति । अत एव ३"एवं क्रतुर्हामुं लोकं प्रेत्याभिसम्भवितास्मि" इत्युच्यते । तस्मात्प्रत्यगात्मा प्राप्याकार एवानुसन्धेयः । उपलब्धिवत्यथा

१. छा. ३-१४-१ ॥ २.मुद्गलोपनिषत् ३-ख ॥

ब्रह्मोपलब्धिर्विहिता यथावस्थितब्रह्मस्वरूपविषया, तथाऽऽत्मोपलब्धिरपि यथावस्थितात्मस्वरूपविषयेत्यर्थः । कर्मस्वात्मस्वरूपानुसंधानं कर्माङ्गम्; १"यजेत स्वर्गकामः" इति कर्मानुष्ठानमेव हि फलाय चोद्यते । देहातिरिक्तज्ञातृत्वाद्याकारात्मावगतिः कालान्तरभाविफलसाधनकर्माधिकारार्थेति तावन्मात्रमेव तत्रापेक्षितमिति न किञ्चिदपहीनम् ॥ ५२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये शरीरेभावाधिकरणम् ॥ २१ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अङ्गावबद्धाधिकरणम् ॥२२॥)

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ।३।३।५३॥

२"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत"३ 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत"४' उक्थमुक्थमिति वै प्रजा वदन्ति तदिदमेवोक्थम इयमेव पृथिवी" ५ "अयं वाव लोक एषोऽग्निचितः" इत्येवमाद्याः क्रत्वङ्गाश्रया उपासना भवन्ति; ताः किं यासु शाखासु श्रूयन्ते, तास्वेव नियताः, उत सर्वासु शाखासूद्गीथादिषु सम्बध्यन्त इति विचारः । सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वे स्थितेऽपि प्रतिवेदं स्वरभेदादुद्गीथादयो भिद्यन्त इति तत्रतत्र व्यवतिष्ठेरन्निति युक्ता शङ्का । किं युक्तम् ? व्यवतिष्ठेरन्निति । कुतः? ६"उद्गीथमुपासीत" इति सामान्येनोद्गीथसम्बन्धितया श्रुतायास्तस्यामेव शाखायां स्वरविशेषयुक्तस्योद्गीथविशेषस्य सन्निधानात्तस्मिन्नेव विशेषे पर्यवसानं युक्तमिति । एवमाद्यास्तास्वेव शाखासु व्यवतिष्ठेरन्निति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—अङ्गावबद्धास्तु—इति । तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति; नह्युद्गीथाद्यङ्गावबद्धा उपासनास्तास्वेव शाखासु व्यवतिष्ठेरन्;

१. यजु. २-५-१ ॥—२. छा. १-१-१ ॥—३. छा. २-२-१ ॥—४ ॥— ५ ॥—६. छा. १-१-१ ॥

अपितु प्रतिवेदं सम्बध्येरन्; सर्वासु शाखास्वित्यर्थः। हि शब्दो हेतौ। यस्माच्छ्रुत्यैवोद्गीथाद्यङ्गमात्राद्यवद्धाः, तस्माद्यत्रोद्गीथादयः, तत्र सर्वत्र सम्बध्येरन्। यद्यपि स्वरभेदेनोद्गीथव्यक्तयो भिद्यन्ते; तथापि सामान्येनोद्गीथश्रुत्या सर्वा व्यक्तयस्सन्निहिता इति न कचिद्व्यवस्थायां प्रमाणमस्ति। सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन च सर्वासु शाखासु क्रतुरेकः। अतस्सर्वासु शाखास्वेकस्य क्रतोस्सन्निधानात् क्रत्वङ्गभूतोद्गीथादयोऽपि सन्निहिता इति नैकस्य सन्निधिविशेषोऽस्तीति न व्यवस्था॥ ५३॥

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः। ३। ३। ५४॥

वाशब्दश्चार्थे; आदिशब्देन जातिगुणसङ्ख्यासादृश्यक्रमद्रव्यकर्माणि गृह्यन्ते; यथा मन्त्रादीनामेकैकशाखास्वाम्नातानामपि शेषिणः क्रतोस्सर्वशाखास्वेकत्वेन यथायथं श्रुत्यादिभिस्सर्वासु शाखासु विनियोगो न विरुध्यते; तद्वदिहाप्यविरोधः॥ ५४॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अङ्गावबद्धाधिकरणम्॥ २२॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये भूमज्यायस्त्वाधिकरणम्॥२३॥

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति।३।३।५५॥

१ "प्राचीनशाल औपमन्यवः" इत्यारभ्य वैश्वानरविद्या आम्नाता तत्र वैश्वानरः परमात्मा त्रैलोक्यशरीर उपास्यश्श्रुतः स्वर्लोकादित्यवाय्वाकाशाप्पृथिव्यवयवः; तत्र च द्यौर्मूर्धा, आदित्यश्चक्षुः, वायुः प्राणः, आकाशस्सन्देहः मध्यकाय इत्यर्थः; आपो वस्तिः; पृथिवी पादावित्यवयवविशेषाः। तत्र संशयः—किमस्य त्रैलोक्य शरीरस्य व्यस्तस्योपासनं

---

१. छा. ५-११-१॥

कर्तव्यम्, उत व्यस्तस्य समस्तस्यच, अथ समस्तस्यैवेति। किं युक्तम्? व्यस्तस्येति; कुतः? उपक्रमे व्यस्तोपासनोपदेशात्। तथाह्युपदिश्यते— औपमन्यवादयः किलोद्दालकपष्ठाः केकयमश्वपतिमुपसद्य १"आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येपि तमेव नो ब्रूहि"इति प्रपच्छुः। स च तेभ्यः प्रत्येकं स्वोपास्यान् द्युप्रभृतीनुक्तवद्भ्यो मूर्धादिषु व्यस्तेषूपासनं तत्रतत्र फलं चोक्तवान् २ "अत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्धा त्वेष आत्मन" इति। "एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरः" इत्यादिना तेषुतेषूपासनेषूपास्यस्य वैश्वानरत्वं चाह। अतो व्यस्तस्योपासनं कर्तव्यम्। परत्र ३"यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" इति। द्युप्रभृतिप्रदेशावच्छिन्नमात्रे वैश्वानरे उक्तस्य मूर्धाद्युपासनस्य समासेनोपसंहार इत्यवगन्तव्यम्। अपर आह—एवमेव समस्तस्याप्युपासनं कार्यमिति, पृथक्फलनिर्देशात्, ३ "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति" इति। नचैतावता वाक्यभेदः; यथा भूमविद्योपक्रमे नामाद्युपासनं तत्तत्फलञ्चाभिधाय ४ "एष तु वा अतिवदति यस्सत्येनातिवदति" इत्यादिना भूमविद्यामुपदिश्य ५"स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति तत्फलञ्च व्यपदिशति; तत्र भूमविद्यापरत्वेऽपि वाक्यस्य नामाद्यवान्तरोपासनं तत्तत्फलं चाङ्गीक्रियते, तथा इहापीति॥

—[सिद्धान्तः]—

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—भूम्नो ज्यायस्त्वमिति। भूम्नः—विपुलस्य समस्तस्यैव, ज्यायस्त्वं प्रामाणिकत्वमित्यर्थः; एकवाक्यत्वावगतेः। तथा हि ६ 'प्राचीनशाल औपमन्यवः" इत्युपक्रम्य ६ "उद्दालको ह वै

१. छा. ५-११-६ ॥—२. छा. ५-१२-२ ॥—३. छा. ५ १८-१ ॥ ४. छा. ७ १६-१ ॥—५. छा. ७-२५-२ ॥—६. छा. ५-११-१, २॥

भगवन्तोऽयमारुणिस्सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं हन्ताभ्यागच्छाम" इति वैश्वानरात्मबुभुत्सयौपमन्यवादयः पञ्च महर्षयः तमुद्दालकमुपेत्य तत्र वैश्वानरात्मवेदनमलभमानास्तेन च सहाश्वपतिं केकयं वैश्वानरात्मवेदिनमुपसङ्गम्य १"आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहि" इति पृष्ट्वा तत्सकाशात् परमात्मानं वैश्वानरं स्वर्लोकादिपृथिव्यन्तशरीरमुपास्यमवगम्य तत्फलं च सर्वलोकसर्वभूतसर्वात्मान्नभूतब्रह्मानुभवमवगतवन्त इत्युपसंहारतो वाक्यस्यैकत्वमवगम्यते। एवमेकवाक्यत्वेऽवगते सत्यवयवविशेषेपूपास्तिवचनं फलनिर्देशश्च समस्तोपासनैकदेशानुवादमात्रमिति निश्चीयते। क्रतुवत्—यथा २ "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते" इति विहितस्यैव क्रतोरेकदेशाः २"यदष्टाकपालो भवति' इत्यादिभिरनूद्यन्ते; तथा समस्तोपासनमेव न्याय्यम्, न व्यस्तोपासनम्। तथाहि दर्शयतीयं श्रुतिः व्यस्तोपासने अनर्थं ब्रुवती ३"मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्यः" इति ४ "अन्धोऽभविष्यो यन्मां नागमिष्यः" इत्यादिका। अत इदमप्यपास्तं, यन्नामाद्युपासनसाम्यमुक्तम्। तत्रहि नामाद्युपासनेष्वनर्थो न श्रुतः, नामाद्युपासनेभ्यो भूमोपासनस्यातिशयितफलत्वं श्रुतम् ५ "एष तु वा अतिवदति यस्सत्येनातिवदति" इति। तत एव तत्र भूमविद्यापरत्वेऽपि वाक्यस्य नामाद्युपासनानां सफलानां विवक्षितत्वम्; अन्यथाऽतिशयितफलत्वनिमित्तातिवादेन भूमविद्यास्तुत्यनुपपत्तेः, अतस्समस्तोपासनमेव न्याय्यम्॥ ५५॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् ॥२३॥

---

१. छा. ५-११-६ ॥—२. यजु. २-२-५ अनु. ॥—३. छा. ५-१२-२॥ ४. छा. ५-१३-२॥—५. छा. ७-१६-१॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये शब्दादिभेदाधिकरणम् ॥२४॥)

नाना शब्दादिभेदात । ३ । ३ । ५६ ॥

इह ब्रह्मविद्यास्सर्वाः ब्रह्मप्राप्तिरूपमोक्षैकफलाः सद्विद्याभूमविद्यादहरविद्योपकोसलविद्याशाण्डिल्यविद्यावैश्वानरविद्यानन्दमयविद्याक्षरविद्यादिका एकशाखागताश्शाखान्तरगताश्चोदाहरणम्; अन्याः प्राणाद्येकविषयफलाश्च । किमत्र विद्यैक्यम्, उत विद्याभेद इति संशय्यते । अत्रैवासां परस्परभेदे समर्थिते सत्येकस्या दहरविद्यादिकायास्सर्ववेदान्तप्रत्ययन्यायः । किं युक्तम् ? विद्यैक्यमिति । कुतः ? वेद्यस्य ब्रह्मण एकत्वात्; वेद्यं हि विद्याया रूपम्; अतो रूपैक्याद्विद्यैक्यमिति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—नाना—इति । नानाभूता विद्याः; कुतः ? शब्दादिभेदात्–आदिशब्देनाभ्याससङ्ख्यागुणप्रक्रियानामधेयानि गृह्यन्ते; शब्दान्तरादिभिरत्र विधेयभेदहेतवोऽनुबन्धभेदाः दृश्यन्ते; यद्यपि वेदोपासीतेत्यादयः शब्दाः प्रत्ययावृत्त्यभिधायिनः; प्रत्ययाश्च ब्रह्मैकविषयाः; तथाऽपि तत्तत्प्रकरणोदितजगदेककारणत्वापहतपाप्मत्वादिविशेषणविशिष्टब्रह्मविषयप्रत्ययावृत्त्यवबोधिनः प्रत्ययावृत्तिरूपाः विद्या भिन्दन्ति । ब्रह्मप्राप्तिरूपफलसम्बन्ध्युपासनविशेषाभिधायीनि च निराकांक्षाणि वाक्यानि प्रतिप्रकरणं विलक्षणविद्याभिधायीनीति निश्चीयते । अस्मिन्नर्थे १" शब्दान्तरे कर्मभेदः" इत्यादिभिः पूर्वकाण्डोदितैस्सूत्रैस्सिद्धेऽपि पुनरिह प्रतिपादनं वेदान्तवाक्यानि अविधेयज्ञानपराणीति कुदृष्टिनिरसनाय । अतो विद्याभेद इति स्थितम् ॥ ५६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये शब्दादिभेदाधिकरणम् ॥ २४ ॥

---

१. पूर्व-मी. २-१-२ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये विकल्पाधिकरणम् ॥२५॥)

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् । ३ । ३ । ५७ ॥

ब्रह्मप्राप्तिफलानां सद्विद्यादहरविद्यादीनां नानात्वमुक्तम्; इदानीमासां विद्यानामेकस्मिन् पुरुषे प्रयोजनवत्त्वेन समुच्चयोऽपि सम्भवति, उत प्रयोजनाभावाद्विकल्प एवेति विशये—किं युक्तम्; समुच्चयोऽपि सम्भवतीति; कुतः एकफलानां भिन्नशास्त्रार्थानामपि समुच्चयदर्शनात् । दृश्यते ह्येकस्यैव स्वर्गादेस्साधनानामग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां तस्यैव स्वर्गस्य भूयस्त्वापेक्षयैकत्र पुरुषे समुच्चयः; एवमिहापि ब्रह्मानुभवभूयस्त्वापेक्षया समुच्चयोऽपि सम्भवतीति ॥

—[सिद्धान्तः]—

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-विकल्प एव; न समुच्चयस्सम्भवतीति । कुतः ? अविशिष्टफलत्वात्—सर्वासां हि ब्रह्मविद्यानामनवधिकातिशयानन्दब्रह्मानुभवः फलमविशिष्टं श्रूयते [1]"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" [2]"स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य" [3]"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादिभ्यः । ब्रह्म हि स्वस्य परस्य च स्वयमनुभूयमानमनवधिकातिशयानन्दं भवति । स च तादृशो ब्रह्मानुभव एकया विद्ययाऽवाप्यते चेत्—किमन्ययेति न समुच्चयसम्भवः स्वर्गादेर्हि देशतः कालतः स्वरूपतश्च परिमितत्वेन तत्र देशाद्यपेक्षया भूयस्त्वसम्भवात्तदर्थिनस्समुच्चयस्सम्भवति; इह तु तद्विपरीतस्वरूपे ब्रह्मणि तन्न सम्भवति । सर्वाश्च विद्याः ब्रह्मानुभवविरोध्य-

---

१. तै. आन. १-अनु. १ ॥—२. तै. आन. ८-अनु. ४ ॥—३. मु. ३-१-३ ॥

नादिकर्मोविद्यानिरसनमुखेन ब्रह्मप्राप्तिफला इत्यविशिष्टफलत्वात्सर्वासां विकल्प एव ॥ ५७ ॥

ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तफलास्तु विद्यास्स्वर्गादिफलकर्मवद्यथेष्टं विकल्पेरन्, समुच्चीयेरन्वा, तासां परिमितफलत्वेन भूयस्त्वापेक्षासम्भवात् । तदाह—

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् । ३ । ३ । ५८ ॥

अपरिमितफलत्वाभावादित्यर्थः ॥ ५८ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये विकल्पाधिकरणम् ॥ २५ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये यथाश्रयभावाधिकरणम् ॥२६॥)

अङ्गेषु यथाश्रयभावः । ३ । ३ । ५९ ॥

उद्गीथादिक्रत्वंगेष्वाश्रिताः १"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" इत्यादिका विद्याः किमुद्गीथादिवत्क्रत्वर्थतया क्रतुषु नियमेनोपादेयाः, उत गोदोहनादिवत्पुरुषार्थतया यथाकाममिति विशये—नियमेनोपादेया इति युक्तम् । ननु चासां पुरुषार्थत्वेनानियमः प्रतिपादितः २ "तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फलम्" इत्यत्र । सत्यम्; तदेव द्रढयितुं कैश्चिल्लिङ्गदर्शनैर्युक्त्या चाक्षिप्यते । तत्र हि ३"तेनोभौ कुरुतः" इत्यनियमदर्शनात्पृथक्फलत्वमुक्तम्; उपासनाश्रयभूतोद्गीथादिवदुपासनानामप्यङ्गतयोपादाननियमे बहवो हेतव उपलभ्यन्ते; न ह्यत्र ४"गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्" इत्यादिवदुपासनाविधिवाक्ये-

१. छा. १ १-१ ॥—२. शारी. ३-३-४१ ॥—३. छा. १-१-१० ॥—४ ॥

फलसम्बन्धः श्रूयते ; १"उद्गीथमुपासीत" इत्युद्गीथादिसम्बन्धितयैवोपासनं प्रतीयते । २"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरम्" इति वर्तमानोपदेशरूपवाक्यान्तराद्धि फलसम्बन्धो ज्ञायते; स्ववाक्येनैवाव्यभिचरितक्रतुसम्बन्ध्युद्गीथादिसम्बन्धेन निर्ज्ञातक्रत्वङ्गभावस्य वाक्यान्तरस्थवर्तमानफलसम्बन्धनिर्देशोऽर्थवादमात्रं स्यात्, अपापश्लोकश्रवणादिवत् । अतो यथोद्गीथादय उपासनाश्रयाः क्रत्वङ्गतया प्रयोगविधिना नियमेनोपादीयन्ते ; तथा तदाश्रिताश्चोपासनास्तन्मुखेन क्रत्वङ्गभूता इति नियमेनोपादेया एव ॥ ५९ ॥

शिष्टेश्च । ३ । ३ । ६० ॥

शिष्टिः शासनम्, विधानमित्यर्थः । ३"उद्गीथमुपासीत" इत्युद्गीथाङ्गतयोपासनविधानाच्चोपादाननियमः । ४"गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्" इत्यादिवद्विधिवाक्येऽधिकारान्तराश्रवणादुद्गीथाङ्गभाव एव हि विधेय इति गम्यते ॥ ६० ॥

समाहारात् । ३ । ३ । ६१ ॥

५"होतृषदनाद्धैवापि *दुरुद्गीथमनुसमाहरति" इत्युपासनस्य समाहारनियमो दृश्यते । दुरुद्गीथं वेदनविहीनमुद्गीथम् । वेदनहानावन्येन समाधानं ब्रुवत्तस्य नियमेनोपादानं दर्शयति ॥ ६१ ॥

---

१. छा० १-१-१ ॥—२. छा. १-१-१० ॥—३. छा. १-१-१ ॥—
४. ॥—५. छा. १-५-५ ॥

* होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथ मिति-तस्य ह्ययमर्थः—होत्राप्रयुज्यमानस्य प्रणवस्य, उद्गात्रा प्रयुज्यमानस्य, उद्गीथस्य चैकत्व विज्ञानेन उद्गात्रा अनुष्ठिते सति, तद्विज्ञानमाहात्म्यादुद्गाता स्वकर्मण्युद्गाने यत् च्युतं स्वर प्रमादादि रूपं तद्धोतृ कृतात् सम्यक् शंसनाद्धेतोरनुसमादधातीत्यर्थः, दुष्टस्य सामीचीनेनैवयंहि दुष्टस्य सामीचीन्यं भवतीति युज्यत इति ॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च । ३ । ३ । ६२ ॥

उपासनगुणस्य उपासनाश्रयस्य प्रणवस्य सोपासनस्य १"तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायति" इति साधारण्यश्रुतेश्चोपासनसमाहारो गम्यते । १"तेन" इति प्रकृतपरामर्शात्सोपासन एव प्रणवस्सर्वत्र सञ्चरति । अत उपासनस्य प्रणवसहभावनियमदर्शनाच्चोद्गीथाद्युपासनानामुद्गीथादिवन्नियमेनोपादानम् ॥

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—

न वा तत्सहभावाश्रुतेः । ३ । ३ । ६३ ॥

नचैतदस्ति-यदुद्गीथाद्युपासनानां क्रतुषूद्गीथादिवदुपादाननियमः इति । कुतः ? तत्सहभावाश्रुतेः-उद्गीथाङ्गभावाश्रुतेरित्यर्थः । अङ्गभावे हि सहभावनियमो भवति । यद्यपि २"उद्गीथमुपासीत" इत्यस्मिन् पदसमुदायेऽधिकारान्तरं न प्रतीयते; तथापि तदनन्तरमेव ३"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति विद्यायाः क्रतुवीर्यवत्तरत्वं प्रति साधनभावः प्रतिपाद्यते । तेन क्रतुफलात्पृथग्भूतफलसाधनभूता विद्या २"उद्गीथमुपासीत" इति कर्तव्यतया विधीयते । क्रतुफलात्पृथग्भूतफलसाधनतयाऽवगतस्योपासनस्य क्रत्वङ्गभूतोद्गीथाङ्गतया विनियोगो नोपपद्यते । अथ उपासनस्याश्रयापेक्षायां सन्निहित उद्गीथ आश्रयमात्रं भवति । उद्गीथश्च क्रत्वङ्गभूत इति क्रतुप्रयुक्तोद्गीथाद्याश्रये उपासने क्रत्वधिकारिण एव क्रतोर्वीर्यवत्तरत्वेच्छानिमित्तमिदमधिकारान्तरमिति न क्रतुषु तदुपादाननियमः । वीर्यवत्तरत्वं च क्रतुफलस्य प्रबलकर्मान्तरफलेनाप्रतिबन्ध इत्युक्तम् ; क्रतोरविलम्बितफलत्वमित्यर्थः । पर्णतादीनां तु ३"यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति"इति विद्यायाः फलसाधनत्ववदपाप श्लोकश्रवणादिफलं प्रति साक्षा-

१. छा. १-१-९ ॥—२. छा. १-१-१ ॥—३. छा. १-१-१० ॥

त्साधनभावो न श्रुत इति क्रत्वङ्गभूतजुह्वाद्यङ्गतया विनियोगाविरोधात्त-दङ्गभूतानां फलान्तरसाधनभावकल्पनानुपपत्तेस्तत्र फलश्रुतिरर्थवादमा-त्रं स्यात् । ॥ ६३ ॥

दर्शनाच्च । ३ । ३ । ६४ ॥

दर्शयति च श्रुतिरुपासनोपादानानियमम् [१]"एवं विद्धै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति" इति ब्रह्मणो वेदनेन सर्वेषां रक्षणं ब्रुवती । उद्गातृप्रभृतीनां वेदनस्यानियमे सत्येतदुपपद्यते । अनेन लिंगेन पूर्वोक्तानां समाहारादिलिङ्गानां प्रायिकत्वमवगम्यते । अतोऽनि-यम एवेति स्थितम् ॥ ६४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये यथाश्रयभावाधिकरणम् ॥ २६ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये
तृतीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥



१. छा. ४-१७-१० ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

(तृतीयाध्याये - चतुर्थः पादः- पुरुषार्थाधिकरणम् ॥ १ ॥)



पुरुषार्थोऽतश्शब्दादिति बादरायणः ।३।४।१।

गुणोपसंहारानुपसंहारफला विद्यैकत्वनानात्वचिंता कृता; इदानीं विद्यातः पुरुषार्थः, उत विद्याङ्गकात्कर्मण इति चिन्त्यते। किं युक्तम् ? अतः—विद्यातः पुरुषार्थ इति भगवान् बादरायणो मन्यते; कुतः ? शब्दात्—दृश्यते ह्यौपनिषदः शब्दो विद्यातः पुरुषार्थं ब्रुवन् १"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" २"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेवं विद्वानमृत इह भवति। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" ३"यथा नद्यः स्यन्दमानास्समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" इत्यादि ॥१॥

अत्र पूर्वपक्षी प्रत्यवतिष्ठते—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः । ३ । ४ । २ ॥

नैतदेवम्—यद्विद्यातः पुरुषार्थावाप्तिश्शब्दादवगम्यते—इति। न ह्येषः

---

१. तै. आ. १-अनु ॥—२. पुरुषसूक्तम् ॥—३, मु. ३-२-८ ॥

१"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादिशब्दो वेदनात्पुरुषार्थावाप्तिमवगमयति, कर्मसु कर्तृभूतस्याऽऽत्मनो याथात्म्यवेदनप्रतिपादनपरत्वात्। अतः कर्तुस्संस्कारद्वारेण विद्यायाः क्रतुशेषत्वात्तत्र फलश्रुतिरर्थवादमात्रम्; यथाऽन्येषु द्रव्यादिषु—इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। तदुक्तं २"द्रव्यगुणसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादस्स्यात्" इति। ननु च कर्मसु कर्तुर्जीवादन्यो मुमुक्षुभिः प्राप्यतया वेदान्तेषु वेद्य उपदिश्यत इति प्रागेवोपपादितं-३"नेतरोऽनुपपत्तेः" ४"भेदव्यपदेशाच्च" ५"अनुपपत्तेस्तु न शारीरः" ६"इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात्" इत्येवमादिभिस्सूत्रैः; तदेव ब्रह्म तत्त्वमस्यादिसामानाधिकरण्येन जीवादनतिरिक्तमित्येतदपि ७"अधिकं तु भेदनिर्देशात्" इत्येवमादिभिर्निरस्तम्; सामानाधिकरण्यनिर्देशश्च ८"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" ९सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति चेतनाचेतनसाधारणः; १०"यः पृथिव्यां तिष्ठन्" ११"य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादिनाऽवगततत्तदात्मतयाऽवस्थितिनिबन्धन इति १२"अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः" इत्यादिभिरुपपादितम्; तत्कथं कर्मसु कर्तुरात्मनो याथात्म्योपदेशपरा वेदान्तशब्दा इति विद्यायाः कर्माङ्गत्वं प्रतिपाद्यते?। उच्यते-वेदान्तवाक्येष्वेव विद्यायाः कर्मप्राधान्यं सूचयद्भिर्लिङ्गैस्तदुपबृंहितसामानाधिकरण्यनिर्देशेन च वेदान्तशब्दा देहातिरिक्तजीवस्वरूपयाथात्म्योपदेशपरा इति बलादभ्युपगमनीयमिति पूर्वपक्षिणोऽभिप्रायः। ननु च कर्तृसंस्कारमुखेन विद्यायाः क्रत्वनुप्रवेशो न शक्यते वक्तुम्, कर्तुर्लौकिकवैदिकसाधारणत्वेनाव्यभिचरितक्रतुसम्बन्धित्वात्। नैवम्, लौकिकस्य कर्मणः कर्तुर्देहादव्यतिरिक्तत्वेऽप्युपपत्तेर्देहातिरिक्तनित्यात्म-

१. तै. आ. १-अनु ॥—२. पूर्वमीमांसा. ४-३-१ ॥—३. शारी. १-१-१७ ॥—४. शारी. १-१-१८ ॥—५. शारी. १-२-३ ।—६. शारी. १-३-१७ ॥—७. शारी. २-१-२२ ॥—८. छा. ६-८-७ ॥—९. छा. ३-१४-१ ॥—१०. बृ. ५-७-३ ॥—११. बृ. ५-७-२२. मा-पा॥—१२. शारी. १-४-२२ ॥

स्वरूपस्य कृतावेवोपयोगात्तत्स्वरूपप्रतिपादनमुखेन क्रत्वनुप्रवेशो न विरुध्यते । अतो विद्यायाः क्रतुशेषत्वान्नातः पुरुषार्थः ॥ २ ॥

कानि पुनस्तानि लिङ्गानि; यदुपबृंहितसामानाधिकरण्यनिर्देशेन वेदान्तशब्दा जीवस्वरूपपरा इति निर्णीयन्ते । तत्राह—

आचारदर्शनात् । ३ । ४ । ३ ॥

ब्रह्मविदां प्राधान्येन कर्मस्वेवाचारो दृश्यते अश्वपतिः केकयः किल आत्मवित्तमस्तद्विज्ञानायोपगतांस्तानृषीन् प्रत्याह—१"यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि" इति । तथा जनकादयो ब्रह्मविदग्रेसराः कर्मनिष्ठाः स्मृतिषु दृश्यन्ते २"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" ३"इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः" इति । अतो ब्रह्मविदां कर्मप्रधानत्वदर्शनाद्विद्यायाः कर्तृस्वरूपवेदनरूपत्वेन कर्माङ्गत्वमेवेति न विद्यातः पुरुषार्थः ॥ ३ ॥

लिङ्गमिदम्; प्राप्तिरुच्यतामित्यत्राह—

तच्छ्रुतेः । ३ । ४ । ४ ॥

श्रुतिरेव हि विद्यायाः कर्माङ्गत्वमाह—४"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति । नेयं श्रुतिः प्रकरणादुद्गीथमात्रविषयेतिव्यवस्थापयितुं शक्या; यतः प्रकरणाच्छ्रुतिर्बलीयसी; ४"यदेव विद्यया करोति" इति विद्यामात्रविषया ह्रीयं श्रुतिः ॥ ४ ॥

समन्वारम्भणात् । ३ । ४ । ५ ॥

५"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" इति विद्याकर्मणोस्साहित्यं च

---

१. छा. ५-११-५ ॥—२. गी. ३-२० ॥—३. वि. ६-६-१२ ॥—४. छा, १-१-१० ॥—५. बृ. ६-४-२ ॥

दृश्यते । साहित्यं चोक्तेन न्यायेन विद्यायाः कर्माङ्गत्वे सत्येव भवति ॥

तद्वतो विधानात् । ३ । ४ । ६ ॥

विद्यावतः कर्मविधानाद्विद्या कर्माङ्गमित्यवगम्यते—१"आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे" इत्यादौ । १"वेदमधीत्य" इत्यध्ययनवतः कर्माणि विदधदर्थावबोधपर्यन्ताध्ययनवत एव विदधाति । अर्थावबोधपर्यन्तं ह्यध्ययनमिति स्थापितम् । अतो ब्रह्मविद्यापि कर्मसु विनियुक्तेति न पृथक्फलायावकल्पते ॥ ६ ॥

नियमात् । ३ । ४ । ७ ॥

इतश्च न विद्यातः पुरुषार्थः । २"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" इत्यात्मविदः, पुरुषायुषस्य सर्वस्य कर्मसु नियमेन विनियोगात्कर्मण एव फलमित्यवगम्यते । विद्या तु कर्माङ्गमिति ॥ ७ ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् । ३ । ४ । ८ ॥

तुशब्दात्पक्षो व्यावृत्तः; विद्यात एव पुरुषार्थः; कुतः ? अधिकोपदेशात्-कर्मसु कर्तुर्जीवाद्धेयप्रत्यनीकानवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणाकरत्वेनाधिकस्यार्थान्तरभूतस्य परस्य ब्रह्मणो वेद्यतयोपदेशात् भगवतो बादरायणस्य विद्यातः ३ फलमित्येवमेव मतम् । लिङ्गानि तिष्ठन्तु; वेद्यतयोपदेशस्तु तावत्कर्तुः प्रत्यगात्मनोऽधिकस्यैव । कथम् ? तद्दर्शनात्—प्रत्यगात्मन्यशुद्धे शुद्धेऽप्यसम्भावनीयानन्तगुणाकरस्य वेद्यस्य

१. छा. ८-१५-१ ॥—२. ईशावास्य-२ ॥—३. पुरुषार्थ इत्ये. पा ॥

निरस्तनिखिलहेयगन्धस्य स्वसङ्कल्पकृतजगदुदयविभवलयलीलस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्वाङ्मनसापरिच्छेद्यानन्दस्य जीवाधिपस्य कृत्स्नस्य प्रशासितुः परस्य ब्रह्मणो वेदनोपदेशवाक्येषु दर्शनात् १"अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः" २"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" ३"यस्सर्वज्ञस्सर्ववित्" ४ 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" ५"स एको ब्रह्मण आनन्दः" ६"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति" ७"एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरणः" ८"स कारणं करणाधिपाधिपो नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः" ९"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः (एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः)" १०"भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः" इत्यादिषु। तस्माद्वेदनोपदेशशब्देषु कर्तुः प्रत्यगात्मनः खद्योतकल्पस्याविद्यादिहेयसम्बन्धयोग्यस्य गन्धोऽपि नास्तीति परमपुरुषविषयाया विद्यायास्तत्प्राप्तिरूपममृतत्वं तत्रतत्र श्रूयमाणं फलमिति विद्यातः पुरुषार्थ इति सुष्ठूक्तम् ॥ ८ ॥

लिङ्गान्यपि निरस्यन्ते—

तुल्यं तु दर्शनम् । ३ । ४ । ९ ॥

यदुक्तं—ब्रह्मविदां कर्मानुष्ठानदर्शनाद्विद्या कर्माङ्गम्—इति; तन्न विद्याया अनङ्गत्वेऽपि तुल्यं दर्शनम्, ब्रह्मविदां कर्मानुष्ठानदर्शनमनैकान्तिकमित्यर्थः, अननुष्ठानस्यापि दर्शनात्। दृश्यते हि ब्रह्मविदां कर्म-

१. छा. ८-१-५ ॥—२. छा. ६-२-३ ॥—३. मु. १-१-९ ॥—४. श्वे. ६-८ ॥—५. तै. आन. ८-४ ॥—६. तै. आन. ४-१ ॥—७. बृ. ६-४-२२ ॥—८. श्वे. ६-९ ॥—९. बृ. ५-८-९ ॥—*कुण्डलितो वाक्यशेषः केषुचित्कोशेषु न दृश्यते ॥—१०. तै. आ. ८-१ ॥

त्यागः १"ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे" इत्यादौ । अतो ब्रह्मविदां कर्मत्यागदर्शनान्न विद्या कर्माङ्गम् । कथमिदमुपपद्यते—ब्रह्मविदां कर्मानुष्ठानमननुष्ठानञ्च ? फलाभिसन्धिरहितस्य यज्ञादिकर्मणो ब्रह्मविद्याङ्गत्वात्तथाविधस्य कर्मणोऽनुष्ठानदर्शनमुपपद्यते । वक्ष्यति च २"सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" इति । फलार्थस्य तस्यैव यज्ञादेः कर्मणो मोक्षैकफलब्रह्मविद्याविरोधित्वात्तस्याननुष्ठानदर्शनमुपपन्नतरम् । विद्यायाः कर्माङ्गत्वे कर्मत्यागः कथमपि नोपपद्यते ॥ ९ ॥

यदुक्तं—श्रुत्यैव विद्यायाः कर्माङ्गत्वमवगम्यते इति; तत्राह—

असार्वत्रिकी । ३ । ४ । १० ॥

न सर्वविद्याविषयेयं श्रुतिः; अपितूद्गीथविद्याविषयैव ३"यदेव विद्यया करोति" इति यच्छब्दस्यानिर्धारितविशेषस्य ४"उद्गीथमुपासीत" इति प्रस्तुतोद्गीथविशेषनिष्ठत्वात् । नहि यत्करोति, तद्विद्ययेति सम्बध्यते; यदेव विद्यया करोति, तदेव वीर्यवत्तरमिति विद्यया क्रियमाणं यच्छब्देन निर्दिश्य तस्य हि वीर्यवत्तरत्वमुच्यते ॥ १० ॥

यच्चेदमुक्तं ५"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" इति विद्याकर्मणोस्साहित्यदर्शनाद्विद्या कर्माङ्गम्—इति; तत्राह—

विभागश्शतवत् । ३ । ४ । ११ ॥

५"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" इत्यत्रोक्तेन न्यायेन विद्याकर्मणोर्भिन्नफलत्वाद्विद्या स्वस्मै फलाय समन्वारभते, कर्म च स्वस्मै फलायेति विभागो द्रष्टव्यः । शतवत्—यथा क्षेत्ररत्नविक्रयिणं शतद्वयमन्वेतीत्युक्ते क्षेत्रार्थं शतम्, रत्नार्थं शतमिति विभागः प्रतीयते; तथेहापि ॥

अध्ययनमात्रवतः । ३ । ४ । १२ ॥

१ ॥—२. शारी. ३-४-२६ ॥—३. छा. १-१-१० ॥—४. छा. १-१-१ ॥—५. बृ. ६-४-२ ॥

यदुक्तं विद्यावतः कर्मविधानाद्विद्या कर्माङ्गम्–इति; नैतद्युक्तम्, १"वेदमधीत्य" इत्यध्ययनमात्रवतो विधानात्। नचाध्ययनविधिरेवार्थबोधे प्रवर्तयति, आधानवदध्ययनस्याक्षरराशिग्रहणमात्रे पर्यवसानात्। गृहीतस्य च स्वाध्यायस्य फलवत्कर्मावबोधित्वदर्शनात्तन्निर्णयफले तदर्थविचारे पुरुषः स्वयमेव प्रवर्तते; ततः कर्मार्थी कर्मज्ञाने प्रवर्तते, मोक्षार्थी च ब्रह्मज्ञान इति न विद्या कर्माङ्गम्। यद्यप्यध्ययनविधिरेवार्थावबोधे प्रवर्तयति; तथापि न विद्या कर्माङ्गम्, अर्थज्ञानादर्थान्तरत्वाद्विद्यायाः। यथा ज्योतिष्टोमादिकर्मस्वरूपविज्ञानात्फलसाधनभूतं कर्मानुष्ठानमर्थान्तरम्; तथाऽर्थज्ञानरूपाद्ब्रह्मस्वरूपविज्ञानादर्थान्तरमेव ध्यानोपासनादिशब्दवाच्या पुरुषार्थसाधनभूता विद्येति न तस्याः कर्मसम्बन्धगन्धो विद्यते ॥ १२ ॥

नाविशेषात्। ३। ४। १३ ॥

यथोक्तं २"कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यात्मविदं ज्ञानाद्व्यावर्त्य यावज्जीवं कर्मानुष्ठाने नियमयतीति; तन्नोपपद्यते; अविशेषात्–नह्ययं नियमः फलसाधनभूतस्वतन्त्रकर्मविषय इति विशेषहेतुरस्ति, विद्याङ्गभूतकर्मविषयतयाऽप्युपपत्तेः। ३"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" इति च विदुषस्त्वाप्रयाणादुपासनस्यानुवर्तमानत्वात् ॥ १३ ॥

एवमर्थस्वाभाव्येन चोद्यं परिहृत्य २"कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यस्य वाक्यस्यार्थमाह–

स्तुतयेऽनुमतिर्वा। ३। ४। १४ ॥

वाशब्दोऽवधारणार्थः; २"ईशावास्यमिदं सर्वम्" इति विद्याप्रकरणाद्विद्यास्तुतये सर्वदा कर्मानुष्ठानानुमतिरियम्। विद्यामाहात्म्यात्सर्वदा कर्म कुर्वन्नपि न लिप्यते कर्मभिरिति हि विद्या स्तुता भवति।

---

१. छा. ८-१५-१ ॥—२. ईशावास्य. २ ॥—३. गी. ३ २० ॥

वाक्यशेषश्चैवमेव दर्शयति—[1]"एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे" इति। अतो न कर्माङ्गं विद्या ॥ १४ ॥

कामकारेण चैके । ३ । ४ । १५ ॥

अपि चैवमेके शाखिनः कामकारेण ब्रह्मविद्यानिष्ठस्य गार्हस्थ्यत्यागमधीयते [2]"किं प्रजया करिष्यामो येषां नोयमात्माऽयं लोकः" इति। विदुषो विरक्तस्य कामकारेण गार्हस्थ्यकर्मत्यागं ब्रुवदिदं वचनं ब्रह्मविद्यायाः कर्मानङ्गत्वं दर्शयति। यज्ञादिकर्माङ्गत्वेहि विद्यायाः विद्यानिष्ठस्य कामकारेण गार्हस्थ्यत्यागो न सम्भवति। अतो न विद्या कर्माङ्गम् ॥ १५ ॥

उपमर्दं च । ३ । ४ । १६ ॥

पुण्यापुण्यरूपस्य समस्तसांसारिकदुःखमूलस्य कर्मणो ब्रह्मविद्ययोपमर्दं च प्रतिवेदान्तमधीयते। [3]"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इत्यादिकम्। तद्विद्यायाः कर्माङ्गत्वे न सङ्गच्छते ॥ १६ ॥

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि । ३ । ४ । १७ ॥

ऊर्ध्वरेतस्स्वाश्रमेषु ब्रह्मविद्यादर्शनात्तेष्वग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्माभावाच्च न विद्या कर्माङ्गम्। ननूर्ध्वरेतस आश्रमा न सन्त्येव [4]"यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादिनाऽग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां यावज्जीवाधिकारश्रुतेः; श्रुतिविरुद्धानां स्मृतीनां चाप्रामाण्यात्। अत आह—शब्दे हि—इति। वैदिक एव हि शब्दे ते दृश्यन्ते[5]"त्रयो धर्मस्कन्धाः"[6] "ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते" [2]"एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः

---

१. ईशा. १-२ ॥—२. बृ. ६-४-२२ ॥—३. मु. २-२-८ ॥—४. आपस्तम्बश्रौत. ३-१४-८ ॥ बह्वृच इति शाबरः ॥—५. छा. २-२३-१ ॥—६. छा- ५ १०-१ ॥

प्रव्रजन्ति" इत्यादौ । यावज्जीवश्रुतिस्त्वविरक्तविषया ॥ १७ ॥

परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि ।३।४।१८॥

यदिदं १"त्रयो धर्मस्कन्धाः" इत्यादौ वैदिके शब्दे ऊर्ध्वरेतस आश्रमा दृश्यन्ते ; अतस्ते सन्त्येवेति; नैतदुपपद्यते; यतः १"त्रयो धर्मस्कन्धाः"इत्यादिषु वाक्येषु तेषामाश्रमाणां परामर्शमात्रं क्रियते–अनुवादमात्रमित्यर्थः । कुत एतत् ? अचोदनात्–अविधानादित्यर्थः । न ह्यत्र विधिशब्दः श्रूयते; १"त्रयो धर्मस्कन्धाः" इत्यादिना हि प्रकृतं प्रणवेन ब्रह्मोपासनं स्तूयते, १"ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इत्युपसंहारात् । अतोऽन्यार्थमनुवादमात्रमत्र क्रियते तेषामाश्रमाणाम् । २"ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते" इति च देवयानविधिपरत्वात्तत्रापि नाश्रमान्तरविधिसम्भवः । अपि चापवदति हि श्रुतिराश्रमान्तरं ३"वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते" इत्यादिका । अत ऊर्ध्वरेतस आश्रमा न सन्तीति जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥ १८ ॥

अनुष्ठेयं बादरायणस्साम्यश्रुतेः । ३ । ४ । १९ ॥

गृहस्थाश्रमवदाश्रमान्तरमप्यनुष्ठेयं भगवान् बादरायणो मन्यते । कुतः? साम्यश्रुतेः–उपादेयतयाऽभिमतगृहस्थाश्रमसाम्यं हि तेषामप्याश्रमाणां श्रूयते । १"त्रयो धर्मस्कन्धाः" इत्यारभ्य ब्रह्मसंस्थस्तुत्यर्थतया सङ्कीर्तनं गृहस्थाश्रमस्येतरेषां च समानम् ; अथ गृहस्थाश्रमस्यानुवादः प्राप्तौ सत्यामेव संभवतीति तस्य प्राप्तिरवश्याभ्युपेत्येति मतम्; तदितरेषामपि समानमन्यत्राभिनिवेशात् । नच गार्हस्थ्यधर्म एव १"यज्ञोऽध्ययनं दानं तपो ब्रह्मचर्यम् इति सर्वैश्शब्दैरभिधीयते, ब्रह्मचर्यतपसोर्गृहस्थस्यैव सम्भवादिति युक्तम्, १"त्रयो धर्मस्कन्धाः" इति त्रित्वेन संगृह्य १"प्रथमो...द्वितीयः...तृतीयः"इति विभागवचनानुपपत्तेः । अतः

१.छा. २-२३-१॥—२.छा. ५-१०-१॥—३. यजु. १-कां.५प्र.२-अनु.

१"यज्ञोऽध्ययनं दानम्" इति गृहस्थाश्रम उच्यते। अध्ययनशब्दो वेदाभ्यासपरः। तपश्शब्देन वैखानसपारिव्राज्ययोर्ग्रहणम्, उभयोः तपः प्रधानत्वात्। तपश्शब्दो हि कायक्लेशे रूढः;स च द्वयोरपि समानः। ब्रह्मचारिधर्म एव ब्रह्मचर्यशब्देनाभिधीयते। १"ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इति परत्र श्रूयमाणो ब्रह्मसंस्थशब्दो यौगिकः सर्वाश्रमसाधारणः, सर्वेषामाश्रमिणां ब्रह्मसंस्थासम्भवात्। ब्रह्मणि संस्था-संस्थितिः ब्रह्मसंस्थत्वम्; तच्च सर्वेषां सम्भवत्येव। ब्रह्मनिष्ठाविकलाः केवलाश्रमिणः पुण्यलोकभाजः; तेष्वेव ब्रह्मनिष्ठोऽमृतत्वभाग्भवति। तदेतद्विस्पष्टमुक्तं भगवता पराशरेण २"प्राजापत्यं ब्राह्मणानाम्" इत्यारभ्य ३ "ब्राह्मं संन्यासिनां स्मृतम्" इत्यन्तेन वर्णानामाश्रमाणां च केवलानां ब्रह्मलोकप्राप्त्यन्तं फलमभिधाय ४"एकान्तिनस्सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनो हि ये। तेषां तत्परमं स्थानं यद्वै पश्यन्ति सूरयः" इति तेष्वेव ब्रह्मनिष्ठानां ब्रह्मप्राप्तिमभिदधता। अतो गृहस्थाश्रमतुल्याः ऊर्ध्वरेतस आश्रमा अपि दृश्यन्त इति तेऽप्यनुष्ठेयाः। ५"ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते" इति च अरण्ये इति तपः प्रधानाश्रमप्राप्त्यपेक्षत्वाद्देवयानविधानस्य तत्रापि तत्प्राप्तिरङ्गीकरणीया ॥ ६ ॥

परामर्शपक्षे विधानपक्षे च गृहस्थाश्रमतुल्यमेषामप्यनुष्ठेयत्वमित्युपपाद्य विधिरेवायमाश्रमाणां सर्वेषां, नानुवाद इत्युपपादयितुमाह—

विधिर्वा धारणवत् । ३ । ४ । २० ॥

वा शब्दोऽवधारणार्थः। विधिरेवायमाश्रमाणाम्; धारणवत्-यथा दिष्टाग्निहोत्रे ६"अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति" इत्यत्रानुवादसरूपादपि वाक्यादुपरि धारणस्याप्राप्तत्वाद्विधिराश्रीयते; तदुक्तं शेषलक्षणे ७" विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्" इति; तथाऽत्राप्यप्राप्त-

१. छा. २-२३-१ ॥—२. वि-पु. १-६-३४ ॥—३. वि-पु. १-६-३७॥
४. वि-पु. १-६-३८ ॥—५.छा. ५-१०-१॥—६.॥—७. पू.मी० ३-४-१५ ॥

त्वाद्विधिरेवाश्रयणीयः । १"ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" इति जाबालानामाश्रमविधिमसन्तमिव कृत्वैतेष्वन्यपरेष्वपि वाक्येष्वाश्रमप्राप्तिरवश्याश्रयणीयेत्युपपादितम् । एवमाश्रमान्तरविधानादहरणश्रुतिर्यावज्जीवश्रुतिरपवादश्रुतिश्चाविरक्तविषया एवेति वेदितव्याः । अन्यश्च ब्रह्मविदः कर्मणामाप्रयाणादवश्यकर्तव्यताविधायिन्यः श्रुतयः स्मृतयश्च स्वस्वाश्रमधर्मविषयाः । अत ऊर्ध्वरेतस्सु च ब्रह्मविद्याविधानाद्विद्यातः पुरुषार्थ इति सिद्धम् ॥ २० ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पुरुषार्थाधिकरणम् ॥ १ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये स्तुतिमात्राधिकरणम् ॥२॥)

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ३ ४।२१॥

इदमिदानीं चिन्त्यते २ "स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः" इति एवंजातीयकानि वाक्यानि क्रत्ववयवभूतोद्गीथादिस्तुतिमात्रपराणि, आहोस्विदुद्गीथादिषु रसतमादिदृष्टिविधानार्थानीति । अत्र प्रतिपादितमुपासनपरत्वमङ्गीकृत्योपासनस्य पुरुषार्थत्वेन क्रतुपूपादानानियम उक्तः । किं युक्तम् ? स्तुतिमात्रपराणीति । कुतः ? उद्गीथाद्युपादानात् । क्रत्वङ्गभूतानि ह्युद्गीथादीन्युपादाय तेषां रसतमादित्वं प्रतिपादितम् ; यथा जुह्वादीनां पृथिव्यादित्वं प्रतिपादयतो वचनस्य ३"इयमेव जुहूः स्वर्गो लोक आहवनीयः" इत्यादिकस्य तत्स्तुतिमात्रपरत्वम् , तथेहापि । तदिदमाशङ्कते—स्तुतिमात्रमुपादानादितिचेत्-इति । उद्गीथाद्युपादानात्तत्स्तुतिमात्रमेवैषां वाक्यानां विवक्षितमिति चेत्-

---

१. जाबालोप. ४ ख. ॥—२. छा. १-१-३ –॥-३. ॥

—(सिद्धान्तः)—

अत्रोत्तरं—नापूर्वत्वात्-इति । न स्तुतिमात्रत्वमुपपद्यते; कुतः ? अपूर्वत्वात्-अप्राप्तत्वात् । न ह्युद्गीथादयो रसतमादितया प्रमाणान्तरेण प्रतिपन्नाः; येन तत्प्राशस्त्यबुद्ध्युत्पत्त्यर्थं रसतमादित्वेनानूद्येरन् । नचोद्गीथादिविधिरत्र सन्निहितः; येन १"इयमेव जुहूस्स्वर्गो लोक आहवनीयः" इत्यादिवत्तदेकवाक्यत्वेन यथाकथाचन विधया तत्स्तुतिपरत्वमाश्रीयेत । अतः क्रतुवीर्यवत्तरत्वादिफलसिद्ध्यर्थमुद्गीथादिषु रसतमादिदृष्टिविधानमेव न्याय्यम् ॥ २१ ॥

भावशब्दाच्च । ३ । ४ । २२ ॥

२"उपासीत" इत्यादिभावशब्दाच विधिपरत्वमेव न्याय्यम् । विधिप्रत्यययुक्तो हि क्रिया शब्दो विधेयमेव स्वार्थमवगमयति । तस्मादुपासनविधानार्था एताश्श्रुतयः ॥ २२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये स्तुतिमात्राधिकरणम् ॥ २ ॥

———

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पारिप्लवार्थाधिकरणम् ॥ ३ ॥)

——:※:——

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ।३।४।२३॥

३ 'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम" ४ ' श्वेतकेतुर्हारुणेय आस" इत्येवमादीनि वेदान्तेष्वाख्यानानि किं पारिप्लवप्रयोगार्थानि, उत विद्याविशेषप्रतिपादनार्थानीति चिन्तायाम् ५ "आख्यानानि शंसन्ति" इत्याख्यानानां पारिप्लवे विनियोगात्र विद्याप्रधानत्वं न्याय्यमिति चेत्—

---

१. ॥—२. छा. १-१-१ ॥—३. कौ. ३-१ ॥—४. छा. ६-१-१ ॥ ५. ॥

—(सिद्धान्तः)—

न सर्वाण्याख्यानानि पारिप्लवप्रयोगे विनियोगमर्हन्ति; कुतः ? विशेषितत्वाद्विनियोगस्य। १"आख्यानानि शंसन्ति" इत्युक्त्वा तत्रैव २"मनुर्वैवस्वतो राजा" इत्यादिना मन्वादीनामाख्यानानि विशेष्यन्ते; अतस्तेषामेव तत्र विनियोग इति गम्यते। तस्मान्न सर्वा वेदान्तेष्वाख्यानश्रुतयः पारिप्लवप्रयोगार्थाः; अपि तु विद्याविध्यर्थाः ॥ २३ ॥

तथा चैकवाक्योपबन्धात् । ३ । ४ । २४ ॥

३"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादिविधिभिरेकवाक्यतयोपबन्धाचाख्यानानां विद्याविध्यर्थान्येव तानीति गम्यते; यथा ४"सोऽरोदीत्" इत्येवमादेः कर्मविध्यर्थत्वम्; न पारिप्लवार्थत्वम् ॥ २४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये पारिप्लवार्थाधिकरणम् ॥ ३ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अग्नीन्धनाद्यधिकरणम् ॥ ४ ॥)

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा । ३ । ४ । २५ ॥

स्तुतिप्रसङ्गादवान्तरसङ्गतिविशेषेणार्थद्वयं चिन्तितम्। विद्यावन्त ऊर्ध्वरेतस आश्रमिणस्सन्तीत्युक्तम् ५" ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि " इत्यादिभिस्सूत्रैः। इदानीमूर्ध्वरेतसो यज्ञाद्यभावात्तदङ्गिका विद्या न सम्भवतीत्याशङ्क्याह—अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा—इति। यत ऊर्ध्वरेतस आश्रमिणो विद्यासम्बन्धित्वेन श्रुत्या परिगृह्यन्ते ६"ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" ७"ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते" ८"एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति" ९" यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति " इत्यादिकया;

१. ॥—२. ॥—३. बृ. ६-५-६ ॥—४. यजु. १-५-१ ॥—५. शारी. ३-४-१७ ॥—६. छा. २-२३-१ ॥—७. छा. ५-१०-१ ॥—८. बृ. ६-४-२२ ॥ ९. कठ. १-२-१५ ॥

अत एवोर्ध्वरेतस्सु विद्या अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा—अग्नीन्धनम्–अग्न्याधानम्; आधानपूर्वकाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मानपेक्षा तेषु विद्या। केवलस्वाश्रमविहितकर्मापेक्षेत्यर्थः ॥ २५ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अग्नीन्धनाद्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्वापेक्षाधिकरणम् ॥ ५ ॥)

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् । ३ । ४ । २६ ॥

यदि विद्या यज्ञाद्यनपेक्षैवामृतत्वं साधयति; तर्हि गृहस्थेष्वपि तदनपेक्षैव साधयितुमर्हति, यज्ञादिश्रुतिरपि १"विविदिषन्ति" इति शब्दात्कर्मणो वेदनाङ्गत्वं न प्रतिपादयतीति–

–(सिद्धान्तः)–

अत आह–सर्वापेक्षा–इति। अग्निहोत्रादिसर्वकर्मापेक्षैव विद्या कर्मवत्सु गृहस्थेषु; कुतः? यज्ञादिश्रुतेः। १'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इत्यादिना यज्ञादयो हि विद्याङ्गत्वेन श्रूयन्ते। यज्ञादिना विविदिषन्ति वेदितुमिच्छन्ति, यज्ञादिभिर्वेदनं प्राप्तुमिच्छन्तीत्यर्थः। यज्ञादीनां ज्ञानसाधनत्वे सत्येव यज्ञादिभिः ज्ञानं प्राप्तुमिच्छन्तीति व्यपदेश उपपद्यते; यथा असेर्हननसाधनत्वे सति असिना जिघांसतीति व्यपदेशः अतो यज्ञादीनां ज्ञानसाधनत्वमवगम्यते। ज्ञानं च वाक्यार्थज्ञानादर्थान्तरभूतं ध्यानोपासनादिशब्दवाच्यं विशदतमप्रत्यक्षतापन्नस्मृतिरूपं निरतिशयप्रियमहरहरभ्यासाधेयातिशयमाप्रयाणादनुवर्तमानं मोक्षसाधनमित्युक्तमस्माभिः पूर्वमेव; वक्ष्यति च २"आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" इत्यादिना। एवं रूपं च ध्यानमहरहरनुष्ठीयमानैर्नित्यनैमित्तिककर्मभिः परमपुरुषाराधनरूपैः

---

१. बृ. ६-४-२२ ॥—२. शारी. ४-१-१ ॥

परमपुरुषप्रसादद्वारेण जायत इति यज्ञादिना विविदिषन्तीति शास्त्रेण प्रतिपाद्यते। अतः कर्मवत्सु गृहस्थेषु यज्ञादिनित्यनैमित्तिकसर्वकर्मापेक्षा विद्या। अश्ववत्--यथा गमनसाधनभूतोऽश्वः स्वपरिकरबन्धपरिकर्मापेक्षः; एवं मोक्षसाधनभूताऽपि विद्या नित्यनैमित्तिककर्मपरिकरापेक्षा। तदिदमाह स्वयमेव भगवान् १"यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्" २"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः" इति॥ २६॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्वापेक्षाधिकरणम्॥ ५॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये शमदमाद्यधिकरणम्॥ ६॥)

शमदमाद्युपेतस्स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामप्यवश्यानुष्ठेयत्वात्। ३। ४। २७॥

गृहस्थस्य शमदमादीन्यप्यनुष्ठेयानि, उत नेति चिन्तायाम्—आन्तरबाह्यकरणव्यापाररूपत्वात्कर्मानुष्ठानस्य, शमदमादीनां तद्विपरीतरूपत्वाद्यानननुष्ठेयानि—

–(सिद्धान्तः)–

इति प्राप्त उच्यते—यद्यपि गृहस्थः करणव्यापाररूपकर्मसु प्रवृत्तः, तथाऽपि स विद्वान् शमदमाद्युपेतस्स्यात्; कुतः? तदङ्गतया तद्विधेः—विद्याङ्गतया तेषां विधेः ३"तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुस्समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्" इति। विद्योत्पत्तेश्चित्तसमाधानरूपत्वेन दृष्टपरिकरत्वाच्छमादीनां, विद्यानिर्वृत्तये तेषां—शमादीनामप्यवश्यानुष्ठेयत्वाच्च तान्यप्यनुष्ठेयानि। नच करणव्यापारतन-

---

१.-गी. १८-५॥—२. गी. १८-४६॥—३. बृ. ६-४-२३॥

विपर्ययरूपत्वेन कर्मणां शमदमादीनां च परस्परविरोधः, भिन्नविषयत्वात्तु विहितेषु करणव्यापारः, अविहितेषु प्रयोजनशून्येषु च तदुपशम इति। नच करणव्यापाररूपकर्मसु वर्तमानस्य वासनावशाच्छमादीनामुपादेयत्वसम्भवः, विहितानां कर्मणां परमपुरुषाराधनतया तत्प्रसादद्वारेण निखिलविपरीतवासनोच्छेदहेतुत्वात्। अतो गृहस्थस्य शमदमादयोऽप्यनुष्ठेयाः ॥ २७ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये शमदमाद्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् ॥७॥)—

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ।३। ४। २८॥

वाजिनां छन्दोगानां च प्राणविद्यायां १"न ह वा अस्यानन्नं दग्धं भवति नानन्नं परिगृहीतं भवति" २"नह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवति" इति प्राणविदः सर्वान्नानुमतिः सङ्कीर्त्यते; किमियं प्राणविद्यानिष्ठस्य सर्वान्नानुमतिः सर्वदा, उत प्राणात्ययापत्ताविति विशये, विशेषानुपादानात्सर्वदा—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते-प्राणात्यये-इति । चशब्दोऽवधारणे; प्राणात्ययापत्तावेवेत्यर्थः । कुतः? तद्दर्शनात्—दृश्यते ह्यन्यत्र ब्रह्मविदामपि प्राणात्ययापत्तावेव सर्वान्नाभ्यनुज्ञा ; किं पुनः प्राणविदः । उषस्तिः किल चाक्रायणो ब्रह्मविदग्रेसरो मटचीहतेषु कुरुषु दुर्भिक्षदूषितेष्विभ्यग्रामे वसन्ननशनेन प्राणसंशयमापन्नो ब्रह्मविद्यानिष्पत्तये प्राणानामनवसादमाकाङ्क्षमाण इभ्यं कुल्माषान् खादन्तं भिक्षमाणस्तेन च उच्छिष्टेभ्योऽन्ये न विद्यन्त इति प्रत्युक्तः पुनरपि ३"एतेषां मे देहि" इत्युक्त्वा तेन·

१. बृ. ८-१-१४ ॥—२. छा. ५-२-१ ॥—३. छा. १-१०-३,४ ॥

चेभ्येनोच्छिष्टेभ्य आदाय दत्तान् कुल्माषान् प्रतिगृह्यानुपानप्रतिग्रहमिभ्येनार्थितः १' उच्छिष्टं वै मे पीतं स्यात्" इति वदंश्चाक्रायणः किमेते कुल्माषा अनुच्छिष्टा इति इभ्येन पर्यनुयुक्तः १"न वा अजीविष्यमिमानखादन्...कामो म उदपानम्" इति कुल्माषाखादने स्वस्य प्राणसंशयापत्तेस्तावन्मात्रखादनेन धृतप्राणस्य स्वस्योच्छिष्टोदकपानं कामकारितं निषिद्धं स्यादित्युक्त्वा स्वखादितशेषं जायायै दत्वा तथा च रक्षितानपरेद्युर्याजनेनार्जिजीपया जिगमिषुः पुनरपि प्राणसंशयमापन्नस्तानेवेभ्योच्छिष्टान् स्वोच्छिष्टभूतान् पर्युषितांश्चखाद। अतो ब्रह्मविदामपि प्राणसंशय एव सर्वान्नानुमतिदर्शनादत्राविशेषेण कीर्तितमपि प्राणविदस्सर्वान्नीनत्वं प्राणात्ययापत्तावेवेति निश्चीयते ॥ २८ ॥

अबाधाच्च । ३ । ४। २९ ॥

२"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः" इति ब्रह्मविद्योत्पत्तावाहारशुद्धिविधानाबाधादपि ब्रह्मविदां सर्वान्नीनत्वमापद्विषयमवगम्यते। एवं ब्रह्मविदामतिशयितशक्तीनामपि सर्वान्नीनत्वस्यापद्विषयत्वात्प्राणविदोऽल्पशक्तेः सर्वान्नानुमतिरापद्विषयैव ॥२६॥

अपि स्मर्यते ३ । ४ । ३० ॥

अपि च आपद्विषयमेव सर्वान्नीनत्वं ब्रह्मविदामन्येषां च स्मर्यते – ३"प्राणसंशयमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा" इति ॥ ३० ॥

शब्दश्चातोऽकामकारे । ३ । ४ । ३१ ॥

यतो ब्रह्मविदामन्येषां च सर्वान्नीनत्वमापद्विषयमेव; अत एव सर्वेषामकामकारे शब्दः-कामकारस्य प्रतिषेधकः शब्दो वर्तते। अस्ति हि कठानां संहितायां कामकारस्य प्रतिषेधकः शब्दः ४तस्माद्ब्राह्मण-

१. छा. १-१०-३, ४ ॥ -- २. छा. ७-२६-२ ॥--३॥--
४. नोत्मसृजा इति, पा ॥

सुरां न पिबति पाप्मना १"नोत्सृजा इति" इति । पाप्मना संसृष्टो न भवानीति मत्वा ब्राह्मणः सुरां न पिबतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये विहितत्वाधिकरणम् ॥८॥)

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि । ३ । ४ । ३२ ॥

यज्ञादिकर्माङ्गिका ब्रह्मविद्येत्युक्तम्; तानि च यज्ञादीनि कर्माण्यमुमुक्षुणा केवलाश्रमिणाऽप्यनुष्ठेयानि, उत नेति चिन्तायां, विद्याङ्गानां सतां २ केवलाश्रमशेषत्वे नित्यानित्यसंयोगविरोधः प्रसज्यत इति यज्ञादीनां ३ केवलाश्रमधर्मत्वं न सम्भवति—

—[सिद्धान्तः]—

इति प्राप्त उच्यते—आश्रमकर्मापि—इति । आश्रमस्य कर्मापि भवति । केवलाश्रमिणापि अनुष्ठेयानीत्यर्थः । कुतः ? ४"यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादिना विहितत्वात्—जीवननिमित्ततया नित्यवद्विहितत्वादित्यर्थः ॥ ३२ ॥

तथा विद्याङ्गतया च ४ 'तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादिना विहितत्वाद्विद्याशेषतयाप्यनुष्ठेयानीत्याह—

सहकारित्वेन च । ३ । ४ । ३३ ॥

विद्योत्पत्तिद्वारेण विद्यासहकारितयाऽप्यनुष्ठेयानि । अग्निहोत्रादीनामिव जीवनाधिकार स्वर्गाधिकारवत् विनियोगपृथक्त्वेनोभयार्थत्वं न विरुध्यत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

---

१. नोत्संसृजा इति. पा ॥—२. केवलाश्रमिशेषत्वे. पा ॥—३. केवलाश्रमिधर्मत्वं. पा ॥—४ ॥

तद्वदेव कर्मान्तरत्वमपि नास्तीत्याह—

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् । ३ । ४ । ३४ ॥

सर्वथा–विद्यार्थत्वे आश्रमार्थत्वेऽपि, त एव यज्ञादय इति प्रतिपत्तव्यम्; न कर्मस्वरूपभेद इत्यर्थः। कुतः ? उभयलिङ्गात्--उभयत्र श्रुतौ यज्ञादिशब्दैः प्रत्यभिज्ञाप्य विनियोगात्, कर्मस्वरूपभेदे प्रमाणाभावाच्च ॥ ३४ ॥

अनभिभवं च दर्शयति । ३ । ४ । ३५ ॥

१"धर्मेण पापमपनुदति" इत्यादिभिश्च तानेव यज्ञादिधर्मान्निर्दिश्य तैर्विद्याया अनभिभवं--पापकर्मभिरुत्पत्तिप्रतिबन्धाभावं दर्शयति। अहरहरनुष्ठीयमानैर्हि यज्ञादिभिर्विशुद्धेऽन्तःकरणे प्रत्यहं प्रकृष्यमाणा विद्योत्पद्यते। अतस्त एवोभयत्र यज्ञादयः ॥ ३५ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये विहितत्वाधिकरणम् ॥ ८ ॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये विधुराधिकरणम् ॥९॥

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः । ३ । ४ । ३६ ॥

चतुर्णामाश्रमिणां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति; विद्यासहकारिण आश्रमधर्मा इति चोक्तम्। ये पुनराश्रमानन्तरा वर्तन्ते विधुरादयः; तेषां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति, नवेति विशये--आश्रमधर्मेतिकर्तव्यताकत्वाद्विद्यायाः, अनाश्रमिणां चाश्रमधर्माभावान्नास्त्यधिकारः--

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते–अन्तराचापितु–इति। तुशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः; चशब्दोऽवधारणे अन्तरा वर्तमानानाम्–अनाश्रमिणामपि विद्याया-

१. तै. ना. ५० अनु ॥

मधिकारोऽस्त्येव । कुतः ? तद्दृष्टेः-दृश्यते हि रैक्वभीष्मसंवर्तादीनामनाश्रमिणामपि ब्रह्मविद्यानिष्ठत्वम् नचाश्रमधर्मैरेव विद्यानुग्रह इति शक्यं वक्तुम्, १"यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन" इति दानादीनामाश्रमेषु २अनैकान्तिकानामप्यनुग्राहकत्वदर्शनात् । यथोर्ध्वरेतस्सु विद्यानिष्ठत्वदर्शनादग्निहोत्रादिव्यतिरिक्तैरेव विद्यानुग्रहः क्रियते; तथाऽनाश्रमिष्वपि विद्यादर्शनादाश्रमानियतैर्जपोपवासदानदेवताराधनादिभिर्विद्यानुग्रहश्शक्यते कर्तुम् ॥ ३६ ॥

अपि स्मर्यते । ३ ४ । ३७ ।

अपिच अनाश्रमिणामपि जपादिभिरेव विद्यानुग्रहः स्मर्यते ३"जप्येनापि च संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः । कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते" इति । संसिध्येत्--जपाद्यनुगृहीतया विद्यया सिद्धो भवतीत्यर्थः॥ ३७ ॥

विशेषानुग्रहश्च । ३ । ४ । ३८ ।

न केवलं न्यायस्मृतिभ्यामयमर्थस्साधनीयः; श्रूयते चानाश्रमनियतैर्धर्मविशेषैर्विद्यानुग्रहः ४"तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्येत्" इति ॥ ३८ ॥

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च । ३ । ४ । ३९ ॥

तुशब्दोऽवधारणे; अतः-अनाश्रमित्वात् इतरत्-आश्रमित्वमेव ज्यायः, अनाश्रमित्वमापद्विषयम् ; शक्तस्य त्वाश्रमित्वमेवोपादेयमित्यर्थः; भूयोधर्मकाल्पधर्मकयोरतुल्यकार्यत्वात् ; लिङ्गाच्च-स्मृतेरित्यर्थः । स्मर्यते च शक्तं प्रत्याश्रमस्योपादेयत्वम् ५"अनाश्रमी न तिष्ठेत्तु दिनमेकमपि द्विजः" इत्यादिना । निवृत्तब्रह्मचर्यस्य मृतभार्यस्य च अवैराग्ये सति दारालाभ आपत् ॥ ३९ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये विधुराधिकरणम् ॥ ६ ॥

---

१. बृ. ६-४-२२ ॥—२. अनेकान्तानां. पा ॥—३. मनु. २ ८७ ॥—
४. प्रश्नोप. १-१० ॥—५ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तद्भूताधिकरणम् ॥ १० ॥)

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमा-त्तद्रूपाभावेभ्यः । ३ । ४ । ४० ॥

नैष्ठिकवैखानसपरिव्राजकाश्रमेभ्यः प्रच्युतानामपि ब्रह्मविद्याया-मधिकारोऽस्ति, नेति चिन्तायां--विधुरादिवदनाश्रमैकान्तैर्दानादिभि-र्विद्यानुग्रहसम्भवादस्त्यधिकारः—

--(सिद्धान्तः)--

इति प्राप्त उच्यते-तद्भूतस्य तु नातद्भावः-इति । तुशब्दः पक्षव्या-वृत्त्यर्थः; तद्भूतस्य—नैष्ठिकाद्याश्रमनिष्ठस्य, नातद्भावः-अतथाभावः, अ-नाश्रमित्वेनावस्थानं न सम्भवति; कुतः ? तद्रूपाभावेभ्यो नियमात्-तद्रू-पाणि तेषां नैष्ठिकादीनां रूपाणि-वेषाः, धर्मा इत्यर्थः; तेषामभावाः-तद्रू-पाभावाः; तेभ्यः शास्त्रैर्नियमात् । नैष्ठिकाद्याश्रमप्रविष्टान् स्वाश्रमधर्मनि-वृत्तिभ्यो नियच्छन्ति हि शास्त्राणि १ "ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृती-योत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्" इति, २ "अरण्यमियात्ततो न पुनरेयात्" इति, ३"सन्न्यस्याग्निं न पुनरावर्तयेत्" इतिच । अतो विधु रादिवत् नैष्ठिकादीनामनाश्रमित्वेनावस्थानासम्भवान्न तानधिकरोति ब्र-ह्मविद्या; जैमिनेरपि-इत्यविगानं दर्शयन्नुक्तं स्वाभिमतं द्रढयति ॥४०॥

अथ स्यात्—नैष्ठिकादीनां ब्रह्मचर्यात्प्रच्युतानां प्रायश्चित्तादधि-कारस्सम्भवति; अस्ति च प्रायश्चित्तमधिकारलक्षणे निरूपितम् ४ "अ-वकीर्णिपशुश्च तद्वत्" इति अतः प्रच्युतब्रह्मचर्यस्य प्रायश्चित्तसम्भवा-त्कृतप्रायश्चित्तो ब्रह्मविद्यायामधिकरिष्यति-इति; तत्राह—

---

१. छा. २-२३-१ ॥--२. ॥—३. यजुषि. काठके ॥—४. ॥

नचाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तद-योगात् । ३ । ४ । ४१ ॥

अधिकारलक्षणोक्तमपि प्रायश्चित्तं नैष्ठिकादीनां तद्भ्रष्टानां न सम्भवति; कुतः ? पतनानुमानात्तद्योगात्—नैष्ठिकादीनां प्रच्युतानां पतनस्मृतेस्तस्य प्रायश्चित्तस्यासम्भवात्—१"आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा" इति । अतोऽधिकारिलक्षणोक्तं प्रायश्चित्तमितरब्रह्मचारिविषयम् ॥ ४१ ॥

उपपूर्वमपीत्येके भावमशनवत्तदुक्तम् ।३।४।४२॥

नैष्ठिकादीनां ब्रह्मचर्यप्रच्यवनमुपपूर्वम्—उपपातकम् .महापातकेष्वपरिगणितत्वादिति तत्र प्रायश्चित्तस्य भावं—विद्यमानतामप्येके आचार्या मन्यन्ते; अशनवत्—यथा मध्वनादिनिषेधस्तत्प्रायश्चित्तं चोपकुर्वाणस्य नैष्ठिकादीनां च समानम् ; तदुक्तं स्मृतिकारैः २ "उत्तरेषां चैतदविरोधि" इति । गुरुकुलवासिनो यदुक्तं, तत्स्वाश्रमाविरोध्युत्तरेषामप्याश्रमिणां भवतीत्यर्थः । तद्वदिहापि ब्रह्मचर्यप्रच्यवने प्रायश्चित्त३सम्भवाद्ब्रह्मविद्यायोग्यताप्यस्ति ॥ ४२ ॥

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च । ३ । ४ । ४३॥

तुशब्दो मतान्तरव्यावृत्त्यर्थः; उपपातकत्वे महापातकत्वेऽप्येते बहिर्भूता एव ब्रह्मविद्याधिकारिभ्यः; ब्रह्मविद्यायामनधिकृता इत्यर्थः । कुतः? स्मृतेः–पूर्वोक्तात् पतनस्मरणात् । यद्यपि कल्मषनिर्हरणाय कैश्चिद्वचनैः प्रायश्चित्ताधिकारो विद्यते तथापि कर्माधिकारानुगुणशुद्धिहेतुप्रायश्चित्तं न सम्भवति, ४"प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा"

---

१. आग्नेय. १६-९-२३ ।—२. गौत. १-प्र. ३-अ. ४ सू. ॥
३. तद्भावात् . पा. ॥—४ ॥

इति स्मृतेरित्यर्थः । आचाराच्च--शिष्टा हि नैष्ठिकादीन् भ्रष्टान् कृतप्रायश्चित्तानपि वर्जयन्ति, तेभ्यो ब्रह्मविद्यादिकं नोपदिशन्ति; अतस्तेषां नास्ति ब्रह्मविद्यायामधिकारः ॥ ४३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तद्भूताधिकरणम् ॥ १० ॥

[श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये स्वाम्यधिकरणम् ॥ ११ ॥]

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः । ३ । ४ । ४४ ॥

कर्माङ्गाश्रयाण्युद्गीथाद्युपासनानि किं यजमानकर्तृकाणि, उतर्त्विक्कर्तृकाणीति चिन्तायां–यजमानकर्तृकाणीत्यात्रेयो मन्यते; कुतः? फलश्रुते:–वेदान्तविहितेषु दहराद्युपासनेषु फलोपासनयोरेकाश्रयत्वदर्शनादिह च क्रतुफलाप्रतिबन्धरूपस्योद्गीथोपासनफलस्य यजमानाश्रयत्वश्रवणादित्यर्थः । न च गोदोहनादिवदङ्गाश्रयत्वेन यजमानकर्तृकत्वासम्भवः; गोदोहनादिषु ह्यध्वर्युकर्तृकप्रणयनाश्रयगोदोहनोपादानमन्येनाशक्यम ; इह तूद्गातृकर्तृकेऽप्युद्गीथे तस्योद्गीथादेः *रसतमत्वानुसन्धानंयजमानेनैव कर्तुं शक्यते ॥ ४४ ।

--[सिद्धान्तः]--

इति प्राप्तेऽभिधीयते—

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रियते । ३ । ४ । ४५ ॥

आर्त्विज्यम्–ऋत्विजःकर्मोद्गीथाद्युपासनमित्यौडुलोमिराचार्योमन्यते, कुतः ? तस्मै हि–प्रयोजनाय ऋत्विक्परिक्रियते, फलसाधनभूतस्य–

---

*रसतमादित्याद्युक्तं. पा. ॥

साङ्गस्य क्रतोरुपादानायेत्यर्थः । कर्मविधिषु १"ऋत्विजो वृणीते" २"ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति" इति ऋत्विक्कर्तृकत्वशास्त्रेण फलसाधनभूतं साङ्गं कर्म ऋत्विग्भिरनुष्ठेयमित्यवगम्यते; तदन्तर्गतानि कायिकानि मानसानि च कर्माणि ऋत्विक्कर्तृकाण्येव; नच शक्त्यशक्ती तस्य नियन्त्रनम् । यद्यप्युद्गीथाद्युपासनं पुरुषार्थः, तथापि क्रत्वधिकृताधिकारत्वात्क्रतोश्च साङ्गस्य ऋत्विक्कर्तृकत्वात्, ३"यदेव विद्यया करोति...तदेव वीर्यवत्तरम्" इति ऋत्विक्कर्तृकक्रियोपयोगित्वेन विद्यायास्तदेककर्तृकत्वश्रवणात्, ऋत्विक्कर्तृकाण्येतानि; दहरादिपूपासनेषु ऋत्विक्कर्तृकत्वाश्रवणात् ४"शास्त्रफलं प्रयोक्तरि" इति न्यायाच्च फलिकर्तृकत्वमेव ॥ ४५ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये स्वाम्यधिकरणम् ॥ ११ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ॥ १२ ॥)

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् । ३ । ४ । ४६ ॥

५"तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः" इत्यत्र बाल्यपाण्डित्यवन्मौनमपि विधीयते, उतानूद्यत इति विषये–मौनपाण्डित्यशब्दयोः ज्ञानार्थत्वात्, ५"पाण्डित्यं निर्विद्य" इति विहितमेव ज्ञानम् ५"अथ मुनिः" इत्यनूद्यते; विधिशब्दो नह्यत्र श्रूयत इति ॥

–(सिद्धान्तः)–

एवं प्राप्ते ब्रूमः—सहकार्यन्तरविधिः–इति । तद्वतः–विद्यावतः;

१. यजुः. ६-३-७ ॥—२ ॥—३. छा. १-१-१० ॥—४. पू. मी. ३-७-१८ ॥—५. बृ. ५-५-१ ॥

विध्यादिवत्-विधीयते इति यज्ञादिस्सर्वाश्रमधर्मः शमदमादिश्च विधिशब्देनोच्यते; आदिशब्देन श्रवणमनने गृह्येते; सहकार्यन्तरविधिरित्यत्रापि विधीयत इति विधिः; सहकार्यन्तरं विधिश्चेति सहकार्यन्तरविधिः; एतदुक्तं भवति-यथा १"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन" इत्यादिना २"शान्तो दान्तः" इत्यादिना च सहकारी यज्ञादिश्शमदमादिश्च विधीयते; यथाच ३"श्रोतव्यो मन्तव्य" इति श्रवणमनने चार्थप्राप्ते विद्यासहकारित्वेन गृह्येते; तथा ४"तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य" इत्यादिना पाण्डित्यं, बाल्यं, मौनमिति त्रितयं विद्यायास्सहकार्यन्तरं विधीयते-इति । मौनं च पाण्डित्यादर्थान्तरमित्याह-पक्षेणेति । मुनिशब्दस्य पक्षेण प्रकृष्टमननशीले व्यासादौ प्रयोगदर्शनात् मौनं पाण्डित्यबाल्ययोर्द्वयोस्तृतीयम् । यद्यपि ४"अथ मुनि" इत्यत्र विधिप्रत्ययो न श्रूयते ; तथापि मौनस्याप्राप्तत्वाद्विधेयत्वमङ्गीकरणीयम्-अथ मुनिस्स्यात्-इति । इदं च मौनं श्रवणप्रतिष्ठार्थान्मननादर्थान्तरभूतमुपासनालम्बनस्य पुनःपुनरसंशीलनं तद्भावनारूपम् । तदेवं वाक्यार्थः;— ब्राह्मणः-विद्यावान् पाण्डित्यं निर्विद्य -उपास्यं ब्रह्मतत्त्वं परिशुद्धं परिपूर्णं च विदित्वा श्रवणमननाभ्यामप्राप्तं वेदनं प्रतिलभ्येत्यर्थः; तच्च भगवद्भक्तिकृतसत्त्वविशुद्धिकृतम् ; यथोक्तं ५" नाहं वेदैः " इत्यारभ्य ५"भक्त्या त्वनन्यया शक्यः...ज्ञातुम्" इति । श्रुतिश्च ६"यस्य देवे परा भक्तिः" ७"नायमात्मा प्रवचनेन" इत्यादिका । बाल्येन तिष्ठासेत् ; बाल्यस्वरूपं चानन्तरमेव वक्ष्यते; बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिस्स्यात्-बाल्यपाण्डित्ये यथावदुपादाय परिशुद्धे परिपूर्णे ब्रह्मणि मननशीलो भवेत् , निदिध्यासनरूपविद्यावाप्तये । एवमेव त्रितयोपादानेन

---

१. बृ. ६-४-२२ ॥—२. बृ. ६-४-२३ ॥—३. बृ. ४-४-२ ॥—४. बृ. ५-५-१ ॥—५. गी. ११-५३-५४ ॥—६ श्वे. ६-अ. २३ ॥—७. कठ. २-२३ ॥

लब्धविद्यो भवतीत्याह १'अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः" इ-ति । अमौनं मौनेतरसहकारिकलापः; तं च मौनं च यथावदुपाददानो विद्याकाष्ठां तदेकनिष्पाद्यां लभेतेत्यर्थः। १"स ब्राह्मणः केन स्यात्" इति उक्तादुपायात्किमन्योऽप्युपायोऽस्तीति पृष्टे १"येन स्यात्तेनेदृश ए-व" इति-येन मौनपर्यन्तेन ब्राह्मणस्स्यादित्युक्तम्, तेनैवेदृशस्स्यात्; न केनाप्यन्येनोपायेनेति परिहृतम्। अतस्सर्वेष्वाश्रमेषु स्थितस्य विदुषो यज्ञादिस्वाश्रमधर्मवत्पाण्डित्यादिकं मौनतृतीयं विद्यायास्सहकार्यन्तरं वि-धीयते ॥ ४६ ॥

अथ स्यात्-यदि सर्वेष्वाश्रमेषु स्थितानां विदुषां तत्तदाश्रमधर्म-सहकारिणी मौनतृतीयसचिवा विद्या ब्रह्मप्राप्तिसाधनमुच्यते; कथं त-र्हि छान्दोग्ये २'अभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे" इत्यारभ्य २"स ख-ल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते" इति यावदायुषं गार्हस्थ्यधर्मेण स्थितिदर्शनमुपपद्यते; अत आह-

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः । ३ । ४ । ४७ ॥

तुशब्दश्चोद्यं व्यावर्तयति; कृत्स्नभावात्-कृत्स्नेषु भावात्, कृत्स्ने-ष्वाश्रमेषु विद्यायास्सद्भावात् गृहिणोऽप्यस्तीति तेनोपसंहारः; तस्मा-त्सर्वाश्रमधर्मप्रदर्शनार्थो गृहिणोपसंहार इत्यभिप्रायः ॥ ४७ ॥

तथैतस्मिन्नपि वाक्ये १"ब्राह्मणः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरति" इति पारिव्राज्यैकान्त-धर्मं प्रतिपाद्य १"तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य" इत्यादिना पारिव्रा-ज्यधर्मस्थितिहेतुकमौनतृतीयसहकारिविधानं प्रदर्शनार्थमित्याह-

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् । ३ । ४ । ४८ ॥

१ बृ. ५-५ १ ॥—२. छा ८-१५-१ ॥

सर्वैषणाविनिर्मुक्तस्य भिक्षाचरणपूर्वकमौनोपदेशः सर्वेषामाश्रमधर्माणां प्रदर्शनार्थः; कुतः ? एवं विधमौनोपदेशवदितरेषामाश्रमिणामपि १ "त्रयो धर्मस्कन्धाः" इत्यारभ्य १ "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इतिब्रह्मप्राप्त्युपदेशात् । उपपादितश्च पूर्वमेव ब्रह्मसंस्थशब्दः सर्वाश्रमिसाधारण इति । अतस्सुष्ठूक्तं-यज्ञादिसर्वाश्रमधर्मवन्मौनतृतीयः पाण्डित्यादिर्विद्यासहकारित्वेन विधीयते — इति ॥ ४८ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ॥ १२ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अनाविष्काराधिकरणम् ॥१३॥)

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् । ३ । ४ । ४९ ॥

२"तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्" इत्यत्र विदुषा बाल्यमुपादेयतया श्रुतम् । बालस्य भावः, कर्म वा बाल्यम् । बालभावस्य वयोवस्थाविशेषस्यानुपादेयत्वात्कर्मैवेह गृह्यते । तत्र किं बालस्य कर्म कामचारादिकं सर्वं विदुषोपादेयम् ; उत डम्भादिरहितत्वमेवेति विशये विशेषाभावात्सर्वमुपादेयम् ; नियमशास्त्राणि च विशेषविधानाऽनेन बाध्यन्त इति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—अनाविष्कुर्वन्निति । बालस्य यत्स्वभावानाविष्काररूपं कर्म; तदुपाददानो वर्तेत विद्वान् । कुतः ? अन्वयात्—तस्यैवान्वयात् । २ "बाल्येन तिष्ठासेत्" इत्यस्मिन्विधौ तस्यैव ह्यन्वयसम्भवः; इतरेषां विद्याविरोधित्वश्रवणात् ३ 'नाविरतो दुश्चरितान्नाशा-

---

१. छा २-२३-१ ॥—२. बृ ५-५ १ ॥—३. कठ. २-२४ ॥

न्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्" १ "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः" इत्यादिषु ॥ ४६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अनाविष्काराधिकरणम् ॥ १३ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये ऐहिकाधिकरणम् ॥ १४ ॥)

—:*:—

ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात । ३ ।४। ५०॥

द्विविधा विद्या—अभ्युदयफला, मुक्तिफला च। तत्राभ्युदयफला स्वसाधनभूतैः पुण्यकर्मभिः पुण्यकर्मानन्तरमेव उत्पद्यते, उतानन्तरं कालान्तरे वेत्यनियम इति संशयः। पूर्वकृतैः पुण्यकर्मभिर्हि विद्वान् जायते; यथोक्तं भगवता २ "चतुर्विधा भजन्ते मां जनास्सुकृतिनोऽर्जुन" इति। साधने निर्वृत्ते विलम्बहेत्वभावादनन्तरमेव—

—[सिद्धान्तः]—

इति प्राप्त उच्यते-ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे-इति। ऐहिकम्-अभ्युदयफलमुपासनम् ,अप्रस्तुतप्रतिबन्धे—अप्रस्तुते-प्रबलकर्मान्तरप्रतिबन्धे सत्यनन्तरम् , प्रतिबन्धे सति तदुत्तरकालमित्यनियमः। कुतः? तद्दर्शनात्-दृश्यते हि प्रबलकर्मान्तरेण कर्मफलप्रतिबन्धाभ्युपगमः श्रुतौ ३"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरम्" इत्युद्गीथविद्यायुक्तस्य कर्मणः फलाप्रतिबन्धश्रवणात् ॥ ५० ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये ऐहिकाधिकरणम् ॥ १४ ॥

---

१. छा. ७-२६-२ ॥—२. गी. ७ १६ ॥—छा. १-१-१० ॥

[श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये मुक्तिफलाधिकरणम् ॥१५॥]

---*---

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः । ३ । ४ । ५१ ॥

मुक्तिफलस्याप्युपासनस्य स्वसाधनभूतैरतिशयितकर्मभिरुत्पत्तावेवमेव कालानियमः, तस्यापि पूर्ववत्प्रतिबन्धाभावप्रतिबन्धसमाप्तिरूपावस्थावगतेः--अत्रापि तस्य हेतोस्समानत्वादित्यर्थः ॥

सर्वेभ्यः कर्मभ्यो मुक्तिफलविद्यासाधनस्य कर्मणः प्रबलत्वात्प्रतिबन्धासम्भव इत्यधिकाशङ्का ॥

तत्रापि ब्रह्मविदपचाराणां पूर्वकृतानां प्रबलानां सम्भवात्प्रति[1]बन्धसम्भव इति परिहारः । द्विरुक्तिरध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये मुक्तिफलाधिकरणम् ॥ १५ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये
तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥
समाप्तश्चाध्यायः ॥ ३ ॥

---

१. प्रतिबन्धसम्भवतीति परिहारः, पा. ॥

* श्रीमते रामानुजाय नमः *

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते—

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

(चतुर्थाध्याये--प्रथमः पादः--आवृत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥)

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् । ४ । १ । १ ॥

तृतीयेऽध्याये साधनैस्सह विद्या चिन्तिता। अथेदानीं विद्यास्वरूपविशोधनपूर्वकं विद्याफलं चिन्त्यते । तत्र १"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" २"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" ३"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" ४"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्" इत्यादि वेदान्तवाक्येषु ब्रह्मप्राप्तिसाधनतया विहितं वेदनं किं सकृत्कृतमेव शास्त्रार्थः, उतासकृदावृत्तमिति संशयः। किं युक्तम् ? सकृत्कृतमिति; ३"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इति वेदनमात्रस्यैव विधानात्, असकृदावृत्तौ प्रमाणाभावात् । नचावघातादिवद्वेदनस्य ब्रह्मापरोक्ष्यं प्रति दृष्टोपायत्वाद्यावत्कार्यमावृत्तिरिति शक्यं वक्तुम्, वेदनस्य दृष्टोपायत्वाभावात् । ज्योतिष्टोमादिकर्माणि, वेदान्तविहितं च वेदनं परमपुरुषाराधनरूपम्, आराधिताच परमपुरुषाद्धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थावाप्तिरिति हि ५"फलमत उपपत्तेः" इत्यत्रः प्रतिपादितम्। अतो ज्योतिष्टोमादिवद्यथाशब्दं सकृत्कृतमेव शास्त्रार्थः—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे-आवृत्तिरसकृत्-इति। असकृदावृत्तमेव वेदनं

---

१. तै. आन. १-१ ॥—२. श्वे. ३-८ ॥—३. मु. ३-२-९ ॥—४. मु. ३ १-३ ॥—५. शारी. ३-२-३७ ॥

शास्त्रार्थः; कुतः? उपदेशात्—ध्यानोपासनपर्यायेण वेदनशब्देनोपदेशात्। तत्पर्यायत्वं च विद्युपास्तिध्यायतीनामेकस्मिन्विषये वेदनोपदेशपरवाक्येषु प्रयोगादवगम्यते। तथाहि १ 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' इत्युपासिनोपक्रान्तोऽर्थः २"भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद" इति विदिनोपसंह्रियते; तथा ३ "यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः" इत्युपक्रमे विदिनोक्तं रैक्वस्य ज्ञानम् ४ "अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से" इत्युपासिनोपसंह्रियते; तथा ५ "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादिवाक्यसमानार्थेषु वाक्येषु ६"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" ७"ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" इत्यादिषु ध्यायतिना वेदनमभिधीयते; ध्यानं च चिन्तनम्; चिन्तनं च स्मृतिसन्ततिरूपम्; न स्मृतिमात्रम्; उपास्तिरपि तदेकार्थः, एकाग्रचित्तवृत्तिनैरन्तर्ये प्रयोगदर्शनात्; तदुभयैकार्थ्यात् असकृदावृत्तसन्ततस्मृतिरिह ८ "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" ९ "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" इत्यादिषु वेदनादिशब्दैरभिधीयते इति निश्चीयते ॥ १ ॥

लिङ्गाच्च । ४ । १ । २ ॥

लिङ्गं-स्मृतिः। स्मृतेश्चायमर्थोऽवगम्यते। स्मर्यते हि मोक्षसाधनभूतं वेदनं स्मृतिसन्ततिरूपं १०"तद्रूपप्रत्यये चैका सन्ततिश्चान्यनिस्पृहा। तद्ध्यानं प्रथमैष्षड्भिरङ्गैर्निष्पाद्यते तथा" इति तस्मादसकृदावृत्तमेव वेदनं शास्त्रार्थः ॥ २ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आवृत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

———

१. छा. ३-१८-१ ॥ २. छा. ३-१८-३, ४, ५, ६ ॥ ३. छा. ४-१-४ ॥ ४. छा. ४-२-२ ॥ ५. तै. आन. १-१ ॥ ६. बृ. ४-४-५ ॥ ७. मु. ३-१-८ ॥ ८. मु. ३-२-९ ॥ ९. श्वे. १-८ ॥ १०. विष्णु. ६-७-९१ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आत्मत्वोपासनाधिकरणम् ॥२॥)



आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च । ४ । १ । ३॥

इदमिदानीं चिन्त्यते-किमुपास्यं ब्रह्मोपासितुरन्यत्वेनोपास्यम्, उतोपासितुरात्मत्वेन-इति । किं युक्तम् ?; अन्यत्वेनेति । कुतः? उपासितुः प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरत्वात् ब्रह्मणः । अर्थान्तरत्वं च १ "अधिकं तु भेदनिर्देशात्" २"अधिकोपदेशात्" ३"नेतरोऽनुपपत्तेः" इत्यादिषूपपादितम् । यथावस्थितं च ब्रह्मोपास्यम्; अयथोपासने हि ब्रह्मप्राप्तिरप्ययथाभूता स्यात्—४"यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" इति न्यायात् । अतोऽन्यत्वेनोपास्यमिति ॥

--[सिद्धान्तः]--

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—आत्मेति तु-इति । तुशब्दोऽवधारणे; उपासितुरात्मेत्येवोपास्यम्, उपासिता प्रत्यगात्मा स्वशरीरस्य स्वयं यथा आत्मा; तथा स्वात्मनोऽपि परं ब्रह्मात्मेत्येवोपासीतेत्यर्थः । कुतः ? एवं ह्युपगच्छन्ति पूर्वे उपासितारः ५ "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि" इति । उपासितुरर्थान्तरभूतं ब्रह्मोपासितारोऽहमिति कथमभ्युपगच्छन्तीत्यत्राह-ग्राहयन्ति च-इति । इममर्थमविरुद्धमुपासितॄन् ग्राहयन्ति शास्त्राणि—तान् प्रत्युपपादयन्तीत्यर्थः । ६ "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति; तथा ७ "सन्मूलास्सोम्येमास्सर्वाः प्रजास्सदायतनास्सत्प्रतिष्ठाः ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" ८"सर्वं खल्विदं

१. शारी. २-१-२२ ॥ २. शारी. ३-४-८ ॥ ३. शारी. १-१-१७ ॥ ४. छा. ३-१४-१ ॥ ५. ॥ ६. बृ-५-७-२२. माध्यन्दिनशाखा ॥ ७. छा. ६-८.४ ॥ ८. छा. ३ १४-१॥

ब्रह्म तज्जलानिति" इति च सर्वस्य चिदचिद्वस्तुनस्तज्जत्वात्तल्लत्वात्तदनत्वात्तन्नियाम्यत्वात्तच्छरीरत्वाच्च सर्वस्यायमात्मा; अतस्स त आत्मा; अतो यथा प्रत्यगात्मनस्स्वशरीरं प्रत्यात्मत्वात् 'देवोऽहं मनुष्योऽहम्'इत्यनुसन्धानम् ; तथा प्रत्यगात्मनोऽप्यात्मत्वात्परमात्मनस्तस्याप्यहमित्येवानुसन्धानं युक्तमिति। एवं शास्त्रैरुपपादितं सर्वबुद्धीनां ब्रह्मैकनिष्ठत्वेन सर्वशब्दानां ब्रह्मैकनिष्ठत्वमभ्युपगच्छन्तः १"त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते" इति व्यतिकरेणोक्तवन्तः। एवं च २"अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" ३"अकृत्स्नो ह्येष आत्मेत्येवोपासीत" ४"सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽत्मनस्सर्वं वेद" इत्यात्मत्वाननुसन्धाननिषेधः, ५ "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा" इति पृथक्त्वानुसन्धानविधानं चाविरुद्धम् ; अहमिति स्वात्मतयाऽनुसन्धानादन्यत्वानुसन्धाननिषेधो रक्षितः ; स्वशरीरात्स्वात्मनोऽधिकत्वानुसन्धानवत्स्वात्मनोऽपि परमात्मनोऽधिकत्वानुसन्धानात्पृथक्त्वानुसन्धानविधानं च रक्षितम्। अधिकस्य ब्रह्मणः प्रत्यगात्मन आत्मत्वात्तस्य च ब्रह्मशरीरत्वान्निषेधवाक्ये ३"अकृत्स्नो ह्येषः" इत्युक्तम्। अत उपासितुरात्मत्वेन ब्रह्मोपास्यमिति स्थितम् ॥ ३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आत्मत्वोपासनाधिकरणम् ॥ २ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रतीकाधिकरणम् ॥ ३ ॥)

—:×:—

न प्रतीके न हि सः ४ । १ । ४ ॥

६'मनो ब्रह्मेत्युपासीत" ७ "स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते" इत्यादिप्रतीकोपासनेष्वप्यात्मत्वानुसन्धानं कार्यम्, उत न–इति चिन्तायां ६"मनो ब्रह्मेत्युपासीत" इति ब्रह्मोपासनत्वसाम्याद्ब्रह्मणश्चोपासितुरात्मत्वादात्मेत्येवोपासीतेति।

---

१. ॥ २. बृ. ३-४-१० ॥ ३. ॥ ४. बृ. ६-२-७ ॥ ५. श्वे. १-६ ॥
६. छा. ३-१८-१ ॥ ७. छा. ७-१-५ ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—न प्रतीके—इति। प्रतीके नात्मत्वानुसन्धानं कार्यम्; न हि सः—नह्युपासितुरात्मा प्रतीकः। प्रतीकोपासनेषु प्रतीक एवोपास्यः; न ब्रह्म। ब्रह्म तु तत्र दृष्टिविशेषणमात्रम्। प्रतीकोपासनं हि नाम अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्याऽनुसन्धानम्; तत्रोपास्यस्य प्रतीकस्योपासितुरात्मत्वाभावान्न तथाऽनुसन्धेयम्॥ ४॥

नन्वत्रापि ब्रह्मैवोपास्यम्; ब्रह्मण उपास्यत्वसम्भवे मनआदीनामचेतनानामल्पशक्तीनां चोपास्यत्वाश्रयणस्यान्याय्यत्वात्। अतो मनआदिदृष्ट्या ब्रह्मैवोपास्यमिति; अत आह—

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्। ४। १। ५॥

मनआदिषु ब्रह्मदृष्टिरेव युक्ता; न ब्रह्मणि मनआदिदृष्टिः, ब्रह्मणो मनआदिभ्य उत्कर्षात्; तेषां च विपर्ययात्। उत्कृष्टे हि राजनि भृत्यदृष्टिः प्रत्यवायकरी; भृत्ये तु राजदृष्टिरभ्युदयाय॥ ५॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रतीकाधिकरणम्॥ ३॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आदित्यादिमत्यधिकरणम्॥)

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः। ४। १। ६।

[१]"य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत" इत्यादिषु कर्माङ्गाश्रयेषूपासनेषु संशयः—किमुद्गीथादौ कर्माङ्गे आदित्यादिदृष्टिः कर्तव्या, उतादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टिः"—इति। उत्कृष्टदृष्टिर्निकृष्टे कर्तव्येति न्यायात्, उद्गीथादीनां च फलसाधनभूतकर्माङ्गत्वेनाफलेभ्य आदित्यादिभ्यः उत्कृष्टत्वादादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टिः—

---

१. छा. १-३-१॥

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्तेऽभिधीयते–आदित्यादिमतयश्चाङ्गे--इति । चशब्दोऽवधारणे; क्रत्वङ्गे उद्गीथादावादित्यादिदृष्टय एव कार्याः; कुतः ? उपपत्तेः–आदित्यादीनामेवोत्कृष्टत्वोपपत्तेः; आदित्यादिदेवताराधनद्वारेण हि कर्मणामपि फलसाधनत्वम्; अतस्तद्दृष्टिरुद्गीथाद्यङ्गे ॥ ६ ॥

इतिश्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आदित्यादिमत्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आसीनाधिकरणम् ॥ ५ ॥)

आसीनस्सम्भवात् । ४ । १ । ७ ।

मोक्षसाधनतया वेदान्तशास्त्रैर्विहितं ज्ञानं ध्यानोपासनादिशब्दवाच्यमसकृदावृत्तं सन्ततस्मृतिरूपमित्युक्तम् । तदनुतिष्ठन्नासीनश्शयानस्तिष्ठन् गच्छंश्च विशेषाभावादनियमेनानुतिष्ठेत्—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—आसीनः–इति । आसीन उपासनमनुतिष्ठेत्; कुतः ? सम्भवात्--आसीनस्यैव ह्येकाग्रचित्ततासम्भवः; स्थितिगत्योः प्रयत्नसापेक्षत्वात्, शयने च निद्रासम्भवात् । पश्चार्धधारणप्रयत्ननिवृत्तये सापाश्रये आसीनः कुर्यात् ॥ ७ ॥

ध्यानाच्च । ४ । १ । ८ ॥

१"निदिध्यासितव्यः" इति ध्यानरूपत्वादुपासनस्य, एकाग्रचित्तताऽवश्यंभाविनी । ध्यानं हि विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहितमेकचिन्तनमित्युक्तम् ॥ ८ ॥

१. बृ. ६-५-६ ॥

अचलत्वं चापेक्ष्य । ४ । १ । ९ ॥

१ निश्चलत्वं चापेक्ष्य पृथिव्यन्तरिक्षादिषु ध्यानवाचोयुक्तिर्दृश्यते २"ध्यायतीव पृथिवी, ध्यायतीवान्तरिक्षं, ध्यायतीव द्यौः, ध्यायन्तीवापो, ध्यायन्तीव पर्वताः" इति । अतः पृथिवीपर्वतादिवदेकाग्रचित्ततया निश्चलत्वमुपासकस्यासीनस्यैव सम्भवेत् ॥ ९ ॥

स्मरन्ति च । ४ । १ । १० ॥

स्मरन्ति चासीनस्यैव ध्यानं ३"शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः । नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम् । तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः । उपविश्याऽऽसने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये" इति ॥ १० ॥

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् । ४ । १ । ११ ॥

एकाग्रतातिरिक्तदेशकालविशेषाश्रवणादेकाग्रतानुकूलो यो देशः कालश्च, स एवोपासनस्य देशः कालश्च । ४"समे शुचौ शर्कराववह्निवालुकाविवर्जिते" इति वचनमेकाग्रतैकान्तदेशमाह; न तु देशं नियच्छति. ४"मनोऽनुकूले" इति वाक्यशेषात् ॥ ११ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आसीनाधिकरणम् ॥ ५ ॥



(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आप्रयाणाधिकरणम् ॥ ६ ॥)

आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम् । ४ । १ । १२ ॥

तदिदमपवर्गसाधनमुक्तलक्षणमुपासनमेकाह एव संपाद्यम्, उताप्रयाणात्प्रत्यहमनुवर्तनीयमिति विशये—एकस्मिन्नेवाहनि शास्त्रार्थस्य कृतत्वात्तावतैव परिसमापनीयम्—

१. निश्चलत्वं ह्यपेक्ष्य. पा ॥—२. छा. ७-६-१ ॥—३. गी. ६-११-१२ ॥—४ ॥

---(सिद्धान्तः)---

इति प्राप्त उच्यते-आप्रयाणात्--इति। आमरणादनुवर्तनीयम्; कुतः ? तत्रापि हि दृष्टम्-उपासनोद्योगप्रभृत्याप्रयाणान्मध्ये यः कालः, तत्र सर्वत्रापि दृष्टमुपासनं १"स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" इति ॥ १२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आप्रयाणाधिकरणम् ॥ ६ ॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तदधिगमाधिकरणम् ॥ ७ ॥

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् । ४ । १ । १३ ॥

एवं विद्यास्वरूपं विशोध्य विद्याफलं चिन्तयितुमारभते; ब्रह्मविद्याप्राप्तौ पुरुषस्योत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ श्रूयेते २"तद्यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" ३"तस्यैवाऽऽत्मा पदवित्तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेन" इत्युत्तराघाश्लेषः ४"तद्यथेषीकतूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" ५"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इति पूर्वाघविनाशः। एतावश्लेषविनाशौ विद्याफलभूतावुपपद्येते, नेति संशयः। किं युक्तम् ? नोपपद्येते इति। कुतः ? ६ "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" इत्यादिशास्त्रविरोधात्। अश्लेषविनाशव्यपदेशस्तु मोक्षसाधनभूतविद्याविधायिवाक्यशेषगतः कथञ्चिद्विद्यास्तुतिप्रतिपादनेनाप्युपपद्यते। न च विद्या पूर्वोत्तराघयोः प्रायश्चित्ततया विधीयते; येन प्रायश्चि-

१. छा ८-१५-१ ॥—२. छा. ४-१४-३ ॥—३. [तै. ब्रा. ३।१२।८] ॥—४. छा. ५-२४-३ ॥—५. मु. २-२८ ॥—६. ब्रह्मवैवर्ते. प्रकृतिखण्डे. २६-अ. ७०-श्लो ॥—

त्तेनाघविनाश उच्यते। विद्या हि १"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" २"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इति ब्रह्मप्राप्त्युपायतया विधीयते। अतो विद्यार्थवादोऽयमघविनाशाश्लेषव्यपदेश इति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्तेऽभिधीयते-तदधिगमे-इति। विद्याप्राप्तौ पुरुषस्य विद्यामाहात्म्यादुत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशावुपपद्येते; कुतः एवंविधं हि विद्यामाहात्म्यमवगम्यते ३"एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" ४"एवं ह्यस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" इत्यादिव्यपदेशात्। न च ५"नाभुक्तं क्षीयते कर्म" इत्यनेन शास्त्रेणास्य विरोधः, भिन्नविषयत्वात्। तद्धि कर्मणां फलजननसामर्थ्यद्रढिमविषयम्; एतत्तूत्पन्नाया विद्यायाः प्राक्कृतानां पाप्मनां फलजननशक्तिविनाशसामर्थ्यमुत्पत्स्यमानानां च फलजननशक्त्युत्पत्तिप्रतिबन्धकरणसामर्थ्यं च प्रतिपादयतीति द्वयोर्विषयो भिद्यते। यथा अग्निजलयोरौष्ण्यतन्निवारणसामर्थ्यविषययोर्द्वयोः प्रमाणयोरपि विषयभेदात्प्रामाण्यम्; एवमत्रापीति न कश्चिद्विरोधः। अघस्याश्लेषकरणं-वैदिककर्मायोग्यतावासनाप्रत्यवायहेतुशक्त्युत्पत्तिप्रतिबन्धकरणम्। अघानि हि कृतानि पुरुषस्य वैदिककर्मायोग्यतां, सजातीयकर्मान्तरारम्भरुचिं, प्रत्यवायं च कुर्वन्ति। अघस्य विनाशकरणम्-उत्पन्नायास्तच्छक्तेर्विनाशकरणम्। शक्तिरपि परमपुरुषाप्रीतिरेव। तदेवं विद्या वेदितुर्वेद्यात्यर्थप्रियत्वेन स्वयमपि निरतिशयप्रिया सती वेद्यभूतपरमपुरुषाराधनस्वरूपा पूर्वकृताघसञ्चयजनितपरमपुरुषाप्रीतिं विनाशयति; सैव विद्या स्वोत्पत्त्युत्तरकालभाव्यघनिमित्तपरमपुरुषाप्रीत्युत्पत्तिं च प्रतिबध्नाति। तदिदमश्लेषवचनं प्रामादिकविषयं मन्तव्यम्;

१. तै आन. १-१॥—२. मु. ३-२-९॥—३. छा. ४-१४-३॥—४. छा. ५-२४-३॥—५. ब्रह्मवैवर्ते. प्रकृतिखण्डे. २६-७०॥

१"नाविरतो दुश्चरितात्" इत्यादिभिश्शास्त्रैराप्रयाणादहरहरुत्पद्यमानाया उत्तरोत्तरातिशयभागिन्याः विद्यायाः दुश्चरितविरतिनिष्पाद्यत्वावगमात् ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तदधिगमाधिकरणम् ॥ ७ ॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये इतराधिकरणम् ॥ ८ ॥

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु । ४ । १ । १४ ॥

उत्तरपूर्वाघयोर्विद्यया अश्लेषविनाशावुक्तौ ; इतरस्य-पुण्यस्यापि. एवम्-उक्तेन न्यायेनाश्लेषविनाशौ विद्यया स्याताम्, विद्याफलविरोधित्वसामान्याद्व्यपदेशाच्च । भवति च व्यपदेशः-उभे सुकृतदुष्कृते निर्दिश्य २"सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते" इति, ३"तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते" इतिच । मुमुक्षोरनिष्टफलत्वात्सुकृतस्यापि पाप्मशब्देन व्यपदेशः । सुकृतस्यापि शास्त्रीयत्वात्तत्फलस्य केषांचिदिष्टत्वदर्शनाच्च विद्याया अविरोधशङ्कां निवर्तयितुमतिदेशः । ननु विदुषोऽपि सेतिकर्तव्यताकोपासननिर्वृत्तये वृष्ट्यन्नादिफलानीष्टान्येव ; कथं तेषां विरोधाद्विनाश उच्यते ; तत्राह -पाते तु-इति । शरीरपाते तु तेषां विनाशः; शरीरपातादूर्ध्वं तु विद्यानुगुणदृष्टफलानि सुकृतानि नश्यन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये इतराधिकरणम् ॥ ८ ॥

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अनारब्धकार्याधिकरणम् ॥ ९ ॥

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः । ४ । १ । १५ ॥

ब्रह्मविद्योत्पत्तेः पूर्वोत्तरभाविनोस्सुकृतदुष्कृतयोरश्लेषविनाशावुक्तौ;

---

१. कठ. २-२४ ॥—२. छा. ८-४-१ ॥—३. कौषी. १-४ ॥

ततः पूर्वभाविनोः सुकृतदुष्कृतयोः किमविशेषेण विनाशः, उता-नारब्धकार्ययोरेवेति विशये १' सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" इति विद्याफल-स्याविशेषश्रवणाद्विद्योत्पत्युत्तरकालभाविन्याश्च शरीरस्थितेः कुलालच-क्रभ्रमणादिवत्संस्कारवशादप्युपपत्तेरविशेषेण—

—(सिद्धान्तः)—

इतिप्राप्ते उच्यते–अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे–इति विद्योत्पत्तेः पूर्वे सुकृतदुष्कृते अनारब्धकार्ये–अप्रवृत्तफले एव विद्यया विनश्यतः; कुतः ? तदवधेः–२"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इति शरीरपातविलम्बावधिश्रुतेः । न च पुण्यापुण्यकर्मजन्यभगवत्प्रीत्य-प्रीतिव्यतिरेकेण शरीरस्थितिहेतुभूतसंस्कारसद्भावे प्रमाणमस्ति ॥ १५ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अनारब्धकार्याधिकरणम् ॥ ६ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अग्निहोत्राद्यधिकरणम् ॥)

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ।४।१।१६

'इतरस्याप्येवमसंश्लेषः' इति विद्याबलात्सुकृतस्याप्यसंश्लेष उक्तः, अग्निहोत्रादीनां नित्यनैमित्तिकानां स्वाश्रमधर्माणामपि सुकृतत्वसामा-न्येन तत्फलस्याश्लेषादनिच्छतोऽननुष्ठाने प्राप्त उच्यते—

—[सिद्धान्तः]—

अग्निहोत्रादि तु–इति । तुशब्दस्सुकृतान्तरेभ्यो विशेषणार्थः; अ-ग्निहोत्राद्याश्रमधर्माः फलाश्लेषासम्भवादनुष्ठेया एव ; तदसम्भवश्च त-त्कार्यार्थत्वात्तेषाम् ; विद्याख्यकार्यायैव हि विदुषोऽग्निहोत्राद्यनुष्ठानम् ; कथमिदमवगम्यते ? तद्दर्शनात् ; दृश्यते हि ३"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्म-

---

१. छा. ५-२४-३ ॥—२. छा. ६-१४-२ ॥—३. बृ. ६-४-२२ ॥

णा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इत्यादिनाऽग्निहोत्रादीनां विद्यासाधनत्वम्। विद्यायाश्चाप्रयाणादभ्यासाधेयातिशयाया अहरहरुत्पाद्यत्वात्तदुत्पत्त्यर्थमाश्रमकर्माप्यहरहरनुष्ठेयमेव; अन्यथाऽऽश्रमकर्मलोपे दूषितान्तःकरणस्य विद्योत्पत्तिरेव न स्यात् ॥ १६ ॥

यदि अग्निहोत्रादिसाधुकृत्या विद्योत्पत्त्यर्थाः, विद्योत्पत्तेः प्राचीनं च सुकृतं [१]"यावत्सम्पातमुषित्वा" [२]"प्राप्यान्तं कर्मणः" इत्यनुभवेन विनष्टम्; भुक्तशिष्टं च प्रारब्धफलम्; [३] "सुहृदस्साधुकृत्याम्" इत्यस्य को विषयः ? तत्राह-,

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः । ४ । १ । १७ ॥

अतः-अग्निहोत्रादिसाधुकृत्यायाः विद्योत्पत्त्यर्थायाः अन्यापि-विद्याधिगमात्पूर्वोत्तरयोरुभयोरपि पुण्यकर्मणोः प्रबलकर्मप्रतिबद्धफला साधुकृत्याऽनन्ता सम्भवत्येव; तद्विषयमिदमेकेषां शाखिनां वचनं [३]"तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदस्साधुकृत्याम्" इति । विद्ययाऽश्लेषविनाशश्रुतिश्च तद्विषया ॥ १७ ॥

अनुष्ठितस्यापि कर्मणः फलप्रतिबन्धसम्भवं पूर्वोक्तं स्मारयति-

यदेव विद्ययेति हि । ४ । १ । १८ ॥

[४]"यदेव विद्यया करोति...तदेव वीर्यवत्तरम्" इत्युद्गीथविद्यायाः क्रतुफलाप्रतिबन्धफलत्ववचनेनानुष्ठितस्यापि कर्मणः फलप्रतिबन्धस्सूच्यते हि । अतो विदुषोऽनुष्ठितप्रतिबद्धफलविषयं [३]"सुहृदस्साधुकृत्याम्" इति शाट्यायनकम् ॥ १८ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अग्निहोत्राद्यधिकरणम् ॥ १० ॥

---

१. छा. ५-१०-५ ॥—२. बृ. ६-४-६ ॥—३ ॥—४. छा. १-१-१० ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये इतरक्षपणाधिकरणम् ॥)

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ संपद्यते ।४।१।१९॥

ययोः पुण्यपापयोरश्लेषविनाशावुक्तौ, ताभ्यामितरे आरब्धकार्ये पुण्यपापे किं विद्यायोनिशरीरावसाने, उत तच्छरीरावसाने शरीरान्तरावसाने वेत्यनियम इति संशये १"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये" इति तच्छरीरविमोक्षावसानत्वश्रवणात्तदवसाने—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते-भोगेन तु-इति । तुशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः; इतरे आरब्धकार्ये पुण्यपापे स्वारब्धफलभोगेन क्षपयित्वा तत्फलभोगसमाप्त्यनन्तरं ब्रह्म सम्पद्यते; ते च पुण्यपापे एकशरीरोपभोग्यफले चेत्-तच्छरीरावसाने सम्पद्यते; अनेकशरीरभोग्यफले चेत्-तदवसाने सम्पद्यते, भोगेनैव क्षपयितव्यत्वादारब्धफलयोः कर्मणोः । १"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये" इति च भोगेन तयोः कर्मणोः विमोक्ष उच्यते, देहावधिनियमाश्रवणात् । तदेवं ब्रह्मविद्यायाः प्रागनुष्ठितमभुक्तफलमनारब्धफलं पुण्यपापरूपं कर्मानादिकालसंचितमनन्तं विद्यामाहात्म्याद्विनश्यति; विद्यारम्भोत्तरकालमनुष्ठितं च न श्लिष्यति; तत्र पुण्यरूपं सर्वं विदुषस्सुहृदो गृह्णन्ति, पापं च द्विषन्त इति निरवद्यम् ॥ १९ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये इतरक्षपणाधिकरणम् ॥ ११ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये
चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

—:॰:—

---

१. छा. ६-१४-२ ॥

* श्रीमते रामानुजाय नमः *

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते-

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

(चतुर्थाध्याये - द्वितीयः पादः - वागधिकरणम् ॥१॥)

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च । ४ । २ । १ ॥

इदानीं विदुषो गतिप्रकारं चिन्तयितुमारभते । प्रथमं तावदुत्क्रान्तिश्चिन्त्यते । तत्रेदमाम्नायते१"अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्" इति । अत्र "वाङ्मनसि सम्पद्यते" इति वाचो मनसि सम्पत्तिश्रुतिः किं वाग्वृत्तिमात्रविषया, उत वाग्विषयेति विशये; वृत्तिमात्रविषयेति युक्तम् । कुतः ? मनसो वाक्प्रकृतित्वाभावात्तत्र वाक्स्वरूपसम्पत्त्यसम्भवात् । वागादिवृत्तीनां मनोऽधीनत्वेन वृत्तिसम्पत्तिश्रुतिः कथंचिदुपपद्यत इति ॥

एवं प्राप्तेऽभिधीयते वाङ्मनसि-इति । वाक्स्वरूपमेव मनसि सम्पद्यते । कुतः ? दर्शनात्-दृश्यते हि वागिन्द्रिय उपरतेऽपि मनः प्रवृत्तिः । वृत्तिमात्रसम्पत्त्यापि तदुपपद्यत इति चेत्-तत्राह-शब्दाच्चेति । १'वाङ्मनसि सम्पद्यते'इति वाक्स्वरूपसम्पत्तावेव हि शब्दः;न वृत्तिमात्रसम्पत्तौ । नहि तदानीं वृत्त्युपरमे वागिन्द्रियं प्रमाणान्तरेणोपलभ्यते; येन वृत्तिमात्रमेव सम्पद्यत इत्युच्येत । यदुक्तं मनसो वाक्प्रकृतित्वाभावाद्वाचो मनसि सम्पत्तिर्नोपपद्यत इति; तत् १ 'वाङ्मनसि सम्पद्यते" इति वचनान्मनसा वाक्संयुज्यते; नतु तत्र लीयत इति परिहर्तव्यम् ॥ १ ॥

---

१. छा. ६-८-६ ॥

अत एव सर्वाण्यनु । ४ । २ । २ ॥

यतो वाचो मनसा संयोगमात्रं सम्पत्तिः; न तु लयः; अत एव वाचमनु सर्वेषामिन्द्रियाणां मनसि सम्पत्तिश्रुतिरुपपद्यते, १ "तस्मादुपशान्ततेजा अपुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः" इति ॥ २ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वागधिकरणम् ॥ १ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये मनोधिकरणम् ॥ २ ॥)—

तन्मनः प्राण उत्तरात् । ४ । २ । ३ ॥

तत्–सर्वेन्द्रियसंयुक्तं मनः प्राणे सम्पद्यते–प्राणेन संयुज्यते; न मनोवृत्तिमात्रम्। कुतः ? उत्तरात्—२"मनः प्राणे" इति वाक्यात्।

अधिकाशङ्का तु–३"अन्नमयं हि सोम्य मनः"इति वचनान्मनसोऽन्नप्रकृतित्वमवगम्यते; अन्नस्य च ४"ता अन्नमसृजन्त" इत्यम्मयत्वं सिद्धम्. ४"आपोमयः प्राणः" इति चाप्प्रकृतित्वं प्राणस्यावगम्यते, अतो मनः प्राणे सम्पद्यत इत्यत्र प्राणशब्देन प्राणप्रकृतिभूता अपो निर्दिश्य तासु मनस्सम्पपत्तिप्रतिपादने परम्परया स्वकारणे लय इति सम्पत्तिवचनमुपपन्नं भवति–इति ॥

परिहारस्तु ४"अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणः" इति मनः प्राणयोरन्नेनाद्भिश्चाप्यायनमुच्यते; न तत्प्रकृतित्वम्, 'आहङ्कारिकत्वान्मनसः, आकाशविकारत्वाच्च प्राणस्य ।'प्राणशब्देनापां लक्षणा च स्यात्-इति ॥ ३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये मनोधिकरणम् ॥ २ ॥

---

१. ॥—२. छा. ६-८-६ ॥—३. छा. ६-६ ५ ॥—४. छा. ६-२-४ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अध्यक्षाधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः । ४ । २ । ४ ॥

यथा १"वाङ्मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणे"इतिवचनानुरोधेन मनःप्राणयोरेव वाङ्मनसयोस्सम्पत्तिः; तथा २"प्राणस्तेजसि" इति वचनात्तेजस्येव प्राणस्सम्पद्यते—

—[सिद्धान्तः]—

इति प्राप्त उच्यते—सोऽध्यक्षे-इति । सः-प्राणः, अध्यक्षे करणाधिपे जीवे सम्पद्यते । कुतः? तदुपगमादिभ्यः-प्राणस्य जीवोपगमस्तावच्छ्रूयते ३ "एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति" इति; तथा जीवेन सह प्राणस्योत्क्रान्तिः श्रूयते ४ "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति" इति; प्रतिष्ठा च जीवेन सह श्रूयते ५ "कस्मिन्नुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि" इति । एवं जीवेन संयुज्य तेन सह तेजस्सम्पत्तिरिह ६"प्राणस्तेजसि" इत्युच्यते; यथा यमुनायाः गङ्गया संयुज्य सागरगमनेऽपि'यमुना सागरं गच्छति' इति वचो न विरुध्यते, तद्वत् ॥ ४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अध्यक्षाधिकरणम् ॥ ३ ॥

--(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये भूताधिकरणम् ॥ ४ ॥)—

भूतेषु तच्छ्रुतेः । ४ । २ । ५ ॥

६ "प्राणस्तेजसि" इति जीवसंयुक्तस्य प्राणस्य तेजसि सम्पत्तिरुक्ता,

१. छा. ६-८-६ ॥—२. छा. ६-६-५ ॥—३. बृ. ६-३-३८ ॥
४. बृ. ६-४-२ ॥—५. प्रश्नो. ६-३ ॥ ६. छा. ६-८-६ ॥

सा सम्पत्तिः किं तेजोमात्रे, उत संहतेषु सर्वेषु भूतेष्विति विशये तेजोमात्रश्रवणात्तेजसि—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—भूतेषु-इति। भूतेषु-सम्पद्यते। कुतः? तच्छ्रुतेः १"पृथिवीमय आपोमयः...तेजोमयः" इति जीवस्य सञ्चरतस्सर्वभूतमयत्वश्रुतेः॥ ५॥

ननु तेजःप्रभृतिष्वेकैकस्मिन् क्रमेण सम्पत्तावपि १"पृथिवीमयः" इत्यादिका श्रुतिरुपपद्यते, अत आह—

नैकस्मिन् दर्शयतो हि। ४। २। ६॥

नैकस्मिन्, एकैकस्य कार्याक्षमत्वात्। दर्शयतो ह्यक्षमत्वं श्रुतिस्मृती २"अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" इति नामरूपव्याकरणयोग्यत्वाय त्रिवृत्करणमुपदिश्यते। ३"नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना। नाशक्नुवन् प्रजास्स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः। समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः। महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते" इति। अतः ४"प्राणस्तेजसि" इति तेजश्शब्देन भूतान्तरसंसृष्टमेव तेजोऽभिधीयते। अतो भूतेष्वेव सम्पत्तिः॥ ६॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये भूताधिकरणम्॥ ४॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आसृत्युपक्रमाधिकरणम्॥)

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य।४।२।७॥

इयमुत्क्रान्तिः किं विद्वदविदुषोस्समाना, उताविदुष एवेति चि-

१. बृ. ६-४ ५॥—२. छां ६-३-२, ३॥—३. विष्णु. १—अं. २-अ. ५२ ५३॥—४. छां. ६-८ ६॥

न्तायाम् , अविदुष एवेति प्राप्तम् । कुतः ? विदुषोऽत्रैवामृतत्ववचनादुत्क्रान्त्यभावात् । विदुषो ह्यत्रैवामृतत्वं श्राव्यते-१ 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" इति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्तेऽभिधीयते-समानाचाऽसृत्युपक्रमात्—इति। विदुषोऽप्यासृत्युपक्रमादुत्क्रान्तिस्समाना ।, आसृत्युपक्रमात्-आगत्युपक्रमात् , नाडीप्रवेशात्प्रागित्यर्थः । विदुषोऽपि हि नाडीविशेषेणोत्क्रम्य गतिः श्रूयते—२"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति" इति । एवं नाडीविशेषेण गतिश्रवणाद्विदुषोऽप्युत्क्रान्तिरवर्जनीया । सा च नाडीप्रवेशात्प्राग्विशेषाश्रवणात्समाना । तत्प्रवेशदशाया च विशेषः श्रूयते ३"तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य इति । ४"शतं चैका च हृदयस्य" इत्यनया श्रुत्यैकार्थ्यान्मूर्ध्नो निष्क्रमणं विद्वद्विषयम् ; इतरदविद्वद्विषयम् । यदुक्तं-विदुषोऽत्रैवामृतत्वं श्राव्यते-इति; तत्रोच्यते-अमृतत्वं चानुपोष्य-इति । चशब्दोऽवधारणे । अनुपोष्य—शरीरेन्द्रियादिसम्बन्धमदग्ध्वैव, यदमृतत्वम्-उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशरूपं प्राप्यते; तदुच्यते ५"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते" इत्यादिकया श्रुत्येत्यर्थः । ५"अत्र ब्रह्म समश्नुते" इति च उपासनवेलायां यो ब्रह्मानुभवः; तद्विषयमित्यभिप्रायः ॥ ७ ॥

तदापीतेस्संसार व्यपदेशात् । ४ । २ । ८ ॥

अवश्यं च तत्—अमृतत्वमदग्धदेहसम्बन्धस्यैवेति विज्ञेयम् । कुतः ? आपीतेः संसारव्यपदेशात्—अपीतिः—अप्ययः, ब्रह्मप्राप्तिः । सा

१. कठ. २-६-१४ ॥—२. कठ. २-६-१६ ॥—३. बृ. ६-४-२ ॥
४. कठ २-६ १६ ॥—५. कठ. २-६-१४ ॥

चार्चिरादिना मार्गेण देशविशेषं गत्वेति वक्ष्यते। आतदवस्थाप्राप्तेः संसारः--देहसम्बन्धलक्षणो हि व्यपदिश्यते--१"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इति २"अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य। धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवानि" इति च ॥ ८॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः। ४। २। ९।

इतश्च विदुषोऽपि बन्धो नात्र दग्धः; यतत्सूक्ष्मं शरीरमनुवर्तते। कुत इदमवगम्यते; प्रमाणतस्तथोपलब्धेः--उपलभ्यते हि देवयानेन पथा गच्छतो विदुषः ३"तं प्रतिब्रूयात्" ४"सत्यं ब्रूयात्" इति चन्द्रमसा संवादवचनेन शरीरसद्भावः। अतस्सूक्ष्मशरीरमनुवर्तते। अतश्च बन्धो न दग्धः ॥ ९॥

नोपमर्देनातः। ४। २। १०॥

अतः ५"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" इति वचनं न बन्धोपमर्देनामृतत्वं वदति ॥ १०॥

अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा। ४। २। ११॥

अस्य--सूक्ष्मशरीरस्य कचिद्विद्यमानत्वोपपत्तेर्विदुषः प्रक्रान्तमरणस्य मरणात्प्रागूष्मा स्थूले शरीरे क्वाचित्क उपलभ्यते। न च स्थूलस्यैव शरीरस्यायमूष्मा, अन्यत्रानुपलब्धेः। तस्मोष्मणः क्वचिदुपलब्धिर्विदुषस्सूक्ष्मशरीरस्योत्क्रान्तिनिबन्धनेति गम्यते। तस्माद्विदुषोऽप्यासृत्युपक्रमात्समानोत्क्रान्तिरिति सुष्ठूक्तम् ॥ ११॥

---

१. छा. ६-१४-२ ॥--२. छा. ८-१३-१ ॥--३. कौ. १-२ ॥--४ ॥
५. कठ २-६-१४ ॥

पुनरपि विदुष उत्क्रान्तिर्न सम्भवतीत्याशङ्क्य परिह्रियते—

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्स्पष्टो ह्येकेषाम् । ४ । २ । १२ ॥

यदुक्तं विदुषोऽप्युत्क्रान्तिस्समानेति; तन्नोपपद्यते, विदुष उत्क्रान्तिप्रतिषेधात् । तथाहि १"स एतास्तेजोमात्रास्समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति" इत्युपक्रम्य १ "तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' इत्यविदुष उत्क्रान्तिप्रकारमभिधाय २ "अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते" इति देहान्तरपरिग्रहं चाभिधाय ३ "प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे इति तु कामयमानः"इत्यविद्वद्विषयं परिसमाप्य३"अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इति विदुष उत्क्रान्तिः प्रतिषिध्यते । तथा पूर्वत्र आर्तभागप्रश्नेऽपि विदुष उत्क्रान्तिप्रतिषेधो दृश्यते ४"अप पुनर्मृत्युं जयति" इति विद्वांसं प्रस्तुत्य ४"याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो न" इति पृष्टः"४"नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवलीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मातो मृतः शेते" इति । अतो विद्वानिहैवामृतत्वं प्राप्नोतीति चेत्—तन्न,शारीरात्-प्रत्यगात्मनः प्राणानामुत्क्रान्तिर्ह्यत्र प्रतिषिध्यते; न शरीरात् ५ "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" इत्यत्र तच्छब्देन ५"अथाकामयमानः" इति प्रकृतश्शारीर एव परामृश्यते; नाश्रुतं शरीरम् । ५"तस्य" इति षष्ठ्या प्राणानां सम्बन्धित्वेन शारीरो निर्दिष्टः;नतूत्क्रान्त्यपादानत्वेन; उत्क्रान्त्यपादानं तु शरीर मेवेति चेत्—न,अपादानापेक्षायामश्रुताच्छरीरात्सम्बन्धितया श्रुतस्यात्मन एव सन्निहितत्वेनापादानतयापि ग्राह्यत्वात् । किञ्च प्राणानां जीवसम्बन्धितयैव

१. बृ. ६-४-१, २ ॥—२. बृ. ६-४-४ ॥—३. बृ. ६-४-६ ॥
४. बृ. ५-२-१०, ११ ॥—५. बृ. ६-४-६ ॥

प्रज्ञातानां तत्सम्बन्धकथने प्रयोजनाभावात्सम्बन्धमात्रवाचिन्या षष्ठ्या अपादानमेव विशेष इति निश्चीयते । यथा 'नटस्य शृणोति' इति । नचात्र विवदितव्यं-स्पष्टो ह्येकेषां--माध्यन्दिनानामाम्नाये शारीरो जीव एवापादानमिति १ "योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकाम न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति" इति । शारीरात्प्राणानामुत्क्रान्तिप्रसङ्गाभावाच्चन्निषेधो नोपपद्यत इति चेन्-न,२"तस्य तावदेव चिरम्" इति विदुषश्शरीरवियोगकाले ब्रह्मसम्पत्तिवचनेन प्राणानामपि तस्मिन् काले शारीराद्विदुषो वियोगः प्रसज्यते; ततश्च देवयानेन पथा ब्रह्मसम्पत्तिर्नोपपद्यत इति । १"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" देवयानेन पथा ब्रह्मप्राप्तेः प्राग्जीवाद्विदुषोऽपि प्राणा न विश्लिष्यन्तीत्युच्यते । आर्तभागप्रश्नोऽपि यदा विद्वद्विषयः तदा अयमेव परिहारः; स त्वविद्वद्विषयः, तत्र प्रश्नप्रतिवचनयोः ब्रह्मविद्याप्रसङ्गादर्शनात् ; तत्र हि ग्रहातिग्रहरूपेणेन्द्रियेन्द्रियार्थस्वभावः,अपामग्न्यन्नत्वं, म्रियमाणस्य जीवस्य प्राणपरित्यागः, मृतस्य नामवाच्यकीर्त्यनुवृत्तिः,तस्य च पुण्यपापानुगुणगतिप्राप्तिरित्येतेऽर्थाः प्रश्नपूर्वकं प्रत्युक्ताः । तत्र च३"अप पुनर्मृत्युं जयति" इति अपामग्न्यन्नत्वज्ञानादग्निजय एव मृत्युजय उच्यते । अतो नात्र विदुषः प्रसङ्गः । अविदुषस्तु प्राणानुत्क्रान्तिवचनं-स्थूलदेहवत्प्राणा न मुञ्चन्ति, अपि तु भूतसूक्ष्मवज्जीवं परिष्वज्य गच्छन्ति—इति प्रतिपादयतीति निरवद्यम् ॥ १२ ॥

स्मर्यते च । ४ । २ । १३ ॥

स्मर्यते च विदुषोऽपि मूर्धन्यनाड्योत्क्रान्तिः ४"ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम् । ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम्" इति ॥ १३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आमृत्युपक्रमाधिकरणम् ॥ ५ ॥

---

१. बृ. ६-४-६ ॥—२. छा. ६-१४-२ ॥—३. बृ. ५-२-१० ॥
४. याज्ञवल्क्य. अध्यात्मप्र. १६७ श्लो. ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये परसम्पत्त्यधिकरणम् ॥६॥)—

तानि परे तथाह्याह । ४ । २ । १४ ॥

सकरग्रामः सप्राणः करणाध्यक्षः प्रत्यगात्मा उत्क्रान्तिवेलायां तेजःप्रभृतिभूतसूक्ष्मेषु सम्पद्यत इत्युक्तम् ; सैषा सम्पत्तिर्विदुषो न विद्यत इत्याशङ्क्य परिहृतम् ; तानि पुनर्जीवपरिष्वक्तानि भूतसूक्ष्माणि किं यथाकर्म यथाविद्यं च स्वकार्याय गच्छन्ति, उत परमात्मनि सम्पद्यन्त इति विशये मध्ये परमात्मसम्पत्तौ सुखदुःखोपभोगरूपकार्यादर्शनात्, तदुपभोगानुगुण्येन यथाकर्म यथाविद्यं च गच्छन्ति—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—तानि परे—इति । तानि परस्मिन्नात्मनि सम्पद्यन्ते; कुतः ? तथाह्याह श्रुतिः—[1]"तेजः परस्यां देवतायाम्" इति । यथाह श्रुतिस्तदनुगुणं कार्यं कल्प्यमित्यर्थः । सुषुप्तिप्रलययोर्यथा परमात्मसम्पत्त्या सुखदुःखोपभोगायासविश्रमः; तद्वदिहापि ॥ १४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये परसम्पत्त्यधिकरणम् ॥६॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अविभागाधिकरणम् ॥७॥)—

अविभागो वचनात् । ४ । २ । १५ ॥

सेयं परमात्मनि सम्पत्तिः किं प्राकृतलयवत्कारणापत्तिरूपा, उत- [1]"वाङ्मनसि" इत्यादिवदविभागरूपेति चिन्तायां—परमात्मनस्सर्वेषां योनिभूतत्वात्कारणापत्तिरूपा—

१. छा. ६-८-६ ॥

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—अविभागः—इति। अपृथग्भावः-पृथग्व्यवहारानर्हसंसर्ग इत्यर्थः। कुतः? वचनात् १"तेजः परस्यां देवतायाम्" इत्यत्रापि १"वाङ्मनसि सम्पद्यते" इत्यतस्सम्पद्यत इति वचनस्यानुषङ्गात्, तस्य च संसर्गविशेषवाचित्वात्, अनुषक्तस्याभिधानवैरूप्ये प्रमाणाभावात्, उत्क्रान्तिवेलायां कारणापत्तिप्रयोजनाभावात् पुनस्तत्राव्यक्तादिसृष्टयवचनाच्च ॥ १५ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अविभागाधिकरणम् ॥ ७ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तदोकोधिकरणम् ॥ ८ ॥) –

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारा विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतश्शताधिकया । ४ । २ । १६ ॥

एवं गत्युपक्रमावधि विद्वदविदुषोस्समानाकार उत्क्रान्तिप्रकार उक्तः; इदानीं विदुषो विशेष उच्यते। तत्रेदमाम्नायते—२"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति। विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति" इति। अनया नाडीनां शताधिकया मूर्धन्यनाड्यैव विदुषो गमनम्, अन्याभिरेवाविदुषो गमनमित्ययं नियम उपपद्यते, नेति संशयः। किं युक्तम्? नियमो नोपपद्यत इति। कुतः? नाडीनां भूयस्त्वादतिसूक्ष्मत्वाच्च दुर्विवेचतया पुरुषेणोपादातुमशक्यत्वात्। २"तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति" इति यादृच्छिकीमुत्क्रान्तिमनुवदतीति युक्तमिति ॥

१. छा. ६-८-६ ॥ २. कठ. २-६-१६ ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—शताधिकया—इति । विद्वान् शताधिकया मूर्धन्ययैव नाड्योत्क्रामति । नचास्याः विदुषो दुर्विवेचत्वम्;विद्वान्हिपरमपुरुषाराधनभूतात्यर्थप्रियविद्यासामर्थ्याद्विद्याशेषभूततयाऽऽत्मनोऽत्यर्थप्रियगत्यनुस्मरणयोगाच्च प्रसन्नेन हार्देन परमपुरुषेणानुगृहीतो भवति; ततश्च तदोकः-तस्य जीवस्य स्थानं हृदयम् , अग्रज्वलनं भवति अग्रे ज्वलनं प्रकाशनं यस्य, तदिदमग्रज्वलनम् । परमपुरुषप्रसादात्प्रकाशितद्वारो विद्वान् तां नाडीं विजानातीति तया विदुषो गतिरुपपद्यते ॥ १६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये तदोकोधिकरणम् ॥ ८ ॥

—[श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये रश्म्यनुसाराधिकरणम्॥९॥]—

रश्म्यनुसारी । ४ । २ । १७ ॥

विदुषो हृदयाच्छताधिकया मूर्धन्यनाड्या निर्गतस्यादित्यरश्मीननुसृत्यादित्यमण्डलगतिः श्रूयते—१ "अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्कामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते" इति । तत्र रश्म्यनुसारेणैवेत्ययं गतिनियमस्सम्भवति, नेति चिन्तायां-निशि मृतस्य विदुषो रश्म्यनुसारासम्भवाद् नियमः । वचनन्तु पक्षप्राप्तविषयम्--

--[सिद्धान्त]—

इति प्राप्त उच्यते-रश्म्यनुसारी-इति । रश्म्यनुसार्येव विद्वानूर्ध्वं गच्छति; कुतः? १"अथैतैरेव रश्मिभिः" इत्यवधारणात्; पाक्षिकत्वे ह्येवकारोऽनर्थकस्स्यात् । यदुक्तं निशि मृतस्य रश्म्यसम्भवाद्रश्मीननुसृत्य गमनं नोपपद्यत इति; तन्न, निश्यपि सूर्यरश्म्यनुसारस्सम्भवति;

---

१. छा. [८-६-५ ॥

लक्ष्यते हि निश्यपि निदाघसमये ऊष्मोपलब्ध्या रश्मिसद्भावः; हेमन्तादौ तु हिमाभिभवाद्दुर्दिन इवोष्मानुपलम्भः; श्रूयते च नाडीरश्मीनां सर्वदाऽन्योन्यान्वयः—१"तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं च एवमेवैत आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं च अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते त आसु नाडीषु सृप्ताः आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः" इति। तस्मान्निश्यपि रश्मिसम्भवान्निशि मृतानामपि विदुषां रश्म्यनुसारेणैव ब्रह्मप्राप्तिरस्त्येव ॥१७॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये रश्म्यनुसाराधिकरणम् ॥ ९ ॥

—[श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये निशाधिकरणम् ॥१०॥]—

निशि नेतिचेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च । ४ । २ । १८ ॥

इदमिदानीं चिन्त्यते—विदुषो निशि मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिरस्ति, नेति। यद्यपि निशायां सूर्यरश्मिसम्भवाद्रश्म्यनुसारेण गतिर्निशायामपि सम्भवति; तथापि निशामरणस्य शास्त्रेषु गर्हितत्वात्परमपुरुषार्थ लक्षणब्रह्मप्राप्तिर्निशामृतस्य न सम्भवति। शास्त्रेषु दिवामरणं प्रशस्तम्, विपरीतं निशामरणं २"दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च। मुमूर्षतां प्रशस्तानि विपरीतं तु गर्हितम्" इति। दिवामरणनिशामरणयोः प्रशस्तत्वविपरीतत्वे चोत्तमाधमगतिहेतुत्वेन स्याताम्। अतो निशि मरणमधोगति हेतुत्वान्न ब्रह्मप्राप्तिहेतुरिति चेन्-तन्न. विदुषः कर्मसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात्। एतदुक्तं भवति-अनारब्धकार्याणामधोगति हेतुभूतानां कर्मणां विद्यासम्बन्धेनैव विनाशादुत्तरेषां चाश्लेषात्प्रारब्धकार्यस्य च चरमदेहावधित्वाद्बन्धहेत्वभावाद्विदुषो निशामृतस्यापि ब्रह्मप्राप्तिस्सि-

१. छा. ८-६-२ ॥ २. ॥

द्धैव। दर्शयति च श्रुतिः १"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इति २"दिवा च शुक्लपक्षश्च" इत्यादिवचनमविद्वद्विषयम् ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये निशाधिकरणम् ॥ १० ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये दक्षिणायनाधिकरणम् ॥ ११ ॥)

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे । ४ । २ । १९ ॥

निशि मृतस्यापि विदुषो ब्रह्मप्राप्तौ यो हेतुरुक्तः, तत एव हेतोर्दक्षिणेऽप्ययने मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिस्सिद्धा ॥

अधिका शङ्का तु ३"अथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसस्सायुज्यं गच्छति" इति दक्षिणायने मृतस्य चन्द्रप्राप्तिश्रवणात् चन्द्रं प्राप्तानां च ४"तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते" इति पुनरावृत्तिश्रवणात, भीष्मादीनां च ब्रह्मविद्यानिष्ठानामुत्तरायणप्रतीक्षादर्शनाद्दक्षिणायने मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिर्न सम्भवति—इति।

परिहारस्तु—अविदुषां पितृयाणेन पथा चन्द्रं प्राप्तानामेव पुनरावृत्तिः, विदुषस्तु चन्द्रं प्राप्तस्यापि ३"तस्माद्ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति" इति वाक्यशेषात्तस्य दक्षिणायनमृतस्य चन्द्रप्राप्तिः ब्रह्म प्रपित्सतो विश्रमहेतुमात्रमिति गम्यते; वाक्यशेषाभावेऽपि पूर्वोक्तादेव बन्धहेत्वभावात् विदुषश्चन्द्रं प्राप्तस्यापि ब्रह्मप्राप्तिरनिवार्या। भीष्मादीनां योगप्रभावात् स्वच्छन्दमरणानां धर्मप्रवर्तनायोत्तरायणप्राशस्त्यप्रदर्शनार्थस्तथाविधाचारः ॥

ननु च विदुषो मुमूर्षून् प्रति पुनरावृत्तिहेतुत्वेन कालविशेषविधिर्दृश्यते ५"यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः। प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ। अग्निर्ज्योतिरहश्शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।

१. छा. ६-१४-२ ॥—२. ॥—३. तै. ना. १२-अनु ॥—४. छा. ५-१०-५ ॥—५. गी. ८-२३,२४ ॥

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ १ धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्। तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते। शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतश्शाश्वते मते। एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः" इति; तत्राह—

योगिनः प्रति स्मर्येते स्मार्ते चैते । ४।२।२०॥

नात्र मुमूर्षून् प्रति मरणकालविशेषोपादानं स्मर्यते; अपितु योगिनः-योगनिष्ठान् प्रति स्मार्ते-स्मृतिविषयभूते स्मर्तव्ये देवयानपितृयाणाख्ये गती स्मर्येते-योगाङ्गतयाऽनुदिनं स्मर्तुम्। तथा ह्युपसंहारः १"नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन। तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन" इति। २"अग्निर्ज्योतिः" १"धूमो रात्रिः" इति च देवयानपितृयाणे प्रतिभिज्ञायेते। उपक्रमे च २"यत्र काले तु" इति कालशब्दः कालाभिमानिदेवतातिवाहिकपरः, अग्न्यादेः कालत्वासम्भवात्। अतः ३"तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" इति विहितदेवयानानुस्मृतिरत्र विज्ञानिष्ठान् प्रति विधीयते, न मुमूर्षून् प्रति मरणकालविशेषः ॥ २० ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये दक्षिणायनाधिकरणम् ॥ ११ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये
चतुर्थस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

---

१. गी. ८-२५,२६,२७ ॥—२. गी. ८-२३ २४ ॥—३. छा. ५-१०-१२ ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः.

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

—(चतुर्थाध्याये-तृतीयः पादः-अर्चिराद्यधिकरणम् ॥ १ ॥)—

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः । ४ । ३ । १ ॥

विदुष उत्क्रान्तस्य नाडीविशेषेण हार्दानुग्रहाद्गत्युपक्रम उक्तः। तस्य गच्छतो मार्ग इदानीं निर्णीयते। तत्र श्रुतिषु मार्गप्रकाराः बहुधा आम्नायन्ते; छान्दोग्ये तावत् १"यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पाप कर्म न श्लिष्यते" इत्युपक्रम्य ब्रह्मविद्यामुपदिश्याम्नायते २"अथ यदु चैवास्मिन्छव्यं कुर्वन्ति यदु च न अर्चिषमेवाभिसम्भवन्ति अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्केति मासांस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः। स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्म पथः एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते" इति। तथाऽत्रैवाष्टमे ३"अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते" इति कौषीतकिनश्च देवयानमार्गमन्यथाऽधीयते ४"स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्" इति। तथा बृहदारण्यके ५"य एवमेतद्विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति अर्चिषोऽहरह्न

---

१. छा. ४-१४-३ ॥—२. छा. ४-१५-५,६ ॥—३. छा. ८-६-५ ॥ —४. कौ. १-अ. ३ ॥—५. बृ. ८-२-१५ ॥

अपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं वैद्युतात्पुरुषोऽमानवस्स एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति" इति। तत्रैव पुनरन्यथा १"यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा आडम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खम्" इत्यादि। तत्र संशयः-किमर्चिरादिरेक एव मार्ग आभिश्श्रुतिभिः प्रतिपाद्यत इति, तेनैव ब्रह्म गच्छति विद्वान् उत तस्मादन्येऽन्यत्र मार्गा इति, तैर्वाऽनेन वेत्यनियमः—इति। किं युक्तम्? अनियम इति। कुतः? अनेकरूपत्वान्नैरपेक्ष्याच्चेति॥

(—सिद्धान्तः—)

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—अर्चिरादिना—इति। अर्चिरादिरेक एव मार्गस्सर्वत्र प्रतिपाद्यते। अतोऽर्चिरादिनैव गच्छति। कुतः? तत्प्रथितेः—तस्यैव सर्वत्र प्रथितेः। प्रथितिः-प्रसिद्धिः, तस्यैव सर्वत्र प्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः प्रत्यभिज्ञानात्स एव मार्गस्सर्वत्र न्यूनाधिकभावेन प्रतिपाद्यत इति विद्यागुणोपसंहारवदन्यत्रोक्तानामन्यत्रोपसंहारः क्रियते। छान्दोग्ये तावदुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां चैकरूप एवाम्नायते; वाजसनेयके च पञ्चाग्निविद्यायां तथैवार्चिरादिः अल्पान्तर आम्नायते; अतस्तत्रापि स एवेति प्रतीयते। अन्यत्रापि सर्वत्राग्नयादित्यादयः प्रत्यभिज्ञायन्ते॥ १॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अर्चिराद्यधिकरणम्॥ १॥

———

१. बृ. ७-१०-१॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वाय्वधिकरणम् ॥ २ ॥)—

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् । ४ । ३ । २ ॥

अर्चिरादिनैव गच्छन्ति विद्वांस इत्युक्तम्; तत्रार्चिरादिके मार्गे छन्दोगाः मासादित्ययोरन्तराले संवत्सरमधीयते-१ "मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्" इति। वाजसनेयिनस्तु तयोरेवान्तराले देवलोकं २ "मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्" इति। उभयत्रापि मार्गस्यैकत्वादुभावुभयत्रोपसंहार्यौ। तत्र मासादूर्ध्वमभिहितयोस्संवत्सरदेवलोकयोः पञ्चम्याऽभिहितस्य श्रौतक्रमस्य तुल्यत्वेऽहि १"अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेतिमासांस्तान्" इत्यधिककालानां न्यूनकालेभ्य उत्तरोत्तरत्वेन निवेशदर्शनात्संवत्सरस्यैव मासादनन्तरं बुद्धौ विपरिवृत्तेः संवत्सर एव मासादूर्ध्वं निवेशयितव्य इति तत ऊर्ध्वं देवलोक इति निश्चीयते। अन्यत्र वाजसनेयिनः ३"यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते" यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति" इत्यादित्यात्पूर्वं वायुमधीयते। कौषीतकिनस्तु ४"स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकम्" इत्यग्निलोकशब्दनिर्दिष्टादर्चिषः परं वायुमधीयते। तत्र कौषीतकिनां पाठक्रमेणार्चिषः परत्वेन प्राप्तस्य वायोर्वाजसनेयिनां ३"तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति" इत्यूर्ध्वशब्दनिर्दिष्टश्रौतक्रमेण पाठक्रमाद्बलीयसा आदित्यात्पूर्वं प्रवेशो निश्चीयते। अत आदित्यात्पूर्वं संवत्सरादूर्ध्वं देवलोको वायुश्च प्राप्तौ। तत्रेदं चिन्त्यते--किं देवलोको वायुश्चार्थान्तरभूतौ यथेष्टक्रमेण विद्वानभिगच्छेत्, उतानर्थान्तरत्वेन संवत्सरादूर्ध्वं देवलोकं सन्तं वायुमभिगच्छेत्-इति। किं युक्तम्? भिन्नार्थत्वम्, प्रसिद्धेः। भिन्नार्थत्वेचो-

१. छा. -४-१५-२॥--२. बृ. ८-२-१५॥—३. बृ. ७.१०.१॥—४. कौ. १. अ .२॥

र्ध्वशब्देन पञ्चम्या चोभयोस्संवत्सरादित्यान्तराले श्रुतिक्रमेण प्राप्तत्वात्, विशेषाभावाच्च यथेष्टम्—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—वायुमब्दात्-इति। वायुं संवत्सरादूर्ध्वमभिगच्छेत्। कुतः? अविशेषविशेषाभ्यां वायोरेव निर्दिष्टत्वात्। देवलोकशब्दो हि अविशेषेण–सामान्येन देवानां लोक इत्यनेन रूपेण वायुमभिधत्ते। १"स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र" इति वायुशब्दो विशेषेण वायुमभिधत्ते। अतो देवलोकवायुशब्दाभ्याम् अविशेषविशेषाभ्यां वायुरेवाभिधीयत इति संवत्सरादूर्ध्वं वायुमेवाभिगच्छेत्। कौषीतकिनां वायुलोकशब्दश्चाग्निलोकशब्दवत् वायुश्चासौ लोकश्चेति व्युत्पत्त्या वायुमेवाभिधत्ते। वायुश्च देवानामावासभूत इत्यन्यत्र श्रूयते २"योऽयं पवत एष देवानां गृहाः" इति॥ २॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वाय्वधिकरणम्॥ २॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वरुणाधिकरणम्॥ ३॥)—

तटितोऽधि वरुणस्सम्बन्धात्। ४। ३। ३॥

कौषीतकिनां ३"स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्" इत्यत्राग्निलोकशब्दस्यार्चिःपर्यायत्वेन प्राथम्यमविगीतम्। वायोश्च संवत्सरादूर्ध्वं निवेश उक्तः। आदित्यस्याप्यत्र प्राप्तपाठक्रमबाधेन ४"देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतम्" इति वाजसनेयकोक्तश्रुतिक्रमाद्देवलोकशब्दाभिहिताद्वायोरुपरि निवेशस्सिद्धः। इदानीं वरुणेन्द्रा-

१. बृ. ७-१०-१॥—२.॥—३. कौ. १-अ. ३॥—४. बृ. ८-२-१५॥

दिपु चिन्ता । किमेते वरुणादयो यथापाठं वायोरूर्ध्वं निवेशयितव्याः, आहोस्विद्विद्युतोऽधीति विशये, अर्चिः प्रभृतिषु सर्वेषु १ "अर्चिषोऽहः" इत्यादिश्रुतिक्रमोपरोधाद्विद्युतः परस्ताच्च २ "तत्पुरुषोऽमानवस्स एनान् ब्रह्म गमयति" इति विद्युत्पुरुषस्य ब्रह्मगमयितृत्वश्रवणाच्च सर्वत्रावकाशाभावेनाप्राप्तौ च उपदेशावैयर्थ्यायावश्यं कस्यचिद्बाध्यत्वे पाठक्रमानुरोधेन वायोरनन्तरं वरुणो निवेशयितव्यः । वाय्वादित्ययोः क्रमस्य बाधितत्वेनेन्द्रप्रजापती अपि तत्रैव निवेशयितव्यौ—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते—तटितोऽधि वरुणः इति । वरुणस्तावद्विद्युत उपरिष्टान्निवेशयितव्यः । कुतः ? सम्बन्धात्—मेघोदरवर्तित्वाद्विद्युतो वरुणेन सम्बन्धो लोकवेदयोः प्रसिद्धः । एतदुक्तं भवति–वरुणादीनामुपदेशावैयर्थ्याय क्वचिन्निवेशयितव्यत्वे सति पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वाद्विद्युतोऽधि वरुणो निवेशयितव्यः; ततश्चामानवस्य गमयितृत्वं व्यवधानसहमित्यवगम्यते । तस्य च व्यवधानसहत्वादिन्द्रादेश्चोपदिष्टस्यावश्यनिवेशयितव्यस्य वरुणादुपर्युपदिष्टत्वादागन्तूनामन्ते निवेशयितव्यत्वाच्च वरुणादुपरीन्द्रादिर्निवेशयितव्य इति ॥३॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये वरुणाधिकरणम् ॥३॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आतिवाहिकाधिकरणम् ॥)—

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् । ४ । ३ । ४ ॥

इदमिदानीं चिन्त्यते-किमर्चिरादयो मार्गचिह्नभूताः, उत भो–

१. छा. ४-१५-५ ॥ २. छा. ४-१५-५, ६ ॥

गभूमयः, अथवा विदुषां ब्रह्म प्रेप्सतामतिवोढारः-इति । किं तावद्युक्तम्? मार्गचिह्नभूता इति । कुतः ? उपदेशस्य तथाविधत्वात्; दृश्यते हि लोके ग्रामादीन् प्रति गन्तॄणामेवंविधो दैशिकैरुपदेशः—'इतो निष्क्रम्यामुकं वृक्षममुकां नदीममुकं च पर्वतपार्श्वं गत्वाऽमुकं ग्रामं गच्छ' इति । अथवा भोगभूमय, एताःस्युः, कालविशेषतया प्रसिद्धानामहरादीनां मार्गचिह्नत्वानुपपत्तेरन्यस्य च मार्गचिह्नभूतस्यैतेषामनभिधायकत्वात् । भोग भूमित्वं च १"एत एव लोका यदहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवस्संवत्सराः" इत्यहरादीनां लोकत्ववचनादुपपद्यते । अत एव च कौषीतकिनः २ "अग्निलोकमागच्छति" इत्यादिना लोकशब्दानुविधानेनार्चिरादीन् पठन्तीति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते ब्रूमः-आतिवाहिकाः-इति । विदुषामतिवाहे परमपुरुषेण नियुक्ताः आतिवाहिकाः देवताविशेषा एतेऽर्चिरादयः । कुतः ? तल्लिङ्गात्—अतिवहनलिङ्गात । अतिवहनं हि गन्तॄणां गमयितृत्वम् । गमयितृत्वं च ३"तत्पुरुषोऽमानवस्स एनान् ब्रह्म गमयति" इत्युपसंहारे श्रूयमाणं पूर्वेषामप्यविशेषश्रुतानां स एव सम्बन्ध इति गमयति । वदन्ति चार्चिरादयः शब्दाः अर्चिराद्यात्मभूतानभिमानिदेवताविशेषान् । ४"तं पृथिव्यब्रवीत्" इतिवत् ॥ ४ ॥

यद्येवं ३ "तत्पुरुषोऽमानवस्स एनान् ब्रह्म गमयति" इति वैद्युतस्यैव पुरुषस्य ब्रह्मगमयितृत्वश्रुतेर्विद्युतः परेषां वरुणादीनां कथमातिवाहिकत्वेनान्वय इत्यत्राह—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः । ४ । ३ । ५ ॥

ततः विद्युत उपरि, वैद्युतेन—अमानवेनैवातिवाहिकेन विदुषा-

१. तै. ना. ८०-अनु । २. कौ. १-अ ॥—३. छा. ४-१५-५, ६ ॥
४. यजु. ५-२-२ ॥

मात्रब्रह्मप्राप्तेर्गमनम्। कुतः? तच्छ्रुतेः १ "स एनान् ब्रह्म गमयति" इति तस्यैव गमयितृत्वश्रुतेः। वरुणादयस्त्वनुग्राहका इति तेषामप्यातिवाहिकत्वेनान्वयो विद्यत एव ॥ ५॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये आतिवाहिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कार्याधिकरणम् ॥५॥)

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः। ४। ३। ६॥

अर्चिरादिनैव गच्छति विद्वान्; अर्चिरादिरमानवान्तश्च गण आतिवाहिको विद्वांसं ब्रह्म गमयतीत्युक्तम्। इदमिदानीं चिन्त्यते। किमयमर्चिरादिको गणः कार्यं हिरण्यगर्भमुपासीनान्नयति, उत परमेव ब्रह्मोपासीनान्, अथ परं ब्रह्मोपासीनान् प्रत्यगात्मानं ब्रह्मात्मकतयोपासीनांश्च–इति विशये–कार्यमुपासीनानेव गमयतीति बादरिराचार्यो मन्यते। कुतः? अस्य–हिरण्यगर्भमुपासीनस्यैव गत्युपपत्तेः; न हि परिपूर्णं सर्वज्ञं सर्वगतं सर्वात्मभूतं परं ब्रह्मोपासीनस्य तत्प्राप्तये देशान्तरगतिरुपपद्यते, प्राप्तत्वादेव; नित्यप्राप्तपरब्रह्मविषयाविद्यानिवृत्तिमात्रमेव हि परविद्याकार्यम्। कार्यं तु हिरण्यगर्भरूपं ब्रह्मोपासीनस्य परिच्छिन्नदेशवर्तिप्राप्त्यर्थं गमनमुपपद्यते। अतोऽर्चिरादिरातिवाहिकगणस्तमेव नयति ॥ ६ ॥

विशेषितत्वाच्च। ४। ३। ७॥

२"पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान्गमयति" इति लोकशब्देन बहुवचनेन च लोकविशेषवर्तिनं हिरण्यगर्भमुपासीनमेवामानवो गमयतीति विशेष्यते। किञ्च ३"प्रजापतेस्सभां वेश्म प्रपद्ये; इति कार्यस्य हिरण्यगर्भस्य समीपगमनमर्चिरादिना गतः प्रत्यभिसन्धत्ते ॥ ७ ॥

१. छा. ४-१५-५, ६ ॥—२. बृ. ८-२-१५ ॥—३. छा. ८-१४-१ ॥

नन्वेवं १"तत्पुरुषोऽमानवः" २"स एनान् ब्रह्म गमयति" इत्ययं निर्देशो नोपपद्यते; हिरण्यगर्भनयने हि 'स एनान् ब्रह्माणं गमयति' इति निर्देष्टव्यं स्यात्; अत आह—

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः । ४ । ३ । ८ ॥

३"यो ब्रह्माणं विदधाति" इति हिरण्यगर्भस्य प्रथमजत्वेन ब्रह्मसामीप्यात्तस्य ब्रह्मशब्देन व्यपदेश इति गत्यनुपपत्तिविशेषणादिभिरुक्तैर्हेतुभिर्निश्चीयत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अथ स्यात्—अर्चिरादिना हिरण्यगर्भप्राप्तौ २"एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते" ४"तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" ५ इत्यमृतत्वप्राप्त्यपुनरावृत्तिव्यपदेशो नोपपद्यते, हिरण्यगर्भस्य कार्यभूतस्य द्विपरार्धकालावसाने विनाशशास्त्रात् ६"आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन" इति वचनाद्धिरण्यगर्भं प्राप्तस्य पुनरावृत्तेरवर्जनीयत्वात्—इति; अत्राह—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् । ४ । ३ । ९ ॥

कार्यस्य—ब्रह्मलोकस्यात्यये तदध्यक्षेण—हिरण्यगर्भेणाधिकारिकेणावसिताधिकारेण विदुषा सह स्वयमपि तत्राधिगतविद्यः; अतः—कार्याद्ब्रह्मलोकात् परं ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्चिरादिना गतस्यामृतत्वप्राप्त्यपुनरावृत्त्यभिधानात् ७"ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे" इति वचनाच्चावगम्यते ॥ ९ ॥

---

१. छा. ४-१५-५ ॥—२. छा. ४-१५-६ ॥—३. श्वे. ६-१८ ॥—४. कठ. २-६-१६ ॥—५. इत्यमृतत्वापुनरावृत्तिव्यपदेशः पा ॥ ६. गी. ८-१६ ॥ ७. तै. ना. १०-अनु-२४ ॥

स्मृतेश्च । ४ । ३ । १० ॥

स्मृतेश्चायमर्थोऽवगम्यते-१'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मनः प्रविशन्ति परं पदम्' इति । अतः कार्यमुपासीनमेवार्चिरादिको गणो नयतीति बादरेर्मतम् ॥ १० ॥

अत्र जैमिनिः पक्षान्तरपरिग्रहेण प्रत्यवतिष्ठते--

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् । ४ । ३ । ११ ॥

परं ब्रह्मोपासीनानर्चिरादिर्नयतीति जैमिनिराचार्यो मन्यते; कुतः? मुख्यत्वात्-२"तत्पुरुषोऽमानवस्स एनान् ब्रह्म गमयति" इति ब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्नेव ब्रह्मणि मुख्यत्वात् । प्रमाणान्तरेण कार्यत्व निश्चये सत्येव हि लाक्षणिकत्वं युक्तम् । न च गमनानुपपत्तिः प्रमाणम्, परस्य ब्रह्मणस्सर्वगतत्वेऽपि विदुषो विशिष्टदेशगतस्यैवाविद्यानिवृत्तिशास्त्रात् । यथा हि विद्योत्पत्तिर्वर्णाश्रमधर्मशौचाचारदेशकालाद्यपेक्षा ३"तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादिशास्त्रादवगम्यते, तथा निश्शेषाविद्यानिवर्तनरूपविद्यानिष्पत्तिरपि विशिष्टदेशगतिसापेक्षेति गतिशास्त्रादवगम्यते । विदुष उत्क्रान्तिप्रतिषेधादि तु पूर्वमेव परिहृतम् । यत्तु ४ "ब्रह्मलोकान्" इति लोकशब्दबहुवचनाभ्यां विशेषणात्कार्यभूतहिरण्यगर्भप्रतीतिरिति; तदयुक्तम्, निषादस्थपतिन्यायेन ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इति कर्मधारयस्यैव युक्तत्वात्, अर्थस्य चैकत्वे निश्चिते बहुवचनस्य ५ "अदितिः पाशान्" इतिवदुपपत्तेः; परस्य ब्रह्मणः परिपूर्णस्य सर्वगतस्य सत्यसङ्कल्पस्य स्वेच्छापरिकल्पिताः स्वासाधारणा अप्राकृताश्च लोका नात्यन्ताय न सन्ति, श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रामाण्यात् ॥ ११ ॥

---

१. कूर्मपुराणे. पूर्वभा. १२-२६६ ॥ २. छा. ४-१५-५, ६ ॥ ३. बृ. ६-४-२२ ॥ ४. बृ. ८-२-१५ ॥ ५. ॥

दर्शनाच्च । ४ । ३ । १२ ॥

दर्शयति श्रुतिः मूर्धन्यनाड्या निष्क्रम्य देवयानेन गतस्य परब्रह्मप्राप्तिम् १"एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति ॥१२॥

यदुक्तं २"प्रजापतेस्सभां वेश्म प्रपद्ये" इत्यर्चिरादिना गतस्य कार्ये प्रत्यभिसन्धिर्दृश्यत इति तत्रोत्तरं—

नच कार्ये प्रत्याभिसन्धिः । ४ । ३ । १३ ॥

न चायं प्रत्यभिसन्धिः कार्ये हिरण्यगर्भे; अपि तु परस्मिन्नेव ब्रह्मणि, वाक्यशेषे २"यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्" इति तस्याभिसन्धातुस्सर्वाविद्याविमोकपूर्वकसर्वात्मभावाभिसन्धानात् , ३ "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य । धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि" इत्यभिसम्भाव्यस्य ब्रह्मलोकस्याकृतत्वश्रवणात् , सर्वबन्धविनिर्मोकस्य च साक्षाच्छ्रवणात् । अतः परमेव ब्रह्मोपासीनमर्चिरादिरातिवाहिको गणो नयतीति जैमिनेर्मतम् ॥ १३ ॥

इदानीं बादरायणस्तु भगवान् स्वमतेन सिद्धान्तमाह—

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा च दोषात्तत्क्रतुश्च । ४ । ३ । १४ ॥

अप्रतीकालम्बनान् प्रतीकालम्बनव्यतिरिक्तान् नयत्यर्चिरादिरातिवाहिको गण इति भगवान् बादरायणो मन्यते; एतदुक्तं भवति—

---

१. छा. ८-३-४ ॥ २. छा. ८-१४-१ ॥ ३. छा. ८-१३-१ ॥

कार्यमुपासीनान्नयतीति नायं पक्षस्सम्भवति; परमेवोपासीनानित्ययमपि नियमो नास्ति ; न च प्रतीकालम्बनानपि नयति ; अपितु ये परं ब्रह्मोपासते, ये चात्मानं प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासते; तानुभयविधान्नयति; ये तु ब्रह्मकार्यान्तर्भूतनामादिकं वस्तु देवदत्तादिषु सिंहादिदृष्टिवत् ब्रह्मदृष्ट्या, केवलं वा तत्तद्वस्तूपासते, न तान्नयति । अतः परं ब्रह्मोपासीनानात्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासीनान्नयति–इति । कुतः ? उभयथा च दोषात् । कार्यमुपासीनान्नयतीति पक्षे १"अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य" इत्यादिकाः श्रुतयः प्रकुप्येयुः; परमेवोपासीनानिति नियमे २"तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" इति पञ्चाग्निविदोऽर्चिरादिर्गणो नयतीति श्रुतिः प्रकुप्येत । अतः उभयस्मिन्नपि पक्षे दोषस्स्यात् । तस्मादुभयविधान्नयतीति । तदेतदाह–तत्क्रतुश्च–इति । तत्क्रतुः–तथोपासीनस्तथैव प्राप्नोतीत्यर्थः, ३"यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" ४"तं यथायथोपासते" इति न्यायात् । पञ्चाग्निविदोऽप्यर्चिरादिना गतिश्रवणात्, अर्चिरादिना गतस्य ब्रह्मप्राप्त्यपुनरावृत्तिश्रवणाच्च । अत एव तत्क्रतुन्यायात्प्रकृतिविनिर्मुक्तब्रह्मात्मकात्मानुसन्धानं सिद्धम् । नामादिप्राणपर्यन्तप्रतीकालम्बनानां तूभयविधश्रुतिसिद्धोपासनाभावादचिन्मिश्रोपासनं तत्क्रतुन्यायाच्चार्चिरादिना गतिर्ब्रह्मप्राप्तिश्च न विद्यते ॥ १४ ॥

तमिमं विशेषं श्रुतिरेव दर्शयतीत्याह—

विशेषञ्च दर्शयति । ४ । ३ । १५ ॥

५"यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति" इत्यादिका श्रु-

१. छा. ८-३-४ ॥—२. छा. ५-१०-१ ॥—३. छा. ३-१४-१ ॥—४ ॥
५. छा. ७-१-५ ॥

तिः १ नामादिप्राणपर्यन्तप्रतीकमुपासीनानां गत्यनपेक्षं परिमितफलविशेषं च दर्शयति; तस्मादचिन्मिश्रं केवलं वाचिद्वस्तु ब्रह्मदृष्ट्या तद्वियोगेन च य उपासते, न तान् नयति, अपितु परं ब्रह्मोपासीनानात्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासीनानातिवाहिको गणो नयतीति सिद्धम् ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये कार्याधिकरणम् ॥ ५ ॥

इति भगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये
चतुर्थस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

—:※:—

---

१. नामादि प्रतीकमुपा. पा ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः.

श्रीभगवद्रामानुजविरचिते

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये

—(चतुर्थाध्याये-चतुर्थः पादः-सम्पद्याविर्भावाधिकरणम् ॥ १ ॥)—

सम्पद्याविर्भावस्स्वेनशब्दात् । ४ । ४ । १ ॥

परं ब्रह्मोपासीनानामात्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासीनानामर्चिरादिना मार्गेणापुनरावृत्तिलक्षणा गतिरुक्ता; इदानीं मुक्तानामैश्वर्यप्रकारं चिन्तयितुमारभते । इदमाम्नायते–१"एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति । किमस्माच्छरीरात्समुत्थाय परज्योतिरुपसम्पन्नस्य देवादिरूपवत्साध्येन रूपेण सम्बन्धोऽनेन वाक्येन प्रतिपाद्यते, उत स्वाभाविकस्य स्वरूपस्याविर्भाव इति संशये, साध्येन रूपेण सम्बन्ध इति युक्तम् । अन्यथा ह्यपुरुषार्थावबोधित्वं मोक्षशास्त्रस्य स्यात्, स्वरूपस्य स्वतोऽपुरुषार्थत्वदर्शनात् । न हि सुषुप्तौ देहेन्द्रियव्यापारेषूपरतेषु केवलस्यात्मस्वरूपस्य पुरुषार्थसम्बन्धो दृश्यते; न च दुःखनिवृत्तिमात्रं परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्य पुरुषार्थः, येन स्वरूपाविर्भाव एव मोक्षः इत्युच्येत; २"स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य" ३"रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति" इत्यादिभ्यो मुक्तस्य सुखानन्त्यश्रवणात् । नचापरिच्छिन्नानन्दरूपचैतन्यमेवास्य स्वरूपम्, तच संसारदशायामविद्यया तिरोहितं परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्याविर्भवतीति शक्यं वक्तुम्, ज्ञानस्वरूपस्य

१. छा. ८-१२-२ ॥—२. तै. आन. ८-अनु. ४ ॥...३. तै. आन. ७-१ ॥

तिरोधानासम्भवात् । प्रकाशपर्यायस्य ज्ञानस्य तिरोधानं तद्विनाश एवेति हि पूर्वमेवोक्तम् । नच प्रकाशमात्रस्याऽनन्दता सम्भवति; सुखस्वरूपता ह्यानन्दस्वरूपता; सुखस्वरूपत्वं चात्मनोऽनुकूलत्वम्; प्रकाशमात्रात्मवादिनः कस्य प्रकाशोऽनुकूलवेदनीयो भवेदिति प्रकाशमात्रात्मवादिनः कथंचिदप्यानन्दस्वरूपता दुरुपपादा । स्वरूपापत्तिमात्रे च साध्ये स्वरूपस्य नित्यनिष्पन्नत्वादुपसम्पन्नस्य १ " स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति वचनमनर्थकं स्यात् । अतोऽपूर्वेण साध्येन रूपेण सम्पद्यते । एवं च १"अभिनिष्पद्यते" इति वचनं मुख्यार्थमेव भवति । १"स्वेन रूपेण" इत्यप्यानन्दैकान्तेन स्वासाधारणेनाभिनिष्पद्यत इति सङ्गच्छत इति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-सम्पद्याविर्भावः-इति । अयं प्रत्यगात्माऽर्चिरादिना परं ज्योतिरुपसम्पद्य यं दशाविशेषमापद्यते, स स्वरूपाविर्भावरूपः; नापूर्वाकारोत्पत्तिरूपः । कुतः? स्वेन शब्दात् १"स्वेन रूपेण"इति विशेषणोपादानादित्यर्थः । आगन्तुकविशेषपरिग्रहे हि १" स्वेन रूपेण" इति विशेषणमनर्थकं स्यात्, अविशेषणेऽपि तस्य स्वकीयरूपत्वसिद्धेः ॥

यत्तूक्तं स्वरूपस्य नित्यप्राप्तत्वात् १" उपसम्पद्याभिनिष्पद्यते" इति वचनमनर्थकमिति-तत्रोत्तरं-

मुक्तः प्रतिज्ञानात् । ४ । ४ । २ ॥

कर्मसम्बन्धतत्कृतदेहादिविनिर्मुक्तः स्वाभाविकरूपेणावस्थितोऽत्र १"स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्युच्यते । अतो नित्यप्राप्तस्यापि स्वरूपस्य कर्मरूपाविद्यातिरोहितस्य तिरोधाननिवृत्तिरत्राभिनिष्पत्तिरुच्यते । कुतः? प्रतिज्ञानात्-सा हि प्रतिपाद्यतया प्रतिज्ञाता । कुत इदमवगम्यते ? २"य आत्मा" इति प्रकृतं प्रत्यगात्मानं जागरिताद्यवस्थात्रितयविनिर्मुक्तं,

---

१. छा. ८-१२-२ ॥—२. छा. ८-७-१ ॥

प्रियाप्रियहेतुभूतकर्मारब्धशरीरविनिर्मुक्तं च प्रतिपादयितुम् १"एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि" इति पुनःपुनरुक्त्वा २"एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यभिधानात् । अतः कर्मणा सम्बद्धस्य परं ज्योतिरुपसम्पद्य बन्धनिवृत्तिरूपा मुक्तिः स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्तिरुच्यते । स्वरूपाविर्भावेऽप्यभिनिष्पत्तिशब्दो दृश्यते, 'युक्त्याऽयमर्थो निष्पद्यते' इत्यादिषु ॥ २ ॥

यदुक्तम्-आत्मस्वरूपस्य सुषुप्तावपुरुपार्थत्वदर्शनात्स्वरूपाविर्भावे मोक्षशास्त्रस्यापुरुपार्थावबोधित्वं स्यादिति कृत्वा देशाद्यवस्थावत्सुखसम्बन्ध्यवस्थान्तरप्राप्तिरभिनिष्पत्तिः-इति ; तत्रोत्तरम्-

आत्मा प्रकरणात् । ४ । ४ । ३ ॥

स्वरूपेणैवायमात्मा अपहतपाप्मत्वादिसत्यसङ्कल्पत्वपर्यन्तगुणकः प्रकरणादवगम्यते ; ३"य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसङ्कल्पः" इति हि प्रजापतिवाक्यप्रक्रमः ; इदं च प्रकरणं प्रत्यगात्मविषयमिति ४"उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु" इत्यत्र प्रतिपादितम् । अतोऽपहतपाप्मत्वादिस्वरूप एवायमात्मा संसारदशायां कर्माख्याविद्यया तिरोहितस्वरूपः परं ज्योतिरुपसम्पद्याविर्भूतस्वरूपो भवति । अतः प्रत्यगात्मनोऽपहतपाप्मत्वादयस्स्वाभाविका गुणाः परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्याविर्भवन्ति ; नोत्पद्यन्ते ; यथोक्तं भगवता शौनकेनापि ५"यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः । दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा । यथोदपानकरणात्क्रियते न जलाम्बरम् । सदेव नीयते व्यक्तिमसतस्सम्भवः कुतः । तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः । प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते" इति । अतो ज्ञानानन्दादिगुणानां कर्मणा आत्मनि सङ्कुचितानां परं

१. छा. ८-९-३ ॥—२. छा. ८-१२-२ ॥—३. छा. ८-७-१ ॥—४. शारी. १-३-१८ ॥—५. विष्णुधर्मे. १०४, ५५, ५६, ५७ ॥

ज्योतिरुपसम्पन्न कर्मरूपबन्धक्षये विकाशरूपाविर्भावो नानुपपन्न इति सुष्ठूक्तं—सम्पद्याविर्भावः—इति ॥ ३ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सम्पद्याविर्भावाधिकरणम् ॥ १ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अविभागेनदृष्टत्वाधिकरणम् ॥)—

अविभागेन दृष्टत्वात् । ४ । ४ । ४ ॥

किमयं परं ज्योतिरुपसम्पन्नः सर्वबन्धविनिर्मुक्तः प्रत्यगात्मा स्वात्मानं परमात्मनः पृथग्भूतमनुभवति, उत तत्प्रकारतया तदविभक्तम्-इति विशये [१]"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" [२]"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" [३]"इदं ज्ञानमपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यां मुक्तस्य परेण साहित्यसाम्यसाधर्म्यावगमात् पृथग्भूतमनुभवति—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते-अविभागेन-इति। परस्माद्ब्रह्मणः स्वात्मानमविभागेनानुभवति मुक्तः । कुतः ? दृष्टत्वात्-परब्रह्मोपसम्पत्त्या निवृत्ताविद्यातिरोधानस्य याथातथ्येन स्वात्मनो दृष्टत्वात् । स्वात्मनः स्वरूपं हि [४]"तत्त्वमसि" [५]"अयमात्मा ब्रह्म" [४]"एतदात्म्यमिदं सर्वं" [६]"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादिसामानाधिकरण्यनिर्देशैः [७]"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽऽत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" [८]"अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा" इत्यादिभिश्च परमात्मात्मकं तच्छरीरतया तत्प्रकारभूतमिति प्रति-

१. तै. आन. १-२ ॥—२. मु. ३-१-३ ॥—३. गी. १४-२ ॥—४. छा. ६-८-७॥ —५ ॥—६. छा. ३-१४-१ ॥—७. बृ. ५-७-२२. मा-पा ॥—८. आरण. १-३-२१॥

पादितम् १"अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः" इत्यत्र । अतोऽविभागेन 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्येवानुभवति । साम्यसाधर्म्यव्यपदेशो ब्रह्मप्रकारभूतस्यैव प्रत्यगात्मनः स्वरूपं तत्सममिति देवादिप्राकृतरूपप्रहाणेन ब्रह्मसमानशुद्धिं प्रतिपादयति । सहश्रुतिस्त्वेवंभूतस्य प्रत्यगात्मनः प्रकारिणा ब्रह्मणा सह तद्गुणानुभवं प्रतिपादयतीति न कश्चिद्विरोधः । ब्रह्मप्रकारतया तदविभागोक्तेर्हि २"सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः" इत्यादि न विरुध्यते, ३"अधिकन्तु भेदनिर्देशात्" ४ "अधिकोपदेशात्" इत्यादि च ॥ ४ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अविभागेनदृष्टत्वाधिकरणम् ॥२॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये ब्राह्माधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः । ४ । ४ । ५ ॥

प्रत्यगात्मनः परं ज्योतिरुपसम्पद्य निवृत्ततिरोधानस्य स्वरूपाविर्भाव एवेत्युक्तम् । तत्र येन स्वरूपेणायमाविर्भवति; तत्स्वरूपं श्रुतिवैविध्याद्विचार्यते । किमपहतपाप्मत्वादिकमेवास्य स्वरूपमिति तेन रूपेणायमाविर्भवति, उत विज्ञानमात्रमेवेति तेन रूपेण, अथोभयोरविरोध इत्युभयरूपेणेति । किं तावत्प्राप्तम् ? ब्राह्मेणेति जैमिनिराचार्यो मन्यते । ब्राह्मेण—अपहतपाप्मत्वादिनेत्यर्थः । अपहतपाप्मत्वादयो हि दहरवाक्ये ब्रह्मसम्बन्धितया श्रुताः । ब्राह्मेणेति कुतोऽवगम्यते ? उपन्यासादिभ्यः; उपन्यस्यन्ते हि ब्रह्मगुणाः अपहतपाप्मत्वादयः प्रत्यगात्मनोऽपि प्रजापतिवाक्ये ५"य आत्माऽपहतपाप्मा" इत्यादिना ५ "सत्यसङ्कल्पः" इत्यन्तेन । आदिशब्देन सत्यसङ्कल्पत्वादिगुणायत्ता जक्षणादयः ६"जक्षत्क्रीडन्रममाणः" इत्यादिवाक्यावगता व्यवहारा गृह्यन्ते । अत एव

१. शारी. १-४-२२ ॥—२. शारी. ४-४-८ ॥—३. शारी. २-१-२२ ॥
४. शारी. ३-४-८ ॥—५. छा. ८-७-१ ॥—६. छा. ८-१२-३ ॥

उपन्यासादिभ्यः प्रत्यगात्मनो विज्ञानमात्रस्वरूपत्वं न सम्भवतीति जैमिनेर्मतम् ॥ ५ ॥

चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः । ४ । ४ । ६ ॥

१ चैतन्यमात्रमेवास्य स्वरूपमिति तेन रूपेणाविर्भवतीत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते । कुतः ? तदात्मकत्वात्-तावन्मात्रात्मकत्वादस्य प्रत्यगात्मनः । २"स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" ३ "विज्ञान घन एव" इत्यवधारणात् विज्ञानमात्रमेवास्य स्वरूपमित्यवगम्यते । अतोऽस्य गुणान्तराभावात् ४"अपहतपाप्मा" इत्यादयः शब्दाः विकारसुखदुःखाद्यविद्यात्मकधर्मव्यावृत्तिपरा इति चिति तन्मात्ररूपेणाविर्भाव इत्यौडुलोमेर्मतम् ॥ ६ ॥

सम्प्रति भगवान् बादरायणः स्वमतेन सिद्धान्तमाह—

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः । ४ । ४ । ७ ॥

एवमपि—विज्ञानमात्रस्वरूपत्वप्रतिपादने सत्यपि, सत्यकामत्वादीनां पूर्वोक्तानां गुणानामविरोधं बादरायण आचार्यो मन्यते । कुतः ? उपन्यासात्पूर्वभावात्-औपनिषदात् ४ "य आत्माऽपहतपाप्मा" इत्याद्युपन्यासात्प्रमाणात् पूर्वेषाम्-अपहतपाप्मत्वसत्यकामत्वादीनामपि भावात्-विद्यमानत्वात् । तुल्यप्रमाणकानामितरेतरबाधो न युज्यत इत्यर्थः । नच वस्तुविरोधादपहतपाप्मत्वादीनामविद्यापरिकल्पितत्वं न्याय्यम्,

---

१. चैतन्यमात्रमेवात्मनः पा ॥—२. बृ. ६-५-१३ ॥—३. बृ. ४-४ १२ ॥—४. छां. ८-७-१ ॥

विशेषाभावात् 'विपरीतं कस्मान्न भवति" इति न्यायात्। तुल्यबलत्वे ह्यशक्यस्यावधारणस्यान्यपरत्वमेव न्याय्यम्। एवमप्यविरोध इत्यभ्युपगम्य वदन् ज्ञानमात्रमेवास्य स्वरूपं नान्यत्किञ्चिदस्तीत्ययमर्थः [1]"विज्ञानघन एव" इत्यादिभिर्न प्रतिपाद्यत इति मन्यते। कस्तर्हि[2]"विज्ञानघन एव" इत्यवधारणस्यार्थः? कृत्स्नोऽप्यात्मा जडव्यावृत्तस्वप्रकाशः नान्यायत्तप्रकाशः स्वल्पोऽपि प्रदेशोऽस्तीत्ययमर्थो वाक्यादेव सुव्यक्तः [3]"स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" इति। नचैवं प्रत्यगात्मनो धर्मिस्वरूपस्य कृत्स्नस्य विज्ञानघनत्वेऽप्यपहतपाप्मत्वसत्यसङ्कल्पत्वादिधर्मसम्बन्धो वाक्यान्तरावगतो विरुध्यते; यथा सैन्धवघनस्य कृत्स्नस्य रसघनत्वे रसनेन्द्रियावगते चक्षुराद्यवगताः रूपकाठिन्यादयो न विरुध्यन्ते। इदमत्र वाक्यतात्पर्यं—यथा रसवत्स्वाम्रफलादिषु त्वगादिप्रदेशभेदेन रसभेदे सत्यपि सैन्धवघनस्य सर्वत्रैकरसत्वम्; तथाऽऽत्मनोऽपि सर्वत्र विज्ञानस्वरूपत्वम्; स्वप्रकाशस्वरूपत्वमित्यर्थः॥ ७॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये ब्राह्माधिकरणम्॥ ३॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये संकल्पाधिकरणम्॥ ४॥)

संकल्पादेव तच्छ्रुतेः। ४। ४। ८॥

मुक्तः परं ब्रह्मोपसम्पद्य ज्ञानस्वरूपोऽपहतपाप्मत्वादिसत्यसङ्कल्पत्वपर्यन्तगुणक आविर्भवतीत्युक्तम्; तमधिकृत्य सत्यसङ्कल्पत्वप्रयुक्ता व्यवहाराः श्रूयन्ते [4]"स तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा" इति। किमस्य ज्ञात्यादिप्राप्तिः प्रयत्नान्तरसापेक्षा,

१. बृ. ४-४-१२॥—२. बृ. ४-४-१२॥—३. बृ. ६-५-१३॥
४. छा. ८-१२-३॥

उत परमपुरुषस्येव सङ्कल्पमात्रादेव भवतीति विशये; लोके राजादीनां सत्यसंकल्पत्वेन व्यवह्रियमाणानां कार्यनिष्पादने प्रयत्नान्तरसापेक्षत्वदर्शनादस्यापि तत्सापेक्षा—

—(सिद्धान्तः)—

इति प्राप्त उच्यते–सङ्कल्पादेव–इति। कुतः? तच्छ्रुतेः १ "स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरस्समुत्तिष्ठन्ति" इति हि सङ्कल्पादेव पित्रादीनां समुत्थानं श्रूयते। नच प्रयत्नान्तरसापेक्षत्वाभिधायि श्रुत्यन्तरं दृश्यते; येनास्य "सङ्कल्पादेव" इत्यवधारणस्य २"विज्ञानघन एव" इतिवद्व्यवस्थापनं क्रियते ॥ ८ ॥

अत एव चानन्याधिपतिः। ४। ४। ९ ॥

यतो मुक्तस्सत्यसङ्कल्पः; अत एवानन्याधिपतिश्च। अन्याधिपतित्वं हि विधिनिषेधयोग्यत्वम्। विधिनिषेधयोग्यत्वे हि प्रतिहतसङ्कल्पत्वं भवेत्। अतस्सत्यसङ्कल्पत्वश्रुत्यैवानन्याधिपतित्वं च सिद्धम्। अत एव ३"स स्वराड्भवति" इत्युच्यते ॥ ९ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये सङ्कल्पाधिकरणम् ॥ ४ ॥

(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अभावाधिकरणम् ॥ ५ ॥)

अभावं बादरिराह ह्येवम्। ४। ४। १० ॥

किं मुक्तस्य देहेन्द्रियाणि न सन्ति, उत सन्ति, अथवा यथासङ्कल्पं सन्ति न सन्तिचेति विशये-शरीरेन्द्रियाणामभावं बादरिराचार्यो मन्यते; कुतः? आह ह्येवं—४ 'नह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययो-

१. छा. ८-२-१ ॥—२. बृ. ४-४-१२ ॥—३. छा. ७-२५-२ ॥ ४. छा. ८-१२-१, २ ॥

रपहतिरस्ति। अशरीरं वा व सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति शरीरसम्बन्धे दुःखस्यावर्जनीयत्वमभिधाय [१]"अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति मुक्तस्याशरीरत्वं ह्याह श्रुतिः ॥ १० ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् । ४ । ४ । ११ ॥

मुक्तस्य शरीरेन्द्रियभावं जैमिनिराचार्यो मन्यते, कुतः ? विकल्पामननात्-विविधः कल्पो विकल्पः; वैविध्यमित्यर्थः, [२]"स एकधा भवति त्रिधा भवति, पञ्चधा सप्तधा" इत्यादिश्रुतेः। आत्मन एकस्यानेकधाभावासम्भवात् त्रिधाभावादयः शरीरनिबन्धना इत्यवगम्यते। अशरीरत्ववचनं तु कर्मनिमित्तशरीराभावपरम्; तदेव हि शरीरं प्रियाप्रियहेतुः ॥ ११ ॥

भगवांस्तु बादरायणः स्वमतेन सिद्धान्तमाह—

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ।४।४।१२॥

'सङ्कल्पादेव' इत्येतदतश्शब्देन परामृश्यते; अत एव सङ्कल्पात्, उभयविधं सशरीरमशरीरं च मुक्तं भगवान् बादरायणो मन्यते; एवमुभयी श्रुतिरुपपद्यते; द्वादशाहवत्-यथा [३]"द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः" [४]"द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्" इत्युपैतियजतिचोदनाभ्यां सङ्कल्पभेदेन सत्रमहीनं च भवति ॥ १२ ॥

यदा शरीराद्युपकरणवत्त्वम्; तदा तानि शरीराद्युपकरणानि स्वेनैव सृष्टानीति नास्ति नियम इत्याह—

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः । ४ । ४ । १३ ॥

स्वेनैव सृष्टतनुप्रभृत्युपकरणाभावे परमपुरुषसृष्टैरुपकरणैर्भोगोपपत्तेः सत्यसङ्कल्पोऽपि स्वयं न सृजति। यथा स्वप्ने [५]"अथ रथान्

१. छा. ८-१२-१,२ ॥—२. छा. ७-२६-२ ॥—३ ॥—४ ॥—५, बृ. ६-३ १० ॥

रथयो गान् पथस्सृजते" इत्यारभ्य[१] "अथ वेशन्तान् पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते स हि कर्ता" इति [२] "य एषु सुप्तेषु जागर्ति कामंकामं पुरुषो निर्मिमाणः तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते तस्मिन् लोकाश्श्रितास्सर्वे तदु नात्येति कश्चन" इति ईश्वरसृष्टैः रथाद्युपकरणैर्जीवो भुङ्क्ते; तथा मुक्तोऽपि लीलाप्रवृत्तेनेश्वरेण सृष्टैः पितृलोकादिभिर्लीलारसं भुङ्क्ते ॥१३॥

भावे जाग्रद्वत् । ४ । ४ । १४ ॥

स्वसङ्कल्पादेव सृष्टतनुप्रभृतिपितृलोकाद्युपकरणभावे जाग्रत्पुरुषभोगवन्मुक्तोऽपि लीलारसं भुङ्क्ते; परमपुरुषोऽपि लीलार्थं दशरथवसुदेवादिपितृलोकादिकमात्मनः सृष्ट्वा तैर्मनुष्यधर्मलीलारसं यथा भुङ्क्ते; तथा मुक्तानामपि स्वलीलायै पितृलोकादिकं स्वयमेव सृजति कदाचित्; कदाचिच्च मुक्ताः सत्यसङ्कल्पत्वात् परमपुरुषलीलान्तर्गतस्वपितृलोकादिकं स्वयमेव सृजन्तीति सर्वमुपपन्नम् ॥ १४ ॥

नन्वात्माऽणुपरिमाण इत्युक्तम्; कथमनेकशरीरेष्वेकस्याणोरात्माभिमानसम्भव इत्यत्राह—

प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति । ४ । ४ । १५ ॥

यथा प्रदीपस्यैकस्यैकस्मिन्देशे वर्तमानस्य स्वप्रभया देशान्तरावेशः तथाऽऽत्मनोऽप्येकदेहस्थितस्यैव स्वप्रभारूपेण चैतन्येन सर्वशरीरावेशो नानुपपन्नः; यथा चैकस्मिन्नपि देहे हृदयाद्येकप्रदेशवर्तिनोऽपि चैतन्यव्याप्त्या सर्वस्मिन् देहे आत्माभिमानः, तद्वत् । इयान्विशेषः—अमुक्तस्य कर्मणा सङ्कुचितज्ञानस्य देहान्तरेषु आत्माभिमानानुगुणा व्याप्तिर्न सम्भवति; मुक्तस्य त्वसङ्कुचितज्ञानस्य यथासङ्कल्पमात्माभिमानानुगुणा व्याप्तिः 'इदम्' इति ग्रहणानुगुणा च नानुपपन्ना । तथाहि दर्शयति [३] "वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवस्स विज्ञेयस्स चानन्त्याय कल्पते" इति । अमुक्तस्य कर्म नियामकम्; मुक्तस्य तु स्वेच्छेति विशेषः ॥

१. बृ. ६-३-१० ॥—२. कठ. २-५-८ ॥—३. श्वे. ५-म. ९ ॥

ननु परं ब्रह्म प्राप्तस्यान्तरबाह्यज्ञानलोपं दर्शयति श्रुतिः १"प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्" इति; तत्कथं मुक्तस्य सार्वज्ञ्यमुच्यते ? तत्रोत्तरं –

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि । ४ । ४ । १६ ॥

नेदं वचनं मुक्तविषयम; अपितु स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षम्। स्वाप्ययः–सुपुप्तिः;सम्पत्तिश्च–मरणम्,२"वाङ्मनसि सम्पद्यते"इत्यारभ्य २"तेजः परस्यां देवतायाम्" इति वचनात् । तयोश्चावस्थयोः प्राज्ञप्राप्तिर्निस्सम्बोधत्वं च विद्येते । अतस्तयोरन्यतरापेक्षमिदं वचनम् । सुपुप्तिमरणयोर्निस्सम्बोधत्वं, मुक्तस्य च सर्वज्ञत्वमाविष्कृतं हि श्रुत्या ३"नाह खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि" इति सुपुप्तिवेलायां निस्सम्बोधत्वमुक्त्वा तस्मिन्नेव वाक्ये मुक्तमधिकृत्य ४"स वा एष दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके" इति सर्वज्ञत्वमुच्यते । तथा ५"सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः" इति च स्पष्टमेव सर्वज्ञत्वमुच्यते । तथा मरणे च निस्सम्बोधत्वम् ६"एतेभ्यो भूतेभ्यस्समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति" इत्युक्तम् । विनश्यति–नपश्यतीत्यर्थः । अतः ७"प्राज्ञेनाऽऽत्मना" इति वचनं स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षम् ॥ १६ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये अभावाधिकरणम् ॥ १० ॥



---

१. बृ. ६-३-२१ ॥— २. छा. ६-८-६ ॥— ३. छा. ८-११-२ ॥
४. छा. ८-१२-५ ॥— ५. छा. ७-२६-२ ॥— ६. बृ. ४-४-१२ ॥
७. बृ. ६-३-२१ ॥

—(श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये जगद्व्यापारवर्जाधिकरणम् ॥)—

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च । ४ । ४ । १७ ॥

किं मुक्तस्यैश्वर्यं जगत्सृष्ट्यादि परमपुरुषासाधारणं सर्वेश्वरत्वमपि, उत तद्रहितं केवलपरमपुरुषानुभवविषयमिति संशयः। किं युक्तम्? जगदीश्वरत्वमपीति । कुतः? १"निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इति परमपुरुषेण परमसाम्यापत्तिश्रुतेः, सत्यसङ्कल्पत्वश्रुतेश्च । नहि परमसाम्यसत्यसङ्कल्पत्वे सर्वेश्वरासाधारणजगन्नियमनेन विनोपपद्येते । अतस्सत्यसङ्कल्पत्वपरमसाम्योपपत्तये समस्तजगन्नियमनरूपमपि मुक्तस्यैश्वर्यमिति ॥

—(सिद्धान्तः)—

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे--जगद्व्यापारवर्जम्-इति। जगद्व्यापारः-निखिलचेतनाचेतनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदनियमनम्। तद्वर्जं निरस्तनिखिलतिरोधानस्य निर्व्याजब्रह्मानुभवरूपं मुक्तस्यैश्वर्यम्। कुतः? प्रकरणात्-निखिलजगन्नियमनं हि परं ब्रह्म प्रकृत्याऽऽम्नायते २"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" इति। यद्येतन्निखिलजगन्नियमनं मुक्तानामपि साधारणं स्यात्, ततश्चेदं जगदीश्वरत्वरूपं ब्रह्मलक्षणं न सङ्गच्छते; असाधारणस्य हि लक्षणत्वम्। तथा ३"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" ४"ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत् तदेकं सन्न व्यभवत् तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवक्षत्राणि इन्द्रो वरुणस्सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति"

---

१. मु. ३-१-३ ॥--२. तै. भृगु. १-अनु ॥--३. छा. ६-२-१ ॥
४. बृ. ३-४-११ ॥

१"आत्मा वा इदमेकएवाग्र आसीत् नान्यत्किंचन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमान् लोकानसृजत" २"एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि नापो नाग्निर्न सोमो न सूर्यः स एकाकी न रमेत तस्य ध्यानान्तस्थस्यैका कन्या दशेन्द्रियाणि" इत्यादिषु । ३"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः" इत्यारभ्य ४ "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादिषु च निखिलजगन्नियमनं परमपुरुषं प्रकृत्यैव श्रूयते । असन्निहितत्वाच्च-नचैतेषु निखिलजगन्नियमनप्रसङ्गेषु मुक्तस्य सन्निधानमस्ति; येन जगद्व्यापारस्तस्यापि स्यात् ॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः । ४ । ४ । १८ ॥

५ "स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" ६"इमान् लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्" इति प्रत्यक्षेण-श्रुत्या मुक्तस्य जगद्व्यापार उपदिश्यते; अतो न जगद्व्यापारवर्जमिति चेत्–तन्न, आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः; आधिकारिकाः-अधिकारेषु नियुक्ता हिरण्यगर्भादयः; मण्डलानि तेषां लोकाः; तत्स्थाः-भोगाः मुक्तस्याकर्मवश्यस्य भवन्तीत्ययमर्थः ५ "तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इत्यादिनोच्यते । अकर्मप्रतिहतज्ञानो मुक्तो विकारलोकान् ब्रह्मविभूतिभूताननुभूय यथाकामं तृप्यतीत्यर्थः । तदेवं विकारान्तर्वर्तिनः आधिकारिकमण्डलस्थान् सर्वान् भोगान् ब्रह्मविभूतिभूताननुभवतीत्यनेन वाक्येनोच्यते; न जगद्व्यापारः ॥ १८ ॥

यदि संसारिवन्मुक्तोऽपि विकारान्तर्वर्तिनो भोगान् भुङ्क्ते, तर्हि बद्धस्येव मुक्तस्याप्यन्तवदेव भोग्यजातमल्पं च स्यात् ; तत्राह–

१. ऐत. १–१ ॥–२. महो. १–अ १ ॥–३. बृ. ५–७–३ ॥–४. शतपथ. १४–५–३० ॥–५. छा. ७–२५–२ ॥–६. तै. भृगु. १०–५ ॥

विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह । ४ । ४ । १९॥

विकारे—जन्मादिके न वर्तत इति विकारावर्ति; निर्धूतनिखिलविकारं निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानं, निरतिशयानन्दं, परं ब्रह्म सविभूतिकं,स कलकल्याणगुणमनुभवति मुक्तः। तद्विभूत्यन्तर्गतत्वेन विकारवर्तिनां लोकनामपि मुक्तभोग्यत्वम्। तथाहि परस्मिन् ब्रह्मणि निर्विकारेऽनवधिकातिशयानन्दे मुक्तस्यानुभवितृत्वेन स्थितिमाह श्रुतिः—१"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति" १ "रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" इत्यादिका। तद्विभूतिभूतं च जगत्तत्रैव वर्तते २"तस्मिन् लोकाश्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन" इति श्रुतेः। अतस्सविभूतिकं ब्रह्मानुभवन्विकारान्तर्वर्तिनः आधिकारिकमण्डलस्थानपि भोगान् भुङ्क्त इति ३"सर्वेषु लोकेषु कामचारः" इत्यादिनोच्यते; न मुक्तस्य जगद्व्यापारः ॥ १६ ॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने । ४ । ४ । २० ॥

अस्य प्रत्यगात्मनो मुक्तस्य नियाम्यभूतस्य नियन्तृभूतपरमपुरुषासाधारणं जगद्व्यापाररूपं नियमनं न सम्भवतीत्युक्तम्; निखिलजगन्नियमनरूपो व्यापारः परमपुरुषासाधारण इति दर्शयतः श्रुतिस्मृती-४ " भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः " इति ५"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इत्यादि; तथा ६"एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय" इति

१. तै. आन. ७-२, १ ॥ २. कठ. २-१-८ ॥ ३. छा. ७-२५-२ ॥
४. तै. आन. ८-१ ॥ ५. बृ. ५-८-९ ॥ ६. बृ. ६-४-२२ ॥

च श्रुतिः । स्मृतिरपि १"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिस्सूयते सचराचरम् । हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्धि परिवर्तते" इति, २"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति च । तथा मुक्तस्य सत्यसङ्कल्पत्वादिपूर्वकस्याप्यानन्दस्य परमपुरुष एव हेतुरिति श्रुतिस्मृती दर्शयतः ३"एष ह्येवानन्दयाति" ४"मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते । ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च । शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्यच" इति । यद्यप्यपहतपाप्मत्वादिस्सत्यसङ्कल्पत्वपर्यन्तो गुणगणः प्रत्यगात्मनः स्वाभाविक एवाविर्भूतः, तथाऽपि तस्य तथाविधत्वमेव परमपुरुषायत्तम् ;तस्य नित्यास्थितिश्च तदायत्ता; परमपुरुषस्यैतन्नित्यतायाः नित्येष्टत्वान्नित्यतया वर्तत इति न कश्चिद्विरोधः । एवमेव परमपुरुषभोगोपकरणस्य लीलोपकरणस्य च नित्यतया शास्त्रायगतस्य परमपुरुषस्य नित्येष्टत्वादेव तथाऽवस्थानमस्तीति शास्त्रादवगम्यते । अतो मुक्तस्य सत्यसङ्कल्पत्वं परमपुरुषसाम्यं च जगद्व्यापारवर्जम् ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च । ४ । ४ । २१ ॥

ब्रह्मयाथात्म्यानुभवरूपभोगमात्रे मुक्तस्य ब्रह्मसाम्यप्रतिपादनाच्च लिङ्गाज्जगद्व्यापारवर्जमित्यवगम्यते ५"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति । अतो मुक्तस्य परमपुरुषसाम्यं सत्यसङ्कल्पत्वं च परमपुरुषासाधारणनिखिलजगन्नियमनश्रुत्यानुगुण्येन वर्णनीयमिति जगद्व्यापारवर्जमेव मुक्तैश्वर्यम् ॥ २१ ॥

---

१. गी. ९-१० ॥—२. गी. १०-४२ ॥—३. तै. आन. ७-२१ ॥ ४. गी. १४-२६, २७ ।—५. तै. आन. १-२ ॥

यदि परमपुरुषायत्तं मुक्तैश्वर्यम्, तर्हि तस्य स्वतन्त्रत्वेन तत्सङ्कल्पान्मुक्तस्य पुनरावृत्ति १ सम्भवाशंकेत्यत्राह—

अनावृत्तिश्शब्दादनावृत्तिश्शब्दात् ।४।४।२२॥

यथा निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानो जगज्जन्मादिकारणं समस्तवस्तुविलक्षणस्सर्वज्ञस्सत्यसङ्कल्पः आश्रितवात्सल्यैकजलधिः परमकारुणिको निरस्तसमाभ्यधिकसम्भावनः परब्रह्माभिधानः परमपुरुषोऽस्तीति शब्दादवगम्यते; एवमहरहरनुष्ठीयमानवर्णाश्रमधर्मानुगृहीततदुपासनरूपतत्समाराधनप्रीतः उपासीनाननादिकालप्रवृत्तानन्तदुस्तरकर्मसञ्चयरूपाविद्यां विनिवर्त्य स्वयाथात्म्यानुभवरूपानवधिकातिशयानन्दं प्रापय्य पुनर्नावर्तयतीत्यपि शब्दादेवावगम्यते । शब्दश्च २"स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते" इत्यादिकः । तथा च भगवता स्वयमेवोक्तं ३"मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्नुवन्ति महात्मानस्संसिद्धिं परमां गताः । आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन । मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते" इति । नचोच्छिन्नकर्मबन्धस्यासङ्कुचितज्ञानस्य परब्रह्मानुभवैकस्वभावस्य तदेकप्रियस्यानवधिकातिशयानन्दं ब्रह्मानुभवतोऽन्यापेक्षातदर्थारम्भाद्यसम्भवात्पुनरावृत्तिशङ्का । न च परमपुरुषस्सत्यसङ्कल्पोऽत्यर्थप्रियं ज्ञानिनं लब्ध्वा कदाचिदावर्तयिष्यति, य एवमाह— ४"प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः । उदारास्सर्व एवैते ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम् ॥ आस्थितस्सहि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् । बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥ वासुदेवस्सर्वमिति स महा-

१. सम्भावनाशंके पा ॥—२. छा. ८-१५-१ ॥—३. गी. ८-१५,१६ ॥

४. गी ७-१७,१८,१९ ॥

त्मा सुदुर्लभः” इति । सूत्राभ्यासश्शास्त्रपरिसमाप्तिं द्योतयति । इति सर्वं समञ्जसम् ॥ २२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये जगद्व्यापारवर्जाधिकरणम् ॥६॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये
चतुर्थस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥
समाप्तश्चाध्यायः ॥ ४ ॥
शास्त्रं च परिसमाप्तम् ॥

अविस्तृतास्सुगम्भीरा रामानुजमुतेर्गिरः ।
दर्शयन्तु प्रसादेन स्वं भावमखिलं दृढम् ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः

शास्त्रेऽस्मिन् सूत्रसंख्या—	५४५
अधिकरण संख्या—	१५६

* श्रीमते रामानुजाय नमः *

अधिकरणसारावली.

श्रीमान्वेङ्कटनाथार्यः कवितार्किककेसरी ।
वेदान्ताचार्यवर्यो मे सन्निधत्तां सदा हृदि ॥

स्वस्ति श्रीरङ्गभर्तुः किमपि दधदहं शासनन्तत्प्रसत्त्यै
सत्यैकालम्बि भाष्यं यतिपतिकथितं शश्वदभ्यास्य युक्तान् ।
विश्वस्मिन्नामरूपाण्यनुविहितवता तेन देवेन दत्तां
वेदान्ताचार्यसंज्ञामवहितबहुविस्तार्थमन्वर्थयामि ॥१॥

श्रीमद्भ्यां स्याद्सावित्यनुपधि वरदाचार्यरामानुजाभ्यां
सम्यग्दृष्टेन सर्वंसहनिशितधिया वेङ्कटेशेन क्लृप्तः ।
सेव्योऽसौ शान्तचित्तैः श्रवणरसनया शान्तिलाभार्थिभिर्वा
सिद्धिश्शारीरकार्थे सहजबहुगुणः स्रग्धरादुग्धराशिः ॥२॥

त्रय्यन्तस्वान्त१वादिन्यधिकरणगणे पौनरुक्त्योक्तबाधौ
मन्दत्वासङ्गतत्वे विशयमफलतां मानबाधं च मन्तून् ।
दिङ्मोहव्यामदीनान् दिनकरकिरणश्रेणिकेवोज्जिहाना
हृद्या पद्यावलीयं हृदयमधिगता सावधानान्धिनोतु ॥३॥

गम्भीरे ब्रह्मभागे गणयितुमखिलं कः प्रवीणः प्रमेयं !
दिङ्मात्रं दर्शयन्नप्यहमिह निपुणैः प्राध्यमध्यन्नणीयः ।
मा भून्निश्शेषसिद्धिस्तदपि गुणविदः स्फीतनिस्सीमरत्ने
मध्येहारं निधेयम्महति जहति किम्मौक्तिकं लब्धमब्धौ ? ४

---

१. वेदिन्य इति पा.

वेदार्थन्यायचिन्त्ये प्रथममधिगतः कर्मवर्गः प्रमाणैः
भेदैरङ्गैः प्रयुक्त्या क्रमविरचनयाऽथाधिकृत्याऽतिदिष्ट्या ।
तत्राशेषैर्विशेषैस्तदनु तदनुवर्त्यूहतः प्राप्तबाधैः
तन्त्रेणाथ प्रसक्त्या तत उपरि चतुर्लक्षणी देवतार्था ॥ ५

प्राग्धर्मेऽल्पास्थिरार्थे प्रशमितविशये तादृशाराध्ययुक्तेऽ-
थातश्शारीरकांशे बहुविधमहिम ब्रह्म मीमांसितव्यम् ।
कृत्स्नस्वाध्यायसाङ्गाध्ययनसमुदितापातबुध्यैव कर्म
त्यक्त्वाऽऽद्यौ ब्रह्मचिन्तां किमिति न कुरुतान्तत्र तुल्योक्त्यबाधात्

प्राबल्यं प्राक्त्रिवर्गे सफलयतनतोपासनाङ्गत्वतोऽपि
व्याख्यारूपेऽत्र शास्त्रे क्रमनियतिरसौ स्याच्च मुख्यक्रमेण ।
मानत्वादिर्विचार्यः पुरत इह तथा वाक्यवेद्यात्पदार्थो
दृष्टान्तश्चोपमेयाद्यदि मधु सविधे यातु चाद्रिं किमर्थः ॥ ७

व्याचख्युः केऽपि तापत्रयहतिमितरे साधनानां चतुष्कं
काण्डेऽस्मिन् पूर्ववृत्तं कथयति निगमः कर्मचिन्ताफलन्तत् ।
साङ्गाधीतिर्हि सूते विषयमवसरः क्वात्र तन्त्रान्तरादे-
रौचित्यस्थापितोऽयं क्रम इह न पुनश्चोदनासंप्रयुक्तः ॥ ८

नित्यप्राप्तस्य कण्ठस्थितकनकनयान्निर्विशेषस्य लब्धि-
र्मिथ्याभूतं निवर्त्यं श्रुतिशकलभुवः प्रेक्षणात्तन्निवृत्तिः
कर्मैवक्वोपयुक्तं प्रतिभटमपि तद्वृत्तोक्तिर्मदुक्ते
प्राप्ताद्येति प्रलापे प्रनिवचनगतिर्भाषिता विस्तरेण ॥ ९

मीमांसायाः कबन्धं कतिचन जगृहू राहुकल्पं शिरोऽन्ये
किन्तैरन्तर्विरोधप्रमुषितमतिभिर्बाह्यकल्पैर्भ्रमद्भिः ।
स्वाध्यायाध्यायकार्त्स्न्यं स्वविधिपरविधिप्रेरणा तावदास्तां
कृत्स्नापातप्रतीतौ किमिति कृतधियः कृत्स्नचिन्तां न कुर्युः ॥१०

प्राधीतस्यैकरूपप्रयतननियतादेकरूपोपकारा-
द्विद्यास्थानैक्यसिद्धौ क्रमनियतियुताकाङ्क्षयैकप्रबन्धम् ।
अध्यायादिष्विवावान्तरविषयफलाद्यन्यताऽत्राप्यभेत्त्री
तत्तुल्यः कर्तृभेदः कलिमलकलुषैः कल्पितोऽर्थे विरोधः ॥ ११

तत्तद्वैशिष्ट्यभेदाद्यदगणि भिदुरा देवता पूर्वभागे
संज्ञावैषम्यामाम्नाद्दपि कथमियताऽधीतयज्ञैक्यभङ्गः? ।
उद्देश्याकारभेदोऽस्त्ययमिह हविषामुक्तिभिन्ने प्रयोगे
दौर्बल्यं त्वत्तवेद्यान्मितिचरमतया द्रव्यतो देवतायाः ॥ १२

जैमिन्युक्तं विरुद्धं यदिह बहुविधन्दर्शितं सूत्रकारै-
स्तस्मादन्वैकशास्त्र्यं हठकृतमिति न ब्रह्मसंवादद्दायदर्यात् ।
तत्रस्तात्पर्यभेदैर्विहतिपरिहृतिः काण्डयत्काण्डयोस्स्यात्
बाह्यत्वेपार्थगूढाशयवचनभयभ्रान्तिशान्त्यादिसिद्धेः ॥ १३

आक्षिप्य स्थापनीयाः कतिचिदिह नयाः पूर्वकाण्डप्रणीताः
केचिद्व्युत्पादिनीयाः क्वचिदपवदनं व्याप्यमौत्सर्गिकस्य ।
इत्थं सर्वत्र चिन्ताक्रम इति समतां वीक्ष्य मध्यस्थदृष्ट्या
शास्त्रैक्ये पौनरुक्त्यप्रभृतिपरिहृतिस्सावधानैर्विभाव्या ॥ १४

वृत्तिग्रन्थे तु जैमिन्युपरचिततया षोडशाध्य्युपात्ता
सङ्कर्षः काशकृत्स्नप्रभव इति कथं तत्त्वरत्नाकरोक्तिः ।
अत्र भ्रमस्तदुक्तो न वयमिह मुधा बाधितुं किञ्चिदर्हा
निर्वाहस्तूपचारात् क्वचिदिह घटते ह्येकतात्पर्ययोगः ॥ १५

सौत्री सङ्ख्या [1]शुभश्रीरधिकृतिगणना [2]चिन्मयी ब्रह्मकाण्डे
तादर्थ्येऽनन्तरत्वेऽप्यधिकरणभिदा नाल्पसारैः प्रकल्प्या ।

१. शुभश्रीः-४५२. । २. चिन्मयी-१५६

१अक्षोर्म्याशाऽहिकाष्ठाद्विरदमुनियसूर्म्यद्रितत्त्वातिशकर्य-
स्तैरक्षैः प्रयाजैरिह भवति रसैः पादनीतिप्रबन्धः ॥
शास्त्रं त्वेतत्समन्वित्यविहतिकरणप्राप्तिचिन्ताप्रधानं-
रध्यायैष्षोडशाङ्घ्रिद्वियुगभिदुरं षट्कभेदादिनीत्या ।
तत्राद्यं वक्ति सिद्धं विषयमपि परन्तत्प्रतिद्वन्द्वियुग्मं
स्वप्राप्तेस्साधनं च स्वयमिति हि परं ब्रह्म तत्रापि चिन्त्यम्॥१७
तत्राद्येऽत्यन्तगूढाविशदविशदसुस्पष्टजीवादिवाचः
पश्चात्स्मृत्यादिकैरक्षतिरहितहतिः कर्यताश्चेन्द्रियादेः ॥
दोषादोषौ तृतीये भवभृदितरयोर्भक्तिरङ्गानि चाथो-
पासारोहप्रभावोत्क्रमसरणिफलान्यन्तिमे चिन्तितानि ॥ १८
स्रष्टा देही स्वनिष्ठो निरवधिमहिमापास्तबाधश्रितास्स्वः
स्वात्मादेरिन्द्रियादेरुचितजननकृत्संसृतौ तन्त्रवाही ।
निर्दोषत्वादिरम्यो बहुभजनपदं स्वार्हकर्मप्रसाद्यः
पापच्छिद्ब्रह्मनाडीगतिकृदतिवहन् साम्यदश्चात्र वेद्यः ॥ १६
विध्युक्त्याऽधीत्य वेदान्विधिवलविरताश्च्यजादेव रागान्
कृत्स्नं मीमांसमानाः क्रमत इति परब्रह्मचिन्तान्तरन्ति ।
प्राप्ते तुर्ये युगेऽस्मिन् परिमितवलधीप्राणतद्विघ्नदृष्टया
कालक्षेपाक्षमत्वात् कतिचन कृतिनश्शीघ्रमन्ते रमन्ते ॥ २०
रागान्मीमांसते चेत् स्वयमिह यततां किं गुरूक्त्येतिचेन्न
ब्रह्मज्ञानाप्तये गुर्वभिगमनविधेस्तेन तत्त्वोपदेशान् ।
सद्विद्याचार्यवत्त्वे प्रथयति च परब्रह्मविच्चिन्तथान्या-
च्याचार्याद्वित्यधीते नियमविधिरसौ निश्चितो नीतिविद्भिः ॥२१

१. अक्ष-११, ऊर्मि-६, आशा -१०, । वसु-८ ऊर्मि-६, अद्रि-८, तत्त्व-२६, अहि-८, काष्ठ-१०, द्विरद-८, मुनि-७, । अतिशकरी-१५, अक्षैः-११, अक्षैः । ११, प्रयाजैः-५, रसैः-६.

सिद्धे व्युत्पत्तिराद्या न भवति न च धीर्लक्षणाद्युज्यतेऽस्मिन्
किं शास्त्रेणान्यसिद्धे न च निशमयितुस्सिद्धबोधे फलं स्यात् ।
ब्रह्मण्येवच मानान्युपनिषद इति स्तम्भिते तद्विचारे
शास्त्रारम्भं चतुस्सूत्र्यघटयदुचितैर्न्यायभेदैश्चतुर्भिः ॥ २२

सिद्धे व्युत्पत्त्यभावे स्वरिव फलतया लक्ष्मभङ्गे च लभ्यं
ब्रह्मान्योक्त्यानुमानप्रमितमपि भवत्यंशतश्शास्त्रयेयम् ।
विध्यर्थत्वेऽप्यबाधात्परविषयवचस्स्वार्थमानं भवेदि-
त्यन्यारुह्योक्तिर्दैन्यच हि सहत ऋजुस्सूत्रकृद्बादरूक: ॥ २३

द्वाभ्यामादौ प्रतीतिप्रजननमुदितं सिद्धरूपे परस्मिन्
द्वाभ्यां वैफल्यशङ्का तदनु परिहृता शास्त्रतज्जन्यबुद्ध्योः ।
औचित्यानेकभाष्यस्वरसगतिमती प्राक्तनी वर्तनीयं
शास्त्रारम्भार्थमेकं त्रितयमपि परं शास्त्रमित्याहुरेके ॥ २४

यत्तत्सेनेश्वरार्यैरगणि बकुलभृत्किङ्करैरङ्ग्ययकारि
व्यासार्यैर्न्यासि च द्विश्श्रुतमिति विशदं विष्णुचित्तैर्विचक्रे ।
अर्थौपं शेषकल्पादहमपि विदुषो वादिहंसाम्बुवाहात्
अद्धा निर्धार्यतेऽतश्चतुरधिकरणी ब्रह्मचिन्तोपयुक्ता ॥ २५

व्युत्क्रम्याद्याच्चतुर्थावभिदधति नयौ केचिदप्राप्तमेतत्
बोधासिद्धौ कथं तत्फलमिह विमृशेत् सिद्धवत्कारमान्द्यात् ।
मध्यौ द्वौ रूपनामप्रजननविषयौ यद्विदुस्तच मन्दं
सत्युक्तेऽपेक्षितेऽर्थे विफलविभजनं नोचितं नीतिसूत्रे ॥ २६

इति शास्त्रावतारः ॥

—(अथ जिज्ञासाधिकरणम्)—

कार्ये व्युत्पत्तिराद्या नियतमिति गिरस्तत्परा एव सर्वा
नान्या वेदेऽपि नीतिस्तत उपनिषदामूपरप्रायतैव ।
नातस्तद्वेद्यमीमांसनमुचितमिति प्रत्यवस्थीयमाने
सिद्धे व्युत्पत्तिमाद्यां बहुमुखमवयन् ब्रह्म जिज्ञास्यमाह ॥ २७

अङ्गुल्या निर्दिशन्तः किमपिकिमपि तद्वाचकांशैः प्रयुक्तैः
बालान् व्युत्पादयन्ति क्रमभवमिलितज्ञापकत्वं विदन्तः ।
सङ्घातास्ते पदानां विदधति च धियं क्वापि सिद्धे विशिष्टे
कर्तव्ये क्वापि चेति क्वचिदिह नियतिश्शब्दशक्तेर्न कल्प्या ॥ २८

संसारेऽनादिसिद्धे मुहुरनुभवतस्सञ्चितास्संस्क्रियास्स्यु-
स्संस्कारोद्बोधकाश्च स्वयमुपनिपतन्त्यप्रकम्प्यात्प्रवाहात् ।
तत्तज्जातीयभेदग्रहणसमुचिता वृत्तयस्तन्निदानाः
तद्वत्स्याच्छिन्नकादिव्यवहृतिषु शिशोरैदमर्थ्याद्विबोधः ॥ २९

दक्षैराधोरणाद्यैरनुमितविविधस्वप्रयासोपयोगैः
शिक्षाभेदा विचित्रा गजविहगमुखान् ग्राहयद्भिः प्रयुक्ताः ।
तस्मात्स्वार्थो मनुष्यप्रभृतिषु च तथाभूतशिक्षाविशेषः
कल्पो भाष्योदितो यत्र यदि कथमसौ कल्पतेऽन्योऽपि मार्गः ॥

कस्मैचित्सिद्धमर्थं कमपि कथयितुं चेष्टया चोद्यमानः
तस्मै तं वक्ति तद्धीसमधिपयतया शिक्षते तद्वचोऽन्यः ।
आदिष्टो बोधनार्थं यदहि वितनुते तत्तदर्थं हि युक्तं
तद्वाक्यात्सिद्धवेदी प्रयततद्रति चेद्वस्त्वनादेशिकन्तत् ॥ ३१

पुत्रस्तेऽभून्न सर्पोऽयमिति वचनतः प्रीत्यभीत्यादिलिङ्गैः
तद्बोध्यार्थस्तद्रूपं विषयनियतिरासक्तिपूर्वैः क्वचित्स्यात् ।

आचार्योद्वापभेदात् प्रतिपदनियता शक्तिरप्यत्र सिद्धेयत्
भूयोदृष्ट्यादिसाह्याय्यकमिह वचसः कार्यपक्षाविशिष्टम् ॥३ ॥
कार्ये व्युत्पत्तिराद्या भवतु तदपि किं शक्तितात्पर्यसिद्धेः
प्राग्व्युत्पत्तिः क्रियायां नृवचसि निगमे त्वन्यथेत्यभ्युपेयि ।
स्थाप्याऽतोनन्यथासिद्धयनुगमनियतैस्सत्प्रयोगैर्हि शक्तिः
कोऽसौ पाञ्चालइत्याद्युचितविरतिकं सिद्धमात्रेऽपि वाक्यम् ३३
दुःखासंभिन्नदेशप्रभृतिफलतया चोदनास्वेव सिद्धं
श्रौतत्वादार्थवादिष्वपि भवति फलं रात्रिसत्रे प्रतिष्ठा ।
अङ्गीकुर्मो निषेधानुगुणमिति तथाऽनर्थकृत्त्वं निषेद्धये
सिद्धयर्थैरप्यतस्स्यादवितथविषया ब्रह्मधीरर्थवादैः ॥३४॥

इति जिज्ञासाधिकरणम् ॥ १ ॥

—(अथ जन्माद्यधिकरणम्)—

जन्माद्यैश्चेद्विशेष्यं भवति बहुलताथोपलक्ष्यं ब्रवीषि
ज्ञाताज्ञातादिदौःस्थ्यं व्यतिपजति न चालक्षिते स्यात्परीक्षा ।
उद्दिष्टब्रह्मचिन्ता तत इह कथमित्यत्र हेतुस्त्वलक्ष्यः
पुंसूक्तादिप्रसिद्धो गुणनिधिरघजिद्ब्रह्मशब्दार्थ उक्तः ॥३५॥
नाना चेल्लक्षणानि स्वरसभिदुरता ब्रह्मणि स्याद्विशेष्ये
खण्डो मुण्डश्च गौरित्यभिलपनसमा धर्मिशब्दैक्यताऽत्र ।
तेष्वेकं चेद्यथाऽन्यत्समुदितमफलं स्याद्व्यवच्छेद्यहानेः
खण्डत्वादिक्रमाच्चेत्यसदविहतितः खण्डतादेर्विशेषात् ॥३६॥
तत्तत्स्वप्रत्यनीकव्युदसननियतं भेदकं नान्यबाधि
व्याघातः कालभेदाच्च भवति जननस्थापनध्वंसनानाम् ।

प्रत्येकं लक्षणत्वं सुवचमिह बहूदाहृतिर्धीमहिम्ने
संभूयाप्याहुरेके फलमपि च तदाशङ्कितार्थव्युदासः ॥३७॥

ज्ञातं चेन्नोपलक्ष्यञ्च यदि नतरां लक्ष्मयोगाप्रतीतेः
ज्ञाताज्ञातांश भेदस्त्विह दुरभिलपो लक्षणेनैव वेद्ये ।
ब्रह्मत्वं ब्रह्मशब्दान्वितिरपि विदितेऽन्यत्र नोचेन्न शङ्का
मैवन्नानागमोद्यद्विशयप्रशमनतः श्रीमति ब्रह्मतोक्ते ॥३८॥

याचल्लक्ष्याचबोधं यदवगतिरतो लक्षणात्तद्विशेष्यं
यस्याबोधेऽपि पश्चाद्यदवगतिरिदं स्यात्कुतो नोपलक्ष्यम् ।
तस्माद्द्वेधापि भाष्येऽनुमतिरनुचितेत्याशयाद्यस्य चोक्तं
मोक्षार्थोपास्यभेदे द्युभयमपि समन्त्रेति विद्याविकल्पात् ॥३९॥

चन्द्रे शाखेव शान्ते महसि तटगतं लक्षणं कारणत्वं
सत्यज्ञानादिवाक्यैरपमृदितगुणन्तद्विभातीति डिम्भाः ।
एकत्रार्थो विशेष्ये प्रतिपदनियतावर्ज्यतत्तन्निमित्त-
द्वारावृत्ति पदानामिह विदुररुणायुक्तिवन्न्यायवृद्धाः ॥

इति जन्माद्यधिकरणम् ॥ २ ॥



—(अथ शास्त्रयोन्यधिकरणम्)—

वीतावीतप्रयोग क्रमनियतिमती कार्यता विश्वमेतत्
सर्वज्ञेन प्रक्लृप्तं गमयति विफलस्त्वत्र शास्त्रैर्विचारः ।
इत्युन्नीतो लघुत्वादनुमितिवशतः कर्मजैश्वर्ययुक्तो
विश्वाभिन्नादिनीत्या स्फुरति विभुमिहासूत्रयच्छास्त्रवेद्यम् ४१

क्षित्याद्यं कार्यताद्यैः कटकमकुटवत् कर्तृपूर्वं स कर्ता
सिद्ध्येदत्राण्वदृष्टप्रभृतिजनकदृक् सर्वशक्तिश्च मैवम् ।

श्रोत्राद्यैस्सौरभादिग्रहणरुचिरियन्तादृशव्याप्त्यभावात्
सर्वं हेतुश्च पश्येत् घटकृदिह न चाकर्तृता तावताऽस्य ॥ ४२
कार्यत्वात् स्याद्विवादास्पदमिदमखिलं सर्ववित्कर्तृपूर्वं
यन्नैवन्तद्धि नैवं पुरुषवदिति नानन्यथासिद्ध्यभावात् ।
हेतावेतादृशात्मन्यविदुरभिदुरं व्याप्तिसिद्ध्यादिदौःस्थ्य-
न्तद्भङ्गे लक्षणानामगणि गमनिका तत्त्वमुक्ताकलापे ॥ ४३

यद्यप्यात्मान्तरादेरनुमितिरनघा लिङ्गभेदैस्तथाऽपि
प्रत्यक्षव्याप्तिशैली न खलु शिथिलिता कुत्रचित्पक्षभेदे ।
आम्नाये त्वद्भुतोक्तिर्न भवति वितथा तादृशाप्तोक्तनीत्या
बाधाभावादिसाम्याद्विहतिमति भवेल्लौकिकवत् गौणतादिः ॥ ४४

नन्वाम्नायप्रधानाः क्वचिदनुकथयन्त्यस्मदादेरशक्यः
कार्यैः कर्ताऽनुमेयः पर इति तदभिप्रैतु जन्मादिवाक्यम् ।
तस्मादीशानुमानत्यजनमनुचितं वैदिकस्येति चेन्न
काप्यौचित्योपदेशाद्यत इति च सदायुक्तिसिद्धानुवादात् ॥ ४५

इति शास्त्रयोन्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

—(अथ समन्वयाधिकरणम् ॥ ४ ॥)—

कर्तव्ये ह्यर्थ उक्ते निशमयितृफलं सिद्धरूपे तु न स्यात्
प्रीत्या साफल्यक्लृप्तौ वितथमपि वचः किञ्च दृष्टन्तदर्थम् ।
विद्यार्थत्वेऽन्यदृष्टेर्विषयवदनृतं तत्र परीक्ष्यन्न भावी-
त्याक्षेपेऽनन्यशेषे निरवधिकसुखे शास्त्रतात्पर्यमाह ॥ ४६ ॥

तात्पर्यं ब्रह्मतत्त्वेऽप्यनिहतविधिनाऽप्येकवाक्यत्वपक्षे
भेदेऽपि स्यादसिद्धेर्न भवति बलिभुग्दन्तसङ्ख्योक्तिसाम्यम् ।
स्वादार्थत्वं भूपात्यक्तमभिति न मृषेत्यूहने प्रीत्ययोगा-
द्वालोपच्छन्दनादिष्वपि विषयतथाभावबुद्ध्यैव हर्षः ॥ ४७

यत्प्रीत्यर्थं वचस्तन्निखिलमनृतमित्यर्भकप्राप्यवाक्यं
सत्योक्त्यानन्ददृष्टेर्न च विहतिरिहाद्धयत्ततश्शास्त्रतो वा ।
तेनानन्यार्थसिद्धोक्त्यनृतविषयताशङ्कनस्तम्भनेन
त्रय्यन्तास्सत्यनित्याद्भुतपरमपरब्रह्मनिष्ठाः प्रमाणम् ॥४८॥

त्रय्यंके निष्प्रपञ्चीकरणविधिपदं ध्यानविध्यर्थमन्ये
निर्धर्माद्वैतवाक्योपचरितमितरे सिध्यतीति ब्रुवन्ति ।
तेषामेषां स्वपक्षस्ववचनविहतिव्याकुलानेकजल्पाः
कल्पोऽयं बाह्यकल्पः कृतमतिपरिषत्पीठमर्दैरमर्दि ॥४९॥

कन्यार्था ह्यर्थवादस्तुतिमुखमुखतः स्थापितः प्रागिदानीं
स्वातन्त्र्येण प्रमाणी क्रियत इति ततः काण्डयोस्स्याद्विरोधः ।
न स्यात्सामान्यतो हि प्रथममभिदधे मानतास्थापनार्थं
केषांचित्स्वार्थतोक्ता स्वत इहसुभगे बोधमात्रात्पुमर्थे ॥५०॥

त्रेधा सर्वत्र वेदे नियतविभजने चोदनाद्यंशभेदै-
श्चत्वारोऽप्यर्थवादा मुनिभिरभिहिता ब्राह्मणांशस्य शेषाः ।
अत्रातच्छेषतोक्तौ स्मृतिहतिरिति चेद्विद्धि दत्तोत्तरन्तत्
सामान्योक्तिर्हि सेयं तत उपरि यथामन्त्रविध्यन्यतोक्तिः ॥५१॥

आम्नातैरैहिकार्थैरविगुणसफलैश्शाकुनज्यौतिषाद्यैः
पारत्रिक्या प्रवृत्त्याऽप्यतिनिपुणधियामागमाश्वाससिद्धौ ।
शब्दे तस्माच्च बोधे सति परविषये दोषबाधव्यपेते
मानं तत्र स्वतोऽसौ न कथमितरथा नैगमाध्वापलापः ॥५२॥

शास्त्रारम्भोपपत्त्यै चतुरधिकरणीपेटिकेयं प्रवृत्ता
लक्ष्यस्योक्तं विशेषद्वयमिह घटते वक्ष्यमाणोपजीवि ।
सद्ब्रह्मानुक्तिर्वेद्यः पर इति हि वदेन्कारणत्वाधिकारे
वक्ष्यत्यस्य ह्यलिङ्गाद्यधिकृतिषु पुनस्तादृशानन्दतादीन् ॥५३॥

आत्मन्येवं परस्मिंश्च कृत इति मिते विश्वहेतुत्वलक्ष्ये
शास्त्रैकस्थापनीये निरुपधिपरमप्रेमयोग्ये प्रसक्ते ।
ईदृक्त्वं स्याद्यथार्हं प्रकृतिपुरुषयोर्नानुमानाद्ययोग्यौ
दुःखास्पृष्टौ च तावित्यथ परकथनं दोषचोदि क्रमेण ॥५४॥

इति समन्वयाधिकरणम् ॥४॥

—(अथेक्षत्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

गौणेक्षासाहचर्यान्न तु बहुभवनप्रेक्षणं नैव मुख्यं
दृष्टान्ताद्यैरिहात्मन्यनुमितिरचितस्तादृशाज्जन्म युक्तं ।
सच्छब्दस्तेन मूलप्रकृतिमविकृतिं व्याहरेदित्ययुक्तं
श्रुत्याऽन्येषां निरोधात्त्वदभिमततिरस्कारिलिङ्गादिभिश्च ॥५५॥
ज्ञाते ह्येकत्र सर्वं विदितमिति भवत्यैक्यसिद्ध्यै प्रतिज्ञा
मृत्तत्कार्यादयश्च त्रय इह कथितास्तस्य दृष्टान्तभेदाः ।
तेनाव्यक्तानुमानं कथितमिति वृथोत्कण्ठितं हेत्वनुक्ते-
स्तारुप्यादेश्च हेतोरुपरि परिहृतेरत्र संभावनोक्तेः ॥ ५६ ॥
आदेशात्मस्वशब्दैरनितरशरणैस्त्वन्तदैक्योपदेशा-
ज्जीवेन स्वेन साहंकरणमनहमोऽविद्गणस्य प्रवेशात् ।
एकज्ञानेन सर्वं विदितमितिगिरा सर्वतादात्म्यवाचा
शाखाविद्यान्तरादेरपि बहुभणिता विश्वविद्विश्वमूर्तिः ॥५७॥

इतीक्षत्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

—(अथानन्दमयाधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

मुख्येक्षा यद्यभीष्टा भवतु तदुचिते सा पुनर्जीवतत्त्वे
सद्विद्यायां हि शब्दैस्त्रिभिरुपरि सतस्तस्य जीवैक्यमुक्तम् ।

इत्यूहाद्दुर्जिहानं प्रशमयितुमथ प्रस्तुतो विश्वकर्ता
जीवस्याप्यन्तरात्मा निरुपधिकमहानन्दथुस्स्थाप्यतेऽत्र ॥ ५८ ॥

स्पष्टः पूर्वं विकारे मयडिति चरमेऽप्येवमस्त्वित्ययुक्तं
मद्धेय तद्रूढदृष्टेः प्रचुरमिह वदेत् प्रत्ययोऽन्यस्य बाधात् ।
आनन्दप्राचुरी च प्रकृतपरसुखाल्पत्वलब्धावधित्वा-
द्दुःखाल्पत्वानपेक्षा परदुरितभिदश्शासितुस्तद्विरोधात् ॥५९॥

आत्मा तस्यैव पर्वेत्युदितमनितरात्मत्वमस्यैव वक्तुं
शारीरोक्तिश्च तस्मिन्निखिलतनुतया स्यादसङ्कोचवृत्तिः ।
शोध्यत्वन्तत्तदर्थानुगुणमिति विभोस्तत्प्रसाद्यत्वमात्रं
प्राप्येऽस्मिन्प्राप्तिरूपा परमिह उपसंक्रान्तिरानन्दसिन्धौ ॥६०॥

निर्देहेऽस्मिन्निरंशे न हि भवति शिरःपक्षपुच्छादि किञ्चि-
त्तस्मात्पुच्छं प्रतिष्ठेत्युदितमिह परं ब्रह्म भातीति चेन्न ।
सोढापुच्छत्वक्लृप्तिर्यदि कथमितरस्यानुगन्येत कल्प्यं
ब्रह्मण्यात्मप्रतिष्ठा वचनमनितराधारताख्यापनाय ॥६१॥

इत्यानन्दमयाधिकरणम् ॥ ६ ॥

--(अथान्तरधिकरणम् ॥ ७ ॥)--

भूयिष्ठानन्तपुण्योपचयबलसमुद्बुद्धपूर्वोकभूम्नां
शक्रादिन्यायतस्स्यात् त्रिगुणतनुभृतामीश्वराणां प्रवाहः ।
तच्चाकर्मोत्थदिव्याकृतिजनिमहिमा शासिता सर्वपुंसां
नित्यश्रीबन्धयिष्ये श्रुत इति स य इत्युक्त एवैष एकः ॥६२॥
सर्वेभ्यः कल्मषेभ्यो मुदित इति यदत्यन्तरादित्यविद्या
तस्माच्छ्रेयाभ्यनुज्ञानयत इति विभोः पुण्ययोगोऽस्तु मैवम् ।

आम्नातोऽनन्यशास्यस्त्वयशपरफलस्साधुना नैष भूयान्
स्यात्पुण्ये तद्वयोगादपि न सुकृतमित्यादिना पाप्मशब्दः ॥६३॥

प्रख्यातं शुद्धसत्त्वं किमपि तदनघं द्रव्यमव्यक्ततोऽन्य-
त्तद्रूपं रूपमैशं दिवि कनति तथा शेषशेषाशनाद्यैः ।
नित्यं तत्सूरिसेव्यं परतरमजहत्स्वस्वभावस्स देवः
पुंसां संसारशान्त्यै विपरिणमयति व्यूहपूर्वैर्विभागैः ॥६४॥

देहत्वात् सप्तधातुत्रिमलमघभयन्दुःखकृन्माशयुक्तं
सांशत्वादेश्च हेतोरिति यदि तदसद्धर्मिमानेन बाधात् ।
बाधश्शास्त्रैकवेद्ये क्वचिदपि न भवेदन्यथाऽतिप्रसङ्गात्
यत्तु स्वेच्छावतारेष्वभिनयति तदन्यासुरोपप्लवार्थम् ॥६५॥

इत्थं विद्यात्रयेण स्थिरचरचिदचिद्देहिनस्सर्वहेतो-
रव्यक्ताज्जीवतस्त्वादपि समधिकता यद्यपि स्यात्तथापि ।
उत्थानद्वारभेदान् क्रमत इह मृदूपक्रमान् क्रूरनिष्ठान्
अद्धयायेऽस्मिन्निरुन्धन्नधिकरणगणैस्तद्गुणानुद्गृणाति ॥६६॥

शब्दैस्सद्ब्रह्ममुख्यैश्श्रुतिशिरसि मितं कारणं किञ्चिदेकं
सङ्कल्पाभ्यासरूपैरतदननुगुणैश्चिन्तितश्चिद्विशेषः ।
भूताकाशादिशङ्काजननसमुचितैर्नामभिः कारणस्थैः
क्षिप्त्वा तत्पादशेषश्रुतिसमुदयनासम्भवोक्त्या भुनक्ति ॥६७॥

आकाशप्राणशब्दावनितरगतिकौ रूढिभङ्गेन नेयौ
ज्योतिश्शब्दस्तु रूढ्या प्रथयति पुरुषं दिव्यतेजोविशिष्टम् ।
प्रख्यातेन्द्रादिशब्दस्तदनु नियमितस्तद्विशिष्टप्रवृत्त्ये-
त्येवं स्यात् पेटिकैषा द्विकयुगलवती शब्दवृत्तिक्रमेण ॥६८॥

इत्यन्तरधिकरणम् ॥ ७ ॥

—(अथाकाशाधिकरणम् ॥८॥)—

अत्राकाशस्त्वशेषप्रभवविलयभूस्साम्नि दृष्टस्स्वनाम्ना
निर्दिष्टस्तैत्तिरीयेऽप्यनितरजनितस्वात्मनस्सम्भवोक्त्या ।
मैवं सिद्धानुवादो ह्ययमथ च परप्राप्यतादिर्न तस्मि-
स्तत्कर्तात्मा विपश्चिच्छ्रुत इति विहता स्वात्मनस्तत्प्रसूतिः॥६६॥

इत्याकाशाधिकरणम् ॥८॥

—(अथ प्राणाधिकरणम् ॥९॥)—

प्राणायत्तं हि देहादिकमिह विदितं तेन तत्कारणत्वं
श्रुत्युक्तं रूढिशक्त्या सुदृढमिति न तद्व्योमवत् साधनीयम् ।
तच्च प्राणस्य काष्ठादिषु महिमहतेः पूर्ववच्चानुवादाद्
आकाशोक्तेरिवोक्ते भगवति निखिलप्राणनस्यापि दृष्टेः ॥७०॥

नोक्तिं व्याहन्ति लिङ्गं किमपि भवति तु ख्याततत्त्वानुकूलं
शब्दश्चानन्यनिष्ठश्श्रुत इति न परो ज्योतिराद्युक्तिवेद्यः ।
विश्वोत्पत्त्युक्त्यभावेऽप्यवगतमिह तल्लिङ्गमित्याक्षिपन्तं
रुन्धेऽथाधिक्रियाभ्यां तदुचितचिदचिद्वर्गवैशिष्ट्ययुक्त्या ॥७१॥

इति प्राणाधिकरणम् ॥ ९ ॥

—(अथ ज्योतिरधिकरणम् ॥१०॥)—

कौक्षेयज्योतिषैक्यं कथितमिह परज्योतिषस्तस्य विश्वो-
पादानत्वं च विद्यान्तरविदितमतः कारणं वह्निरस्तु ।
मैवं पुंसूक्तवाक्योदितपरपुरुषप्रत्यभिज्ञप्रथयाथान्
गायत्र्युक्तिस्तु साम्याद्यपि च निगदितास्तस्य भूतादिपादाः॥७२॥

उत्थानं ज्योतिराद्यावधिकरणयुगे कारणत्वात्मलिङ्गा-
दित्याभाष्यान्यलिङ्गं स्ववचसि विहितं नेति भाष्यं कथं स्यात् ।

इत्थं विश्वादिलिङ्गं सविदि न तु पराभीष्टलिङ्गं समस्ती-
त्युत्पश्यन् पूर्वपक्षी व्यवहरति तथा व्याहृतिस्तत्र शङ्का ॥७३॥

इति ज्योतिरधिकरणम् ॥१०॥

—————

—(अथेन्द्रप्राणाधिकरणम् ॥११॥)—

विद्या प्रातर्दनी सा वदति हिततमोपास्तिकर्मैन्द्रमेव
ख्यातप्राणेन्द्रचिह्नान्वितमपि तदसौ विश्वकर्तेति चेन्न ।
ब्रह्म त्रेधा ह्युपास्यं बहुविधचिदचित्कञ्चुकं स्वात्मना च
प्राणेन्द्रप्रक्रमोऽपि प्रबलतरमहावाक्यवैयर्थ्यभङ्गः ॥७४॥

यल्लिङ्गं कारणैकस्थितमिति कथितं ज्योतिषीन्द्रे च तत्तु
प्रख्यातान्यैकनिष्ठं प्रथममितमतस्तन्मुखोत्थित्ययोगः ।
अप्राप्ते तद्विमर्शे प्रकृतशिथिलता नेति चेत्सत्यमेतत्
विष्णुत्वत्यादिनीतिभ्रमत इह पुरोवादमुत्प्रेक्ष्य शङ्का ॥७५॥

ज्योतिःप्राणेन्द्रशब्दाः परतरविषयाः कारणख्यातधर्मा-
दित्येतत्साध्वमीषां बहुविहृतिमती ख्यानमात्रे तु वृत्तिः ।
तत्कौक्षेयानलात्मा कथित इह तथा ध्यानतस्तत्फलाप्त्यै
मुख्यप्राणादिलिङ्गं तदुपहितपरोपासनान्मोक्षणाय ॥७६॥

कार्यं यत्कर्मवश्यं यदपि दृढमितं तन्निरूढैस्तु शब्दैः
निर्दिष्टे ब्रह्मणि स्यात्कचिदगतिहृता रूढिरैन्द्रीनयेन ।
तल्लिङ्गान्न्यथासिद्ध्यधिगमनबलात्तद्विशिष्टे विवक्षा
स्यादीशे ज्योतिरिन्द्राद्यभिलपनपदेऽदृत्वमादीरिते च ॥७७॥

स्वेच्छातस्सर्वहेतुश्शुभगुणविभवानन्तनिस्सीमदर्प-
श्शुद्धाकर्मोत्थनित्याकृतिरनुपधिकाकाशनादिस्वभावः ।

सप्राणाप्राणभेदत्र्यतिभिदुरजगत्प्राणनो दिव्यदीप्तिः
प्राणेन्द्राद्यन्तरात्मा प्रभुरधिकरणैस्सप्तभिः प्रत्यपादि ॥ ७८

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य
वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः.

—(अथ प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥)—

अत्रायोगान्ययोगव्यपनयननयैर्ब्रह्मपादत्रिपादी-
भागारूढैर्मृदुपक्रमकठिनपरैः प्राय आद्ये प्रसाद्यम् ।
कृत्स्नाक्षेपोपशान्त्यै प्रथम इह ततः पाद उक्तस्त्रिपादी
काचित्काक्षेपपूर्वाखिलकलहसमुन्मूलनाय प्रणीता ॥ १

अस्पष्टस्पष्टरूपस्फुटतरचिदचिल्लिङ्गयद्वाक्यचिन्ता
भाष्ये दीपावतारेऽप्यभणि नयगणैस्सम्प्रवृत्ता त्रिपाद्याम् ।
अत्यन्तास्पष्टलिङ्गान्वितविषयमुशन्त्याद्यपादं तु केचित्
तत्रेदन्तारतम्यं नियतनिजबलैः कर्मतार्तीयमानैः ॥ २

पूर्वत्रासिद्धरूपैस्स्वमतिविरचितोन्नीतिभिः पूर्वपक्ष-
स्सिद्धैस्साधारणैरप्युपधिनियमितैः प्रत्यवस्था द्वितीये ।
स्पष्टासाधारणत्वैरपरपरमतानूक्तिकल्पैरथेति
न्यायैकत्रिंशदत्र प्रतिचरणविभक्त्यन्विता न्वेषणीया ॥ ३

विश्वं पादे द्वितीये वपुरिति कथयंश्चिन्त्यते वाक्यवर्गो
विश्वाधारस्स आत्मेत्यभिलपनपरस्तत्कणीयस्तृतीये ।
तुर्ये साङ्ख्यादिपक्षोदितपरिपठनभ्रान्तिरुन्मूलनीये-
त्येवं केचित्त्रिपादीं जगदुरयमपि श्रोतृबुद्धेस्समाधिः ॥ ४

—(अथ सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणम् ॥ १२ ॥)—

———

यस्य प्राणश्शरीरं स खलु हिततमोपास्तिकर्मप्रसक्त-
स्तस्मिञ्जीवत्वशङ्कां जगदुपजनके सौति शाण्डिल्यविद्या ।
पूर्वन्यायाच्च युक्तन्दमनमिह महावाक्यतः प्रक्रमस्थे-
त्युत्थाने प्रक्रमोक्तानुगुणमिति महावाक्यमेकीकरोति ॥ ५
अन्याख्यात्र भेदं प्रथममधिकृतिर्भापिता किंनिमित्तं
विद्यैकत्वेऽनुवादः पर इह गुणविद्ध्यर्थमेवेति युक्तम् ।
सत्यं ब्रह्मानुमत्य क्वचिदुपनिषदि क्वापि कल्प्ये विवादे
चिन्तैषोदाहृतिस्स्यात्परमतरचितेत्यर्थसिद्धिस्तु बोद्धया ॥ ६
सर्वत्वं कर्मभिस्स्वैर्जनिमति घटते ब्रह्मशब्दोऽत्रचैवे-
त्यल्पस्थानोऽल्पमानस्सुखतदितरभुग्जीव एवेति चेन्न ।
तज्जत्वादेरनूक्तेर्यिविधगुणभिदादर्शनात्सर्वतादे-
स्सारस्याद्ण्यणुत्वं ह्युपधिकृतमिहोपास्तये ज्यायसि स्यात् ॥ ७
इति सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणम् ॥ १२ ॥

———

—(अथात्त्रधिकरणम् ॥ १३ ॥)—

अत्ता खल्वोदनादेर्भवभुगिति कठश्रुत्यधीतोऽप्यसौ स्या-
न्न स्यान्मृत्यूपसिक्तस्थिरचरनिखिलग्रासतस्तज्ज्ञयोक्तेः ।
जीवव्यावर्तनं च प्रकरणविदितं भोक्तृतोक्तिर्द्वयोस्तु
प्रेर्यत्वप्रेरकत्वप्रतिनियतरसाच्छत्रिन्यायाऽथवा स्यात् ॥ ८
सत्त्वं स्याद्धरत्यनश्नन् द्व इति विभजनात्पैङ्ग्यधीतन्तु सत्त्वं
बुद्धिः प्राणोऽथवेति त्वृतमिह पिबतोर्जीव एकस्तयोश्चेत् ।
मैवं जन्तौ तु सत्त्वश्रुतिरियमुचिता कर्मभुङ्नाप्यनश्नन्
तत्प्रश्नप्रक्रमोऽन्याशय इदमपि चाभापि पूर्वापरार्थैः ॥ ९

इत्यत्त्रधिकरणम् ॥ १३ ॥

———

—(अथान्तराधिकरणम् ॥ १४ ॥)—

यद्वृत्तादेर्य एषोऽक्षिणि पुरुष इति श्रूयमाणोऽस्तु जीवो
यद्वाऽक्ष्णोर्देवताऽर्कः प्रतिकृतिरथवा तत्र दृश्येति चेन्न ।
एतद्ब्रह्मैतदेवामृतमभयमिदं कं खमित्याद्यधीते-
स्संयद्वामत्वमुख्यैस्स्थितिनियतिबलादर्चिराद्युक्तितश्च ॥ १०
स्थातन्त्र्योत्तंसितासु श्रुतिषु न फलदस्यैव वेद्यत्ववादः
कल्याणालोकनादेरिव विधिबलतो वेदनस्यार्थवत्त्वात् ।
तस्मादक्ष्यन्तरस्थः प्रतिकृतिपुरुषो युज्यते पूर्वपक्षे
सेयं पूर्वापरास्वप्यधिकृतिषु यथासम्भवं नीतिरूह्या ॥ ११
पूर्वन्यायेऽग्निविद्या पुरत उपनता मध्यतस्त्वत्र तस्मा-
त्तद्वन्न ब्रह्मविद्यानुगतिरिति भवेदक्षिविद्या ततोऽन्या ।
मैवं विच्छित्तिरङ्गैर्न हि भवति मिता चाङ्गताऽमेकस्याऽस्याः
प्रोक्तं च ब्रह्मविद्यानुगुणमिह फलं प्राक्तु न ब्रह्मदृष्टिः ॥ १२

इत्यन्तराधिकरणम् ॥ १४ ॥

———

—(अथान्तर्याम्यधिकरणम् ॥ १५ ॥)—

अन्तर्यामी स जीवो बहुविधकरणायत्तधीवृत्त्यनूक्ते-
र्नान्यो द्रष्टेति चोक्तेरिति यदि न नियन्त्रन्तरस्य व्युदासात् ।
द्रष्टृत्वाद्यं च तत्तद्विषयघटितधीरूपमीशे हि मुख्यं
तद्धर्माः काण्वमाध्यन्दिनपठितिगतास्तस्य चात्मा शरीरम् ॥ १३
स्थानैक्यादत्र शाखाद्वयपरिपठितावात्मविज्ञानशब्दा-
वेकार्थावित्यकम्प्यन्तदपि कथयतो बुद्धिमेवेत्यपार्थः ।
लोकाम्नायप्रसिद्ध्योरनुगमत इमौ चेतने ह्येकतानौ
बाधः केनापि नास्मिन्भवति च सत इत्यादिभिरप्तामरस्यम् ॥ १४

इत्यन्तर्याम्यधिकरणम् ॥ १५ ॥

———

—(अथादृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम् ॥ १६ ॥)—

दृश्यत्वादेर्निषेधो विकृतिमति भवत्यक्षरे सन्निकर्षात्
पञ्चम्युक्तात्परन्तत्तदवधिकपरः पञ्चविंशोऽस्तु मा भूत् ।
सर्वज्ञत्वादिदृष्टेः प्रथमसमुदितं त्वक्षरं ब्रह्म शुद्धं
पश्चादुक्तन्तु जीवादिकमवधितया भेदतस्तत्परोक्तेः ॥ १५ ॥

इत्यदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम् ॥ १६ ॥



—(अथ वैश्वानराधिकरणम् ॥ १७ ॥)—

स्वर्लोकादित्यवाताम्बरसलिलमहीरूपमूर्द्धादिक्लृप्त्या
ध्येयो वैश्वानरात्मा स्थिरबहुविशयशब्दलिङ्गादिसाम्यात् ।
मैवं ब्रह्मेत्यधीतेर्भुवनतनुतया योगतस्त्वग्निशब्दो
वैशिष्ट्याद्वा क्रियाङ्गं स्ववपुषि परधीर्गार्हपत्यादिधीश्च ॥१६॥

अन्यस्मिन्नन्यदृष्ट्या न भवति विदुषां क्वापि निश्श्रेयसाप्ति-
स्तस्माद्वैश्वानरोऽसौ न पर इति फलं त्वन्नसिद्ध्यादि मैवम् ।
ब्रह्मैव ह्यन्यदृष्ट्यन्वितघटितमिह ब्रह्मशब्दाद्यभावात्
सर्वाघध्वंस उक्तः फलमपि परमं ब्रह्म च व्याप्तमन्नम् ॥१७॥

त्रिष्वत्रोपासितॄणां मितहृदयगुहाद्यन्तरश्चिन्त्य उक्तो
विश्वान्तर्यामितादेर्विपुलपरिमितश्चिन्तनीयस्त्रयेऽथ ।
षट्सु ब्रह्मात्मशब्दा पुरुषपदमपि क्षेत्रतज्ज्ञप्रपञ्च-
व्यावृत्ते विश्वहेतौ प्रकरणनियमाच्चामवृत्त्या नमन्ति ॥ १८ ॥

तज्जत्वादेर्हि सर्वं जगदभिगदितं ब्रह्मभावेन पूर्वं
सर्वान्तर्यामिता च प्रभवितुरुदिता सर्वतद्देहता च ।
तस्माद्विश्वैक्यबाधप्रभृतियहुविधापार्थवम्भम्यमाण-
क्षुद्रद्रीयोक्तिजालं निखिलमिह नयैस्सूत्रकारो निरास ॥ १९ ॥

स्वाधीनाशेषसत्तास्थितियतनतया सर्वभावेन तिष्ठन्
ग्रस्ताशेषोऽक्षितिनित्यस्थितिरखिलतनुः कल्पिताग्न्यादिगात्रः ।
स्वर्लोकाद्यङ्गवैश्वानर१पदविषयो लक्षणस्यादिमस्य
प्रोक्तः पादे द्वितीये श्रुति निकरशिरश्शेखरः श्रीनिवासः ॥ २०

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य
वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २१ ॥

—(अथ प्रमथस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥)—

स्पष्टैर्जीवादिलिङ्गै २र्युतमिह हि वचस्साध्यते ब्रह्मनिष्ठं
मध्येऽत्राधिक्रियोक्तिस्त्रिषु किमिति न तत्तत्प्रसङ्गात्तदुक्तेः ।
किञ्चास्यामर्थलौकायतिकनिरसनं प्रस्तुतार्थोपयुक्तं
ब्रह्मोत्कर्षश्च सिद्ध्येद्गलति क्षिपिपदां कारणैक्यभ्रमश्च ॥ १
न्यायास्सप्तैव साक्षात् परविषयतया सङ्घटन्तेऽत्र पादे
सर्वाधारस्स आत्मा स्वमहिमनिलयस्तत्र तात्पर्यभूमिः ।
तत्सिद्ध्यै शासनाद्यं कथितमिह मिथस्स्यूतमालोचनीयं
सर्वेशत्वं च षष्ठप्रमितनयमितं पश्चिमन्यायरत्नम् ॥ २
सिद्धं प्रागेव मुण्डोपनिषदि परमं ब्रह्म तद्धर्मभेदै-
र्भेदोक्तेश्चेत्यकाण्डे किमिति पुनरिमां पिष्टपेषम्पिनष्टि ।
सत्यं क्षेत्रज्ञधर्मैः षड्भिरुपनता प्रक्रियाभेदशङ्का
प्रख्याप्य प्रत्यभिज्ञामपुनरुदयमुन्मूल्यते शब्दपूर्वैः ॥ ३
यस्मिन्नोतम्मनोऽन्यैस्सह करणगणैर्ज्ञायते यश्च नाना
नाड्याधारश्च योऽन्तश्चरति सकरणी कर्मभोक्तेति चेन्न ।
विश्वाधारात्मभावादमृतवितरणान्मुक्तसृप्यत्ववादात्
प्रागुक्तप्रक्रियैक्यादनशनसहितात् काशनाचान्यसिद्धेः ॥ ४

१. मति. पा ॥ २. युतमथहि. पा ॥

१ व्याप्ते तत्राक्षमोतं यदि किमिह ततो जन्म चास्येच्छ्योक्त-
स्नाडीचक्रस्य नाभिर्भवति च स परो हार्दरूपेण तिष्ठन् ।
निष्कम्पव्यापिनोऽन्तश्चरणमपि शुभैर्विग्रहैरस्ति लोके
सौत्रालाम्नातवद्वा चरणमिदमपि स्यादधिष्ठानमात्रम् ॥५॥

इति द्युभ्वाद्यधिकरणम् ॥ १ ॥

—*—

—(अथ भूमाधिकरणम् ॥ २ ॥)—

आत्मज्ञानाभिलापादनुपरतशुचे नारदाय प्रयुक्तं
प्राणे सानत्कुमारं विरमति वचनं हिंसनार्हस्स जीवः ।
अल्पप्रत्यर्थिभूमा निरवधिकसुखोऽप्येष एवेति चेन्न
प्राणाख्यात्सत्यशब्दोदितमधिकतयोपास्यमत्र ह्युपात्तम् ॥६॥
नामाद्याशान्तवेद्ये प्रतिवचनवशात् प्रश्नतश्चाधिकोक्ते
प्राणे विश्रान्तिदृष्ट्या भवतु तदवधिः प्रस्तुतात्मोपदेशः ।
मैवं जातो हि नामादिवदिह परमादात्मनः प्राण उक्तः
स्वस्मादित्यत्र तस्मादिति न विघटनात् स्वारसिक्या विभक्तेः॥७॥
प्राणद्रष्टाऽतिवादी तदनुवदनतश्चोदितस्सत्यवाद-
स्तस्मात्सर्वार्हमर्थस्सकलजनयिता प्राण एवेति चेन्न ।
एष त्वित्यन्यतोक्तेरतिवदनकृतः प्राक्तनाद्यस्य तद्वन्
नत्वन्योऽस्त्यग्निहोत्री स्वमहिमनिलये ह्यत्र धर्मोपपत्तिः ॥८॥
नामादी वाक्च तस्योपरि तदनु मनश्चाथ सङ्कल्पनामा
चित्तं ध्यानं च तस्माद्बलमपि च ततस्स्याच्च विज्ञानपूर्वम् ।
अन्नं तोयं च तेजो गगनमपि ततो मन्मथस्स्यात्तथाशा
प्राणस्सत्यः परात्मा सकलनियमिता गम्यते भूमवाक्ये ॥९॥

इति भूमाधिकरणम् ॥ २ ॥

---

१. व्याप्तेरिमजच. पा ॥

—(अथाक्षराधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

प्रख्याताकाशपूर्वस्वविकृतिवहनादक्षराख्यं प्रधानं
तस्याप्याकाशतोक्तौ धृतनिखिलजगत् क्षेत्रितस्त्वन्तु तस्यात् ।
मैवन्द्रष्टृत्वपूर्वैरनितरनियतैश्शासनायत्तधृत्या
किञ्च द्रष्ट्रन्तरस्य व्युदसनमिह तत्तुल्यतद्द्रष्टृपोहः ॥ १० ॥

इत्यक्षराधिकरणम् ॥ ३ ॥

—(अथेक्षतिकर्माधिकरणम् ॥ ४ ॥)—

लक्षीभूतोऽयमेकः खलु पुरुष इह ध्यायतेरीक्षतेश्च
क्षेत्रज्ञस्सोऽयमण्डाधिप इतरपरात्स्वान्यजीवात्परोऽसौ ।
नो चेद्भौमादिभोगप्रकरणविहतिर्नोभयीतीत्ययुक्तं
तस्मिञ् शान्तामृतत्वप्रभृतिपरगुणश्रुत्यनूक्त्योरयोगात् ॥११॥

नन्वत्रोङ्कारमात्रात्रयफलगणनारूढभूम्यन्तरिक्ष-
प्रत्यासत्त्या निवासस्सरसिजवसतेर्ब्रह्मलोकोऽस्तु मैवम् ।
पापोन्मुक्तेन लभ्यो ह्ययमिह कथितस्सूर्यसम्पत्तिपूर्वं
सोढव्यो मध्यलोकैर्श्वधिरिति समस्तस्समाधानमार्गः ॥१२॥

इतीक्षतिकर्माधिकरणम् ॥ ४ ॥

—(अथ दहराधिकरणम् ॥ ५ ॥)—

दहं हृत्पुण्डरीके गगनमभिहितन्तैत्तिरीयश्रुतौ य-
च्छन्दोगैस्तत्र गीतं यदपि च दहराकाश इत्येतदेकम् ।
भूतार्थं तत्र प्रसिद्धेर्महिमत इति न प्रत्यनीकैरनेकैः
श्रौती च स्यात् प्रसिद्धिर्भगवति बलिनी लिङ्गवर्गैस्सनाथा ॥१३॥

बाह्याकाशश्च यावानयमपि हि तथेत्येतदङ्घ्रिप्रमीशे
सत्यात्मप्राणशब्दा नभसि न कथमप्यन्वयं प्राप्नुवन्ति ।

कामाधारश्च योऽसौ समगणि दहराकाशवाचाऽत्र नित्य-
स्तस्यैव होप आत्मेत्यनुवदनमतस्तद्गुणाश्चिन्त्यकामाः ॥१४॥

सर्वेशाधारतोक्त्या भवतु च हृदयव्योम तद्वाज्यधीतं
छान्दोग्यस्थो निपादस्थपतिनयपदं ब्रह्मलोकादिशब्दः ।
आपस्तम्बश्च वैभाजनपुरमवदद्ब्रह्म सर्वात्मभूतं
पूस्तस्य प्राणिनस्स्युस्तदपि तदपि हि स्यात् पुरं सर्वयात्मा ॥१५॥

जीवस्तर्ह्येष आत्मा गुणगणघटनात्तत्परामर्शदृष्टे-
रव्पत्याद्युक्तितश्चेत्यसदनुपधिकात्सत्यसङ्कल्पतादेः ।
विश्वैकाधारतादेरपि स खलु परो दह्रतौपाधिकी स्यात्
प्राजापत्यात्तु वाक्यात्परसमदशया तद्गुणोक्तिर्विमुक्ते ॥१६॥

दह्राकाशोऽपवर्गप्रद इति गदितुं सम्प्रसादोक्तिरत्र
प्राजापत्ये तु वाक्ये परपरिपठनं प्राप्यनिष्कर्षणार्थम् ।
आकाङ्क्षाद्यैस्तदेवं परतदितरयोरन्विते वाक्ययुग्मे
युक्तान्योन्यथाधप्रभृतिकमिह तत्सामरस्यं हि सौत्रम् ॥१७॥

इति दहराधिकरणम् ॥ ५ ॥

—(अथ प्रमिताधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

प्राणेशोऽङ्गुष्ठमात्रः क्वचिदनुकथितस्सञ्चरन् कर्मभिः स्वै-
रन्यत्राङ्गुष्ठमात्रं पुरुषमपि यमो निश्चकर्षेति दृष्टम् ।
तस्मादेतत्प्रमाणप्रमितमुपनिषज्जीवमादेत्ययुक्तं
वाक्यस्थेशानतादेर्नरहृदयपरिच्छित्तितस्तद्धि मानम् ॥१८॥

नह्यङ्गुष्ठप्रमाणं हृदयमखिलजन्त्वाश्रयन्तत् परस्मि-
न्व्याप्ते तन्मानतोक्तिः क्वचिदिति मनुजाधिक्रियोक्तिप्रसङ्गे ।

सूत्रद्वन्द्वद्वयान्तस्त्रिभिरधिकरणैश्चिन्त्यते तद्विशेष-
स्तार्तीयैस्स्थापनीया स्वयजिगमिषिता नेतिकर्तव्यताऽत्र ॥१६॥

इति प्रमिताधिकरणम् ॥ ६ ॥

—(अथैतद्गर्भे देवताधिकरणम् ॥७॥)—

शब्दात्मा लौकिकार्थाकृतिरियमथवा देवताऽतो न तस्या
ब्रह्मोपासेत्यनार्षं श्रुतपरिहरणं कल्पनं चाश्रुतस्य ।
विश्वस्रष्टा च मा भूदनुमितिविषयस्तत्परैस्त्वेव शास्त्रै-
र्निर्बाधैस्स्थापितः प्राक्स्वयमपि विभुना नैव शक्यापलापः ॥२०॥
सामर्थ्यं देवतानामुचिततनुभृतामर्थितत्वं तापभाजां
सम्पद्येतेति तासामपि भवति परोपास्तिवर्गाधिकारः ।
ख्यातम्मन्त्रार्थवादप्रभृतिषु निखिलं दोषबाधाद्यभावे
मिथ्येत्युद्घोषयन्तस्स्वत इह कथिताम्मानतां प्रस्मरन्ति ॥२१॥
द्वेधा वृत्तिः स्तुतौ स्यात् स्वपरगुणमुखी प्राक्तनी तावदर्थ्या
निर्धार्यः पश्चिमायामपि निपुणधियाम्मुख्यधर्मैकदेशः ।
रुच्यर्थायां च तस्यामनृतकथनतो रोचना नह्यमुग्धे
भूतार्थे का स्तुतिस्स्यादिति मुनिगदिता गौणतादेर्निवृत्त्यै ॥२२॥
नानादेहातिशक्ताः कथमिह युगपत्कर्मसन्निध्यनर्हा-
स्तत्तद्वृत्तान्तसत्त्वे श्रुतिषु भवति नानित्ययोगः प्रवाहात् ।
काण्डादौ कर्तृवादः प्रवचननियतो चेदनित्यत्वसिद्धे-
रीशः प्राचीनरूपक्रमत उपदिशेद्वर्णसर्गेऽपि वेदान् ॥२३॥
वेदानामीशबुद्ध्या क्रमनियमहतिः कल्पभेदे यदीष्टा
मन्त्रांशानान्तथा स्यान्न खलु तदुचितं व्रीहिसोमादिसाम्यात् ।
इत्थं विद्धयर्थवादक्रम इति नियमे पाक्षिके वा तथात्वे
पक्षोऽसावाद्यपादः परमतपरिपत्कोटिमाटीकताम्नः ॥२४॥

सौक्ष्म्यात्तुल्याभिचारात् १ सहकृदपनयाच्छादकाद्दान्यपर्या-
दत्याऽसत्याऽतिदूराद्बलवदभिभवानुद्भवाद्योपघातैः ।
नेक्ष्यन्ते वर्तमानान्यपि हि सुरगणस्तद्वदन्तर्द्धिशक्तेः
प्रख्यातास्सिद्धिभेदा अपि जननतपोयोगमन्त्रौषधीभ्यः ॥२५॥
इत्येतद्गर्भे देवताधिकरणम् ॥७॥

—(अथैतद्गर्भे मध्वधिकरणम् ॥८॥)—

स्याद्वेयं देवमात्रे मनुज इव परोपास्तिमात्रे तथापि
स्वस्यैवाराध्यभावस्स्वपदमपि फलं यत्र नात्राधिकारः ।
मैवं सर्वान्तरात्मा स्वतनुभृदिति चोपासते मुक्तिकामाः
कामाद्यावर्तते तु स्वपदमपि फलं कल्पमन्वन्तरादौ ॥२६॥
इत्येतद्गर्भे मध्वधिकरणम् ॥ ८ ॥

—(अथैतद्गर्भे अपशूद्राधिकरणम् ॥ ९ ॥)—

जैमिन्युक्तापशूद्राधिकरणसरणेर्नास्ति विद्याग्निलब्धिः
शूद्रादीनान्तथापि स्मृतपरभजनाधिक्रिया जाघटीति ।
श्रोतृत्वाद्धारतादेस्स्वजनिसमुचितैः कर्मभिश्चेत्ययुक्तं
प्राप्ते ब्रह्मोपदेशे ह्युपनयनपरामर्शनादि प्रसिद्धम् ॥२७॥
शूद्राणां भारतादेश्श्रवणमनुमतं पापशान्त्यादिसिद्ध्यै
वेदार्थापातबुद्धिर्यदनधिकरणा नोपबृंह्येत तैस्सः ।
विद्यास्थानानि शूद्रैर्मुरभिदकथयत् पाण्डवाय द्विसप्ता-
न्यप्रख्यानि तस्मान्नहि विकलधियां स्यादुपासाधिकारः ।२८।
गीतं शूद्रादिकानामपि परभजनं केवलं स्वार्हधर्मै-
र्धर्मव्याधस्तुलाधृग्विदुर इति च ते प्राग्भवाभ्याससिद्धाः ।

१. सहकृदपगमात्. पा ॥

वक्ता शूद्रेति जानश्रुतिमभिमुखयन् शोकमस्य व्यनक्ति
क्षत्रप्रेषादिलिङ्गैस्स्फुटतरविदितं क्षत्रियत्वं हि तस्य ॥२९॥
धूत्वेति प्राच्यवाक्यप्रकृत इह भवेन्मुक्त आकाशनामा
बन्धेऽसौ नामरूपे वहति तदनु च ब्रह्मभावे जहाति ।
इत्यन्याय्यं पुरोक्तः पुनरयमभिसम्भाव्य एव ह्युपात्तो
ब्रह्मत्यत्र ह्यवस्था श्रुतिषु च युगपज्ज्ञाततादिर्विभक्तः ॥३०॥
विश्वात्मानन्तभूमा नियमनधृतिकृन्मुक्तभोग्यस्वभावो
दह्रस्याधारसर्वो हृदयपरिमितावस्थया सर्वयन्ता ।
देवादीनामुपास्यो वसुमुखविबुधैस्स्वात्मभावेन सेव्य-
श्शूद्राद्योपास्त्यनर्हः प्रभुरिह बुबुधे नामरूपैककर्ता ॥ ३१ ॥

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य
वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥३॥

———

—(अथ प्रथमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥)—

निर्णीतं वाक्यजातं परविषयतया स्पष्टजीवादिलिङ्गं
तत्तच्छायानुसारि प्रथयति तु वचस्तत्परं तुर्यपादे ।
षड्भिर्द्वाभ्यां च तत्र प्रशमयति नयैस्साङ्ख्ययोगोक्तशङ्कां
षट्कौ जाग्रह इत्थं कथितनिगमनं त्वष्टमं केचिदूचुः ॥१॥
द्वाभ्यां तेष्वं प्रधानं कपिलमतमथ त्वेकतोऽन्योक्तसङ्ख्या
तुर्येणाव्याकृतोक्तेरपि विभुरवधिस्स्थाप्यते द्वारवृत्त्या ।
शुद्धाशुद्धौ च जीवावधिकरणयुगेऽनन्तरं वारणीयौ
शेषन्त्वान्तरोक्तेश्वरनिरसनकृत्तुर्यपादाष्टकेऽस्मिन् ॥२॥
अज्ञाद्यव्यक्तनिष्ठं जडमथ पुरुषान्तरव्यक्ताष्ठां विविच्य
ब्रूते वशी कठानां परमतपठितां प्रक्रियामित्ययुक्तम् ।

१तत्रस्थानेकवाक्योदितविविधवशीकार्यमुख्यक्रमोक्ते-
श्शान्तात्मा विष्णुरुक्तः पर इह पुरुषः प्रत्यभिज्ञाप्यते च ॥३॥
नह्यर्था इन्द्रियाणां प्रकृतिरथ मनोहेतुरेवाग्रचेष्टं
बुद्धिश्चैतन्न सूते नच महति महाञायते बुद्धिसंज्ञः ।
भोक्तुर्युक्तम्महत्त्वम्महति नहि भवेदात्मता पारिशेष्या-
त्स्यव्यक्तोक्तिश्शरीरे तदिह न कपिलप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञा ॥ ४ ॥

इत्यानुमानिकाधिकरणम् ॥ १ ॥

—(अथ चमसाधिकरणम् ॥ २ ॥)—

स्वातन्त्र्येण ह्यजाया निखिलजनकता सूच्यते क्वापि वाक्ये
बद्धोऽजस्तत्र शेते त्यजति पुनरिमां भुक्तभोगामजोऽन्यः ।
इत्युक्तेस्तान्त्रिकी सा स्थिरमिति यदि नाजात्वमात्राभिधाना-
दस्वातन्त्र्यप्रसिद्धेस्सृजतिरपि परप्रेर्यताद्योपलब्ध्यात् ॥५॥

इति चमसाधिकरणम् ॥ २ ॥

—(अथ संख्योपसंग्रहाधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

यस्मिन् २पञ्चेति वाक्ये परपरिगणिता विंशतिः पञ्चयुक्ता
प्रोक्ता सप्तम्यधीतस्त्विह पुरुषगणोऽनन्यनिष्ठोऽस्तु मैवम् ।
आकाशस्य स्वनाम्ना पृथगनुकथनात् सप्तमीशक्त्यबाधात्
षड्विंशोऽसत्र सर्वाश्रय इति विधितोऽनूद्यते ब्रह्मतार्थैः ॥ ६ ॥
संज्ञोपाधिस्समासो ह्ययमिति निगमे सप्तसप्तर्षिनीत्या
प्राणाद्यन्नन्मनोन्तं प्रकरणनियतं पञ्चकं धीन्द्रियाख्यम् ।
ज्योतिश्शब्देन शाखान्तरविदितमिदं न्यूनवादस्तु पूर्यो
घ्राणं वक्त्यन्नशब्दो रसनमपि सह प्राणशब्दस्त्वयमर्थः ॥ ७ ॥

इति सङ्ख्योपसंग्रहाधिकरणम् ॥ ३ ॥

१. तत्रस्थानेक. पा ॥ २. पञ्चेतिमन्त्रे पा ॥

—(अथ कारणत्वाधिकरणम् ॥ ४ ॥)—

विश्वोपादानवक्त्री श्रुतिषु सदसदव्याकृतोक्तिः परोक्ते
ह्यव्यक्तेऽन्वेति तस्मात्तदितरदखिलं नेयमत्रेतिचेन्न ।
यत्रासत्त्वादि दृष्टं प्रकरणविदितन्तत्र सर्वज्ञताद्यं
लिङ्गं स्यादित्यधीतं स्थिरमपि तदिहाबाध्य आत्मादिशब्दः ॥८॥
आसीदग्रे त्वसद्वा इदमिति विलयावस्थतामात्रमुक्तं
नैवासीत् किञ्चिदित्याद्यपि विलयपरं शून्यतादेर्निषेधात् ।
सर्वस्याव्याकृतत्वं विभजनविरहात्तादृशावस्थतत्तद्
द्रव्यस्तोमान्तरात्मा तदिह सदसदव्याकृताद्युक्तिवाच्यः ॥९॥

इति कारणत्वाधिकरणम् ॥ ४ ॥

———

—(अथ जगद्वाचित्वाधिकरणम् ॥ ५ ॥)—

यस्यैतत्कर्म वेद्यस्स इति वचनतः कर्मवश्यप्रतीतेः
कर्ता पुंसां सएव स्वकृतपरिणतेरित्युपक्रान्तिभङ्गम् ।
बालाक्यज्ञाततत्त्वान्तरमुपदिशतः स्यादिहाजातशत्रो-
स्तज्ज्ञातोक्तिर्निरर्था जगति कृततया कर्मशब्दोऽत्र मुख्यः ॥१०॥
एवं जीवातिरिक्ते प्रकरणनियते तत्र यज्जीवमुख्य-
प्राणाख्यानं न तेन क्षतिरिह हि तथा तद्विशिष्टे ह्युपासा ।
प्राणस्य प्राणभाजोऽप्यधिकरणतया वाजिवाक्योक्तनीत्या
ब्रह्मप्त्यै तदन्यप्रकथनमिति हि स्थापना सार्वभौमी ॥११॥

इति जगद्वाचित्वाधिकरणम् ॥ ५ ॥

———

—(वाक्यान्वयाधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

पत्यादीनां प्रियत्वं श्रुतिरनुवदति ह्यात्मनः कामसिद्ध्यै
तेनासौ पुण्यपापोदितफलभुगिति प्रक्रमाद्विप्रनीयम् ।

तत्तद्भोगप्रदातुः प्रथयति हि विभोः कामतस्तत्प्रियत्वं
दृष्टव्यश्चैव मुक्त्यै श्रुतिनिकरमितः प्रत्यभिज्ञाप्यतेऽत्र ॥१२॥
व्युत्पत्त्या ह्यात्मशब्दः प्रथयति परमं ब्रह्म यद्वा समासात्
सार्थोऽयं जीवशब्दो वदति च परमं द्वारवृत्त्येति पक्षाः ।
व्यक्त्यैक्यादाश्मरथ्यो निरुपधिकदशाद्वैततस्त्वौडुलोमि-
स्तत्स्थत्वात्काशकृत्स्नः परविषयतया जीवशब्दं जगाद ॥१३॥
भेदोपाधिव्यपाये भवभृदयमियाद्ब्रह्मतामित्ययुक्तं
नित्यन्तद्भेददृष्टेरतिपतितभवे साम्यसाधर्म्यशब्दात् ।
मृत्तत्कार्यक्रमश्च श्रुतिशतविहतस्तेन जीवोक्तिमीशे
तत्स्थत्वात्काशकृत्स्नो यदिह निरवद्यस्यासिद्धान्त एषः ॥१४॥

इति वाक्यान्वयाधिकरणम् ॥६॥

—(अथ प्रकृत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥)—

मृत्पिण्डादेः कुलालप्रभृतिरिह पृथक्तद्वदेवादिकर्ता
नोपादानं विकारैर्विरहत इति न द्वारमात्रे विकारात् ।
मृद्दृष्टान्तादिमात्राच्च विकृतिरसौ स्यात् परस्य स्वरूपे
देहद्वारोर्णनाभिप्रभृतिविकृतिवद्व्यापृतेर्दर्शितत्वात् ॥१५॥
स्वज्ञानाद्यं स्वजन्यं भवति सृजति च स्वान्यसंयोगमीश-
स्संयोगे मूर्तनिष्ठे प्रकृतिरपि हि तस्यान्निमित्तं क्रियातः ।
एकस्यादौ बहुस्यामिति बहुभवनं सौभरिन्यायसिद्धं
भेदाभेदश्रुतीनामविहतिरिह च स्याद्विशिष्टैक्ययोगात् ॥१६॥
कार्यैक्ये हि प्रतिज्ञा तदनुगुण उदाहारि दृष्टान्तवर्गः
स्रष्टुस्स्यामित्यभिध्यां श्रुतिरिह वनतां वृक्षतादिं च वक्ति ।
आत्मानं चैष एव स्वयमकुरुत तद्भूतयोनित्यमुक्तं
तस्मात्कर्ताऽपि देवः प्रकृतिरपि भवेत् सर्वतस्यान्तरात्मा ॥१७॥

नोपादानं निमित्तं किमपि तदितरत्कारणन्तद्धि धिन्नो
यद्वा सिद्धं निमित्तं न भजति तदुपादानतामित्ययुक्तम् ।
इष्टाद्याकारभेदादुभयघटनतो लोकवेदानुरोधे
सिद्धे स्वच्छन्दलक्ष्मप्रणयनकुसृतिः पाकचिन्ताविपाकः ॥१८॥

उक्त्वा तत्त्वान्तराणां विलयमथ तमस्येकतामात्रमुक्तं
प्रोक्तं चानादितादि प्रकृतिपुरुषयोर्वैदतद्वेदिवाक्यैः ।
लीयेते तौ परस्मिन्निति तु लयवचस्स्यादयस्तोयनीत्या
तेनासौ भोक्तृभोग्यप्रभृतिकचचिताद्विश्वसृष्टिस्समीची ॥१९॥

इति प्रकृत्यधिकरणम् ॥७॥

—(अथ सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ॥ ८ ॥)—

अग्रेसंवर्तनं भात्यवितथवचसि क्वापि हैरण्यगर्भे
ग्रस्ताशेषस्वकार्ये तमसि च शिव एवेति केचित्पठन्ति ।
एतादृग्वाक्यवर्गस्स्फुटभवदधिकाशङ्कनस्तम्भनार्थं
प्रागुक्तार्थातिभेदानतिदिशति परं शिष्यशिक्षैकचित्तः ॥२०॥

विश्वेशश्श्रीपतिश्चेद्भवति कथमसौ त्राणमात्राधिकारी
दूरं गत्वापि दुःस्थद्विधिशिनतुलया घट्टकुट्यां प्रभातम् ।
नैवं मत्स्यादिभावेष्विव निजविभवानुक्रियानाट्यमेत-
दूब्रह्मेशस्रष्टरि स्यान्निरवधिकबृहत्पौरुषेपूरुषे नः ॥ २१ ॥

सांख्योक्तप्रक्रियोक्तेस्तदभिमतसृजेस्तत्प्रसंख्यानक्लृप्तेः
स्तत्प्रोक्ताव्याकृतैक्यात्स्ववृजिनयचनात्तत्फलावश्ययोगात् ।
भेदात्कर्तृप्रकृत्योर्द्रुहिणशिवमुखानेकहेतुश्रुतेश्च
क्षिप्तं पादत्रयोक्तं श्रुतिहृदयसमुद्घाटनाद्न्वरक्षत् ॥२२॥

जिज्ञास्यत्वेन सिद्धेस्स्थिरचरचिदचिद्देहिनि ब्रह्मतत्त्वे
श्रुत्याद्यैरेव सूक्तो स्वरसगतिरियं कारणाम्नायवाचाम् ।
बाधं रोधं च बाह्यान्तरमिह बहुधा वर्णयन्तो मुसल्या
निष्काल्यैरन्यरस्तान्निपदुपनिषदां निश्चलत्वप्रसिद्ध्यै ॥२३॥

आदौ जिज्ञास्यताऽऽस्तां बहुविहतिहता सह्यतां लक्षणोक्तिः
मृष्यामश्शास्त्रयोनिप्रलपितमपि चस्स्यात् समन्वित्यपोक्तिः ।
सूत्रैरेतैस्स्फुटार्थैस्सविषयवचनैर्निर्विशेषैक्यपक्षे
मुख्येक्षाद्यैस्स्वधर्मः प्रकृतिपुरुषतो भेदवादः कथं स्यात् ॥२४॥

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य
वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
प्रथमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

॥ समाप्तश्चाध्यायः ॥

---

* श्रीमते रामानुजाय नमः *

अधिकरणसारावली



—(अथ द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः)—

स्मृत्यधिकरणम् ॥

तत्तादृक्कर्कतन्त्रक्रमनिपुणमहाबुद्धिसन्तोषसिद्धि-
र्यद्यप्युक्तेन लभ्या तदपि मृदुधियां हेतुकास्कन्दशङ्की।
स्थूणाखातक्रमेण स्थिरयति कथितं ब्रह्मणः कारणत्वं
कार्यत्वं यस्य यादृक्छ्रुतिभिरवगतं तस्य तत्तादृशञ्च ॥१॥
पादद्वन्द्वं द्वितीये परिहरति परे कारणे बाह्यपीडां
कार्यद्वारेण पादान्तरयुगमुदयत्यान्तरक्षोभशान्त्यै।
हेतुत्वायोगभङ्गः प्रथममिह विभोस्तस्य सार्वत्रिकत्वा-
योगक्षेपः परस्तात् फलति स च भवेच्छ्रौतनित्यं विहाय ॥२॥
तन्त्रच्छायानिदाने स्वयमुपनिषदामान्यपर्ये निरुद्धे
तन्त्रेभ्यो दुर्बलत्वात्तदनुसरणमित्युज्जिहीते परोऽद्य।
इत्थं सत्यत्र तत्तत्स्मृतिनय१पृतनातिक्रमन्तत्तदर्हैः
प्रत्यस्त्रैर्वारयित्वा द्रढयति चलितं पादतः प्राच्यमर्थम् ॥३॥
निर्णीतं कर्मकाण्डे स्मृतिनयविहती निश्चलत्वं श्रुतीनां
चर्चा तत्सिद्धयेऽसौ पुनरिति विफलः स्याद्द्वितीयाद्यपादः।
मैवं गम्भीरनानाश्रुतिशिखरपरिच्छेद्यदुर्बोधताया-
माप्तोक्त्या तर्कतश्च क्षममनुसरणं पश्यतो ह्यत्र भङ्गः ॥४॥
द्वाभ्यां स्मृत्या विरोधं परिहरति ततस्त्वष्टभिस्तर्कबाधं
तेनोपादानभावं द्रढयति तु विभोः कर्तृतान्तद्द्वयं च।

---

१ कलिता इति चिन्तामणौ व्याख्यातं ॥

तत्तत्त्वेषात्तुलाग्रस्थयनमनसमुन्नामनीत्या प्रवृत्ते
शङ्कावर्गैर्परीक्षा समनिहितमतिः पक्षपातं रुणद्धि ॥५॥
स्मर्ता श्रुत्यैव गीतः कपिलऋषिरसौ वासुदेवांशभूतः
ख्यातो रामायणादौ प्रथितिनिपुणधीर्वक्ति वेदान्ततत्त्वम् ।
तस्माद्स्मद्विदूरे श्रुतिशिरसि तदुक्त्यैव निष्कर्षणं स्या-
च्च स्यादेकार्थमन्वाद्यनघवहुगिरा तत्र तत्त्वार्थसिद्धेः ॥६॥

--(अथ योगप्रत्युक्त्यधिकरणम् ॥ २ ॥)--

वेदान् पूर्वं विधाताऽलभत भगवतस्सर्वविद्यानियुक्तो
वागीशश्चैव तस्मात्तदुदितविहतौ कम्पनं वेदमूर्ध्नः ।
मैवन्तस्यापि वेदापद्धतिमुखविपदर्शनात्त् त्वेत्रिभावान्
भ्रान्त्यादिस्सम्भवेदित्यगतिकविषये पूर्ववन्निर्वहामः ॥७॥

--(अथ विलक्षणत्वाधिकरणम् ॥३॥)--

विश्वं त्रैगुण्यवत् स्यात् त्रिगुणत उदितत्वात्समादित्ययुक्तं
सर्वाकारेण साम्यं क्वचिदपि न भवेत् केनचित् साम्यमिष्टम् ।
भग्ना हेतुव्यय[illegible]चितगुणसमता गोमयाद्वृश्चिकादौ
स्थूलत्वं यातिचशः प्रकृतितनुरतस्सर्वचोद्योपमर्दः ॥८॥
ईक्षा तादृग्बहु स्यामिति सति पठिता तेजसोऽपाञ्च दृष्टा
सालक्षण्यं ततस्स्याज्जगत इति मृदुप्रश्नपार्श्वस्थचोद्ये ।
तत्तन्मूर्तेः परस्येक्षणमिदमिति तद्वाक्यभावापलापी
सामान्येनाभिमानिव्यवहरणमिदं व्याहरन् पूर्वपक्षी ॥९॥

--(अथ शिष्टापरिग्रहाधिकरणम् ॥४॥)--

संवाक्षादक्षपादक्षपणककणभुग्भिक्षुपक्षेष्वणूनां
विश्वन्तद्धेतुकं स्यादिति मृदुमतिभिश्श्वावराहक्रमोक्तौ ।

---

१. द्वितीयनति-पा ॥

अन्योन्यव्याहतार्थस्थपुटितकुहनायुक्तिदोषापनुत्त्यै
भाति त्रैय्यन्तसूर्यः प्रतिमततिमिरस्तोमकुक्षिंभरिर्नः ॥१०॥

—(अथ भोक्त्रापत्त्यधिकरणम् ॥५॥)—

एको यस्यास्ति देहस्स भवति विविधानन्तदुःखैकभोक्ता
विश्वं देहः प्रभोश्चेत् स कथमतिपतेद्विश्वदुःखानुभूतिम् ।
इत्थं जीवेशसीमामपलपितुमनाः क्लेशभाजा श्रुतीनां
सम्राड्भृत्यादिनीत्या शममिह लभतां साम्यवैषम्यदर्शी ॥११॥

—(अथारम्भणाधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

कार्यं धर्मैर्विरुद्धैः कट इव शकटात् कारणद्रव्यतोऽन्य-
द्व्यापारः कारकाणां विफल इतरथेत्यर्धवैनाशिकोक्तौ ।
द्रव्यैक्येऽप्यस्तु सर्वं तदभिमतदशाभेदतोऽसच्छ्रुतिश्चे-
त्यद्वयत्वाल्लाघवाच्च श्रुतिकथितजगद्ब्रह्मतादात्म्यमुक्तम् ॥१२॥
मायोपाधिस्वशक्तिव्यतिकरितपरब्रह्ममूलः प्रपञ्चो
येषान्तेऽप्यद्वितीयश्रुतिमवितथयन्त्यत्र तत्तद्विशिष्टे ।
अप्राधान्यात्तथा नः प्रकृतिपुरुषयोरन्तरात्मप्रधाने
वाक्येऽस्मिन् स्थूलसूक्ष्मान्वय इति जगतोऽनन्यभावोपपत्तिः ॥
विश्वारम्भे विवर्तं शकलपरिणतिं शक्तिशेषस्य सूतिं
व्यक्त्युल्लासौ विसृष्टिं विकृतिमनियतां तत्त्वपंक्तौ च सृष्टिम् ।
तत्तद्वाक्यैकदेशे स्वरस इति मुधा कल्पयन्तस्तु मुग्धा-
स्सर्वश्रुत्यैकरस्यप्रणयिभिरधरीचक्रिरे तत्त्वविद्भिः ॥१४॥

—(अथेतरव्यपदेशाधिकरणम् ॥ ७ ॥)—

उक्तेऽनन्यत्वपक्षे चिदपि परिणतिर्ब्रह्मणस्स्यात्ततस्त-
ज्जीवैक्यं तत्त्वमस्याद्यवगतमहतन्दुःखसिन्धुश्च जीवः ।
अभ्रान्तस्तु स्वदुःखं न सृजति न च तत्क्रीडयाप्यस्य मैवं
तात्स्थ्येनानन्यतोक्तेस्तदपि चिदचितोस्तच्छरीरत्वसिद्धेः ॥१५॥

—(अथोपसंहारदर्शनाधिकरणम् ॥ ८ ॥)—

शक्तौ कर्तृप्रकृत्योरुपकरणगणोपस्थितौ कार्यकृत्व-
न्तस्मादग्रे सदेकं किमुपकरणयेदित्यसच्छक्तिभेदात् ।
क्षीरायस्कान्तलूताऽत्रिदशमुनिमुखान्वीक्ष्य तोष्ठ्यमस्मिन्
संकल्पादेव जीवो नुदति निजवपुर्विश्वरूपस्तथेशः ॥१६॥

—(अथ कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम् ॥ ९ ॥)—

कृत्स्नं कार्यात्मना चेत् परिणमति परं नावशिष्येत किञ्चि-
यगंशाच्चिष्कलत्वश्रुतिविहितरिदं स्याद्विशिष्टेऽपि तस्मिन् ।
ब्रह्मोपादानतैवं न घटत इति चेन्न स्वपक्षेषु साम्या-
त्तन्मानात्तद्गृहीतौ श्रुतिमितमिति तल्लोकवत् स्वीकुरुष्व॥ ७॥
संयोगाख्यं हि कार्यं विभुतदितरयोस्स्यादणूनाम्मिथो वा
कार्त्स्न्येनांशेन वा तद्विहतमिति यदन् शून्यवादे निमज्जेत् ।
सांख्योऽपि प्राह विभ्वीं प्रकृतिमिति कथन्न्यूनसृष्टिस्ततस्स्या-
न्मायादिष्वेवमूह्यं निगमनिगदितात्वत्ता पद्धतिनः ॥१८॥

--(अथ प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम् ॥ १० ॥)--

आत्मार्थं विश्वसृष्टिः कथमपि सततावाप्तकामस्य न स्यात्
कारुण्याद्दुःखसृष्टिर्न भवति न च सा सर्वशक्तेश्चिकित्सा ।
सर्वज्ञस्यात्मतृप्तस्तदिह न जगतो हेतुरित्यन्धचोद्यं
लीलासौ लोकवत्स्यादभिमतिसमये सिद्धितस्त्वाप्तकामः ॥१९॥
विश्वन्दुःखैकतानं विषममपि सदा निर्मिमाणस्य लीला
संजायेतासमञ्जक्रमत इति भवेन्निर्दयत्वादिदोषः ।
नैवं बीजांकुरादिक्रमविषमभयानादिकर्मौघभाजां
जीवानां सौति तत्तत्फलमिति करुणासाम्ययोरप्रहाणात् ॥२०॥

दृष्टन्यायेन विश्वप्रजनकचिदचित्तत्त्वभेदक्लृप्तौ
स्वेष्टप्रत्यर्थिधर्मोपनयननियतव्याप्तिर्येयाकुली स्यात् ।
अत्यन्तादृष्टमर्थं भणितुमधिकृताच्छास्त्रतस्सर्वकर्तु-
स्सिद्धौ बाधाद्यनर्हप्रमितपरवती सर्वधर्मोपपत्तिः ॥२१॥

सांख्यस्मृत्या विरोधाद्विधिमतविहतेः कार्यवैरूप्यतोऽस्मि-
न्नेकार्थानेकतन्त्रोदितविहततया देहभोगाविमुक्त्या ।
कार्योपादानभेदात् स्वहितविहतितः कारकस्तोम हानेः
कृत्स्नांशाद्यूहबाधात् कृतिविफलतयाप्युत्थितं प्रत्यधिक्षिपत् ॥२२

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य
वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

—(अथ द्वितीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥)—

रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

बाधाभावादकल्पे स्थिरयति निगमैर्ब्रह्महेतुत्ववादे
भूयः किं वीतरागो वदति परपरीवादमत्रेत्ययुक्तम् ।
प्रख्यातप्राच्यनैकप्रनिसमयभयन्मन्दसन्देहशान्त्यै
तुल्यत्वभ्रान्तिसिद्धा प्रकरणसमता तर्कपादे हि वार्या ॥१॥
षड्विंशालम्बिसांख्यं स्फुटतरपठितं भारते योगतुल्यं
तत्स्थत्वात् पञ्चविंशस्त्विति च निगदितस्सर्वतश्शान्तरात्मा ।
तस्मात् सेशानतन्त्रं श्रुतिसमधिगतं स्थापयित्वात्र सूत्रैः
पत्नं त्वीशानपेक्षं प्रतिवदति नयैरक्तकूटप्रत्यवायम् ॥२॥
अव्यक्तादीन्पदार्थाननुमितिमुखतस्स्थापयन्तस्स्वबुद्ध्या
षट्त्रिंशत्तत्त्ववादप्रभृतिषु न कथं सङ्गमिच्छन्ति सांख्याः ।

स्याच्चाकर्मोद्भवन्तन्निखिलमपि परब्रह्मवत्तत्समस्य ॥१७॥

मोक्षेपुण्याद्यभावात्तदुपधिकवपुर्वर्जितत्वं न दूष्यं
तस्मिन्दुःखाद्यदेहत्यजि च शुभवपुस्तस्यपक्षोप्यबाढ्यः ।
इत्थं सत्यत्र मुक्तस्थितिरिह मुनिना कीदृशी सूत्रिता स्या-
न्मैवं स्वच्छन्ददेहग्रहतदनियमस्थापनेऽत्राभिसन्धेः ॥१८॥

नानादेहा यदि स्युर्युगपदधिगतब्रह्मसाम्यस्य पुंस-
स्तेषां व्याप्तस्वरूपान्वय उचित इति प्राक्तनाणुत्वहानम् ।
नैतद्धीव्याप्तिसिद्धेर्भवति न जगदावेशवाक्यविदाना
सौभर्यादौ प्रक्लृप्तां गतिमपवदितुं न क्षमं ब्रह्मसाम्यम् ॥१९॥

देहानां यौगपद्ये बहुषु कथमणुर्धारकोऽस्त्वेष मुक्त-
श्चैतन्यद्वारतश्चेत् सकलमपि तदा धारयेद्व्याप्तबोधः ।
मैवम्मुक्तस्य शक्तिर्नियमितविषया स्विच्छया सर्वशक्तेः
प्राकाम्ययोगशक्त्या बहुतनुभजने कर्मबन्धोऽप्यपेयः ॥२०॥

शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञा मुनिभिरभिदधे वेष्टिता कर्मभिस्स्वैः
पुंसोऽनंशाप बुद्धिर्बहुविधविकृतिस्स्वीकृतैवं स चास्तु ।
वालाग्रेत्यादिवाक्यात्तदयमणुरपि स्यादनन्तोऽपि मुक्तौ
न स्याज्जैनादिभंगे परिहृतविकृतेरैकरूप्यानपायात् ॥२१॥

जीवस्यैकैकशो हि त्वजनत उदितो वृत्तशाखासु शोप-
स्तस्मादद्वारकं स्यादपगतवरणे मुख्यमानन्त्यमस्मिन् ।
मैवं शाखासु भोगाश्रयनियतिकरोपाधिनाशः प्रहाणं
क्षेत्रादिन्यायतोऽसावभिमतिविरहात स्यादधीतो जहातिः ॥२२

एकोऽनेकः परस्मात् पृथगपृथगपि स्वस्वरूपेण मुक्त-
स्स्वाभीष्टाशेषभोक्ता स्वयमिति पृथुकत्तीवबद्धे भ्रमन्ति ।
तेऽन्वीदय स्वोक्तिबाधं श्रुतिशतविहतिं तत्तदुक्त्यान्यपथं

दृष्टन्यायेन विश्वप्रजनकचिदचित्तत्त्वभेदक्लृप्तौ
स्वेष्टप्रत्यर्थिधर्मोपनयननियतव्याप्तिर्वैयाकुली स्यात् ।
अत्यन्तादृष्टमर्थं भणितुमधिकृताच्छास्त्रतस्सर्वकर्तु-
स्सिद्धौ बाधाद्यनर्हप्रमितपरवती सर्वधर्मोपपत्तिः ॥२१॥

सांख्यस्मृत्या विरोधाद्विधिमतविहतेः कार्यवैरूप्यतोस्मि-
न्नेकार्थानेकतन्त्रोदितविहततया देहभोगाविमुक्त्या ।
कार्योपादानभेदात् स्वहितविहतितः कारकस्तोम हानेः
कृत्स्नांशाद्यूहबाधात् कृतिविफलतयाप्युत्थितं प्रत्यविद्ध्यत् ॥२२

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य
वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

—(अथ द्वितीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥)—

रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

बाधाभावादकम्पे स्थिरयति निगमैर्ब्रह्महेतुत्ववादे
भूयः किं वीतरागो वदति परपरीवादमत्रेत्ययुक्तम् ।
प्रख्यातप्राच्यनैकप्रतिसमयभवन्मन्दसन्देहशान्त्यै
तुल्यत्वभ्रान्तिसिद्धा प्रकरणसमता तर्कपादे हि वार्या ॥१॥
षड्विंशालम्बिसांख्यं स्फुटतरपठितं भारते योगतुल्यं
तत्स्थत्वात् पञ्चविंशस्त्विति च निगदितस्तत्त्वतश्शान्तरात्मा ।
तस्मात् सेशाननन्त्यं श्रुतिसमधिगतं स्थापयित्वाथ सूत्रैः
पक्षं त्वीशानपेक्षं प्रतिवदति तथैतत्कूटप्रत्यवायम् ॥२॥
अव्यक्तादीन्पदार्थाननुमितिमुखतस्थापयन्तस्स्वबुद्ध्या
षट्त्रिंशत्तत्त्ववादप्रभृतिषु न कथं सङ्गमिच्छन्ति सांख्याः ।

तुल्याक्षेपोपपत्तीश्श्रुतिनियतिमुचां कल्पनास्सम्मृशन्तो
दृष्टन्नापह्नुवीरन् लघुमनुमिनुयुश्शेषमिच्छन्ति शास्त्रात् ॥३॥

कार्यं किंचित् कुविन्दप्रभृतिविरचितन्दृश्यतेऽन्यच्च सर्वं
कर्त्रायत्तं श्रुतन्तत् क्वचिदपि न पराधीनताभङ्गदृष्टिः ।
पङ्ग्वन्धर्त्तारपाथस्तृणजलदतटिद्भ्राम्ययस्कान्तपूर्वैः
दृष्टान्तैर्न त्वदिष्टं फलति तदखिलं चेतनाधिष्ठितं नः ॥ ४ ॥

नन्वत्राचेतनानां स्वसमुचितविधौ कर्त्रधीनत्वमुक्तं
शास्त्रारम्भे विधातुर्व्यनुददनुमितिं किं परस्सूत्रकारः ।
पृच्छेयं नातितुच्छा शृणु तदवहितस्सर्वकृत्तानुमातुं
नापह्नोतुं च शक्यस्तदुभयनियमादर्शनादित्यमंस्त ॥ ५ ॥

सत्त्वाद्यान् द्रव्यभेदांस्त्रिगुणमितिसमाहारतः कल्पयन्त-
स्तेषां नित्यं विभुत्वे समविषमदशाद्यत्र कीदृग्वदेयुः ।
अन्योन्याध्यासक्लृप्तिः प्रकृतिपुरुषयोर्भोगमोक्षोपपत्त्यै
च्छायापत्त्यादिनीत्या कथमियमुभयाचेतनत्वे घटेत ॥ ६ ॥

पुंसां भोगापवर्गप्रभृति फलमिदन्तच्च सर्वं प्रधाने
द्रष्टृत्वादेश्च क्लृप्तिः पुरुष इह पृथग्द्रष्टृतादिश्च बुद्धौ ।
मुक्त्यै बद्धस्य शास्त्रं मुनिरकृत ततो नित्यमुक्तोऽस्मि चेत्या-
द्यन्योन्यव्याहतोक्तिं वृषलपरिणये जैनभक्ता जपन्तु ॥ ७ ॥

—(अथ महद्दीर्घाधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

कल्प्योपादानकं परममहदधिक्षिप्य नानाविधाणू-
पादानौघस्य दृष्टात् समधिकवपुषः कल्पनेऽनिष्टमाह ।
प्राग्ब्राधिष्ठानशून्यप्रकृतिपरिणतिः प्राङ्निरस्ताथ सेश्वं
सूक्ष्माणुद्रव्यमूलद्व्यणुकमुखजगत्सृष्टिपक्षं पिनष्टि ॥ ८ ॥

प्रागेवारम्भणोक्तावपहृतविषया प्रागसद्द्रव्यक्लृप्तिः
काणादानामिदानीं क्षिपति बहुमुखं कारणप्रक्रियांशम् ।
त्रेधा हेतौ विभक्ते त्वनुमितिशरणैस्तत्तदंशैर्यथार्हं
व्याघातादीन्विकल्पक्रमविविधगतीन् व्याहरत्यत्र सूत्रैः ॥९॥

दृष्टस्याणोः प्रसूतिं द्व्यणुकमणुमपि स्थापयन्तोऽनुमित्या
दृष्टाकारानुसारान्न निरवयवतायत्र वक्तुं क्षमेरन् ।
सर्वं सह्येत सूक्ष्मे प्रमितिपरवतां जालकालोकलक्ष्ये
तद्भागान् ख्यापयेद्वा स्मृतिरफलतया त्वान्यपर्येण नेया ॥१०॥

विश्रान्तिर्न क्वचिच्चेदवयवनिवहानन्त्यतो मानसाम्यं
मापत्क्षोणीभृतोस्स्यादिति यदि तदसत्तारतम्यादनन्ते ।
वैषम्यं पक्षमासप्रभृतिषु नियतं नह्यनन्तेष्वनिष्टं
पारावर्यञ्च जात्योन किमनुकथितं व्यक्त्यनन्तत्वसाम्ये ॥११॥

नादृष्टं किञ्चिदन्यच्छ्रुतिसरणिजुषान्दैवतानुग्रहादे-
रन्यत्वे तस्य तद्वैरधिकयतनवत् क्लृप्तिरादौ व्युदस्ता ।
यत्ने यत्नानपेक्षां न किमनुमनुते स्याददृष्टेऽपि तद्वत्
भूतस्थादृष्टवादे द्व्यणुकृदणुगतादृष्टकल्पोऽत्र लूनः ॥१२॥

नित्यं सम्बन्धमेके निजगदुरपृथक्सिद्धसर्वानुवृत्तं
नित्यं नित्येष्वनित्येष्वपि कतिचिदिमन्तावदायुष्कमाहुः ।
तत्तद्द्वन्द्वस्वभावप्रतिनियतिमुचां स्यान्न तेन व्यवस्था
गुर्वी त्वन्यस्य क्लृप्तिः कथमधिकजुषां नानवस्था न दोषः ॥१३॥

निर्धूते सूत्रकारैरवयविपरमाण्वात्मके द्रव्यवर्गे
विश्वं व्याप्त्यैकलक्ष्यं परममहदसत् स्याद्यथाद्रव्यमेव ।
नैवन्दृष्टाणुतत्संहति तदुभयसम्बन्धसिद्धेरबाधा-
दागन्तुक्षोपितार्थैः श्रुतिरपि जगदारम्भणं बम्भणीति ॥१४॥

—(अथ समुदायाधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

बाह्योक्ताचारभागश्रुतिविहतिवशाज्जैमिनीये निरस्त-
स्तत्त्वांशन्तर्कितन्त्रैः प्रतिवदति गुरुर्जैमिनेरत्र पादे ।
निर्धूते तत्र पूर्वं निरुपधिकनयैरर्धवैनाशिकोक्ते
पश्चात्वैनाशिकानां जिनगिरिशमतक्षेपतः प्राक् क्षिणोति ॥१५॥

बुद्धोऽसौ स्वावतारैस्सह परिगणितः श्रीधरेण स्वशास्त्रे
सर्वज्ञो नैव मुह्येच्च निखिलसुहृद्विप्रलिप्सेत कश्चित् ।
तस्मात् बुद्धोक्तभङ्गे भजति भिदुरतां सात्त्वतादीति चेन्न
स्वाभीष्टप्रत्यनीकप्रमथनमनसा मोहनादिप्रवृत्तेः ॥१६॥

दुर्वारा मोहनेच्छा निखिलजनयितुः केन मोहोऽन्यथा न-
स्तस्मात्कर्मानुरूपन्दिशति फलमसौ तत्त्वबोधं भ्रमं वा ।
स्वोक्त्यादेस्सिद्धमेतन्निरुपधि विषमो नैव तस्मात् समोक्तिः
कारुण्याद्विप्रलिप्सा न यदि वृजिनजं नेशनिघ्नं फलं स्यात् ।१७।

कल्प्यो बोद्धेति सर्वे सुगतमतविदो बोध्यमध्यक्षमेके
बुध्याकारानुमेयं कतिचन कतिचित् बोध्यमिथ्यात्वमाहुः ।
तत्तुल्यन्यायतोऽन्ये धियमपि जगदुः संवृतेरेव सिद्धां-
तान्सर्वांस्तर्कमानैर्धुनोति दितिजगुरूनद्य वैभाषिकादीन् ॥१८॥

एकद्व्यादिस्वभावैर्यदणुभिरथवा तत्तदेकस्वभावैः
क्षोणीदेहादिपुञ्जप्रसृतिरिति समाभाषि वैभाषिकेण ।
ज्ञानादानादि तत्र क्षणभिदुरतया बोध्यबुद्ध्योर्न सिद्ध्ये-
न्निर्बाधा प्रत्यभिज्ञाप्यनुमितिमथनी शेषमन्यत्र सूक्तम् ॥१९॥

बोधेष्वाकारभेदं निजमुपरितनेष्वर्पयन् प्राक्तनोऽर्थ-
स्तद्वैचित्र्यानुमेयः क्वचिदपि न तदाध्यक्षतेति प्रजल्पन् ।
प्राक् पश्चाच्च प्रवृत्तैर्विहतिबहुलतां गौरवञ्च ब्रुवाणैः
शिक्षादक्षैस्सगूर्ध्यैर्दमित उपशमं यातु सौत्रान्तिकाख्यः ॥२०॥

—(अथोपलब्ध्यधिकरणम् ॥ ४ ॥)—

न ग्राह्यग्राहकौ स्तः क्वचिदपि विविधानादिसन्तानचित्रो
बुद्ध्यात्मा ग्रथात्मकोऽत्र स्फुरति भवदशातिक्रमे स्वात्मनैव ।
योगाचारोक्तिरित्थं विषयविषयिणोर्बोधबाधौ समानौ
मन्वानैर्वारणीया स्वपरविभजनाद्यत्र न क्वापि सिद्ध्येत् ॥२१॥

बुद्ध्यैक्यं बोध्यबोद्ध्रोर्न घटत इह ते सत्ययोरन्ययोर्वा
भिन्नत्वे ग्राह्यलब्धमत्तिमभिमनुपे नात्र चित्रैक्यमर्थ्यम् ।
चित्रन्द्रव्यं गुणं वा किमपि न च विदुः केऽपि भिन्नैकरूपं
तेनात्मख्यातिवादे स्थितिमिह भजतु स्वप्रकाशत्वमात्रे ॥२२॥

—(अथ सर्वथानुपपत्त्यधिकरणम् ॥ ५ ॥)—

सत्त्वेऽसत्त्वे द्वये च द्वितयपरिहृतावप्यनिष्टप्रसङ्गै-
स्सर्वं शून्यञ्चतुष्कोट्यतिगतमिति नामानतस्त्वेष्टवादात् ।
अक्षोभ्यन्तत् प्रहाणे परमतमसती संवृतिर्नार्थसिद्ध्यै
तस्मादित्थं निषेधो निरुपधिक इह क्वाप्यदृष्टो न कल्प्यः ॥२३॥

प्राक्पश्चात् सत्त्वहानेर्गगनकुसुमवत् स्यान्न मद्ध्येऽपि कार्य-
म्मैवन्तत्रैव दृष्टेर्न यदि कथमसौ मध्यकार्यादिशब्दः ।
कार्यारम्भे निदानं विकृतिमदुत नेत्यादिचिन्तापि वन्ध्या
सामग्र्या कार्यसिद्धेर्भजति च गुणतां १कारणस्यानवस्था ॥२४॥

साध्यं हेतुस्तदङ्गप्रभृति च यदि वस्संवृतेरेव सिध्ये-
दस्मद्वाक्यानुरोधादिह न कथमसिद्ध्यादिदोषा भवेयुः ।
तत्र प्रामाण्यबुद्धिर्न यदि पठत तन्मानमित्यस्मदुक्तिं
वस्तुस्थित्या न मानन्त्विति यदि समं त्वन्मतस्थापकेऽपि ॥२५॥

अख्यातिस्त्वन्यथाधीर्विषयरहितधीस्सानधिष्ठानबुद्धि-
र्बाह्यार्थाकारयोगस्सदसदितरधीश्शून्यधीरात्मधीश्च ।

१. कारणस्यानवस्था. पा.॥

भ्रान्तौ सर्वत्र तत्तत्परमतकथकैराहृताः पक्षभेदाः
प्रायो बुद्धिर्यथार्था श्रुतिविदभिमता क्वापि भेदाग्रहादि ॥२६॥

—(एकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

संवादात् क्वापि भागे जिनमुनिवचसश्शेषमप्यस्तु मान-
न्तस्मात्तेनोपरोध्योपनिषदिति कथोल्लुञ्छनानान्दुराशा ।
वैषम्यस्यापि दृष्टेर्न यदि सुगतवागेवमेवास्तु सत्या
तेनान्योन्यं निरोधात् पुरुषवचनयोरप्रकम्प्या श्रुतिर्नः ॥२७॥

सच्चासच्च द्वयञ्च द्वितयसमधिकन्तच्च पूर्वैस्सहेति
स्यादस्तीत्यादिवाचा परिहितगगनैर्गीयते सप्तभङ्गी ।
व्याघातस्तैर्यदीष्टस्स्वसमयविहतिर्यद्यनिष्टः परोक्ते-
स्तद्वाक्यैर्न क्षतिस्स्यान्न च निरुपधिकः क्वाप्यसत्त्वादियोगः २८

वृद्धिह्रासौ यथार्हं प्रतितनु भवितान्देहमङ्ग विमान-
न्मुक्तौ नित्योर्ध्वयानप्रभृति गुरुतया नित्यपातं क्षमादेः ।
धर्मादेर्व्यापकत्वं गगनवदथवा तादृशं पुद्गलत्व-
न्दुस्तर्कैः कल्पयन्तश्श्रुतिनयकुशलैर्दूरमुत्सारणीयाः ॥२९॥

—(अथ पशुपत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥)—

सर्वं जानाति रुद्रश्श्रुतिषु च महितस्सत्यवादी च दृष्टः
प्रख्यातन्तद्व्रतञ्च क्वचिदुपनिषदीत्यस्तु मानन्तदुक्तिः ।
मैवन्देवेन दैत्यप्रमथनरुचिना मोहशास्त्राणि कुर्वि-
त्यादिष्टो ह्येष तन्त्रं निजमकृत ततस्तन्न शिष्टोपजीव्यम् ॥३०॥

प्राजापत्ये हि वाक्ये प्रकटमुपनिषत् प्राह देहात्मवादं
चक्रे लोकायतन्तत् सुरगुरुरभजन्मोहनत्वं मुकुन्दः ।
कण्वस्थाने च लौकायतिकपरिवृढा भारतेऽपि प्रगीताः
कार्यार्थं विप्रलम्भस्तदिह पशुपतेस्तद्वदेवोपपन्नः ॥३१॥

शैवाद्याख्याविशेषैः पशुपतिसमयस्याच्चतुर्धान्यथा वा

श्रुत्यान्योन्यं च बाधस्स्फुट इह तदसौ शापदुष्टाद्युक्तः ।
अग्राह्यान् [1]भैतिकानामनुसृतनिगमास्तस्मरुस्तत्प्रविष्टान्
तत्त्वेऽप्यत्रान्यथात्वं सुगतजिनमतानन्तरोक्तिः क्रमात्ता ॥३२॥

निष्ठा सर्वेषु नारायण इति वचनाद्धेत्यहन्तव्यतोक्ते-
र्मानत्वोक्त्या च तन्त्रान्तरमपि महितं वेदवद्भारतादौ ।
नातो बौद्धादिवत्तन्निरसनमिति चेत् सत्यमंशे तु बाध-
स्स्यान्नासौ पञ्चरात्रे क्वचिदपि तदिह स्वीकृतिर्वेदतुल्या ॥३३॥

दृश्यन्ते संगृहीता जगति हि समयास्ते च राज्ञानुपाल्या-
स्तस्मान्नः पक्षपातः क्वचिदनुचित इत्यर्भकप्रायचोद्यम् ।
मुग्धैरन्ये गृहीता भवतु समयसंरक्षणोक्तिश्च धर्म्यै
निष्ठैक्योक्तिस्तदन्यग्रहविहतिपरा तद्विरुद्धोक्तिदृष्टे ॥३४॥

—(अथोत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम् ॥ ८ ॥)—

प्रामाण्यं कर्मकाण्डस्मृतिनयवशतस्सात्त्वतस्यापि सिद्धं
पादेऽस्मिन् संगतिश्च प्रतिमतदमने नास्त्यमुष्येति चेन्न ।
प्रत्यर्थित्वं विरोधभ्रममपनयता पञ्चरात्रस्य वार्यं
दुस्तर्काद्युत्थितोक्त्या तदितरसमयेष्वित्यनुस्यूतसिद्धिः ॥३५॥

दृष्टास्मिन्वेदनिन्देत्यनभिमतमृषेस्सात्त्वते वैदिकत्वं
मैवं वैशद्यमूलस्तुतिपरवचने वेदवैरस्यहानेः ।
संगृह्याम्नायसारं प्रणयति भगवांस्तद्धि भक्तानुकम्पी
श्रौतस्मार्तादियद्व्यभजदिह विभुर्वैदिकन्तान्त्रिकं च ॥३६॥

वेदानां मानतोक्तेस्तदनुसरणतस्स्वस्य तन्मूलतोक्त्या
व्यावृत्तिर्भाति बाह्यागमत इति न तत्तुल्यभावोक्तिरार्षी ।
का हानिः क्षुद्रविद्याशबलमिति यथा तादृशे वेदभागे
मोक्षस्य प्रत्ययार्थं स्वगणितपरं सात्त्वते सिद्धिभेदाः ॥३७॥

---

१. वैदिकाना. पा ॥

जीवस्योत्पत्तिमाह प्रथयति च मनो जीवतत्त्वप्रसूत-
न्तच्चाहंकारहेतुं व्यपदिशति ततः पञ्चरात्रञ्च मानम् ।
मैवं जीवादिवाचो ह्यभिदधति विभोर्व्यूहभेदानिहात-
स्तत्तत्तत्त्वाभिमानान्नियतिमधिगता तेषु तत्तत्समाख्या ॥३८॥

जीवोऽत्रानाद्यनन्तः कथित इति तदुत्पत्तिपक्षो न दृष्ट-
श्शब्दस्संकर्षणादिर्न कथमपि समन्वेति जीवादिमात्रे ।
श्रौतस्सृष्टिक्रमश्च स्वयमनुपठितस्तद्विरुद्धश्च कल्प्य-
स्तस्माच्छ्रुत्या मिथो वा न विहतिरिह तत्तन्त्रतात्पर्यदृष्टेः ॥३९॥

सांख्या वैशेषिकाश्च श्रुतिपरिपठितन्धर्ममैच्छन्न तत्त्वं
तत्त्वाचारौ तु बुद्धक्षपणकपशुपत्युक्तिषु श्रुत्यपेतौ ।
वेदोपस्कारिविष्णुस्मृतिवदवितथे पञ्चराजाख्यतन्त्रे
तत्त्वं त्र्यन्तसिद्धं चरणमपि समं गृह्यभेदादिनीत्या ॥ ४० ॥

स्मर्यन्ते पञ्चयज्ञा मुनिभिरपि नमस्कारमन्त्रेण शूद्रे
तत्राधीतं हविष्कृत्प्रभृतिपदमिहाप्यंशतोऽस्याधिकारः ।
योज्या दक्षोक्तकालक्रमगतिरभिगत्यादिभेदे तदुक्ते
ग्राह्यं पश्विष्टिसोमप्रभृतियदखिलं युक्तितस्सङ्कलय्य ॥ ४१ ॥

जातावाचार्यशब्दः क्वचिदिति न तथाचार्यदेवो भवेत्या-
द्याम्नाते तत्प्रतीतिस्स्मृतिषु नियमिताल्लक्षणात्तत्प्रवृत्तेः ।
तद्वत् स्यात् सात्वताद्यावगतिकविषये रूढिभङ्गो न दोषः
विप्रादेरत्र शास्त्रे स्थितिरपि बहुधा भारतादौ प्रसिद्धा ॥४२॥

योगास्सांख्यव्युदासात् कणचरदमनादक्षपादानुयाता
बौद्धोन्माथेन लोकायतमुषितधियो जैनभङ्गात्तदुत्थाः ।
पत्युस्तन्त्रे पशूनां प्रकटितविहतौ तादृशापष्ठनिष्ठा
ध्वस्तास्तत्तुल्यतर्कागमशरणतया साकमस्मिन् कुदृग्भिः ॥४३॥

पादेऽस्मिन् कापिलस्थैः कणभुगनुगतैर्वृद्धवैभाषिकाद्यै-
र्योगाचाराभिधानैस्सुगतमतरहश्शून्यवादप्रसक्तैः ।
अर्हत्सिद्धान्तभक्तैः पशुपतिसमयस्थायिभिश्चोपरोधं
क्षिप्त्वाथो पञ्चरात्रे श्रुतिपथमवदत् पञ्चमाम्नायदर्शी ॥ ४६ ॥

इति श्रीकवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य
वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
द्वितीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥२॥

—(अथ द्वितीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः)—

उपोद्घातः ॥

सर्वं साङ्ख्यास्तु नित्यं क्षणिकमखिलमप्यत्र वैभाषिकाद्या
नित्यानित्यं समस्तं जिनपरिपठितां सप्तभङ्गीं पठन्तः ।
नित्यानित्ये विभज्याप्यभिदधति विपर्यस्य वैशेषिकाद्या-
स्थ्युन्युस्थांस्तान् निरुन्धन् श्रुतिभिरथ वियत्प्राणपादो युनक्ति ॥

वियदधिकरणम् ॥ १ ॥

पूर्वत्राधिक्रियायां पुरुषजनिवचो नित्यतोक्त्या निरूढं
व्योमोत्पत्तौ तथैव स्थितिरिति वचसोर्व्याहतौ वक्ति कश्चित् ।
सिद्धान्ती व्योमसृष्टिर्निगमशतमिता नान्यथा सिद्धिरस्यां
वाय्व्योमामृतोक्तिर्जनिविधिविहतेत्युक्तिवैषम्यमाह ॥ २ ॥
तेजः प्राथम्यदृष्टेरमृतवचनतोऽनंशकद्रव्यभावा-
द्व्योमन्युत्पत्तिवाक्याद्युपहितविषयैवात्मनीवेति चेन्न ।
प्राथम्यस्याश्रुतत्वात् प्रथमपठनतः क्व नेऽन्येन बाधात्
किंचामर्त्योक्तितुल्यं स्वमृतपदमिहानेकवाक्यैककण्ठ्यात् ॥३॥
यौक्तस्सत्कार्यवादश्श्रुतिभिरनुमतो नावयव्यस्ति सृज्य-
स्तत्तद्द्रव्येषु नामान्तरभजनसहायस्थया सृष्टिवादः ।

इत्याशब्दाद्यवस्थास्त्विव निरवयवद्रव्यवर्गेऽपि तस्मात्
व्योमन्युत्पत्तिरुक्ता श्रुतिषु तदितरोत्पत्तितुल्या न बाध्या ॥४॥

—(अथ तेजोधिकरणम् ॥ २ ॥)—

कूटस्थाद्ब्रह्मणस्स्याज्जगदखिलमिदं पुत्रपौत्रादिनीते-
रेतस्मात् प्राण इत्याद्यपि सुगममिहेत्यादिरूढोऽत्र मोदः ।
प्राणखान्तादिपाठक्रमत इतरसंक्षोभणेऽतिप्रसङ्गा-
दीशानुस्यूतिदृष्टेः प्रथममिव परं सौति तत्तच्छरीरम् ॥५॥

—(अथात्माधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

द्रव्यं सर्वं हि नित्यं कथितमवयविद्रव्यभङ्गेन पूर्वं
नित्यत्वं सूत्रकारः पुनरपि पुरुषे किं विशिष्याभिधत्ते ।
सत्यद्यामान्तराद्यामिह नुदति दशां चेतनस्यानुपाधेः
प्रत्यक्त्वकर्तृत्वधर्मौ तदिह नियमितौ शाश्वतौ क्षेत्रिणोऽपि ॥६॥

सच्छब्दार्थातिरिक्तं ज्ञनिमदखिलमित्यैतदात्म्यादिसिद्धं
प्रोक्ता सृष्टिश्च जीवे निरवयवनयस्त्वस्थरादौ निरस्तः ।
जीवोत्पत्तिस्ततस्यादिति न सदकृताभ्यागमादिप्रसङ्गा-
न्नित्यत्वाजत्वकण्ठोक्तिभिरपि जननं त्वस्य देहादियोगः ॥७॥

देहात्मत्वे जनिस्स्यान्न तदिह घटते जातमात्रस्य रागात्
ज्ञाने किण्वादिमेघोपलशबलपटप्रक्रियाप्यत्र दुस्स्था ।
देहे गेहादितुल्या ममकृतिरनघा दोषतस्त्वैक्यमोहः
क्षिप्तं चैवानुमानं त्वलवदनुमितेश्शास्त्रतस्तर्कतश्च ॥८॥

देहं देहातिरेके तदवधिनियतप्राणबुद्ध्यन्तरूपं
धीसन्तानं च नित्यं प्रलयविलयिनं स्यात्सुमप्यापवर्गात् ।
डिण्डीराभं सदन्धायवितथयिकृतौ जीवमिच्छन्त इत्थं
निर्धूता दूरमत्र श्रुतिभिरितरवद्बाधदोषोज्झिताभिः ॥९॥

— (अथ ज्ञाधिकरणम् ॥ ४ ॥)—

कैश्चिज्ज्ञानत्वमात्रं कथितमुपधिजा ज्ञातृतैवात्मनोऽन्यै-
स्तत्राम्नायादिबाधं प्रथयति विविधं ज्ञोऽत इत्यादिसूत्रैः ।
पूर्वन्यायादमुष्मिञ् जनिलयरहिते नित्यबोधेऽत्र चोक्ते
संकोचाद्यर्हबुद्धेर्विकृतिवचनमप्यस्य सद्वारकं स्यात् ॥१०॥

ज्ञातृत्वं ज्ञानता च श्रुतिभिरभिदधे नाथ पक्षे पताम-
स्सर्वत्रात्मा न भायात् किमिति न निगमैर्देहिनोऽणुत्वसिद्धेः ।
स्वाभासैकस्वमूर्तेरविशदमहसस्सर्वदा भानमिष्टं
धीसंकोचात् सुषुप्तिप्रभृतिषु विशदोल्लेखमात्रोपरोधः ॥११॥

धर्मस्थे त्वेवकारे त्रिविधमपि भवेत्तद्व्यवच्छेदकत्वं
धर्मिण्यस्यान्वये स्यात्तदितरविषये तस्य धर्मस्य हानिः ।
ज्ञानात्येवेत्ययोद्धा न भवति जडता ज्ञानमात्रोक्तियार्थो
ज्ञानालोपादियाक्यानुगुणविषयतां यात्यसावेवकारः ॥१२॥

उत्क्रान्तिस्पन्दनाणूपमितिवचनतोऽणीयसश्शक्तिलाभे
धीभूम्ना यौगपद्यं त्ववयवनयतोऽनेकमूर्तिग्रहेऽपि ।
यत्राम्नातं विभुत्वं परविषयमिदं भाति तात्पर्यलिंगै-
र्जीवे व्यापित्ववादो मतिमहिमपरस्स्वच्छताद्याशयो वा ॥१३॥

—(अथ कर्त्रधिकरणम् ॥ ५ ।)—

ज्ञातृत्वं पुंस इत्थं भवतु तदपि नामुष्य कर्तृत्वसिद्धि-
श्श्रुत्याद्यैस्तन्निषेधाद्विकृतिविरहितश्चेत्यसदृढश्रुबाधात् ।
कर्तृत्वापह्नवोक्तेरविकृतिवचसोऽप्यान्यपर्यं हि गीतं
कर्ताशास्त्रार्थवत्त्वात्तदयमिह न न स्याद्बोद्धुर्नियोगः ॥१४॥

किञ्च स्वोक्त्यादिभङ्गो निगदितुरहमः कर्तृताया निषेधो
यद्यन्यस्याहमर्थात्तदिदमपनिषद्धेदिनरसिद्धसाद्ध्यम् ।

भोक्तृत्वस्याप्यभावे प्रसजति वितथं बन्धमोक्षादिशास्त्रं
प्राणादानादिहारात् प्रकृतिसमधिकोऽस्मीति योगाच्च कर्ता॥१५॥

व्यापारज्ञानवाञ्छाप्रशकनयतनायोगयुक्तिस्तु मन्दा
कार्ये सामग्र्यपेक्षे विधितदितरयोर्लोकसिद्धा प्रवृत्तिः।
सार्थं शास्त्रं हितोक्त्या नियतिनियमिता शास्त्रयोग्या दशा सा
ज्ञाता कर्ता च भोक्ता तदयमिह पुमान् भाति सर्वैः प्रमाणैः॥१६॥

—(अथ परायत्ताधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

कर्ता नह्यन्यतन्त्रस्स्मरति खलु तथा पाणिनिश्चान्यथा चेत्
आज्ञा कुर्यान्न कुर्यादिति तु निगलिते धावनादेशवत् स्यात्
मैवं कर्माक्तकालप्रकृतिपरवशो कर्तृनां तत्फलं च
स्वीकुर्यात्मेशमात्रे श्रुतिशतविदिते ह्येष इत्थं दुरन्तः॥१७॥

साधारण्येन हेतुस्सलिलमिव विभुस्सर्वकार्याङ्कुराणां
वैषम्यं त्वाविरिञ्चात् प्रतिनियतफलैः प्राणिनां कर्मबीजैः।
साम्यं स्वस्य स्वगीतं श्रुतमपि तदिहाथोनिनीषादिभेद
स्तादृक्कर्मानुरूपं फलमिति नियतोऽनादिरेष प्रवाहः॥१८॥

काले दुःखोपशान्तिञ्जनयति भगवान् व्याजमात्रावलम्बी
या दुःखापाचिकीर्षा परहितमनसस्सैव तस्यानुकम्पा।
दत्ते देहादियोगं दिशति च निगमं वक्ति वेदान्तसारं
निस्सीमानन्दयागं निरुपधि समयं सौति पुंसान्तयैव॥१९॥

दोषस्स्यान्निग्रहांशो यमयितुरिति चेन्नोपमर्दानहत्वात्
स्वानिष्टेश्वरे हि प्रसजति न पदानिग्रमस्य प्रतीपम्।
कारुण्यं सावकाशं क्वचिदिति कथितं साक्षिनाथश्च सुस्थं
दृष्टे चैतत्स्वाभावे फलद इति धिया युज्यते तत्प्रपत्तिः॥२०॥

प्रत्यङ्ङात्माहमर्थः प्रमितिपरवतां कर्तृतादिश्च तस्मिन्
स्वेच्छापूर्वप्रवृत्तेरयमचिदधिकस्तावदीशानतुल्यः ।
ईशस्तु स्वेच्छयैव प्रयतत इति तन्निघ्नमन्यत्समस्तं
सारथ्यादिक्रमेण प्रतिनियतगतिस्स्यात् त्रयाणां प्रवृत्तिः ॥२१॥

कर्तृत्वं स्यात् कदाचित् करणवति परप्रेरणानिर्व्यपेक्षं
नोचेत् तन्निग्रहाद्यं कथमिति यदि न स्वेष्टपक्षेऽपि साम्यात् ।
स्वेनापथ्यप्रवृत्तन्नहि पुनरपि तत् कारयेयुर्दयार्द्रा-
स्तच्चेत्तस्य स्वभादितरदपि न किं निष्फलोऽधीतभङ्गः ॥२२॥

क्षेत्रज्ञानां समानां विषमयतनता तादृशादृष्टभेदा-
त्तादृष्टं त्वन्यदिष्टं नियमनभिदया शासितुस्तत्र भाव्यः ।
साक्षित्वाद्यश्चसेतुस्समनिगममितं प्रेरकस्त्वन्न रुन्धे
भाष्यादिग्रन्थलेशोऽप्यवहितमनसामैदमर्थ्यं भजेत ॥२३॥

कर्ता देवः फलानां न तु करणभृतः प्रेरकश्चेत्ययुक्तं
सर्वश्रुत्यादिकोपान्न भवति फलं कर्मणः पापचर्या
कर्माधीनं तु चिन्त्यान्यपि हि भवभृतो भाषितं भाष्यकारै-
र्जन्तूनान्देवतानामपि करणगणाधिष्ठितं वक्ष्यतीत्थम् ॥ २४ ॥

—(अथांशाधिकरम् ॥ ७ ॥)—

जीवादत्यन्तभिन्नः पर इति बहुधा व्याहरन् सूत्रकारो
भेदाभेदश्रुतीनां घटकनिगमतश्शास्त्रयं च व्यपोढम् ।
उक्ताक्षेपे समाधावपि न समधिको हेतुरत्रास्ति सत्यं
पादांशाद्युक्तिमुख्यद्रढुकुमतिमतक्षिप्तये त्वंशचिन्ता ॥ २५ ॥

अंशत्वं रामकृष्णप्रभृतिषु घटतां विग्रहांशाधिकारा-
ज्जीवे ब्रह्मांशतोक्तिर्न हि निरवयवं ब्रह्म वक्तुर्घटेत ।

ब्रह्मादिष्वित्थमिष्टः प्रतिपुरुषमिह त्वंशता चेत्ययुक्तं
विश्वस्त्रष्टुर्बहु स्यामिति बहुभवनध्यातुरेकत्वसिद्धेः ॥ २६ ॥

व्योमैकं स्याद्घटाद्यैः पृथगुपधिमयैर्ब्रह्म बद्धांशमेव-
न्तत्रोपाधिव्यपाये भयभृदयमियाद्ब्रह्मतामित्ययुक्तम् ।
स्वानर्थारम्भदौस्थ्यात् प्रतिनियतगुणप्रत्यभिज्ञाद्यदृष्टे-
श्छिन्नाच्छिन्नांशचिन्तोदितबहुविहतेस्साम्यशब्दाच्च मुक्तौ ॥२७॥

मायोदन्वत्यपारे प्रतिफलति मृषावीचिषु ब्रह्मचन्द्र-
श्छायांशास्तस्य जीवा इति कतिचिदुशन्त्येतदुन्मत्तगीतम् ।
न ब्रह्मद्रष्टृतैषामचिदपि हि तथा स्वेन कल्प्यो न जीवः
क्लृप्तेःप्राक् स्यात्महानेस्त्रितयसमधिकः कल्पकस्त्वत्र मृग्यः॥२८

सन्मात्रं ब्रह्म सर्वानुगतमिह पुनर्नित्यसिद्धास्त्रयोंशाः
जीवेशाचित्प्रभेदादिति च कतिचनेदं च नोद्ग्रहणीयम् ।
सत्तामात्रानुवृत्तोस्तदधिकवपुषश्शासितुर्ब्रह्मतोक्ते-
र्ब्रह्मत्रैविध्यवाक्यं निरवयवतया निश्चितेऽन्याशयं स्यात् ॥२९॥

मेरोरंशः किरीटप्रभृतिरिति नयाच्चित्यभिन्नेऽशंतोक्ति-
स्साजात्याल्पत्वमूला गमयितुमुचितेत्यागमास्सम्पद्ये ।
अंशोक्तिस्स्यादमुख्या स हि निपुणधियामेकवस्त्वेकदेश-
स्तस्माज्जीवो विशिष्टे भगवति गुणवत्तत्प्रकारांश उक्तः ॥३०।

उक्तं नित्योपलब्धिप्रभृति परमते पूर्वमेव ह्यनिष्टं
भूयस्तादृक्प्रसङ्गः प्रकथित इह किं भोगसङ्कीर्णतादेः ।
मैवं पूर्वेहि बाह्यप्रसृतिमशमयत्साम्प्रतं ब्रह्मवाद-
व्याजोत्सिकान् कुदृष्टीन् परिहृतिरिति च स्याद्विपश्चन्मतेषु ॥
मिथ्याज्ञानादिचक्रे मरुति भगणवद्घूर्णमानस्य जन्तोः
प्रत्यक्तत्त्वप्रबोधाद्भयपरिहरणे सर्वतन्त्राविगीते ।

शुद्धात्मज्ञानगर्भां परमजनभिदामङ्गभेदांश्च वक्ष्य-
न्मीमांसारम्भसिध्यद्वपुषमपि पुनश्शोधयामास जीवम् ॥३२॥
फल्गुत्विर्व्योमादिकेऽपि क्रमभुवि च विभोः प्राच्यतत्त्वैर्विशिष्टा-
ज्जीवस्यौपाधिकौ तु प्रजननविलयौ चिद्घनज्ञातृतास्य ।
कर्तृत्वं पारतन्त्र्यं गुणतनुनयतो विश्वरूपांशताचे-
त्याम्नायान्योन्यबाधव्यपनयनवियत्पादसाध्यानि सप्त ॥३३॥

इति श्रीकवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य
वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
द्वितीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥३॥



—(अथ द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः)—

उपोद्घातः ॥



अक्षाद्युत्पत्त्यनूक्तौ नहि फलमधिकाशङ्कनं त्वत्र मन्द-
न्तत्संख्यादेः परीक्षाप्यनुकृतबलिभुग्दन्तचिन्तेति चेन्न
एतेष्वब्रह्मकार्यं किमपि कथयतां बाधनेनार्थवत्त्वा-
त्तत्साक्षात्संगतिस्स्यात् प्रथमचरमयोर्मध्यमानां प्रसङ्गात् ॥ १ ॥
अष्टावत्राधिकाराः प्रथममिह वियन्नीतिरुक्तेन्द्रियाणा-
न्तेजोबन्नोक्तनीतिन्द्रढयति चरमे व्यष्टिभेदस्य सृष्टौ ।
संख्यामानादिचिन्तास्वपि तदुपहितोपासनाद्यैः फलं स्यात्
प्राणादिभ्यः प्रमाता पृथगिति विशदीकर्तुमप्येष पादः ॥२॥

प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

अग्रे सत्तामृषीणां श्रुतिरभिदधती प्राणतां वक्ति तेषा-
न्नात्र ब्रह्मैव वाच्यं बहुवचनहतेस्तेन नित्यत्वसिद्धिः ।
मैवन्तत्सृष्टिवाक्याद्बहुवचनमिदं पाशनीत्यैव नेयं
प्राणत्वे परात्मन्यपि हि सुघटिते तन्निरुक्त्यादिसाम्यात् ॥३॥

—(अथ सप्तगत्यधिकरणम् ॥ २ ॥)—

सप्त प्राणाश्चरन्तीत्युदितमभिहितास्ते विशिष्यापि योगे
तस्मात् सप्तेन्द्रियाणीत्यसदधिकवचोदृष्टितोऽत्रान्यपर्यात् ।
लक्ष्मैषां सात्त्विकाहंकरणपरिणतद्रव्यता चाविशिष्टा
भेदेनोक्तिः प्रधाने मनसि फलवती कर्मबोधेन्द्रियेभ्यः ॥४॥

देहव्याप्त्येकमक्षं कतिचिदकथयन् भागतो भिन्नकृत्यं
केचित् कर्मेन्द्रियाणि श्रुतिपथविमुखास्तत्यजुः क्षुद्रतर्कैः ।
क्षेत्रज्ञस्याहुरेके सह करणगणं बुद्ध्यहङ्कारचित्तै-
रन्ये तं चित्तवर्जं निजगदुरिति तानर्थतोऽत्र व्युदास ॥५॥

—(अथ प्राणाणुत्वाधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

सर्वस्यानन्त्यवादात् परिमितिनियमानुक्तितश्चेन्द्रियाणां
व्याप्तिस्सिद्धेतिचेन्न प्रयदखिलतनूत्क्रान्तिगत्यागतिभ्यः ।
वृत्त्या दूरस्थधीस्स्याद्भजनविधिपरेऽनन्ततोक्तिस्स्वकार्यैः
कन्दस्थानां च तत्तत्तनुषु विकृतिमद्द्रव्यभावात् पृथुत्वम् ॥६॥

—(अथ वायुक्रियाधिकरणम् ॥४॥)—

प्राणः प्रागुक्तनीत्या परजनित इति स्थापितो वायुमात्र-
न्देहान्तस्तत्क्रिया वा स इति न पृथगुत्पत्तियादात् सहास्य ।
द्रव्यत्वन्द्रव्यवर्गे पठनत उचितन्नैव तत्त्वान्तरं स्या-
दोजस्त्वे वाय्ववस्थात्यजनयदिह तत्त्यागहानेः कदापि ॥७॥

—(अथ श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् ॥ ५ ॥)—

उक्तः प्राणस्त्रिलोक्या सम इति स जगद्व्यापकोऽस्त्वित्ययुक्तं
जीवात्तन्यायतस्तत्सहपठिततदुत्क्रान्तिगत्याद्यबाधात् ।
स्तुत्यर्था सर्वसाम्यश्रुतिरिह करणतंत्रभृत्यादिहेतो
देहेऽनल्पोपकारस्स्फुरति च दशधा वृत्तिभेदैर्विभक्तः ॥८॥

—(अथ ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

भोक्तृणान्दैवतानामपि तनुकरणाधिष्ठितिर्नेशतन्त्रा
तत्स्वातन्त्र्यप्रदानादिति न तनुभृतस्तच्छरीरं हि सर्वं ।
नित्ये तत्पारतन्त्र्ये क्वचिदपि न भवेद्राजसामन्तनीतिः
प्राणन्यायात् प्रभुत्वन्तदिह परवशं चेतनानां स्वशक्त्ये ॥६॥

—(अथेन्द्रियाधिकरणम् ॥ ७ ॥)—

प्राणोऽपि स्यादृषीकं भृशमुपकरणात्तेषु मुख्यत्ववादा-
दुत्क्रान्त्यादौ च साह्यादिति यदि न [1]पृथक्छब्दतस्तस्य भेदात् ।
कण्ठोक्तादिन्द्रियत्वान्मनसि तु घटते गोबलीवर्दनीति-
र्न प्राणे सात्त्विकाहंकरणविकृतिता शब्दशाम्यादि मन्दम् ॥१०॥

—(अथ संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ॥ ८ ॥)—

मन्त्राद्यैस्स्मर्यतेऽसौ सरसिजवसतिर्व्यष्टिनामादिकर्ता
जीवेनानुप्रविश्येत्यपि कथितमतः प्रेष्यकृत्यक्रमोऽत्र ।
तन्नैकोऽद्धि प्रवेष्टा त्रिवृतमकृत च व्याकरोदित्यधीत-
स्तत्तज्जीवान्तरात्मा सृजति स भगवांस्तद्दशं कार्यजातम् ॥११॥

या जीवेनात्मनेति श्रुतिरियमपि न ब्रह्मजीवैक्यमाह
प्रागेवैकोऽन्तरात्मा वपुरितरदिति स्थायिभेदाभिधानात् ।
तेनेशस्तद्विशिष्टस्स्वकरणकतयानुप्रवेशेऽपि कर्ता
जीवे तत्कर्तृतायामिह न हि घटते त्वाश्रुतिः कर्तृभेदात् ॥१२॥

अग्न्यादावण्डमध्यस्थितिमति कथितं रूपभेदैस्त्रिवृत्त्वं
तेजोबन्नाशितांक्तावपि विशदमिदन्तेन वेधास्त्रिवृत्कृत् ।
मैवं ब्रह्माण्डसृष्टिर्भवतु कथमसावत्रिवृत्कारपूर्वा
भुक्तेऽन्नादौ त्रिधोक्ता परिणतिरितरत् सन्निकृष्टः प्रदिष्टः ॥१३॥

---

१. पृथक्छब्दनैस्तस्य, पा ॥

निगमनम् ॥

अक्षाणां जन्मसंख्यापरिमितय इह प्राणवाय्वोस्स्वरूप-
न्तत्सौक्ष्म्यन्देवतादेस्तदुभयविषयाधिष्ठितौ पारतन्त्र्यम् ।
प्राणस्यानिन्द्रियत्वं बहुविधचिदचिद्व्यष्टिनामादिबाधा-
त्पश्चीकर्तुः स्वनाभिप्रभवकवचितादूचिरे प्राणपादे ॥१४॥

नित्यत्वं व्योम्नि वाताद्यणुषु च पुरुषेऽप्यव्रतादीनपार्थान्
श्रोत्रादौ भूततावं मनसि च विभुतां नित्यतत्त्वान्तरत्वम् ।
प्राणेऽप्यात्मादिभावं स्वपदनियमनस्वैरितां स्वर्गिवृन्दे
वेधस्युन्मुक्तयन्त्रक्रममपि वदतां पादयुग्मेऽत्र भङ्गः ॥१५॥

तर्कैरापातसत्यैरचिदितकथने व्याहतिः स्थापिता स्यात्
सम्यग्भिर्वस्तु¹गत्या तदिति यदि तदा स्वाभिमानोपरोधः ।
तेनाद्यायो विरोधप्रशमनकृदसौ यौद्धयन्धोविरुद्ध-
स्सौत्री तर्कप्रतिष्ठा श्रुतिपथविमुखस्वैरवादेषु योज्या ॥१६॥

इति श्रीकवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कट-
नाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

॥ समाप्तश्चाध्यायः ॥ २ ॥

—:*:—

१. वृत्त्या. पा ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः

अधिकरणसारावली

—(अथ तृतीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः)—

उपोद्घातः ॥

साध्या मुक्तिर्न चेत्स्यात्प्रसजति विफला साधनाद्ध्यायक्लृप्ति-
स्साध्या चेन्नश्वरी स्यात् कथमिह पुनरावृत्तिशून्योऽपवर्गः ।
मैवं ब्रह्मानुभूतिः परभजनवता प्रागसिद्धैव साध्या
धीसंकोचप्रणाशस्त्वियमिति च भवत्युत्तराध्यायनीता ॥ १

पादाभ्यामत्र पूर्वं जनयति भविनां ब्रह्मविद्याधिकारं
पश्चात्तेषामुभाभ्यां वदति बहुविधान्तामशेषैस्सहाङ्गैः ।
ऐश्वर्यादौ विरक्तिं निरवधिविभवे पूरुषे चाभिलाषं
विद्याभेदावलम्बन्तदुपकरणमप्याह पादैः क्रमेण ॥ २ ॥

संसारोद्विग्नचेतास्तनुभृदधिकरोत्यत्र शारीरकांशे
वैराग्यार्थस्तु पादः किमिति पुनरसौ सूत्रकारैर्निबद्धः ।
सत्यं प्राप्यान्तराणां निरयगणतुलारोपणम्मुक्त्युपाय-
प्रारम्भेऽभ्यर्हितं स्यात्स्वरस इह खलु स्पष्टदृष्टस्वबोधः ॥ ३ ॥

तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

देहाद्यं भोग्यनीत्या दिवि भुवि च गतौ तत्रतत्रैव लभ्यं
प्राणाद्यैर्भूतसूक्ष्मैरपि किमिह मुधा पूर्वदेहादुगृहीतैः ।
जीवस्याणोर्गतिं च स्वयमुपजनयेदीश्वरः प्राणनीत्या
मैवं स्वच्छन्दकृत्ये श्रुतिमितनियतौ गौरवोक्तेरयुक्तेः ॥ ४ ॥

नानाजातीयराशिं व्यपदिशति जनो भूयसांशस्य नाम्ना
प्राचुर्यादेवमापः पुरुषवचस इत्युच्यते भूतवर्गः ।

व्यष्टिं पञ्चीकृतैस्तैस्सृजति हि स विभुस्तारमम्यं पुनश्च
श्रद्धाशब्दस्त्विहापः कथयति निगमे तत्समाख्यावदुक्तेः ॥ ५ ॥

द्यौः पर्जन्योऽथ पृथ्वी तदनु च पुरुषो योषिदित्येवमेतान्
पञ्चाग्नीन् कल्पयित्वा परिकरसहितांस्तेषु पञ्चाग्निविद्या ।
श्रद्धाख्यं भूतसूक्ष्मं क्रमपरिणतितस्सोमवर्षान्नरेतो-
रूपं द्रव्यं सजीवन्तनुधरमरुतो जुह्वतीति ब्रवीति ॥ ६ ॥

—(अथ कृतात्ययाधिकरम् ॥७॥)—

इष्टापूर्तादिरूपन्तनुभृदिह शुभं कर्म यत्किंच कुर्यात्
भुक्त्वा कृत्स्नन्तदन्ते पुनरवनिमियादित्यसद्दृष्टबाधात् ।
कार्त्स्न्येनैत्यश्रुतत्वात् सुकृतफलतया धतिभेदाद्यधीते-
स्तस्मात् प्रारब्धशेषैस्तदितरसहितैरापतत् स्वर्गपान्थः ॥ ७ ॥

धूमं रात्रिं च पक्षं तिमिरकलुषितन्दक्षिणावृत्तिमासान्
पश्चाल्लोकं पितॄणां गगनमपि मृतश्चन्द्रमभ्येति कर्मी ।
प्रत्यावृत्तौ तु चन्द्राद्गगनसततगौ धूममभ्रं च मेघं
व्रीह्यादीन्याति रेतस्सिचमथ जननीं यात नाचक्रवर्ती ॥८॥

आचारांशस्य साद्ध्यं चरणवचनतो जातिभोगादिकं स्यात्
कर्माचारौ विभक्तौ श्रुतित इति न सद्गत्यभावात्तथोक्तेः ।
मुख्यं वृत्त्या हि कर्मण्यपि चरणवचो नैकदेशे निरोद्धयं
जात्यादिः कर्मभेदप्रभव इति मिते चिन्त्याचारसाद्ध्यम् ॥९॥

प्रासाचारातिवृत्तौ प्रतिपदमृषयस्तस्मरुः प्रत्यवायान्
प्राचीनांहःप्रणाशन्तदनुसरणतः पुण्यकर्मार्हतां च ।
नानस्सत्कर्ममात्रात् त्रिदिव इति धिया तत्परित्यागशङ्का
नष्टाचारप्रदीपे स्वहतिजलसमश्शोधको वेदवर्गः ॥ १० ॥

—(अथानिष्टादिकार्यधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

सर्वेषान्देहपाते सति नियमवती चन्द्रमःप्राप्तिरुक्ता
तस्मात् पापोत्तराणां निरयगतिपुरस्कारिणी सेति चेन्न ।
लोकस्संपूर्यते तैर्न पर इति गिरा संकुचेत् सर्वशब्द-
स्ते तत्तद्यातनान्ते तत इह सहसा कुत्सितां यान्ति योनिम् ॥११

जन्मप्राप्तिर्जरायुप्रभृतिषु भविनां कर्मपाकैर्विचित्रा
भूयिष्ठैः पुण्यपापैस्त्वपवदनवती पञ्चमाहुत्यपेक्षा
तद्वद्धूमादिमार्गाः कति कति च शुभैरुत्कटैर्देहपाते
दिव्यं रूपं विमानादिकमपि सपदि प्राप्य याताः प्रसिद्धाः॥१२॥

—(अथ तत्स्वाभाव्यापत्त्यधिकरणम् ॥ ४ ॥)—

आहुत्योर्देहवत्त्वं प्रथमचरमयोर्निर्विवादं तथा स्या-
ज्जन्मैवाकाशवायुप्रभृतिषु भवतेरन्वयादित्यसारम् ।
रेतस्सिग्भावनीत्या पृथगभिलपनानर्हतामात्रमत्र
शुभ्योः पुण्यप्रसाद्धयं फलमिह पठितं नास्ति भोगश्च मध्ये ॥१३

—(अथ नातिचिराधिकरणम् ॥ ५ ॥)—

व्योमादिस्थित्यवस्था चिरमचिरमिति व्यक्तनिर्देशहाने-
श्शुक्लावस्थानयात्स्यादनियतिरिति न स्वारसिक्याः प्रवृत्तेः ।
व्रीह्यादिभ्यो हि दुर्निष्प्रपततरमिति तु श्रूयते तेन पूर्वं
शीघ्रं तत्तद्दशायास्त्यजनमिति परिज्ञायते वाक्यशक्त्या ॥१४॥

—(अथान्याधिष्ठिताधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

जन्म व्रीह्यादिनाम्ना श्रुतमिह तदिदं देवमर्त्यत्ववत्स्या-
न्नैरात्म्यं स्थावराणाञ्च निगमविदस्स्थापयन्तीति चेन्न ।
पुण्य स्यैव प्रवृत्ते फलपरिगणने स्थावरत्वोक्त्ययोगा
द्रेतस्सिग्वर्ष्मणीव ह्युपचरति जनिं स्थावरेऽप्यन्यदेहे ॥ १५ ॥

हिंसायोगादशुद्धं श्रुतिविहितमपि न्याय्यमिष्टादिकन्तत्
पापांशं व्रीहिभावप्रभृतिषु सुकृती भुंक्त इत्यप्ययुक्तम् ।
उक्ता मन्त्रार्थवादैः पशुहितमिति सा तच्चिकित्सावदेषा
ब्रूते यद्वं यथोऽसावचध इति मनुस्तौति निन्दा विहान्यत् ॥

कर्तुर्दोषन्दिशेत्संज्ञपनमिह पशोस्तत्क्रतोश्चोपकुर्यान्
तस्मादस्मिन्निषेधं क्षिपति न विधिरित्यब्रुवन् सांख्यभक्ताः ।
निर्धूते पश्वनर्थे न खलु तदुचितं पिष्टपश्वादिकल्प-
स्तत्तत्कालाधिकारिप्रतिनियत इति क्वापि न स्याद्विरोधः ॥१७॥

किञ्चोत्सर्गापवादक्रमसिह जहतः कीदृशी नित्यहिंसा
शुद्धं न क्वापि सिद्धयेत्तव हि विधिपदं स्पष्टतत्तन्निषेधम् ।
यत्रासत्यादि वैधं तदनु च विहिता विष्कृतिस्तन्निमित्ता
तत्रागत्या तथा स्यादितरवदथवा केवलन्तन्निमित्तम् ॥ १८ ॥

अश्लिष्टं विग्रहाद्यैर्नभ इव मुसलैः क्षेत्रिणं [1]केचिदूचुः
कर्माकर्तारमेवं फलमपि विविधोपाधिभेदैकनिष्ठम् ।
अव्यक्तस्यापवर्गं भवभुजमपि चानादिमुक्तस्वभावं
तेषामित्थं मनीषां बहिरकृत नयैरेष वैराग्यपादः ॥ १९ ॥

पादे त्वर्थाप्यस्मिन्वपुरिह विजहद्भूतसूक्ष्मैस्सहैयात्
भुक्तस्वर्गोऽवरोहेदनुशयसहितो मात्रया भिन्नमार्गः ।
चन्द्रप्राप्त्यादि न स्यान्निरयपथजुषामन्तरादौ सदृक्त्वं
तस्माच्छीघ्रोऽवरोहः परवपुषि परं व्रीहिपूर्वेऽपि योगः ॥२०॥

इति श्रीकवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य
वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
तृतीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥३॥

---

१. केचिदाहुः. पा ॥

—(अथ तृतीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः)—

उपोद्घातः ॥

—*—

ब्रह्मैव स्वैस्स्वभावैर्बहुमुखमवदत् प्राक्तनाध्याययुग्मे
तस्येहाकृष्य चिन्ता किमिति पुनरसौ साधनाध्यायमध्ये ।
मैवं विद्याः प्रभेत्तुं विशदयति परं तद्धि तद्रूपभेदा-
त्सिद्धोपायादिभावं प्रथयति च विभोः प्राप्यतृष्णाप्रथिम्ने ॥१॥

नैर्गुण्यं ब्रह्मणश्चेद्वितथ इह गुणैर्ब्रह्मविद्याविभागः
सोऽस्त्वेतैः कल्पितैश्चेच्छ्रुतिमतविहतिर्नात्र दृष्टिक्रमोऽपि ।
निर्दोषत्वं च नित्यं यदि वदसि मुधा दोषशान्त्यर्थयत्नः
कल्प्यं चेद्दुष्टता स्यात् प्रकृतिरिति परक्षिप्तये चैष पादः ॥ २ ॥

किंचादौ चिन्त्यभावः प्रमितिविषयता स्वप्रभत्वं सुखत्वं
विश्वाधिष्ठानता च स्वबहुभवनधीर्निर्विशेषे कथं स्यात् ।
सर्वश्रुत्यर्थहानिः स्ववचनविहतिस्सर्वमानैश्च बाधो
मायावैयात्यभाजामिति सगुणदशोपास्तिवादश्च दुस्स्थः ॥ ३ ॥

त्यक्तं दोषैर्गुणाढ्यं यदि पुनरिह तद्ब्रह्म चिन्त्येत पादे
जीवस्वप्नाद्यवस्थामननमथकथं जाघटीतीति चेन्न ।
स्वाप्नार्थस्रष्टृभावप्रभृतिबहुविधब्रह्ममाहात्म्यसिद्ध्यै
जन्तोरस्य स्वमुक्तावतिपरवशताज्ञप्तये चैतदत्र ॥ ४ ॥

पादस्यास्याद्यमर्धं कतिचिदधिजगुः पूर्वपादस्य शेषं
पश्चादर्धन्तु साक्षादनुघटितमुपास्त्यर्थतत्तद्गुणोक्तेः ।
एतज्जातीय ह्यं शबलितकथने चातुरीवैपरीत्या-
द्ब्रह्मोक्तौ जीवदोषप्रह इह तु मुखं तत्प्रतिद्वन्द्वसिद्धेः ॥ ५ ॥

स्वप्नेऽर्थास्सन्तु सृष्टास्तदपि बहुविधा दुस्त्यजा भ्रान्तिरत्र
प्रध्वस्तानामदार्नीतनवदनुभवात्स्थायितादिभ्रमाच्च ।
सत्यं श्रुत्यादिसिद्धे श्रुतपरिहरणायोगतस्सृष्टिमात्रं
स्वीकृत्यांशे तु बाधाक्रममपि हि यथाजागरं न त्यजामः ॥६॥

कश्चिद्योगप्रभावान्निजपरभवनस्वैरसंचारनीत्या
निष्क्रान्तः पूर्वदेहाद्विशति परवपुः पूर्वमाप्नोति भूयः ।
इत्थं स्वप्नेऽप्युदन्तस्थितिरिति कतिचिच्छ्वासवृत्त्यान्यथाऽन्ये
त्रिस्रोयद्वीप्रसूत्येतरतनुभजने सौभरिन्यायसिद्धेः ॥ ७ ॥

—(सन्ध्याधिकरणम् ॥ १ ॥)—

उक्तं परया प्रजानां भवेति दहरवत् सत्यसङ्कल्पताद्यं
पुत्रादेश्चैव कर्ता प्रकृत इह सृजेत् स्वाप्नमर्थं च नैवम् ।
मुक्तौ ताद्दग्गुणोक्तेरनभिमतसमुत्पादनादेरयोगात्
स्वप्नानां सूचकत्वादपि निखिलजगत्कर्तुरेवापि सृष्टिः ॥ ८ ॥

कामकामं विधातेत्यपि गमुलुचितोऽनूद्यते चेश इत्थं
सोऽयं सुप्तेषु जागर्त्यपि विशदमिदं संपरिष्वङ्गवाक्यात् ।
तत्तत्कालावसानाः कतिकति नियता जागरेऽप्यर्थभेदा-
स्तत्तत्कर्मानुरूपं फलवितरणमित्येतदप्युक्तमाप्तैः ॥ ९ ॥

मायामात्रोक्तिलाभाच्छ्रुतिमुखसुगता विश्वमिथ्यात्वमाहु-
श्शास्त्रारम्भे तदेभिः कथितमिह ततोऽसङ्गतत्वादिदुस्स्थम् ।
मायाशब्दो न मिथ्यावचन उपचरत्यत्र तत् किन्ततस्स्यात्
सत्येऽस्त्रादौ प्रयोगादुचितनियमने सोऽयमाश्चर्यतार्थः ॥ १० ॥

—(अथ तदभावाधिकरणम् ॥ २ ॥)—

स्थानं जन्तोस्सुषुप्तौ श्रुतिरनियमतो वक्ति नाड्यः पुरीत-
द्वादि ब्रह्मेति तस्मादिह भवतु मिथो नैरपेक्ष्याद्विकल्पः ।
तत्र प्रासादखट्वाशयनवदुपकृत्यन्तरैर्योजितानां

पक्षेपक्षे विकल्पः क्रमघटितचतुर्दोषयुक्तो न युक्तः ॥ ११ ॥

—(अथ कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

मुक्तिब्रह्मण्यपीतिर्जहदसुखगणा तादृशीयं सुषुप्ति-
श्शुस्यैव स्थाप्यतेऽतस्तदनु तनुभृदुद्बुध्यमानस्ततोऽन्यः ।
मैवं कर्मानुवृत्तेस्स्मरणनियमतः पूर्व एवेति शब्दा-
न्मोक्षोपायादिशिष्टेस्स्वपदनुवदनात् प्राच्य एव प्रबुद्धः ॥ १२ ॥

जीवानादित्वमूचे दृषदनुकरणं क्षेप्स्यते चापवर्गं
स्वर्गाद्यर्थप्रवृत्तिः श्रुतिनयविदिता सौगताद्याश्च भग्नाः ।
कल्पान्तेऽप्येकतोक्तिर्नियमितविषया नामरूपप्रहाणात्
भूयश्चिन्ता सुषुप्ते प्रलयसमदशासंजिहासादिसिद्ध्यै ॥ १३ ॥

—(अथ मुग्धाधिकरणम् ॥ ४ ॥)—

जाग्रत्स्वप्नौ न बाह्याग्रगमविरहितौ श्वासपूर्णा सुषुप्ति-
स्तस्मान्मुग्धिर्मृतिस्स्यात् प्रशमितकरणप्राणवर्गेति चेन्न ।
मृत्यादेर्हेतुभेदात् स्थितिमृतिविशयादुत्थितेश्चानियत्या
मर्तुं प्रक्रम्य मध्ये विरमति विधिनेत्यत्र तुर्यार्धभावः ॥ १४ ॥

पेटिकोपोद्घातः ॥

जन्तूनां जागरादिस्थितिषु भवति यद्वैशसं दर्शितं तत्
तत्तत्स्थानादियोगेऽप्यनघशुभगुणं ब्रह्म संशोध्यतेऽद्य ।
संसर्गैश्चर्यादिमूलान् परिहरति ततो दोषवर्गानुभाभ्यां
हीनत्वौदार्यहानी परमपनयते नीतियुग्मेन नेतुः ॥ १५ ॥

नैर्गुण्यं निर्गुणोक्तेर्गुणवचनमिहाऽऽपेक्षधर्मार्थवादो
नैर्दोष्यं वस्तुवृत्त्या तदितरदखिलं स्वाप्नभोगादितुल्यम् ।
इत्थं जीवेशभूमापहरणकुहनावादमोमुह्यमानान्
क्षेप्तुं न स्थानतोऽपीत्यधिकरणमथारभ्यतेऽनेकभङ्गम् ॥ १६ ॥

—(अथोभयलिङ्गाधिकरणम् ॥ ५ ॥)—

हेयं वस्तु स्वतो यत् स्थितिरिह हि भवेद्दुःखकृत् स्वेच्छयापि
त्याज्यत्वं नान्यथा स्यादिति न निरुपधेर्हेयभावस्य हानेः ।
नित्यस्वातन्त्र्यभाजो भविन इव दशाभेदतो नाप्यवद्यं
श्रुत्यैवैकत्र देहे परतदितरयोश्शुद्ध्यशुद्धी ह्यधीते ॥ १७ ॥

ब्रह्मत्वन्नादिदेहेष्वणुरिव विभुरप्यात्मभावेन तिष्ठ-
स्तत्तच्छब्दाभिलप्यस्तदिह स न कथं तत्तदादेशवश्यः ।
मैवं न ह्याप्यतेऽसावविदितविरहाच्छासितृत्वान्न शास्यः
किंचिज्ज्ञो ह्यन्यतन्त्रो जगति हितविदा बोध्यते प्रेर्यते च ॥१८

उत्सर्गेणापवादं न खलु नयविदः क्षोभणीयं क्षमन्ते
तस्मादृब्राह्मे गुणादौ विधिविषयमतिक्रम्य तिष्ठेन्निषेधः ।
एवं शान्ते विरोधे नहि समविषयापच्छि दान्यायसिद्धि-
र्दृष्टो नित्यं निषेधः पर इह च ततस्स्यादुपक्रान्तिनीतिः ॥१९॥

सत्त्वं कार्यस्य गोपायति कथमसतस्सद्भवेदित्यधीति-
र्द्रव्यान्यत्वं हि कार्ये व्यपनयति परम्मृत्तिकेत्येवशब्दः ।
अन्तर्भावाद्विशिष्टे भगवति जगतां नेह नानेति युक्तं
निर्दिष्टेयत्त्वशङ्कां प्रशमयति परे नेतिनेतीतिचोक्तिः ॥ २० ॥

तत्तद्वस्तुप्रदेशे सकलगुणतया पूर्णदृश्यः परात्मा
वृद्धिह्रासादिभेदोज्झित इति हि जलाधारसूर्योपमोक्तिः ।
अस्पर्शोदाहृतिश्चेन्नहि घटकरकाकाशदृष्टान्तयुक्ति-
स्तस्माद्ब्रह्म द्विलिङ्गं द्विविधविभवमित्येव वेदान्तपक्षः ॥२१॥

—(अथाहिकुण्डलाधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

विश्वस्रष्टुस्स्वदुःखप्रजननमिह न स्वांशतोऽचित्स्वक्लृप्तौ
मृत्तत्कार्यादिकं च स्वरसमिह यदृदाहृतं सप्रतिज्ञम् ।
तस्माद्व्याकृतादिर्विहरणनियता विक्रियैवेति चेन्न

स्वांशे मौढ्यं वितन्वन्विहरति भगवानित्यनर्थानरोहात् ॥२२॥

कश्चिन्नित्याचिदंशो विविधविकृतिमान्ब्रह्मणीत्याहुरेके
फेनादिन्यायतोऽन्ये सति विकृतिवशाज्ज्ञाज्ञसर्वज्ञभागान् ।
चन्द्रज्योत्स्नादिनीत्या कतिचिदिह जगद्ब्रह्मणोरैकजात्यं
सर्वे ते सर्ववेदस्वरसगतिहतेरत्र विश्वासनीयाः ॥ २३ ॥

—(अथ पराधिकरणम् ॥ ७ ॥)—

सेतुं तीर्त्वेत्यभीतेर्मितमिति वचनात् प्राप्यसंबन्धितोक्ते-
रन्याधिक्यश्रुतेरप्यतिवहननयात् कारणं प्रापकं स्यात् ।
प्राप्यं त्वन्यद्भवेदित्यसदनवधिके कारणे प्राप्यतोक्ते-
स्सेतुत्वाद्युक्तिरस्मिन् बहुभिरविहतां वृत्तिमङ्गीकरोतु ॥२४॥

सेतुत्वं सेतुतुल्याद्विधरणनियमाद्बन्धनाद्वात्र युक्तं
व्याप्तेऽप्यस्मिन्नुपाधेः परिमितिवचनं सार्थकं सूत्रितं प्राक् ।
चातुष्पद्यं च तत्तच्छ्रुतिभिरनुगुणं कल्प्यतेऽनन्तभूम्न-
स्त्वस्येत्येवामृतस्येत्यभिहितमथवा मुक्तिरेवामृतं स्यात् ॥२५॥

अन्यस्याधिक्यवादे परमवधितया कारणं यत्र दृष्टं
तत्र ह्यव्याकृतादिस्तदवधिरितरापेक्षयाऽसौ परश्च ।
यस्मादन्यत्परं नेत्यभिहितविषये तत्परोक्तेरयुक्ते-
रेवंत्यादित्यनूक्तिस्तत इति यदि वा व्याप्यमुक्तं तदस्तु ॥ २६॥

—(अथ फलाधिकरणम् ॥ ८ ॥)—

आराध्यः कर्मकाण्डस्थितनयनिवहस्थापितानां क्रियाणा-
मध्यक्षो देवतानामनुपधिमहिमा मध्यकाण्डोदितानाम् ।
अत्राप्येतावतोक्तो भवभयचकितप्राप्युपास्त्यैकलक्ष्य-
स्तत्तच्छास्त्रार्थयोग्यं विशति फलमिति स्थाप्यतेऽथात्युदारः ॥

कृष्याद्वेर्मर्दनादेरपि भवति फलं द्वारतो वाऽन्यथावा
धर्माणां साधनत्वं श्रुतिभिरवगतं दोषबाधोज्झिताभिः ।

तस्मादीशप्रसादात् फलमिति तु वचस्तत्प्रशंसेति चेन्न
श्रौताराध्यप्रसादत्यजनकदनतोऽपूर्वक्लृप्तेरयोगात् ॥२८॥

यद्यप्याराध्यमूलं फलमिति फलितं देवताधिक्रियायां
कर्मापेक्षा तथोक्ता फलजननपरप्रेरणादौ तथापि ।
साक्षित्वानादरत्वप्रभृतिपरगुणं प्रेक्ष्य तत्प्रीणनादौ
शङ्कातङ्कैर्निरुद्धांस्त्वरयितुमधुना तादृशोदारतोक्तिः ॥२६॥

सम्राजस्सानुकम्पात् पितुरुचितविदस्साम्यभाजो वदान्यात्
स्थाने विन्दन्ति पुत्रा नियतरुचिभिदायन्त्रितास्तन्तमर्थम् ।
तत्र प्राप्यं स्वतो यद्विकृतिरिह यतस्तत्प्रशान्तिश्च यस्मा-
देयं यद्वा विशेषाद्गमनमपि यथालोकमत्रापि तत् स्यात् ॥३०॥

शुद्धानन्दे तदित्थं शुभगुणजलधौ सत्यनित्यस्वदेहे
देवीभूषायुधाद्यैरतिशयिनि कनद्भोगलीलाविभूतौ ।
शेषित्वाधारभावप्रभृतिबहुविधस्वास्तुसंबन्धदीप्ते
दृष्टिस्स्वर्गापवर्गप्रसवितरि हरौ निर्निमेषा श्रुतिर्नः ॥३१॥

पादे स्वप्नार्थहेतुस्तदयमिह सुषुप्त्याधृतिस्सुप्तगोप्ता
मुग्धोद्बोधादिकर्ता स्वनघशुभगुणोऽचिद्भिरंशी स्वदेहैः ।
पारम्पर्यस्यैकसीमा सकलफलद इत्युच्यते भक्तिमूर्ध्ने
सत्ये त्वेवं गुणाद्यावथ परभजने रूपभेदादि चिन्त्यम् ॥३२॥

इति श्रीकवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य
वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
तृतीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥२॥

—(अथ तृतीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥)—

उपोद्घातः ॥

तत्त्वज्ञानानुविद्धं हिततममनघं मोचयमाणस्य वक्तुं

तत्त्वे निर्धूय तर्कज्वरजनितमदासन्निपातप्रलापान् ।
निष्पन्ने तत्त्वबोधे न किमपि विदुषा साध्यमित्युद्गृणद्भ्यो
यावज्जीवानुवर्त्यं मुररिपुभजनं मुक्तिलाभाय वक्ति ॥१॥

भीमाभ्यो यातनाभ्यः पितृपथगमनावर्तनादेश्च बिभ्य-
त्तृष्णां कृष्णामृताब्धौ परिणयति परां यावता तावदुक्तम् ।
इत्थं लब्धाधिकारः परमधिकुरुते साधने यत्र साङ्गे
पादद्वन्द्वे परस्मिंस्तदिह बहुभिदावर्यरं निर्ब्रवीति ॥ २ ॥

एकस्मिन्नेव पादे निपुणनयकृता न द्वयोस्तर्कणं स्यात्
भेदाभेदश्च नैको विषय इह भवेदन्यहानप्रसङ्गात् ।
तस्मादस्मिन्प्रकीर्णा नयविततिरिति प्रेक्षितग्रन्थबोधे
वेद्यावच्छिन्नविद्यानियमकृदयमित्यैदमर्थ्यं समर्थ्यम् ॥३॥

आख्यावन्तं गुणानां निजगदुरुपसंहारतः पादमेतं
विद्यैक्यार्थं तदस्मिन्नपवदनतया भेदचिन्ता प्रसक्ता ।
इत्थं शुश्रूषुशङ्कामिह शिथिलयितुं भाषितं भाष्यकारै-
स्तद्भेदाभेदमीमांसनमिति विषयस्तत्र चोक्तोऽनुवृत्तः ॥४॥

निस्सीमानन्दनाडिन्धमनिरुपधिकानन्तसंपद्गुणौघे
विद्याभेदैर्विभज्य प्रणिधिरिह यदि प्राप्तिरप्यंशतस्स्यात् ।
मैवं तैरेव धर्मैस्तदितरसहितैः पूर्णकामस्य पूर्णं
प्राप्यं ब्रह्मैव नान्यत् किमपि फलमतस्तत्क्रतुन्यायसिद्धिः ॥५॥

सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरम् ॥ १ ॥

भेदश्शब्दान्तराद्यैर्विधिषु नियमितः कर्मकाण्डे द्वितीये
संयोगाद्यैक्यतोऽन्यस्समुदयनियतात् सैव विद्यासु नीतिः ।
आद्यौ तेनैव शाखान्तरनयमुदितं चोदनादेरभेदा-
च्छुत्यैवाक्षिप्य भूयः प्रतिसमधिगतं भेदकान्यार्थतोक्त्या ॥६॥

शाखासु प्रक्रियान्या श्रवणमपि पुनर्द्दृष्टमत्राविशेषं
विद्याभेदस्ततस्स्यादिति न तदुभयं युक्तमध्येतृभेदात् ।
तेषामेवेति वाक्यात् क्वचिदुपजनिता भेदशङ्का त्वयुक्ता
स्वाध्याये ब्रह्मविद्याख्यमिद हि भवेत्तद्व्रतेनान्वयोक्तेः ॥ ७ ॥

रूपैक्यादैक्यसिद्धौ किमितरदुपसंहार्यमन्यो गुणश्चेद्-
भेदो न स्याद्विकल्प्यं तदिह किमफलातेन चिन्तेति चेन्न ।
वेद्याकारैक्यमैक्यं दिशति तदधिकं किंचिदाकृष्यतेऽङ्गं
कर्मण्यप्येवमेव ह्युपहृतिविषयो भेदकांशातिरिक्तः ॥ ८ ॥

—(अन्यथात्वाधिकरणम् ॥ २ ॥)—

प्राग्वच्छुत्यविभेदेऽप्युपशमितभिदा तादृगुद्गीथविद्या
स्यादेका चोदनाद्यैस्तदनुभयथा रूपभेदोपलब्धेः ।
गाता गेयं च गेये सकलमसकलं चेति वैषम्यसिद्धौ
शेषाभेदोऽप्यभेदं न गमयति भिदा त्वेकभेदेऽपि सिद्धयेत् ॥९॥

छन्दोगोद्गीथशब्दस्तदवयवपरः प्रक्रमादिप्रसिद्धेः
कृत्स्नोद्गीथाभिधायी प्रकरणनियमाभावतो वाजिनां स्यात् ।
उद्गीथोक्तिश्च नैषामुपचरणवती गातरि प्रक्रमस्था
तत्कर्त्रा साधनीये द्विषदुपशमने तत्फलत्वोक्त्यबाधात् ॥१०॥

यद्यप्यत्रब्रह्मविद्या परपरिभवनाद्यैहिकार्थप्रयुक्ता
न ग्राह्या मोक्षशास्त्रे तदपि समतया तत्परीक्षेति केचित् ।
काम्या विद्याप्यनिष्टव्यपनयनमुखैर्ब्रह्मविद्योपयुक्तै-
स्तत्तत्साद्ध्यप्रभेदैर्भवति समुचितालोचनेत्याहुरन्ये ॥ ११ ॥

अज्ञातब्रह्मतत्त्वः कथमिव विमृशेत् कुत्रचिद्ब्रह्मदर्पि
तस्मात्तत्तादृशीनां समुचितमगतेरत्र मीमांसनं स्यात् ।
आददृध्युः कर्मणां च स्वफलवितरणे वीर्यवत्त्वातिरेकं

ब्रह्मध्यानार्थकर्मातिशयजननतः प्रस्तुतापेक्षितं तत् ॥ १२ ॥

—(अथ सर्वाभेदाधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यादिसाम्ये कचन समधिकं भाति वासिष्ठ्यपूर्वं
तेनेत्थं रूपभेदाद्बहुनिगमगता भिद्यतां प्राणविद्या ।
मैवं वागादितत्तद्गुणपरवशतावर्णनस्याविशेषा-
द्वागाद्यैस्स्वस्वधर्मोपचरणमकृतं तावता स्यान्न भेदः ॥ १३ ॥

—(अथानन्दाद्यधिकरणम् ॥ ४ ॥)—

नानाशब्दादिभेदादिति खलु भिदुरां वक्ष्यति ब्रह्मविद्यां
रूपं विद्यान्तरस्य प्रकरणपठितान्नान्यदन्यत्र योज्यम् ।
तस्मात् सत्यत्वपूर्वास्तदितरगुणवत् स्युर्व्यवस्थापनीया
मैवं ब्रह्मस्वरूपावगतिरिह यतस्तद्धि सर्वास्वपेक्ष्यम् ॥ १४ ॥

सत्यत्वं विश्वहेतौ बहुविधचिदचिद्विक्रियाजालहानेः
ज्ञानत्वं ज्ञातृभावात् स्वरवहु तथा स्वप्रकाशत्वतश्च ।
त्रिद्वयेकाभिस्तु सर्वं प्रमितमिह परिच्छित्तिभिर्ब्रह्मणोऽन्य-
त्तस्यानन्त्यं वियोगात्तिसृभिरपि सदा निर्मलानन्दधाम्नः ॥१५॥

उक्तं जन्मादिसूत्रे ननु निखिलजगद्धेतुता ब्रह्मलक्ष्म
स्यात्तेनैव स्वरूपावगतिरिह मुधा सत्यताद्येति चेन्न ।
हेतोरीशस्य हेत्वन्तरगतविविधावद्यवर्गप्रसङ्गे
शङ्कारूढे क्रमेणेतरविभजनतस्तस्य साफल्यसिद्धेः ॥ १६ ॥

नन्वाद्ध्यानं प्रियाद्यैरपि भवति शिरःपक्षपुच्छादिरूपै-
र्वाढं तत्र प्रियाद्यैस्तदवगतिरतस्ते तु सर्वानुवृत्ताः ।
पुच्छाद्यंशो निरंशे न भवति न च तद्दृष्टिरुत्कृष्टतत्त्वे
तस्माच्चित्याग्निरूपक्रमवदिह कृतं रूपणं ब्रह्मणि स्यात् ॥१७॥

आनन्दत्वप्रधानं कतिचिदिह विदुस्सौत्रमानन्दशब्दं

धर्मानन्दाभिधानं तदुभयवचनं चेति पश्यन्ति केचित् ।
ज्ञानोक्तौ चैवमेतत्तदितरसमता यावतास्यान्न शङ्क्या
तावद्धर्मानुवृत्तिर्यदुभयजगदे ब्रह्मणि स्थाप्यतेऽत्र ॥१८॥

—(अथ कार्याख्यानाधिकरणम् ॥ ५ ॥)—

आचामेदित्यपूर्वाचमनमिह विधेः प्राणविद्याङ्गतस्या
न्मैवं स्मृत्यादिसिद्धे परमनुविहिता प्राणवासस्त्वबुद्धिः ।
भुञ्जीतेत्यादिनीत्या विधिरपि घटते प्राप्तधात्वर्थनिष्ठः
प्रागुक्ता प्राणविद्या तदिदमवसरे चिन्तितं त्वङ्गमस्याः ॥१९॥
आद्यावन्ते च वासः परिधिरभिहितो मन्यतिश्चात्र दृष्टं
सा चाराध्यप्रियार्था स्तुतिरिह न भवेद्गत्यभावाभिनन्द्या ।
युक्तश्चापूर्वभावात् परिदधतिगिरा तद्विधानाभिसन्धिः
प्राणश्चाराधनीयः परिहितवसनो युज्यते सद्भिरद्भिः ॥२०॥

—(अथ समानाधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

शाखैक्येऽप्येतुभेदो न भवति न गुणः कश्चिदन्यो विधेय-
स्तस्मादुक्ताविशेषश्रवणमिह पुनः किं न विद्यां विभिन्द्यात् ।
मैवं यद्यप्यनूक्तिर्नतु गुणविधये कल्पते स्यात्तथापि
व्यक्त्यै सौकर्यतश्च व्यसनसमसनन्यायतस्त्वैक्यसिद्धेः ॥२१॥
छन्दोगैर्वाजिभिश्च स्फुटमनुपठिता भाति शाण्डिल्यविद्या
भेदाभेदावमर्शस्त्विह किमिति न सन्दर्शितो भाष्यकारैः ।
तद्ब्रूमो यत्रयत्राधिकपरिपठनं तत्रतत्राधिकाना-
मन्तर्भावादियुक्तावनधिकमधिकं चेति साधारणोक्तेः ॥२२॥
स्थानद्वन्द्वे वशित्वप्रभृतिविरहिताद्वाजिभिस्तद्युताच्चा-
धीता शाण्डिल्यविद्या तदिह भिदुरता कल्पनीयेति चेन्न ।
आरण्योक्तं वशित्वाद्यपि खलु विततिस्सत्यसङ्कल्पनायाः
साधीताग्नेरहस्येऽप्यधिकविरहतो नात्र विद्यैक्यबाधः ॥२३॥

—(अथ सम्यन्धाधिकरम् ॥ ७ ॥)—

अदयादित्योपलक्ष्ये भगवति भजनं चोदनादेरभेदा-
देकं स्यात्तेन नाम्नोरनियतिरिति न स्थानतो रूपभेदात् ।
स्थानं तत्स्थत्वबुद्ध्यै ह्युपदिशति न चेत् स्याच्चरूपातिदेश-
स्तस्मादर्कात्तियोगादहरहमिति तन्नामनी स्थापनीये ॥२४॥

—(अथ सम्भृत्यधिकरणम् ॥ ८ ॥)—

सम्भृत्यादिर्गुणौघः प्रकरणपठनाभावतस्सर्वविद्या-
स्वन्वीयेतेति चेन्न क्वचिदगतिकतो लिङ्गतस्स्थापितत्वात्
अल्पस्थानासु विद्यास्वघटितवतुपस्त्वोचितस्थानवृत्ते-
र्युव्याप्तेरेकमन्त्रे सहपठनवशात् तत्समस्थानितोऽन्ये ॥२५॥

—(अथ पुरुषविद्याधिकरणम् ॥ ९ ॥)—

आख्यातैक्यादभेदः पुरुषविषययोर्विद्ययोरित्ययुक्तं
यज्ञाद्याकारक्लृप्तेरिह विषमतया रूपभेदप्रसिद्धेः ।
तादर्थ्यात्तैत्तिरीये परभजनफलम्मुक्तिरत्राप्यनुक्ता
छान्दोग्ये पूर्णमायुः फलमिति तु तयोर्भाति संयोगभेदः ॥२६॥
स्पष्टे रूपादिभेदे हठममुपनतो नामसाम्यादिमात्रात्
पुंविद्यापूर्वपक्षो मृदुरिति विफलाऽधिक्रियैषेति चेन्न ।
अन्यैव न्यासविद्या प्रकरणपठिता तद्विधानप्रधाने
स्वस्वातन्त्र्यादिद्धिर्गं विभजनमनयोरित्यतीवार्थवत्त्वात् ॥२७॥
यद्येवं यज्ञदृष्टिः परविदि पुरुषे चोद्यते सानुबन्धे
यज्ञस्यानङ्गभूतं कथमिह विविधं कल्प्यते तत्रतत्र ।
तस्मात् प्रक्रान्तविद्यास्तुतिरियमुचितेत्याहुरेकेऽन्यथाऽन्ये
तिष्ठत्वेतद्द्विधापि प्रकृतसुघटिता सम्प्रदायस्तु चिन्त्यः ॥

—(अथ वेधाद्यधिकरणम् ॥ १० ॥)—

युज्येरन् ब्रह्मविद्यापरिसरपठिताश्शं न इत्यादिमन्त्राः
तादर्थ्यात् सर्वविद्यास्विति न तदुदिताधीतिशेषत्वलिङ्गात् ।
नो चेदन्येऽपितद्वत् सविधपठनतस्सन्तु शुक्रं प्रविध्ये-
त्येवंप्रायास्तदर्था न च घटत इदं लिङ्गतो दुर्बलत्वात् ॥ २६ ॥

—(अथ हान्यधिकरणम् ॥ ११ ॥)—

शाखे द्वे मुक्तिभाजः क्वचन कथयतः पुण्यपापप्रहाणम्
बूतेऽन्या तत्प्रवेशं प्रियतदितरयोर्दायसंक्रान्तिकाले ।
हानं चोपायनं च क्वचिदिति पृथगाम्नातसंपर्कसिद्धि-
वाक्यं शाखान्तरस्थम्भवति हि विविधाकाङ्क्षया वाक्यशेषः॥३०

इत्थं ब्रह्मज्ञकर्मत्यजनमितरसंक्रान्तिसम्पृक्तमस्तु
स्याच्चिन्तायां व्यवस्था पृथगनुपठनादित्यसत् क्लृप्तिदौस्स्थ्यात्।
सर्वेषाम्मुक्तिभाजां द्वितयमपि यथोपास्ति सादृश्यं समानं
तच्चिन्तासौ तथा तन्मद्दिमिवद इति स्थापनीयोभयत्र ॥३१॥

कर्त्रा तेनैव भोग्यं शुभमितरदिति स्थापितं कर्मकाण्डे
तस्माद्ब्रह्मज्ञ कर्म द्विषति सुहृदि वा नापतेदित्ययुक्तम् ।
विद्यामाहात्म्यतो यद्विगलति विदुषः कर्म तत्साम्यतुल्यं
विद्वत्प्रद्वेषभक्त्योः फलमिति कथने वाक्यतात्पर्यसिद्धेः ॥३२॥

—(अथ साम्परायाधिकरणम् ॥ १२ ॥)—

कर्मोद्धूतिर्मुमुक्षोः क्वचिदुपनिपति श्रूयते साम्पराये
मार्गेऽन्यस्यां द्विधैवं शकलश इह तच्चिन्तनं चास्तु मा भूत् ।
नह्युक्तं कर्मसादृष्यं पथि फलमथ गत्यर्थदेहानुवृत्ति
मुक्त्यै विद्यैव कुर्यादघहतिवचने पाठतोऽर्थो बली च ॥ ३३ ॥
निश्शेषं कर्म नश्येदिह यदि विदुषस्स्थूलदेहान्तमात्रे
विश्राम्येत्तस्य तावच्चिरमिति हि वचो नोर्थवत्त्वं गतेस्स्यात् ।

गत्वा सम्पद्य चाविर्भवनमिति न सम्भोभवीतीत्ययुक्तं
स्याद्धीसङ्कोचमात्रस्थितिकृदनुगतसूक्ष्मसंस्कारयोगः ॥३४॥

—(अथानियमाधिकरणम् ॥ १३ ॥)—

पन्थास्स्यादर्चिरादिः फलमिह निखिलब्रह्मविद्यासु मा वा
प्रारभ्याधीतियोगात् प्रकरणनियता तस्य चिन्तेति चेन्न
सर्वासां तत्र इत्थं विदुरिति वचसाऽथात्र येचेति चोक्त्या
मार्गं साधारणेऽस्मिंस्तदनुसरणतस्तद्वदेवास्य चिन्ता ॥३५॥

हेयोपादेयमार्गद्वितयमुपदिशन्मुक्तिदाता मुमुक्षो-
र्योगी यःकश्चनैतत्सरणियुगलविन्मुह्यते नेत्यगायत् ।
तस्मादस्मादृशाधीत्यविशदविशदीकर्तृवाक्यावमर्शात्
ब्रह्मप्राप्त्यर्हकृत्स्नप्रणिहितघटितं मार्गचिन्ताविधानम् ॥३६॥

ज्ञानादेरर्चिरादेरपि किमभिहितं चिन्तनं सूत्रकारै-
र्विद्याङ्गत्वादिसिद्ध्यै यदि भवतु तदाऽनन्तरे पाद एतत् ।
मैवं विद्याङ्गतायामपि भजनमिवेदं च धीत्वाविशेषात्
कर्मादिभ्यो विभक्तं कथयितुमिह तत्सूत्रणं स्थानपाति ॥३७॥

—(अथाक्षरध्यधिकरणम् ॥ १४ ॥)—

यस्यामस्थूलतादिः प्रपठित उचितं चिन्तनं तस्य तस्यां
नान्यस्याम्मानहानेर्न यदि नियमनं कस्य कुत्रेतिचेन्न ।
हेतुत्वोन्नेयदोषव्यपनयनमिह ब्रह्मविद्यासु सर्वा-
स्वानन्दाधिक्रियोक्तक्रमनियमितमित्यस्य सार्वत्रिकत्वात् ॥३८॥

सत्यत्वाद्यैस्स्वरूपावगतिरभिहिता सर्वविद्यानुवृत्त्या
भूयस्तत्तुल्यधर्मेष्वधिकरणमिदं स्याद्वृथैवेति चेन्न ।
कैश्चिज्ज्ञातस्वरूपे क्वचिदितरगतं किंचिदन्यन्निषेध्यं
व्यावृत्त्या न स्वरूपावगतिरत इति प्रेक्षणस्यात्र रोधात् ॥३९॥

व्याप्यस्यानन्त्यतस्तद्व्युदसनमपि हि स्यादनन्तं ततस्त-
च्चिन्ता किंचिज्ज्ञसाध्या जलधितरणवच्चोपदिश्येत नैवम् ।
तत्तत्सामान्यधर्मानुगमकवलिताशेषभेदोपदेशे
तादृक्चिन्तोपपत्तेरनवममिति वा गृह्यतां संगृहीतिः ॥४०॥

—(अथान्तरत्वाधिकरणम् ॥ १५ ॥)—

सूत्रस्यारम्भलाभात् प्रथममनुभृतः पूर्वपक्षे निवेशः
सिद्धान्ते ब्रह्मणश्चेत्यधिकरणगतिस्तोकशङ्कापनुत्त्यै ।
साक्षाद्ब्रह्मेति वाक्यद्वयमवमृशतामन्यशंकैव न स्या-
दित्यालोच्याथ भाष्ये परविषयतया पूर्वपक्षोऽप्युपात्तः ॥४१॥

यत् साक्षादित्यमुष्मिन् श्रुतिशिरसि परं ब्रह्म वेद्यं यदेवे-
त्येतस्मिंश्चास्त्वथापि प्रतिवचनभिदा तत्र रूपं भिनत्ति ।
विद्याभित्प्रष्टृभेदोऽप्ययमिति यदि नानूद्य भूयोऽनुयोगात्
पश्चादुक्तश्च दोषात्यय इह न भिदां सौति साधारणत्वात् ॥४२॥

सद्विद्यायां तथा हि प्रतिवचनभिदा प्रश्नभेदानुसारा
द्वित्वैकत्वे विशेष्यं प्रकटयति परान्देवतामेव तत्र ।
तेनोपास्यः कहोलश्रुतमपि स च तत्संश्रुतं संकलय्य
ध्यायेतां ब्रह्म सर्वान्तरमिति फलवत्तत्र सब्रह्मचर्यम् ॥४३॥

—(अथ कामाद्यधिकरणम् ॥ १६ ॥)—

आकाशं ताण्डिनस्तच्छयितमधिजगुर्वाजिनस्तेन विद्या
भिद्येतात्रेति चेन्न द्विविध इह यतो ब्रह्मनिर्देश एषः ।
सर्वाधारत्वपूर्वैः परतरविषयस्तामगाकाशशब्दो
विश्वेशाधारतोक्त्या सुषिरविषयताऽन्यत्र रूपन्तु नान्यत् ॥४४॥

छन्दोगानामुपास्यं प्रथितमिह गुणैरष्टभिर्ब्रह्म जुष्टं
तच्चान्येषां वशित्वप्रभृतिघटितमित्यस्तु रूपस्य भेदः ।
नैवं यत्तद्वशित्वाद्यपि तदिह भिदा सत्यसङ्कल्पतायाः

इत्यैकार्थ्यं निरूढं परमपि दहरोपासनन्तद्वदूह्यम् ॥४५॥

नन्वाकाशो गुणाद्यैः परइतिदहराधिक्रियायां पुरोक्तं
तस्मान्नान्यार्थशंकेत्यधिकरणमिदं नोज्जिहीतेति चेन्न ।
व्योमातीतं निमित्तं दहरमिदमुपादानमित्युद्गृणन्तः
पूर्वं क्षिप्ताः प्रसङ्गात् पुनरपि गमिताच्छिन्नमूलत्वमत्र ॥४६॥

—(अथ तन्निर्धारणानियमाधिकरणम् ॥ १७ ॥)—

उद्गीथादौ क्रियाङ्गे भजनमपि भवेत् पर्णताद्युक्तनीत्या
कर्माङ्गन्तत्फलोक्तिस्त्विह नुतिरिति गोदोहनन्यायभङ्गम् ।
स्वर्गादीनांफलत्वं क्रतुषु तदधिको ह्यत्र वीर्यातिरेकः
पर्णत्वादौ न वाक्यं वदति करणतां कर्म चाहानुपास्तौ ॥४७॥

उद्गीथे प्राणदृष्टौ क्रतुघटितफलादन्यदुक्तं फलन्तत्
स्वीकृत्य प्राग्विचारः स्थितिि इति विहतः पूर्वपक्षोऽत्र मैवम् ।
अन्नत्येऽनङ्गभावे स्थिरनिहितधियस्तत्र धियैक्यशङ्का
त्यक्त्वाङ्गानङ्गभावौ पृथगपृथगिति स्याच्च पूर्वत्र चिन्ता ॥४८॥

—(अथ प्रदानाधिकरणम् ॥ १८ ॥)—

कामानेतांश्च सत्यानिति वचनबलाद्धर्म्युपास्तेर्विभक्ता
धर्मोपास्तिस्तदर्थं गुणिपरिगणनं तन्त्रतोऽस्त्वित्ययुक्तम् ।
तत्तद्वैशिष्ट्यभेदात् प्रतिविधिगुणिनश्चिन्तनावृत्तिरर्थ्या
राजत्वाद्यैः पृथक्त्वाद्भवति हि हविषो दानमावृत्तमिन्द्रे ॥४९॥

तत्तद्भोगप्रतीतेर्गुणघटितपरोपासना भोगहेतु-
र्मुक्तिश्च स्यात् क्रमादित्यसदगुणवचस्यान्यपर्याभिधानात् ।
शास्त्रेऽस्मिन्नासमाप्तेः क्व फलमभिहितं निर्गुणोपास्तिसादृश्यं
नोच्छास्त्रं च प्रकल्प्यं गुणनियमनतः ख्यातिमांश्चैव पादः॥५०॥

प्रत्येकम्मेलनाद्वा दहरपगुणगणेऽप्यत्र संचिन्त्यमाने
गुण्यावृत्त्यर्थलब्धेः कथमिह तदनावृत्तिशंकेति चेन्न ।

बुद्धयारोहे गुणानां यदवधि गुणिनो रूपमथ्यं ततोऽन्यत्
विश्वैकान्तन्तश्चावृत्त्यनुघटिततदावृत्तिचिन्ताप्रवृत्तेः ॥ ५१ ॥

—(अथ लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ॥ १९ ॥)—

प्रक्रान्ता दह्रविद्या प्रकटमुपरि च ज्ञायते तैत्तिरीये
तस्मादूर्ध्वानुवाकः प्रकृतविषयनिर्द्धारणार्थोऽस्तु मैवम् ।
तत्तद्विद्योदितैस्तैः परमिह पुरुषं प्रत्यभिज्ञाप्यशब्दैः
स्तस्मिन्नारायणत्वं वददधिकबलं प्रक्रियातो हि वाक्यम् ॥५२॥

वाक्यैस्तच्चार्थतायां दहरभजनमप्यत्र भागीति सार्थ-
स्तल्लिङ्गोपेतभागो न च बहुभिरलं योद्धुमेकं कृतार्थम् ।
नैकस्यास्योपकुर्यात् प्रकरणमलसं किंच सर्वोपजीव्ये
तत्त्वे तात्पर्यमत्र स्फुटमिति वितथा तत्परित्यागक्लृप्तिः ॥५३॥

आत्मैक्यं देवतैक्यं त्रिकसमधिकता तुल्यतैक्यं त्रयाणा-
मन्यत्रैश्वर्यमित्याद्यनिपुणफणितीराद्रियन्ते न सन्तः ।
त्रय्यन्तैरेककण्ठैस्तदनुगुणमनुव्यासमुख्योक्तिभिश्च
श्रीमान्नारायणो नः पतिरखिलतनुर्मुक्तिदो मुक्तभोग्यः ॥५४॥

—(अथ पूर्वविकल्पाधिकरणम् ॥ २० ॥)—

अङ्गं पूर्वप्रसक्तेष्टकचितसमुपस्थापितस्य क्रतोस्स्यात्
बुद्धयात्माऽग्निर्मनश्चित्प्रभृतिरपि यथामानसं द्वादशाहे ।
तत्कार्यस्यातिदेशादिति न सदुदितो ह्यत्र विद्यात्मकोऽङ्गी
श्रुत्याद्यैरेव तस्मिन्नुपकृतिसमताबोधनार्थोऽतिदेशः ॥५५॥

कल्प्या ह्यत्र क्रियात्मा क्रतुरपि तदपि प्रागुपात्ताङ्गशक्त्या
वाक्यस्थैश्चानुबन्धैरिह समुपनतो भाति विद्यामयस्तु ।
दूरस्थाकृष्टयोगात् स्ववचनपठिताकृष्टयोगो१बलीया-

१. बलीयान्. पा ॥

नप्राप्तेऽर्थे विधित्वं ह्यनुवदनसमेऽप्याश्रितं तद्वदत्र ॥५६॥

—(अथ शरीरेभावाधिकरणम् ॥ २१ ॥)—

तत्कालाकारिणस्स्यादहमिति भजने कञ्चुकस्यात्मनोऽर्था-
रासक्तेर्मामुपास्स्वेत्युदितवदिति चेन्नान्यथा संनिकर्षात् ।
शुद्धो ह्यात्माऽत्र साध्यः फलमतिरविनाभाविनी योद्भूक्त्यै
युद्ध्यासन्नेऽन्तरङ्गे सति विधिनियता तत्क्रतुन्यायसिद्धिः ॥५७॥

कर्तुर्भोक्तृत्वमात्रं गणयितुमुचितं ह्यभोगार्थयत्ने
स्वर्गाद्यर्थेऽन्यदेहानुगतिरपि परं स्वाधिकारानुविद्धा ।
मुक्त्यर्थे प्राप्यवस्थाप्रणिधिकथनतस्तत्क्रतुन्यायवाचा
चिन्त्यस्य प्राप्यतार्थो गमित इति कुतोऽतिप्रसङ्गादिशङ्का ॥५८॥

विद्याभेदेषु वेद्याकृतिविषमतया यावदुक्ते विचिन्त्ये
प्राप्यं सर्वोपपन्नं तत इह कथमप्राप्यचिन्तानिषेधः ।
तस्माद्ब्रह्मस्य चिन्तास्त्विति न कलुषितो ब्रह्मशब्दमुख्यः
प्राजापत्यात्तु वाक्यादकलुषदशया भावनीयत्वसिद्धिः ॥५९॥

—(अथाङ्गावबद्धाधिकरणम् ॥ २२ ॥)—

उद्गीथादेर्विशेषे भजनविधिरसौ स्यात् स्वसांनिध्यगीते-
र्नैवं सर्वाङ्गिभूतक्रतुमुखन इहाशेषसांनिध्यसिद्धेः ।
सामान्यं व्यक्त्यपेक्षक्रियमपि नियमादर्शने व्रीहितावच्-
च्छन्दश्चोद्गीथमाद्यं वदति न तु भिदां छागनीतिस्तु नात्र ॥६०॥

—(अथ भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् ॥ २३ ॥)—

व्यस्तो वैश्वानरात्मा प्रतिनियतफलोदाहृतेश्चिन्तनीयः
स्तोपास्तौ फलोक्तिस्स्तुतिरिह यदि वा कृत्स्नरूपोऽप्युपास्यः ।
मैवं व्यस्तेषु दोषः पृथगनुकथितस्तत्फलोक्तिस्स्तुतिस्स्या-
दृष्टं ह्यष्टाकपालप्रभृतिषु च तथा तेन चिन्त्यस्समस्तः ॥६१॥

सामस्त्यस्यैव योगे द्रढिमघति महावाक्यतात्पर्यवृत्त्या

व्यस्तेमेष्वंशाननूद्य स्तुतिनियतनयाद्वाग्यपर्यं फलोक्तेः ।
नामादीनामुपास्तौ फलमवधियताऽपेक्षितं भूमवाक्ये
नाप्येवं प्रत्यवायश्श्रुत इति विषमोदाहृतिर्नार्थसिद्ध्यै ॥ ६२ ॥

—(अथ शब्दादिभेदाधिकरणम् ॥ २४ ॥)—

सर्वासु ब्रह्म वेद्यं फलमपि खलु तद्ब्रह्मविद्येति चाख्या
ध्यानाद्युक्त्यैकलक्ष्ये विधिरपि भजने सर्वविद्यैक्यमित्थम् ।
तन्नाख्यारूपभेदात्तदुपहितविधौ तेन वैशिष्ट्यसिद्धे-
र्मिथ्यमध्वादिविद्याफलमिह च पृथक्काम्यविद्यासु चैवम् ॥६३॥

नानाशब्दादिभेदादिति कथमवदत् सूत्रकृच्छन्दसाम्ये
नह्येते यागदानादय इव भिदुरा भक्तिविश्रान्तिसिद्धेः ।
सत्यं शब्दस्य भेदस्त्वयमुपचरितो रूपभेदप्रढिम्ना
ज्ञानं यच्चाविधेयं करणमिह जगुस्तन्निरासेऽभिसन्धिः ॥६४॥

यद्वा शब्दादिभेदादिति तु कथयता सूत्रकारेण सम्यङ्-
न्यासोपासे विभक्ते यजनहवनवच्छब्दभेदादभाक्तात् ।
आख्यारूपादिभेदश्श्रुत इतरसमः किञ्च भिन्नोऽधिकार-
श्शीघ्रप्राप्त्यादिभिस्स्यात् जगुरिति च मधूपासनादौ व्यवस्थाम्॥

—(अथ विकल्पाधिकरणम् ॥ २५ ॥)—

ज्योतिष्टोमाग्निहोत्रप्रभृतिवदधिकानन्दसिद्ध्यै समुच्चि-
त्यैतास्स्युर्ब्रह्मविद्या न च भजनविधिः कश्चिदेकं प्रति स्यात् ।
क्रतुन्ताः कालभेदे क्षममिति न मिथोवासनास्थैर्यबाधात्
सम्पूर्णब्रह्मलब्ध्यै पृथगिह च विधिः प्रायणान्ते समाधौ ॥६६॥

रूपादीनां विशेषैर्ननु परभजनन्नैकरूपं विभक्तं
सामग्रीभेदतस्तत्फलमपि विषमं सम्मतन्यायतस्स्यात् ।
न स्यात् सर्वासु विद्यास्वपि हि फलतया वदयते भोगसाम्यं

प्राप्त्यैक्यं च प्रसिद्धं शत्रुसरणिजुषां लोकतो वेदतश्च ॥ ६७ ॥

—(अथ यथाश्रयभावाधिकरणम् ॥ २६ ॥)—

तत्तद्विद्यासु तादृक्फलतरतमतां वारयित्वा प्रसङ्गात
प्रागुक्तोद्गीथविद्याफलमथ पुनराक्षिप्य गाढीकरोति ।
माभूदुक्तं स्ववाक्ये कथमिह तु न सा पर्णमय्यादिनीतिः
स्पष्टा खल्वत्र विद्याफलकरणतया वर्तमानोक्तितोऽपि ॥ ६८ ॥

तादर्थ्यं नात्र कर्मश्रुतिरवगमयेदाश्रयालम्बमात्रा-
द्विद्याहानौ च युक्तं प्रतिविधिवचनं तत्फलार्थप्रसङ्गे ।
तारे सोपासनेऽस्तु स्तवनमनुगवात्तावता सातु नाङ्गं
प्राग्वक्तव्यस्य हित्वा वच इदमुपरि स्थापनीयप्रसक्त्यै ॥ ६९ ॥

विद्यैक्योद्गीथविद्याद्वितय विभजनप्राणविद्यैकभावा-
स्सर्वास्वानन्दातदेर्गुणिवदनुगतिः प्राणवासस्त्वदृष्टिः ।
शाण्डिल्यैक्यं विभज्य स्थितिरहरहमोस्सम्भृतेस्स्थानसीमा
पुंविद्याया विभेदोऽध्यननियतता शत्रुइत्यादिकानाम् ॥ ७० ॥

हानावन्योन्ययोगस्तदुचितसमयो देवयानादिसाम्यं
सर्वत्रास्थूलतादिव्यतिहरणमथानेकशिष्यश्रुतानाम् ।
दृष्टोपास्त्येकभावो गुणफलविधिरुद्गीथमाश्रित्य दृष्टौ
गुण्यावृत्तिर्गुणार्थां निखिलपरतरोपास्तिवेद्यावसायः ॥ ७१ ॥

विद्यारूपा मनश्चित्प्रभृतय उचितज्ञानरूपक्रतुस्थाः
देत्री शुद्धोऽनुचिन्त्यः क्रतुगुणसकलोद्गीथपूर्वेषु दृष्टिः ।
सामस्त्येनैव वैश्वानरभजनमथानेकविद्योपपत्ति
मोक्षार्थानां विकल्पः पुनरनियतिरुद्गीथदृष्टेरिहोचे ॥ ७२ ॥

इति श्रीकवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीवेङ्कटनाथस्य
वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
तृतीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

—(अथ तृतीयस्याध्याय चतुर्थः पादः ॥)—

उपोद्घातः ॥

कर्म प्राक्चिन्तयित्वा ननु परममथ ब्रह्म जिज्ञास्यमुक्तं
पादे विद्याङ्गतोक्तिः पुनरिह वितथाऽनेकधा त्याज्यतोक्तेः ।
मैवं कर्मैव तत्तद्गुणयुतविनियुक्त्यन्यभावेन भिन्नं
विद्यानिष्पत्तिहेतुः किमपि च सुकृतं स्यान्निवृत्तैकसंज्ञम् ॥१॥

त्यागः काम्यक्रियाणां क्वचन परविदः क्वाप्यनर्हक्रियाणां
स्वैकाधीनत्वबुद्धेः क्वचिदनुपधिकस्वार्थबुद्धेश्च गीतः ।
अत्राहिंसादिकानामघविहतिकृतां सर्वसाधारणानां
ब्रूते वर्णाश्रमादिप्रतिनियतिमतामप्युपास्त्यङ्गभावम् ॥२॥

—(अथ पुरुषार्थाधिकरणम् ॥ १ ॥)—

कर्तात्मा कर्मणांयस्तदधिकमिह न ब्रह्म तस्मान्मखादौ
तद्बुद्ध्यै योपयुक्तास्स्युरुपनिषद इत्यर्धमीमांसकोक्तौ ।
जीवान्यब्रह्मचिन्तात्मकभजनविधौ कर्मणामङ्गभावं
प्राह त्रिप्तान्यलिङ्गैः कलुषशमनतस्सत्त्वसंवर्धकानाम् ॥ ३ ॥

पादैरत्रैवमेकादशभिरपि परं ब्रह्म वेद्यं निरूढं
भूयः किं क्षुद्रलिङ्गैर्गगनलिपिनिभैः क्षोभ्यते ब्रह्मविद्या ।
सत्यं तत्राहगल्पश्रुतमतिकलहत्रासितच्छात्रडिम्भ-
स्तोमक्षेमाय जैमिन्यहृदयकथितं पक्षमुत्क्षिप्य हन्ति ॥ ४ ॥

कुर्वन्नेवेति वाक्यं परविदि नियताचारतोक्तिस्सहत्वेऽ-
न्वारम्भो धीक्रियाभ्यामपि न नियमयेदङ्गतामङ्गितां वा ।
विद्यापूर्वं क्रियाणां करणमनुवदद्वाक्यमन्यार्थमुक्तं
नह्येतद्ब्रह्मविद्यामनुवदति नचोद्गीथविद्याक्रियाङ्गम् ॥ ५ ॥

स्वाध्यायप्राप्तये ह्यध्ययनमुदितमाधानवच्चोत्तराङ्ग

विद्याङ्गं चार्थबोधो भवतु यदधिका सा स्वरूपैः फलैश्च ।
नित्यात्मज्ञानमात्रं क्रतुषु नियमतोऽपेक्षितं नान्यविद्या
काम्यत्यागस्तविद्ये कथमिह भविता साहि यद्यङ्गमेषाम् ॥६॥
नाङ्गं विद्या मखादेर्नहि तदधिकृतेष्वेव तामामनाम-
स्यात्तत्तत्कर्मणां सेत्यपि न बहुविधाद्वैपरीत्योपदेशात् ।
जाबालैरूर्ध्वरेतोविधिरपि पठितोऽनूद्यतेऽन्यैश्च तस्मात्
प्राप्तिर्ग्राह्याऽन्यथापि स्वयमिह तु विधिस्तन्निषेधस्सरागे ॥७॥

—(अथ स्तुतिमात्राधिकरणम् ॥ २ ॥)—

जुह्वादिस्तोत्रनीत्या भजतु रसतमाद्युक्तिरङ्गस्तुतित्वं
मैवं तत्तद्विधानप्रकरणरहितापूर्वनिर्देशयुक्तेः ।
तत्तद्दृष्टेर्विधानं विविधमिह समालक्षितैतत्समीपे
तेनानन्यार्थशिष्टे फलयति च विधिर्युज्यते कल्प्यमानः ॥८॥
किञ्च प्राप्तेरभावान्न तदनुवदनं नाधिरोप्य स्तुतिर्वा
युक्ता विध्येकवाक्यं गतिरियमगतेस्सात्र नासक्तिहानेः ।
उत्कर्षे कल्प्यते चेदगतिकविषये तत् प्रसह्य प्रसह्यं
मध्ये विद्याविधीनां वचनमिदमिति स्यात्तु विध्यर्थमेतत् ॥९॥
विध्यर्थत्वेऽपि युक्ता स्तुतिरियमसतः कीर्तनादित्ययुक्तं
दृष्ट्यु देशेऽतिचारादथ च विशयनं स्यादिति स्वर्भकोक्तिः ।
नित्येऽस्मिन्नप्रमाणं प्रसजति निगमो युक्तिवार्यत्वपक्षे
त्वित्थंभावे युयुत्स्ये वच इह फलवद्दृष्टिविध्यर्थमेव ॥१०॥

—(अथ पारिप्लवाधिकरणम् ॥ ३ ॥)—

विद्याख्यानभेदा विधिमहिमभृतास्सन्तु पारिप्लवार्था
न स्युर्विद्याविधानैः प्रकरणपठितैरेकवाक्यत्वदृष्टेः ।
मन्त्राद्याख्यानमात्रं भवति च कथितं तत्र पारिप्लवार्थं
तेनाकांक्षानिवृत्तौ न तदधिकपराख्यानतादर्थ्यक्लृप्तिः ११॥

—(अथाग्नीन्धानधिकरणम् ॥ ४ ॥)—

यज्ञादेरङ्गभावान्न तदनधिकृतेष्वग्निनोऽधिक्रिया स्या-
द्विगैवंनोर्ध्वरेतस्स्विति न बहुविधस्याश्रमाङ्गार्हतोक्तेः ।
विद्यायोगश्चतुर्णां विधिरपि च समश्श्रूयते स्मर्यते च
प्रायेणौचित्यभूम्ना मुनिभिरभिहितं क्वापि मोक्षाश्रमत्वम् ॥१२॥

—(अथ सर्वपेक्षाधिकरणम् ॥ ५ ॥)—

त्यक्ते यज्ञादिधर्मे परभजनविधेरूर्ध्वरेतस्तु दृष्टा
विद्या तेनानपेक्षा गृहपति च भवेदित्यनालोचितोक्तिः ।
यज्ञेनेत्यादिकाभिश्श्रुतिभिरवगता ह्यस्य सातत्यसाध्या
जिज्ञासार्थत्ववादो जिगमिषति पदेत्यादिनीत्या निवर्त्यः ॥१३॥

नान्विच्छार्थत्वहानिर्जिगमिषति पदेत्यादिके गत्यभावा-
च्छ्रुत्युक्तेऽस्मिंस्तथा नेत्यसदिह च यतो गत्यभावस्समानः ।
इच्छा स्याद्धीविशेषात्तदनुपजनने कर्मभिस्सा न साध्या
जिज्ञासां प्राप्तुमिच्छोर्न च न भवति तज्ज्ञानमि[illegible] पुरैव ॥१४॥

नन्वत्रेच्छानुवृत्तिं प्रति विहितमिदं कर्म योऽयं ततः किं
नेच्छार्थं धीविशेषप्रजननमुदितन्तावता वारितं स्यात् ।
ज्ञानार्थं कर्मविध्यन्तरमपि विविधं नापलापक्षमं ते
निद्ध्यानन्यायतोऽनस्त्यनुवदति विदेरिष्टतां सम्प्रयोगः ॥१५॥

—(अथ शमदमाद्यधिकरणम् ॥ ६ ॥)—

यज्ञादिव्याप्तत्वादनिभृतकरणे सर्वकालं गृहस्थे
शान्त्यादीनामयोगात्तदितरनियतास्ते गुणा इत्ययुक्तम् ।
प्रव्रज्यादिस्थितानामपि तदुपधिकानेकधर्मप्रवृत्ते-
स्तत्त्वद्वयं सहने चेत् सह तदपि फलाद्युज्झनं चात्र तुल्यं ॥१६॥

प्रज्ञातस्वापराधाः प्रभुमनुतपने लोकसिद्धैरुपायै-
रात्मार्हैरर्चयन्तः क्रमशमितरुषस्तस्य सेवां लभन्ते ।

इत्थं नः शास्त्रसिद्धैरिदमनिदमिति स्वाधिकारे विभक्ते
निष्प्रत्यूहः प्रसादो निरुपधिसुहृदः श्रीधरस्याधिगम्यः ॥१७॥

—(अथ सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥)—

आहारस्य व्यवस्था न भवति वचनात् प्राणविद्याधिकर्तुः
सामान्यस्थो निषेधो यदलचति हि विधौ संकुचेदित्ययुक्तम् ।
अङ्गत्वेनाविधेस्स्यादनुमतिवचनं प्राणभङ्गप्रसङ्गे
पश्यैतत्प्राणनिष्ठादधिकमहिमनि ब्रह्मनिष्ठेऽप्युपत्तौ ॥ १८ ॥

—(अथ विहितत्वाधिकरणम् ॥ ८ ॥)—

यज्ञादेः कर्मणोहि श्रुतिभिरभिदधे ब्रह्मविद्याङ्गभाव-
स्तस्माद्ब्रह्मनिष्ठे तदननुसरणात् स्वैरितैवास्तु मैवम् ।
नित्यत्वस्यापि सिद्धेस्तदुचितविनियुक्त्यन्यभावानुसारा-
त्तन्त्रं काम्याग्निहोत्राद्विवदिह परविभित्यवर्गेऽपि योज्यम् ॥१९

—(अथ विधुराधिकरणम् ॥ ९ ॥)—

दारालाभे विरक्तेर्न्न दिमनि च भवेदन्तरेणाश्रमान्य
स्तस्मिन्विशेषधर्मत्यजि भवतु कथं ब्रह्मविद्येति चेन्न ।
सामान्यैर्वर्णधर्मैर्गुणनियतियुतैस्तस्माद्धि तत्रापि साङ्गा
भीष्मादौ दृष्टमेतच्च्युति तु वृषले गत्यभावादभावः ॥२०॥

—(अथ तद्भूताधिकरणम् ॥ १० ॥)—

आरूढो नैष्ठिकादित्रयमथ पतितस्तत्परावर्तनाद्य-
स्तत्रापि ब्रह्मविद्या भवतु सदृक्ता १ तत्तदर्हैस्स्वधर्मैः ।
मैवं यद्यप्यभीच्छन्त्युपपतनमिदं शोधनं चास्त्यनेकं
सर्वार्हं कीर्तनाद्यं तदपि तदुचितो नैव तादृङ्गिनषेधात् ॥२१॥
प्रायश्चित्तं वदन्ति ह्युपपतनमहापातयोर्ब्रह्मयोगं
प्राप्ते पाते प्रमादाद्विदधति मुनयो योगिनां योगमेव ।

१. तद्दशार्हैः. चि. पा ॥

तस्मादारूढपातेऽप्यधिकृतिरिति नाचोदनीयं हि शास्त्रं
यावज्जीवन्तु तन्निष्कृतिरिति नियमस्सूत्रकाराद्यभीष्टः ॥ २२ ॥

यो बालं हन्ति यः स्त्रीं शरणमुपगतं यश्च यो वा कृतघ्नः
प्रायश्चित्तैर्विशुद्धानपि जगदुरिमान् साधुसंस्पृष्ट्यनर्हान्
स्मृत्याचारानुसारादिह च गतिरियं दर्शिता सूत्रकारैः
शास्त्रं नश्शासनीयं यदि भवति सदा संप्लुतो धर्मसेतुः ॥२३॥

ब्रह्मांशत्वे समाने गुणविषमतया शुद्ध्यशुद्धिस्वभावै-
र्देहैर्योगादनुज्ञापरिहरणमपि प्रेक्षणस्पर्शनादेः ।
इत्येवं सूत्रितं प्राक् पुनरिह विविधालेपकक्षोभशान्त्यै
सम्यग्ज्ञातात्मनोऽपि स्वतनुसमुचिताचारतः प्रत्यबोधि ॥२४॥

—(अथ स्वाम्यधिकरणम् ॥ ११ ॥)—

उद्गीथाद्यावुपास्तिर्भवति हि फलिनो यज्वनैवात्र शक्या
तस्मात्तत्कर्तृकालाविति यदि न परिक्रीतकर्माश्रयत्वात् ।
ऋत्विक्साध्या यथान्ये गुणफलविधयोऽनूद्यते चैवमेषा
शक्यत्वं नाप्युपाधिर्विविधिवलनियतेः स्वामिभृत्यक्रमोत्र ॥२५॥

—(अथ सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ॥ १२ ॥)—

मन्तव्यत्वे श्रुते सत्यथ मुनिरिति वागस्तु तस्यानुवादः
कश्चिन्नह्यत्र दृष्टो विधिरिति न पुरा पण्डितत्वस्य लब्धेः ।
ऊहापोहार्हता हि श्रवणमननतोऽनन्तरं पण्डितत्वं
मौनख्यातिः प्रकृष्टे मनन इति विभौ धारणायुक्तिरेषा ॥ २६ ॥

—(अथानविष्काराधिकरणम् ॥ १३ ॥)—

शिष्टं बाल्येन तिष्ठासनमपि विदुषो बालकृत्यन्तदस्तु
प्राप्तुं बालस्य भावो न तु सुशक इति स्वैरितास्येति चेन्न ।
दुश्चारित्रादमुं नाविरत इति वचस्संनिरुन्धे ह्यतोऽस्मि-
न्माहात्म्यं स्वंनिगूहेदिति मुनिविहिते बाल्यविध्याशयस्स्यात् ॥२७

—(अथ ऐहिकाधिष्ठिताधिकरणम् ॥ १४ ॥)—

भोगार्थोपासनानां स्वजनकसुकृतैस्तत्क्षणादुद्भवस्स्यात्
स्वर्गादिस्तत्र देहे न घटत इह तु स्वान्तशुद्ध्योपपत्तिः ।
स्नानप्रायत्यनीतिस्तत इति न पुरा विघ्नसम्भावनोक्तेः
कारीर्यादौ तदर्हस्सगुणविरचितेऽप्यस्ति विघ्नः कदाचित् ॥२८॥

—(अथ मुक्तिफलाधिकरणम् ॥ १५ ॥)—

अस्त्वन्यश्चान्तरायः प्रबलतममिदं सात्त्विकत्यागयुक्तं
कर्म प्रोक्तं निवृत्त्याह्वयमिति सपदि ब्रह्मविद्यां विदध्यात् ।
मैवं तस्माद्बलीयान्यदि भवति परब्रह्मभक्तापराध-
स्तच्छान्तौ तत्प्रसूतिस्स यदि न झटिति स्यात् परोपास्तिलाभः॥

विद्यार्थत्वं क्रियाणां व्यभिचरणवशान्नेति शङ्कापनुत्त्यै
प्रत्यूहानां च तूर्णं प्रशमनमुचितं सर्वदेति प्रसिद्ध्यै ।
निष्प्रत्यूहस्य सद्यः फलमिति च सतां तोषहेतोरमुष्मि-
न्पादान्ते न्यासिधातामनितमविषयौ शास्त्रकर्त्राधिकारौ ॥३०॥

प्रत्यूहस्य प्रसङ्गः क्षम इति परयित्कर्मणां तन्निवृत्त्यै
भोगार्थोपास्तिहेतुप्वयमनुकथितः किं मुधात्रेति चेच्च ।
काम्ये निर्विघ्नबुद्ध्या पतथि मतिरतस्तत्र वैराग्यभूम्ने
तत्प्रत्यूहप्रसक्तिर्भवति फलवती स्याच्च विद्यार्थकाम्यम् ॥३१॥

विद्या कर्माङ्गिका स्यात्प्रततममुखधीश्चोदिता प्राप्त्यभावा
दाख्यानानां च विद्याविधिसविधजुषां तद्विधानार्थतैव ।
विद्या साङ्गोर्ध्वरेतस्स्वपि गृहवति सा यज्ञदानाद्यपेक्षा
शान्त्याद्यर्हो गृहस्थोऽप्यविपदि विदुषोऽप्यन्नशुद्ध्यैव सिद्धिः॥३२

एकं विद्याश्रिमार्थं १विधुरमवियुतं विग्रहाद्दुश्च्युतं न
त्वस्थंगे पुष्टिश्चरित्रकृतिरथ मुनिना चोदिता ध्यानसिद्ध्यै ।

१. विधुरमवियुतं. पा ॥

कर्मप्राधान्यमन्ये निजगदुरपरे मुक्तिमिच्छन्त्यसाध्यां
सर्वे तेऽप्यत्र कर्माङ्गकभजनविधिस्थापनोक्त्या निरस्ताः ॥३४॥
यद्दुःखं वर्तते तत्क्षणभिदुरतया न स्वयत्नोपरोध्यं
नातीतार्थं च यत्नो न च सुपरिहरं भाविदेतौ समग्रे।
दुःखात्यन्तोपरोधे करणविधिरतो व्यर्थ इत्यर्थरम्यं
प्रायश्चित्त्या कृतानां परमकरणतो दुःखसामग्र्यपोहात् ॥३५॥
राजद्विष्टादि सर्पाद्यपि परिहरसि च्छत्रपूर्वं बिभर्षि
प्रायश्चित्तप्रवृत्तौ फलति दुरितमित्येवमीहासहंच्छ।
उत्प्रेक्षारूढभाव्यापजयशममतः स्वोक्तिसाफल्यमिच्छन्
पश्यंश्चाबालतिर्यग्भयचकितगतिं जोषमित्थं जुषस्व ॥३६॥
साध्यं वा साधनं वा स्वविहतविपथैर्दुर्निरूपं वदन्त-
स्तद्वाद किं प्रवृत्ताः किमिति च विदधत्यन्वहं भोजनादीन्।
मुक्तेर्नित्यत्वसिद्ध्या भजनमफलमित्यप्यसत् प्रागसिद्धेः
साध्यास्त्वत्रानुयाज्यास्सकरणदशया नित्यमुक्तिं गृणन्तः ॥३७॥
मोक्षाभावे मुधा स्यात् सपरिकरमिदं साधनं चिन्त्यमानं
मुक्तिश्चेद्भ्रान्तिसिद्धा भ्रम इह भविता यावदात्मस्वरूपम्।
दोषश्चेन्नित्यमुक्तं कथयितुरफलः साधनाध्याय इत्थं
प्रध्वंसात्मा हि मुक्तिर्नयविदभिमता सा तु भावात्मिकान्नः ॥३८॥
सन्तत्यात्मा कपालप्रभृतिबहुविधावस्थयान्यत्र नाशो
धीसङ्कोचप्रणाशो विकसनमतथाभूतमात्रागमात्स्यात्।
मन्यन्तेऽन्ये तु धारावहनमतिनयात् सन्ततिर्मुक्तिबुद्धे-
स्सामग्री चेश्वरेच्छा प्रभृतिसमुदयस्स्यान्नावृत्तिरेवम् ॥३९॥
इति श्रीकवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीवङ्कटनाथस्य
वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु अधिकरणसारावल्यां
तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥
॥ समाप्तश्चाध्यायः ॥ ३ ॥
श्रीमते निगमान्तगुरवे नमः

—(अथ चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥)—

उपोद्घातः ॥

इत्युत्पत्तिक्रमेण प्रथममभिहतो मुक्त्युपायस्सहाङ्गै-
स्तत्साध्यं सूत्रकारः फलमथ विदुषः पर्वभेदैर्व्यनक्ति ।
स्थूले देहेऽस्य सिद्ध्येद्यदिह वदति तत् पादयुग्मेन पूर्वं
निष्क्रान्तस्याथ यत्स्यात् परिगणयति तत् पादयुग्मान्तरेण ॥१॥

उक्ता प्रागेव विद्या किमिति पुनरिमां वक्ति यद्यस्ति शेषं
भूतामेतच्च पूर्वं नहि तदिह फले संघटेतेतिचेन्न ।
मुक्त्यैश्वर्यैरसिद्धिं प्रकृततदविनाभावमासन्नसिद्धिं
मुक्तावस्थासमं च स्थिरभजनरसं व्यङ्क्तुमत्रानुबन्धः ॥ २ ॥

आवृत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

शुद्धैरुत्कृष्टधर्मैस्सदनपचरणे ब्रह्मविद्या भवित्री-
त्युक्तं पूर्वाधिकारे विमृशति तु परं तत्स्वरूपं यथावत् ।
प्रत्यक्षं वा स्मृतिर्वा सकृदिदमसकृद्वेति नोक्तं पुरस्ता-
द्यावज्जीवानुवृत्तिप्रभृति च तदिहापौनरुक्त्यं सुबोधम् ॥३॥

ध्यानं मुक्तेरुपायः श्रुतिभिरभिहितं तस्य संख्या त्वनुक्ता
सौकर्यं स्यात् सकृत्त्वे स्यत इह च भवेच्चार्थिताथ्यं विधीनाम् ।
सम्यक्त्वेत्तद्ध्रुवत्वं न पुनरनुगमान् प्रोक्तमित्यप्यसारं
सामान्योक्तेर्विशेषे सति पशुनयनस्तत्र विश्रान्तिसिद्धेः ॥४॥

किंचाग्नेय्यादिनेत्या विदिरिह वदति ध्यानशब्दार्थमेव
ध्याने चोपासनोक्तिः परभजनतया वक्ति सैवात्मकत्वम् ।
ऐकार्थ्यं विद्युपास्योर्व्यभिचरिततया श्रूयते च प्रयोगः
कार्ये हेतौ च भक्तेः क्वचिदुपचरितो भक्तिभेदत्वयादः ॥५॥

